SAKHARAM NEMCHAND GRANTHAMALA NO. 129

THE

KALYĀṆA-KARĀKAM

OF

UGRĀDITYACHARYA

Edited

WITH INTRODUCTION, TRANSLATION, NOTES, INDEXES & DICTIONARY

by

VARDHAMAN PARSHWANATH SHASTRI
VIDYĀWACHASPATI, NYAYA-KAVYA-TIRTHA
EDITOR:-JAIN BODHAK & VEERAWANI SHOLAPUR.

Published by

SETH GOVINDJI RAOJI DOSHI
SAKHARAM NEMCHAND GRANTHAMALA
SHOLAPUR.

1940

PRICE—RS. TEN ONLY.
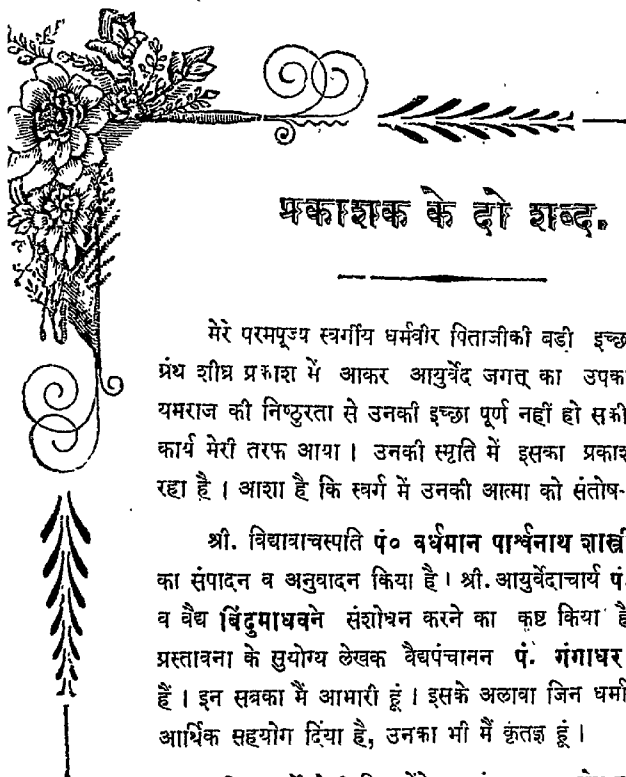
प्रकाशक के दो शब्द.

मेरे परमपूज्य स्वर्गीय धर्मवीर पिताजीकी बडी इच्छा थी कि यह ग्रंथ शीघ्र प्रकाश में आकर आयुर्वेद जगत् का उपकार हो। परंतु यमराज की निष्ठुरता से उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। अतः यह कार्य मेरी तरफ आया। उनकी स्मृति में इसका प्रकाशन किया जा रहा है। आशा है कि स्वर्ग में उनकी आत्मा को संतोष होगा।

श्री. विद्यावाचस्पति **पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** ने इस ग्रंथ का संपादन व अनुवादन किया है। श्री. आयुर्वेदाचार्य **पं. अनंतराजेंद्र** व वैद्य **बिंदुमाधवने** संशोधन करने का कष्ट किया है। विस्तृत प्रस्तावना के सुयोग्य लेखक वैद्यपंचानन **पं. गंगाधर गुणे शास्त्री** हैं। इन सबका मैं आभारी हूं। इसके अलावा जिन धर्मात्मा सज्जनोंने आर्थिक सहयोग दिया है, उनका भी मैं कृतज्ञ हूं।

यदि आयुर्वेदप्रेमी विद्वानोंने इस ग्रंथ का उपयोग कर रोगपीडितों को लाभ पहुंचाया तो सबका परिश्रम सफल होगा। इति.

गोविंदजी रावजी दोशी.
सोलापुर.

समर्पण.

श्री धर्मवीर, दानवीर, जिनवाणीभूषण, विद्याभूषण,

सेठ रावजी सखाराम दोशी.

धर्मवीर !

आपने अपने जीवन को जैनधर्म की प्रभावना, जैन-साहित्य की सेवा व जैनसाधुवोंकी सुश्रूषा में लगाया था। आप वर्तमानयुगके महान् धार्मिक नेता थे। आपके ही आंतरिक सत्प्रयत्न से इस महान् ग्रंथ का उद्धार हुआ है। इस का आस्वाद लेनेकी अभिलाषा अंतिम घडीतक आपके मन में लगी थी। परंतु आप अकस्मात् स्वर्गीय विभूति वन गए। इसलिए आपके द्वारा प्रेरित, आपके ही सहयोग से संपादित, आपकी इस चीज को आपको ही समर्पण कर देता हूं, जिससे मैं आप के अनंत उपकारोंसे उॠण हो सकूं। इति.

गुणानुरक्त—

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री.

संपादक.

श्री कल्याणकारक वैद्यक-ग्रंथ की

प्रस्तावना.

आयुर्वेद अर्थात् जीवनशास्त्रकी उत्पत्ति के संबंध में कोई निश्चित काल नहीं कहा जासकता है। कारण कि जहां से प्राणियों के जीवन का संबंध है वहींसे आयुर्वेद की भी आवश्यकता होती है। समाजके या प्राणिमात्र के धारण-पोषणके लिए इस शास्त्रकी परम आवश्यकता होनेसे चार आदमियोंने एकत्रित होकर जहां समाज बनाया वहां पर आयुर्वेदके स्थूल सिद्धांतों के संबंध में विचार--विनिमय होने लगते हैं। बिलकुल अशिक्षित दशा में पडा हुआ समाज भी अपने समाजके रोगियों की परिचर्या या चिकित्साकी व्यवस्था किसी हद तक करता है। प्रायशः इन समाजों में देवपूजा करने वाले या मंत्रतंत्र करनेवाले उपाध्याय ही चिकित्सा भी करता है। आज भी ऐसे अनेक अशिक्षित [गांवडे] समाज उपलब्ध है जिनकी चिकित्सा ये पुरोहित ही करते हैं। (इन सब बातों का सविस्तर उल्लेख स्पेन्सर कृत 'नीतिशास्त्र' व Nights of Toil नामक पुस्तकमें है) इस अवस्थामें चिकित्साशास्त्रकी शास्त्रीयदृष्टिसे विशेष उन्नति नहीं हो पाती है। केवल चार आदमियों के अनुभव से, दो चार निश्चित बातों के आधार से चिकित्सा होती है व वही चिकित्सापद्धति एक चिकित्सकसे दूसरे चिकित्सक को मालुम होकर समाज में रूढ हो जाती है। समाज की जैसी जैसी उन्नति होती है उसी प्रकार अन्य शास्त्रों के समान चिकित्साशास्त्र या आयुर्वेदशास्त्र की भी उन्नति होती है। बुद्धिमान् व प्रतिभाशाली वैद्य इस चिकित्सापरंपरामें अपने बुद्धिकौशल से कुछ विशेपताको उत्पन्न करते हैं। क्रमशः आयुर्वेद बढता रहता है। साथ में आयुर्वेद शास्त्र के गूढतत्वों को निकालने व शोधन करने का कार्य सत्वबुद्धियुक्त संशोधक विद्वान् करते हैं। इस प्रकार बढते बढते यह विषय केवल श्रुति में न रहकर इनकी संहिता बनने लगती है। वैदिककाल के पूर्व भी ऐसी सुसंगत संहिताओं की उपलब्धि थी यह बात संहिता शब्दसे ही स्पष्ट होजाती है।

वेद या आगमके कालमें भी आयुर्वेदका सुसंगत परिचय उपलब्ध था। ऋग्वेद इस भूमंडलका सबसे प्राचीन लिखित ग्रंथ माना जाता है। उसमें अनेक प्रकारकी शस्त्रक्रिया, नानाप्रकार की दिव्यऔषधि, मणि, रत्न व त्रिधातु आदि का उल्लेख मिलता है।

चन्द्रमाको लगे हुए क्षय की चिकित्सा अश्विनी देवोंने अपने चिकित्सासामर्थ्यसे की, इस का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है । च्यवनऋषीकी कथा पुनर्यौवनत्व प्राप्त करदेनेवाले योग का समर्थक है । ऋग्वेदकी अपेक्षा भी अथर्ववेद में प्रार्थना व सूक्तोंके बजाय मणिमंत्र औषधि आदि का ही विचार अधिक है । अथर्ववेद में वशीकरण विधान समंत्रक व निर्मंत्रकरूप से किया गया है । इसी प्रकार किसी किसी औषधि के संबंध में कौनसे रोगपर किस औषधि के साथ संयुक्त कर देना चाहिए, इस का उल्लेख जगह जगह पर मिलता है । औषधि गुण-धर्मका उगमस्थान यहीं मिलता है । भिन्न २ अवयवों के नाम अथर्ववेद में मिलते हैं । अथर्ववेद आयुर्वेद का मुख्य वेद गिना जाता है, अर्थात् आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है । यजुर्वेद में यज्ञ-यागादिक की प्रक्रिया वर्णित है । उस में यज्ञीय पशुओं को प्राप्त कर उन २ विशिष्ट अवयवों के समंत्रक हवन का वर्णन किया गया है । यजुर्वेद ब्राह्मण व आरण्यकों में विशेषतः ऐतरेय ब्राह्मणों में शारीरिक संज्ञा बहुत से स्थानपर आगई है । वैदिकवाङ्मय का प्रसार जिस प्रकार होता गया उसी प्रकार भिन्न भिन्न विषयों का ग्रंथसंग्रह भी बढने लगा । इसी समय आयुर्वेद का स्वतंत्र ग्रंथ या संहिताशास्त्र का अग्निवेशादिकों ने निर्माण किया । जैनागमों का विशेषतः विस्तार इसी काल में हुआ एवं उन्होंने भी आयुर्वेद-संहिताका निर्माण इसी समय किया । कल्याणकारक ग्रंथ, उसकी भाषा, विषयवर्णनशैली, तत्वप्रणाली इत्यादि विचारों से वह वाग्भट के नंतर का ग्रंथ होगा यह अनुमान किया जासकता है । परन्तु अग्निवेश, जतुकर्ण, क्षारपाणी, भेल, पाराशर, इन की संहितायें अत्यंत प्राचीन हैं । इनमें से अग्निवेशसंहिता को दृढबल व चरकने संस्कृत कर व बढाकर आज जगत् के सामने रखा है । यह ग्रंथ आज चरकसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है । चरकसंहिता की भाषा अनेक स्थानों में औपनिषदिक भाषासे मिलती जुलती है । इस चरक का काल इसवी सन् के पूर्व हजार से डेढ हजार वर्षपर्यंत होना चाहिये इस प्रकार विद्वानों का तर्क है । चरक की संहिता तत्कालीन वैद्यक का सुंदर नमूना है । चरकसंहिता में अग्निवेश का भाग कितना है, दृढबल का भाग कितना है और स्वतः चरक का अंश कितना है यह समझना कठिन है ।

१ जैनाचार्यों के मतसे द्वादशांग शास्त्र में जो दृष्टिवाद नाम का जो बारहवां अंग है । उसके पांच भेदों में से एक भेद पूर्व (पूर्वगत) है । उसका भी चौदह भेद है । इन भेदों में जो प्राणावाद पूर्वशास्त्र है उसमें विस्तारके साथ अष्टांगायुर्वेदका कथन किया है । यही आयुर्वेद शास्त्रका मूलशास्त्र अथवा मूलवेद है । उसी वेद के अनुसार ही सभी आचार्योंने आयुर्वेद शास्त्र का निर्माण किया है ।

फिर भी प्रथम अध्याय के न्यायवैशेषिक तत्व का समावेश, ग्यारहवें अध्याय के तीन एषणाका कथन कर, उस की सिद्धि के लिए प्रमाणसिद्धि का भाग, आत्रेय भद्रकाप्यीय अध्याय के क्षणभंगी न्याय, इन भागों को चरकने प्रतिसंस्कार किया तब समावेश किया मालुम होता है। कारण कि वैदिक व औपनिषदिक काल में न्यायवैशेषिकों का उदय नहीं हुआ था, और बौद्धों का उदय तो प्रसिद्ध ही है। चरकसंहिता ग्रंथ विशेषतः कायचिकित्सा–विषयक है। उस के सर्व भागोंमें इसी विषयका प्रतिपादन है। चिकित्सा का तात्विक विषय व प्रत्यक्ष–कर्म का ऊहापोह बहुत अच्छी तरह चरकने किया है। कल्याणकारक ग्रंथ का चिकित्साविषय मधु, मद्य, मांस के भागको छोडकर बहुत अंश में चरक से मिलता जुलता है।

शल्यचिकित्सा आयुर्वेद के अंगोंमें एक मुख्य अंग है। शल्यचिकित्सा का प्रतिपादन व्यवस्थित व शास्त्रीयपद्धती से सुश्रुताचार्य ने किया है। इस से पहिले भी उपधेनु, उरभ्र, पुष्कलावत आदि सज्जनों के शल्यतंत्र (Treatises on Surgery) बहुतसे थे। परन्तु सब को व्यवस्थित संग्रह करने का श्रेय सुश्रुताचार्य को ही मिल सकता है। सुश्रुतने अपने ग्रंथ में शवच्छेदन से लेकर सर्व प्रत्यक्ष–शरीर का परिज्ञान करने के संबंध में काफी प्रकाश डाला है। शल्यतंत्रकारने अर्थात् वैद्य ने " पाटयित्वा मृतं सम्यक् " शरीरज्ञान प्राप्त करें, इस प्रकार का दण्डकसूत्र का सुश्रुतने अपनी संहिता में प्रतिपादन किया है। सुश्रुत के पहिले व तत्समय में अनेक तंत्र ग्रंथकार हुए हैं जिन्होंने शरीरज्ञान के लिए विशेष प्रयत्न किया था। ऐसे ही ग्रंथकारों के प्रयत्न से शरीरज्ञान का निर्माण हुआ है। सौश्रुत–शारीर का अनुवाद आगे के अनेक ग्रंथकारोंने किया है। सुश्रुतशारीर कायचिकित्सक व शस्त्रचिकित्सक के लिए उपयोगी है। सुश्रुतने इस शारीर के आधार पर शल्यतंत्र का निर्माण कर उसका विस्तार किया है। अनेक प्रकार के शस्त्र, यंत्र, अनुयंत्र, आदि का वर्णन सुश्रुत ग्रंथ में मिलता है। अष्टविध शस्त्रकर्म किस प्रकार करना चाहिए, व पश्चात् कर्म किस प्रकार करना चाहिए आदि बातों का ऊहापोह इस संहिता में किया गया है। शस्त्र क्रिया के पहिले की क्रिया व शस्त्र क्रिया के बाद की व्रणरोपणादि क्रियाओं का जिस उत्तम पद्धति से वर्णन किया गया है, उस में आधुनिक शस्त्रविद्या प्रवीण विद्वानोंको भी बहुत कुछ सीखने लायक है और शस्त्रकर्म प्रवीण पाश्चात्य वैद्योंने सुश्रुतकी पद्धतिको Indian Methods के नामसे लिया भी है। सुश्रुतसंहिता में छोटी छोटी शस्त्रक्रियाओं का ही वर्णन नहीं अपितु कोष्ठपाटनादि बडी बडी शस्त्रक्रियाओं का भी प्रतिपादन है। बद्धगुदोदर, अश्मरी, आंन्त्रवृद्धि, भगंदर आदि पर शस्त्रक्रियाओं का ठीक आधुनिक पद्धति से ही जो वर्णन

उस में मिलता है, उसे देखकर मन दंग रहता है। मूढगर्भ व शल्यहरण के भिन्न २ विधानोंका वर्णन है, इतना ही नहीं, पेट को चीरकर बच्चेको बाहर निकालना व फिरसे उस गर्भाशय को सीकर सुरक्षित करने का कठिन विधान भी सुश्रुत में है। नेत्ररोग के प्रति ही अनेक प्रकार के शस्त्रकर्मों का विधान सुश्रुतने बहुत अच्छी तरह से किया है। कल्याणकारक ग्रंथ में शस्त्रकर्म का बहुतसा भाग आया है। **अष्टविधशस्त्रकर्म व उन के विधान भी कल्याणकारक में सुव्यवस्थितरूपसे वर्णित हैं।** शस्त्रचिकित्सा अत्यंत उपयोगी चिकित्सा होने से महाभारतादि ग्रंथोंमें भी इसका उल्लेख मिलता है। भीष्म जिस समय शरपंजर में पडा था, उस समय शल्योद्धरण–कोविदों को बुलाने का उल्लेख महाभारत में है। सारांश है कि आयुर्वेद में शल्यचिकित्सा बहुत उत्तम पद्धति से दी गई है एवं उस का प्रचार प्रत्यक्ष व्यवहार में इस भारत में कुछ समय पूर्वतक बराबर था। **जैनाचार्योंने खासकर कल्याणकारककर्ताने शल्यतंत्रका वर्णन अपने ग्रंथ में अच्छीतरह किया है। परन्तु कायचिकित्साके सम्बन्धमें अधिकरूपसे रस शास्त्रोंका उपयोग व उसकी प्रथा इन्हीं जैनशास्त्रकारोंने डाल दी है। चरक, सुश्रुत के समय में वनस्पति व प्राण्यंग को औषधिके रूपमें बहुत उपयोग करते थे। परन्तु यह प्रथा अनेक कारणोंसे पीछे पडकर रस, लोह (Metals) उपधातु, [गंधक, माक्षिकादि] व वनस्पतिक कल्प चिकित्सा में अधिक रूपसे उपयोग में आने लगे, और शल्यतंत्र धीरे धीरे पीछे पडने लगा।**

यवनोंके आक्रमणपर्यंत आयुर्वेद का परिपोष बराबर बना था। आर्य, जैन व बौद्ध मुनियों ने इस के आठों ही अंगों के संरक्षण के लिए काफी प्रयत्न किया। परन्तु यावनी आक्रमण के बाद वह कार्य नहीं हो सका। इतना ही नहीं, बडे २ विद्यापीठ व अग्रहारोंके ग्रंथालयोंको विध्वंस करनेमें भी यवनोंने कोई कमी नहीं रक्खी। इतिहासप्रसिद्ध अल्लाउद्दीन खिलजी जिस समय दक्षिण पर चढाई करते हुए आया था, उस समय अनेक पुस्तकालयों को जलाने का उल्लेख इतिहास में मिलता है। आयुर्वेदशास्त्र को व्यवस्थितरूप से बढने के लिए जिस मानसिक-शांति की आवश्यकता होती है, वह इस के बाद के सहस्रक में विद्वानोंको नहीं मिली। कोई फुटकर निबंधग्रंथ अथवा संग्रहग्रंथ इस काल में लिखे गए। परन्तु उन में कोई नवीनता नहीं है। यह जो आघात आयुर्वेद पर हुआ उसकी सुधारणा विशेषतः मराठेशाही में भी नहीं हो सकी। और उस के बाद के राजावों को तो अपने स्वतः के सिंहासन को सम्हालते सम्हालते ही हैरान होना पडा। और आखेर के राजाओंने तो पलायन ही किया। इस प्रकार इस भारतीय आयुर्वेद के उद्धार के लिए राज्याश्रय नहीं मिला। हां! नहीं कहने के लिए आंग्ल

नाना साहेब पेशवे ने अपने शासन में एक हकीम व एक गुर्जर वैद्य को थोडा वर्षासन देने का उल्लेख मिलता है। यह सहायता शास्त्रसंवर्धन की दृष्टि से न कुछ के बराबर थी। चंद्रगुप्त व अशोक के काल में उन्होंने अपने राज्य में जगह २ पर रुग्णालय व बडे २ औषधालयों का निर्माण कराया था। इसीलिए उस समय अष्टांग आयुर्वेद की अत्यंत उन्नति हुई।

काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वांग, शल्य, दंष्ट्र, जरा व वृष, इस प्रकार आठ अंगों से चिकित्सा का वर्णन आयुर्वेद में किया गया है। कल्याणकारक ग्रंथ में भी इन आठ अंगों से चिकित्साका प्रतिपादन किया गया है। **कायचिकित्सा**–संपूर्ण धातुक शरीर की चिकित्सा। **बालचिकित्सा**—बालकों के रोग की चिकित्सा। **ग्रहचिकित्सा**— इस का अर्थ अनेक प्रकार से हो सकता है। परन्तु वे सर्व रोग सहस्रार व नाडीचक्र में दोषोत्पन्न होने से होते हैं। **ऊर्ध्वांगचिकित्सा**— इसे शालाक्यचिकित्सा भी कहते हैं। नाक, कान, गला, आंख, इन के रोगों की चिकित्सा ऊर्ध्वांगचिकित्सा कहलाती है। **शल्यचिकित्सा**—शस्त्रास्त्रों से की जानेवाली चिकित्सा जिसका वर्णन ऊपर कर चुके हैं। **दंष्ट्राचिकित्सा**—इस के दो भाग हैं। [१] सर्पादि विषजंतुओं के द्वारा दंष्ट्र होनेपर उसपर कीजानेवाली चिकित्सा। [२] स्थावर, जंगम विष के किसी प्रकार शरीर में प्रवेश होनेपर कीजानेवाली चिकित्सा। **जराचिकित्सा**–पुनर्यौवन प्राप्त करने के लिए की जानेवाली चिकित्सा। इसे ही रसायनचिकित्सा के नाम से कहते हैं। **वृषचिकित्सा**—का अर्थ वाजीकरण चिकित्सा है।

इन चिकित्सांगोंका सांगोपांगवर्णन कल्याणकारकमें विस्तारके साथ आया है। अतएव उसके संबंध में यहांपर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। मुख्य प्रश्न यह है कि आयुर्वेद की चिकित्सापद्धति किस तत्वके आधार पर अवलंबित है ? किसी भी वैद्यक को लिया तो भी उसके मूल में यह उपपत्ति अवश्य रहेगी कि शरीर सुस्थिति में किस प्रकार चलता है, और रोग के होनेपर उसकी अव्यवस्थिति किस प्रकार होती है ? आज ही नाना प्रकार के वैद्यकोंकी उपलब्धि इस भूमंडलपर हुई हो यह बात नहीं, अपितु बहुत प्राचीन काल से ही अनेक वैद्यकग्रंथ विद्यमान थे। शरीर त्रिधातुओं से बना हुआ है और उस में दोष, धातु व मलमूल है। [दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्] त्रिधातु शरीर के धारण पोषण करते हैं। वे समस्थिति में रहें तो शरीर में स्वास्थ्य बना रहता है। एवं उनका वैषम्य होनेपर शरीर बिगडने लगता है। " **य एव देहस्य समा विवृध्यै**

१ यह चंद्रगुप्त जैनधर्म का उपासक था। जैनाचार्य भद्रबाहु का परमभक्त था। जैनधर्म में कथित उत्कृष्ट महाव्रतको धारण कर उसने संन्यास ग्रहण किया था। See Inscriptions of Shravanbelgola.

त एव दोषा विषमा वधाय "। त्रिधातु अत्यंत सूक्ष्म होकर व्यापी हैं। शरीर के अनेक मंडलों में वह व्याप्त होकर रहते हैं। अवयवों में व्याप्त हैं, घटक में व्याप्त हैं। और परमाणु में भी उन की व्याप्ति है। उन के भिन्न २ स्थान हैं। उन के कार्य शरीर में रात्रिंदिनं चालू ही रहते हैं। यद्यपि उन का नाम वायु, पित्त व कफ है। तथापि कुछ वैद्यक ग्रंथोंमें खासकर भेलसंहितामें वे " प्रतिमूलधातु " के नाम से कहे गए हैं।

वात, पित्त व कफ के स्थान व कार्योंका सविस्तर वर्णन कल्याणकारक ग्रंथ में है। वात, पित्त व कफ यह त्रिधातु जीवन के मूल आधारभूत हैं। किसी भी प्राणी के शरीर में इनका अस्तित्व अनिवार्य है। बिलकुल सूक्ष्मशरीरी प्राणी को भी देखें तो मालुम होगा कि उसके श्लेष्ममय शरीर में जल का अंश रहता ही है। वह अपने आहार को ग्रहण कर उसका पचन करते हुए अपने शरीर की वृद्धि करता ही है। यह कार्य उस के शरीर में स्थित पित्त धातु के कारणसे होता है। इतना ही क्यों? अत्यंतात्यंत सूक्ष्मशरीर में भी यह सर्व व्यापार होते रहते हैं। और उस में सप्तधातुओंमें से रसधातु विद्यमान रहता है। आगे जैसे जैसे वह प्राणी अनेकावयवी बनता है तब उसका शारीरिकव्यापार भी बढता जाता है।

प्राण्यंग जैसे जैसे बढता जाता है वैसे ही उस में प्रतिमूलधातु किंवा स्थूल धातु अधिकाधिक श्रेणी से उपलब्ध होता है, किन्ही प्राणियोंमें रस व रक्त यही धातु मिलते हैं। किन्हींमें रस, रक्त व मांस और किन्हींमें रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा व शुक्र ऐसे धातु रहते हैं। प्रतिमूल धातु किंवा सप्तधातु-स्थूल धातुवोंमें कोई भी धातु प्राण्यंग में रहे या न रहे परंतु त्रिधातु तो अवश्य रहते ही हैं। वे तीनों ही रहते हैं। तीनोंकी सहायता से शारीरिक व्यापार चलता है। मानवीय शरीर में अत्यंत प्रकृष्ट धातुक शरीर रहने पर प्रतिमूल धातु रहते हैं। ओजसदृश (धातुसार-तेज) भी रहते हैं। परंतु इन सबके मूल में त्रिधातु रहते हैं।

मानवीय शरीर में त्रिधातुवोंका भिन्न भिन्न स्थान व कार्य मौजूद है। इन पदार्थोंके गुण भिन्न २ हैं। वायु शरीर के भिन्न २ अवयवसमूहोंमें कार्य करनेवाला है। इसी प्रकार पित्त व कफ भी हैं। यह भी सर्व शरीरभर एक ही न होकर भिन्न २ प्रकार के समुच्चयरूप हैं। उनकी जाति एक, परंतु आकार भिन्न है। स्थूल, सूक्ष्म व अतिसूक्ष्म इस प्रकार उनके स्वरूप हैं। त्रिधातुवोंका व्यापार शारीरिक व मानसिक ऐसे दो प्रकार से होता है। मन के सत्व, रज व तम इन त्रिगुणोंपर वायु, पित्त व कफ का परिणाम होता है। मानसिक व्यापारोंका नियंत्रण त्रिधातुवोंके कारण से होता है।

अवयवोंसे बने हुए पचनश्वसनादि मंडलोमें त्रिधातु रहते हैं। अवयवोंमें, उनके घटकोंमें, घटकोंके परमाणुवोंमें त्रिधातुवोंकी व्याप्ति रहती है। इसलिए उनको व्यापी कहा है। व्यापी रहते हुए भी उनके विशिष्ट स्थान व कार्य हैं।

सचेतन, सेंद्रिय, अतींद्रिय, अतिसूक्ष्म व बहुत परमाणुवोंके समूह से इस जीवंत देह का निर्माण होता है। परमाणु अतिसूक्ष्म होकर इस शरीर में अब्जावधिप्रमाण से रहते हैं। एक गणितशास्त्रकारने इनकी संख्या को तीस अब्जप्रमाण में दिया है; शरीर के सर्व व्यापार इन परमाणुओंके कारण से होते हैं। इन्ही परमाणुओंसे शरीर के अनेक अवयव भी बनते हैं। यकृत, प्लीहा, उन्दुक, ग्रहणी, हृदय, फुप्फुस, सहस्रार, नाडीचक्र आदि का अंतिम भाग इन परमाणुओंके स्वरूप में हैं।[1] अनेक परमाणुओंसे अवयवोंका घटक बनता है। घटकोंसे अवयव, अवयवोंसे मंडल बनते हैं। वातमंडल, श्वसन, पचन, रुधिराभिसरण, उत्सर्ग ये शरीर के मुख्य मंडल हैं। परमाणुओंमें रहने वाले त्रिधातु अतिसूक्ष्म और अवयवांतर्गत, वातमंडलांतर्गत त्रिधातु सूक्ष्म रहते हैं तो भी उस के स्थूलव्यापार के त्रिधातु स्थूलस्वरूप के रहते हैं। उदाहरण के लिए पचन व्यापार आमाशय, पक्काशय, ग्रहणी, यकृतादि अवयवोंमें होता है। आमाशय, पक्काशय वगैरह में रहनेवाला पाचकपित्त स्थूलस्वरूप का रहता है। वह अपनेको प्रत्यक्ष देखने में आसकता है। वह विस्र, सर, द्रव, आम्ल आदि गुणोंसे देखने में आता है। इस पित्त का अन्न के साथ संयोग होता है। और अन्न के साथ उसकी संयोग–मूर्च्छना होकर पचन होता है। पचन के बाद सार–किट्टपृथक्त्व होता है। सारभाग का पक्काशय में शोषण होता है। सार–किट्टविभजन, सारसंशोषण यह कार्य पित्त के कारण से होते हैं। इतर रसादि प्रतिमूल धातुओंके समान पित्त कफादिकोंका भी पोषण होना आवश्यक है। वह पोषण भी पचनव्यापार में होता है। पित्त का उदीरण होकर पित्तस्राव होता रहता है। स्राव होने के पहिले पित्तादि धातु उन उन घटकोंमें सूक्ष्मरूप से रहते हैं। सूक्ष्मव्यापार में वे दीख नहीं सकते। बाहर उनका स्राव होनेके बाद वे देखने में आते हैं। अतः पित्त पित्तका स्थूलरूप, पित्तोत्पादक घटकस्थितपित्त सूक्ष्मरूप और परमाण्वंतर्गतपित्त अतिसूक्ष्मस्वरूप का रहता है, यह सिद्ध हुआ।

भुक्तमात्र अन्न के षड्रसोंके पाक से पाचकपित्त का उदीरण होता है। आमाशय में पाचकपित्त व क्लेदककफ का उदीरण होकर वह धीरे धीरे अन्न में मिल जाते हैं। व अन्न का विपाक होता है। अन्नपचन का क्रम करीब करीब चार घंटे से छह घंटे

---

१ शरीरावयवास्तु खलु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवंति, अतिबहुत्वादतिसूक्ष्मत्वादतींद्रियत्वाच्च ॥ चरकशारीर ७.

तक चलता है। आमाशय, पक्वाशय व ग्रहणी में अन्न का पचन होता रहता है। अन्न की पुरःसरण क्रियासे अन्न आगे आगे सरकता रहता है। इस क्रियाके लिए व अन्न की गोलाई वगैरे को कायम रखने के लिए समानवायु की सहायता आवश्यक है। समानवायु के प्रस्पंदन, उद्वहन, धारण, पूरण, इन कार्योंसे पचन में सहायता मिलती है। विवेक लक्षण से अन्न के सार–किट्टविभजन होता है। सारभाग का शोषण [Absorbtion] होता है। और किट्टभाग गुदकांड तक पहुंचाया जाता है। स्थूल ग्रहणी का कुछ भाग गुदकांड व गुदत्रिवली में अपानवायु का कार्य होकर किट्ट [मल] बाहर फेंका जाता है। यह सर्व कार्य होते समय धातुवोंके स्थूलस्वरूप को प्रत्यक्ष दिखाया जा सकता है। पाचकपित्त [अमाशयस्थरस, स्वादुपिंडस्थरस, यकृत्पित्त, पक्वाशयस्थपित्त आदि] का उदीरण हमें प्रत्यक्ष प्रयोग से दिखाया जा सकता है। प्रसिद्ध रशियन-शास्त्रज्ञ पावलो ने इन का प्रयोग किया है। और भोजन में उदीरित होनेवाले पित्त को नलीमें लेकर बतलाया है। पित्तके साथ ही वहांपर क्लेदयुक्त कफ का भी उदीरण होता है। और बाद में समानवायु के भी कार्य पचन-व्यापार में होते हैं यह सिद्ध कर सकते हैं। अन्नांतर्गत स्थूलवायु को वायुमापक यंत्र से माप सकते हैं। यह सब आधुनिक प्रयोगसाधन से सिद्ध हो सकते हैं। फिर क्या ये ही त्रिधातु हैं ? और यदि ये ही आयुर्वेद के प्रतिपादित त्रिधातु हो तो आयुर्वेद की विशेषता क्या है ? और वह स्वतंत्रशास्त्र के रूपमें क्यों चाहिए ?

आयुर्वेदप्रतिपादित त्रिधातुवोंमें स्थूलस्वरूपयुक्त त्रिधातुवोंका ऊपर कथन किया ही है। इससे आगे बढकर यह विचार करना चाहिए कि यह उदीरित पित्तकफ कहां से उत्पन्न हुए ? शरीरावयव, उनके घटक व परमाणु सर्वतः समान रहते हुए यह विशेष कार्य कौनसे द्रव्यके या गुणकर्म के कारण से होता है ? गुणकर्म द्रव्याश्रयी हैं। तब इन भिन्न २ अवयव विभागोंमें पित्तकफादि सूक्ष्म द्रव्य अधिकतर रहते हैं, अतएव उस से पित्तकफ का उदीरण हो सकता है। यह युक्ति से सिद्ध होता है। यदि कोई कहें कि उन उन अवयवों का स्वभाव ही वह है तो आगे यह प्रश्न निकलता है कि ऐसा स्वभाव क्यों ? तब पित्तकफ के सूक्ष्मांश का अस्तित्व रहने से ही पित्तकफ का उदीरण उस से हो सकता है। स्थूलसमान से स्थूल कार्य होते हैं व स्थूलांशों का अनुग्रह होता है। स्थूलांशको बलदान सूक्ष्मांश से प्राप्त होता है। सूक्ष्म व अतिसूक्ष्म त्रिधातु का कार्य अतिसूक्ष्म परमाणुपर्यंत चालू रहता है। यह कार्य त्रिधातुओंमें जिस धातु का अधिकतर चालू हो, उन २ धातुवोंका उन अवयवो में स्थूलकार्य चालू रहता है। वस्तुतः [सामान्यतः] तीनों ही धातुवोंके बिना जीवन

रह ही नहीं सकता । विशेषत्वसे उन उन धातुवों का विशेष कार्य होता रहता है ।

पचन कार्य में पाचकपित्त, क्लेदककफ व समानवायु के स्थूलस्वरूप का सहायता मिलती है । इनकी सहायता होकर अन्न में मिश्र हुए विना अन्न पचता नहीं है एवं शरीर में अन्नरसका शोषण नहीं होता है ; रसधातु बनता नहीं । एवं रससे रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओज व परमओज यहांतक के स्थूल धातु बनते नहीं हैं। त्रिपाक के बाद अन्नरस तैयार होता है । उस में त्रिधातु के अंश मिले हुए रहते हैं, उसे रसधातु संज्ञा प्राप्त होती है । अन्नरस में त्रिधातु का मिश्रण होकर वहां रसका पचन होता है । रसधातुका पचन होकर रक्तांश तैयार होते हैं व उनका रक्तमें मिश्रण होकर रक्त बनता है, उसमें भी त्रिधातु रहते हैं। रक्तसे आगे आगेके धातु बनते हैं । इसके लिए भी त्रिधातुवोंकी सहायता की आवश्यकता है । पूर्व धातुसे परधातु जब बनता है, उस समय पूर्वधातुके अपने अंशको लेकर आत्मसात् करनेका कार्य परधातु में चलता है । यह कार्य त्रिधातुवोंके कारणसे ही होता है । भूतांशोंका पचन धात्वग्निके कारणसे होता है, इस प्रकार भुक्त अन्नसे धातु-स्नेह परंपरा चालू रहती है । भोज्य व धातुवोंकी परिवृत्ति यह चक्रके समान चालू रहती है । **(सततं भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्)** इसे ही धातुपोषणक्रम कहते हैं । धातुवोंके पोषणसे अवयव घटक व परमाणु पुष्ट होते हैं । इन सब परिपोषणोंकेलिए वायु, पित्त, व कफ कारणीभूत हैं। ये ही प्रतिमूल [रसरक्तमांसादिक] धातुवोंके परिपोषण क्रममें सहायक होते हैं । उसी प्रकार अपने स्वतःका भी परिपोषण करलेते हैं ।

धातु परिपोषणके एक प्रकारका ऊपर वर्णन किया गया है । वायु, पित्त व कफ, इन त्रिधातुवोंका स्वतः भी परिपोषण होनेकी आवश्यकता है । उनकी समस्थितिमें रहने की वडी जरूरत है । रोजके दैनंदिन व्यापार में उनका व्यय होता रहता है । यदि उनका पोषण नहीं हुआ व वे समस्थितिमें न रहे तो उनका ह्रास होकर आरोग्य विगडता है । इनका भी पोषण आहारविहारादिकसे होता है । षड्रस अन्नके विपाकमें जो रस निर्माण होता है उससे अर्थात् आहारद्रव्योंके वीर्यसे इनकी पुष्टि होती है । शरीरमें पहिलेसे स्थित त्रिधातुद्रव्योंके समानगुणोंकी आहारके समान गुणात्मक रसोंसे, वीर्यसे व प्रभावसे वृद्धि होती है । यह कार्य स्थूल, सूक्ष्म व अतिसूक्ष्म-स्वरूपके धातुपर्यंत चलता है । धातुवोंके समानगुणोंके आहारादिकसे जब वृद्धि होती है तो असमानगुणोंके आहारादिकसे उनका क्षय होता है । रोजके रोज होनेवाली कमीकी पूर्ति समान रसवीर्योंसे होती है ।

मनपर त्रिधातुवोंका कार्य होता है तो मनका भी त्रिधातुवोंपर कार्य होता है। इस प्रकार वे परस्परानुबंधी हैं। दोनोंके व्यापारमें आहारादिकोंकी सहायता लगती है। सात्विक, राजस व तामस, इसप्रकार आहार के तीन भेद हैं। उनका परिणाम शरीरके धातुवोंपर होता है एवं मनके सत्व, रज व तमोगुणपर होता है। आहारके समान औषधिका भी परिणाम मनके त्रिगुणपर होता है।

धातुवोंकी समता रहनेपर स्वास्थ्य बना रहता है। उनका वैषम्य होनेपर स्वास्थ्य बिगडने लगता है। त्रिधातु जब समस्थितिमें रहते हैं, तभी उनको धातुसंज्ञा दी गई है। वे शरीर को चलाते हैं, बढाते हैं व स्वस्थ बनाये रखते हैं। असात्म्येंद्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध व परिणामादि कारणोंसे धातुपर परिणाम होता है। धातुवोंकी समता नष्ट होती है, अर्थात् वैषम्य उत्पन्न होता है। उनमें वैषम्य उत्पन्न होनेपर वे शरीरोपकारक नहीं होसकते। क्यों कि विकृतिके उत्पन्न होनेसे शरीरापायकारक होते हैं। तभी उनको दोष कहते हैं। दोषकी उत्पत्ति दुष्टद्रव्योंसे होती है अर्थात् विषमस्थितिमें रहनेवाले धातु दुष्टद्रव्य या दोष कहलाते हैं। दोषद्रव्योंका गुणकर्म धातुवोंसे बिलकुल भिन्न स्वरूपका है। ये दोषद्रव्य अर्थात् विषमस्थितीके वात, पित्त, कफदोष रोगके कारण होते हैं। धातुवोंका जिस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म व अतिसूक्ष्म भेद होता है उसीप्रकार दोषोंका भी होता है। धातुवोंके कारणसे जिस प्रकार शरीर व मानसिक व्यापारमें सुस्थिति बनी रहती है, उसी प्रकार दोषोंसे शरीर व मानसिक व्यापारमें बिगाड उत्पन्न होती है। **वायु**–रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म व चल; **पित्त**–सस्नेह, तीक्ष्ण, उष्ण, सर व द्रव; और **कफ**–स्थिर, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृत्स्न, शीत, गुरु, व मंद गुणयुक्त है। पित्तकफ द्रवरूप और वायु अमूर्त है। ज्ञेय है। दोषोंका अतिसंचय होनेपर वे मलरूप होते हैं। इसी प्रकार शरीरके व्यापारकेलिए निरुपयोगी व शरीरको मलिन बनाकर कष्ट देनेवाले द्रव्योंको भी मल कहते हैं। जो मल कुछ काल पर्यंत शरीरकेलिए उपयुक्त अर्थात् संधारण कार्यके लिए उपयुक्त रहते हैं, उनको मलधातु कहते हैं। मलका भी स्थूलमल (पुरीष, मूत्र, स्वेद, वगैरे) व अत्यंत सूक्ष्ममल (**मलानामतिसूक्ष्माणां दुर्लक्ष्यं लक्षयेत्क्षयम्**) इस प्रकार दो भेद है। मथितार्थ यह हुआ कि शरीरसंधारण करनेवाले **धातु** (**धारणाद्धातवः**) शरीरको दूषित करनेवाले **दोष**, (**दूषणाद्दोषाः**) व शरीरको मलिन करनेवाले **मल** (**मलिनीकरणान्मलाः**) इसप्रकार तीन द्रव्योंसे शरीर बना हुआ है। इसलिये कहा है कि **दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्**। धातु के समान दोष भी शरीर में रहते ही हैं। वे अत्यंत सन्निध वास करते हैं। शरीर क्षणभर भी व्यापाररहित नहीं रह सकता है। निद्रावस्था में भी शरीरव्यापार चालू ही रहता है।

परंतु कुछ व्यापार बंद रहते हैं। उतनी ही उसे विश्रांति समझनी चाहिये। शरीर के व्यापार होते हुए धातुओंमें कुछ वैषम्य उत्पन्न होता ही है। वातपित्तकफ के व्यापार में उन उन धातुवोंका व्यय होता ही रहता है। उससे उनमें वैषम्य उत्पन्न होता है व दोषद्रव्य का निर्माण होता है। धातु–दोष सन्निध वास करते हैं। जबतक धातुद्रव्योंका बल अधिक रूपसे रहता है तबतक स्वास्थ्य टिकता है। दोष द्रव्योंका बल बढनेपर वे धातुओंको दूषित करते हैं व स्वास्थ्य को बिगाडते हैं। दोष व मलोंसे शरीरसंधारकधातु दूषित होते हैं व रोग उत्पन्न होता है। इस प्रकार धातु–दोष मीमांसा है।

असात्म्येंद्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध व परिणाम अथवा काल ये त्रिविध रोग के कारण होते हैं। [**असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रिविधं रोग-कारणम्**] असात्म्येंद्रियार्थसंयोग से स्पर्शक्तभाव विशेष उत्पन्न होते हैं। स्पर्शक्तभाव विशेषोंसे त्रिधातु व मनपर परिणाम होता है, एवं दोष उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञापराधका मनपर प्रथम परिणाम होता है। नंतर शरीरपर होता है। तब दोषवैषम्य उत्पन्न होता है। कालका भी इसीप्रकार शरीर व मनपर परिणाम होकर दोषोत्पत्ति होती है। एवं दोषोंका चय, प्रकोप, प्रसर व स्थानसंश्रय होते हैं। उससे संरभ, शोथ, विद्रधि, व्रण, कोथ होते हैं। दोषोंकी इस प्रकारकी विविध अवस्था रोगोंके नियमित कारण व दोषदूष्य संयोग अनियमितकारण और विष, गर, सेंद्रिय–विषारी क्रिमिजंतु इत्यादिक रोगके निमित्तकारण हैं।

आधुनिक वैद्यकशास्त्रमें जंतुशास्त्रका उदय होनेसे रोगोंके कारणमें निश्चितपना आगया है, इसप्रकार आधुनिक वैद्योंका मत है। जंतुके मिलने मात्रसे ही वह उस रोगका कारण, यह कहा नहीं जासकता। कारण कि कितने ही निरोगी मनुष्योंके शरीरमें जंतुके होते हुए भी वह रोग नहीं देखाजाता है। जंतु तो केवल बीजसदृश है। उसे अनुकूल भूमि मिलनेपर वह बढता है। उससे सेंद्रिय, विषारी जंतु बनता है व रोग उत्पन्न होता है। परंतु अनुकूलभूमि न रहनेपर अर्थात् जंतु की वृद्धि के लिए अनुकूल शारीरिक परिस्थिति नहीं रहनेपर, ऊसर भूमिपर पडे हुए सस्यबीज के समान जंतु बढ नहीं सकता है और रोग भी उत्पन्न नहीं कर सकता है। यह अनुकूलपरिस्थिति का अर्थ ही दोषदुष्टशरीर है। कॉलरा व प्लेग सरीखे भयंकर रोगोंमें भी बहुत थोडे लोगोंको ही वे रोग लगते हैं। सबके सब उन रोगोंसे पीडित नहीं होते। इसका कारण ऊपर कहा गया है, अर्थात् जंतु तो इतर निमित्तकारण के समान एक निमित्तकारण है।

काले, अर्थ, व कर्म या असात्म्येंद्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध व परिणाम इनके हीन मिथ्यातियोगोंके कारणसे शरीर संधारक धातुओंमें वैषम्य होता है, एवं दोषोत्पत्ति होती है। और दोषोंके चयप्रकोपादिक के कारण से रोगोत्पत्ति होती है। इस प्रकार आयुर्वेद का रोगोत्पत्ति के सम्बन्ध में अभिनवसिद्धांत है। रोग की चिकित्सा करते हुए इस अभिनव सिद्धांत का बहुत उपयोग होता है। जिसे विशिष्टक्रियाके कारणसे शरीरके धातु सम अवस्था में आयेंगे, उस प्रकार की क्रिया करना, यही चिकित्सा का रहस्य है। धातुसाम्य करने की क्रिया करनेसे धातुवोंमें समता आती है। धातु वैषम्योत्पादक कारणोंसे धातुवोंमें विषमता उत्पन्न होकर दोष रोगादिक उत्पन्न होते हैं। **चिकित्साशास्त्र का सर्व विस्तार, अनेक प्रकार की प्रक्रियायें व पद्धति, ये सभी इसी एक सूत्र के आधार पर अवलंबित है। इस का बहुत विस्तार व सुंदर विवेचन के साथ सांगोपांगकथन कल्याणकारक ग्रंथ में किया गया है।**

धातु वैषम्यको नष्ट कर समताको प्रस्थापित करना यही, चिकित्साका ध्येय है और वैद्यका भी यही कर्तव्य है। विषमं हेतुवोंका त्याग व समत्वोत्पादक कारणोंका अवलंबन करना ही चिकित्साका मुख्य सूत्र है, यह ऊपर कहा ही है। इस सूत्रका अवलंबनकर ही वैद्यको चिकित्सा करनी पडती है।

चिकित्सा करते हुए दूष्यं, देश, बल, काल, अनल, प्रकृति, वय, सत्व, सात्म्य, आहार व पृथक् पृथक् अवस्था, इनका अवश्य विचार करना पडता है।

दूष्यका अर्थ रसरक्तादि स्थूलधातु। इनमें दोषोंके कारणसे दूषण आता है। जिस प्रदेशमें अपन रहते हैं वह देश कहलाता है। यह जांगल, आनूप व साधारणके भेदसे तीन प्रकार है। शरीरशक्तिको बल कहते हैं। यह कालज, सहज व युक्तिकृतके भेदसे तीन

---

१ कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्॥ अ. हृ. सू. १

२ याभिः क्रियाभिर्जायंते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्मतद्भिषजां स्मृतम्॥ चरक सूत्र अ.

३ त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्
विषमा नानुबध्नंति जायंते धातवः समाः। चरकसूत्र

४ दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्वं सात्म्यं तथाहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः।
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्॥ अ सं सूत्र १२

प्रकार है। काल शीत, उष्ण व वर्षाके भेदसे तीन प्रकारका है। अग्निका अर्थ पाचकाग्नि। वह मंद, तीक्ष्ण, विषम व समाग्निके भेदसे चार प्रकारका है। इनमें समाग्नि श्रेष्ठ है।

शरीरको मूलस्थितिमें संभाल रखनेका अर्थ प्रकृति है। शुक्र [पुंबीज] व आर्तव [स्त्रीबीज] के संयोगसे बीज धातु बनता है। बीज धातुकी जिस प्रकार स्थिति हो उस प्रकार शरीर बनता जाता है। इसीके कारणसे शरीरकी प्रकृति व मनका स्वभाव बनता है। वात धातुसे वातप्रकृति बनती है। इसी प्रकार अन्यधातुवोंके बलाबलकी अपेक्षा तत्तद्धातुवोंकी प्रकृति बनती है।

वय बाल, तारुण्य व वार्धक्य के भेद से तीन प्रकारकी है। सत्वका अर्थ मन व सहनशक्ति। आहार, आदतें व शरीर के अनुकूल विहार आदि का विचार करना सात्म्य कहलाता है। आहार व रोग की विविध अवस्थावोंको [आम, पक्व व पच्यमान वगैरह] ध्यान में लेकर उनका सूक्ष्म विचार करके ही चिकित्सा करनी पडती है।

चिकित्साशास्त्र का प्रधान आधार निदान है। निदान शब्द का अर्थ " मूल कारण " ऐसा होता है। परंतु शब्दार्थके योगरूढार्थसे वह रोगपरीक्षण इस अर्थ में प्रयुक्त होता है।

आयुर्वेदीयनिदान में मुख्यतः दोषदुष्टिका विचार करना पडता है। भिन्न २ अनेक प्रकार के कारणोंसे दोषदुष्टि होती है। दोषोंका चय, प्रकोप व प्रसर होते हैं। दोष भिन्न २ दूष्योंमें जाते हैं। दोषदूष्य संयोग होता है। उसके बाद भिन्न २ स्थान दुष्ट होते हैं। उसका कारण दोषोंका स्थान-संश्रय है। किसी भी कारण से दोषों की दुष्टि होती है। इसलिए निदान करते हुए पहिले कारणोंका ही विचार करना पडता है। दोषोंका स्थानसंश्रय होनेके पहिले चयादिक होते हैं। तब निश्चित रोगस्वरूप आता है। इस समय रोग के पूर्वलक्षण प्रगट होते हैं। इसलिए निदान करते हुए पूर्वरूप या पूर्वलक्षणोंपर विचार करना पडता है। इसके अनंतर दोष दूष्यसंयोग होकर स्थानसंश्रय होता है व सर्वलक्षण स्पष्ट होते हैं। रोग निदान में लक्षणोंका विचार बहुत गहरी व बारीक दृष्टि से एवं विवेकपूर्वक करना पडता है। भावना अर्थात् मनसे जानने के लक्षण व शारीरिक लक्षण इस प्रकार लक्षण दो प्रकार के हैं। दोषद्रव्य व शरीरसंधारकधातुवोंमें संघर्षण होने से लक्षण उत्पन्न होते हैं। मानसिक लक्षण भी उसीसे प्रगट होते हैं। नवीन रोगोंमें लक्षण बहुत जल्दी मालुम होते हैं। और रोगी भी उन लक्षणोंको झट कह सकता है। परंतु पुराने रोगोंके लक्षण बहुत गूढ रहते

हैं और रोगी को भी उन्हें स्पष्टतया समझने में दिक्कत होती है । सो उसकेलिए उपशय (सात्म्य) व अनुपशयके प्रयोगसे लक्षणोंको जानलेना चाहिये। [**गूढलिंगं व्याधिं उपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत**] इन चार साधनोंसे रोगकी संप्राप्ति (Pathology) को जानलेनी चाहिये । निदान, पूर्वरूप या पूर्वलक्षण, रूप, उपशय, व संप्राप्ति, इनको निदानपंचक कहते हैं। दर्शन, स्पर्शन व प्रश्न, इन साधनोंसे एवं निदान पंचकोंके अनुरोधसे रोगीकी परीक्षा करें। रोग परीक्षा होकर रोगनिश्चिति होनेपर, उसपर ज्ञानपूर्वक चिकित्सातत्वके आधारपर निश्चित औषधियोंकी योजना या उपचार जो हो सो करें। ध्रुव आरोग्यको प्राप्त करादेना यह आयुर्वेदीयचिकित्साका ध्येय है। चिकित्सा करते हुए दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय व सत्वावजय इनका अवलंबन करना पडता है। द्रव्यभूतचिकित्सा व अद्रव्यभूतचिकित्सा इस प्रकार चिकित्साके दो भेद हैं । द्रव्यभूतचिकित्सामें औषध व आहारोंका नियमपूर्वक उपयोग करना पडता है। अद्रव्यभूतचिकित्सामें साक्षात् औषध व आहारके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं होती है। रोगीको आवश्यक सूचना देना, व मंत्र, बलि, होम वगैरहका बाह्यतः उपयोग करना पडता है। आयुर्वेदने औषधका उपयोग बहुत बडे प्रमाणमें, अचूक, निश्चित व विना श्रमके ही किया है। औषधमें प्राण्यंग, वनस्पति, खनिजवस्तु व दूध वगैरे पदार्थोंका उपयोग किया है। कल्याणकारक ग्रंथमें प्राण्यंगका विशेष उपयोग नहीं है। कस्तूरी, गोरोचन सदृश प्राणियोंके शरीरसे मिलनेवाले अपितु प्राणियोंको कष्ट न होकर प्राप्त होनेवाले पदार्थोंका उपयोग किया है। वनस्पति, खनिज, व इतर द्रव्योंका उपयोग करते हुए उनका रस, विपाकवीर्य व प्रभावका आयुर्वेदने बहुत सुंदर विवेचन किया है । वनस्पतिके अनेक कल्प बनाकर उनका उपयोग किया गया है। खनिज द्रव्योंको जैसेके तैसे औषधके रूपमे देनेसे उनका शोषण शरीरमें होना शक्य नहीं है । खनिज द्रव्योंके रासायनिक कल्प (Chemical Compounds) का भी शरीर में शोषण होना कठिन होता है। इसलिए खनिज या इतर निरिंद्रिय द्रव्यपर सेंद्रिय वनस्पति के अनेक पुटभावना से संस्कार किया जाता है। हेतु यह है कि सेंद्रिय द्रव्योंके संयोग से उनका शरीर में अच्छी तरह शोषण होजाय। आयुर्वेद का रसशास्त्र इस प्रकार की संस्कारक्रियासे ओतप्रोत भरा हुआ है । **रसशास्त्र पर जैनाचार्योंने बहुत परिश्रम किया है। आज जो अनेकानेक सिद्धौषध, आयुर्वेदीयवैद्य प्रचारमें**

१. गूढलिंग रोगकी परीक्षाके लिए जो औषधोंका प्रयोग, अन्न व विहार होता है उसे उपशय कहते हैं। वह छह प्रकारका होता है। (१) हेतुविपरीत (२) व्याधिविपरीत (३) हेतुव्याधिविपरीत (४) हेतुविपर्यस्तार्थकारी (५) व्याधिविपर्यस्तार्थकारी (६) हेतुव्याधिविपर्यस्तार्थकारी ॥

लाते हैं, वह जैनाचार्य व बौद्धोंकी नितांत प्रतिभा व अविश्रांत परिश्रम का फल है। अनेक प्रतिभावान्, त्यागी, विरागी आचार्योंने जन्मभर विचारपूर्वक परिश्रम, प्रयोगपूर्वक अनुभव लेकर अनेक औषधरत्नोंका भंडार संगृहीत कर रखा है। रसशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, निघंटु व औषधिगुणधर्मशास्त्र वगैरे अनेक शास्त्रोंका निर्माण अप्रतिमरूप से कर इन आचार्योंने आयुर्वेदजगत् पर बडा उपकार किया है।

रोग की चिकित्सा करते हुए अनेक भिन्न भिन्न तत्वोंका अवलंबन आयुर्वेदने किया है। बृंहण व लंघनचिकित्सा करते हुए अनेक भिन्न भिन्न प्रक्रियाओंका उपयोग किया है। अद्रव्यभूतचिकित्सा व द्रव्यभूतचिकित्सा ये दोनों दोषप्रत्यनीक चिकित्सा पद्धतिपर अवलंबित हैं। शरीर में दूषित दोषदुष्टि को दूर कर अर्थात् दोषवैषम्य व उससे आगेके दोषोंको नाश कर धातुसाम्यप्रवृत्ति करना यह चिकित्सा का मुख्यमर्म है। इस ध्रुवतत्व को सामने रखकर ही आयुर्वेदीय सूत्र, और उस से संचालितपद्धतिका विकास हुआ है। वह चिकित्सा निश्चित, कार्यकारी व शास्त्रीय है। दोषोंके अनुरोध से चिकित्सा की जाय तो रोगी अच्छीतरह व शीघ्र स्वस्थ होता है। एवं धातुसाम्यावस्था शीघ्र आकर उसका बल भी जल्दी बढता है। मांसवृद्धि शीघ्र होकर रुग्णावस्था अधिक समय तक टिकती नहीं। समस्त वैद्य व डॉक्टर बंधुवोंसे निवेदन है कि वे इस प्रकार की दोषप्रत्यनीकचिकित्सापद्धति का अभ्यास करें व उसे प्रचार में लानेका प्रयत्न करें, तो उन को सर्वत्र यश निश्चित रूपसे मिलेगा।

अब आयुर्वेद के स्वास्थ्यसंरक्षणशास्त्र के संबंध में थोडासा परिचय देकर इस विस्तृतप्रस्तावनाका उपसंहार करेंगे।

आयुर्वेद का दो विभाग है। एक स्वास्थ्यानुवृत्तिकर व दूसरा रोगोच्छेदकर। उन में रोगोच्छेदकर शास्त्र का ऊहापोह ऊपर संक्षेप में किया गया है। स्वास्थ्यानुवृत्तिकर शास्त्र या जिसे आरोग्यशास्त्र के नामसे भी कहा जासकता है, उसका भी विचार आयुर्वेदशास्त्रने किया है। जल, वायु, रहनेका स्थान, काल इत्यादिका विचार जानपदिक आरोग्यमें करना पडता है। अन्न, जल, विहार, विचार आचार आदिका विचार व्यक्तिगत आरोग्यमे करना पडता है। स्वास्थ्यका शरीरस्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य व ऐंद्रियिक स्वास्थ्य इस प्रकार तीन भेद हैं। केवल रोगराहित्यका नाम स्वास्थ्य नहीं है। अपितु शरीरस्थ सर्वधातु की समता, समाग्नि रहना, धातुक्रिया

---

१. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेंद्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ वाग्भट

व मलक्रिया सम रहना, मन व इंद्रिय सम रहकर बुद्धिप्रकर्ष उत्कृष्ट प्रकारसे रहना, इसे स्वास्थ्य कहते हैं। वातादिक त्रिधातुवोंके प्रकृतिभूत रहनेपर आरोग्य टिकता है। [तेषां प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम्]

वातादिकोंके साम्यपर स्वास्थ्य अवलंबित है। जिससे स्वास्थ्य टिककर रहेगा ऐसा वर्तन प्रतिनित्य करें, इस प्रकार आयुर्वेदका उपदेश हैं। आहार, स्वप्न व ब्रम्हचर्य ये आरोग्यके मुख्य आधार हैं। हितकर आहार व विहारके कारणसे रोगोत्पत्ति न होकर आरोग्य कायम रहता है। स्वास्थ्य प्राप्त होता है। किसी भी कार्यको करते हुए विचारपूर्वक करना, समबुद्धि रखकर चलना, सत्यपर रहना, क्षमावन् रहना, इंद्रियभोगोंपर अनासक्त रहना, व पूर्वाचार्योंके आदेशानुसार सुमार्गका अवलंबन करना, इन बातोंसे इंद्रियस्वास्थ्य बना रहता है।

ब्रम्हचर्य, व मानसिक संयमसे विशेषतः सकलेंद्रियार्थसंयमसे मानसिक स्वास्थ्य टिकता है। शुक्रधातुका ओज व परमओज ये शरीरके मुख्य प्रभावक हैं। ब्रम्हचर्यके पालनसे शरीरमें ये जमकर रहते हैं। शरीरका ओज अत्यंत बुद्धिवर्धक, स्मृतिवर्द्धक, बलदायक होनेसे ब्रम्हचर्यके पालनसे बुद्धी अधिक तेजस्वी होती है। स्मृति तीव्र बनी रहती है। शरीरका बल व तेज उत्तम होता है, वह मनुष्य बडा पराक्रमी शूर व वीर होता है। अपने आर्यशास्त्रोमें ब्रम्हचर्यके महत्वका वर्णन किया है, वह सत्य है।

ब्रह्मचर्य का पालन विवाहके बाद भी करना चाहिए। ब्रह्मचर्यसे रहकर धर्मसंततिको चलाने के लिए, पुत्र की कामना से ही स्त्री-सेवन करना चाहिए। केवल विषयवासनाकी पूर्ति के लिए आसक्त होना, यह व्यभिचार है। इस प्रकार शास्त्रोंका आदेश है। जैनाचार्योंने स्वदारसंतोषव्रत [ब्रह्मचर्य] का उपदेश करते हुए स्त्रीमें भी अत्यासक्ति रखने की मनाई की है। यदि ब्रह्मचर्य के इस उद्देश को लक्ष्य में रखकर संयम का पालन करें तो मनुष्य का शरीर व मन अत्यंत स्वस्थ व सुदृढ बन सकते हैं। सारांश यह है कि युक्त आहार, विहार व ब्रह्मचर्य के पालन से आजन्मस्वास्थ्य व दीर्घजीवित की प्राप्ति होती है।

आयुर्वेद में और उसी का कल्याणकारक ग्रंथ होनेसे उस में रोगच्छेदकर शास्त्रका व स्वास्थ्यानुवृत्तिकर शास्त्रका बहुत विस्तृत व सुंदर विवेचन किया गया है।

---

१. तच्च नित्यं प्रयुंजीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत् ॥ चरकसूत्र अ. ५।१०

प्रकृतग्रंथका वैशिष्ट्य.

कल्याणकारक ग्रंथ की रचना जैसी सुंदर है, उसी प्रकार उस में कथित अनेक चिकित्सा प्रयोग भी अश्रुतपूर्व व अन्य वैद्यक ग्रंथोंके प्रयोगोंसे कुछ विशेषताओंको लिए-हुए हैं। सदा ध्यानाध्ययन व योगाभ्यास में रत रहनेवाले महर्षियोंकी निर्मलबुद्धि के द्वारा प्रकृतग्रंथ का निर्माण होने से इस ग्रंथ में प्रतिपादित प्रयोगोंमें खास विशेषता रहनी चाहिए, इसमें कोई संदेह नहीं। आयुर्वेदप्रेमी वैद्योंको उचित है, कि वे ऐसे नवीन योगोंको प्रयोग [Practical] में लाकर संशोधनात्मक पद्धति से अनुभव करें जिससे आयुर्वेद विज्ञान का उत्तरोत्तर उद्योत हो।

प्रकृत ग्रंथ में प्रत्येक रोगोंका निदान, पूर्वरूप, संप्राप्ति, चिकित्सा, साध्यासाध्य विचार आदि पर सुसंबद्ध रूपसे विवेचन किया गया है। इसके अलावा अनेक रस रसायन व कल्पोंका प्रतिपादन स्वतंत्र अध्यायोंमें किया गया है। साथ में महामुनियोंके योगाभ्यास से ज्ञात रहस्यपूर्ण रिष्टाधिकार भी दिया गया है। एक बात खास उल्लेखनीय है कि इस ग्रंथ में किसी भी औषधप्रयोग में मद्य, मांस व मधु का उपयोग नहीं किया गया है। मद्य, मांस, मधु हिंसाजन्य हैं। जिनकी प्राप्ति में असंख्यात जीवोंका संहार करना पडता है। अतएव अहिंसा-धर्म के आदर्श को संरक्षण करने के लिए इनका परित्याग आवश्यक है। इसके अलावा ये पदार्थ चिकित्सा–कार्य में अनिवार्य भी नहीं हैं। क्यों कि आज पाश्चात्य देशोंमें अनेक वैज्ञानिक वैद्य इन पदार्थोंकी मानवीय शरीर के लिए निरुपयोगिता सिद्ध कर रहे हैं। आर्यसंस्कृति के लिए तो हिंसाजन्य निंद्य पदार्थोंकी आवश्यकता ही नहीं।

हमारे वैद्यबंधु अनुदिन की चिकित्सा में सर्वथा वनस्पति, कल्प व रसायनोंका उपयोग करने की आदत डालेंगे तो, भारत में औषधि के बहाने से होनेवाली असंख्यात प्राणियोंकी हिंसा को बचाने का श्रेय उन्हे मिल जायगा।

इस ग्रंथ के उद्धार में अथ से इति तक स्व. धर्मवीर **सेठ रावजी सखाराम दोशी** ने प्रयत्न किया था। उनकी मनीषा थी कि इस ग्रंथ का प्रकाशन समारंभ मेरी ही अध्यक्षता में कर, उस प्रसंग में अनेक वैद्योंको एकत्रित कर आयुर्वेद की महत्तापर खूब ऊहापोह किया जाय। परंतु कालराज की क्रूरता से उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। तथापि आयुर्वेद के प्रति उनका जो उत्कट प्रेम था, उसके फलस्वरूप आज हम उनकी इच्छा की पूर्ति इस प्रस्तावना के द्वारा कर रहे हैं।

इस ग्रंथका संपादन श्री. विद्यावाचस्पति पं. **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** के द्वारा हुआ है। श्री. शास्त्रीजी ने वैद्य न होते हुए भी जिस योग्यता से इस ग्रंथ का संपादन व अनुवादन किया है, वह श्लाघनीय है। उनको इस कार्य में उतनी ही सफलता मिली है, जितनी कि एक सुयोग्य वैद्य को मिल सकती है। उनके प्रति आयुर्वेद-संसार कृतज्ञ रहेगा।

ग्रंथ के अंतमें ग्रंथमें आए हुए वनौषधि शब्दोंके अर्थ भिन्न २ भाषाओंमें दिए गए हैं, जिससे हिंदी, मराठी व कानडी जाननेवाले पाठक भी इससे लाभ ले सकें। इससे सोनेमें सुगंध आगया है।

आयुर्वेदीय विद्वान् प्रकृत ग्रंथ के योगोंसे लाभ उठायेंगे तो संपादक व प्रकाशक का श्रम सार्थक होगा। इति.

ता० १-२-१९४०

आपका—

गंगाधर गोपाल गुणे,

(वैद्यपंचानन, वैद्यचूडामणि)

भूतपूर्व अध्यक्ष निखिल भारतीय आयुर्वेद महामंडल व विद्यापीठ, संपादक भिषग्विलास, अध्यक्ष आयुर्वेदसेवासंघ, प्रिंसिपल आयुर्वेद महाविद्यालय, संस्थापक आयुर्वेद फार्मसी लि० अहमदनगर.

संपादकीय वक्तव्य.

पूर्वनिवेदन.

सबसे पहिले मैं यह निवेदन करना आवश्यक समझता हूं कि मैं न कोई वैद्य हूं और न मैंने इस आयुर्वेदको कोई क्रमबद्ध अध्ययन ही किया है। इसलिए इसके संपादनमें व अनुवादनमें अगणित त्रुटियोंका रहना संभव है। परंतु इसका संशोधन मुंबई व अहमदनगरके दो अनुभवी वैद्यमित्रोंने किया है। इसलिए पाठकोंको इसमें जो कुछ भी गुण नजर आवें तो उसका श्रेय उनको मिलना चाहिये। और यदि कुछ दोष रहगये हों तो वह मेरे अज्ञान व प्रमादका फल समझना चाहिये। सहसा प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर मैंने इस कार्य को हाथमें क्यों लिया?

जैनाचार्योंने जिसप्रकार न्याय, काव्य, अलंकार, कोश, छंद व दर्शनशास्त्रोंका निर्माण किया था उसीप्रकार ज्योतिष व वैद्यक ग्रंथोंका भी निर्माण कर रक्खा है। जैन महर्षियोंमें यह एक विशेषता थी कि वे हरएक विषयमें निष्णात विद्वान् होते थे। प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद, परमपूज्य समंतभद्र, जिनसेनगुरु वीरसेन, गुणभंडार श्रीगुणभद्र, महर्षि सोमदेव, सिद्धवर्णी रत्नाकर व महापंडित आशाधर आदि महापुरुषोंकी कृतियोंपर हम एकदफे नजर डालते हैं तो आश्चर्य होता है कि इन्होने अनेक विषयोंपर किसप्रकार प्रौढ प्रभुत्व को प्राप्त किया था। प्रत्येक ऋषि अपने कालके माने हुए हैं। उनका पांडित्य सर्व दिगंतव्यापी होरहा था। उन महर्षियोने अपने जपतपध्यानसे बचे हुए अमूल्य समयको शिष्योंके कल्याणार्थ लगाया। और परंपरासे सबको उनके ज्ञानका उपयोग हो, इस हेतुसे अनेक ग्रंथोंको निर्माणकर रक्खा, जिससे आज हमलोगोंके प्रति उनका अनंत उपकार हुआ है।

जैनसंसार में खासकर दि. जैन संप्रदाय में साहित्याभिरुचि व तदुद्धारकी चिंता बहुत कम है यह मुझे बहुत दुःख के साथ कहना पडता है। इस बात की सत्यता एक दफे दूसरे संप्रदाय के द्वारा प्रकाशित साहित्योंसे तुलना करने से मालुम हो सकती है। सत्ताकी दृष्टि से संस्कृत, हिंदी, कर्णाटक भाषाओंमें दिगंबर संप्रदाय का जो साहित्य है, उतना किसीका भी नहीं है। उद्धार की दृष्टि से दिगंबरियोंके साहित्य के समान अल्पप्रमाण किसी का भी नहीं है। प्रत्युत लोग समय का फायदा लेने लगे हैं। एक तरफ से हमारे समाज के कर्णधार कई प्रकारसे साहित्यके प्रचार को रोक रहे हैं। कोई आम्नाय के पक्षपातसे प्रकाशनका विरोध कर रहे हैं; तो कोई पैसे के लोभ से दूसरों को दिखाने की उदारता नहीं बतलाते। कई शास्त्रभंडार तो वर्षों से बंद हैं। उन्हे खुलवाने का न कोई खास प्रयत्न ही किया जाता है और करने

पर सफलता भी कम मिलती है। ऐसी अवस्था में जब दिगंबर संप्रदाय के सज्जनों पर प्रमाद देवता की खूब कृपा है, उसे देखकर अन्य लोग कोई प्रशस्ति बदलकर, कोई मंगलाचरण बदलकर, कोई कर्ता की मरम्मत कर, कोई ग्रंथ के नाम को बदलकर, कोई अपने मतलब की बात को निकाल घुसेडकर, इस प्रकार तरह तरह से दिगंबर साहित्यों को सामने लारहे हैं! कुछ साहित्यप्रेमी सज्जनोंकी कृपासे हमारे न्याय, दर्शन व साहित्य तो केवल आंशिक रूपमें बाहर आये हैं। परंतु वैद्यक व ज्योतिष के ग्रंथ तो बाहर आये ही नहीं है। इन विषयोंकी कृति भी जैनाचार्योंकी बहुत महत्वपूर्ण हैं। परंतु उनके उद्धार की चिंता जैन वैद्य व ज्योतिषियोंमें बिलकुल देखी नहीं जाती। धर्मवीर, दानवीर, जिनवाणीभूषण, विद्याभूषण स्व० **सेठ रावजी सखाराम दोशी** की प्रबल मनीषा थी कि इस विभाग में कुछ कार्य होना चाहिए। इस विचार से उन्होंने इस ग्रंथ के उद्धार में अथ से इति तक प्रयत्न किया। जब उनको मालूम हुआ कि यह एक समग्र जैन वैद्यक-ग्रंथ मौजूद है तो उन्होंने मैसूर गवर्नमेंट लायब्ररी से इस ग्रंथ की प्रतिलिपि कराकर मंगाई। तदनंतर मुझ से इसका संपादन व अनुवादन करने के लिए कहा। मुझे पहिले २ संकोच हुआ कि एक अनभ्यस्त विषय पर मैं कैसे हाथ डालूं। परंतु बादमें स्थिर किया कि जब जैन वैद्योंकी इस ओर उपेक्षा है तो एक दफे अपन इस पर प्रयत्न कर देखें। फिर मैंने चरकादि ग्रंथोंकी रचना का अध्ययन किया जिस से मुझे प्रकृत ग्रंथ के संपादन व अनुवादन में विशेष दिक्कत नहीं हुई। कहीं अडचन हुई तो उसे मेरे विद्वान् मित्र संशोधकोंने दूर किया।

धर्मवीरजी की लगन.

इस ग्रंथ के उद्धार में सब से बडा हाथ श्री. धर्मवीर स्व० सेठ रावजी सखाराम दोशी का था यह हम पहिले बता चुके हैं। उन्होंने इस ग्रंथ की पहिली लिपि कराकर मंगाई। ग्रंथके अनुवादन व संपादन में प्रोत्साहित किया। इस ग्रंथके मुद्रण के लिए खास कल्याणकारक के नाम पर कल्याण मुद्रणालय को संस्थापित करने में पूर्ण सहयोग दिया। समय समय पर लगनेवाले संपादन साधनों को एकत्रित कर दिया। अनेक धर्मात्मा साहित्य-प्रेमियों से पत्र-व्यवहार कर इसके उद्धार में आर्थिक-सहयोग को भी कुछ अंशोंमें प्राप्त किया। उनकी बडी इच्छा थी कि यह ग्रंथ शीघ्र प्रकाश में आजावे। लोकमें अहिंसात्मक आयुर्वेद का प्रचार होने की बडी आवश्यकता है। वे चाहते थे कि इस ग्रंथ का प्रकाशन समारंभ बहुत ठाटबाट से किया जाय। वे गत दीपावली के पहिले जब बीमार पडे तब वैद्य-

पंचानन पं. गंगाधर गुणे शास्त्रीजी इलाज के लिए आये थे। उन से उन्होंने कहा था कि मुझे जल्दी अच्छा कर दो। क्यों कि इस दीपावली कन्शेसन टिकेट के समय में यहांपर एक वैद्यक सम्मेलन करना है। उस समय जैन वैद्यकग्रंथ कल्याणकारक का प्रकाशन समारंभ करेंगे। जैनायुर्वेद की महत्ता के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। किसे मालुम था कि उनकी यह भावना मनके मनमें ही रह जायगी। विशेष क्या? धर्मवीरजीने इहलोक यात्राको पूर्ण करनेके एक दिन पहिले रोगशय्यापर पडे २ मुझसे यह प्रश्न किया था कि "पंडितजी! कल्याणकारकका औषधिकोष तैयार हुआ या नहीं? अब ग्रंथ जल्दी तैयार होगा या नहीं" उत्तरमें मैने कहा कि "रावसाहेब! आप बिलकुल चिंता न करें। सब काम तैयार है। केवल आपके स्वास्थ्यलाभकी प्रतीक्षा है" परंतु भवितव्य बलवान् है। बीज बोया, पानीका सिंचन किया, पाल पोसकर अंकुरको वृक्ष बनाया। वृक्षने फल भी छोडा, माली मनमें सोच रहा था कि फल कब पकेगा और मैं कब खाऊं? परंतु फलके पकनेके पहिले ही वह कुशल व उद्यमी माली चल बसा। यही हालत स्व. धर्मवीरजीकी हुई। पाठक उपर्युक्त प्रकरणसे अच्छीतरह समझ सकेंगे कि धर्मवीरजीकी आत्मा इस ग्रंथके प्रकाशनको देखनेके लिए कितने अधिक उत्सुक थी? परंतु दैवने उसकी पूर्ति नहीं होने दी। आज ये सब स्मृतिके विषय बनगये हैं। किसे मालुम था कि जिनके नेतृत्वमें जिसका प्रकाशन होना था, उसे उनकी स्मृतिमें प्रकाशित करनेका समय आयगा?। परंतु स्वर्गीय आत्मा स्वर्ग में इस कार्यको देखकर अवश्य प्रसन्न हो जायगा। उसके प्रति हम श्रद्धांजलि समर्पण करते हैं।

ग्रंथके प्रकाशनमें कुछ विलंब अवश्य हुआ। उसके लिए हमें जो इस ग्रंथकी प्रतियां प्राप्त थी वही कारण है। प्रायः सर्व प्रतियां अशुद्ध थी। इसके अलावा प्रेस कापीका संशोधन पहिले मुंबईके प्रसिद्ध वैद्य पं. अनंतराजेंद्र आयुर्वेदाचार्य करते थे। बादमें अहमदनगरके वैद्य पं. बिंदुमाधव शास्त्री करते थे। इसमें काफी समय लगता था। औषधि-कोषको कई भाषावोंमें तैयार करनेके लिए बेंगलोर आदि स्थानोंसे उपयुक्त ग्रंथ प्राप्त किए गए थे। अंतिम प्रकरण जो कि बहुत ही अशुद्ध था जिसके लिए हमें काफी समय लगाना पडा, तथापि हमें संतोष नहीं हो सका। इत्यादि अनेक कारणोंसे ग्रंथ के प्रकाशन में विलंब हुआ। हमारी कठिनाईयोंको लक्ष्यमें रखकर इसे पाठक क्षमा करेंगे।

प्रतियोंका परिचय.

इस ग्रंथ के संपादन में हमने चार प्रतियोंका उपयोग किया है, जिनका विवरण निम्न लिखित प्रकार है।

१ मैसोर गवर्नमेंट लायब्ररीके ताडपत्रकी प्रतिकी प्रतिलिपि। प्रतिलिपि सुंदर है। जैसे बाह्यलिपि सुंदर है, उस प्रकार लेखन बिलकुल शुद्ध नहीं है। साथमें हिताहिताध्याय का प्रकरण तो लेखक के प्रमाद से बिलकुल ही रह गया है।

२ यह प्रति ताडपत्र की कानडी लिपिकी है। स्व. पं. दोर्बली शास्त्री श्रवणबेलगोला के ग्रंथ-भांडार से प्राप्त होगई थी। गांधी नाथारंगजी जैनोन्नति फंड की कृपा से यह प्रति हमें मिली थी। ताडपत्र की प्रति होने पर भी बहुत शुद्ध नहीं कही जा सकती है।

३ मुंबई ऐ. प. सरस्वती भवन की प्रति है। जो कि उपर्युक्त नं. २ की ही प्रतिलिपि मालुम होती है। मूलप्रति में ही कहीं २ हस्तप्रमाद होगया है। उत्तर प्रति में तो पूछिये ही नहीं, लेखकजी पर प्रमाद-देवता की पूर्ण कृपा है।

४ रायचूर जिले के एक उपाध्याय ने लाकर हमें एक प्रति दी थी। जो कि कागद पर लिखी हुई होने पर भी प्राचीन कही जा सकती है। ग्रंथ प्रायः शुद्ध है। अनेक स्थलोंपर जो अडचनें उपस्थित होगई थी, उनको इसी प्रति ने दूर किया। प्रति के अंतमें लेखक की प्रशस्ति भी है। उस में लिखा है कि—

" **स्वस्तिश्रीमत्सर्वज्ञसमयभूषण केशवचन्द्रत्रैविद्यदेवशिष्यैर्बालचंद्रभट्टारकदेवैर्लिखितं कल्याणकारकं** " जैसे ग्रंथप्रामाण्य के लिए गुरुपरंपरा की आवश्यकता है उसी प्रकार लेखन प्रामाण्य को दिखलाने के लिए लेखक ने लेखनपरंपरा का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है—

" पूर्वदल्लि लिखितव नोडिकोंडु बरदरु— अर्थात् बालचन्द्र भट्टारकने पूर्वलिखित ग्रंथको देखकर इस ग्रंथकी लिपि की। उन्होने अपने गुरुके गुणगौरवको उल्लेख करते हुए निम्न लिखित श्लोकको लिखा है।

केचित्तर्कवितर्ककर्कशधियः केचिच्च शब्दागम-
क्षुण्णाः केचिदलंकृतिप्रवितथ-प्रज्ञान्विताः केवलं।
केचित्सामयिकागमैकनिपुणाः शास्त्रेषु सर्वेष्वसौ।
प्रौढः केशवचंद्रसूरिरतुलः प्रोद्यत्त्रिविद्यानिधिः॥

आगे लिखा है कि स्वस्तिश्री शालिवाहन शक वर्ष १३५१नेय सौम्यनाम संवत्सरद ज्येष्ठ शुद्ध २ गुरुवारदल्लु श्री बालचंद्र भट्टारकरु बरद ग्रंथ। अदनोडि अवर शिष्यरु बरदुकोंडरु. आ प्रति नोडि स्वस्तिश्री शक वर्ष १४७६ वर्तमान आनंदनाम संवत्सरद कार्तिक शुद्ध १५ शुक्रवारदल्लु श्रीमत्तुगटकूर वस्तिय इंद्रवंशान्वय देचण्णन सुत वैद्य नेमण्ण पंडितनु मुन्नजर प्रति नोडि उद्धरिसिदरु. अदु प्रतिनोडि शकवर्ष १५७३

ने य खरनाम संवत्सरद वैशाख शुद्ध शुक्रवारदल्लु श्रीमत् चाकूरु शुभस्थान श्री पार्श्वजिननाथ सन्निधियल्लु इंद्रवंशान्वय रायचूर वैद्य चंदप्पय्यन पुत्र वैद्य भुजबलि पंडित बरेद प्रति नोडि श्रीमन्निर्वाण महेंद्रकीर्तिजीयवरु बरदरु ॥ श्री ॥

अर्थात् शालिवाहन शकवर्ष १३५१के सौम्य संवत्सरके ज्येष्ठ शु. २ गुरुवारको श्रीबालचंद्र भट्टारकजीने इस ग्रंथकी प्रतिलिपि की। उसपरसे उनके शिष्योंनें प्रतिलिपि ली। उन प्रतियोंको देखकर स्वस्तिश्री शक वर्ष १४७६, आनंदनाम संवत्सर, कार्तिक शु. १५ शुक्रवार के रोज तुमटकूरके इंद्रवंशोत्पन्न देचण्णका पुत्र वैद्य नेमण्णा पंडितने प्रति की। उस प्रतिको देखकर शकवर्ष १५७३ के खरनाम संवत्सर, वैशाख शुद्ध शुक्रवारके रोज श्री चाकूर शुभस्थान श्री पार्श्वनाथ स्वामीके चरणोमें रायचूरके इंद्रवंशान्वय वैद्य चंदप्पय्यके पुत्र वैद्य भुजबलि पंडितके द्वारा लिखित प्रतिको देखकर श्री निर्ग्रंथ महेंद्रकीर्तिजीने लिखा "।

इस प्रकार चार प्रतियोंकी सहायता से हमने इसका संशोधन किया है। कई प्रतियोंकी मिलान से शुद्ध पाठको देनेका प्रयत्न किया गया है। कहीं कहीं पाठ भेद भी दिया गया है। अंतिम प्रकरण हिताहिताध्याय दो प्रतियोंमें मिला। वह लेखक की कृपा से इतना अशुद्ध था कि हम उसे बहुत प्रयत्न करने पर भी किसी भी प्रकार संशोधन भी नहीं कर सके। इसलिए हमने उस प्रकरण को ज्यों का त्यों रख दिया है। क्यों कि अपने मनसे आचार्यों की कृतिमें फरक करना हमें अभीष्ट नहीं था। आगे और कभी साधन मिलने पर उस प्रकरण का संशोधन हो सकेगा।

जैन वैद्यकग्रंथोंकी विशेषता.

जैनाचार्योंके बनाये हुए ज्योतिष ग्रंथ जैसे हैं वैसे ही वैद्यक ग्रंथ भी बहुतसे होने चाहिये। परंतु उनमें आजतक एक भी ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ है। जिन ग्रंथोंकी रचनाका पता चलता है उन ग्रंथोंका अस्तित्व हमारे सामने नहीं है। समंतभद्रका वैद्यक ग्रंथ कहां है? " श्रीपूज्यपादोदितं " आदि श्लोकोंको बोलकर अनेक अजैन विद्वान् वैद्यकीसे अपना योगक्षेम चलाते हुए देखे गये हैं। परंतु पूज्यपादका समग्र आयुर्वेद ग्रंथ कितने ही ढूंढनेपर भी नहीं मिल सका। और भी बहुतसे वैद्यक ग्रंथोंका पता तो चलता है (आगे स्पष्ट करेंगे) परंतु उपलब्धि होती नहीं। जो कुछ भी उपलब्ध होता है, उन ग्रंथोंके रक्षण व प्रकाशनकी चिंता समाजको नहीं है यह कितने खेदकी बात है। आज भारतवर्षमें जैनियोंका प्रकाशित एक भी वैद्यक ग्रंथ उपलब्ध नहीं, यह बहुत दुःख के साथ कहना पडता है वैद्यक ग्रंथोंका यदि प्रदर्शन भरेगा तो क्या जैनियोंका स्थान उसमें शून्य रहेगा? अत्यंत दुःख है।

जैनेतर वैद्यक ग्रंथोंकी अपेक्षा जैन वैद्यक ग्रंथो में विशेषता न हो तो अजैन विद्वान् जैन वैद्यक ग्रंथोंके आधारसे ही अपना प्रयोग क्यों चलाते। अजैन ग्रंथोंमें भी जगह २ पर पूज्यपादीय आदि आयुर्वेदके प्रमाण लिये गये हैं। एक बातकी विशेषता है कि जैनधर्म जिस प्रकार अहिंसा परमो धर्म को सिद्धांतमें प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार उसे वैद्यक ग्रंथमें भी अक्षुण्ण बनाये रखता है। जैनाचार्योंके वैद्यक ग्रंथमें मद्य, मांस, मधु का प्रयोग किसी भी औषधिमें अनुपानके रूपसे या औषधके रूपसे नहीं बताया गया है। केवल वनस्पति, खनिज, क्षार, रत्नादिक पदार्थोंका ही औषधमें उपयोग बताया गया है। अर्थात् एक प्राणिकी हिंसा से दूसरी प्राणी की रक्षा जैनधर्म के लिए संमत नहीं है। इसलिए उन्होंने हिंसोत्पादक द्रव्योंका सेवन ही निषिद्ध बतलाया है।

दूसरी बात आगमोंकी स्वतंत्र कल्पना जैन परंपराको मान्य नहीं है। वह गुरुपरंपरा से आनेपर ही प्रमाण कोटिमें ग्राह्य है। उस नियम का पालन वैद्यक ग्रंथमें भी किया जाता है। मनगढंत कल्पना के लिए उस में भी स्थान नहीं है।

इतर वैद्यक ग्रंथों में औषधियोंका प्रयोग, स्वास्थ्यरक्षा आदि बातें ऐहिक प्रयोजन के लिए बतलाई गई है। शरीर को निरोग रखकर उसे हट्टा कट्टा बनाना व यथेष्ट इंद्रिय भोग को भोगना यही एक उनका उद्देश्य सीमित है। परंतु शरीरस्वास्थ्य, आत्मस्वास्थ्य के लिए है, इंद्रियोंके भोगके लिए नहीं, यह जैनाचार्योंने जगह जगह पर स्पष्ट किया है। इसलिये ही औषधियोंके सेवनमें भी जैनाचार्योंने भक्ष्याभक्ष्य सेव्यासेव्य आदि पदार्थोंका ख्याल रखने के लिये आदेश किया है।

इस प्रकार जैन–जैनेतर आयुर्वेद ग्रंथोंको सामने रखकर विचार करनेपर जैनाचार्यों के वैद्यक ग्रंथोमें बहुत विशेषता और भी मालूम हो जायगी।

जैन वैद्यककी प्रामाणिकता

जैनागममें प्रामाणिकता सर्वज्ञ-प्रतिपादित होनेसे है। उसमें स्वरुचिविरचितपनेको स्थान नहीं है। सर्वज्ञ परमेष्ठीके मुखसे जो दिव्यध्वनि निकलती है उसे श्रुतज्ञानके धारक गणधर परमेष्ठी आचारांग आदि बारह भेदोंमें विभक्त कर निरूपण करते हैं। उनमें से बारहवें अंगके चौदह उत्तर भेद हैं। उन चौदह भेदोंमें (पूर्व) प्राणावाय नामक एक भेद है। इस प्राणावाय पूर्वमें " **कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेदः भूतकर्मजांगुलिप्रक्रमः प्राणापानविभागोपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम्** " अर्थात् जिस शास्त्रमें काय, तद्गतदोष व चिकित्सादि अष्टांग आयुर्वेदका वर्णन विस्तार से किया गया हो, पृथ्वी आदिक भूतोंकी क्रिया, विषैले जानवर व उनकी चिकित्सा वगैरह,

तथा प्राणापानका विभाग जिसमें किया हो उसे प्राणावायपूर्व शास्त्र कहते हैं। इस प्राणावाय पूर्व के आधारपर ही उग्रदित्याचार्यने इस कल्याणकारक की रचना की है। ऐसा महर्षिने ग्रंथमें कई स्थानोंपर उल्लेख किया है। और ग्रंथके अंतमें उसे स्पष्ट किया है।

सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषाविशेषोज्वल–,
प्राणावायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः
उग्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुरुगणैरुद्भासिसौख्यास्पदं ।
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः ॥ अ. २५ श्लो० ५४

सुंदर अर्धमागधी भाषामें अत्यंत शोभा से युक्त महागंभीर ऐसा प्राणावाय नामक जो महान् शास्त्र है, उसको यथावत् संक्षेप में संग्रह कर महात्मा गुरुवोंकी कृपासे उग्रादित्याचार्यने सर्व प्राणियोंका कल्याण करने में समर्थ इस कल्याणकारकको बनाया। वह अर्धमागधी भाषा में है और यह संस्कृत भाषामें है। इतना ही दोनोंमें अंतर है। इसलिए यह आगम उस द्वादशांग का ही एक अंग है। और इस ग्रंथ की रचना में महर्षिका निजी कोई स्वार्थ नहीं है। तत्वविवेचन ही उनका मुख्य ध्येय है। इसलिए इसमें अप्रामाणिकता की कोई आशंका नहीं की जा सकती। अतएव सर्वतो प्रामाण्य है।

उत्पत्तिका इतिहास.

ग्रंथ के प्रारंभ में महर्षिने आयुर्वेद–शास्त्रकी उत्पत्ति के विषयमें एक सुंदर इतिहास लिखा है। जिसको बांचने पर उसकी प्रामाणिकता में और भी श्रद्धा सुदृढ हो जाती है।

ग्रंथ के आदि में श्री आदिनाथ स्वामीको नमस्कार किया है। तदनंतर—

तं तीर्थनाथमधिगम्य विनम्य मूर्ध्ना । सत्प्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्तिम् ।
सप्रश्रयाः त्रिकरणोरुकृतप्रणामाः पप्रच्छुरित्थमखिलं भरतेश्वराद्याः ॥

श्री ऋषभनाथ स्वामी के समवसरण में भरतचक्रवर्ति आदि भव्योंने पहुंचकर श्री भगवंत की सविनय वंदना की और भगवान् से निम्न लिखित प्रकार पूछने लगे—

भो स्वामिन् ! पहिले भोगभूमि के समयमें मनुष्य कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न अनेक प्रकार के भोगोपभोग सामग्रियोंसे सुख भोगते थे। यहां भी खूब सुख भोगकर तदनंतर स्वर्ग में पहुंचकर वहां भी सुख भोगते थे। वहांसे फिर मनुष्य भवमें आकर अनेक पुण्यकार्योंको कर अपने २ इष्ट स्थानोंको प्राप्त करते थे। भगवन् ! अब भारतवर्षको कर्मभूमि का रूप मिला है। जो चरमशरीरी हैं व उपपाद जन्ममें जन्म लेनेवाले हैं उनको तो अब भी अपमरण नहीं है। उनको दीर्घ

आयुष्य प्राप्त होता है। परन्तु ऐसे भी बहुतसे मनुष्य पैदा होते हैं जिनकी आयु दीर्घ नहीं रहती, और उनको वात, पित्त कफादिक दोषोंका उद्रेक होता रहता है। उनके द्वारा कभी शीत और कभी उष्ण व कालक्रमसे मिथ्या–आहार सेवन करनेमें आता है। इसलिये अनेक प्रकारके रोगोंसे पीडित होते हैं। वे नहीं जानते कि कौनसा आहार ग्रहण करना चाहिये और कौनसा नहीं लेना चाहिये। इसलिये, उनके स्वास्थ्यरक्षा के लिये योग्य उपाय आप बतावें। आप शरणागतों के रक्षक हैं। इस प्रकार भरतके प्रार्थना करनेपर, आदिनाथ भगवंतने दिव्यध्वनिके द्वारा पुरुषका लक्षण, शरीर, शरीरका भेद, दोषोत्पत्ति, चिकित्सा, कालभेद आदि सभी बातोंका विस्तारसे वर्णन किया। तदनंतर उनके शिष्य गणधर व बादके तीर्थकरोंने व मुनियोंने आयुर्वेदका प्रकाश उसी प्रकार किया। वह शास्त्र एक समुद्रके समान है, गंभीर है। उससे एक बूंदको लेकर इस कल्याणकारक की रचना हुई है अथवा उस शास्त्रकी यह एक बून्द है। सर्वज्ञ भाषित होनेके कारण सबका कल्याण करनेवाला है। इस प्रकारके ग्रंथके इतिहासको प्रकट करते हुए प्रत्येक अध्यायके अंतमें यह श्लोक लिखते हैं।

इति जिनवक्त्रविनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः। सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः।
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥

वैद्यकशब्दकी निरुक्ति.

वैद्य शब्दकी व्याख्या करते हुए आचार्य ने लिखा है कि जीवादिक समस्त पदार्थों के लक्षण को प्रगट करनेवाले केवलज्ञान को विद्या कहते हैं। उस विद्या से इस ग्रंथ की उत्पत्ति हुई है, इसलिए इसे वैद्य कहते हैं। इस ग्रंथके अध्ययन व मनन करने वाले विद्वान् को भी वैद्य कहते हैं। यथा—

विद्येति सत्प्रकटकेवललोचनाख्या तस्यां यदेतदुपपन्नमुदारशास्त्रम्।
वैद्यं वदंति पदशास्त्रविशेषणज्ञा एतद्विचिंत्य च पठंति च तेपि वैद्याः ॥
अ. १ श्लो. १८

क्या ही सुंदर अर्थ आचार्यने वैद्य शब्द का किया है। इस में किसी को विवाद ही नहीं हो सकता।

आयुर्वेद.

इस शास्त्र को आयुर्वेद शास्त्र भी कहते हैं। उस का कारण यह है कि इस शास्त्र में सर्वज्ञतीर्थकरके द्वारा उपदिष्ट तत्वका विवेचन किया है। इसके ज्ञानसे मनुष्य की आयुसंबंधी समस्त बातें मालुम हो जाती हैं या उन बातों को मालुम करनेके लिए

यह वेदके समान है। इसलिए इस शास्त्र का अपरनाम आयुर्वेद के नामसे भी कहा जाता है।

वैद्यकग्रंथके अध्ययनाधिकारी.

वैद्यकशास्त्र का अभ्यास कौन कर सकता है इस संबंध में लिखते हुए आचार्य ने आज्ञा दी है कि —

राजन्यविप्रवरवैश्यकुलेषु कश्चित् । धीमाननिंद्यचरितः कुशलो विनीतः ॥
प्रातः गुरुं समुपसृत्य यदा तु पृच्छेत् । सोयं भवेदमलसंयमशास्त्रभागी ॥
अ. १. श्लोक २१.

जो ब्राम्हण क्षत्रिय व वैश्य इन तीन उच्च वर्णों में से किसी एक वर्ण का हो, निर्दोष आचरण वाला हो, कुशल व स्वभावतः विनयी हो एवं बुद्धिमान् हो वह वैद्यक शास्त्रके अध्ययनकी उत्कट इच्छासे प्रातःकाल में गुरु के निकट जाकर प्रार्थना करें, वही इस शास्त्रके अध्ययनका अधिकारी हो सकता है।

गुरूका कर्तव्य.

इस संबन्धमें आचार्य स्पष्ट करते हैं कि वह उस शिष्यके जातिकुल व गुण आदि का परिचय कर लेवें एवं अच्छीतरह उस की परीक्षा कर लेवें। तदनंतर श्रीभगवान् अर्हंत के समक्ष उस शिष्य को अनेक व्रत देवें। तदनंतर उक्त शिष्य को अध्ययन प्रारंभ करावें। इस से प्राचीन काल में शिष्योंको विद्याध्ययनकी परिपाटी कैसी थी? उस संस्कारके प्रभाव से वे किस श्रेणी के विद्वान् बनते थे? इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर सहज मिल सकता है।

वैद्यशास्त्रके उपदेशका प्रयोजन.

लोकोपकारकरणार्थमिदं हि शास्त्रं । शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत् ।
स्वस्थस्य रक्षणमथामयमोक्षणं च । संक्षेपतस्सकलमेव निरूप्यतेऽत्र ॥
अ. १ श्लो. २४

वैद्यक शास्त्र की रचना लोक को उपकार करनेके लिए होती है। इस शास्त्र का प्रयोजन भी दो प्रकार का है। स्वस्थपुरुषोंका स्वास्थ्यरक्षण व रोगियों का रोग मोक्षण करना ही इस का उद्देश्य है। उन सब बातों को यहां इस ग्रंथमें संक्षेप से वर्णन किया गया है।

स्वास्थ्यके भेद.

आचार्यने स्वास्थ्यके भेद दो प्रकार से बतलाया है एक पारमार्थिकस्वास्थ्य और दूसरा व्यावहारिकस्वास्थ्य । ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों के नाश से उत्पन्न अविनश्वर अतींद्रिय व अद्वितीय आत्मीयसुखको पारमार्थिक स्वास्थ्य कहते हैं। देह स्थित सप्तधातु, अग्नि व वातपित्तादिक दोषोंमें समता रहना, इन्द्रियोंमें प्रसन्नता व मनमें आनंद रहना एवंच शरीर निरोग रहना इसे व्यावहारिक-स्वास्थ्य कहते हैं।

स्वास्थ्यके बिगडनेके लिये आचार्यने असातावेदनीय कर्मको मुख्य बतलाया है। और वात, पित्त व कफ में विषमता आदि को बाह्य कारणमें ग्रहण किया है। इसी प्रकार रोगके शांत होने में भी मुख्यकारण असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा व साताका उदय एवं धर्मसेवन आदि हैं बाह्यकारण तद्रोगयोग्य चिकित्सा व द्रव्यक्षेत्र काल भावकी अनुकूलता आदि हैं।

चिकित्साका हेतु.

वैद्य को उचित है कि वह निस्पृह होकर चिकित्सा करें। इस विषय में आचार्य ने बहुत अच्छी तरह खुलासा किया है।

सातवें अध्यायमें इस विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्यने लिखा है कि चिकित्सा पापोंको नाश करनेवाली है। चिकित्सासे धर्म की वृद्धि होती है। चिकित्सासे इहलोक व परलोकमें सुख मिलता है। चिकित्सासे कोई अधिक तप नहीं है। इसलिए चिकित्सा को कोई काम, मोह व लोभवश होकर न करें। और न चिकित्सामें कोई प्रकारसे मित्रताका अनुराग होना चाहिए। और न शत्रुताके रोष रखकर ही चिकित्सा करनी चाहिए। बंधुबुद्धि से, सत्कार के निमित्त से भी चिकित्सा नहीं होनी चाहिए। अर्थात् चिकित्सकको अपने मनमें कोई भी प्रकारका विकार नहीं रहना चाहिए। किंतु वह रोगियोंके प्रति करुणाबुद्धिसे व अपने कर्मोंके क्षयके लिए चिकित्सा करें। इस प्रकार निस्पृह व समीचीन विचारोंसे की गई चिकित्सा कभी व्यर्थ नहीं होती उस वैद्य को अवश्य ही हरतरहसे सफलता प्राप्त होती है। जैसे किसान यदि परिश्रम पूर्वक खेती करता है तो उसका फल व्यर्थ नहीं होता, उसी प्रकार परिश्रम पूर्वक किये हुए उद्योगमें भी वैद्यको अवश्य अनेक फल मिलते हैं।

चिकित्सक.

चिकित्सा करनेवाला वैद्य कैसा होना चाहिए इस विषयपर ग्रंथकारने जो प्रतिपादन किया है वह प्रत्येक वैद्योंको ध्यानमें रखने लायक है। उनका कहना है कि—

चिकित्सकः सत्यपरः सुधीरः क्षमान्वितः हस्तलघुत्वयुक्तः ।
स्वयंकृती दृष्टमहाप्रयोगः समस्तशास्त्रार्थविदप्रमादी ॥ अ. ७ श्लो. ३८

अर्थात् वैद्य सत्यनिष्ठ, धीर, क्षमासम्पन्न, हस्तलाघवयुक्त, स्वयं औषधि तैयार करने में समर्थ, बडे २ रोगोंपर किए गए प्रयोगोंको देखा हुआ, संपूर्ण शास्त्रोंको जानने वाला व आलस्यरहित होना चाहिए ।

वैद्यको उचित है कि वह रोगियों को अपने पुत्रोंके समान मानकर उनकी चिकित्सा करें । तभी वह सफल वैद्य हो सकता है । इस विषय को प्रथमाध्याय में आचार्य ने इस प्रकार विवेचन किया है कि ग्रंथ के अर्थ को जाननेवाला, बुद्धिमान्, अन्य आयुर्वेदकारों के मत का भी अभ्यासी, अच्छी तरह बडे २ प्रयोगों को करने में चतुर, बहुत से गुरुओंसे अनुभव प्राप्त, ऐसा वैद्य विद्वानोंके लिए भी आदरणीय होता है।

वैद्य दो प्रकार के होते हैं । एक शास्त्र वैद्य व दूसरा क्रियावैद्य । जो केवल वैद्यक शास्त्रोंका अध्ययन किया हो उसे शास्त्रवैद्य कहते हैं । जो केवल चिकित्सा विषय में ही प्रवीण हो उसे क्रियावैद्य कहते हैं । परंतु दोनों बातों में प्रवीणता को पाना यह विशिष्ट महत्वसूचक है । वही उत्तम वैद्य है । जिस प्रकार किसी मनुष्य का एक पैर बांध देने से वह नहीं चल सकता है, उसी प्रकार दोनोंमें से एक विषय में प्रवीण वैद्य रोगोंकी चिकित्सा ठीक तौरसे नहीं कर सकता है । उसके लिए दोनों विषयों में निष्णात होने की जरूरत है ।

लोकमें कितने ही अज्ञानी वैद्य भी चिकित्सा करते हैं । कभी २ अंधे के हाथ में बटेरके समान उस में उन्हे सफलता भी होती है । परंतु वह प्रशंसनीय नहीं है । क्यों कि वे स्वयं यह नहीं समझते कि औषधि का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए । और किस रोगपर किस प्रयोग का उपयोग करना चाहिए । प्रकृतरोगका कारण क्या है । उनकी उपशांति किस प्रयोग से हुई यह जानने में भी वे असमर्थ रहते हैं । कभी ऐसे अज्ञानी वैद्योंकी कृपासे रोगियोंको अकालमें ही इहलोकसे प्रस्थान करना पडता है । इसलिए शास्त्रकारोंने कहा कि अज्ञानी वैद्य यदि लोभ व स्वार्थवश किसीकी चिकित्सा करता है तो वह रोगियोंको मारता है । ऐसे मूर्ख वैद्योंपर राजाओंको नियंत्रण करना चाहिए । इस संबंध में ग्रंथकारका कहना है कि—

अज्ञानतो वाप्यतिलोभमोहादशास्त्रविद्यः कुरुते चिकित्सां ।
सर्वानसौ मारयतीह जन्तून् क्षितीश्वरैरत्र निवारणीयः ॥ अ. ७ श्लोक ४९

अज्ञानी के द्वारा प्रयुक्त अमृततुल्य-औषधि भी विष व शस्त्र के समान होते हैं।

इस प्रकार आगेके श्लोकोंसे आचार्य ने प्रकट किया है। इसलिए वैद्य को उचित है कि वह गुरूपदेश से शास्त्र का अध्ययन करें। तदनंतर बडे २ वैद्योंके निकट रहकर प्रयोगों को देखकर अनुभव करें। तब ही कहीं जाकर वह स्वयं चिकित्सा करने को समर्थ हो सकता है।

रोगियोंका कर्तव्य.

रोगियोंके कर्तव्य को बतलाते हुए आचार्य ने सातवें अध्याय में लिखा है कि रोगी जिस प्रकार अपने माता, पिता, पुत्र, मित्र कलत्र पर विश्वास करता हो, उसी प्रकार वैद्य के प्रति भी विश्वास करें। वैद्यसे किसी विषय को छिपावें नहीं। मायाचार व वंचना नहीं करें। ऐसा होनेपर ही उसका रोगमोक्षण हो सकता है।

इस प्रकार और भी बहुतसे जानने लायक विषयोंको आचार्यने इस ग्रंथके साथ वर्णन किया है जिसका स्वाद समग्र ग्रंथको प्रकरणबद्धरूपसे बांचनेसे ही आसकता है।

एक प्रति में हमें औषधि लेते समय प्रयोग करनेवाले मंत्र का भी उल्लेख मिला है। उसे पाठकोंके उपयोग के लिए यहां उद्धृत कर देते हैं।

रोगाक्रांतेऽपि मे देहे औषधं सारमामृतम् ।
वैद्यस्सर्वौषधिप्राप्तो महर्षिरिव विश्रुतः ॥
रोगान्विते भूरितरां शरीरे सिद्धौषधं मे परमामृतं स्तात् ।
आद्यैव वैद्यो ममरोगहारी सर्वौषधिप्राप्त इवर्षिरस्तु ॥
रोगान्विते भूरितरां शरीरे दिव्यौषधं मे परमामृतं स्तात् ।
सर्वौषधर्धिमुनये च निरामयाय श्रीमज्जिनाय जितजन्मरुजे नमोस्तु ॥

जैन वैद्यक ग्रंथकर्ता.

प्रकृत ग्रंथके देखनेसे मालुम होता है कि अन्य जैनाचार्योंने वैद्यक ग्रंथकी जो रचना की है व उस विषयमें उनका अपूर्व पाण्डित्य था। ग्रंथकारने प्रकृत ग्रंथमें जगह जगह-पर अन्य आचार्यों के वैद्यक संबंधी मतको उद्धृतकर अपना विचार प्रकट किया है। उन ग्रंथकारोंमे श्रुतकीर्ति, कुमारसेन, वीरसेन, पूज्यपाद पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) सिद्ध-सेन दशरथगुरु, मेघनाद, सिंहनाद, समंतभद्र एवं जटाचार्य आदि आचार्योंके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इससे स्पष्ट है कि इन आचार्योंने भी वैद्यक ग्रंथकी रचना की है। परंतु खेद है कि वे ग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं होते हैं। जिन ग्रंथोंके आधारसे उग्रादित्या-चार्यने प्रकृत सुंदर ग्रंथका निर्माण किया है उसके मूलाधार न मालुम कितने महत्व

पूर्ण होंगे ? क्या उन महर्षियोंकी कृतियां सबकी सब नष्ट होगई ? या उन्होने ग्रंथरूपमें रचना ही नहीं की थी ? उन महर्षियोंने वैद्यक ग्रंथोंकी रचना की है यह बात प्रकृत ग्रंथ के निम्नलिखित श्लोकसे स्पष्ट होता है।

शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्र-
स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।
काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां
वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनींद्रैः॥ अ. २० श्लोक ८५

अर्थात् पूज्यपाद आचार्यने शालाक्य–शिराभेदन नामक ग्रंथ बनाया है। पात्र स्वामिने शल्यतंत्र नामक ग्रंथ की रचना की है। सिद्धसेन आचार्य ने विष व उग्र ग्रहोंका शमनविधि का निरूपण किया है। दशरथ गुरु व मेघनाद आचार्य ने बाल रोगोंकी चिकित्सा सम्बन्धी ग्रंथ का प्ररूपण किया है। सिंहनाद आचार्य ने शरीरबल-वर्द्धक प्रयोगों का निरूपरण किया है। और भी लीजिए—

अष्टांगमप्यखिलमत्र समंतभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचो विभवैर्विशेषात्।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम्॥

अर्थात् श्रीसमंतभद्राचार्यने अष्टांग नामक ग्रंथ में विस्तृत व गंभीर विवेचन किया है। उसके अनुकरण कर मैंने यहांपर संक्षेप से यथाशक्ति संपूर्ण विषयोंसे परिपूर्ण इस कल्याणकारक को लिखा है। अब पाठक विचार करें कि वे सब ग्रंथ कहां चले गए? नष्ट होगए! इसके सिवाय हमारे पास और क्या उत्तर है? हा! जैनसमाज! सचमुचमें तेरा दुर्भाग्य है! न मालुम उनमें कितने अमूल्य–रत्न भरे होंगे?

श्रीपूज्यपाद.

महर्षि पूज्यपादने वैद्यक ग्रंथ का निर्माण किया है, यह विषय अब निर्विवाद हुआ है। प्रकृत ग्रंथ में भी आचार्यने पूज्यपाद के ग्रंथ का उल्लेख किया है। इस के अलावा शिलालेखों में भी उल्लेख मिलता है।

न्यासं जैनेंद्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो।
न्यासं शब्दावतारं मनुजाततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा॥
यस्तत्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपादः।
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचाः पूर्णदृग्बोधवृत्तः॥

इसी प्रकार अन्य वैद्यक ग्रंथकारोनें भी स्थान २ पर पूज्यपादीय वैद्यक प्रयोगोंका उल्लेख किया है।

बसवराजीयमें " सिंदूरदर्पणं तद्वत्पूज्यपादीयमेव च " इत्यादि रूपसे उल्लेख किया है। इसीप्रकार बसवराजने अपने वैद्यक ग्रंथमें पूज्यपादके अनेक योगोंका ग्रहण किया है।

अशीतिवातानां कालाग्निरुद्ररसोऽग्नितुण्डी वा।

शुद्धसूतं विषं गंधमजमोदं फलत्रयम्। सर्जक्षारं यवक्षारं वह्निसैन्धवजीरकम् ॥
सौवर्चलं विडंगानि टङ्कणं च कटुत्रयम्। विषमुष्टिः सर्वसमो जंबीरैर्मर्दयेद्दिनम् ॥
मरीचमात्रवटिका ह्यग्निमान्द्यं प्रणाशयेत्। अशीतिवातजान्रोगान्गुल्मं च ग्रहणीगदान्।
रसःकालाग्निरुद्रोऽयं **पूज्यपादविनिर्मितः** ॥ [षष्ठ प्र. पृ. १०२ बसराजीये।]

भ्रमणादिवातानां (गन्धकरसायनम्) -बसवराजीये षष्ठे प्रकरणे पृ. ११०

षट्पलं गन्धचूर्णं च त्रिफला चित्रतण्डुलाः। शुण्ठीमरीचवैदेहीपणिष्कं च पृथक्पृथक् ॥
चित्रकं च पलैकं तु चूर्णितं वस्त्रगालितम्। एकनिष्कं द्विनिष्कं वा पयसाज्यसितैः पिबेत् ॥
सर्वरोगविनिर्मुक्तो मृगराजपराक्रमः। दीर्घायुः कुञ्जरबलो दिवा पश्यति तारकाः ॥
दिव्यदेहो बली भूत्वा खेचरत्वं प्रपद्यते। तस्य मूत्रपुरीषाणि शुक्लं भवति काञ्चनम् ॥
हन्त्यष्टादशकुष्ठानि ग्रहण्यश्च चतुर्विधाः। मन्दाग्निमतिसारं च गुल्ममष्टविधं तथा ॥
अशीतिवातरोगांश्च ह्यर्शांस्यष्टविधानि च। मनुष्याणां हितार्थं हि **पूज्यपादेन** निर्मितः ॥

वातादिरोगाणां त्रिकटुकादिनस्यम् (पूज्यपादीये)

**त्र्यूषणं चित्रकं चैव लांगली चेन्द्रवारुणी। वचामधुकबीजानि तत्र पाठानदीफलम् ॥
तालकं वत्सनाभं च अङ्कोलक्षारयुग्मकम्। एवं पंचदशैतानि समभागानि कारयेत्।
सूक्ष्मचूर्णीकृतं चैव निर्गुण्डीतिंतिणीरसैः। आर्द्रकस्य रसैर्मर्द्यं त्रिविधैश्च विचक्षणः ॥
एवं नस्यं प्रदातव्यमर्कमूलरसेन च। अपस्मारं च हृद्रोगं वातसङ्कुलमेव च ॥
धनुर्वातं भ्रमं हन्ति ह्युन्मादं सान्निपातकम्। पूज्यपादकृतो योगो नराणां हितकाम्यया**

ष. प्र., ब. रा., पृष्ठ १११

ज्वरगजांकुशः [माधवनिदाने]

**रसाम्लसारगन्धं च जेपालबीजटंकणम्। दन्तीकाथैर्विमृद्याथ मुद्गमात्रा वटी कृता ॥
चणमात्राथवा ज्ञेया नागवल्लीदलान्विता। देया सर्वज्वरान्हन्ति संततं तरुणज्वरम् ॥**

शर्कराक्षीरदधिभिः पथ्यं चैव प्रदापयेत् । पूज्यपादोपदिष्टोऽयं सर्वज्वरगजांकुशः
प्र. १ पृ. ३०.

ज्वाराणां चण्डभानुरसः [नित्यनाथीये]

सूतात्त्रैगुण्यगन्धं परिमितममृतं तीक्ष्णकं भानुनेत्रं ।
तालं स्यात्तच्चतुष्कं गगनमथयुगं मारिचं सर्वतुल्यम् ॥
एवं दद्यान्निहन्ति ज्वरवनदहनस्तामसाहेः खगेन्द्रः ।
कासश्वासापहन्ता क्षयतरुदहनः पाण्डुरोगापहन्ता ॥
वातव्याधीभसिंहो ह्युदरजलनिधेः शोषको वाडवाग्निः ।
नष्टाग्नेर्दीपकः स्याज्जठरमलमहाक्लेशहृद्रोगहारी ।
मूलव्याध्यन्धकारप्रशमनतपनः कुष्टरोगापहन्ता ।
नाम्नायं चण्डभानुः सकलगदहरो भाषितः पूज्यपादैः ॥

शोफमुद्गररसः

रसं गंन्धं मृतं ताम्रं पथ्यावालुकगुग्गुलुं । सममाज्येन संयुक्तं गुळिकाः कारयेत्ततः
एकैकां सेवयेद्वैद्यः शोफपाण्ड्वापनुत्तये । शीतलं च जलं देयं तक्रं चाम्लं विवर्जयेत्
शोफमुद्गरनाम्नायं पूज्यपादेन निर्मितः ।

रसरत्नसमुच्चयकारने कणेरी पूज्यपादश्च इत्यादिरूप से पूज्यपादका उल्लेख अपने ग्रंथमें किया है ।

इससे भी स्पष्ट है कि पूज्यपादने वैद्यक ग्रंथ का निर्माण किया था । महर्षि चामुंडरायने पूज्यपाद स्वामीकी निम्नलिखित शब्दोंसे प्रशंसा की है ।

सुकविप्रणुतर्व्याकरणकर्तृगळ् गगनगमनसामर्थ्यर्ता–
र्किक तिळिकरेंदु पोगळ्वुदु सकलजनं पूज्यपादभट्टारकरम् ॥

प्राचीन ऋषि श्री शुभचंद्र ने अपने ज्ञानार्णवमें पूज्यपाद की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—

अपाकुर्वंति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम् ।
कलंकमंगिनां सोऽयं देवनंदी नमस्यते ॥

इसी प्रकार पार्श्वपंडितने पूज्यपाद स्वामी के संबंध में लिखते हुए उसी आशयको स्पष्ट किया है कि—

सकलोर्वीनुतपूज्यपादमुनिपं तां पेळ्द कल्याणका-
रकदिं देहद दोषमं विततवाचादोषमं शब्दसाधक-
जैनेंद्रदिनी जगज्जनद मिथ्यादोषमं तत्वबोधक-
तत्वार्थद वृत्तियिंदे कळेदं कारुण्यदुग्धार्णवं ॥

उपर्युक्त शुभचंद्राचार्य के वचनोंका यह ठीक समर्थक है अर्थात् सर्वजनपूज्यश्री पूज्यपाद ने अपने कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रंथ के द्वारा प्राणियोंके देहज दोषोंको, शब्दसाधक जैनेंद्र व्याकरण से वचनके दोषोंको और तत्वार्थवृत्ति की रचना से मानसिक दोष [मिथ्यात्व] को दूर किया है। इससे भी यह स्पष्ट होता कि पूज्यपादने कल्याण कारक नामक वैद्यक ग्रंथ की रचना की है। इसके अलावा कुछ विद्वानोंका जो यह कहना है कि सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद व वैद्यकग्रंथ के कर्ता पूज्यपाद अलग २ हैं वह गलत मालुम होता है। कारण इससे स्पष्ट होता है कि पूज्यपादने ही भिन्न २ विषयोंके ग्रंथोंका निर्माण किया था। कुछ विद्वान् वैद्यक-ग्रंथकर्ता पूज्यपाद को १३ वें शतमानमें डालकर उनमें भिन्नता सिद्ध करना चाहते हैं। परंतु उपर्युक्त प्रमाणोंसे वे दोनों बातें सिद्ध नहीं होती। प्रत्युत् यह स्पष्ट होता है कि पूज्यपाद ने ही व्याकरण सिद्धांत व वैद्यक-ग्रंथकी रचना की है। जब उग्रादित्याचार्यने भी पूज्यपादके वैद्यक-ग्रंथका उल्लेख किया है और जब कि उग्रादित्याचार्य जिनसेन के समकालीन थे (जो आगे सिद्ध किया जायगा) तो फिर यह बहुत अधिक स्पष्ट हो चुका कि पूज्यपाद का वैद्यक ग्रंथ बहुत पहिले से होना चाहिए। वे और कोई नहीं है। अपितु सर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपाद ही हैं। उग्रादित्याचार्यके कल्याणकारक से तो यह भी ज्ञात होता है कि पूज्यपाद ने कल्याणकारक के अलावा शालाक्य तंत्र (शल्यतंत्र) नामक ग्रंथका भी निर्माण किया था, जिसमें आपरेशन आदिका विधान बतलाया गया है। पूज्यपाद स्वामीका समग्र वैद्यक ग्रंथ तो उपलब्ध नहीं होता। तथापि यह निस्संदेह कह सकते हैं कि उनकी वैद्यकीय रचना भी सिद्धांत व व्याकरण के समान बहुत ही महत्वपूर्ण होगी। उन्होंने अपने ग्रंथमें जैनमत प्रक्रियाके शब्दोंका ही प्रयोग किया है। इसीसे उनके ग्रंथकी महत्ता मालुम हो सकती है कि उन्होंने अपने ग्रंथ में कुमारी भृंगामलक तैलके क्रमको अनुष्टुप् श्लोकके ४६ चरणोंसे प्रतिपादन किया है। गंधक रसायन के क्रम को ३७ चरणोंमें, महाविषमुष्टितैलकी विधिको ४८ चरणोंमें, और भुवनेश्वरी चूर्ण के विधानको ३० चरणोंमें प्रतिपादन किया है। मरिचकादि प्रक्रिया जो उनके ग्रंथमें कही गई है वह निम्नलिखित प्रकार है।

मरिचमरिचमरिचं तिक्ततिक्तं च तिक्तम् ।
कणकणकणमूलं कृष्णकृष्णं च कृष्णम् ।
मेघं मेघं च मेघो रजरजरजनी यष्टियष्ट्याह्वयष्टी ॥
वज्रं वज्रं च वज्रं जलजलजलजं भृंगिभृंगी च भृंगम् ।
श्रृंगं श्रृंगं च श्रृंगं हरहरहरही बालुकं बालुकं वा ॥
कंटकंटकंटकंटं शिवशिवशिवनीं नंदिनंदी च नंदी ।
हेमं हेमं च हेमं वृषवृषवृषभा अग्निअग्नी च अग्ने ॥
वांतिर्वातं च पैत्यं विषहरनिमिषं पूजितं पूज्यपादैः ॥

इससे स्पष्ट है कि पूज्यपादका वैद्यक ग्रंथ महत्वपूर्ण व अनेक सिद्धौषध प्रयोगोंसे युक्त है। परंतु खेद है कि आज हम उसका दर्शन भी नहीं कर सकते उपर्युक्त कल्याण कारक व शालाक्यतंत्रके अलावा पूज्यपादने वैद्यामृत नामक वैद्यकग्रंथकी रचना भी की है। यह ग्रंथ कानडीमें होगा ऐसा अनुमान है। गोम्मटदेव मुनिने पूज्यपादके द्वारा निर्मित वैद्यामृत नामक ग्रंथ का निम्न लिखित प्रकार उल्लेख किया है।

सिद्धांतस्य च वेदिनो जिनमते जैनेंद्रपाणिन्य च ।
कल्पव्याकरणाय ते भगवते देव्यालियाराधिपा (?) ॥
श्रीजैनेंद्रवचस्सुधारसवरैः वैद्यामृतो धार्यते ।
श्रीपादास्य सदा नमोस्तु गुरवे श्रीपूज्यपादौ मुनेः ॥

समंतभद्र.

पूज्यपाद के पहिले महर्षि समंतभद्र हर एक विषय में अद्वितीय विद्वत्ता को धारण करनेवाले हुए। आपने न्याय, सिद्धांत के विषय में जिस प्रकार प्रौढ प्रभुत्व को प्राप्त किया था उसी प्रकार आयुर्वेद के विषय में भी अद्वितीय विद्वत्ता को प्राप्त किया था। आप के द्वारा **सिद्धांतरसायनकल्प** नामक वैद्यक ग्रंथ की रचना अठारह हजार श्लोक परिमित हुई थी। परंतु आज वह कीटोंका भक्ष्य बन गया है। कहीं २ उसके कुछ श्लोक मिलते हैं जिन को संग्रह करने पर २ - ३ हजार श्लोक सहज हो सकते हैं। अहिंसाधर्म-प्रेमी आचार्य ने अपने ग्रंथमें औषधयोग में पूर्ण अहिंसाधर्म का ही समर्थन किया है। इसके अलावा आपके ग्रंथमें जैन पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग एवं संकेत भी तदनुकूल दिये गये हैं। इसलिए अर्थ करते समय जैनमत की प्रक्रियावोंको ध्यानमें रखकर अर्थ करना पडता है। उदाहरणार्थ "रत्नत्रयौषध" का उल्लेख ग्रंथमें आया है। इसका अर्थ वज्रादि रत्नत्रययोंके द्वारा निर्मित औषधि ऐसा सर्व–सामान्यदृष्टिसे

होसकेगा। परंतु वैसा नहीं है। जैन-सिद्धांतमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रको रत्नत्रयके नामसे कहा है। वे जिसप्रकार मिथ्यादर्शन ज्ञानचारित्ररूपी त्रिदोषोंको नाश करते हों इसीप्रकार रस, गंधक व पाषाण इन त्रिधातुवोंका अमृतीकरण कर तैयार होनेवाला रसायन वात, पित्त व कफरूपी त्रिदोषोंको दूर करता है। अतएव इस रसायनका नाम रत्नत्रयौषध रक्खा गया है।

इसी प्रकार औषध निर्माण के प्रमाणमें भी जैनमत प्रक्रियाके अनुसार ही संकेत संख्यावोंका विधान किया है। जैसे रससिंदूरको तैयार करनेकेलिए कहा है कि "सूतंकेसरिगंधकं मृगनवासारद्रुमं"। यहां विचारणीय विषय यह है कि यह प्रमाण किस प्रकार लिया हुआ है। जैन तीर्थंकरोंके भिन्न २ चिन्ह या लांछन हुआ करते हैं। उसके अनुसार जिन तीर्थकरोंके चिन्हसे प्रमाणका उल्लेख किया जाय उतनी ही संख्यामें प्रमाणका ग्रहण करना चाहिये। उदाहरणार्थ ऊपरके वाक्यमें सूतं केसरि पद आया है। केसरि महावीरका चिन्ह है, केसरि शब्दसे २४ संख्याका ग्रहण होना चाहिये। अर्थात् रस २४ गंधकं मृग अर्थात् मृग सोलहवें तीर्थंकरका चिन्ह होनेसे गंधक १६, इत्यादि प्रकारसे अर्थ ग्रहण करना चाहिये। समंतभद्रके ग्रंथमें सर्वत्र इसीप्रकारके सांकेतिक व पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग हुआ है। रस सिंदूरके गुणको उन्होंने सिद्धांतरसायनकल्पमें निम्नप्रकार कहा है।

सिंदूरं शुद्धसूतो विषधरशमनं रक्तरेणुश्च वर्णं।
वातं पित्तेन शीतं तपनिलसहितं विंशतिर्मेहहंत्रि।
तृष्णादावार्तगुल्मं पिशगुदररजां पांडुशोफोदराणां।
कुष्ठं चाष्टादशघ्नं सकलव्रणहरं सन्निशूलाग्रगंधि।
दीपाग्निं धातुपुष्टिं वडवाशिखिकरं दीपनं पुष्टितेजं।
बालस्त्रीसौख्यसंगं जरमरणरुजाकांतिमायुःप्रवृद्धिं।
वाचाशुद्धिं सुगानां (?) सकलरुजहरं देहशुद्धिं रसेंद्रैः।

इन ग्रंथोंके पारिभाषिकशब्दों को स्पष्ट करने के लिए उसी प्रकारके कोषोंका भी जैनाचार्योंने निर्माण किया है। उस में इन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ लिखा गया है। उपलब्ध कोषों में श्री आचार्य अमृतनंदि का कोष महत्वपूर्ण होने पर भी अपूर्ण है। इस कोष में बाईस हजार शब्द हैं फिर भी सकार में जाकर अपूर्ण होगया है। सकारके शब्दोंको लिखते लिखते सस–ससि पर्यंत आचार्य लिख सके। बाद में ग्रंथपात होगया है। स, सा से लेकर ह, ळ, क्ष पर्यंत के शब्दोंको वे क्यों नहीं लिख सके? आयु का

अवसान हुआ होगा इसके सिवाय और क्या कहा जा सकता है। प्रारंभसे जिस विरतृतिके साथ कोष का निर्माण हुआ है, उस से अवशेष शब्दोंका पात करीब २००० की संख्यामें ले सकते हैं, यह हमारे दुर्भाग्य का विषय है। ग्रंथ में वनस्पतियोंका नाम जैन पारिभाषिक के रूप में आये हैं। जैसे अभव्यः=हंसपादि, अहिंसा=वृश्चिकालि, अनंत=सुवर्ण, ऋषभ=पावठेकी लता, ऋषभा=आमलक, मुनिखर्जूरिका=राजखर्जूर, वर्धमाना=मधुर मातुलुंग, वर्धमानः=श्वेतैरंड, वीतरागः=आम्र इत्यादि। ऐसे कोषों का भी उद्धार होने की परम आवश्यकता है[1]।

समंतभद्रके पूर्वके वैद्यकग्रंथकार.

जैनवैद्यक विषय श्रीभगवान् की दिव्य ध्वनि से निकला हुआ होने से इस की परंपरा गणधर, तच्छिष्यपरंपरा से बराबर चला आ रहा है, यह हम पहिले लिख चुके हैं। समंतभद्र के पहिले भी कुछ वैद्यक ग्रंथकर्ता उपलब्ध होते हैं[2] वे क्रि. पू. दुसरे तीसरे शतमान में हुए हैं। और वे कारवार जिल्हा, होन्नावर तालुका के गेरसप्पाके पास हाडहिळ्ळि में रहते थे। हाडहिळ्ळिमें इंद्रगिरि, चंद्रगिरि नामक दो पर्वत हैं। वहांपर वे तपश्चर्या करते थे। अभी भी इन दोनों पर्वतोंपर पुरातत्व अवशेष हैं। हमने इस स्थान का निरीक्षण किया है।

इन मुनियोंने वैद्यक ग्रंथोंका निर्माण किया है। महर्षि समंतभद्रने अपने सिद्धांत रसायनकल्प ग्रंथमें स्वयं उल्लेख किया है कि " **श्रीमद्भल्लातकाद्रौ वसति जिनमुनिः सूतवादे रसाब्जं**" इ. साथमें जब समंतभद्राचार्यने अपने वैद्यकग्रंथकी रचना परिपक्वशैलीमें की एवं अपने ग्रंथमें पूर्वाचार्योंकी परंपरागतताको भी "**रसेंद्र जैनागमसूत्रबद्धं**" इत्यादि शब्दों से उल्लेख किया तो अनुमान किया जा सकता है कि समंतभद्र के पहिले भी इस विषय के ग्रंथ होंगे। उन पूर्व मुनियोंने इस आयुर्वेद में एक विशिष्ट कार्य किया है। जो कि अन्यदुर्लभ है।

पुष्पायुर्वेद.

जैनधर्म अहिंसाप्रधान होने से, उन महाव्रतधारी मुनियोंने इस बातका भी प्रयत्न किया कि औषधनिर्माण के कार्य में किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं होना चाहिए। इतना

---

१ यह कोष बेंगलोरके वैद्यराज पं. यल्लप्पाकी कृपासे हमें देखने को मिला व अनेक परामर्श भी मिले। इसके लिए हम उक्त वैद्यराजका आभारी हैं। सं.

२ भट्टारकीय प्रशस्ति में इस हाडहिळ्ळिका उल्लेख संगीतपुर के नाम से मिलता है। क्यों कि कर्णाटक भाषामें हाडु शब्द का अर्थ संगीत है। हळ्ळि शब्द का अर्थ ग्राम है। इसलिए यह निश्चित है कि हाडहिळ्ळिका का ही संस्कृत नाम संगीतपुर है। सं०

ही नहीं एकेंद्रिय प्राणियोंका भी संहार नहीं होना चाहिए । अतएव उन्होंने पुष्पायुर्वेद का भी निर्माण किया ।

आयुर्वेद ग्रंथकारोंने वनस्पतियोंको औषधमें प्रधान स्थान दिया । चरकादि ग्रंथकारोंने मांसादिक अभक्ष्य पदार्थोंका प्रचार औषधिके नामसे किया । परंतु जैनाचार्योंने तो उस आदर्शमार्गका प्रस्थापन किया जिससे किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं होसके । इसीलिए पुष्पायुर्वेद में ग्रंथकार ने अठारह हजार जाति के कुसुम (पराग) रहित पुष्पों से ही रसायनौषधियों के प्रयोगोंको लिखा है । इस पुष्पायुर्वेद ग्रंथ में क्रि. पू. ३ रे शतमान की कर्णाटक लिपि उपलब्ध होती है जो कि बहुत मुष्किलसे वांचनेमें आती है । इतिहास संशोधकों के लिए यह एक अपूर्व व उपयोगी विषय है । अठारह हजार जाति के केवल पुष्पों के प्रयोगोंका ही जिसमें कथन हो,उस ग्रंथ का महत्व कितना होगा यह भी पाठक विचार करें । विशेष क्या ? हम बहुत अभिमान के साथ कह सकते हैं कि अभीतक पुष्पायुर्वेद का निर्माण जैनाचार्यों के सिवाय और किसीने भी नहीं किया है । आयुर्वेद संसारमें यह एक अद्भुतचीज है । इसका श्रेय जैनाचार्योंको ही मिल सकता है । महर्षि समंतभद्र का पीठ गेरसप्पामें था । उस जंगल में जहां समंतभद्र वास करते थे, अभीतक विशाल शिलामय चतुर्मुख मंदिर, ज्वालामालिनी मंदिर व पार्श्वनाथ जिनचैत्यालय दर्शनीय मौजूद है । जंगल में यत्र तत्र मूर्तियां बिखरी पडी हैं । दंतकथा परंपरासे ज्ञात है कि इस जंगल में एक सिद्धरसकूप है । कलियुग में जब धर्मसंकट उपस्थित होगा उस समय इस रसकूप का उपयोग करने के लिए आदेश दिया गया है । इस कूप को सर्वांजन नामक अंजन नेत्रोंमें लगाकर देख सकते हैं । सर्वांजन को तैयार करने का विधान पुष्पायुर्वेद में कहा गया है । साथ में उस अंजन के लिए उपयोगी पुष्प उसी प्रदेशमें मिलते हैं ऐसा भी कहा गया है । अतएव इस प्रदेशकी भूमि का नाम " रत्नगर्भा वसुंधरा " के नाम से उल्लेख किया है । ऐसी महत्वपूर्ण–कृतियोंका उद्धार होना आवश्यक है ।

पूज्यपादके बादके जैन वैद्यक ग्रंथकार

पूज्यपादके बाद भी कई वैद्यकग्रंथकार हुए हैं । उन्होंने तद्विषयक पांडित्यसे अनेक आयुर्वेदग्रंथोंका निर्माण किया है । इस का उल्लेख अनेक ग्रंथोंमें मिलता है ।

गुम्मटदेवमुनि.

इन्होंने मेरुतंत्र नामक वैद्यकग्रंथकी रचना की है । प्रत्येक परिच्छेद के अंतमें उन्होंने श्रीपूज्यपाद स्वामी का बहुत आदरपूर्वक स्मरण किया है ।

सिद्धनागार्जुन.

यह पूज्यपादके भानजे थे। इन्होंने नागार्जुनकल्प, नागार्जुनकक्षपुट आदि ग्रंथोंका निर्माण किया था। इसके अलावा मालुम होता है कि इन्होंने "वज्रखेचरघुटिका" नामक सुवर्ण बनाने की रत्नगुटिका को तैयार की थी। जब ये इस औषध को तैयार करने के संकल्पसे आर्थिकमदत को मांगनेके लिए किसी राजाके पास गये थे, तब राजाने पूछा कि यदि आपके कहने के अनुसार गुण न आवे तो आपका प्रण क्या रहेगा? नागार्जुनने उत्तर दिया कि मेरी दोनों आंखोंको निकाल सकते हैं। राजाने उन को सहायता दी, उन्होंने प्रयत्नकर एक वर्षके अंदर इस औषध को तैयार करके एवं उसकी तीन मणियोंको बनाकर उन पर अपने नामको खोदा। बाद जब नदीमें ले जाकर उन मणियोंको वे धोरहे थे तब हाथसे फिसलकर नदी में गिर पडी। राजाने प्रतिज्ञाके अनुसार दोनों आंखोंको निकलवाई। नागार्जुन दोनों आंखोंसे अंधे हुए व देशांतर चले गये। एक वेश्या—स्त्रीको उन मणियोंको निगली हुई मछलीके मिलनेपर चीरकर देखी तो तीन मणियां मिल गई। वेश्याने उन्हे लेजाकर झूलेपर रखी तो झूलेपर लटके हुए लोहेकी सांकल सोने की बन गई। तदनंतर वह वेश्या रोज लोहेको सोना बनाया करती थी। बडे २ पहाडके समान उसने सोना बनाया। एवं विपुल धनव्ययकर एक अन्नसत्र का निर्माण कर उसका "नागार्जुनसत्र" ऐसा नाम दिया। नागार्जुनने फिरतेर आकर सत्रको अपने नाम मिलनेका कारण पूच्छा। मालुम होनेपर उन्होने उन रत्नोंको पुनः पाकर उनके बल से गई हुई आंखोंको पुनः पाया एवं राजसभामें जाकर उसके महत्वको प्रकट किया। आयुर्वेदीय औषधोमें कितना सामर्थ्य है यह पाठक इससे जान सकते हैं।

कर्णाटक जैनवैद्यकग्रंथकार.

उपर्युक्त विद्वानोंके अलावा कर्णाटक भाषा में अनेक विद्वानोंने वैद्यक ग्रंथ की रचना की है। । उनमें कीर्तिवर्म का गोवैद्य, मंगराज का खगेंद्रमणिदर्पण, अभिनवचंद्र का हयशास्त्र, देवेंद्र मुनि का बालग्रहचिकित्सा, अमृतनंदि का वैद्यक निघंटु, जगदेक महामंत्रवादि श्रीधरदेव का २४ अधिकारोंसे युक्त वैद्यामृत, साळ्वके द्वारा लिखित रस रत्नाकर व वैद्यसांगत्य आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं। जगदळ सोमनाथ ने पूज्यपादाचार्य के द्वारा लिखित कल्याणकारक ग्रंथ का कर्णाटक भाषा में भाषांतर किया है। यह ग्रंथ भी बहुत महत्वपूर्ण हुआ है। ग्रंथ पीठिकाप्रकरण, परिभाषाप्रकरण, षोडशज्वरचिकित्सानिरूपणप्रकरण आदि अष्टांगसे संयुक्त है। यह ग्रंथ कर्णाटक भाषाके वैद्यक ग्रंथोंमें सबसे प्राचीन है। एक जगह कर्णाटक कल्याणकारकमें सोमनाथ कविने उल्लेख किया है।

सुकरं तानेने पूज्यपाद मुनिगळ् सुपेळ्द कल्याणका-
रकमं वाहटसिद्धसारचरकाद्युत्कृष्टमं सद्गुणा-
धिकमं वर्जितमद्यमांसमधुवं कर्णाटदिं लोकर-
क्षकमा चित्रमदागे चित्रकवि सोमं पेळ्दर्नि तळ्तियिं ॥

इससे यह भी स्पष्ट है कि पूज्यपादके ग्रंथमें भी मद्य, मांस व मधुका प्रयोग बिल्कुल नहीं किया गया है। चरकादियोंके द्वारा रचित ग्रंथसे वह उत्कृष्ट है । अनेक गुणोंसे परिपूर्ण है।

इस प्रकार अनेक जैन वैद्यक ग्रंथकार हुए हैं। जिन्होंने लोककल्याणके लिए अपने बहुमूल्य समय व श्रमको गमाकर निस्पृहतासे ग्रंथ निर्माणका कार्य किया। परंतु आज उन ग्रंथों का दर्शन भी हमें नहीं होता है। जो कुछ भी उपलब्ध हैं, उन के उद्धार की कोई चिंता हमारे उदार धनिकोंमें नहीं है। वे ग्रंथ धीरे २ कीटभक्ष्य बनते जा रहे हैं।

उग्रादित्याचार्यका समय

उग्रादित्याचार्यकृत प्रकृतग्रंथ कितना सरस व महत्वपूर्ण है। इसे बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्यों कि पाठक उसे अध्यनन कर स्वयं अनुभव करेंगे ही। परंतु सहसा यह जानने की उत्कंठा होती है कि ये किस समय हुए? इस कल्याणकारककर्ता लोककल्याणकारक महात्माने किस शतमान में इस धरातल को अलंकृत किया था?। हमें प्राप्त सामग्रियोंसे हम उस विषय पर यहांपर ऊहापोह करते हैं।

उग्रादित्यने प्रकृत ग्रंथमें पूज्यपाद, समंतभद्र, पात्रस्वामि, सिद्धसेन, दशरथगुरु, मेघनाद, सिंहसेन, इन आचार्योंके वैद्यक ग्रंथों का उल्लेख किया है। इससे इनसे उग्रादित्याचार्य आर्वाचीन हैं यह स्पष्ट है। ये सब आचार्य छटवीं शताब्दी के पहिले के होने चाहिए ऐसा अनुमान किया जाता है।

ग्रंथकारने ग्रंथके अंतमें एक वाक्य लिखा है। जिससे उनके समयको निर्णय करने में बहुत अनुकूलता होगई है। वे लिखते हैं कि—

इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशिवैद्यशास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्यैर्नृपतुंगवल्लभेंद्रसभायामुद्घोषितं प्रकरणम् " इससे स्पष्ट होता है कि औषध में मांस की निरुपयोगिताको सिद्ध करनेकेलिए स्वयं आचार्यने श्रीनृपतुंगवल्लभेंद्रकी सभामें इस प्रकरणका प्रतिपादन किया। इसका समर्थन इसके ऊपर ही आये हुए इस श्लोकसे होता है।

ख्यातश्रीनृपतुंगवल्लभमहाराजाधिराजस्थितः ।
प्रोद्यद्भूरिसभांतरे बहुविधप्रख्यातविद्वज्जने ॥
मांसाशिप्रकरेंद्रताखिलभिषग्विद्याविदामग्रतो ।
मांसे निष्फलतां निरूप्य नितरां जैनेंद्रवैद्यस्थितम् ॥

इससे विषय बिलकुल स्पष्ट होगया है कि नृपतुंग वल्लभ महाराजाधिराजके दरबारमें जहां मांसाशनको समर्थन करनेवाले अनेक विद्वान् थे, उनके सामने मांसकी निष्फलताको सिद्ध कर दिया है। नृपतुंग अमोघवर्ष प्रथमका नाम है, और अमोघवर्षको ही वल्लभ, और महाराजाधिराजकी उपाधि थी। नृपतुंग भी उसकी उपाधि ही थी* ।

इतिहासवेत्तावोंने इस अमोघवर्षके राज्यरोहणके समयको शक सं. ७३६ (वि. सं. ८७१-ई. स. ८१५) का लिखा है। गुणभद्रसूरिकृत उत्तरपुराणसे ज्ञात होता है कि यह अमोघवर्ष (प्रथम) प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेनका शिष्य था।

यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारांतराविर्भव-
त्पादाम्भोजरजः पिशंगमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः ॥
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोहमद्येत्यलम् ।
स श्रीमाञ्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मंगलम् ॥

पार्श्वाभ्युदय काव्यकी रचना श्री महर्षि जिनसेनने की थी। उसमें सर्गके अंतमें निम्नलिखित प्रकार उल्लेख मिलता है। **इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः** इत्यादि।

इससे स्पष्ट हुआ कि अमोघवर्षके गुरु जिनसेन थे। इसी बातका समर्थन *Mediaeval Jainism* नामक पुस्तकमें प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्रोफेसर सालेतोरने किया है।

" The next prominent Rastrakuta ruler who extended his patronage to Jainism was Amoghavarsa I, Nripatiunga, Atishaya-dhawala (A. D. 815-877). From Gunabhadra's *Uttarpurana* (A. D. 898), we know that king Amoghvarsa I, was the disciple of Jinasena, the author of the Sanskrit work *Adipurana* (A. D. 783) The Jaina leaning of king Amoghavarsa is further corroborated by Mahaviracharya the author of the Jain Mathematical work *Ganitasarasangraha*, who relates that, that monarch was a follower of the *Syadwad* Doctrine. *Mediaeval Jainism* P. 38.

इस से यह स्पष्ट है कि अमोघवर्ष श्री भगवज्जिनसेनाचार्यके शिष्य थे। अमोघ-

* इसकी आगे लिखी उपाधियां मिलती हैं-नृपतुंग (महाराज शर्व) महाराजशण्ड, अतिशयधवल, वीरनारायण, पृथिवी वल्लभ, श्री पृथिवी वल्लभ, महाराजाधिराज, भट्टार, परमभट्टारक भारतके प्राचीन राजवंश भा- ३ पृ. ४१

वर्ष के स्याद्वादमतके अनुयायित्वको गणितसार संग्रह के कर्ता महावीराचार्य ने भी समर्थन किया है । इसी अमोघवर्षके शासनकाल में ही प्रसिद्ध राद्धांत ग्रंथकी टीका जयधवला की (श. सं. ७५९ वि. सं. ८९४ ई. स. ८३७) रचना हुई थी । रत्नमालिका के निम्न श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि अंतिमवय में अमोघवर्ष वैराग्य जागृति से राज्यभोग छोडकर आत्मकल्याण में संलग्न हुआ था ।

विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका ।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः ॥

अमोघवर्ष के संबंधमें बहुत कुछ लिखा जासकता है । क्यों कि वह एक ऐसा वीर राष्ट्रकूट नरेश हुआ है, जिसने जैनधर्मकी महत्ताको समझकर उसकी धवलपताका को विश्वभरमें फैलाई थी । परंतु प्रकृतमें हमें इतना ही सिद्ध करना था कि अमोघवर्षकी ही उपाधि नृपतुंग, वल्लभ, महाराजाधिराज आदि थे । हरिवंश पुराण के कर्ता जिन-सेनने भी ग्रंथ के अंत में " **श्रीवल्लभे दक्षिणां** " पदसे दक्षिण दिशाके राजा उस समय श्रीवल्लभ का होना माना हैं । हमारे ख्याल से यह श्रीवल्लभ उग्रादित्याचार्य के द्वारा उल्लिखि श्रीवल्लभ=अमोघवर्ष ही होना चाहिए । इसलिए अब यह विषय बहुत स्पष्ट होगया है कि उग्रादित्याचार्य **नृपतुंग (अमोघवर्ष I)** के समकालीन थे । २५ वें परिच्छेदमें उन्होंने जो अपना परिचय संक्षेपमें दिया है, उससे यह ज्ञात होता है कि उनके गुरु **श्रीनंदि** आचार्य थे, जिनके चरणोंको श्रीविष्णु राजपरमेश्वर नामक राजा पूजता था । यह विष्णुराज परमेश्वर कौन है ? हमारा अनुमान है कि यह विष्णुराज अमोघवर्षके पिता गोविंदराज तृतीय का ही अपरनाम होना चाहिए । कारण महर्षि जिनसेनने पार्श्वाभ्युदयमें अमोघवर्षको **परमेश्वरकी** उपाधि से उल्लेख किया है । हो सकता है कि यह उपाधि राष्ट्रकूटों की पितृपरंपरागत हो । परन्तु ऐतिहासिक विद्वान् विष्णुराजको चालुक्य राजा विष्णुवर्धन मानते हैं । इससे उग्रादित्याचार्यके समय निर्णय करनेमें कोई बाधा नहीं आती है । क्यों कि उस समय इस नामका कोई चालुक्य राजा भी हो सकता है । इसलिए यह निश्चित है कि **श्रीउग्रादित्याचार्य** महाराजाधिराज श्रीवल्लभ नृपतुंग अमोघवर्षके समकालीन थे । इस विषयका समर्थन प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता प्राक्तनविमर्शविचक्षण, महामहोपाध्याय, प्राच्यविद्याविभव, रायबहादुर **नरसिंहाचार्य** M. A. M. R. A. S. ने निम्न लिखित शब्दोंसे किया है ।

" Another manuscript of some interest is the medical work *Kalyanakaraka* of Ugraditya, a Jaina author, who was a contemporary of the Rashtrakuta king Amoghavarsha I and of the Eastern Chalukya king kali Vishnuvardhana V. The work opens with the statement that the science of medicine is divided into two parts, namely prevention and cure, and gives at the end a long discourse in Sanskrit prose on the uselessness of a flesh diet, said to

have been delivered by the author at the court of Amoghavarsha, where many learned men and doctors had assembled."

Mysore Archaeological Report 1922. Page 23.

अर्थात् एक कई मनोरंजक विषयों से परिपूर्ण आयुर्वेद ग्रंथ कल्याणकारक श्री उग्रादित्य के द्वारा रचित मिला है, जो कि जैनाचार्य थे और राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम व चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पंचम के समकालीन थे । ग्रंथ का प्रारंभ आयुर्वेद तत्वके प्रतिपादन के साथ हुआ है, जिसका दो विभाग किया गया है । एक रोगरोधन व दूसरा चिकित्सा । अंतिम एक गद्यात्मक प्रकरण में उस विस्तृत भाषणको लिखा है, जिस में मांस की निष्फलताको सिद्ध किया है जिसे कि अनेक विद्वान् व वैद्योंकी उपस्थिति में नृपतुंगकी सभामें उग्रादित्याचार्यने दिया था ।

इतना लिखने के बाद पाठकों को यह समझने में कोई कठिनता ही नहीं होगी कि उग्रादित्याचार्यका समय कौनसा है । सारांश यह है कि वे अमोघवर्ष प्रथमके समकालीन अर्थात् श. संवत् के ८ वीं शताब्दिमें एवं विक्रम व क्रिस्त की ९ वीं शताब्दिमें इस धरातलको अलंकृत कर रहे थे यह निश्चित है ।

विशेष परिचय.

उग्रादित्यने अपना विशेष परिचय कुछ भी नहीं लिखा है । उन की विद्वत्ता, वस्तु विवेचन सामर्थ्य, आदि बातों के लिए उन के द्वारा निर्मित ग्रंथ ही साक्षी है । उन के गुरु श्रीनंदि, ग्रंथनिर्माण स्थान रामगिरि नामक पर्वत था । रामगिरि पर्वत वेंगि में था । वेंगि त्रिकलिंग देशमें प्रधान स्थान है । गंगासे कटकतकके स्थानको उत्कलदेश कहते हैं । यही उत्तरकालिंग है । कटकसे महेंद्रगिरि तकके पहाडी स्थानका नाम मध्यकालिंग है। महेंद्रगिरि से गोदावरीतक के स्थान को दक्षिणकलिंग कहते हैं । इन तीनोंका ही नाम त्रिकलिंग है । ऐसे त्रिकलिंग के वेंगीमें सुंदर रामगिरि पर्वतके जिनालयमें बैठकर उग्रादित्यने इस ग्रंथकी रचना की है। यह रामगिरि शायद वही हो सकता है जहां पद्मपुराण के अनुसार रामचंद्रने मंदिर बनवाये हों । इससे अधिक महर्षि का परिचय भले ही नहीं मिलता हो तथापि यह निश्चित है कि उग्रादित्याचार्य ८ वीं शताब्दी के एक माने हुए प्रौढ आयुर्वेदीय विद्वान् थे । इसमें किसीको भी विवाद नहीं हो सकता ।

अंतिम प्रकरण में आचार्यश्रीने मद्य, मांसादिक गर्ह्य पदार्थों का सेवन औषधि के नाम से या आहार के नाम से उचित नहीं है, इसे युक्ति व प्रमाण से सिद्ध किया है । एक अहिंसाधर्मप्रेमी इस बातको कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि एक व्यक्ति को सुख पहुंचाने के लिए अनेक जीवोंका संहार किया जाय । अनेक पाश्चात्य वैज्ञानिक वैद्यक विद्वान् भी आज मांसकी निरुपयोगिता को सिद्ध कर रहे हैं । अखिल कर्णाटक आयुर्वेदीय महासम्मेलनमें आयुर्विज्ञानमहार्णव आयुर्वेदकलाभूषण विद्वान् के **शेषशास्त्री** ने सिद्ध किया था कि मद्य मांसादिक का उपयोग औषध में करना उचित नहीं

है और ये पदार्थ भारतीयोंके शरीरके लिए हितावह नहीं है । काशी हिंदू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदसमारंभोत्सव में श्री कविराज **गणनाथ सेन** महामहोपाध्याय एम्. ए. विद्यानिधि ने इन मद्य मांसादिक का तीव्र निषेध किया था । ऑल इंडिया आयुर्वेद महासम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में श्री कविराज **योगींद्रनाथ सेन** एम्. ए. ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि अंग्रेजी औषध प्रायः मद्यादिक मिश्रित रहते हैं। अतः वह भारतीयोंके प्रकृति के लिए कभी अनुकूल नहीं हो सकते । इत्यादि अनेक भारतीय व विदेश के विद्वान् इन पदार्थोंको त्याज्य मानते हैं । वनस्पतियोंमें वह सामर्थ्य है जिस से भयंकरसे भयंकर रोग दूर हो सकते हैं । क्या समंतभद्राचार्य का भस्मक रोग आयुर्वेदीय औषधिसे दूर नहीं हुआ ? महर्षि पूज्यपाद और नागार्जुन को गगनगमनसामर्थ्य व गतनेत्रोंकी प्राप्ति वनस्पति औषधोंसे नहीं हुई ? फिर क्यों औषधि के नाम से अहिंसाधर्म का गला घोंटा जाय ? आशा है कि हमारे वैद्यबंधु इस विषयपर ध्यान देंगे । उनको औषधिके बहानेसे यम लोकमें पहुंचने वाले असंख्यात प्राणियोंको प्राण दान देने का पुण्य मिलेगा । ग्रंथकारने कई स्थलोंपर सुश्रुताचार्यको स्याद्वादवादी लिखा है । सुश्रुताचार्यकी द्रव्यगुण व्यवस्था जैनसिद्धांतसे बिलकुल मिलती जुलती है। इस विषय पर ऐतिहासिक विद्वानोंको गंभीर-नजर डालनी चाहिए ।

कृतज्ञता.

इस ग्रंथका संशोधन हमारे दो विद्वान् वैद्य मित्रोंने किया है । प्रथम संशोधन मुंबईके प्रसिद्ध वैद्य, दि. जैन औषधालय भूलेश्वरके प्रधान-चिकित्सक, आयुर्वेदाचार्य **पं० अनंतराजेंद्र शास्त्री** के द्वारा हुआ है । आप हमारे परमस्नेही होनेके कारण आपने इस कार्यमें अथक श्रम किया है । द्वितीय संशोधन अहमदनगर आयुर्वेद महाविद्यालयके प्राध्यापक व ला. मेंबर आयुर्वेदतीर्थ **पं. विंदुमाधव शास्त्री** ने किया है। श्रीवैद्यपंचानन **पं. गंगाधर गोपाल गुणे शास्त्री** ने प्रस्तावना लिखनेकी कृपा की है । धर्मवीरजीके स्वर्गवास होनेपर भी अपने पिताके इस कार्यकी पूर्ति उनके सुपुत्र **सेठ गोविंदजी रावजीने** करने की उदार-कृपा की है । इन सब सज्जनोंके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए मेरे पास कोई शब्द नहीं है । आशा है कि उनका मेरे साथ इसी प्रकार सतत सहयोग रहेगा । इसके अलावा जिन २ विद्वान मित्रोंने मुझे इस ग्रंथके संपादन, अनुवादन, आदि में परामर्शादिसे सहायता दी है उनका भी मैं हृदयसे आभारी हूं ।

श्रीमंगलमय दयानिधि परमात्मासे प्रार्थना है कि प्रकृतग्रंथके द्वारा विश्वके समस्त जीवोंको आयुरारोग्यैश्वर्यादिका लाभ हो, जिससे कि वे देश, धर्म व समाजके उत्थान के कार्यमें हर समय सहयोग दे सकें । इति.

सोलापुर
ता. १-२-१९४०

विनीत—
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री.
संपादक.
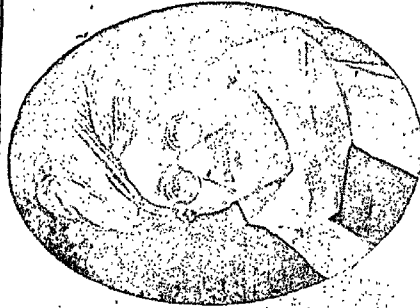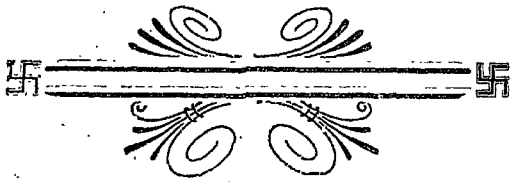
श्रीकल्याणकारक.
प्रकाशक
श्री. धर्मवीर, दानवीर, जिनवाणीभूषण, विद्याभूषण,
सेठ रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर.
संपादक व अनुवादक
विद्यावाचस्पति
श्री. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री.
संपादक जैनबोधक व वीरवाणी, सोलापुर.
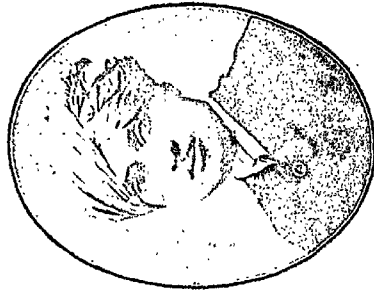
संशोधक
श्री. आयुर्वेदाचार्य पं. अनंतराजेंद्र वैद्य.
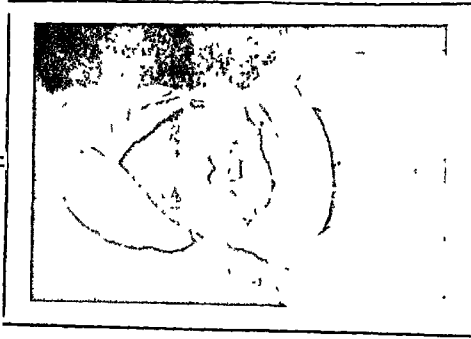
प्रस्तावना लेखक
श्री. वैद्यपंचानन वैद्यचूडामणि
गंगाधर गोपाळ गुणे शास्त्री

संशोधक
श्री. आयुर्वेदतीर्थ पं. चिंदुमाधवशास्त्री

विषयानुक्रमणिका.

तृतीय परिच्छेदः

चतुर्थपरिच्छेद:

पंचमपरिच्छेदः

षष्ठः परिच्छेदः

सप्तमपरिच्छेदः

अष्टमपरिच्छेदः

नवमपरिच्छेदः

दशमपरिच्छेदः

एकादशपरिच्छेदः

कुष्ठरोगाधिकारः २०३

कुष्ठचिकित्सा २०८

त्रयोदशपरिच्छेदः

चतुर्दशपरिच्छेदः

पंचदशपरिच्छेदः

नेत्ररोगाधिकारः ३३६

कृष्णमंडलगतरोगाधिकारः ३५६

अथारोचकरोगाधिकारः ३९३

अरोचकचिकित्साः ३९४

स्वरभेदरोगाधिकारः ३९५

उदावर्तरोगाधिकारः ३९८

अथ हिक्कारोगाधिकारः ४००

प्रतिश्यायरोगाधिकारः ४०३

अथ सप्तदशः परिच्छेदः

अथाष्टादशः परिच्छेदः

अथैकोनविंशः परिच्छेदः

स्थावरविषके सप्तवेग ४९७

विषचिकित्सा ४९८

अथ जंगमविषवर्णन ५००

अथ विंशः परिच्छेदः ।

अथैकविंशः परिच्छेदः ।

द्वाविंशः परिच्छेदः ।

स्वेदविधिवर्णनप्रतिज्ञा ५९०

अथ त्रयोविंशः परिच्छेदः

अथ चतुर्विंशः परिच्छेदः

अथ पंचविंशतितमः परिच्छेदः

—==*==—

साहित्यप्रेमी-सज्जन.

इस ग्रंथके उद्धारकार्य में निम्नलिखित साहित्यप्रेमी सज्जनोंने उदार हृदय से भाग लेकर सहायता दी है। एतदर्थ उनके हम हृदयसे आभारी हैं।

१ स्वस्तिश्री जिनसेन भट्टारक पट्टाचार्य महाराज नांदणी १०१)
२ श्री ध. रायबहादुर सेठ भागचंदजी सोनी M. L. A. अजमेर १०१)
३ श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचन्दजी साहब भेलसा. १०१)
४ श्री. धर्मनिष्ठ सेठ काळप्पा अण्णाजी लेंगडे शाहपुर [बेळगांव] १०१)
५ श्री. रा. सा. सेठ मोतीलालजी तोतालालजी रानीवाले व्यावर १०१)
६ संघभक्तशिरोमणि सेठ पूनमचंद घासीलालजी जोहोरी मुंबई १०१)
७ चतुर्विध दानशाला सोलापुर १०१)
८ रायबहादुर सेठ लालचंदजी सेठी उज्जैन ५०)
९ बा. निर्मलकुमार चक्रेश्वरकुमारजी रईस आरा ५०)
१० सेठ वीरचंद कोदरजी गांधी फलटण [अपनी मातृस्मृति में] ५०)
११ सिंघई कुंवरसेनजी रईस सिवनी ५०)
१२ सेठ भगवानदास शोभारामजी पूना ५०)
१३ सेठ मोतीचन्द उगरचंद फलटणकर पूना ५०)
१४ सेठ मथुदास देवीदास चवरे कारंजा ५०)
१५ स्व. सेठ रावजी परमचंद करकंब [मातुश्री जमनाबाईकी स्मृतिमें] ५०)
१६ सेठ शंकरलालजी गांधी मुंबई ५०)
१७ सेठ रामचंद धनजी दावडा नातेपुते ५०)
१८ सेठ रावजी बापुचंद पंदारकर सोलापुर ५०)
१९ सेठ माणिकचंद गुलाबचंद पिंपळेकर सोलापुर ५०)
२० सेठ जग्गीमलजी साहब रईस देहली ५०)
२१ सेठ जोहोरीलालजी कन्हैयालालजी कलकत्ता ५०)
२२ सेठ लादुराम शिखरचंदजी कोडरमा ५०)

२३ दिगम्बर जैन पंचान नारायणगंज [ढाका] ५०)
२४ सेठ चांदमलजी चूडीवाले चरमगुडिया ५०)
२५ सेठ सुंदरलालजी जोहोरी रईस जयपुर ५०)
२६ सेठ येसूसिंगई पासुसिंगई अंजनगांव ५०)
२७ चन्द्रसागर औषधालय नांदगांव ५०)
२८ रायबहादुर बालकृष्णदास वेंकटदास बागलकोट ५०)
२९ दत्तात्रय मारुती मोहीकर पूना ५०)
३० श्री. ब्र. रखमाबाईजी सोलापुर ५०)
३१ श्री. मैनाबाई तारापुरकर सोलापुर ५०)
३२ श्री. ब्र. सोनुबाई सूरतकर ५०)
३३ श्री. ब्र. जीऊबाई बिजापुरकर ५०)
३४ श्री. माणिकबाई भंडारकवठेकर ५०)
३५ श्री. गंगुबाई पदमशी करकंबकर ५०)

श्री उग्रादित्याचार्यकृतं

कल्याणकारकम्

हिंदीभाषानुवादसहितम् ।

मंगलाचरण व आयुर्वेदोत्पत्ति

श्रीमत्सुरासुरनरेंद्रकिरीटकोटि-
माणिक्यरश्मिनिकरार्चितपादपीठः
तीर्थाधिपो जितरिपुर्वृषभो बभूव
साक्षादकारणजगत्त्रितयैकबंधुः ॥ १ ॥

भावार्थः—जिनका पादपीठ ऐश्वर्यसंपन्न देवेंद्र, भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिष्केंद्र एवं चक्रवर्तिके किरीटमें लगे हुए पद्मराग रत्नोंकी कांतिसे पूजित है, जिन्होंने इस भरतखण्डमें सबसे पहिले मोक्षमार्गका उपदेश दिया है, व ज्ञानावरणादि कर्मरूपी शत्रुवोंको जीत लिया है ऐसे तीन लोकके प्राणियोंका साक्षात् अकारणबंधु श्री ऋषभनाथ स्वामी सबसे पहले तीर्थंकर हुए ॥ १ ॥

भगवान् आदिनाथसे प्रार्थना ।

तं तीर्थनाथमधिगम्य विनम्य मूर्ध्ना
सत्प्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्तिम्
सप्रश्रयं त्रिकरणोरुकृतप्रणामाः
पप्रच्छुरित्थमखिलं भरतेश्वराद्याः ॥ २ ॥

भावार्थः—अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, छत्र, चामर, रत्नमय सिंहासन, भामण्डल व देवदुंदुभिरूप अष्टमहाप्रातिहार्य व बारह प्रकारकी सभाओंसे वेष्टित श्रीऋषभनाथ तीर्थंकरके समवसरणमें भरत चक्रवर्ती आदिने पहुंच कर विनयके साथ त्रिकरणशुद्धिसे त्रिलोकीनाथ को नमस्कार किया एवं निम्नलिखित प्रकार पूछने लगे ॥२॥

प्राग्भोगभूमिषु जना जनितातिरागाः
कल्पद्रुमार्पितसमस्तमहोपभोगाः
दिव्यं सुखं समनुभूय मनुष्यभावे
स्वर्गं ययुः पुनरपीष्टसुखं सुपुण्याः ॥ ३ ॥

भावार्थः— प्रभो ! पहिले दूसरे तीसरे कालमें जब कि यहां भोगभूमिकी दशा थी लोग परस्पर एक दूसरे को अत्यंत स्नेहकी दृष्टिसे देखते थे एवं उन्हें कल्पवृक्षोंसे अनेक प्रकारके इच्छित सुख मिलते थे । मनुष्यभवमें जन्मभर उत्कृष्ट उत्कृष्ट सुख भोग कर वे पुण्यात्मा भोगभूमिज जीव इष्टसुख प्रदायक स्वर्गको प्राप्त होते थे ॥ ३ ॥

अत्रोपपादचरमोत्तमदेहवर्गाः
पुण्याधिकास्त्वनपवर्त्यमहायुषस्ते
अन्येऽपवर्त्यपरमायुष एव लोके
तेषां महद्भयमभूदिह दोषकोपात् ॥ ४ ॥

भावार्थः— इस क्षेत्रको भोगभूमिका रूप पलटकर कर्मभूमिका रूप मिला ॥ फिर भी उपपादशय्यामें उत्पन्न होनेवाले देवगण, चरम व उत्तम शरीरको प्राप्त करनेवाले पुण्यात्मा, अपने पुण्यप्रभावसे विषशस्त्रादिकसे अपघात नहीं होनेवाले दीर्घायुषी शरीरको ही प्राप्त करते हैं । परंतु विषशस्त्रादिकसे घात होने योग्य शरीरको धारण करनेवाले भी बहुतसे मनुष्य उत्पन्न होने लगे हैं । उनको वात, पित्त व कफके उद्रेकसे महाभय उत्पन्न होने लगा है ॥ ४ ॥

देव ! त्वमेव शरणं शरणागतानां
मस्माकमाकुलधियामिह कर्मभूमौ
शीतातितापहिमवृष्टिनिपीडितानां
कालक्रमात्कदशनाशनतत्पराणाम् ॥ ५ ॥

भावार्थः— स्वामिन् ! इस कर्मभूमिकी हालतमें हम लोग ठण्डी, गर्मी, व वर्सात आदिसे पीडित होकर दुःखी हुए हैं । एवं कालक्रमसे हम लोग मिथ्या आहार विहार का सेवन करने लगे हैं । इस लिये देव! आप ही शरणागतोंके रक्षक हैं ॥ ५ ॥

नानाविधामयभयादतिदुःखिताना-
माहारभेषजनिरुक्तिमजानतां नः
तत्स्वास्थ्यरक्षणविधानमिहातुराणां
का वा क्रिया कथयतामथ लोकनाथ ! ॥ ६ ॥

भावार्थः—त्रिलोकीनाथ ! इस प्रकार आहार, औषधि आदिके क्रमको नहीं जाननेवाले व अनेक प्रकारके रोगोंके भयसे पीडित हम लोगोंके रोगको दूर करने और स्वास्थ्यरक्षण करनेका उपाय क्या है ? । कृपया आप बतलावें ॥ ६ ॥

भगवानकी दिव्यध्वनि

विज्ञाप्य देवमिति विश्वजगद्धितार्थं
तूष्णीं स्थिता गणधरप्रमुखाः प्रधानाः
तस्मिन्महासदसि दिव्यनिनादयुक्ता
वाणी ससार सरसा वरदेवदेवी ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार भगवान् आदिनाथ स्वामीसे, जगत् के हितके लिए वृषभसेन गणधर, भरतचक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुष निवेदन कर ,अपने स्थानमें स्वस्थरूपसे बैठ गये । तब उस समवसरणमें भगवंतकी साक्षात् पट्टरानीके रूपमें रहनेवाली सरस शारदा देवी दिव्यध्वनिके रूपमे बाहर निकली ॥ ७ ॥

वस्तुचतुष्टयनिरूपण

तत्रादितः पुरुषलक्षणमामयाना-
मप्यौषधान्यखिलकालविशेषणं च
संक्षेपतः सकलवस्तुचतुष्टयं सा
सर्वज्ञसूचकमिदं कथयांचकार ॥ ८ ॥

भावार्थः—वह सरस्वतीदेवी (दिव्यध्वनि) सबसे पहिले पुरुष, रोग, औषध और काल इस प्रकार, समस्त आयुर्वेद शास्त्र को चार भेद से विभक्त करती हुई, इन वस्तुचतुष्टयोंके लक्षण, भेद, प्रभेद आदि सम्पूर्ण विषयोंको, संक्षेपसे वर्णन करने लगी जो कि भगवान् के सर्वज्ञत्व को सूचित करता है ॥ ८ ॥

आयुर्वेदशास्त्रका परम्परागमनक्रम

दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं
साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम्
पश्चात् गणाधिपनिरूपितवाक्प्रपंच-
मष्टार्धनिर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मुः ॥ ९ ॥

भावार्थः— इस प्रकार भगवान्की दिव्यध्वनि द्वारा प्रकटित (आयुर्वेदसम्बन्धी) समस्त तत्वोंको (चार प्रकारके) साक्षात् गणधर परमेष्ठीने जान लिया। तदनंतर गणधरोंके-द्वारा निरूपित वस्तुस्वरूप को निर्मल मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय ज्ञानको धारण करने-वाले योगियोनें जान लिया ॥ ९ ॥

एवं जिनांतरनिबंधनसिद्धमार्गा-
दायातमायतमनाकुलमर्थगाढम्
स्वायंभुवं सकलमेव सनातनं तत्-
साक्षाच्छ्रुतं श्रुतदलैःश्रुतकेवलिभ्यः ॥ १० ॥

भावार्थः— इस प्रकार यह सम्पूर्ण आयुर्वेदशास्त्र ऋषभनाथ तीर्थंकर के बाद, अजित, आदि महावीर तीर्थंकरपर्यंत चला आया है, (अर्थात् चव्वीसों तीर्थंक-रोंनें इसका प्रतिपादन किया है) अत्यंत विस्तृत है, दोषरहित है, एवं गम्भीर वस्तु-विवेचनसे युक्त है। तीर्थंकरोंके मुखकमल से अपने आप उत्पन्न होनें से स्वयम्भू है। बीजांकुर न्यायसे (पूर्वोक्तक्रमसे) अनादिकाल से चले आनेसे सनातन है. और गोवर्धन, भद्रबाहु आदि श्रुतकेवलियोंके मुखसे, अल्पांगज्ञानी या अंगांगज्ञानी मुनियों द्वारा साक्षात् सुनी हुआ है। तात्पर्य—श्रुतकेवलियोंने, अन्य मुनियोंको इस शास्त्र का उपदेश दिया है। ॥ १० ॥

ग्रंथकारकी प्रतिज्ञा।

प्रोद्यज्जिनभवचनामृतसागरान्तः-
प्रोद्यत्तरंगनिभृताल्पसुशीकरं वा
वक्ष्यामहे सकललोकहितैकधाम
कल्याणकारकमिति प्रथितार्थयुक्तम् ॥ ११ ॥

१—तात्पर्य यह कि यह आयुर्वेदशास्त्र त्रिलोकहित तीर्थंकरोंके द्वारा प्रतिपादित है (इस-लिये यह जिनागम है) उनसे, गणधर, प्रतिगणधरोंने, इनसे श्रुत केवली, इनसे भी, बादमें होनेवाले अन्य मुनियोंने यथाक्रमसे इसको जानलिया है। इसप्रकार परम्परागतशास्त्रोंके आधार से, अथवा उनका सारस्वरूप, इस कल्याणकारक नामक ग्रंथको उग्रादित्याचार्य प्रतिपादन करेंगे।

भावार्थः—उमडते हुए जिनप्रवचनरूपी अमृतसमुद्रके बीचमें उठा हुआ जो तरंग है उससे निकली बूंदोंके समान जो है ऐसे समस्त प्राणियोंको हित उत्पादन करने के लिए अद्वितीय स्थान ऐसे, अन्वर्थनामसे युक्त कल्याणकारक नामक ग्रंथको हम कहेंगे इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥

ग्रंथरचनाका उद्देश

नैवातिवाक्पटुतया न च काव्यदर्पा-
न्नैवान्यशास्त्रमदभंजनहेतुना वा
किंतु स्वकीयतप इत्यवधार्य वर्य-
माचार्यमार्गमधिगम्य विधास्यते तत् ॥ १२ ॥

भावार्थः—अपने वाक्चातुर्यको दिखानेके लिए या काव्यके अभिमानसे या दूसरे विद्वानोंकी विद्वत्ताके मदको भंग करनेके लिए मैं इसकी रचना नहीं कर रहा हूं। परंतु मैं ग्रंथरचना को एक अपना तप समझता हूं। इसलिए पूर्वाचार्योंकी सरणिको समझकर इसका निरूपण किया जायगा ॥ १२ ॥

स्वाध्यायमाहुरपरं तपसां हि मूलं
मन्यं च वैद्यवरवत्सलताप्रधानम्
तस्मात्तपश्चरणमेव मया प्रयत्ना-
दारभ्यते स्वपरसौख्यविधायि सम्यक् ॥ १३ ॥

भावार्थः—महर्षिगण स्वाध्यायको तपश्चरण का मूल कहते हैं। वैद्योंके प्रति; वात्सल्य भावसे ग्रंथरचना करना, इसको भी मैं प्रधान तपश्चरण मानता हूं। इसलिए समझना चाहिए कि मेरे द्वारा यह स्वपरकल्याणकारी तपश्चरण ही यत्नपूर्वक प्रारम्भ किया जाता है ॥ १३ ॥

दुर्जननिंदा।

अत्रापि संति बहवः कुटिलस्वभावा
दुर्दृष्टयो द्विरसनाः कुमतिप्रयुक्ताः
छिद्राभिलाषनिरताः परबाधकाश्च
घोरोरगैरुपमिताः पुरुषाधमास्ते ॥ ॥ १४ ॥

भावार्थः—लोकमें सर्प महाभयंकर होते हैं, उनकी गति कुटिल हुआ करती है, उनकी दृष्टिसे ही मनुष्योंको अपाय होता है, उन्हे दो जिव्हा होती हैं, सदा कुबुद्धि रहती है, सदा बिलमें घुसनेकी अभिलाषामें रहते हैं एवं दूसरोंको बाधा पहुंचाते हैं, इसी प्रकार लोकमें जो नीच मनुष्य हैं वे भी भयंकर हुआ करते हैं, उनका स्वभाव

कुटिल रहता है, वे मिथ्यादृष्टि होकर चाडीखोर भी हुआ करते हैं, सदा अज्ञानके वशीभूत रहते हैं, दूसरोंके दोष को ढूंडते रहते हैं एवं दूसरोंको अपने कृत्योंसे बाधा पहुंचाते रहते हैं, इसलिये ऐसे नीच मनुष्य जहरीले सर्पके समान हैं ॥ १४ ॥

केचित्पुनः स्वगृहमान्यगुणाः परेषां
दुष्यंत्यशेषविदुषां न हि तत्र दोषः
पापात्मनां प्रकृतिरेव परेष्वसूया-
पैशुन्यवाक्परुषलक्षणलक्षितानाम् ॥ १५ ॥

भावार्थः— कितने ही दुर्जन ऐसे रहते हैं कि जिनके गुण उनके घरके लोगोंको ही पसंद रहते हैं। बाहर उनकी कोई कीमत नहीं करता है। परंतु वे स्वतः समस्त विद्वानोंको दोष देते रहते हैं। मात्सर्य करना, चाडीखोर होना, कठोर वचन बोलना आदि लक्षणोंसे युक्त पापियोंका दूसरे सज्जनोंके प्रति ईर्ष्याभाव रखकर उनकी निंदा करना जन्मगत स्वभाव ही है। उससे विद्वानोंका क्या बिगडता है ? ॥ १५ ॥

केचिद्विचाररहिताः प्रथितप्रतापाः
साक्षात्पिशाचसदृशाः प्रचरंति लोके
तैः किं यथाप्रकृतमेव मया प्रयोज्यं
मात्सर्यमार्यगुणवर्यमिति प्रसिद्धम्[१] ॥ १६ ॥

भावार्थः—कितने ही अविचारी व बलशाली दुर्जन, लोगोंको अनेक प्रकारसे कष्ट देते हुए पिशाचोंके समान लोकमें भ्रमण करते हैं। क्या उन लोगों का सामना कर उनसे मात्सर्य करना हमारा धर्म है ? क्या मत्सर करना सज्जनोंका उत्तम गुण है ? कभी नहीं ॥ १६ ॥

आचार्यका अंतरंग।

एवं विचार्य शिथिलीकृतमत्सरोऽहं
शास्त्रं यथाधिकृतमेवमुदाहरिष्ये
सर्वज्ञवक्त्रनिसृतं गणदेवलब्धं
पश्चान्महामुनिपरंपरयावतीर्णम् ॥ १७ ॥

भावार्थः—इसप्रकार विचार करते हुए उन लोगोंसे मत्सरभावको छोडकर मेरी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार सर्वज्ञोंके मुखसे निर्गत व गणधरोंके द्वारा धारित एवं तदनंतर महायोगियों की परम्परा से इस भूतलपर अवतरित इस शास्त्रको कहूंगा ॥ १७ ॥

१ मात्सर्यमार्यगणवर्ज्यमिति प्रसिद्धं इति पाठांतरं।
सत्पुरुष मात्सर्यको छोडें ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है।

वैद्यशब्दकी व्युत्पत्ति

विद्येति सत्प्रकटकेवललोचनाख्या
तस्यां यदेतदुपपन्नमुदारशास्त्रम्
वैद्यं वदंति पदशास्त्रविशेषणज्ञा
एतद्विचिन्त्य च पठंति च तेऽपि वैद्याः ॥ १८ ॥

भावार्थः—अच्छीतरह उत्पन्न केवलज्ञानरूपी नेत्रको विद्या कहते हैं। उस विद्यासे उत्पन्न उदारशास्त्रको वैद्यशास्त्र ऐसा व्याकरणशास्त्रके विशेषको जाननेवाले विद्वान कहते हैं। उस वैद्यशास्त्रको जो लोग अच्छीतरह मनन कर पढते हैं उन्हें भी वैद्य कहते हैं ॥१८॥

आयुर्वेदशब्दका अर्थ

वेदोऽयमित्यपि च बोधविचारलाभा-
त्तत्वार्थसूचकवचः खलु धातुभेदात्
आयुश्च तेन सह पूर्वनिबद्धमुद्य-
च्छास्त्राभिधानमपरं प्रवदंति तज्ज्ञाः ॥ १९ ॥

भावार्थः— वैद्यशास्त्रको जाननेवाले, इस शास्त्रको, आयुर्वेद भी कहते हैं। वेदशब्द विद् धातुसे बनता है। मूलधातुका अर्थ, ज्ञान, विचार, और लाभ होता है। इस प्रकार धातु के अनेकार्थ होनेसे यहां वेद शब्दका अर्थ, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको, बताने वाला है, इस वेद शब्दके पीछे आयुः शब्द जोड दिया जाय तो 'आयुर्वेद' बनता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि जो हितआयु, अहितआयु, सुखायु, दुःखायु इनके स्वरूप, आयुष्य लक्षण, आयुष्यप्रमाण, आयुके लिए हिताहित द्रव्य इत्यादि आयुसम्बन्धी, यथार्थस्वरूप को प्रतिपादन करता है उस का नाम आयुर्वेद है। इसलिए यह नाम अन्वर्थ है ॥ १९ ॥

शिष्यगुणलक्षणकथनप्रतिज्ञा

एवंविधस्य भुवनैकहिताधिकोद्य-
द्वैद्यस्य भाजनतया प्रविकल्पिता ये
तानत्र साधुगुणलक्षणसाम्यरूपा-
न्वक्ष्यामहे जिनपतिप्रतिपन्नमार्गात् ॥ २० ॥

भावार्थः—समस्त संसार का हित करना ही जिनका उद्देश है अथवा हित करने में उद्युक्त हैं ऐसे, वैद्य, या आयुर्वेदशास्त्र के अध्ययनके लिये, पूर्वाचार्योंने जिन को योग्य बतलाया हैं, उनमें क्या गुण होना चाहिये, उनके लक्षण क्या हैं, रूप कैसा रहना चाहिये इत्यादि बातोंको जिनशासन के अनुसार आगे प्रतिपादन करेंगे ऐसा आचार्यश्री कहते हैं ॥ २० ॥

आयुर्वेदाध्ययनयोग्य शिष्य ।

राजन्यविप्रवरवैश्यकुलेषु कश्चि-
द्धीमाननिंद्यचरितः कुशलो विनीतः
प्रातर्गुरुं समुपसृत्य यथानुपृच्छेत्
सोऽयं भवेदमलसंयमशास्त्रभागी ॥ २१ ॥

भावार्थः—जिसका क्षत्रिय, ब्राह्मण व वैश्य इस प्रकारके उत्तम वर्णोमेंसे किसी एक वर्णमें जन्म हुआ हो, आचरण शुद्ध हो, जो बुद्धिमान्, कुशल व नम्र हो वही इस पवित्र शास्त्रको पठन करनेका अधिकारी है, प्रातःकाल वह गुरुकी सेवामें उपस्थित होकर इस विषयको उपदेश देनेके लिये प्रार्थना करें, ॥ २१ ॥

वैद्यविद्यादानक्रम ।

ज्ञातस्य तस्य गुणतः सुपरीक्षितस्या-
प्यर्हत्समक्षमुपरोपितसद्व्रतस्य
देयं सदा भवति शास्त्रमिदं प्रधानं
नान्यस्य देयमिति वैद्यविदो वदंति ॥ २२ ॥

भावार्थः—गुरुको उचित है कि उस शिष्यका गुण, स्वभाव, कुल आदिकी अच्छीतरह परीक्षा सर्व प्रथम करलेवें, उसको यदि अध्ययनार्थ योग्य समझें तो जिनेंद्र भगवान् के समक्ष उसे अहिंसा, सत्य, अचौर्यादि व्रतोंको ग्रहण करावें पश्चात् उस शिष्यको यह प्रधानभूत वैद्यशास्त्र का अध्ययन कराना चाहिये, दूसरोंको नहीं, इस प्रकार इसके रहस्यको जाननेवाले कहते हैं ॥ २२ ॥

विद्याप्राप्तिके साधन ।

आचार्यसाधनसहायनिवासवस्त्रा
आरोग्यबुद्धिविनयोद्यमशास्त्ररागाः
बाह्यांतरंगनिजसद्गुणसाधनानि
शास्त्रार्थिनां सततमेवमुदाहृतानि ॥ २३ ॥

भावार्थः—विद्याध्ययन करनेकी इच्छा रखने वाले विद्यार्थियों के लिये बाह्य व अंतरंग साधनों की जरूरत है, अध्यापन कराने वाले गुरु, पुस्तक वगैरे, सहाध्यायी, रहने के लिये स्थान, व भोजन ये सब बाह्य साधन हैं. आरोग्य, बुद्धि, विनय, प्रयत्न व विद्यानुराग ये सब अंतरंग साधन हैं, इन साधनोंसे सद्गुण प्रकट होते हैं ॥ २३ ॥

वैद्यशास्त्रका प्रधानध्येय।

लोकोपकारकरणार्थमिदं हि शास्त्रं
शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत्
स्वस्थस्य रक्षणमथामयमोक्षणं च
संक्षेपतः सकलमेव निरूप्यतेऽत्र ॥ २४ ॥

भावार्थः—यह वैद्यकशास्त्र लोकके प्रति उपकारके लिये है। इसका प्रयोजन, स्वस्थका स्वास्थ्यरक्षण और रोगीका रोगमोक्षणके रूपसे दो प्रकार है। इन सबको संक्षेपसे इस ग्रंथमें कहेंगे ॥ २४ ॥

लोकशब्दका अर्थ

जीवादिकान् सपदि यत्र हि सत्पदार्थान्
सस्थावरप्रवरजंगमभेदभिन्नान्
आलोकयंति निजसद्गुणजातिसत्वान्
लोकोयमित्यभिमतो मुनिभिः पुराणैः ॥ २५ ॥

भावार्थः—जिस जगह अपने अनेक जाति व गुणों से युक्त स्थावर जंगम आदि जीव, अजीवादिक षड्द्रव्य सप्ततत्व व नव पदार्थ आदि पाये जाते हों या देखें जाते हों उसे प्राचीन ऋषिगण लोक कहते हैं ॥ २५ ॥

चिकित्साके आधार।

सिद्धांततः प्रथितजीवसमासभेदे
पर्याप्तिसंज्ञिवरपंचविधेंद्रियेषु
तत्रापि धर्मनिरता मनुजाः प्रधानाः
क्षेत्रे च धर्मबहुले परमार्थजाताः ॥ २६ ॥

भावार्थः—जैन सिद्धांतकारोंनें जीवके चौदह भेद बतलाये हैं, एकेंद्रिय सूक्ष्म पर्याप्त २ एकेंद्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त ३ एकेंद्रिय बादरपर्याप्त ४ एकेंद्रिय बादरअपर्याप्त ५ द्वींद्रिय पर्याप्त ६ द्वींद्रिय अपर्याप्त, ७त्रींद्रिय पर्याप्त ८ त्रींद्रिय अपर्याप्त ९ चतुरिंद्रिय पर्याप्त १० चतुरिंद्रिय अपर्याप्त ११ पंचेंद्रिय असंज्ञी पर्याप्त १२ पंचेंद्रिय असंज्ञी अपर्याप्त १३ पंचेंद्रिय संज्ञी पर्याप्त १४ पंचेंद्रिय संज्ञी अपर्याप्त इस प्रकार चौदह भेद हैं। जिनको आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा व मन ये छह पर्याप्तियोमें यथासंभव पूर्ण हुए हों उन्हे पर्याप्तजीव कहते हैं। जिन्हे पूर्ण न हुए हों उन्हे अपर्याप्त जीव कहते हैं। अपर्याप्त जीवोंकी अपेक्षा पर्याप्त जीव श्रेष्ठ हैं। जिनको हित अहित, योग्य अयोग्य गुण दोष आदि समझमें आता है उन्हे संज्ञी कहते हैं, इसके विपरीत असंज्ञी है। असंज्ञीसे

संज्ञी श्रेष्ठ है। पंचेंद्रिय संज्ञियोमें भी जिन्होंने सर्व तरहसे धर्माचरणके अनुकूल धर्ममय क्षेत्रमें जन्म लिया है ऐसे धार्मिक मनुष्य सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ २६ ॥

तेषां क्रिया प्रतिदिनं क्रियते भिषग्भि-
रायुर्वयोऽग्निबलसत्वसुदेशसात्म्यम्
विख्यातसत्प्रकृतिभेषजदेहरोगान्
कालक्रमानपि यथक्रमतो विदित्वा ॥ २७ ॥

भावार्थः—उन धर्मात्मा रोगियोंकी आयु, वय, अग्निबल, शक्ति, देश, अनुकूलता, वातादिक प्रकृति इसके अनुकूल औषधि, शरीर, रोग व शीतादिक काल, इन सब बातोंको क्रम प्रकार जानकर चिकित्सा करें ॥ २६ ॥

चिकित्सा के चार पाद

तत्र क्रियेति कथिता मुनिभिश्चिकित्सा
सेयं चतुर्विधपदार्थगुणप्रधाना
वैद्यातुरौषधसुभृत्यगणाः पदार्था-
स्तेष्वप्यशेषधिषणो भिषगेव मुख्यः ॥ २८ ॥

भावार्थः—पूर्वोक्त क्रिया शब्दका अर्थ आचार्यगण चिकित्सा कहते हैं। उस चिकित्सा के लिये अपने गुणों से युक्त चार प्रकार के पदार्थों (अंगो) की आवश्यकता होती है। वैद्य, रोगी, औषध व रोगीकी सेवा करनेवाले सेवक, इस प्रकार चिकित्साके चार पदार्थ हैं अर्थात् अंग या पाद हैं उनमें बुद्धिमान् वैद्य ही मुख्य है, क्यों कि उसके विना बाकीके सब पदार्थ व्यर्थ पडजाते हैं ॥ २८ ॥

वैद्यलक्षण

ग्रंथार्थविन्मतियुतोऽन्यमतप्रवीणः
सम्यक्प्रयोगनिपुणः कुशलोऽतिधीरः
धर्माधिकः सुचरितो बहुतीर्थशुद्धो
वैद्यो भवेन्मतिमतां महतां च योग्यः ॥ २९ ॥

भावार्थः—जो वैद्यक ग्रंथके अर्थको अच्छीतरह जानता हो, बुद्धिमान् हो, अन्यान्य आचार्यों के मतों को जानने में प्रवीण हो, रोगके अनुसार योग्यचिकित्सा करने में निपुण हो, औषधियोजनामें चतुर हो धीर हो, धार्मिक हो, सदाचारी हो, बहुतसे गुरुजनोंसे जो अध्ययन कर चुका हो वह वैद्य विद्वान् महापुरुषोंको भी मान्य होता है ॥ २९ ॥

चिकित्सापध्दति

प्रश्नैर्निमित्तविधिना शकुनागमेन
ज्योतिर्विशेषतरलग्नशशांकयोगैः
स्वप्नैश्च दिव्यकथितैरपि चातुराणा-
मायुः प्रमाणमधिगम्य भिषग्यतेत ॥ ३० ॥

भावार्थः—रोगीकी परिस्थितिसंबंधी प्रश्न, निमित्तसूचना, शकुन, ज्योतिष शास्त्रके लग्न, चंद्रयोग आदि, स्वप्न व दिव्यज्ञानियोंका कथन आदि द्वारा रोगीके आयु प्रमाणको जानकर वैद्य चिकित्सामें प्रयत्न करें ॥ ३० ॥

रिष्टैर्विना न मरणं भवतीह जंतोः
स्थानव्यतिक्रमणतोऽतिसुसूक्ष्मतो वा
कृच्छ्राण्यपि प्रथितभूतभवद्भविष्य-
द्रूपाणि यत्नविधिनाल भिषक्प्रपश्येत् ॥ ३१ ॥

भावार्थः—रिष्ट (मरणसूचकचिन्ह) के प्रगट हुए विना प्राणियोंका मरण नहीं होता है, अर्थात् मरने के पहिले मरणसूचक चिन्ह अवश्यमेव प्रकट होता है। इसलिये वैद्य का कर्तव्य है, कि जानने में अत्यंत कठिन ऐसे भूत, वर्तमान, और भविष्यत्काल में होने वाले मरण लक्षणों को, स्थान के परिवर्तन करके, और अत्यंत सूक्ष्म रीति से प्रयत्न पूर्वक वह देखें, ॥ ३१ ॥

अरिष्टलक्षण

रिष्टान्यपि प्रकृतिदेहनिजस्वभाव-
च्छायाकृतिप्रवरलक्षणवैपरीत्यम्
पंचेंद्रियार्थविकृतिश्च शकृत्कफानां
तोये निमज्जनमथातुरनाशहेतुः ॥ ३२ ॥

भावार्थः—वातपित्तकफप्रकृति, देह का स्वाभाविक स्वभाव, छाया, आकार आदि जब अपने लक्षणसे विपरीतता को धारण करते हैं उसे मरण चिन्ह (रिष्ट) समझना चाहिये। पंचेंद्रियोमें विकार होजाना व मल और कफको पानीमें डालनेपर डूबजाना यह सब उस रोगीके मरणका चिन्ह हैं ॥ ३२ ॥

१—मरण चिन्ह किसी नियत अंग प्रत्यंगो में ही नहीं होता है शरीरके प्रत्येक अवयव में हों सकता है, इसलिये उन को पहिचानने के लिये, एक अंगको छोडकर, दूसरा, दूसरा छोडकर तीसरा अंग, इस प्रकार प्रत्येक स्थान या अंगो को परिवर्तन कर के देखें ॥

रिष्टसूचकदूतलक्षण।

हीनाधिकाविकृतशक्तकृष्णविरूक्षितांगः
सव्याधितः स्वकरधायुधदण्डहस्तः
संध्यासु साश्रुनयनो भयवेपमानो
दूतो भवेदतितरां यमदूतकल्पः ॥ २३ ॥
अश्वैः खरैः रथवरैः करभैः रथान्यैः
प्राप्तः सदा भवति दूतगणोऽतिनिंद्यः
यो वा छिनत्ति तृणमग्रगतो भिनत्ति
काष्ठानि लोष्टमथवेष्टकमिष्टकं वा ॥ २४ ॥
एवंविधं सपदि दूतगतं च रिष्टं
दृष्ट्वातुरस्य मरणैकनिमित्तहेतुम्
तं वर्जयेदिह भिषग्विदितार्थसूत्रः

[शुभदूतलक्षण।]

सौम्यः शुभाम्बरविभूषणधरः स्वजातिः ॥ २५ ॥

भावार्थः—वैद्यको बुलानेकेलिए आनेवाला दूत, हीन या अधिक अंगवाला, रूखा शरीरवाला, एवं बीमार दूत आता हो, जिसके हाथमें तलवार आदि आयुध या दण्ड हों, संध्याकालमें रोते हुए एवं डरते कांपते हुए आता हो उस दूतको रोगीके लिए यम दूतके समान समझना चाहिए। जो दूत घोडा, गधा, हाथी, रथ आदि वाहनोंपर चढकर वैद्यको बुलानेकेलिए आया हो वह भी निंदनीय है। एवं च जो दूत सामने रहनेवाले घास वगैरेको तोडते हुए, एवं लकडी, मट्टीका ढेला, पथ्थर ईंट वगैरहको फोडते हुए आरहा हो वह भी निंद्य है। इस प्रकारके दूतलक्षणगत मरणचिन्हको जानकर रोगीका मरण होगा ऐसा निश्चय करें। तदनंतर सर्वशास्त्रविशारद वैद्य उक्त रोगीकी चिकित्सा न करें। शांत, निर्मलवस्त्रयुक्त रोगीके समानजातियुक्त दूतका आना शुभसूचक है ॥२३॥२४॥२५॥

अशुभशकुन।

उद्वेगसंक्षवथुलग्ननिरोधशब्द—
स्पर्धिसंस्खलितरोषमहोपतापाः
ग्रामाभिघातकलहाग्निसमुद्भवाद्याः
वैद्यैः प्रयाणसमये खलु वर्जनीयाः ॥२६॥

भावार्थ—वैद्य रोगीके घर जानेके लिये जब निकलें तब उद्वेग, छींक, निरोध (बांधो, रोको, बन्दकरो आदि) ऐसे विरुद्ध शब्दोंको सुनना स्पर्धा, स्खलन, क्रोध, महासंताप, ग्राममें

उत्पात, कलह, आगलगना, आदि सब अपशकुन हैं। ऐसे अपशकुनोंको टालना चाहिये तात्पर्य यह है कि ऐसे अपशकुनोंको देखकर निश्चय करना चाहिये रोगी की आयु थोडी रह गई है ॥ ३६ ॥

मार्जारसर्पशशशल्यककाष्ठधारा-
ण्यग्निर्वराहमहिषा नकुलाः शृगालाः
रक्ताः स्रजस्समलिना रजकश्च भाराः
अभ्यागताः सगृतकाः परिवर्जनीयाः ॥ ३७ ॥

भावार्थः—रोगीके घर जाने समय सामने से आनेवाले मार्जार, सर्प, खरगोश, आपत्ति, लकडीका गट्टा, अग्नि, सूअर, भैंस,नोला लोमडी, लालवर्णकी पुष्पमाला, मलिनवस्त्र, व शरीरादि से युक्त मनुष्य अथवा चाण्डाल आदि नीच जातिके मनुष्य धोबीके कपडे, मुर्देके साथ के मनुष्य ये सब अपशकुन हैं ॥ ३७ ॥

शुभशकुन

शांतासु दिक्षु शकुनाः पटहोरुभेरी
शंखांबुदप्रवरवंशमृदंगनादाः
छत्रध्वजा नृपसुतः सितवस्त्रकन्याः
गीतानुकूलमृदुसौरभगंधवाहाः ॥ ३८ ॥
श्वेताक्षताम्बुरुहकुक्कुटनीलकंठा
लीलाविलासललिता वनिता गजेंद्राः
स्वच्छांबुपूरितघटा वृषवाजिनश्च
प्रस्थानपारसमयेऽभिमुखाः प्रशस्ताः ॥ ३९ ॥

भावार्थः—प्रस्थान करते समय वैद्यको सभी दिशायें शांत रहकर पटह, भेरी, शंख, मेघ, बांसुरी, मृदंग आदिके शुभ शब्द सुनाई देरहे हों, सामनेसे छत्र, ध्वजा, राजपुत्र, धवलवस्त्रधारिणीकन्या, शीत अनुकूल व सुगंधि हवा, सफेद अक्षत, कमल, कुक्कुट, मयूर, खेल व विनोदमें मग्न स्त्रियां हाथी व स्वच्छ पानीसे भरा हुआ घडा, बैल, घोडा आदि आवें तो प्रशस्त हैं। शुभशकुन हैं। इनसे वैद्यको विजय होगी ॥३८॥३९॥

एवं महाशकुनवर्गनिरूपितश्रीः
भाष्यातुरं प्रवरलक्षणलक्षितांगम्
दृष्ट्वा विचार्य परमायुरपीह वैद्यो
यातं कियत्कियदनागतमेव पश्येत् ॥ ४० ॥

भावार्थः—इस प्रकारके शकुनोंसे रोगीके भाग्यको निश्चय करके रोगीके पास जाकर उसके सर्व शरीरके लक्षणोको देखें । वह रोगी दीर्घायुषी होनेपर भी वैद्यको उचित है कि वह रोगीकी उमरमें कितने वर्ष तो बीत गये और कितने बाकी रहे इस बातका विचार करें ॥ ४० ॥

सामुद्रिकशास्त्रनुसार अल्पायुमहायुपरीक्षा

यस्याति कोमलतरावतिमांसलौच
स्निग्धावशोकतरुपल्लवपंकजाभौ
नानासुरूपयुतगाढविशालदीर्घ
रेखान्वितावमलिनाविह पाणिपादौ ॥ ४१ ॥

यस्यातिपेशलतरावधिकौच कर्णौ
नीलोत्पलाभनयने दशनास्तथैव
मुक्तोपमा सरसदाडिमबीजकल्पा
स्निग्धोन्नतायतललाटकचैाच यस्य ॥ ४२ ॥

यस्यायताः प्रसितवीक्षण बाहुपृष्टाः
स्थूलास्तथांगुलिनखाननासिकास्स्युः
ह्रस्वा रसेंद्रियगलोदरमेढ्जंघाः
निम्नाश्च संधिवरनाभिनिगूढगुल्फाः ॥ ४३ ॥

यस्यातिविस्तृतमुरस्तनयोर्भ्रुवोर्वा
दीर्घांतरं निभृतगूढशिराप्रतानाः
यस्याभिषिक्तमनुलिप्तमिहोर्ध्वमेव
शुष्येच्छरीरमथ मस्तकमेव पश्चात् ॥ ४४ ॥

आजन्मनः प्रभृति यस्यःहि रोगमुक्तः
कायः शनैश्च परिवृद्धिमुपैति नित्यम्
शिक्षाकलापमपि यस्य मतिः सुशक्ता
ज्ञातुं च यस्य निखिलानि दृढेंद्रियाणि ॥ ४५ ॥

सुस्निग्धसूक्ष्ममृदुकेशचयश्च यस्य
प्रायस्तथा प्रविरलाः तनुरोमकूपाः
यस्येदृशं वपुरनिंद्यसुलक्षणांक
तस्याधिकं धनमतीव च दीर्घमायुः ॥ ४६ ॥

इत्येवंसकलसुलक्षणैः पुमांस्या–
दीर्घायुस्तदपरमर्धमायुरर्धैः

हीनायुर्विदितविलक्षणस्य साक्षा-
त्तत्स्वास्थ्यं प्रवरवयो विचार्यतेऽत्र ॥ ४७ ॥

भावार्थः—जिसके हाथ व पाद अत्यंत कोमल, मांस भरित, स्निग्ध, अशोक के कोंपल या कमलके समान हो एवं अनेक शुभसूचक रेखावोंसे युक्त होकर निर्मल हों, जिसके दोनों कर्ण मनोहर व दीर्घ हैं अत्यधिक मांससे युक्त हैं दोनों नेत्र नीलकमलके समान हैं, दांत मोती या रसपूर्ण अनारदानेके समान हैं, ललाट व केश स्निग्ध, उन्नत व दीर्घ हो, जिसका श्वास व दृष्टि लंबे हैं, बाहु पुष्ट हो, अंगुलि, नख, मुख, नासिका, ये स्थूल हों, रसनेंद्रिय, गला, उदर, शिश्न, जंघा ये हूस्व हों, संधि-व नाभि गढे हुए हों, गुल्फ छिपा हुआ हो, जिसकी छाती अत्यंत विस्तृत हो, स्तन व भ्रूके बीचमें दीर्घ अंतर हो, शिरासमूह बिलकुल छिपा हुआ हो, जिसको स्नान करानेपर या कुछ लेपन करनेपर पहिले मस्तक को छोडकर उर्ध्व शरीर (शरीर के ऊपर का भाग) सूखता हो फिर अधोशरीर एवं अंतमें मस्तक सूखता हो, जन्मसे ही जिसका शरीर रोगमुक्त हो और जो धीरे २ बढरहा हो, जिसकी बुद्धि शिक्षा कला आदिको जान-नेकेलिये सशक्त हो व इंद्रिय दृढ हों, जिसका केश स्निग्ध, बारीक व मृदु हों, एवं जिसके रोमकूप प्रायः दूर २ हों, इस प्रकारके सुलक्षणोंसे युक्त शरीर को जो धारण करता है वह विपुल ऐश्वर्य संपन्न व दीर्घायुपी होता है। इन सब लक्षणोंसे युक्त मनुष्य पूर्ण (दीर्घ) आयुष्यके भोक्ता होता है। यदि इनमेंसे आधे लक्षण पाये गये तो अर्ध आयुष्यका भोक्ता होता है, एवं इनसे विलक्षण शरीरको धारण करनेवाला हीनायुषी होता है, मनुष्यके वय, स्वास्थ्य आदि इन्ही लक्षणोंसे निर्णीत होते हैं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

उपसंहार.

एवं विद्वान्विशालश्रुतजलधिपरंपारमुत्तीर्णबुद्धि-
र्ज्ञात्वा तस्यातुरस्य प्रथमतरमिहायुर्विचार्योर्जितश्रीः
व्याधेस्तत्वज्ञतायां पुनरपि विलसन्निग्रहेचापि यत्नम्
कुर्याद्वैद्यो विधिज्ञः प्रतिदिनममलां पालयन्नात्मकीर्तिम् ॥ ४८ ॥

भावार्थः—इस प्रकार शास्त्रसमुद्रपारगामी विधिज्ञ विद्वान् वैद्य को सबसे पहिले उस रोगीकी आयुको जानकर तदनंतर उसकी व्याधिका परिज्ञान करलेना चाहिये एवं विधि पूर्वक उस रोगकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न करें। इस प्रकार चिकित्सा कर, अपनी कीर्तिकी प्रतिदिन रक्षा करें। ॥ ४८ ॥

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ४९ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है परंतु यह जगतका एक मात्र हित साधक है (इसलिये ही इसका नाम कल्याणकारक है) ॥ ४९ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत
कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षणाधिकारे शास्त्रावतारः
प्रथमः परिच्छेदः

इत्युग्रादित्याचार्य कृत, **कल्याणकारक ग्रंथ** के स्वास्थ्यरक्षणाधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में शास्त्रावतार नामक प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

१ महासंहितायां इत्यधिक पाठमुपलभ्यते, क. पुस्तके ।

अथ द्वितीयः परिच्छेदः ।

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

अशेषकर्मक्षयकारणं जिनं । प्रणम्य देवासुरवृंदवंदितम् ।
ब्रवीम्यतस्स्वास्थ्यविचारलक्षणं । यथोक्तसल्लक्षणलक्षितं बुधैः ॥ १ ॥

भावार्थः—देव व असुरोंके द्वारा पूजित, समस्त कर्मोको नाश करनेके लिये कारण स्वरूप श्री जिनेंद्र भगवानको नमस्कार करें महर्षियों द्वारा कथित लक्षणों से लक्षित स्वास्थ्यका विचार कहेंगे ॥ १ ॥

स्वास्थ्यका भेद।

अथेह भव्यस्य नरस्य सांप्रतं । द्विधैव तत्स्वास्थ्यमुदाहृतं जिनैः ।
प्रधानमाद्यं परमार्थमित्यतो द्वितीयमन्यद्व्यवहारसंभवम् ॥ २ ॥

भावार्थः—भव्यात्मा मनुष्यको जिनेंद्रने पारमार्थिक, व्यवहारके रूपसे दो प्रकारका स्वास्थ्य बतलाया है । उसमें पारमार्थिकस्वास्थ्य मुख्य है व्यवहार स्वास्थ्य गौण है ॥ २ ॥

परमार्थस्वास्थ्यलक्षण।

अशेषकर्मक्षयजं महाद्भुतं । यदेतदात्यंतिकमद्वितीयम् ।
अतींद्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभिः । तदेतदुक्तं परमार्थनामकम् ॥ ३ ॥

भावार्थः—आत्माके संपूर्ण कर्मोके क्षयसे उत्पन्न, अत्यद्भुत, आत्यंतिक व अद्वितीय, विद्वानोंके द्वारा अपेक्षित, जो अतींद्रिय मोक्षसुख है उसे पारमार्थिक स्वास्थ्य कहते हैं ॥ ३ ॥

व्यवहारस्वास्थ्यलक्षण।

समाग्निधातुत्वमदोषविभ्रमो[१] । मलक्रियात्मेंद्रियसुप्रसन्नता ।
मनःप्रसादश्च नरस्य सर्वदा । तदेवमुक्तं व्यवहारजं खलु ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्यके शरीरमें सम अग्निका रहना, सम धातुका रहना, वात आदि विकार न होना, मलमूत्रका ठीक तौरसे विसर्जन होना, आत्मा, इंद्रिय व मनकी प्रसन्नता, रहना ये सब व्यावहारिक स्वास्थ्य का लक्षण है ॥ ४ ॥

१—समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेंद्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते । (वाग्भट)

साम्य विचार

सुसौम्यभावः खलु साम्यमुच्यते । रुचिश्च पाको बलमेव लक्षणम् ।
हितो मिताहारविधिश्च साधनं । बलं चतुर्वर्गसमाप्तिरिष्यते ॥ ५ ॥

भावार्थः—परिणाम में शांति रहना उसे साम्य कहते हैं । आहार में रुचि रहना, पाचन होना, और शक्ति बना रहना, साम्य का लक्षण हैं अर्थात् साम्यका द्योतक है । हित, मित आहार सेवन करना, रुचि आदि के बनाये रखने के लिये साधन हैं । बल से धर्म अर्थ काम मोक्षरूपी चतुर्वर्गोंकी पूर्ति होती है ॥ ५ ॥

न चेदृशस्तादृश इत्यनेकशो । वचोविचारेण किमर्थवेदिनाम् ।
वपुर्बलाकारविशेषशालिनाम् । निरीक्ष्य साम्यं प्रवदंति तद्विदः ॥ ६ ॥

भावार्थः—वह (साम्य)अमुक प्रकार से रहता है, अमुक तरह से नहीं इत्यादि वचनविचारसे तत्वज्ञानियों को क्या प्रयोजन ? शरीरका बल, आकार आदिसे सुशोभित मनुष्यों को देखकर तज्ज्ञ लोग साम्य का निश्चय करते हैं ॥ ६ ॥

प्रकारांतरसे स्वस्थलक्षण

किमुच्यते स्वस्थविचारलक्षणं । यदा गदैर्मुक्ततनुर्भवेत्पुमान् ।
तदैव स स्वस्थ इति प्रकीर्तितस्सुशास्त्रमार्गान्न च किंचिदन्यथा ॥ ७ ॥

भावार्थः—स्वस्थशरीरका लक्षण क्या है ? जब मनुष्य रोगोंसे रहित शरीरको धारण करें उसे ही स्वस्थ कहते हैं । यह आयुर्वेदशास्त्रोंकी आज्ञासे कहा गया है । अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

अवस्था विचार

वयश्चतुर्धा प्रविकल्पितं जिनैः । शिशुर्युवामध्यमवृद्ध इत्यतः ।
दशप्रकारैर्दशकैः समन्वितैः । शतायुरेवं पुरुषः कलौ युगे ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यकी दशा (आयु) चार प्रकारसे विभक्त है । बालक दशा, यौवन-दशा, मध्यम दशा व वृद्ध दशा इस प्रकार चार भेद हैं । एवं सौ वर्षकी पूर्ण आयुमें वह दस दस वर्षमें एक २ अवस्थाको पलटते हुए दस दशावोंको पलटता है । इस प्रकार कलियुगमें मनुष्य प्रायः सौ वर्षकी आयुवाले होते हैं ॥ ८ ॥

अवस्थाओंके कार्य

दशेति बाल्यं परिवृद्धिरुद्धतं । युवत्वमन्यच्च सहैवमेव यत् ।
त्वगस्थिशुक्रामलविक्रमाधिकः । प्रधानबुद्धीद्रिय सन्निवर्तनत् ॥ ९ ॥

१—त्वगक्षि इति पाठांतरं ।

भावार्थ:—पहिली दशा बालक है, उसीकी दशा वृद्ध होकर जवानी दशा होती है, इसी प्रकार और भी दशायें होती है जिनमें त्वचा, हड्डी, वीर्य, बल, बुद्धि व इंद्रिय आदि इन सभी बातोंमें परिवर्द्धन होता है जिनका अलग २ दशामें भिन्न २ रूपसे अनुभव होता है ॥ ९ ॥

अवस्थांतरमें भोजनविचार।

अथास्ति कश्चित्पय एव बालकः। पयोन्नमन्यस्त्वपरः सुभोजनम्।
त्रिधैवमाहारविधिः शिशौ जने। परेषु संभोजनमेव शोभनम् ॥ १० ॥

भावार्थ:—माताके गर्भसे बाहर आनेके बाद बालक सर्व प्रथम केवल माताके दूध पीकर जीता है। आगें वही कुछ मास वृद्धिंगत होनेपर माका दूध और अन्न दोनों को खाता है। इस अवस्थाको भी उल्लंघनकर आगे केवल भोजन करता है। इस प्रकार बालकों में तीन ही प्रकार के आहारक्रम है। बाकीकी दशाओ में (स्वस्थावस्था में) भोजन करना ही उचित है ॥ १० ॥

जठराग्निका विचार।

तथा वयस्थेष्वथवोत्तरेष्वपि। क्रियां सुकुर्याद्भिषगुत्तरोत्तरम्।
विचार्य सम्यक्पुरुषोदरानलं। समत्ववैषम्यमपीह शास्त्रतः ॥ ११ ॥

भावार्थ:—यौवन, मध्यम व वृद्ध दशाको प्राप्त मनुष्यों के भी जठराग्नि सम है? विषम है? या मंद है? इत्यादि बातोंको शास्त्रीयक्रम से अच्छीतरह विचार कर, वैद्य, तद्योग्य चिकित्सा करें ॥ ११ ॥

विकृतजठराग्निके भेद।

अथाग्निरत्रापि निरुच्यते त्रिधा। विकारदोषैर्विषमोऽतितीक्ष्णता।
गुणोपि मंदानिलपित्तसत्कफैः। क्रमेण तेषामिह वक्ष्यते क्रिया ॥ १२ ॥

भावार्थ:—वात आदि दोषों के प्रकोप से, विषमाग्नि, तीक्ष्णाग्नि, मंदाग्नि इस प्रकार विकृत जठराग्नि के तीन भेद शास्त्रो में वर्णित है। अर्थात् वातप्रकोप से विषमाग्नि, पित्तप्रकोप से तीक्ष्णाग्नि, कफप्रकोप से मंदाग्नि होती है, अब इन विकृताग्नियों की चिकित्सा यथाक्रम से कहेंगे ॥ १२ ॥

---

१. **विषमाग्नि**—योग्य प्रमाण से, योग्य आहार खाने पर कभी ठीक तरह से पच भी जाता है कभी नहीं उसें विषमाग्नि कहते हैं,

२ **तीक्ष्णाग्नि**—उपयुक्त मात्रा से या अत्यधिक मात्रा से सेवन किये गये आहार को भी जो आग्नि ठीक तरह से पचा देती है उसे तीक्ष्णाग्नि कहते हैं।

३ **मंदाग्नि**—जो अल्पप्रमाण में खाये गये आहार को भी पचा नहीं सकती उसे मंदाग्नि कहते हैं.।

विषमाग्नि आदि की चिकित्सा

सुबस्तिकार्यैरथ सद्विरेचनैः तथानुरूपैर्वमनैः सनस्यकैः ।
क्रमान्मरुत्पित्तकफप्रपीडिता–निहोदराग्नीनपि साधयेद्भिषक् ॥१३॥

भावार्थः—वात, पित्त, व कफ के द्वारा क्रमसे पीडित उदराग्निको वैद्य बस्तिकार्य, विरेचन, योग्य वमन, व नस्योंसे यथाक्रम चिकित्सा करें ॥१३॥

समाग्नि के रक्षणोपाय।

समाग्निमेवं परिरक्षयेत्सदा । यथर्तुकाहारविधानयोगतः ।
त्रिकालयोग्यैरिह बस्तिभिस्सदा विरेचनैः सद्वमनैश्च बुद्धिमान् ॥१४॥

भावार्थः—त्रिकालयोग्य बस्ति, विरेचन व वमनोंसे एवं ऋतुके अनुसार भोजन प्रयोगसे बुद्धिमान् वैद्य समाग्निकी सदा रक्षा करें ॥१४॥

बलपरीक्षा

कृशोऽपि कश्चिद्बलवान्भवेत्पुमान् । सुदुर्बलः स्थूलतरोऽपि विद्यते
बलं विचार्य बहुधा नृणां भवे–दतीव भारैरपि धावनादिभिः ॥१५॥

भावार्थ—कोई २ मनुष्य कृश दिखनेपर भी बलवान् रहते हैं, कोई मोटे दिखनेपर भी दुर्बल रहते हैं, इसलिये मनुष्योंके शरीरको न देखकर उनको दौडाकर या कोई वजन उठवाकर उनके बलको विचार (परीक्षा) करना चाहिये ॥ १५ ॥

बलकी प्रधानता

बलं प्रधानं खलु सर्वकर्मणामतो विचार्य भिषजा विजानता ।
नरेषु सम्यक् बलवत्तरेष्विह क्रिया सुकार्या सुखसिद्धिमिच्छता ॥ १६ ॥

भावार्थः—सर्व कार्योंके लिये बल ही मुख्य है । इसलिये मतिमान् वैद्य उस बलको पहिले विचार करें । बलवान् मनुष्योंमें किये हुए प्रयोग में ही वह अपनी सफलता की भी आशा रखें अर्थात् चिकित्सा में सफलता प्राप्त करना हो तो बलवान् मनुष्यों की चिकित्सा करें ॥ १६ ॥

बलोत्पत्तिके अंतरंग कारण

स्वकर्मणामोपशमात् क्षयादपि । क्षयोपशम्यादपि नित्यमुत्तमम् ।
सुसत्वमुग्रत्पुरुषस्य जायते । परीषहान्यो सहते सुसत्ववान् ॥ १७ ॥

---

१ योग्य प्रमाण से सेवन किये गये आहार को जो ठीक तरहसे पचाती है उसे समाग्नि कहते हैं ।

भावार्थः—वीर्यांतराय कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे मनुष्यको उत्तम बलकी वृद्धि होती है। वह बलवान् मनुष्य अनेक परीषहोंको सहन करनेमें समर्थ होता है ॥ १७ ॥

बलवान् मनुष्यके लक्षण

स सत्ववान्योऽभ्युदयक्षयेष्वपि । प्रफुल्लसौम्याननपंकजस्थितिः ।
न विध्यते तस्य मनः सुदुस्सहैः क्रियाविशेषैरपि धैर्यमाश्रितम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—उस बलवान् मनुष्यकी संपत्ति आदिके नष्ट होनेपर भी वह अपने धैर्यको नहीं छोडता और उसके मुखकी कांति, शांति वगैरह सभी बातें तदवस्थ रहकर मुख, कमलके समान ही प्रफुल्लित रहता है। दुस्सह क्रियावों के द्वारा उसका मन जरा भी विचलित नहीं होता है ॥ १८ ॥

जांगलादि त्रिविध देश

स जांगलोऽनूपनिजाभिधानवान् । प्रधानसाधारण इत्यथापरः ।
सदैव देशस्त्रिविधः प्रकीर्तितः । क्रमात्त्रयाणामपि लक्षणं ब्रुवे ॥ १९ ॥

भावार्थ—जांगल, अनूप व साधारणके भेदसे देश, तीन प्रकारसे वर्णित है। साधारण देश प्रधान है। अब उन तीनों देशोंके लक्षणको यथाक्रम कहेंगे ॥ १९ ॥

जांगल देश लक्षण

क्वचिच्च रूक्षाः तृणसस्यवीरुधः क्वचिच्च सर्जार्जुनभूर्जपादपाः ।
क्वचित्पलाशासनशाकशाखिनः क्वचिच्च रक्तासितपांडुभूमयः ॥ २० ॥
क्वचिच्च शैलाः परुषोपलान्विताः क्वचिच्च वेणूत्कटकोटराटवी ।
क्वचिच्च शार्दूलवृकर्क्षदुर्मृगाः क्वचिच्च शुष्काः कुनटीः सशर्कराः ॥ २१ ॥
क्वचित्प्रियंगुर्वरकाश्च कोद्रवाः क्वचिच्च मुद्गाश्चणकाश्च शांतनु ।
क्वचित्खराश्वाश्वगवोष्ट्रजातयः । क्वचिन्महाछागगणैः सहावयः ॥ २२ ॥
क्वचिच्च कुग्रामबहिश्च दूरतो । महत्स्वगाधातिभयंकरेषु यत्
सदैव कूपेषु जलं सुदुर्लभं । हरंति यंत्रैरतियत्नतो जनाः ॥ २३ ॥
निजेन तत्रातिकृशास्सिरातताः स्थिराः खरा निष्ठुरगात्रयष्टयः ।
जनास्सदा वातकृतामयाधिकास्ततस्तु तेषामनिलघ्नमाचरेत् ॥ २४ ॥

भावार्थः—जिस देशमें कहीं २ रूक्ष तृण, सस्य व पौधे हों, कहीं सर्ज, अर्जुन व भूर्ज वृक्ष हों, कहीं पलाश, असन वृक्ष (विजय सार) सागवान वृक्ष हों कहीं लाल, काली व सफेद जमीन हों, कहीं कठोर पत्थरोंसे युक्त पर्वत हों, कहीं बांसोंके समूह व वृक्षकोटरसे युक्त जंगल पाये जाते हों, कहीं शार्दूल भेडिया आदि

क्रूर मृग हों कहीं बालू रेत सहित सूखी कुनटी (मनः शिला) का सस्य हों, कहीं प्रियंगु, वरक (जंगली मूंग) कोद्रव आदि सस्य हों, कहीं मूंग, चना, शांतनु (धान्यविशेष) हों, कहीं कहीं खच्चर, घोडा, गाय, ऊंट आदि हों, कहीं बकरे, मेंढे आदि जनावर अधिक हों, कहीं गामके बाहर बहुत दूरमें कूआ हो और वह भी बहुत ऊण्डा हों, उसमें जल भी अत्यंत दुर्लभ हों उनमें से मनुष्य जल बहुत कठिनतासे यंत्रोंकी सहायतासे निकालते हों, एवं जहांपर स्वभावसे ही मनुष्योंका शरीर कृश व सिरासमूह से व्याप्त हों एवं शरीर स्थिर, रूखा, व कठिन रहता हों, उस देशको जांगल देश कहते हैं। वहांके रहनेवाले मनुष्योंमें अधिकतरह वातविकार से उत्पन्न रोग होते हैं, इसलिये वैद्य वातहर प्रयोगों की योजना करें॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

अनूपदेश लक्षण।

य एवमुक्तः स च जांगलस्ततः पुनस्तथानूपविधानमुच्यते।
यथाक्रमाद्यत्र हि शीतलोदका। मही सदा कर्दमदुर्गमा भवेत्॥ २५ ॥
स्वभावतो यत्र महातिकोमलास्तृणक्षुपागुल्मलतावितानकाः
वटा विटंकोत्कटपाटलीद्रुमा। विकीर्णपुष्पोत्करपारिजातकाः॥ २६ ॥
अशोककंकोललवंगकंगुका विलासजातीवरजातिजातयः।
समल्लिका यत्र च माधवी सदा। विलोलपुष्पाकुलमालती लता॥ २७ ॥
महीधरा यत्र महामहीरुहैरलंकृता निर्जरधौतसानवः।
घनाघनाकंपितचंपकद्रुमा। मयूरकेकाकुलचूतकेतकाः॥ २८ ॥
तमालतालीवरनालिकेरकाः क्रमाच्च यत्र क्रमुकावली सदा।
सतालहिंतालवनानुवेष्टिता। ह्रदा नदा स्वच्छजलातिशोभिताः॥ २९ ॥
शरन्नभःखण्डनिभाश्च यत्र स-तटाकवापी सरितस्तु सर्वदा।
बलाकहंसोदयकुक्कुटोच्चलद्विलोलपद्मोत्पलपण्डमण्डिताः॥ ३० ॥
प्रलंबतांबूललताप्रतानकः। समंततो यत्र च शालिमाषकाः।
महेक्षु:[1]वाटापरिवेष्टनोज्वला भवंति रम्या कदलीकदंबकाः॥ ३१ ॥
विपक्वगोक्षीररसमाहिषोज्वलद्दधिप्रभूतं पनसाम्रजांबवम्।
प्रकीर्णखर्जूरसनालिकेरकं गुडाधिकं यत्र:च मृष्टभोजनम्॥ ३२ ॥
सदा जना यत्र च मार्दवाधिकाः ससौकुमार्योज्वलपादपल्लवाः।
अतीव च स्थूलशरीरवृत्तयः कफाधिका वातकृतामयान्विताः॥३३॥
ततश्च तेषां कफवातयोः क्रिया सदैव वैद्यैः क्रियतेऽत्र निश्चितैः
इतीत्थमानूपविधिः प्रकीर्तितः तथैव साधारणलक्षणे कथा॥ ३४ ॥

१—महेक्षुवाटी इतिपाठांतरं

भावार्थः—इस प्रकार जांगल देश का लक्षण कह चुके हैं। अब अनूप देशका लक्षण कहेंगे। अनूप देशमें ठण्डा पानी अधिक होता है। इसलिये वहांकी जमीन सदा कीचडसे युक्त रहती है। जिस देशमें तृण, वृक्ष, गुल्म लता आदि अत्यंत कोमल होते हों, वटवृक्ष, तिंदुकवृक्ष, पाटली (पाढल) वृक्ष, व पुष्प सहित पारिजातक वृक्ष आदि जहां होते हों, अशोक वृक्ष, कंकोल वृक्ष, इलायची वृक्ष, लवंग वृक्ष, कंगु[कांगनी]जाति वृक्ष, मल्लिका (मोतीया भेद) वृक्ष, माधवी लता, पुष्पयुक्त मालती (चमेली) लता आदि हों, जहांके पर्वत वृक्षोंसे अलंकृत हों, और पर्वत तट झरने वगैरहसे युक्त हों, मेघसे कंपित चंपावृक्ष हों, मयूर, केकादि पक्षियोंके शब्दसे युक्त आम व केवडे के वृक्ष हों, जहां तमाखू, ताड नारियल, सुपारी आदिका वृक्ष हों, और ताड, हिंताल आदि वृक्षोंसे युक्त तटवाले एवं स्वच्छ जलसे पूर्ण सरोवर नदी आदि हों, जहांके सरोवर वापी नदी शरत्कालके आकाशके टुकडेके समान मालुम होरहे हों, जो सदा बतक, हंस, जलकुक्कुट व पद्म, नीलकमल आदिके समूहोंसे अलंकृत रहते हों, जहां लंबी २ तांबूल लतायें हों, सर्वत्र धान, उडद आदि हों, बडे २ इक्षु बाटिकाओं के समूहसे युक्त केले व कदंब के वृक्ष हों, जहां गायका दूध, भैंसका दूध व दही से तैयार किया हुआ एवं पनस, आम, खजूररस, नारियल, गुड आदि पदार्थोंको अधिक रूपसे उपयोग कर स्वादिष्ट भोजन किया जाता हो, जहांके मनुष्य विनीत होते हों, जिनके पाद सुकुमारतासे युक्त हो, लाल रहते हों, अतीव स्थूलशरीर व वृत्तिको धारण करनेवाले हों, उस देशको अनूप देश कहते हैं। वहां अधिक कफसे युक्त वातकृत रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये वहांपर कुशल वैद्य सदा कफवातकी चिकित्सा करें। अब साधारण देशका स्वरूप कहा जायगा ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

साधारण देश लक्षण।

न चातिरक्ता नच पाण्डुभासिता। न चातिरूक्षा न च सांद्रभूमयः।
न चातिशीतं नच निष्ठुरोष्णता न चातिवाता न च वृष्टिरद्भुता॥ ३५॥
न चात्र भूभृद्गणना सुराटवी। न चात्र निश्शैलतरावनिर्भवेत्।
न चातितोयं न च निर्जलान्वितं। न चातिचोरा नच दुष्टदुर्मृगाः॥३६॥
सुसस्यमेतत् सुजनाधिकं जगत्। समर्तुकाहारविधानयोगतः।
समाग्निभावान्न च दोषकोपता न चात्र रोगस्तत एव सर्वदा॥ ३७॥
ततश्च साधारणमेव शोभनं यतश्च देशद्वयलक्षणेक्षितम्।
जनास्सुखं तत्र वसंति संततं क्रमात्सुसात्म्यक्रम उच्यतेऽधुना॥ ३८॥

भावार्थः—जिस देशकी भूमि न तो अधिक लाल है और न सफेद है, न अधिक रूक्ष है और न घन है, जहां न तो अधिक शीत है और न भयंकर गर्मी है, न तो अधिक हवा है और न भयंकर बरसात है, न तो बहुत पहाड हैं और न भयंकर जंगल है एवं पहाड़रहित जमीन भी नहीं है, न तो अत्यधिक जल है और न निर्जल-प्रदेश है, न तो अधिक चोर हैं और न दुष्ट क्रूर जानवर हैं जहां सम्पत्ति समृद्धि एवं सज्जनोंकी अधिकता है, जहां ऋतुके अनुकूल आहारके ग्रहण करनेसे एवं समान अग्निके होनेसे दोषोंका विकार नहीं होता है, अत एव सदा रोगकी उत्पत्ति भी नहीं होती, उस देश को साधारण देश कहते हैं । इस देशमें रोगकी उत्पत्ति न होनेसे दोनों प्रकारके देशोंकी अपेक्षा यह साधारण देश ही प्रशस्त है, उस देशमें मनुष्य सुखसे रहते हैं । अब सात्म्यक्रम (शरीरआनुकूल्य) कहाजाता है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

सात्म्य विचार

नरस्य सात्म्यानि तु भेषजानि । प्रधानदेशोदकरोगविग्रहाः ।
यदेतदन्यच्च सुखाय कल्पते । निषेवितं याति विरुद्धमन्यथा ॥ ३९ ॥

भावार्थ—जिनके सेवनसे मनुष्यको सुख होता हो ऐसे औषधि, साधारणदेश जल, रोग, शरीर आदि एवं और भी सुखकारक पदार्थ सात्म्य कहलाते हैं । इनके विरुद्ध अर्थात् जिनके सेवन से दुःख होता हो उसे असात्म्य कहते हैं ॥ ३९ ॥

प्रत्येक पदार्थ सात्म्य हो सकता है ।

यदल्पमल्पं क्रमतो निषेवितं विषं च जीर्णं समुपैति नित्यशः ।
ततस्तु सर्वं न निबाधते नरं दिनैर्भवेत्सप्तभिरेव सात्म्यकम् ॥ ४० ॥

भावार्थ—यदि प्रति नित्य थोडा थोडा विष भी क्रमसे खानेका अभ्यास करें तो विषका भी पचन होसकता है । विषका दुष्प्रभाव नहीं होता है । इसलिये क्रमसे सेवन करनेपर मनुष्यको कोई पदार्थ अपाय नहीं करता । किसी भी चीज को सात दिनतक बरोबर सेवन करें तो [इतने दिनके अंदर ही] वह सात्म्य बनजाता है ॥ ४० ॥

प्रकृति कथन प्रतिज्ञा

इति प्रयत्नाद्वरसात्म्यलक्षणं निगद्य पुंसां प्रकृतिः प्रवक्ष्यते ।
विचार्य सम्यक् सह गर्भलक्षणैः प्रतीतजातिस्मरणादिहेतुभिः ॥ ४१ ॥

भावार्थः—इस प्रकार बहुत यत्न पूर्वक सात्म्य लक्षणको प्रतिपादन कर अब गर्भलक्षण, जातिस्मरण के कारणादिकके विचारसे युक्त मनुष्योंकी प्रकृतियों के संबंधमें कहेंगे ॥ ४१ ॥

ऋतुमती स्त्री के नियम।

यदर्तुकालं वनिता मुनिव्रता। विसृष्टमाल्याभरणानुलेपना।
शरावपत्रांजलिभोजनी दिने। शयीत रात्रावपि दर्भशायिनी ॥ ४२ ॥

भावार्थः—जब स्त्री रजस्वला होजावें तब वह मुनियोंके समान हिंसा आदि पंचापापोंका बिलकुल त्याग करें और मौन व्रत आदि से रहें एवं तीन दिनतक पुष्पमाला, आभरण, सुगंधलेपन आदिको भी छोडना चाहिये। दिनमें वह सरावा, पत्र या अंजुलि से भोजन करें एवं रात्रीमें दर्भशय्या पर सोवें ॥ ४२ ॥

गर्भाधानक्रम।

विवर्जयेत्तां च दिनत्रयं पतिः। ततश्चतुर्थेऽहनि तोयगाहनैः ॥
शुभाभिषिक्तां कृतमंगलोज्वलां। सतैलमुष्णां कृशरान्नभोजनीम् ॥४३॥
स्वयं घृतक्षीरगुडप्रमेलितं–प्रभूतवृष्याधिकभक्ष्यभोजनः।
स्वलंकृतः साधुमना मनस्विनीं। मनोहरस्तां वनितां मनोहरीम् ॥ ४४ ॥
निशि प्रयायात्कुशलस्तदंगनां। सुतेऽभिलाषो यदि विद्यते तयो
प्रपीड्य पार्श्वं वनिता स्वदक्षिणं। शयीत पुत्र्यामितरं मुहूर्तकम् ॥ ४५ ॥

भावार्थः—तीन दिन तक पति उस स्त्रीका संस्पर्श नही करें। चौथे दिनमें वह स्त्री पानीमें प्रवेशकर अच्छीतरह स्नान करलेवें, तदनंतर वस्त्र, आभूषण व सुगंध द्रव्योंसे मंगलालंकार कर, अच्छीतरह भोजन करें जिसमें तैलयुक्त गरम खिचडी वगैरह रहें। पुरुष भी स्वयं उस दिन घी, दूध, शक्कर, गुड, और अत्यधिक वाजीकरण द्रव्यों से संयुक्त, भक्ष्यों को खाकर अच्छीतरह अपना अलंकार करलेवें, फिर रात्रिमें प्रसन्न चित्तसे वह सुंदर पुरुष उस प्रसन्न मनवाली पूर्वोक्त प्रकारसे संस्कृत सुंदरी स्त्रीके साथ संभोग करें। यदि उन दोनोंको पुत्रकी इच्छा है तो संभोग के बाद स्त्री अपने दाहिने बगलसे एक मुहूर्त सोवें, यदि पुत्रीकी इच्छा है तो बांये बगलसे एक मुहूर्त सोवे ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

ऋतुकालमें गृहीतगर्भका दोष

कदाचिदज्ञानतयैवमंगना। गृहीतगर्भा प्रथमे दिने भवेत्
अपत्यमेतन्म्रियते स्वगर्भतो द्वितीयरात्रावपि सूतकांतरे ॥ ४६ ॥
तृतीयरात्रौ म्रियतेऽथवा पुनः सगद्गदांधो बधिरोऽतिमिम्मिनः
स्वभावतः क्रूरतरोऽपि वाऽभवेत् ततश्चतुर्थेऽहनि बीजमावहेत्॥४७॥

भावार्थः—कदाचित् स्त्री पुरुषों के अज्ञानसे उस स्त्रीको रजस्वलाकी अवस्थामें ही यदि पहिले दिन गर्भ धारण कराया जाय तो उससे उत्पन्न बालक गर्भमें ही मर जाता है। यदि दूसरे दिन गर्भ रहा तो उत्पन्न होनेके बाद दस दिनके अंदर मर जाता है। तीसरे दिन गर्भ रहा तो वह या तो जल्दी मर जाता है। यदि जीता रहा तो वह हकला, अंधा, बहिरा, तोतला एवं स्वभावसे अत्यधिक क्रूर होता है। इसलिये चौथे दिनमें ही बीज धारण कराना चाहिये अर्थात् संभोग करना चाहिये ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

गर्भोत्पत्ति क्रम

रजस्वलायां पुरुषस्य यत्नतः क्रमेण रेतः समुपैति शोणितम्
तदा विशत्यात्मकृतोरुकर्मणाप्यनाद्यनंतः कृतचेतनात्मकः ॥ ४८ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकारसे रजस्वला होनेके चौथे दिनमें स्त्रीके साथ यत्नपूर्वक संभोग करें तो पुरुषका वीर्य स्त्रीके रक्तमें (रज) जाकर (गर्भाशयमें) मिलता है। उसी समय यदि गर्भ ठहरनेका योग हो तो वहां अनादि, अनंत, और चैतन्य स्वरूपी आत्मा अपने पूर्वकर्म वश प्रवेश करता है ॥ ४८ ॥

जीवशब्दकी व्युत्पत्ति

स जीवतीहेति पुनः पुनश्च वा स एव जीविष्यति जीवितः पुरा ।
ततश्च जीवोऽयमिति प्रकीर्तितो विशेषतः प्राणगणानुधारणात् ॥ ४९ ॥

भावार्थः—वह शरीरादि प्राणोंको पाकर जीता है, पुनः पुनः भविष्यमें भी जीयेगा भूतकालमें जी रहा था इसलिये जीवके नाम से वह आत्मा कहा जाता है ॥ ४९ ॥

मरणस्वरूप।

मनोवचः कायबलेंद्रियैस्सह प्रतीतनिश्वासनिजायुषान्वितः ।
दशैव ते प्राणगणाः प्रकीर्तितास्ततो वियोगः खलु देहिनो वधः ॥ ५० ॥

भावार्थः—मनोबल, वचनबल, कायबल इस प्रकार तीन बलप्राण, स्पर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय, चक्षुरिंद्रिय व श्रोत्रेंद्रिय इस प्रकार पांच इंद्रियप्राण एवं श्वासोच्छ्वास व आयु प्राण, इस प्रकार प्राणियोंको कुल दश प्राण हैं। जिनके वियोग से प्राणियोंका मरण होता है ॥ ५० ॥

शरीरवृद्धिकेलिए षट्पर्याप्ति।

ततस्तदाहारशरीरविश्रुतस्वकेंद्रियोच्छ्वासमनोवचांस्यपि ।
प्रधानपर्याप्तिगणास्तु वर्णिता यथाक्रमाज्जीवशरीरवृद्धये ॥ ५१ ॥

१—इन प्राणोंके रहनेपर जीव जिन्दा कहलाता है।

भावार्थः—तदनंतर उन यथासंभव प्राणोंको प्राप्त जीवको आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास मन व वचन इस प्रकारकी छह पर्याप्ति कही गई हैं जो क्रमसे जीवके लिए शरीर वृद्धिके कारण हैं ॥ ५१ ॥

शरीरोत्पत्तिं में पर्याप्तिकी आवश्यकता।

सशुक्ररक्तं खलु जीवसंयुतम् क्रमाच्च पर्याप्तिविशेषसद्गुणान् ।
मुहूर्तकालादधिगम्य पड्विधानुपैति पश्चादिह देहभावताम् ॥ ५२ ॥

भावार्थः—जीवयुक्त रजोवीर्य का वह पिण्ड क्रम से छह पर्याप्तियोंको अंतर्मुहूर्तसे प्राप्तकर तदनंतर वही शरीरके रूप को धारण करलेता है ॥ ५२ ॥

गर्भ में शरीराविर्भावक्रम

(चंपक मालिका)

अथ दशरात्रतः कललतामुपयाति निजस्वभावतो ।
दशदशभिर्दिनैः कलुषतां स्थिरतां व्रजतीह कर्मणा ।
पुनरपि बुद्बुदत्वघनता भवति प्रतिमासमासतः ।
पिशित[1]विशालता च बहिकृत स हि पंचमासतः ॥ ५३ ॥
अवयवसंविभागमधिगच्छति गर्भगतो हि मासतः ।
पुनरपिचर्मणा नखांगरुहोद्गम एव मासतः ।
सशुपिरमुत्तमांगमुपलभ्य मुहुः स्फुरणं च मासतो ।
नवदशमासतो निजनिजविनिर्गमनं विकृतीस्ततोऽन्यथा ॥ ५४ ॥

भावार्थः—गर्भ ठहरने के बाद दश दिनमें वह कलल के रूपमें बनजाता है। फिर दस दिनमें वह गंदले रूपमें बनजाता है, फिर दस दिनमें वह स्थिर हो जाता है। पुनः एक महीनेमें बुदबुदेके समान और एक महीने में कुछ कठोर बनजाता है। इस प्रकार अपने कर्मके अनुसार उसमें क्रमसे वृद्धि होकर पांचवा महीने में बाहर की ओरसे मांसपेशियां विशाल होने लगती हैं। तदनंतर एक (छठवा) महीनेमें उस बालकका अवयव विभाग की रचना होती है एवं फिर एक (सात्वां) मासमें चमडा, नख व रोमोंकी उत्पत्ति होती है। तदनंतर एक [आठवां] महीनेमें मस्तकका रंध्र ठीक २ व्यक्त होकर स्फुरण होने लगता है। नौ या दसवें महीने में वह बालक या बालकीरूप संतान बाहर निकलती है। दस महीनेके अंदर वह गर्भ बाहर न आवे तो उस का विकार समझना चाहिये ॥५३॥५४॥

१—**विशित विशालताच्च बलिकृतकाश्च हि पंचमासतः** इति पाठांतरं।

गर्भस्थ बालककी पोषणविधि ।

निजरुचितामपक्वमलाशयमध्यमगर्भसंस्थितः ।
सरसजरायुणा परिवृतो बहुलोग्रतमेन कुंठितः ।
प्रतिदिनमंबिकादशनचर्वितभक्ष्यभोज्यपानका-
न्युपरि निरंतरं निपतितान्यतिपित्तकफाधिकान्यलम् ॥ ५५ ॥
विरसपुरीषगंधपरिवासितसंतरसान्समंततः ।
पिबति विभिन्नपार्श्वघटवत्कुणपोऽम्बुयुतो घटस्थितः ।
अभिहितसप्तमासतस्तदनंतरमुत्पलनालसंनिभं ।
भवति हि नाभिसूत्रमगुना तत उत्तरमश्नुते रसान् ॥ ५६ ॥
इति कथितक्रमाद्धिनीतवृद्धिमनेकविघ्नतः ।
समुदितमातुरंगपरिपीडनमुग्रमुदीरयन्पुनः ।
प्रभवति वा कथंचिदथवा म्रियते स्वयमंबिकापि वा-
मनुजभवे तु जन्मसदृशं न च दुःखमतोऽस्ति निश्चितम् ॥ ५७ ॥

भावार्थः—वह गर्भगत बालक स्वभाव से आमाशय पक्वाशय व मलाशय के बीचमें स्थित गर्भाशय में रसयुक्त जरायुके द्वारा ढका हुआ होकर अत्यंत अंधकार से कुंठित रहता है। प्रतिनित्य माता जो कुछ भी भक्ष्य, भोजन व पान द्रव्य आदियों को दांतों से चाबकर खाती है, उससे बना हुआ पित्त व कफाधिक रस एवं नीरस, मलके दुर्गंधसे परिवासित, अंतस्थित रसों को, चारों तरफसे पीता है, जैसे पानीके घडेमें रखा हुआ मुर्दा चारों तरफ से पानीको ग्रहण करता हो। (इस आहारसे गर्भगत बालक सात महीने तक वृद्धि को प्राप्त होता हैं)। सात महीने होनेके बाद उस बालककी नाभि स्थानसे कमल नालके समान एक नाल बनता है वह माता के हृदयसे सम्बंधित होता है। तदनंतर वह उसी नालसे रस आदिका ग्रहण करता है। इस उपर्युक्त क्रमसे अनेक विघ्न व कष्टोंके साथ गर्भगत बालक वृद्धिको प्राप्त होता है। जिस बीचमें माताको उग्र अंगपीडा आदि उत्पन्न करता है। ऐसा होकर भी कभी वह सुखसे उत्पन्न हो जाता है, कभी २ मरजाता है, इतना ही नही, कभी २ माताका भी प्राण लेकर चला जाता है। इस लिये मनुष्य भवमें आकर जन्म लेनेके समान दुःख लोकमें कोई दूसरा नहीं, यह निश्चित है। ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

कर्मकी महिमा।

अशुचिपुरीषमूत्ररुधिरस्रावगुह्यमलप्रदिग्धता ।
निष्ठुरतरविस्रपूतिबहुमिश्रितरोमचयातिदुर्गमम् ।
सुषिरमधोमुखं गुदसमीपविवर्ति निरीक्षणासहं
कथयितुमप्ययोग्यमधिगच्छति कर्मवशात्सगर्भजः ॥ ५८ ॥

भावार्थः—वह गर्भगत बालक अपने कर्मवश ऐसे स्थानसे बाहर निकलता है जो कि कहनेके लिए भी अयोग्य है। जहां अत्यंत अशुचि मल, मूत्र, रक्त आदियोंका स्राव होता रहता है। गुह्य मलसे लिपा हुआ होनेके कारण जिसमें अत्यधिक दुर्गंध आता है, वहुत से रोम जिसमें है, देखने व जाननेके लिए अत्यंत घृणित है, असहनीय है, गुदस्थानके विलकुल पासमें है, जिसके मुख नीचे की तरफ रहता हैं। ऐसे अपवित्र रंध्र स्थान को भी कर्मवशात् बालक प्राप्त करता है॥ ५८॥

शरीरलक्षणकथन प्रतिज्ञा।

प्रतीतमित्थं वरगर्भसंभवं निगद्य यत्नादुरुशास्त्रयुक्तितः।
यथाक्रमादस्य शरीरलक्षणं प्रवक्ष्यते चारु जिनेंद्रचोदितम्॥ ५९॥

भावार्थः—इस प्रकार लोकमें प्रसिद्ध गर्भोत्पत्तिके संबंधमें अत्यंत यत्नके साथ शास्त्र व तदनुकूल युक्तिसे प्रतिपादन कर अब जिनेंद्रभगवंत के कथनानुसार क्रमसे उसके शरीरलक्षणका प्रतिपादन (अगले अध्यायमें) कियाजायगा॥ ५९॥

अंतिमकथन।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः।
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ ६०॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथमे जगतका एक मात्र हित साधक है [इसलिये ही इसका नाम कल्याणकारक है]॥ ६०॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षणाधिकारे गर्भोत्पत्तिलक्षणं नाम द्वितीयः परिच्छेदः।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्य कृत कल्याणकारक ग्रंथ के स्वास्थ्यरक्षणाधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में गर्भोत्पत्तिलक्षण नामक **द्वितीय परिच्छेद** समाप्त हुआ।

—×*×—

अथ तृतीयः परिच्छेदः ।

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

सिद्धं महासिद्धिसुखैकहेतुं श्रीवर्धमानं जिनवर्द्धमानम् ।
नत्वा प्रवक्ष्यामि यथोपदेशाच्छरीरमाद्यं खलु संविदानम् ॥१॥

भावार्थः—जो सिद्धगतिको प्राप्त हुए हैं सिद्ध [मोक्ष] सुखके लिये एकमात्र कारण हैं, जिनकी अंतरंग बहिरंग श्री बढी हुई है, ऐसे श्रीवर्द्धमान भगवंतको नमस्कार कर, सबसे पहिले गुरूपदेशानुसार शरीरके विषयमें कहेंगे ॥ १ ॥

अस्थि, संधि, आदिककी गणना

अस्थीन्यथ प्रस्फुटसंधयश्च स्नायुश्शिराविस्तृतमांसपेश्यः ।
संख्याक्रमात्त्रिस्त्रिनवप्रतीतं सप्तापि पंच प्रवदेच्छतानि ॥ २ ॥

भावार्थः—इस मनुष्य शरीरमें तीनसौ अस्थि [हड्डी] हैं, तीनसौ संधि[जोड] और स्नायु (नसें) नौ सौ हैं। सात सौ शिरायें [बारीक रगे] हैं और पांच सौ मांस पेशी हैं ॥२॥

धमनी आदिकी गणना ।

नाभेः समंतादिह विंशतिश्च तिर्यक्चतस्रश्च धमन्य उक्ताः ।
नित्यं तथा षोडश कंदराणि रिक्तां च कूर्चानि षडेवमाहुः ॥ ३ ॥

भावार्थः—नाभिके ऊपर और नीचे जानेवाली धमनी (नाडी) वीस हैं अर्थात् ऊपर दस गयी हैं, नीचे दस गयी हैं। और इधर उधर चार [तिर्यक् रूपसे] धमनी रहती हैं। इस प्रकार धमनी चव्वीस हैं। सोलह कंदरा [मोटी नसें] हैं। कूर्च [कुंचले] छह हैं ॥ ३ ॥

---

१ यहां तीनसौ हड्डी, और तीन सौ संधि बतलायी गयी हैं। लेकिन जितनी हड्डी हैं उतनी ही संधि कैसे हो सकती हैं? क्योंकि दो हड्डियों के जुडने पर एक संधि होती है। इसलिये अस्थि संख्या से, संधियोंकी संख्या कम होना स्वाभाविक है। सुश्रुत में भी ३०० अस्थि २१० संधि बतलायी गई हैं। यद्यपि हमें प्राप्त तीन प्रतियोंमे भी "त्रि त्रि नवप्रतीतं" यही पाठ मिलता है। तो भी यह पाठ अशुद्ध मालूम होता है। यह लिपिकारोंका दोष मालूम होता है।

२—सुश्रुतसंहिता में "नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश दश चाधोगामिन्यश्चतस्रस्तिर्यग्गाः" इस प्रकार चव्वीस धमनियोंका वर्णन है। इसलिये "समंतात्" शब्द का अर्थ चारों तरफ, ऐसा होनेपर भी यहां ऊपर और नीचे इतना ही ग्रहण करना चाहिये। इसी आशय को आचार्य प्रवरने स्वयं, "तिर्यक्चतस्रश्च धमन्य उक्ताः" यह लिखकर व्यक्त किया है। अन्यथा समंतात् से तिर्यक् भी ग्रहण हो जाता है।

मांसरज्जु आदि की गणना।

द्वे मांसरज्जु त्वच एव सप्त। स्रोता तथाष्टौ च यकृत्प्लिहाःस्युः।
आमोरुपक्वाशयभूत नित्यं। स्थूलांत्रपंक्तिः खलु षोडशैव ॥ ४ ॥

भावार्थ—मांसरज्जु (बांधनेवाली मांसरज्जु) दो हैं। त्वचा [चर्म] सात हैं। स्रोत आठ हैं। एवं यकृत् व (जिगर) प्लिहा (तिल्ली) एक एक हैं। तथा एक आमाशय (खाया हुआ कच्चा अन्न उतरनेका स्थान जिसको मेदा भी कहते हैं) और पक्वाशय (अन्नको पकाने वाला स्थान) के रूप में रहनेवाली स्थूल (बृहद्) आंतडियों की पंक्ति सोलह हैं ॥ ४ ॥

मर्मादिककी गणना।

सप्तोत्तरं मर्मशतं प्रदिष्टं। द्वाराण्यथात्रापि नवैव देहे।
लक्षण्यशीतिश्च हि रोमकूपा। दोषात्रयस्थूणविशेषसंज्ञाः ॥ ५ ॥

भावार्थः—शरीर में एकसौ सात १०७ मर्म[1] हैं। नौद्वारे[2] (दो आंख में, दो नाक में, दो कान में, एक मुंह में, एक गुदा में और एक लिंग में) हैं, अस्सीलाख रोम कूप (रोमोंके छिद्र) हैं। एवं स्थूण ऐसा एक विशेषनाम को धारण करनेवाले (वात, पित्त, कफ, नामक) तीन दोष हैं ॥ ५ ॥

दंत आदिक की गणना।

द्वात्रिंशदेवात्र च दंतपंक्तिः। संख्या नखानामपि विंशतिः स्यात्।
मेदः सशुक्रं च समस्तुलुंग। प्रत्येकमेकांजलिमानयुक्तम् ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस शरीरमें दांत बत्तीस ही रहते हैं अधिक नहीं, नखोंकी संख्या भी बीस है। मेद शुक्र व मस्तुलुंग इनके प्रत्येकके प्रमाण[3] एक २ अंजली है॥ ६ ॥

वसा आदिकका प्रमाण।

सम्यक्त्रयोऽप्यंजलयो वसायाः। पित्तं कफश्च प्रसृतिश्च[4] देहे।
प्रत्येकमेकं षडिह प्रदिष्टा। रक्तं तथार्धाढकमात्रयुक्तम्[5] ॥ ७ ॥

१—जिस स्थान पर, चोट आदि लगने से (प्रायः) मनुष्य मर जाता है उस स्थान विशेष को मर्म कहते हैं।

२—मल आदि के बाहर व अंदर जाने का मार्ग. (सूराक, वा छिद्र,)

३—मेद आदि के जो प्रमाण यहां कहा है और आगे कहेंगे वह उत्कृष्ट प्रमाण है अर्थात् अधिकसे अधिक (स्वस्थ पुरुषके शरीरमें) इतना हो सकता है। इसलिये स्वस्थ पुरुष व व्याधिग्रस्त के शरीर में इस प्रमाण में से घट बढ भी हो सकता है।

४—प्रसृति—८ तोले. ५. आढक—२५६ तोले.

भावार्थः—इस शरीरमें वसा [चर्बी] तीन अंजलि प्रमाण रहती हैं। पित्त और कफ प्रत्येक छह २ प्रसृति प्रमाण रहता हैं एवं रक्त अर्ध आढक प्रमाण रहता है ॥७॥

मूत्रादिक के प्रमाण

मूत्रं तथा प्रस्थपरिप्रमाणं । मध्येऽर्धमप्याढकमेव वर्चः ।
देहं समावृत्य यथाक्रमेण । नित्यं स्थिता पंच च वायवस्ते ॥ ८ ॥

भावार्थः—शरीरमें मूत्र एक प्रस्थ प्रमाण रहता है। और मल अर्ध आढक रहता है, एवं देहमें व्याप्त होकर पांच प्रकारके वायु रहते हैं ॥ ८ ॥

पांचप्रकारके वात

प्राणस्तथापानसमानसंज्ञौ । व्यानोऽप्यथोदान इति प्रदिष्टः ।
पंचैव ते वायव एव नित्य-माहारनीहारविनिर्गमार्थाः ॥ ९ ॥

भावार्थः—देहमें प्राण वायु, अपानवायु, समानवायु, व्यानवायु व उदान वायुके नामसे पांच वायु हैं। जो आहारको पचाने अंदर लेजाने आदि काम करती हैं। एवं नीहार [मलमूत्र] के निर्गमनके लिये भी उपयोगी होती हैं ॥ ९ ॥

मलनिर्गमन द्वार

अक्षिण्यथाश्रूत्कटचिक्कणं च । कर्णे तथा कर्णज एव गूथः ।
निष्ठीवसिंहाणकवातपित्तजिह्वाद्विजानां मलमाननेऽस्मिन् ॥ १० ॥

भावार्थः—आखोंसे आंसू व चिकना अक्षिमल, कानोंसे कर्णमल निकलता है, इसी प्रकार थूक, सिंघाण, वात, पित्त, जिह्वामल व दंतमल इस प्रकार मुखसे अनेक प्रकारके मल निकलते हैं ॥ १० ॥

सिंहाणकश्चैव हि नासिकायां नासापुटे तद्भव एव गूथः ।
मूत्रं सरेतः सपुरीषरक्तं स्रवत्यधस्ताद्विवरद्वये च ॥ ११ ॥

भावार्थः—सिंघाण नामक मल ही नाक से निकलता है। नाकके रंध्रमें उसी सिंघाणसे उत्पन्न शुष्कमल निकलता है। तथा नीचेके दो रंध्रोंसे वीर्य व मूत्र, एवं मल व रक्त का स्राव होता है ॥ ११ ॥

शरीरका अशुचित्व प्रदर्शन

एवं स्रवद्भिन्नघटोपमानो देहो नवद्वारगलन्मलाढ्यः ।
स्वेदं वमत्युत्कटरोमकूपैर्यूकासलिक्षाष्टपदाश्च तज्जाः ॥ १२ ॥

१—प्रस्थ–६४ तोले.

भावार्थः—इस प्रकार यह शरीर फूटे घडेके समान है जिसमें सदा रात्रिंदिन नव द्वारसे मल गलता रहता है। एवं रोमकूपोंसे पसीना वहता रहता है जिसमें अनेक जूं, आदि छोटे २ जीव पैदा होते हैं ॥ १२ ॥

धर्मप्रेम की प्रेरणा

इत्थं शरीरं निजरूपकष्टं कष्टं जरात्वं मरणं वियोगः ।
जन्मातिकष्टं मनुजस्य नित्यं तस्माच्च धर्मं मतिमत्र कुर्यात् ॥१३॥

भावार्थः—इस प्रकार यह शरीर स्वभावसे ही कष्ट (अशुचि) स्वरूप है। उसमें बुढापा, मरण व इष्ट वस्तुवोंका वियोग आदि और भी कष्ट हैं; जन्म लेना महाकष्ट है। इस प्रकार मनुष्यको चारों तरफ से कष्ट ही कष्ट है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह सदा धर्मकार्यमें प्रवृत्ति करें ॥ १३ ॥

जातिस्मरण विचार।

एवं हि जातस्य नरस्य कस्यचित् । जातिस्मरत्वं भवतीह किंचित् ।
तस्माच्च तल्लक्षणमत्र सूच्यते । जन्मांतरास्तित्वनिरूपणाय तत् ॥ १४ ॥

भावार्थः—इसप्रकार (पूर्वोक्त क्रमसे) उत्पन्न मनुष्योंमें किसी २ को कभी २ जातिस्मरण होता है। इसलिये उसका लक्षण यहां कहा जाता है जिससे पूर्वजन्म व परजन्मका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा ॥ १४ ॥

जातिस्मरणके कारण।

प्राणांतिके निर्मलबुद्धिसत्वता । शास्त्रज्ञताधर्मविचारगौरवम् ।
वक्रेतरप्राप्तिविशेषणोद्भवो । जातिस्मरत्वे स्युरनेकहेतवः ॥ १५ ॥

भावार्थः—प्राण जाते समय (मरण समय) बुद्धि और मन में नैर्मल्य रहना, शास्त्रज्ञानका रहना, धार्मिक विचार की प्रवलता का रहना, ऋजु गतिसे जन्मस्थानमें उत्पन्न होना, सरल परिणामकी प्राप्ति आदि जातिस्मरण के लिये अनेक कारण होते हैं ॥१५॥

जातिस्मरणलक्षण।

श्रुत्वा च दृष्ट्वा च पुरा निषेवितान् । स्वप्नाद्भयात्तत्सदृशानुमानतः ।
साक्षात्स्वजातिं परमां स्मरंति तां । कर्मक्षयादौपशमाच्च देहिनः ॥ १६ ॥

भावार्थः—पहिलेके जन्ममें अनुभव किये हुए विषयोंको सुनकर या देखकर, एवं स्वप्न व भय अवस्थामें तत्सदृश पदार्थोंको देखकर उत्पन्न, तत्सदृश अनुमानसे तथा मति ज्ञानावरणीय कर्मके क्षय, उपशम व क्षयोपशमसे मनुष्य अपने पूर्वभव संबंधी विषयोंको साक्षात् स्मरण करता है उसे जातिस्मरण कहते हैं ॥ १६ ॥

प्रकृतिकी उत्पत्ति

निर्दिश्य जातिस्मरलक्षणत्वं वक्ष्यामहे सत्प्रकृतिं यथाक्रमात् ।
रक्तान्विते रेतसि जीवसंचरे दोषोत्कटोत्था प्रकृतिर्नृणां भवेत् ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार जातिस्मरणके लक्षणको निरूपण कर अब मनुष्यके शरीरकी वातपित्तादि प्रकृति के विषय में, वर्णन करेंगे । यथाक्रम गर्भाशयस्थ, रज और वीर्यमिश्रित पिण्डमें जिस समय जीवका संचार (जीवोत्पत्ति) होता है, उसी समय, उस जीवसंयुक्त पिण्ड में जिस दोष की अधिकता हो, उसी दोष की प्रकृति बनती है । यदि उस पिण्ड में पित्तका आधिक्य हो तो, उस से उत्पन्न संतान की पित्त प्रकृति होती है । इसी तरह अन्य प्रकृतियों को जानना । यदि तीनों दोष समान हों तो सम-प्रकृति बनती है ॥ १७ ॥

वात प्रकृतिके मनुष्यका लक्षण ।

वातोद्भवा या प्रकृतिस्तया नरः शीतातिविद्विट् परुषः सिरान्वितः ।
जागर्ति रात्रौ सततं प्रलापवान् दौर्भाग्यवान् तस्करवृत्तिरप्रियः ॥ १८ ॥
मात्सर्यवानार्यविवर्जितो गुणै । रूक्षाल्पकेशो नखदंतभक्षकः ।
रोगाधिकस्तूर्णगतिः खलोऽस्थिरो निरस्तसौहृदो धावति गायकस्सदा ॥१९॥
साक्षात्कृतघ्नः कृशनिष्ठुरांगः संभिन्नपादो धमनीसनाथः ।
धैर्येण हीनोऽस्थिरबुद्धिरल्पः स्वप्ने च शैलाग्रनभोविहारी ॥ २० ॥

भावार्थः—वात प्रकृति का मनुष्य शीतद्वेषी, अधिक व कठिन सिरावोंसे युक्त होता है, रात्रिमें (विशेष) जागता है व सदा बडबड करता रहता है एवं वह भाग्य-हीन, चोर व दुनियाको अप्रिय, मत्सरी सज्जनों के गुणों से रहित, रूक्ष व अल्पकेश सहित, नख व दंत को भक्षण करनेवाला, अधिक रोगसे पीडित, फुर्तीसे चलनेवाला, दुर्जन, अस्थिर व जिसका कोई मित्र नहीं होते, विशेष दौडने वाला एवं हमेशा गानेवाला होता है । एवं साक्षात् कृतघ्न, कृश व निष्ठुर (खरदरापन आदि लिये हुए) शरीरवाला होता है और जिसके दोनों पाद फटे रहते हैं । अधिकधमनिसे व्याप्त रहता है । धैर्य रहित अस्थिर, व अल्प बुद्धिवाला होता है । तथा स्वप्न में पर्वत के अग्रभाग व आकाश में विहार करता है अर्थात् पर्वताग्रभाग व आकाश में गमन करने का स्वप्न देखता है ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

पित्तप्रकृतिके मनुष्यका लक्षण

पित्तोद्भवायाः प्रकृतेः सकाशात् । क्रोधाधिकस्तीक्ष्णतरः प्रगल्भः ।
सस्वेदनः पीतसिरावितानः । यतः प्रियस्ताम्रतरोष्ठतालुः ॥ २१ ॥
मेधान्वितः शूरतरोऽप्रधृष्यो । वाग्मी कविर्वाचकपाठकः स्यात् ।
शिल्पप्रवीणः कुशलोऽतिधीमान् । तेजोऽधिकः सत्यपरोऽतिसत्वः ॥ २२
पीतोऽतिरक्तः शिथिलोष्णकायो । रक्तांबुजौपम्यकरांघ्रियुग्मः ।
क्षिप्रं जरार्तः खलतामस्पृष्टः सौभाग्यवान् संततभोजनार्थी ॥ २३ ॥
स्वप्ने सुवर्णाभरणानि पश्ये । द्गुंजास्रजोऽलक्तकमांसवर्गान् ।
उल्काशनिभस्फुरदग्निराशीन् । पुष्पोत्करान् किंशुककर्णिकारान् ॥ २४ ॥

भावार्थः—पित्त प्रकृतिका मनुष्य क्रोधी, तिक्ष्ण बुद्धीवाला, चतुर, पसीनायुक्त, पीतवर्णकी सिरायुक्त, प्रिय, लालओष्ठ व तालुसे युक्त, बुद्धिमान्, शूर, अभिमान या धिटाईसे युक्त, वक्ता, कवि, वाचक, पाठक, शिल्पकलामें प्रवीण, कुशल, अत्यधिक विद्वान्, पराक्रमी, सत्यशील, बलवान्, पीत, रक्त, शिथिल व उष्ण कायको धारण करनेवाला, लाल कमलके समान हाथ पैरको धारण करनेवाला, जल्दी बुढापेसे पीडित, खलित्व [बालोंका उखड जाना] रोग से पीडित, सौभाग्यशाली, सदा भोजनेच्छु हुआ करता है एवं स्वप्नमें सुवर्ण निर्मित आभरण, घुंघुची का हार, लाक्षारस, मांस वगैरह, उल्कापात, बिजली, तथा प्रज्वलित अग्निराशि, किंशुक, (पलाश) कार्णिकार [ढाक] (कनेर) आदि लालवर्ण वाले पुष्प समूहोंको देखता है ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

कफप्रकृति के मनुष्यका लक्षण !

श्लेष्मोद्भवायाः प्रकृतेर्नरः स्यान्मेधाधिकः स्थूलतरः प्रसन्नः ।
दूर्वांकुरश्यामलगात्रयष्टिर्मर्त्यः कृतज्ञः प्रतिबद्धवैरः ॥ २५ ॥
श्रीमान् मृदंगांबुदसिंहघोषः स्निग्धः स्थिरः सन्मधुरप्रियश्च ।
माधुर्यवीर्याधिकधैर्ययुक्तः कांतः सहिष्णुर्व्यसनैर्विहीनः ॥ २६ ॥
शिक्षाकलावानपि शीघ्रमेव ज्ञातुं न शक्तः सुभगः सुनेत्रः ॥
हंसाढ्यपद्मोत्पलषण्डवापीस्रोतस्विनीः पश्यति संप्रसुप्तः ॥ २७ ॥

भावार्थः—कफ प्रकृतिके मनुष्यको बुद्धि अधिक होती है । वह मोटा प्रसन्न चित्तयुक्त, दर्भ के अंकुर के समान सांवलावर्णवाला, कृतज्ञ, दूसरोंके साथ बद्धवैर, श्रीमंत, मृदंग, मेघ व सिंहके समान (कण्ठस्वर) शब्दयुक्त, स्नेही, स्थिरचित्त,

१—गुंजा, इति पाठांतरं ॥

मीठे पदार्थोंका प्रेमी, माधुर्यगुणसे युक्त, वीर, धीर, मनोहर, सहिष्णु पुरुष, दु:ख, शीत, उष्ण आदि को सहन करनेवाला, व्यसनरहित, शिक्षाकलाओंमें कुशल, (इनमें प्रवीण) शीघ्र जाननेमें असमर्थ अर्थात् गम्भीर, सुंदर शरीर धारक, सुंदरनेत्री, होता है, और स्वप्न में हंस पक्षी, पद्म, नीलकमल, युक्त, वापी (कूआ) व नदीको देखता है ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

क्षेत्रलक्षण कथन-प्रतिज्ञा ।

इत्थं लसत्सत्प्रकृतिं विधाय । वक्ष्यामहे भेषजलक्षणार्थम् ।
सुक्षेत्रमक्षूणगुणप्रशस्तम् । श्वभ्रात्मवल्मीकविषैर्विहीनम् ॥ २८ ॥

भावार्थः—इस प्रकार प्रकृति लक्षणका निरूपण कर अब औषध ग्रहण करने के लिये योग्य श्रेष्ठगुण युक्त, छिद्र, नरककुण्डसदृश वामी व विषरहित प्रशस्त क्षेत्रका वर्णन करेंगे ॥ २८ ॥

औषधिग्रहणार्थ अयोग्य क्षेत्र ।

देवालयं प्रेतगणाधिवासं । शीतातपात्यंतहिमाभिभूतम् ।
तोयावगाढं विजलं विरूपं । निस्साररूक्षक्षुपवृक्षकल्पम् ॥ २९ ॥
क्षेत्रं दरीगुह्यगुहाप्रभूतं । दुर्गंधसांद्रं सिकतातिगाढम् ।
वर्ज्यं सदा नीलसितातिरक्तं । भस्माभ्रकापोतकनिष्ठवर्णैः ॥ ३० ॥

भावार्थः—देवालय भूतप्रेतादि के निवास भूमि (स्मशान आदि) अत्यंत शीतप्रदेश, अत्यंत उष्ण प्रदेश अत्यंत हिमयुक्त प्रदेश, अत्यधिक जलयुक्त प्रदेश, निर्जल, विरूप प्रदेश, निस्सार रूक्ष, क्षुद्रवृक्षों के समूहसे युक्त, ऐसे पर्वत, पर्वतोंके अत्यधिक गुह्य (अंधकारमय) गुफा, दुर्गंध से युक्त, अधिक बालू रेत सहित, नील, सफेद, अत्यंत लालवर्ण, भस्मवर्ण, आकाशवर्ण व कबूतरका वर्ण आदि नीच वर्णोंसे युक्त क्षेत्र औषध ग्रहण करने के लिये आयोग्य हैं अर्थात् ऐसे प्रदेशोंमें उत्पन्न औषध ग्राह्य नहीं हो सकता है ॥ २९ ॥ ३० ॥

औषधग्रहणार्थ प्रशस्तक्षेत्र ।

स्निग्धप्ररोहाकुलफुल्लवल्ली लीलाफलालोलमहीरुहाढ्यम् ।
माधुर्यसौंदर्यसुगंधबंधि प्रस्पष्टपुष्टोरुरसप्रधानं ॥ ३१ ॥
सुस्वादुतोयं सुसमं सुरूपं साधारणं सर्वरसायनाढ्यम् ।
क्षेत्रं सुकृष्णं मृदुसुप्रसन्नं ज्ञेयं सदा ह्यौषधसंग्रहाय ॥ ३२ ॥

भावार्थः—जहांपर नये २ अंकुरोंसे व्याप्त प्रफुल्लितलतायें उत्पन्न होती हों, फल भरित वृक्ष हों, सर्वत्र मधुरता, सुंदरता व सुगंधि छारही हो, जहां पर मधुर आदि श्रेष्ठ रस अधिक मात्रासे व्याप्त हों, जहांका पानी अत्यंत स्वादिष्ट हो, जो समशीतोष्ण प्रदेश हो, सुरूप हो, सर्व रसायनोंसे युक्त साधारण देश हो, काले वर्ण युक्त मृदुव प्रसन्न जमीन हो, ऐसा क्षेत्र औषध संग्रहके लिए योग्य है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

सुक्षेत्रोत्पन्न अप्रशस्त औषधि ।

अत्रापि संजातमहौषधं यद्दावानलाघातपतोयमार्गैः ।
नरक्षाशनिभस्फुटकीटवातैः संबाध्यमानं परिवर्जनीयं ॥ ३३ ॥

भावार्थः—ऐसे सुक्षेत्र में भी उत्पन्न उत्तम औषधि, दावानल, धूप, जल आदिसे और हाग, बिजली, कीडे, हवा आदि कारणसे दूषित हुई हो तो उसे भी छोडदेनी चाहिये ॥ ३३ ॥

प्रशस्त औषधिका लक्षण

स्वल्पं सुरूपं सुरसं सुगंधं । मृष्टं सुखं पथ्यतमं पवित्रम् ।
साक्षात्सदा दृष्टफलं प्रशस्तं । समस्तुत्तार्थैं परिसंगृहीतं ॥ ३४ ॥

भावार्थः—वह औषधि स्वल्प क्यों न रहे परंतु सुरूप, सुरस, सुगंध, सुखकारक, स्वादिष्ट, पथ्यरूप, शुद्ध व साक्षात्फलप्रद होती है, वही प्रशस्त है । ऐसी औषधि चिकित्सा-कर्म केलिये संग्रहणीय है ॥ ३४ ॥

परीक्षापूर्वक ही औषधप्रयोग करना चाहिये

एवंविधं भेषजमातुराग्नि-व्याधिस्वरूपं सुनिरीक्ष्य दत्तं ।
रोगानिहंत्याशु सदातिघोरान् । हीनाधिकं तद्विफलादिदोषं ॥ ३५ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकारकी निर्दोष औषधिका प्रयोग यदि रोगीकी अग्नि, वय, बल, देश, काल, रोगस्वरूप आदिको देखकर किया गया तो वह शीघ्र भयंकर रोगों को भी नाश करती है । यदि औषध दोषसहित हो या अग्नि आदि का विचार न करके प्रयोग किया जाय तो विफल होता है ॥ ३५ ॥

अधिकमात्रासे औषधिप्रयोग करनेका फल

मूर्च्छामदग्लानिविदाहसादाध्मानविष्टंभविमोहनादीन् ।
मात्राधिकं ह्यौषधमत्र दत्तं । कुर्यादजीर्णं विषमाग्नितां च ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मात्रासे अधिक औषधिका प्रयोग करें तो मूर्च्छा, मद, ग्लानि, दाह पीडा, अफराना, मलका अवरोध, भ्रम एवं अजीर्ण व विषमाग्नि आदि अनेक रोगोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३६ ॥

औषध प्रयोग विधान।

हीनं त्वकिंचित्करतामुपैति तस्मात्समं साधु नियोजनीयं।
दत्वाल्पमल्पं दिवसत्रयेण मात्रां विदध्यादिह दोषशांत्यै ॥ ३७ ॥

भावार्थः—यदि हीन मात्रासे औषधि प्रयोग किया जाय, तो वह फलकारी नहीं होता है। इसलिए [न हीनमात्रा हो न अधिक] सममात्रासे ठीक २ प्रयोग करना चाहिए। (प्रयत्न करने पर भी, अग्नि आदिका प्रमाण स्पष्ट मालूम न हो तो) दोष शांतिके लिए, अल्पमात्रासे आरम्भकर थोडा २ तीन दिन तक बढाकर, योग्य मात्राका निश्चय कर लेना चाहिए ॥ ३७ ॥

जीर्णाजीर्ण औषध विचार।

सर्वाणि सार्द्राणि वरौषधानि वीर्याधिकानीति वदंति तज्ज्ञाः।
सर्पिर्विडंगाः सह पिप्पलीभिर्जीर्णा भवंत्युत्तमसद्गुणाढ्याः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—संपूर्ण आर्द्र अर्थात् नये औषधियोंमें अधिक शक्ति है ऐसा तज्ज्ञ लोग कहते हैं। लेकिन; विडंग, पीपल, और घी ये पुराने होनेपर नये की अपेक्षा विशेष गुण युक्त होते हैं ॥ ३८ ॥

स्थूल आदि शरीरभेद कथन।

सूत्रक्रमाद्भेषजसंविधानमुक्त्वा तु देहप्रविभागमाह।
स्थूलः कृशो मध्यमनामकश्च तत्र प्रधानं खलु मध्यमाख्यम् ॥ ३९ ॥

भावार्थः—इस प्रकार औषधिके संबंध में आगमानुसार कथन कर अब देहके भेदको कहेंगे। वह देह, कृश, स्थूल व मध्यमके भेदसे तीन प्रकारका है। इसमें, मध्यम नामक देह प्रधान है ॥ ३९ ॥

प्रशास्ताप्रशस्त शरीर विचार

स्थूलःकृशश्चाप्यतिनिंदनीयौ भाराध्वयानादिषु वर्जनीयौ।
सर्वास्ववस्थास्वपि सर्वथेष्टः सर्वात्मना मध्यमदेहयुक्तः ॥ ४० ॥

भावार्थः—स्थूल व कृश देह अत्यंत निंद्य हैं। एवं भारवहन, घोडेकी सवारी आदिकार्यमें ये दोनों शरीर अनुपयोगी हैं। सर्व अवस्थाओं में, सर्व तरह से, सर्वथा मध्यम देह ही उपयोगी है ॥ ४० ॥

स्थूलादि शरीर की चिकित्सा

स्थूलस्य कार्श्यं करणीयमत्र रूक्षौषधैर्भोजनपानकाद्यैः।
स्निग्धैस्तथा पुष्टिकरैःकृशस्य पथ्यैस्सदा मध्यमरक्षणं स्यात् ॥ ४१ ॥

भावार्थः—सदा रूक्ष औषधि, भोजन पान आदिकोंसे स्थूल शरीर को कृश करना चाहिये, कृश शरीरको स्निग्ध तथा पुष्टिकर औषधि, अन्न पानोंसे पुष्ट बनाना चाहिये, और पथ्यसेवन से मध्यम देहका रक्षण करना चाहिये अर्थात् स्थूल, व कृश होने नहीं देवें ॥ ४१ ॥

साध्यासाध्य विचार

दोषैः स्वभावाच्च कृशत्वयुक्तं दोषोद्भवं साध्यतमं वदंति ।
स्वाभाविकं कृच्छ्रतमं नितांतं यत्नाच्च तद्बृंहणमेव कार्यं ॥ ४२ ॥

भावार्थः—कृश शरीर एक तो दोषों से उत्पन्न दूसरा स्वाभाविक, इस प्रकार दो भेदसे युक्त है। दोषोंसे उत्पन्न साध्य कोटिमें है, परंतु स्वाभाविक कृश, अत्यंत कठिन साध्य है। उसको प्रयत्न कर पोषण करना ही पर्याप्त है ॥ ४२ ॥

स्थूलशरीरका क्षीणकरणोपाय ।

स्थूलस्य नित्यं प्रवदंति तज्ज्ञा विरेचनैर्योगविशेषजातैः ।
रूक्षैः कषायैः कटुतिक्तवर्गैराहारभैषज्यविधानमिष्टं ॥ ४३ ॥

भावार्थः—स्थूल शरीर वालेको [कृश करने के लिये] विरेचन, के नाना-प्रकारका योग, रूक्ष, कषाय, कटु, तिक्तादिक औषधिवर्ग, व तत्सदृश आहारग्रहण आदि उपयुक्त है, ऐसा आयुर्वेदज्ञ—लोग कहते हैं ॥ ४३ ॥

क्षीणशरीर को समकरणोपाय ।

क्षीणस्य पानीयमतः प्रशस्तं । भुक्त्वोत्तरं क्षीरमपीह देयम् ।
नस्यावलेहैः कवलग्रहैर्वा । नित्यं तदग्निः परिरक्षणीयः ॥ ४४ ॥

भावार्थः—कृश शरीरवालेको भोजन के बाद दूध या पानीको पिलाना चाहिये। एवं नस्य, अवलेह, कवलग्रहण आदि यथायोग्य उपायोंसे उसकी अग्नि की सदा रक्षा करें ॥ ४४ ॥

मध्यमशरीर रक्षणोपाय ।

वान्त्वो वसंते स च मध्यमाख्यो वर्षासु बस्तिं विदधीत तस्य ।
वैरेचनं शारदिकं विधानम् । स्वस्थस्य संरक्षणमिष्टमार्यैः ॥ ४५ ॥

भावार्थः—मध्यम शरीरवालेको वसंतऋतुमें वमन कराना चाहिये, वर्षा-ऋतुमें बस्तिकर्मका प्रयोग करना चाहिये, एवं शरत्कालमें विरेचन देना चाहिये, इस प्रकार मध्यम शरीरवाले के स्वास्थ्यकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

१. वसंतऋतुमें कफ, वर्षाऋतु में वायु, व शरदृतु में पित्त का प्रकोप ऋतुस्वभावसे होता है। इन दोषों के जीतनेके लिये यथाक्रम वमन, बस्ति व विरेचन दिया जाता है।

स्वास्थ्य बाधक कारणोंका परिहार।

अत्यम्लरूक्षाधिकभोजनाति-व्यायामवातातपमैथुनानि।
नित्यं तथैकस्य रसस्य सेवा। वर्ज्यानि दोषाद्रहकारणानि ॥ ४६ ॥

भावार्थः—अत्यधिक खट्टे पदार्थ, रूक्षपदार्थोंसे युक्त भोजन, अत्यधिकव्यायाम करना, अत्यधिक हवा खाना, अत्यधिक धूप व गर्मी को सहन करना, अत्यधिक मैथुन सेवन करना एवं नित्य एक ही रसका सेवन करना आदि बातें जिनसे शरीरमें अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं सदा वर्ज्य हैं ॥ ४६ ॥

वातादिदोषों के कथन

देहक्रमं साधु निरूप्य रोगान् वक्ष्यामहे सूत्रविधानमार्गात्।
वातः कफः पित्तमिति प्रतीता दोषाः शरीरे खलु संभवंति ॥ ४७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार देहके भेद व उनके रक्षणोपाय आदि विषय अच्छीतरह निरूपण कर अब आचार्योंके द्वारा उपदिष्ट आगममार्गसे, शरीरस्थ रोगोंका निरूपण करेंगे। इस शरीरमें वात, पित्त व कफके नामसे प्रसिद्ध तीन दोष हैं जो उद्रिक्त होकर अनेक रोगोंको उत्पन्न करते हैं ॥ ४७ ॥

वातादि दोषलक्षण।

वातः कटू रूक्षतरश्चलात्मा पित्तं द्रवं तिक्ततरोष्णपीतम्।
स्निग्धः कफः स्वादुरसोऽतिमंदः स्वतो गुरुः पिच्छिलशीतलः स्यात् ॥४८॥

भावार्थः—वात दोष कटु, रूक्षतर व चलस्वभाववाला होता है। पित्तदोष द्रवरूप है, तीखा व उष्ण है। उसका वर्ण पीला है। एवं कफ स्निग्ध होता है, मधुर रसयुक्त व गाढा रहता है तथा उसका स्वभाव वजनदार पिलपिला व ठण्डा है। इस प्रकार तीनों दोषोंका लक्षण है ॥ ४८ ॥

कफका स्थान।

आमाशये वक्षसि चोत्तमांगे कंठे। च संधिष्वखिलेषु सम्यक्।
स्थित्वा कफः सर्वशरीरकार्यं कुर्यात्स संचारिमरुद्बलेन ॥ ४९ ॥

भावार्थः—उस कफ को [मुख्यतः] रहने के स्थान पांच है। क्लेदक कफ आमाशयमें, अवलम्बक कफ वक्षस्थल (छाती) में, तर्पक कफ शिर में, बोधककफ कण्ठ (गले) में और श्लेष्मक कफ सर्व संधियोंमें रहता है। इस प्रकार स्वस्थानोंमें रहते हुए संचार स्वभावयुक्त वातकी सहायता से सर्व शरीर कार्य को करता है ॥ ४९ ॥

१—कफ के भेद पांच है। उस के नाम इस प्रकार है। क्लेदक, अवलम्बक, तर्पक, बोधक और श्लेष्मक।

(आगे देखें)

पित्तका स्थान।

पक्वाशयामाशययोस्तु मध्ये हृद्भस्त्वचित्योक्तयकृत्प्लिहासु ।
पित्तं स्थितं सर्वशरीरमेव व्याप्नोति वातातिगमेव नीतम् ॥ ५० ॥

भावार्थः—आमाशय और पक्वाशयके बीचमे, हृदय स्थानमें, पहिले कहे हुए यकृत् (जिगर) व प्लीहा के (तिल्ली) स्थानमें पित्त रहता है और वह वातके द्वारा चलन मिलकर सर्व शरीरमें व्याप्त होता है ॥ ५० ॥

वातका स्थान

श्रोणीकटीवंक्षणगुह्यदेशे । वायुः स्थितः सर्वशरीरसारी ।
दोषांश्च धातून् नयति स्वभावात् । दुष्टः स्वयं दूषयतीह देहम् ॥ ५१ ॥

अवलम्बकः—यह स्वशक्ति के बल से हृदय को बल देता हैं एवं अन्य कफस्थानों में कफ पहुंचाते हुए उनको अवलम्बन करता है इसलिये इस का अवलम्बक नाम सार्थक है।

क्लेदकः—यह आमाशय में आए हुए अन्नको क्लेदित [गीला] करता है, अत एव पाचन क्रिया में सहायक होता है।

तर्पकः—यह शिर में रहते हुए आंख, नाक आदि गले के ऊपर रहने वाले इन्द्रियों को तृप्त करता है तर्पण करता है। इस हेतुसे इसका तर्पक नाम सार्थक है।

बोधकः—यह जीभ में रहते हुए मधुर अम्ल आदि रसोंके ज्ञान [बोध] में सहायक होता है। इसलिये इसका नाम बोधक है।

श्लेष्मकः—यह सम्पूर्ण हड्डियों के जोड में रहकर, चिकनाहट करता है इसलिये हड्डियों में परस्पर रगड आने नहीं देता हैं और गाडीके पहियों के बीच में लगाया गया तेल जिस प्रकार उनको उपकार करता है वैसे ही यह संधियों को मजबूत रखता है। इसलिये इसका श्लैष्मिक नाम भी सार्थक है।

१—पित्त का भी पाचक भ्राजक, रंजक आलोचक साधक इस प्रकार पांच भेद है।

पाचकः—यह आमाशय, और पक्वाशय के बीच में रहता है। अन्नको पचाता है इसी-लिये इसको जठराग्नि भी कहते हैं। अन्न के सारभूत पदार्थ और किट्ट [निःसार मल) को अलग २ विभाग करता हैं। एवं स्वस्थान में रहते हुए अन्य पित्त के स्थानों में पित्त को रवाना कर उन को अनुग्रह करता है।

भ्राजकः—इस के रहने का स्थान त्वचा हैं। यह शरीर में कांति उत्पन्न करता है।

रंजकः—यह जिगर और तिल्ली में रहता है। और इन में आये हुए रसको रंग कर रक्त बना देता है।

आलोचकः—यह आंख मे रहता हैं और रूप देखनेमें सहायक होता है।

साधकः—यह हृदय में रहता है। बुद्धि, मेधा, अभिमान आदिको उत्पन्न करता है। और अभिप्रेत अर्थ के सिद्ध करने में सहायक होता है।

भावार्थः—सर्व शरीरमें संचरण करनेवाला वायु विशेषकर नितंबे प्रदेश, कटी, जांघोंका जोड [रांड] व गुप्त प्रदेशमें निवास करता है। एवं दोष व रसादि धातुओंको, अपने स्वभाव से यथास्थान पहुंचाता रहता है। यदि कदाचित् स्वयं दूषित होजाय तो देहको भी दूषित करता है॥ ५१ ॥

प्रकुपित दोष सबको कोपन करता है।

एको हि दोषः कुपितस्तु दोषान् तान्दूषयत्यात्मनिवाससंस्थान्।
तेषां प्रकोपानिह शास्त्रमार्गाद्वक्ष्यामहे व्याधिसमुद्भवार्थान्॥ ५२ ॥

भावार्थः—कोई भी एक दोष यदि कुपित होजाय तो उसके आश्रयमें (स्थान में रहनेवाले) समस्त दोषोंको वह कुपितं करता है जिससे अनेक रोगजाल उत्पन्न होते हैं। ऐसे दोषप्रकोपोंके विषयमें अब आगम मार्गसे कथन करेंगे ॥ ५२ ॥

१—यहां जो नितम्ब आदि वातका स्थान बतलाया है वह प्राण अपान, समान उदान, व्यान नामवाला पंचप्रकार के वातका नहीं है। लेकिन् यह साधारण कथन है। अन्य ग्रंथो में भी ऐसा कथन पाया जाता है जैसे वातका स्थान छह है। आठ पित्त का स्थान है आदि। इस प्रकार कथन कर के भी पांचप्रकार के वातोंके स्थान का वर्णन पृथक् किया है। उसका स्पष्ट इस प्रकार है।

प्राणवायुः—यह हृदय में रहता हैं किसी आचार्य का कहना है कि वह मस्तक में रहता है। लेकिन छाती, व कण्ठ, में चलता फिरता है। खाया हुआ अन्न को अंदर प्रवेश कराता हैं बुद्धि हृदय, इंद्रिय व मनः को धारण करता है अर्थात् इनके शक्ति को मजबूत रखता है। एवं थूक, छींक, डकार, निश्वास, आदि कार्यों के लिये कारण भूत है।

उदानवायुः—यह छाती में रहता है। नाक, नाभि, गल इन स्थानोंपर संचरण करता है। एवं बोलना, गाना आदि से जो शब्द, या स्वर की उत्पत्ति होती है उसमें यह साधनभूत है।

समानवायुः—यह आमाशय, और पक्वाशय में रहता है इन ही में चलता फिरता है। अग्नि के दीपन मे सहायक है। अन्न को ग्रहण करता है, और पचाता है सारभाग, और मलभाग को अलग २ करता है एवं इनको जाने देता है।

अपानवायुः—यह पक्वाशय में रहता है बस्ति (मूत्राशय, शिश्नेन्द्रिय, गुद इन स्थानों में चलता फिरता है। एवं वायु, मूत्र, मल मूत्र, शुक्र, रज, और गर्भको, योग्य काल में बाहर निकाल देता है।

व्यानवायुः—यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता है लेकिन इसका ठहरनेका मुख्य स्थान हृदय है। चलना, आक्षेपण, उत्क्षेपण आंख मींचना, उघडना, रस रक्त आदिको लेजाना, पसीना, रक्त आदिको बाहर निकालना आदि, शरीर के प्रायः सम्पूर्ण कार्य इसी वायु के अधीन है।

ऊपर तीनों दोषों का जो नियत स्थान बतलाया है वह अविकृत दोषोंका है विकृत दोषोंका नहीं है। एवं ये दोष इन स्थानों में ही रहते हो अन्य स्थान में नहीं रहते हो यह बात नहीं। यों तो सम्पूर्ण दोष सर्व शरीर में रहते हैं।

यहां एक ही दोष का पांच भेद बतलाया है। लेकिन इन सब के लक्षण एक ही है। स्थान विशेष में रहकर विशिष्ट काम को करने के कारण, अलग २ नाम, व भेद किये गये है।

दोषप्रकोपोपशम के प्रधानकारण

बाह्यांतरंगात्मनिमित्तयोगात् कर्मोदयोदीरणभावतो वा ।
क्षेत्राद्यशेषोरुचतुष्टयाद्वा दोषाः प्रकोपोपशमौ व्रजंति ॥ ५३ ॥

भावार्थः—प्रतिकूल व अनुकूल बाह्य व अंतरंग कारण से, व असाता व सातवेदनीय कर्मके उदय व उदीरणा से विपरीत, व अविपरीत, द्रव्य, क्षेत्र काल, भावसे, वात आदि दोषोंके प्रकोप व उपशम होता है। विशेष—प्रत्येक कार्यकी निष्पत्ति के लिये दो प्रकारके निमित्त कारणोंकी आवश्यकता होती है। एक बाह्यनिमित्त व दूसरा अंतरंग निमित्त। रोगकी निवृत्तिके लिये बाह्य निमित्त औषधि, सेवा, उपचार वगैरह है। अंतरंग निमित्त तत्तद्रोगसंबंधी असातावेदनीय कर्मका उदय है। कर्मोंकी स्थितिको पूर्णकर फल देनेकी दशाको उदय कहते हैं। एवं कर्मोंकी स्थिति बिना पूरी किये ही कर्मके फल देकर खिरजानेको सिद्धांतकार उदीरणा कहते हैं। सातावेदनीय कर्मका उदय व असातावेदनीयकी उदीरणा भी रोगकी निवृत्ति केलिये कारण है। योग्य औषधि आदिक द्रव्य, औषधिसेवन योग्य क्षेत्र, तद्योग्य काल व भाव भी रोगकी निवृत्ति के लिये कारण है। इसलिये इन सब बातोंके मिलनेसे दोषोंके प्रकोपका उपशम होता है। इन बातोंकी विपरीततामें दोषोंका प्रकोप व अनुकूलतामें तदुपशम होता है ॥५३॥

वातप्रकोप का कारण।

व्यायामतो वाप्यतिमैथुनाद्वा दूराध्वयानादधिरोहणाद्वा ।
संधारणात्स्वप्नविपर्ययाद्वा तोयावगाहात्पवनाभिघातात् ॥ ५४ ॥
श्यामाकनीवारककोद्रवादि दुर्धान्यनिष्पावमसूरमाषैः ।
मुद्गाढकीतिक्तकषायशुष्कशाकादिरूक्षादिलघुप्रयोगैः ॥ ५५ ॥
हर्षातिवातातिहिमप्रपातात् जृंभात्क्षताद्वादिविघातनाद्वा ।
रूक्षान्नपानैरतिशीतलैर्वा वातःप्रकोपः समुपैति नित्यम् ॥ ५६ ॥

भावार्थः—अति व्यायाम करनेसे, अति मैथुन करनेसे, बहुत दूर पैदल मार्ग चलनेसे, कोई सवारी वगैरहमें चढनेसे, अधिक वजन ढोनेसे, ठीक २ समय नींद नहीं करनेसे पानीमें प्रवेश करनेसे (अधिक तैरना आदि) वायुके आघातसे, साँमाधान, नीवारक तिन्नीके चावल, कोदों, खराब धान्य, शिम्बी धान्य (सेम का जातिविशेष) मसूर, उडद, मूंग, अड़हर, तीखा, कषायला, शुष्क, और रूक्ष साग आदि एवं लघु पदार्थोंका प्रयोग करनेसे, अति हर्ष, अतिवात, जखम होना, जंभाई, बरफ गिरना, आघात आदिसे, रूक्ष अन्न पान व अतिशीत अन्न पानके प्रयोगसे हमेशा वात कुपित होता है। ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

पित्तप्रकोप के कारण

शोकाधिकक्रोधभयातिहर्षात्तीव्रोपवासादतिमैथुनाच्च ।
कट्वम्लतीक्ष्णातिपटुप्रयोगात् संतापिभिः सर्षपतैलमिश्रैः ॥ ५७ ॥
पिण्याकतैलातपशाकमत्स्यैः छागाविगोमांसकुलत्थयूषैः ।
तत्राम्लसौवीरसुराविकारैः पित्तप्रकोपो भवतीह जंतोः ॥ ५८ ॥

भावार्थः—अधिक शोक, क्रोध, भय, और हर्षसे, तीव्र उपवास व अधिक मैथुन करनेसे, कटु (चरपरा) खट्टा, क्षार आदि तीक्ष्ण, एवं नमकीन पदार्थोंके अधिक सेवन से सरसोंके तैलसे तला हुआ पदार्थ, तिलका खल, तिलके तेलके भक्षणसे, धूपका सेवन से उष्ण शाकोंके उपयोगसे मछली, बकरी, भेड, गाय, इनके मांस, कुलथीका यूष (जूस) खट्टी कांजी, और मदिराके सेवनसे शरीरमें पित्तप्रकोप होता है ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

कफप्रकोप के कारण ।

नित्यं दिवास्वप्नतयाव्यवायाव्यायामयोगादुरुपिच्छिलाम्लैः ।
स्निग्धातिगाढातिपटुप्रयोगैः पिष्टेक्षुदुग्धाधिकमाषभक्ष्यैः ॥ ५९ ॥
दध्नालसंधानकमृष्टभोज्यैः वल्लीफलैरध्यशनैरजीर्णैः ।
अत्यम्लपानैरतिशीतलान्नैः श्लेष्मप्रकोपं समुपैति नृणाम् ॥ ६० ॥

भावार्थः—प्रति नित्य दिनमें सोनेसे, मैथुन व व्यायाम न करनेसे, अधिक लिव-लिबाहट खट्टा स्निग्ध (चिकना घी तेल आदि) अतिगाढा या गुरु और नमकीन पदार्थोंके सेवनसे, अधिक गेहूं, चना आदिके पीठ [आटा] ईखका रस, (गुड, शक्कर आदि इक्षुविकार) दूध, एवं उडदसे मिश्रित या इनसे बने हुए भक्ष्योंके सेवनसे, दही, मदिरा आदि, संधित पदार्थ, मिठाई आदि भोज्य पदार्थ, और कूष्माण्ड (सफेद कद्दू) के सेवनसे, भोजनके ऊपर भोजन करनेसे, अजीर्णसे, अत्यंत खट्टे रसोंके पीनेसे, अतिशीतल अन्नके सेवनसे मनुष्योंके कफ प्रकुपित होता है । ॥ ५९ ॥ ६० ॥

दोषोंके भेद

प्रत्येकसंयोगसमूहभंगैः पुंसो दशैवात्र भवंति दोषाः ।
रक्तंच दोषैस्सह संविभाज्यं धातुस्तथा दूषकदूष्यभावात् ॥ ६१ ॥

१—दध्नालसंदाल्कव इति पाठांतरं ।
२—पंचादशैवात्र, इति पाठांतरं ।

भावार्थः—दोषोंके प्रत्येक के हिसाब से तीन भेद हैं यथा—वात १ पित्त २ कफ ३ संयोग [द्वंद] के कारण तीन भेद होते हैं. यथा—वातपित्त १ वातकफ २ कफ पित्त ३, सन्निपात के कारण ४ भेद होते हैं यथा—वातपित्तकफ १, मन्दकफवातपित्ताधिक २, मन्दपित्तवातकफाधिक ३, मंदवातपित्तकफाधिक ४ इस प्रकार दोषोंके भेद दस हैं। रक्त की भी दोषोंके साथ गणना है अर्थात् रक्त को दोष संज्ञा है। वातादिदूषकों द्वारा दूषित होनेके कारण वही रक्त धातु भी कहलाता है॥ ६१ ॥

प्रकुपितदोषोंका लक्षण

तेषां प्रकोपादुदरे सतोदः। संचारकः साम्लकदाहदोषाः॥
हृल्लासतारोचकताच दोषास्ससंख्यानतो लक्षणमुच्यतेऽतः॥ ६२ ॥

भावार्थः—उन वातादि दोषोंके प्रकोपसे, क्रमशः अर्थात् वातप्रकोपसे पेटमें इधर उधर चलनेवाली, तुदनवत् (सुईचुभने जैसी) पीडा आदि होती हैं। पित्तप्रकोपसे, खट्टापना, दाह आदि लक्षण होते हैं। कफ प्रकोपसे, डकार, अरुचि आदि लक्षण प्रकट होते हैं। आगे दोषक्रमसे, इनके प्रकोप का लक्षण विशेष रीतिसे कहेंगे॥ ६२ ॥

वात प्रकोप के लक्षण !

संभेदोत्ताडनतोदनानि संछेदनोन्मंथनसादनानि
विक्षेपनिर्देशनभंजनानि विस्फाटनोत्पाटनकंपनानि॥ ६३ ॥
विश्लेषणस्तंभनजंभणानि निःश्वासनाकुंचनसारणानि।
नानातिदुःखान्यनिमित्तकानि वातप्रकोपे खलु संभवंति॥ ६४ ॥

भावार्थः—शरीर टूटासा होना, कोई मारते हों ऐसा अनुभव होना, सुई चुभने जैसी पीडा होना, कोई काटते हों ऐसा होना, कोई मसलते हों ऐसा अनुभव आना, शरीरका गलना, हाथ पैर आदि को इधर उधर फेंकना शरीरमें कुछ डसा हो ऐसा अनुभव होना, शरीरका टुकडा होगया हो ऐसा अनुभव होना, शरीरमें फफोले उठने जैसी पीडा हो, फटा जैसा अनुभव होना, कंप होना, शरीरके अंग प्रत्यंग भिन्न २ होगये हों ऐसा अनुभव होना, बिलकुल स्तब्ध होना, जंभाई अधिक आना, अधिक श्वास छूटना शरीरका संकोच होना और प्रसारण होना इत्यादि अनेक अकस्मात् प्रकारके दुःख, वात प्रकोप होने पर होते हैं॥ ६३ ॥ ६४ ॥

पित्तप्रकोप लक्षण

उष्मातिशोषातिविमोहदाहधूमायनारोचकरोषातापाः
देहोष्मतास्वेदबहुप्रलापाः पित्तप्रकोपे प्रभवंति रोगाः॥ ६५ ॥

१—वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष धातुओंको दूषित करते हैं इसलिए दूषक कहलाते हैं।

भावार्थः—अत्यंत उष्णताका अनुभव होना, कंठशोषण आदि का अनुभव होना मूर्छा होना, दाह होना, मुखसे धूंआ निकलता सा अनुभव होना, भोजनमें अरुचि होना बहुत क्रोध आना, संताप होना, देह गरम रहना, अधिक पसीना आना, अधिक बडबडाना ये सब विकार पित्त प्रकोपसे उत्पन्न होते हैं ॥ ६५ ॥

कफ प्रकोप लक्षण

सुप्तत्वकंडूगुरुगात्रतातिश्वेतत्वशीतत्वमहत्वनिद्राः ।
संस्तंभकारोचकताल्परुक्च श्लेष्मप्रकोपोपगतामयास्ते ॥ ६६ ॥

भावार्थः—स्पर्शज्ञान चलाजाना, शरीरका अधिक खुजाना, शरीर भारी होजाना, शरीर सफेद होजाना, शरीरमें शीत माळूम होना, मोह होना, अधिक निद्रा आना, स्तब्ध होना, भोजनमें अरुचि होना, मंद पीडा होना आदि कफके प्रकोपसे होनेवाले विकार हैं अर्थात् उपर्युक्त रोग कफके विकारसे उत्पन्न होते हैं ॥ ६६ ॥

प्रकुपित्त दोषोंके वर्ण

एषां भस्मातिरूक्षः प्रकटतरकपोतातिकृष्णो मरुत्स्यात् ।
पित्तं नीलातिपीतं हरिततममतीवासितं रक्तमुक्तम् ।
श्लेष्मा स्निग्धातिपाण्डुः स भवति सकलैः संनिपातः सवर्णैः ।
दोषाणां कोपकाले प्रभवति सहसा वर्णभेदो नराणाम् ॥ ६७ ॥

भावार्थः—इन दोषोंके प्रकोप होने पर, मनुष्योंके शरीरमें नीचे लिखे वर्ण प्रकट होते हैं। वातप्रकोप होने पर शरीर भस्म जैसा , कपोत , (कबूतर जैसा) व अत्यंत काला होता है एवं रूक्ष होता है । पित्त के प्रकोप से , अत्यंत नीला , पीला , हरा , काला , व लालवर्ण हो जाता है । कफ के प्रकोप से, चिकना होते हुए सफेद होता है । जिस समय तीनों दोषों का प्रकोप एक साथ होता है उस समय, उपरोक्त तीनों दोषों के वर्ण , (एक साथ) प्रकट होते हैं ॥६७॥

संसर्गाद्दोपकोपादधिकतरमिहालोक्य दोषं विरोधा-।
त्कर्तव्यं तस्य यत्नादुरुतरगुणवद्भेषजानां विधानम् ।
सम्यक्सूत्रार्थमार्गादधिकृतमखिलं कालभेदं विदित्वा ।
वैद्येनोद्युक्तकर्मप्रवणपटुगुणेनादारादातुराणाम् ॥ ६८ ॥

भावार्थः—रोगियों की चिकित्सा में उद्युक्त , गुणवान् वैद्य को उचित है कि आयुर्वेदशास्त्र के कथनानुसार कालभेद , देशभेद , आदि सम्पूर्ण विषयों को अच्छी तरह से जान कर , द्वंद्वज , सान्निपातिक आदि व्याधियों में दोषों के बलाबल को , अच्छीतरहसे निश्चय कर, जिस दोष का, प्रकोप हुआ हो उस से विरुद्ध, अर्थात् उसको शमन व शोधन करने वाले, गुणाढ्य औषधियोंके प्रयोग, वह आदरपूर्वक करें ॥६८॥

अंतिमकथन।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ।
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ६९ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं; ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है । साथमे जगतका एक मात्र हित साधक है [इसलिये ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ ६९ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षणाधिकारे सूत्रव्यावर्णनं नाम तृतीयः परिच्छेदः।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के स्वास्थ्यरक्षणाधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में सूत्रव्यावर्णन नामक **तृतीय परिच्छेद** समाप्त हुआ ।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः ।

॥ कालस्य क्रमबंधनानुपर्यंतम् ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

यो वा वेत्यखिलं त्रिकालचरितं त्रैलोक्यगर्भस्थितं ।
द्रव्यं पर्ययवत्स्वभावसहितं चान्यैरनास्वादितम् ।
नत्वा तं परमेश्वरं जितरिपुं देवाधिदेवं जिनम् ।
वक्ष्याम्यादरतः क्रमागतमिदं कालक्रमं सूत्रतः ॥ १ ॥

भावार्थः—जो परमेश्वर जिनेंद्रभगवान् तीनलोकसंबंधी भूतभविष्यद्वर्तमान कालवर्ती द्रव्यपर्यायके समस्त विषयोंको युगपत् प्रत्यक्षरूपसे जानते हैं जो कि अन्य हरि हरादि देवोंके द्वारा कदापि जानना शक्य नहीं है, जिन्होंने ज्ञानावरणादि कर्म रूपी शत्रु वोंको जीता है ऐसे देवाधिदेव भगवान् जिनेंद्रको नमस्कारकर इससमय क्रमप्राप्त कालभेदका वर्णन आगमानुसार यहां हम करेंगे ऐसी प्रतिज्ञा श्री आचार्य करते हैं ॥ १ ॥

कालवर्णन

कालोऽयं परमोऽनिवार्यबलवान् भूतानुसंकालनात् ।
संख्यानादगुरुर्नचातिलघुरप्याद्यंतहीनो महान् ।
अन्योऽनन्यतरोऽव्यतिक्रमगतिः सूक्ष्मोऽविभागी पुनः ।
सोऽयं स्यात्समयोऽप्यमूर्तगुणवानावर्तनालक्षणः ॥ २ ॥

भावार्थः—संसारमें काल बडा बलवान् है एवं अनिवार्य है । संसारमें कोई भी प्राणियोंको यह छोडता नही है । यह अनंत समयवाला है । अगुरुलघु गुणसे युक्त होने के कारण उसमें न्यून वा अधिक नही होता है । और अनाद्यनंत है । महान् है । द्रव्यलक्षणकी दृष्टिसे अन्य द्रव्योंसे वह भिन्न है । द्रव्यत्वसामान्यकी अपेक्षासे भिन्न नही है । अथवा लोकाकाशमें सर्वत्र उसका अस्तित्व होनेसे अन्यद्रव्योंसे भिन्न नहीं है । सिलसिले-वार क्रमसे चक्रके समान जिसकी गति है, जो सूक्ष्म है अविभागी है और अमूर्त गुणवाला है एवं वर्तना (आवर्तना)लक्षणसे युक्त है अर्थात् सर्व द्रव्योंमें प्रतिसमय होनेवाला सूक्ष्म अंतर्नीत पर्याय परिवर्तन के लिये जो कारण है । इस प्रकार काल संसारमें एक आवश्यकीय व अनिवार्य द्रव्य है ॥ २ ॥

१—इस श्लोक में परमार्थ कालका वर्णन है । २—जिसकी गति अविच्छिन्न है ।

सोऽयं स्याद्द्विविधोऽनुमानविषयो रूपाद्यपेतोऽक्रियो
लोकाकाशसमस्तदेशनिचितोप्येकैक एवाणुकः
कालोऽतींद्रियगोचरः परम इत्येवं प्रतीतस्सदा ।
तत्पूर्वो व्यवहार इत्यभिहितः सूर्योदयादिक्रमात् ॥ ३ ॥

भावार्थ—यह काल प्रत्यक्ष गोचर नही है । अनुमानका विषय है । वह काल दो प्रकारका है । एक निश्चय अर्थात् परमार्थ काल दूसरा व्यवहार काल है । निश्चय काल अमूर्त है अर्थात् स्पर्शरस गंधवर्णसे रहित है । लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें एक एक अणुके रूपमें स्थित है । वह इंद्रिय गोचर नही अर्थात् अतींद्रिय केवल ज्ञानसे जिसका ज्ञान होसकता है वह परमार्थ अथवा निश्चय काल है । इसके अलावा सूर्योदया-दिके कारणसे वर्ष मास दिन घडी घंटा मिनिट इत्यादिका जो व्यवहार जिस कालसे होता है उसे व्यवहार काल कहते हैं ॥ ३ ॥

व्यवहारकाल के अवांतर भेद ।

संख्यातीततया प्रतीतसमया स्यादावलीति स्मृता ।
संख्यातावलिकास्तथैवमुदितासोच्छ्वाससंज्ञान्विताः
सप्तोच्छ्वासगणो भवत्यतितरां तोकस्सविस्तारतः ।
तोकात्संलवो भवेद्लसुयुतास्त्रिंशल्लवान्नाडिका ॥ ४ ॥

भावार्थ—असंख्यात समयोंको[1] एक आवली कहते हैं । संख्यातआवलियोंका एक उच्छ्वास होता है । सात उच्छ्वासोंका एक तोक होता है । सात तोकोंसे एक लव होता है अडतीस लवोंकी एक नाडी होती है ॥ ४ ॥

मुहूर्त आदिके परिमाण ।

नाड्यौ द्वे च मुहूर्तमित्यभिहितं त्रिंशन्मुहूर्तादिनं ।
पक्षःस्याद्दशपंचचैव दिवसास्तौ शुक्लकृष्णौ समौ ।
मासाद्वादश षड्च ते ऋतुगणाः चैत्रादिकेषु क्रमात् ।
द्वे चैवाप्ययने तयोर्मिलितयोर्वर्षं हि संज्ञाकृता ॥५॥

भावार्थः—दो नाडियोंसे एक मुहूर्त होता है । तीस मुहूर्तोंका एक दिन होता है । पंद्रह दिनोंका एक पक्ष होता है । उस पक्षका शुक्ल पक्ष और कृष्णपक्ष इस प्रकार दो भेद हैं । इन दोनों पक्षोंका एक मास होता है । वह मास चैत्र वैशाख आदि बारह

१—एक पुद्गल परमाणु एक आकाश प्रदेश से दूसरे प्रदेशको मंदगति से गमन करने के लिये जितना समय लेता है उतने कालको एक समय कहते हैं ।

होते हैं उन चैत्र वैशाख आदि बारह मासोंमें छह ऋतु होते हैं तीन तीन ऋतुओंका एक अयन होता है। वह दाक्षिणायन. उत्तरायनके रूपसे दो प्रकारका है। इन दोनों अयनोंके मिलनेसे एक वर्ष बनता है ॥ ५ ॥

ऋतुविभाग ।

> आद्यःस्यान्मधुरूर्जितः शुचिरिहाप्यंभोधराडंबरः ।
> शश्वत्तापकरी शरद्धिमचयो हेमंतकः शैशिरः ॥
> याथासंख्यविधानतः प्रतिपदं चैत्रादिमासद्वयं ।
> नित्यं स्यादृतुरित्ययं ह्यभिहितः सर्वक्रियासाधनः ॥ ६ ॥

भावार्थ—सबसे पहिला ऋतु वसंत है जिसमें मधुकी वृद्धि होती है अर्थात् फूल व फल फूलते व फलते हैं। इसे मधुऋतु भी कहते हैं। इसका समय चैत्र व वैशाख मास है। दुसरा ग्रीष्मऋतु है जो जेष्ट व आषाढ मासमें होता है। श्रावण भाद्रपद वर्षाऋतुका समय है जिस समय आकाशमें मेघका आडंबर रहता है। आश्विन व कार्तिकमें सदा संतापकर शरत्ऋतु होता है। मार्गशीर्ष व पौष मासमें हेमंतऋतु होता है जिसमें अत्यधिक ठण्डी पडती है। माघ व फाल्गुनमें शिशिरऋतु होता है जिसमें हिम गिरता है इस प्रकार दो २ मासमें एक २ ऋतु होता है। एवं प्रति दिन सर्वकार्योंके साधन स्वरूप छहों ही ऋतु होते हैं ॥ ६ ॥

प्रतिदिन में ऋतुविभाग ।

> पूर्वाण्हे तु वसंतनामसमयो मध्यंदिनं ग्रीष्मकः ।
> प्रावृष्यं ह्यपराण्हमित्यभिहितं वर्षागमः प्राग्निशा ।
> मध्यं नक्तमुदाहृतं शरदिति प्रत्यूषकालो हिमो ।
> नित्यं वत्सरवत्क्रमात्प्रतिदिनं षण्णां ऋतुनां गतिः ॥ ७ ॥

भावार्थः—प्रातःकालके समयपर वसंतऋतुका काल रहता है, मध्यान्हमें ग्रीष्मऋतुका समय रहता है। अपराण्ह अर्थात् सांझके समयमें प्रावृट् जैसा समय रहता है, रात्रिका आद्य भाग बरसातका समय है, मध्यरात्रि शरत्कालका समय है, प्रत्यूपकालमें (प्रातः ४ बजेका समय) हिमवंतऋतु रहता है इस प्रकार वर्षमें जिस तरह छह ऋतु होते हैं उसीतरह प्रतिदिन छहों ऋतुवोंकी गति होती है ॥ ७ ॥

१—प्रत्येक दिनमें भी कौनसा दोष किस समय संचय प्रकोप आदि होते हैं इसको जानने के लिये, यह प्रत्येक दिन छह ऋतुवोंकी गति बताया गई है।

दोषों का संचयप्रकोप।

श्लेष्मा कुप्यति सद्वसंतसमये हेमंतकालार्जितः ।
प्रावृष्येव हि मारुतः प्रतिदिनं ग्रीष्मे सदा संचितः ॥
पित्तं तच्छरदि प्रतीतजलदव्यापारतोत्युत्कटं
तेषां संचयकोपलक्षणविधैर्दोषांस्तदा निर्हरेत् ॥ ८ ॥

भावार्थ—हेमंत ऋतुमें संचित कफ वसंतऋतुमें कुपित होता है। ग्रीष्मऋतुमें संचित वायुका प्रावृट् ऋतुमें प्रकोप होता है। और वर्षाऋतुमें संचित पित्त का प्रकोप शरत्काल में होता है। यह दोषोंका संचय, व प्रकोप की विधि है। इस प्रकार संचित दोषोंको इनके प्रकोप समयमें वातको बस्तिकर्मसे पित्तको विरेचनसे, कफ को वमनसे शोधन करना चाहिये। अन्यथा तत्तद्दोषोंसे अनेक व्याधियोंकी उत्पत्ति होती हैं ॥ ८ ॥

विशेष—आयुर्वेद शास्त्रमें दो प्रकारसे ऋतुविभागका वर्णन है इनमेंसे एक तो चैत्रमास आदिको लेकर वसंत आदि छह विभाग किया है जिसका वर्णन आचार्य श्री. स्वयं श्लोक नं. ६ में कर चुके हैं। द्वितीय प्रकारके ऋतुविभाग की सूचना श्लोक ७ में दी है। इसीका स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

भाद्रपद आश्वयुज (क्वार) मास वर्षाऋतु, कार्तिक मार्गशीर्ष (अगहन) मास शरदृऋतु, पुष्यमाघमास हेमंतऋतु, फाल्गुन चैत्रमास वसंतऋतु, वैशाख ज्येष्ठमास ग्रीष्म-ऋतु और आषाढ श्रावणमास प्रावृट्ऋतु कहलाता है।

प्रावृट् व वर्षाऋतुमें परस्पर भेद इतना है कि पहिले और अधिक वर्षा जिसमें बरसता हो वह प्रावृट् है और इसके पीछे (प्रथम ऋतुकी अपेक्षा) थोडी वर्षा जिसमें बरसता हो वह वर्षाऋतु है।

इन दोनोंमें प्रथम प्रकारका ऋतु विभाग, शरीरका बल, और रसकी अपेक्षाको लेकर है। जैसे वर्षा, शरद, हेमंतऋतुमें अम्ललवण मधुररस बलवान होते हैं और प्राणियोंका शरीरबल उत्तरोत्तर बढता जाता है इत्यादि। उत्तर दक्षिण अयनका विभाग भी इसीके अनुसार है।

द्वितीय विभाग दोषोंके संचय, प्रकोप, व संशोधन की अपेक्षाको लेकर किया है। इस श्लोकमें दोषोंके संचय आदिका जो कथन है वह इसी ऋतुविभागके अनुसार है। इसलिये सारार्थ यह निकलता है कि, भाद्रपद आश्वयुजमासमें पित्तका, पुष्यमाघमें कफ का, और वैशाख ज्येष्ठमासमें वातका, संचय (इकट्ठा) होता है।

कार्तिक मार्गशीर्षमें पित्त, फाल्गुन चैत्रमें कफ, और आषाढ श्रावणमें वात प्रकुपित होता है।

दोषोंका संशोधन जिस ऋतुमें प्रकुपित होता है उस ऋतुके द्वितीय मासमें करना चाहिये। अन्यथा दोषोंके निग्रह अच्छी तरहसे नही होता है। इसलियें वातका श्रावण में, पित्तका, मार्गशीर्षमें, कफका, चैत्रमें, संशोधन करना चाहिये।

वस्ति आदिके प्रयोगसे संशोधन तब ही करना चाहिये, जब कि दोष अत्यधिक कुपित हो। मध्यम या अल्पप्रमाणमें कुपित होवें तो, पाचन लंघन आदिसे ही जीतना चाहिये।

प्रकुपित दोषोंसे व्याधिजनन क्रम।

क्रुद्धास्ते प्रसरंति रक्तसहिता दोषास्तथैकैकशो।
द्वौद्वौ वाप्यथवा त्रयस्त्रय इमे चत्वार एवात्र वा।
अन्योन्याश्रयमाप्नुवंति विसृता व्यक्तिप्रपन्नाः पुनः॥
ते व्याधिं जनयंति कालवशगाः षण्णां यथोक्तं बलम्॥ ९॥

भावार्थ—पूर्वकथित कारणोसे प्रकुपित दोष कभी एक २ ही कभी दो २ मिलकर कभी तीनों एकसाथ कभी २ रक्तको साथ लेकर, कभी चारों एक साथ, मिलकर शरीरमें फैलते हैं। इस क्रमसे दोषोंका प्रसर पंद्रह २ प्रकारके होते हैं। इस तरह फैलते हुए स्रोतोंके वैगुण्यसे जिस शरीरावयवको प्राप्त करते हैं तत्तदवयवोंके अनुसार नाना प्रकारके व्याधियोंको उत्पन्न करते हैं जैसे कि यदि उदरको प्राप्त करें तो, गुल्म, अतिसार अग्निमांद्य, अनाह, विशूचिका आदि रोगोंको पैदा करते हैं, वस्तिको आश्रय करें प्रमेह मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी आदिको उत्पन्न करते हैं इत्यादि। तदनंतर व्याधियोंके लक्षण व्यक्त होता है जिससे यह साधारण ज्ञान होता है कि यह ज्वर है अतिसार है, वमन है आदि। इसके बाद एक अवस्था होती है जिससे व्याधिके भेद स्पष्टतया माल्हम होता है, कि यह वातिक ज्वर है या पैत्तिक! पित्तातिसार है या कफातिसार आदि। इस प्रकार तीनों दोष कालके वशीभूत होकर व्याधियोंको पैदा करते हैं। दोषोंके संचय, प्रकोप, प्रसर, अन्योन्याश्रय, (स्थानसंश्रम) व्यक्ति, और भेद इन छह अवस्थाओंके बलाबलको शास्त्रोक्त रीतिसे जानना चाहिये।

विशेष—जैसे एक जलपूर्ण सरोवरमें और भी अधिक पानी आ मिल जाय तो वह अपने बांधको तोडकर एकदम फैल जाता है वैसे ही प्रकुपित दोष स्वस्थान को उल्लंघन कर शरीरमें फैल जाते हैं। इसीको प्रसर कहते हैं।

पंद्रह प्रकार का प्रसर—

१ वात २ पित्त ३ कफ ४ रक्त (दो) ५ वातपित्त ६ वातकफ. ७ कफपित्त (तीनों) ८ वातपित्तकफ (रक्तके साथ) ९ वातरक्त १० कफरक्त ११ पित्तरक्त १२ वातपित्तरक्त. १३ वातकफरक्त. १४ कफपित्तरक्त. १५ (चारों) वातपित्तकफरक्त

इस प्रसरका भेद पंद्रह ही है ऐसा कोई नियम नहीं है। ऊपर स्थूल रीतिसे भेद दिखलाया है। सूक्ष्मरीतिसे देखा जाय तो अनेक भेद होसकता है।

दोषोंके शरीरावयवोंमें आश्रय करने की अवस्था को ही अन्योन्याश्रय, या, स्थानसंश्रय कहते हैं। स्थानसंश्रय होते ही पूर्वरूप का प्रादुर्भाव होता है। इसी को व्यक्ति कहते हैं। इसी को भेद कहते है ॥ ९ ॥

सम्यक्संचयमत्र कोपमखिलं पंचादशोत्सर्पणम्।
चान्योन्याश्रयणं निजप्रकटितं व्यक्तिप्रभेदं तथा।
यो वा वेत्ति समस्तदोषचरितं दुःखप्रदं प्राणिनाम्।
सोऽयं स्याद्भिषगुत्तमः प्रतिदिनं षण्णां प्रकुर्यात्क्रियाम् ॥ १० ॥

भावार्थः—इस ऊपर कहे गये, सर्व प्राणियोंको दुःख देने वाले, दोषों (वात पित्त कफ) के संचय, प्रकोप (पंद्रह प्रकारके) प्रसर, अन्योन्याश्रय (स्थानसंश्रय) व्यक्ति और भेद इत्यादि संपूर्ण चरित्र को अच्छीतरह से जो जानता है। वही उत्तम भिषक् (वैद्य) कहलाता है। उसको उचित है कि उपरोक्त संचय आदि छह अवस्थाओंमें, शोधन, लंघन, पाचन, शमन आदि यथायोग्य चिकित्सा करें अर्थात् संचय आदि पूर्व २ अवस्थाओंमें योग्य चिकित्सा करें, तो, दोष आगे की अवस्थाको, प्राप्त नहीं कर सकते हैं। और चिकित्सा कार्य में सुगमता होती है। उत्तरोत्तर अवस्थाओंमें कठिनता होती जाती है।

दोषोंके संचय आदि दो प्रकार से होता है। एक तो ऋतु स्वभावसे, दूसरा, अन्य स्वस्व कारणोंसे। यहां छह अवस्थाओंमें चिकित्सा करनेकी जो आज्ञा दी है, वह स्वकारणोंसे संचय आदि अवस्था प्राप्त दोषोंका है। क्यों कि ऋतुस्वभावसे संचित दोषोंकी चिकित्सा उसी अवस्थामें नहीं बतलायी गई है। परंतु प्रकोपकालमें, शोधन आदि का कथन किया है ॥ १० ॥

एवं कालविधानमुक्तमधुना ज्ञात्वात्र वैद्यो महान्।
पानाहारविहारभेषजविधिं संयोजयेद्बुद्धिमान् ॥
तत्रादौ खलु संचये प्रशमयेद्दोषप्रकोपे सदा।
सम्यक्शोधनमादरादिति मतं स्वस्थस्य संरक्षणम् ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस प्रकार अभीतक कालभेद को जानकर तत्तत्कालानुकूल प्राणियोंके लिए अन्नपानादिक आहार व विहार औषधि आदिकी योजना करें। सबसे पहिले संचित दोषोंको (प्रकोप होनेके पूर्व ही) उपशम करनेका उपाय करना चाहिए। यदि ऐसा न करने के कारण दोष प्रकोप हो जाय तों उस हालत में आदर पूर्वक सम्यक्

प्रकारसे, वमनादिकके द्वारा शोधन करें। अर्थात् शरीर से पृथक् करें। यही स्वास्थ्यके रक्षण का उपाय है ऐसा आयुर्वेद के विद्वानोंका मत है ॥ ११ ॥

वसंत ऋतुमें हित।

रूक्षक्षारकषायतिक्तकटुकप्रायं वसंते हितं।
भोज्यं पानमपीह तत्समगुणं प्रोक्तं तथा चोपकम् ॥
कौपं ग्राम्यमथाग्नितप्तममलं श्रेष्ठं तथा शीतलं।
नस्यं सद्वमनं च पूज्यतममित्येवं जिनेंद्रोदितं ॥ १२ ॥

भावार्थः—वसंत ऋतुमें रूक्ष, (रूखा) क्षार [खारा] कषायला, कडुआ, और कटुक (चरपरा) रस, प्रायः हितकर होते हैं। एवं भोजन, पान में भी [ऊपर कहा गया] रूक्ष क्षारादि गुण व रस युक्त पदार्थ हितकर होते हैं। पीनेके लिए पानी कुवे का गाम का हो अथवा अग्निसे तपाकर ठण्डा किया गया हो। इस ऋतु में नस्य व वमन का प्रयोग भी अत्यंत हितकर होता है ऐसा श्रीजिनेंद्र भगवानने कहा है ॥१२॥

ग्रीष्मर्तु व वर्षर्तुमें हित।

ग्रीष्मे क्षीरघृतप्रभूतमशनं श्रेष्ठं तथा शीतलं।
पानं मान्यगुडेक्षुभक्षणमपि प्राप्तं हि कौपं जलं ॥
वर्षास्वल्कप्रतिक्तमल्पकटुकं प्रायं कषायान्वितं।
दुग्धेक्षुप्रकरादिकं हितकरं पेयं जलं यच्छृतम् ॥ १३ ॥

भावार्थः—ग्रीष्मकाल में दूध, घी; से युक्त भोजन करना श्रेष्ठ है। एवं ठण्डे पदार्थोंका पान करना उपयोगी है। गुड और ईख [गन्ना] खाना भी हितकर है। कुवे का जल पीना उपयोगी है। बरसातमें अधिक मात्रा में कडुआ कषैलारस; अल्प प्रमाण में कटु [चरपरा] रस, या रसयुक्त पदार्थोंके सेवन, एवं दूध ईख; या इनके विकार [इनसे बना हुआ अन्य पदार्थ शक्कर दही आदि] का उपयोग हितकर है। तथा पीने के लिये जल, गरम होना चाहिये ॥ १३ ॥

सक्षीरं घृतशर्कराढ्यमशनं तिक्तं कषायान्वितं।
सर्वं स्यात्सलिलं हितं शरदि तच्छ्रेयोऽर्थिनां प्राणिनां।
हेमंते कटुतिक्तशीतमहितं क्षारं कषायादिकं।
सर्पिस्तैलसमेतमम्लमधुरं पथ्यं जलं चोच्यते ॥ १४ ॥

भावार्थः—श्रेय को चाहने वाले प्राणियोंको शरत्कालमें घी शक्करसे युक्त भोजन व कषायला पदार्थोंसे युक्त, भोजन हितकर है। जल तो नदी कुआ, तालाब, वगैरहका

सर्व उपयोगी होगा. हेमंतऋतुमें कडुबा, तीखा, खट्टा, व शीत पदार्थ अहित है और खारा व कषायला द्रव्यसे युक्त भोजन उपयोगी है, घी और तेल, खटाई व मिठाई इस ऋतुमें हितकर है। इस ऋतुमें प्रायः सर्व प्रकार के जल पथ्य होता है ॥ १४ ॥

शिशिर ऋतुमें हित।

> अम्लक्षीरकषायतिक्तलवणप्रस्पष्टमुष्णाधिकं।
> भोज्यं स्याच्छिशिरे हितं सलिलमप्युक्तं तटाकस्थितं।
> ज्ञात्वाहारविधानमुक्तमखिलं षण्णामृतूनां क्रमा–।
> देयंस्यान्मनुजस्य सात्म्यहितकृद्वेलाबुभुक्षावशात् ॥ १५ ॥

भावार्थः—शिशिरऋतुमें खट्टापदार्थ, दूध, कषायला पदार्थ, कडुआ पदार्थ, नमकीन और अधिक उष्ण गुणयुक्त पदार्थका भोजन करना विशेष हितकर है। जल तालावका हितकर है। इसप्रकार उपर्युक्त क्रमसे छहों ऋतुके योग्य भोजनविधानको जानकर, समय और भूखकी हालत देखकर, मनुष्यके शरीरकेलिये जो हितकारी व प्रकृतिकेलिये अनुकूल हो ऐसा पदार्थ भोजन पानादिकमें देना चाहिये, वही सर्वदा शरीर संरक्षणकेलिये साधन है ॥ १५ ॥

आहारकाल।

> विण्मूत्रे च विनिर्गते विचलिते वायौ शरीरे लघौ।
> शुद्धेऽपींद्रियवाङ्मनःसुशिथिले कुक्षौ श्रमव्याकुले।
> कांक्षामप्यशनं प्रति प्रतिदिनं ज्ञात्वा सदा देहिना–।
> माहारं विदधीत शास्त्रविधिना वक्ष्यामि युक्तिक्रमं ॥ १६ ॥

भावार्थः—जिस समय शरीर से मलमूत्र का ठीक २ निर्गमन हो, अपानवायु भी बाहर छूटता हो, शरिर भी लघु हो, पांचों इंद्रिय प्रसन्न हों, लेकिन वचन व मन में शिथिलता आगई हो, पेट भी श्रम [भूक] से व्याकुलित हो तथा भोजन करने की इच्छा भी होती हो, तो वही भोजन के योग्य समय जानना चाहिये। उपरोक्त लक्षण की उपस्थिति को ज्ञातकर उसी समय आयुर्वेदशास्त्रोक्त भोजन विधिके अनुसार भोजन करें। आगे भोजन क्रमको कहेंगे ॥ १६ ॥

भोजनक्रम

> स्निग्धं यन्मधुरं च पूर्वमशनं भुंजीत भुक्तिक्रमे।
> मध्ये यल्लवणाम्लभक्षणयुतं पश्चात्तु शेषान्रसान्।
> ज्ञात्वा सात्म्यबलं सुखासनतले स्वच्छे स्थिरस्तत्परः
> क्षिप्रं कोष्णमथ द्रवोत्तरतरं सर्वर्तुसाधारणम् ॥ १७ ॥

भावार्थः—भोजन करने के लिये, जिसपर सुखपूर्वक बैठ सके ऐसे साफ आसन पर, स्थिर चित्त होकर अथवा स्थिरतापूर्वक बैठें। पश्चात् अपनी प्रकृति व बलको विचार कर उसके अनुकूल, थोडा गरम (अधिक गरम भी न हो न ठण्डा ही हो) सर्व ऋतु के, अनुकूल, ऐसे आहार को, शीघ्र ही [अधिक विलम्ब न भी हों व अत्याधिक जल्दी भी न हों] उसपर मन लगा कर खावें। भोजन करते समय सबसे पहिले चिकना, व मधुर अर्थात् हलुआ, खीर बर्फी लड्डू आदि पदार्थों को खाना चाहिए। तथा भोजन के बीचमें नमकीन; खट्टा आदि अर्थात् चटपटा मसालेदार चीजों को व भोजनांत में दूध आदि द्रवप्राय आहार खाना चाहिए॥ १७॥

भोजन समय में अनुपान

भुक्त्वा वैदलमुग्रभूतमशनं सौवीरपायीभवे-
न्मर्त्यस्त्वोदनमेवचाभ्यवहरंस्तक्रानुपानान्वितः।
स्नेहानामपि चोष्णतो यदमलं पिष्टस्य शीतं जलं
पीत्वा नित्यसुखी भवत्यनुगतं पानं हितं प्राणिनाम्॥१८॥

भावार्थः—दालसे बनी हुई चीजोंका ही, मुख्यतया खाते वखत कांजी पीना चाहिये। भात आदि खाते समय, तक्र [छाच] पीना योग्य है। घी आदिसे बनी हुई चीजों से भोजन करते हुए, या स्नेह पीते समय, उष्ण जलका अनुपान करलेना चाहिये। पिट्टी से बनी पदार्थों को खाते हुए ठण्डा जल पीना उचित है। प्राणियोंके हितकारक इस प्रकार के अनुपान[1] का जो मनुष्य नित्य सेवन करता है वह नित्यसुखी होता है॥ १८॥

अनुपानकाल व उसका फल

प्राग्भक्तादिह पीतमावहति तत्कार्श्यं जलं सर्वदा।
मध्ये मध्यमतां तनोति नितरां भांते तथा बृंहणम्॥
ज्ञात्वा तद्द्रवमेव भोजनविधिं कुर्यान्मनुष्योन्यथा।
भुक्तं शुष्कमजीर्णतामुपगतं बाधाकरं देहिनाम्॥ १९॥

भावार्थः—भोजन के पहिले जो जल लिया जाता है; वह शरीरको कृश करता है। भोजनके बीचमें पीवे तो वह न शरीरको मोटा करता है न पतला ही किंतु मध्यमता को करता है। भोजन के अंत में पीवें तो वह बृंहण (हृष्ट-पुष्ट) करता है। इसलिये

---

१. जो. भोजन के पश्चात् अर्थात् साथ २ पान किया जाता है वह अनुपान कहलाता है। अनुगतं पानं अनुपानं इस प्रकार इस की निष्पत्ति है।

इन सब बातों को जान कर, भोजन के साथ २ योग्य द्रव पदार्थ को ग्रहण करना चाहिये । यदि अनुपान का ग्रहण न करें तो भोजन किया हुआ अन्न आदि शुष्कता को प्राप्त होकर अजीर्णको उत्पन्न करता है और वह प्राणियोंके शरीरमें बाधा उत्पन्न करता है[1] १९

अब भोजनमें उपयुक्त धान्यादिकोंके गुणोंपर विचार करेंगे ।

शालिआदि के गुण कथन

शालीनां मधुरत्वशीतलगुणाः पाके लघुत्वात्तथा ।
पित्तघ्नाः कफवर्द्धनाः प्रतिदिनं सृष्टातिमूत्रास्तु ते ।
प्रोक्ता व्रीहिगुणाः कषायमधुराः पित्तानिलघ्नास्ततो ।
नित्यं वद्धपुरीषलक्षणयुताः पाके गुरुत्वान्विताः ॥ २० ॥

भावार्थः—शालिधान मधुर होता है, ठण्डागुणयुक्त होता है, पचनमें लघु रहता है, अतएव पित्तको दूर करनेवाला है, कफको बढानेवाला है, मूत्रको अधिक लानेवाला है । इसीप्रकार व्रीहि (चावलका धान) कषायला होकर मधुर रहता है । अतएव पित्त और वायुको नाश करनेवाला है । एवं नित्य बद्धमल करनेवाला है । पचनमें भारी है ॥ २० ॥

कुधान्यों के गुण कथन

उष्णा रूक्षतराः कषायमधुराः पाके लघुत्वाधिकाः ।
श्लेष्मघ्नाः पवनातिपित्तजनना विष्टंभिनस्सर्वदा ॥
श्यामाकादिकुधान्यलक्षणमिदं प्रोक्तं नृणामश्नतां ।
सम्यग्वैदलशाकसद्द्रवगणेष्वत्यादरादुच्यते ॥ २१ ॥

भावार्थः—साँमा आदि अनेक कुधान्य उष्ण होते हैं, अतिरूक्ष होते हैं । कषाय और मधुर होते हैं । पचनमें हलके हैं । कफको दूर करनेवाले हैं और वात पित्तको उत्पन्न करनेवाले हैं । सदा मलमूत्रका अवरोध करते हैं अर्थात् इस प्रकार साँमा आदि कुधान्योंको खाने से मनुष्यों को अनुभव होता है । अब अच्छे दाल, शाक, द्रव आदि पदार्थ जो खाने योग्य हैं उनके गुण कहेंगे ॥ २१ ॥

द्विदल धान्य गुण

रूक्षाः शीतगुणाः कषायमधुरास्संग्राहिका वातलाः ।
सर्वे वैदलकाः कषायसहिताः पित्तासृजि प्रस्तुताः ॥
उक्ताः सोष्णकुलुत्थकाः कफमरुच्छ्रावेजनाशास्तु ते ।
गुल्माष्ठीलयकृत्प्लिहाविघटनाः पित्तासृगुद्रेकिणः ॥ २२ ॥

1—भोजन के बादमें क्या करें इसे जानने के लिये पंचम परिच्छेद श्लोक नं. ४३–४४ को

भावार्थः—प्रायः सर्व द्विदल (अरहर चना मसूर आदि) धान्य रूक्ष होते हैं। शीत गुणयुक्त हैं कषाय व मधुर रस संयुक्त हैं। मलावरोध करते हैं। वात का उद्रेक करते हैं। ये कषायरस युक्त होनेके कारण रक्तपित्तमें हितकर हैं। कुलथी भी उष्ण हैं, कफ और वात को नाश करती है. गुल्म अष्ठीला यकृत् [जिगर का बढजाना] और प्लिहा [तिल्लीका बढना] रोग को दूर करनेवाली है। रक्तपित्त को उत्पन्न करनेवाली है ॥ २२ ॥

माष आदि के गुण।

माषाः पिच्छिलशीतलातिमधुरा वृष्यास्तथा बृंहणाः।
पाके गौरवकारिणः कफकृतः पित्तासृगाक्षेपणाः।
नित्यं भिन्नपुरीषमूत्रपवनाः श्रेष्ठास्सदा शोषिणां।
साक्षात्केवलवातलाः कफमया राजादिमाषास्तु ते॥ २३ ॥

भावार्थः—उडद लिवलिबाहट होते हैं; शीतल व अति मधुर होते हैं; वाजिकरण करनेवाले व शरीरकी वृद्धिके लिये कारण हैं। पचनमें भारी हैं। कफको उत्पन्न करनेवाले हैं रक्तपित्त को रोकनेवाले हैं। नित्य ही मल मूत्र व वायु को बाहर निकालने वाले हैं और क्षयरोगियोंके लिये हितकर हे । राजमाष [रमास] केवल वात और कफके उत्पादक है ॥ २३ ॥

अरहर आदि के गुण।

आढक्यः कफपित्तयोर्हिततमाः किंचिन्मरुत्कोपनाः।
मुद्गास्तत्सदृशास्तथा ज्वरहरा सर्वातिसारे हिताः।
सूपस्तेषु विशेषतो हितकरः प्रोक्ता मसूरा हिमाः।
सर्वेषां प्रकृतिस्वदेशसमयव्याधिक्रमाद्योजनं ॥ २४ ॥

भावार्थः—अडहर [तूवर] धान्य कफ और पित्तके लिये हितकारक हैं, और जरा वातप्रकोप करनेवाला है।

मूंग भी उसी प्रकारके गुणसे युक्त है। एवं ज्वरको नाश करने वाला है। सर्व अतिसार (अतिसार रोग दस्तोंकी बीमारीको कहते हैं) रोगमें हितकर है।

इनके दाल, ज्वर, आतिसार में विशेषतः हितकर है। मसूरका गुण ठण्डा है। इस प्रकार सर्व मनुष्योंकी प्रकृति, देश, काल, रोग इत्यादि की अच्छीतरह जांचकर उसीके अनुकूल धान्यका प्रयोग करना चाहिये ॥ २४ ॥

तिल आदिके गुण।

उष्णा व्याप्तकषायतिक्तमधुरास्सांग्राहिका दीपनाः।
पाके तल्लघवास्तिला व्रणगतास्संशोधना रोपणाः॥
गोधूमास्तिलवद्यवाश्च शिशिरा बाल्यातिवृष्यास्तु ते॥
तेषां दोषगुणान्विचार्य विधिना भोज्यास्सदा देहिनाम्॥ २५॥

भावार्थः—तिल उष्ण होता है। कषाय और मीठा है, द्रवस्रावको स्तंभन करनेवाला है। अग्निको दीपन करनेवाला है। पचनमें हल्का है। फोडा वगैरहको शोधन करनेवाला और उन को भरनेवाला है। गेहूं और जौ भी तिल सदृश ही हैं अपितु वे ठण्डे हैं और कच्चे हों तो शक्तिवर्द्धक और पौष्टिक हैं। इस प्रकार इन धान्योंका गुण दोषको विचारकर प्राणियोंको उनका व्यवहार करना चाहिये। अन्यथा अपाय होता है॥ २५॥

वर्जनीय धान्य।

यच्चात्यंतविशीर्णजीर्णमुषितं कीटामयाद्याहतं।
यच्चारण्यकुदेशजातमनृतौ यच्चाल्पपक्वं नवं।
यच्चापथ्यमसात्म्यमुत्कुणपभूभागे समुद्भूतमि-
त्येतद्धान्यमनुत्तमं परिहरेन्नित्यं मुनींद्रैस्सदा॥ २६॥

भावार्थः—जो धान्य अत्यंत विशीर्ण होगया हो अर्थात् सडाहुआ या जिसमें झुर्रियां लगी हुई हों, बहुत पुराना हो, जला हुआ हो, कीटरोग लग जाने से खराब होगया हो जो जंगल के खराब जमीनमें उत्पन्न हो, अकालमें जिसकी उत्पत्ति होगई हो, जो अच्छीतरह नही पका हो जो बिलकुल ही नया हो, जो शरीरके लिये अहितकर हों, प्रकृतिके लिये अनुकूल न हों अर्थात् विरुद्ध हों, स्मशानभूमिमें उत्पन्न हों, ऐसे धान्य खराब हैं। शरीरको अहित करनेवाले हैं अतएव निंद्य हैं। मुनीश्वरोंकी आज्ञा है कि ऐसे धान्यको सदा छोडना चाहिये॥ २६॥

शाक वर्णन प्रतिज्ञा
(मूल शाक गुण)

प्रोक्ता धान्यगुणागुणाविधियुताश्शाकेष्वयं प्रक्रम-।
स्तेषां मूलतएव साधु फलपर्यंतं विधास्यामहे॥
मूलान्यत्र मृणालमूलकलसत्प्रख्यातनालीदला-।
श्चान्ये चालुकयुक्तपिण्डमधुगंगा[1]हस्तिशूकादयः॥ २७॥

---

१ मधुगंगा अनेक कोषों में देखने पर भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। अतः इस के स्थानमें मधुकंद ऐसा होवें तो ठीक मालूम होता है. ऐसा करने पर, आलुका भेद यह अर्थ होता हैं।

भावार्थ—इस प्रकार यथाविधि धान्यके गुण को कहा है। अब शाक पदार्थोंके गुणनिरूपण करेंगे। शाकोंके निरूपणमें उनके मूलसे (जड) लेकर फलपर्यंत वर्णन करेंगे। कमलकी मूली, नाडीका शाक और भी अन्य आलु व तत्सदृशकंद, मधुगंगा हस्तिकंद [स्वनामसे प्रसिद्ध कोकण देशमें मिलनेवाला कंद विशेष। उसका गिरिवासः नागाश्रयः कुष्ठहंता नागकंद आदि पर्याय हैं] शूकरकंद (वाराहीकंद) आदि मूल कहलाते हैं॥ २७॥

शालूक आदि कंदशाकगुण।

शालूककोरुककशेरुकोत्पलगणः मस्पष्टनालीविदा- ।
र्यादीनि स्वविपाककालगुरुकाण्येतानि शीतान्यपि ॥
श्लेष्मोद्रेककराणि साधुमधुराण्युद्रिक्तपित्तासृजि ।
प्रस्तुत्यानि बहिर्विसृष्टमलमूत्राण्युरुशुक्राणि च ॥ २८ ॥

भावार्थः—कमलकंद, कशेरु, नीलोत्पल आदि, जो कमल के भेद हैं उनके जड, नाडी शाक का कंद, विदारीकंद, एवं दूसरे दिन पकने योग्य कंद, आदि कंद-शाक पचनमें भारी हैं। शीत स्वभावी हैं। कफोद्रेक करनेवाले हैं। अच्छे व मीठे होते हैं। रक्त पित्तको जीतने वाले हैं। मल, मूत्र शरीर से बाहर निकालने में सहायक हैं और शुक्रकर हैं॥ २८॥

अरण्यालु आदि कंदशाक गुण।

आरण्यालुदराटिकासुरटिका भूशर्करामाणकी ।
विंदुर्व्याससकुण्डलीनमलिकाप्यार्शोऽनिलघ्न्यम्लिका ॥
श्वेताम्ली कुशली वराहकणिकाभूहस्तिकर्ण्यादयो ।
मृष्टाः पुष्टिकरा विषप्रशमना वातामयेभ्यो हिताः ॥ २९ ॥

भावार्थः—जंगली आलु, कमलकंद (कमोदनी) सुरटिका (कंद विशेष) भूशर्करा (सकर कंद व तत्सदृश अन्य कंद) मानकंद, कुण्डली, नमलिका, जमीकंद [सूरण] लहसन, अम्लिका श्वेताम्ली मूसलीकंद, वाराहीकंद (गेंठी) कर्णिके, भूकर्णी हस्तिकर्णी आदि कंद स्वादिष्ट पुष्टिकर व विषको शमन करनेवाले होते हैं। एवं वातज रोगोंके लिए हितकर हैं॥ २९॥

---

१ गुडूच्यां, सर्पिणी वृक्षे, कांचनारवृक्षे, कपिकच्छौ, कुमार्यां। २ अम्लनालिकायां। ३ पीठों-डीति प्रसिद्धवृक्ष विशेष पर्याय—अम्लिका पिंडोडी, पिण्डिका, आदि। ४ अग्निमंथवृक्षे। ५ स्वनामख्यात कंदविशेष, इस का पर्याय-हस्तिकर्ण, हस्तिपत्र, स्थूलकंद अतिकंद आदि।

वंशाग्र आदि अंकुरशाकगुण ।

वंशाग्राणि शतावरीशशशिराविन्नाग्रवञ्जीलता ।
शेवालीवरकाकनाससहिताः मार्षकुराः सर्वदा ॥
शीताः श्लेष्मकराविवृष्यगुरुकाः पित्तप्रशांतिप्रदाः ।
रक्तोष्मापहरा बहिर्गतमलाः किंचिन्मरुत्कोपनाः ॥ ३० ॥

भावार्थः—बांस, शतावर, गुर्च, बेंत, हडजुडी, सूक्ष्म जटामांसी, काकनासा [कडआटोंटी] मारिपशाक [मरसा] आदिके कोंपल शीत हैं कफोत्पादक हैं । कामोद्दीपक हैं । पचन में भारी हैं पित्तके शमन करने वाले हैं । रक्तके गर्मीको दूर करनेवाले हैं मल को साफ करनेवाले हैं साथ में जरा वातको कोपन करने वाले हैं ॥ ३० ॥

जीवंती आदि शाकगुण

जीवंती तरुणी बृहच्छगलिका वृक्षादनी पंजिका ।
चुंचुः कुन्डलता च बिंवसहिताः सांग्राहिका वातलाः ।
वाष्पोत्पादकपालकद्वयवहा जीवंतिकाश्लेष्मला ।
चिल्लीवास्तुकतण्डुलीयकयुताः पित्ते हिता निर्मलाः ॥ ३१ ॥

भावार्थः—जीवंतीलता घीकुवार विधारा, बांदा, मंजिका, कुंदलता चंचु (चेवुना) कुंदुरु ये मलको बांधने वाले और वातोत्पादक हैं । मरसा, दो प्रकार के पालक, वहा, जीवंती इतने शाक कफ प्रकोप करने वाले हैं । चिल्ली बथुआ, चौलाई, ये पित्त में हितकर हैं ॥ ३१ ॥

शार्ङ्गष्टादि शाकगुण

शांर्ङ्गष्टा सपटोलपानिकचरी काकादिमाचीलता ।
मण्डूकया सह सप्तलाद्रवणिका छिन्नोद्भवा पुत्रिणी ।
निंवाद्यः सकिराततिक्तझरसी श्वेतापुनर्भूस्सदा ।
पित्तश्लेष्महराः क्रिमिप्रशमनास्त्वग्दोषनिर्मूलनाः ॥ ३२ ॥

भावार्थः—बडीकरंज परवल, जलकाचरी, मकोय मालकांगनी, ब्राह्मी, सातला, (थूहर का भेद) द्रवणिका, गुडूचि, पुत्रिणी (वंदा व.दां) नीम, चिरायता चीनी अथवा केनावृक्ष, सफेद पुनर्नवा, आदि पित्त और कफ का दूर करने वाले हैं, क्रिमिरोग को, उपशमन करने वाले हैं, एवं चर्मगत रोगोंको दूर करने वाले हैं ॥ ३२ ॥

---

१ खनामख्यात पुष्पवृक्षे । २ पर्याय--चिंचा चंचु चंचुकी दीर्घपत्रा सतिक्तका आदि ।
३ गंधरास्नायां ।

गुह्याक्षी आदि पत्र शाकगुण.

गुह्याक्षी सकुसुंभ शाकलवणीराज्याजिगंधादयो ।
गौराम्लाम्रदलाखलाकुलहला गंडीरने[1]शुण्डिका[2] ।
शिग्रुजीरशतादिपुष्पसुरसा धान्यं फणी सार्जकाः ।
कासघ्नी क्षवकादयः कफहरास्सोष्णाः सवाते हिताः ॥ ३३॥

भावार्थः—गुह्याक्षी, कुसुम्भ, शेगुनवृक्ष, सीताफल का वृक्ष, राई, अजमोद, सफेदसरसों इमली आम के पत्ते, श्यामतमाल, कुलोहल. गण्डीरनामकशाक, कंदूरी, सेंजन, जीरा, सोफ, सोआ धनिया, फणीवृक्ष, रालवृक्ष, कटेरी चिरचिरा आदि कफको नाश करनेवाले हैं उष्ण हैं एवं वातरोग में हितकारी हैं ॥ ३३ ॥

वंधूक आदि पत्रशाकों के गुण ।

वंधूका भृगुशोलिफेनदलिता वेण्याखुकर्ण्याढकी ।
वृध्द[4]पीतमधुस्रवादितरलीकावंशिनी पङ्गुणा ।
मत्स्याक्षीचणकादि पत्रसहिता शाकप्रणीता गुणाः ।
पित्तघ्नाः कफवर्द्धना वलकराः रक्तामयेभ्यो हिताः ॥ ३४॥

भावार्थः—दुपहरिया का वृक्ष, भृगु वृक्ष, वनहलदी, रीठा, दलिता, पीत देवदौली, मूसांकर्णी, अरहर कचूर, कूसुमके वृक्ष, तरलीवृक्ष, त्या एक प्रकारका कांटेदारवृक्ष) वंशिनी, मछीचना इत्यादि कों के पत्तों में इन शाकोंमें उक्त गुण मौजूद हैं । एवं पित्त को नाश करनेवाले हैं कफको बढानेवाले हैं, बल देनेवाले हैं । एवं रक्तज व्याधि पीडितों के लिये हितकर हैं ॥ ३४ ॥

शिग्रुआदिपुष्पशाकों के गुण ।

शिग्र्वारग्वधशेलुशाल्मलिशमीशाल्कसार्त्रिणी ।
कन्यागस्त्यसणभतीतवरणारिष्टादिपुष्पाण्यपि ।
वातश्लेष्मकराणि पित्तरुधिरे शांतिप्रदान्यादरात् ।
कुक्षौ ये क्रिमयो भवंति नितरां तान् पातयंति स्फुटं[5] ॥ ३५ ॥

भावार्थः—सैंजन अमलतास, लिसोडा, सेमल, छोंकरा कमलकंदादि, तिंतिडीक बडी इलायची अथवा वाराही कंद, अगस्त्य वृक्ष, सन, वरना, नीम इत्यादि के पुष्प वात

---

१ क्षुद्रवृक्षविशेषे, गोरक्षमुण्डीक्षुपे । २ समष्ठीलावृक्ष, किसी भाषा में शुण्डिग्नाशाक कहते हैं ३ मरुवकक्षवृक्षे. (मरुआवृक्ष) क्षुदतुलस्यां । ४ वृध्वापाटमधुस्रवादितरलीकावंसती सण्णिगुडा । इति पाठांतरं ॥ ५ भेप्यां च ।

कफको उत्पन्न करनेवाले हैं। पित्त, रक्त को शांतिदायक हैं अर्थात् शमन करनेवाले हैं। एवं पेट में जो कृमि उत्पन्न होते हैं उनको गिरादेते हैं ॥ ३५ ॥

पंचलवणगिण का गुण

कुक्कुव्या समसूरपत्रलवणी युग्ममर्णी राष्ट्रिका।
पंचैते लवणीगणा जलनिधेस्तीरं सदा संश्रिताः।
वातघ्नाः कफपित्तरक्तजननाश्शोपावहा दुर्जरा।
अश्मर्यादिविभेदनाः पटुतरा मूत्राभिषंगे हिताः ॥ ३६ ॥

भावार्थ—शाल्मलीवृक्ष, मसूर, कचनारका पेड, दाडिमकावृक्ष, और कटाईका पेड ये पांच लवणीवृक्ष कहलाते हैं। ये वृक्ष समुद्रके किनारे रहते हैं। ये वातको दूर करनेवाले होते हैं कफ, पित्त और रक्तको उत्पन्न करते हैं। शरीरमें शोषोत्पादक हैं। व कठिनतासे पचने योग्य हैं। पथरी रोग [मूत्रगतरोग] आदिको दूर करनेवाले हैं। मूत्रगत दोषोंको दमन करनेके लिये विशेषतः हितकर हैं ॥ ३६ ॥

पंचबृहती गणका गुण

व्याघ्री चित्रलता बृहत्यमलिनादर्कोप्यधोमानिनी-।
त्येताः पंचबृहत्य इत्यनुमताः श्लेष्मामयेभ्यो हिताः ॥
कुष्ठघ्नाः क्रिमिनाशना विषहराः पथ्या ज्वरे सर्वदा।
वार्ताकः क्रिमिसंभवः कफकरो मृष्टोतिवृष्यस्तथा ॥ ३७ ॥

भावार्थ—कटेहरी, मजीठ अधोमानिनी[1] बडी कटेली सफेद आक ये पांच बृहती कहलाते हैं, कफसे उत्पन्न बीमारियोंकेलिये हितकर हैं, कोढको दूर करनेवाले हैं, पेटकी क्रिमियोंको नाश करनेवाले हैं। ज्वरमें सदा हितकर हैं। बडी कटेली अथवा बेंगन कफ और क्रिमिरोगको उत्पन्न करनेवाले है। स्वादिष्ट और कामोद्दीपक है ॥ ३७ ॥

पंचवल्ली गुण

तिक्ता बिंबलताच या कटुकिका मार्जारपाती पटो-
लात्यंतोत्तमकारवेल्लिसहिता पंचैव वल्ल्य स्मृताः ॥
पित्तघ्नाः कफनाशनाः क्रिमिहराः कुष्ठे हिता वातलाः
कासश्वासविषज्वरप्रशमना रक्ते च पथ्यास्सदा ॥ ३८ ॥

---

१ इस शद्बका अर्थ प्रायः नहीं मिलता है। मानिनी, इतना ही हो तो फूल प्रियंगु ऐसा अर्थ होता है।

भावार्थः—कडुआ कुंदुरीका वेल, कडुआ तुम्बीका का वेल, मार्जारपादी [लता विशेष] का बेल, (कडुआ) परवल का वेल. करेला का बेल, ये लतायें पंच वल्ली कहलाती हैं। कडु आलुका वेल ये पित्तको दूर करनेवाले हैं। कफको नाश करने वाले हैं। क्रिमिको नाश करनेवाले हैं। कुष्ठरोग के लिए हितकर हैं। कास श्वास [दमा] विषज्वरको शमन करनेवाले हैं। रक्तमें भी हितकर हैं अर्थात् रक्त शुद्धिके कारण हैं ॥२८॥

गृध्रादिवृक्षज फलशाकगुण।

गृध्रापाटलपाटलीद्रुमफलान्यारेवतीनेत्रयोः ।
कर्कोट्यामुशलीफलं वरणकं पिण्डीतकस्यापि च ॥
रूक्षस्वादुहिमानि पित्तकफनिर्णाशानि पाके गुरू- ।
ण्येतान्याश्वनिलावहान्यतितरां शीघ्रं विषघ्नानि च ॥ ३९ ॥

भावार्थः—काकादनी, आग्रुधान, पाडल नेत्र (वृक्षविशेष) ककोडा, मुसली, वरना वृक्ष, पिण्डीतक, (मदन वृक्ष—तुलसी भेद) अमलतास इनके फल रूक्ष होते हैं मधुर होते हैं। ठण्डे होते हैं पित्त और कफको दूर करनेवाले होते हैं। पचनमें गुरू हैं शीघ्र ही वात को बढाने वाले और विषको नाश करते हैं ॥ ३९ ॥

पीलू आदि मूलशाक गुण

पीलूष्मार्द्रकशिग्रुमूललशुनमोचत्पलाडूपणा- ।
घेलाग्रंथिकपिप्पलीकुलहलान्युष्णानि तीक्ष्णान्यपि ।
शाकेषूक्तकरीरमप्यतितरां श्लेष्मानिलघ्नान्यमू-
न्यग्नेर्दीपनकारणानि सततं रक्तप्रकोपानि च ॥ ४० ॥

भावार्थः—पीलुनामक वृक्ष अदरख, सेंजिनियाका जड, लहसन, प्याज कालीमिरच इलायजी पीपलमूल कुलहल नामक क्षुद्रवृक्षविशेष, ये सर्व शाक उष्ण हैं। और तीक्ष्ण हैं। एवं शाकमें कहा हुआ करील भी इसी प्रकारका है। ये सब विशेषतया कफ और वायुको दूर करनेवाले हैं। उदरमें अग्निदीपन करनेवाले हैं। एवं सदा रक्त-विकार करनेवाले हैं ॥ ४० ॥

आम्रादि अम्लफल शाकगुण

कूष्मांडत्रपुषोरुपुष्पफलिनी कर्कारुकोशातकी ।
तुंवीविंबलताफलप्रभृतयो मृष्टाः सुपुष्टिप्रदा ॥
श्लेष्मोद्रेककरास्सुशीतलगुणा पित्तेऽतिरक्ते हिताः ।
किंचिद्वातकरा वहिर्गतमलाः पथ्यातिवृष्यास्तथा ॥ ४१ ॥

१ पुन्नागवृक्षे रोहिष तृणे.

भावार्थ—काशी फल, (पीला कद्दू) खीरा पेठा (सफेदकद्दू) तुरई लौकी, कंदूरी (कुंदरु) आदि लता से उत्पन्न (लताफल) फल स्वादिष्ट और शरीरको पुष्ट करनेवाले होते हैं। कफको उद्रेक करते हैं और ठण्डे हैं। पित्त और रक्तज व्याधियोंमें अत्यंत हितकर है। थोडा वातको उत्पन्न करनेवाले हैं और मल साफ करनेवाले हैं। शरीरके लिये हितकर व कामोद्दीपक है ॥ ४१ ॥

आम्रादि अम्लफल शाकगुण।

आम्राम्रातकमातुलंगलकुचप्राचीनसत्तिंत्रिणी– ।
कोचद्दाडिमकोलचव्यबदरीकर्कंदुपारावताः ॥
भल्लुरयामलकप्रियालकरवंदीवेत्रजीवाम्रको– ।
वीरुभोक्तकुशाम्रचिर्भटकपित्थादीन्यथान्यान्यपि ॥ ४२ ॥
नारंगद्वयकर्मरंगाविलसत्प्रख्यातवृक्षोद्भवा– ।
न्यत्यम्लानि फलानि वातशमनान्युद्रिक्तरक्तान्यपि ॥
पित्तश्लेष्मकराणि पाकगुरुकस्निग्धानि लालाकरा–
ण्यंतर्बाह्यमलातिशोधनकराण्यत्यंततीक्ष्णानि च ॥ ४३ ॥

भावार्थः—आम, अम्बाडा, बिजौरा लिंबू, बडहर, पुरानी तिंतिडीक, अनार, छोटीबेर चव्य (चाव) बडीबेर, झाडिया बेर, फालसा, आंवला, चिरोंजी, करवंदी (१) बेंत, जीवे आम्रक ककडी (खट्टी) कुशाम्र कचरियाँ कथ, और इस प्रकार के अन्यान्य अम्ल फल, एवं, नारंगी, निंबू कमरख आदि, जगत्प्रसिद्ध वृक्षोसे उत्पन्न, अत्यंत खट्टे फल, वात को शमन करते हैं। रक्त को प्रकुपित करते हैं। पित्त कफ को पैदा करते हैं। पाक में गुरु है, स्निग्ध है लारको (थूंक) उत्पन्न करते हैं। भीतर बाहर के दोनों प्रकारके मल को शोधन करनेवाले हैं और तीक्ष्ण हैं ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

बिल्वादिफलशाकगुण।

बिल्वाशांतकशैलबिल्वकरवीगांगेरुकक्षीरिणाम् ।
जंबूतोरणतिंदुकातिबकुला राजादनं चंदनम् ॥
क्षुद्राक्ष्करसत्परूषकतुलक्यादिद्रुमाणां फला–
न्यत्यंतं मलसंग्रहाणि शिशिराण्युक्तानि पित्ते कफे ॥ ४४ ॥

१ क्षुद्र फलवृक्ष विशेष जीवत्यां, जीवके २ आमरस, ३ यह शब्द प्रायः कोशोमें नहीं दीख पडता है। इस के स्थान में " कोशाम्र " ऐसा हो तो छोटा आम, और " कुशाम्र " ऐसा हो तो च क यह अर्थ होता है। ४ गोरक्षकर्कटी।

भावार्थः—वेल, पाषाणभेद, पहाडीवेल, अजवायन, गंगेरन क्षीरीवृक्ष (वड, गूलर पीपल पाखर, फारस, पीपल) जामून, तोरण, (!) तेंदू, मोलसिरी, खिरनी, चंदन कटेली, भिलावा, फालसा, तुलकी (!) इत्यादि वृक्षोंके फल, मल को बांधने वाले हैं। शीत हैं और पित्त, कफोत्पन्नव्याधियों में हितकार हैं ॥ ४४ ॥

द्राक्षादिवृक्षफलशाकगुण।

द्राक्षामोचमधूककाश्मरिलसत्खर्जूरिशृंगाटक ।
प्रस्पष्टोज्वलनालिकेरपनसप्रख्यातहिंताल सत्-
तालादिद्रुमजानिकानि गुरुकाण्युद्यच्छुक्राकरा-
ण्यत्यंतं कफवर्द्धनानि सहसा तालं फलं पित्तकृत् ॥ ४५ ॥

भावार्थः—अंगूर केला, महुआ कुम्भेर सिंवाडे, नारियल, पनस (कटहर) हिंताल (तालवृक्षका एकभेद) आदि इन वृक्षोंसे उत्पन्न फल पचनमें गुरु हैं। शुक्रको करने वाले हैं। एवं अत्यंत कफवृद्धिके कारण हैं। तालफल शीघ्र ही पित्तको उत्पन्न करनेवाला है ॥ ४५ ॥

तालादिशाकगुण।

तालादिद्रुमकेतकीप्रभृतिषु श्लेष्मापहं मस्तकं ।
स्थूणीकं तिलकल्कमप्यभिहितं पिण्याकशाकानि च ।
शुष्काण्यत्र कफापहान्यनुदिनं रूक्षाणि वृक्षोद्भवा-
न्यस्थीनि प्रबलानि तानि सततं सांग्राहिकाणि स्फुटं ॥ ४६ ॥

भावार्थः—ताड, केतकी (केवडा) नारियल आदि, वृक्षोंके मस्तक (ऊपरका) भाग एवं स्थूणीक (!) तिल का कल्क, मालकांगनी आदि शाक कफको नाश करने वाले हैं। इस वृक्षोंसे उत्पन्न, शुष्कबीज भी कफनाशक हैं, रूक्ष हैं, अत्यंत वात को उत्पन्न करने वाले हैं एवं हमेशा शरीर के द्रवस्राव को सुखाने वाले हैं ॥ ४६ ॥

उपसंहार।

शाकान्येतानि साक्षादनुगुणसहितान्यत्रलोकप्रतीता-
न्युक्तान्यस्माद्द्रवाणां प्रवचनमिहसंक्षेपतस्संविधानैः ।
अत्रादौ तोयमेव प्रकटयितुमतः प्रक्रमः प्राणिनां हि ।
प्राणं बाह्यं द्रवाणामपि परममहाकारणं स्वप्रधानम् ॥ ४७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार लोकमें प्रसिद्ध, शाकों के वर्णन, उन के गुणों के साथ इस परिच्छेद मे साक्षात् कर चुके हैं। अब यहां से आगे, अर्थात् अगले परिच्छेद में संक्षेप से, द्रवपदार्थों का वर्णन करेंगे। इन द्रवद्रव्यों में से भी सब से पहिले, जल का वर्णन प्रारम्भ किया जायगा। क्यों कि प्राणियों के लिये जल ही बाह्य प्राण है और दूध आदि अन्य द्रव पदार्थों की उत्पत्ति में भी जल ही प्रधान कारण है। इसलिये सर्व द्रव पदार्थों में जल ही प्रधान है॥ ४७॥

अंतमंगल।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम्॥ ४८॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथमें जगतका एक मात्र हित साधक है [इसलिये ही इसका नाम कल्याणकारक है]॥ ४८॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षणाधिकारे धान्यादिगुणागुणविचारो नाम चतुर्थः परिच्छेदः।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के स्वास्थ्यरक्षणाधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में धान्यादिगुणागुणविचार नामक **चौथा परिच्छेद** समाप्त हुआ।

—*×*—

१—जीवनं तर्पणं हृद्यं इति ग्रंथांतरे।

अथ पंचमपरिच्छेदः ।

द्रवद्रव्याधिकार ।

मंगलाचरण ।

अथ जिनमुनिनाथं द्रव्यतत्वप्रवीणं ।
सकलविमलसम्यग्ज्ञाननेत्रं त्रिणेत्रम् ॥
अनुदिनमभिवंद्य प्रोच्यते तोयभेदः ।
क्षितिजलपवनाग्न्याकाशभूमिप्रदेशैः ॥ १ ॥

भावार्थः—अब हम जिन और मुनियोंके स्वामी द्रव्यस्वरूपके निरूपण करने में कुशल, निर्मल केवलज्ञानरूपी नेत्रसे युक्त, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपी तीन नेत्रोंसे सुशोभित, भगवान् अर्हत्परमेष्ठीको नमस्कार कर, पृथ्वी जल वायु अग्नि आकाश गुणयुक्त भूमिप्रदेश के लक्षण के साथ, तत्तद्भूमि में उत्पन्न जलका विवेचन करेंगे ऐसा श्री आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

रसों की व्यक्तता कैसे हो ?

अभिहितवरभूतान्योन्यसर्वप्रवेशेऽ-
प्यधिकतरवशेनैवात्रतोयैः रसस्स्यात् ॥
प्रभवतु भुवि सर्वं सर्वथान्योन्यरूपं ।
निजगुणरचनेयं गौणमुख्यप्रभेदात् ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथ्वी, अप, तेज वायु आकाश ये पांच भूत, प्रत्येक, पदार्थों में मधुरादि रसों की व्यक्तता व उत्पत्ति के लिये कारण हैं। उपर्युक्त पंच महाभूतोंके अन्योन्यप्रवेश होनेसे यदि उसमें जलका अंश अधिक हो तो वह द्रवरूपमें परिणत होता है। इसीतरह पानीमें भी रसको व्यक्त करने के लिये वे ही भूत कारण हैं। लेकिन शंका यह उपस्थित होती है कि, जब जल में ये पांचों भूत एकसाथ अन्योन्यप्रवेशी होकर रहते हैं, तो मधुर आदि खास २ रसोंकी व्यक्तता कैसे हो? क्यों कि एक २ भूतसे एक २ रस की उत्पत्ति होती है। इस का उत्तर आचार्य देते हैं कि, जिस जलमें जिस भूतका आधिक्यांशसे विद्यमान हो, उस भूत के अनुकूल रस व्यक्त होता है। इसी प्रकार संसारमें जितने भी पदार्थ हैं उन सब में पांचों भूतों के समावेश होते हुए भी, गौण मुख्य भेदसे अपनी विशिष्ट २ गुणों की रचना होती है ॥ २ ॥

अथ जलवर्गः ।

पृथ्वीगुणबाहुल्य भूमिका लक्षण व वहांका जलस्वरूप ।

स्थिरतरगुरुकृष्णश्यामलाश्मोपलाढ्या ।
बृहदुरुतृणवृक्षा स्थूलसस्यावनी स्यात् ॥
क्षितिगुणबहुलात्तत्राम्लतामेति तोयं ।
लवणमपि च भूमौ क्षेत्ररूपं च सर्वं ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो भूमि अत्यंत कठिन व भारी हो, जिसका वर्ण, काला व श्याम हो, जहां अधिक पत्थर, अधिक बडे २ तृण वृक्ष और स्थूल सस्यों से युक्त हो तो उस भूमि को, अत्यधिक पृथ्वी गुण युक्त समझना चाहिये। वहां का जल, पृथ्वीगुण के बाहुल्य से, खट्टा व खारा स्वादवाला होता है। क्यों कि जिस भूमि का गुण जैसा होता है तदनुकूल ही सभी पदार्थ होते हैं ॥ ३ ॥

जलगुणाधिक्य भूमि एवं वहांका जलस्वरूप ।

शिशिरगुणसमेता संततो यातिशुक्ला ।
मृदुतरतृणवृक्षा स्निग्धसस्या रसाढ्या ॥
जलगुणबहुलेयं भूस्ततः शुक्लमंभो ।
मधुररससमेतं स्वच्छमिष्टं मनोज्ञम् ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो भूमि शीतगुणसे युक्त है, सफेदवर्णवाली है, कोमल तृण व वृक्षों से संयुक्त है तथा स्निग्ध, और रसीले सस्य सहित हैं, वह जलगुण अधिकवाली भूमि है। वहां का जल सफेद, स्वच्छ, मधुररससंयुक्त, [इसलिये] स्वादिष्ट, और मनोज्ञ होता है ॥ ४ ॥

वाताधिक्य भूमि एवं वहां का जलस्वरूप ।

परुषविषमरूक्षा बभ्रुकापोतवर्णा ।
विरलतृणकुसस्या कोटरप्रायवृक्षा ॥
पवनगुणमयी स्यात्सा मही तत्र तोयं ।
कटुक खलु कषायं धूम्रवर्णं हि रूपम् ॥ ५ ॥

भावार्थः—जहांकी भूमि कठिन हो, ऊंचीनीची विषम रूपसे स्थित हो, रूक्ष हो भूरे वर्णकी हो, कबूतरी रंगकी हो, और जहांके तृण प्रायः रसरहित हों, कुसस्यसे युक्त

हो एवं वृक्ष प्रायः कोटरोंसे युक्त हों वह भूमि अधिक वायुगुणवाली है। ऐसी भूमिमें उत्पन्न होनेवाला जल कडुवा होता है कषायाला होता है, उसका वर्ण धूंवा जैसा होता है ॥५॥

अग्निगुणाधिक्यभूमि एवं वहांका जलस्वरूप।

बहुविधवरवर्णोत्यंतधातूष्णयुक्ता ।
प्रविमलतृणसस्या स्वल्पपाण्डुप्ररोहा ॥
दहनगुणधरेयं धारिणी तोयमस्यां ।
कटुकमपि च तिक्तं भासुरं धूसराभं ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो बहुत प्रकार के श्रेष्ट वर्ण, व उष्ण धातुओंसे संयुक्त, निर्मल तृण व सस्यसहित हो और जहां थोडा सफेद अंकुर हों ऐसी भूमि, अग्नि गुणसे युक्त होती है। ऐसी भूमिमें उत्पन्न जल कटु (चिरपरा) व कडुआ रसवाला होता है तथा उसका वर्ण, भासुर व धूसर है ॥ ६ ॥

आकाशगुणयुक्त भूमि एवं वहा का जलस्वरूप।

समतलमृदुभागाश्वभ्रमत्यंतमुदाभा ।
विरलसरलसर्ज्जप्रांशुवृक्षाभिरामा ॥
वियदमलगुणाढ्या भूरिहाप्यंबुसर्वे ।
व्यपगतरसवर्णोपेतमेतत्प्रधानम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो भूमि, समतल वाली हो, अर्थात् ऊंची नीची न हो, मृदु हो छिद्र व खड्डेसे युक्त न हो विरल रूपसे स्थित सरल, साल, आदि ऊंचे वृक्षों से सुशोभित हो, तो उस भूमि को श्रेष्ठ आकाश के गुणों से युक्त जानना चाहिये। इस भूमि में उत्पन्न जल, विशेष (खास) वर्ण व रस से रहित है। यही प्रधान है। अत एव पीने योग्य है ॥७॥

पेयापेय पानी के लक्षण।

व्यपगतरसगंधस्वच्छमत्यंतशीतं ।
लघुतममतिमेध्यं पेयमेतद्धि तोयम् ॥
गिरिगहनकुदेशोत्पन्नपत्रादिजुष्टं ।
परिहृतमितिचोक्तं दोपजालैरुपेतम् ॥ ८ ॥

भावार्थः—जिस जलमें रस और गंध नहीं है, स्वच्छ है एवं अत्यंत शीत है, हलका है बुद्धिप्रबोधक[1] है यह पीने योग्य है। और बडे पहाड, जंगल खोटा स्थान, इत्यादिसे उत्पन्न व, वृक्षके पत्ते इत्यादियोंसे युक्त जल दोषयुक्त है। उसे नहीं पीना चाहिये ॥ ८ ॥

१ बुद्धिप्रबोधनम्।

जलका स्पर्श व रूप दोष ।

खरतरमिह सोष्णं पिच्छिलं दंतचर्व्यं ।
सुविदित जलसंस्थं स्पर्शदोषप्रसिद्धम् ॥
बहलमलकलंकं शैवलात्यंतकृष्णं ।
भवति हि जलरूपे दोष एवं प्रतीतः ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो पानी द्रवीभूत न हो, उष्ण हो, दांतसे चाबनेमें आता हो, चिकना हो वह जल स्पर्श दोषसे दूषित समझना चाहिये । एवं अत्यंत मलसे कलंकित रहना, शेवालसे युक्त होनेसे काला होना यह जलके रूपमें दोष है ॥ ९ ॥

जलका, गंध, रस व वीर्यदोष ।

भवति हि जलदोषोऽनिष्टगंधस्सुगंधो ।
विदितरसविशेषोप्येष दोषो रसाख्यः ॥
यदुपहतमतीवाध्मानशूलप्रसेकान् ।
तृषमपि जनयेत्तत् वीर्यदोषाभिधाकं ॥ १० ॥

भावार्थ—जलमें दुर्गंध रहना अथवा सुगंध रहना यह जलगत गंधदोष है । कोई विशेष रस रहना (मालूम पडना) यह जलगत रसदोष है । जिस जलको थोडा पीनेपर भी, आध्मान (अफराना) शूल, जुखाम आदि को पैदा करता है एवं प्यासको भी बढाता है, वह वीर्य दोप से युक्त जानना चाहिये ॥ १० ॥

जलका पाक दोष ।

यदपि न खलु पीतं पाकमायाति शीघ्रं ।
भवति च सहसा विष्टंभिपाकाख्य दोषः ॥
पुनरथकथितास्तु व्यापदः षड्विधास्सत् ।
प्रशमनमिह सम्यक्कथ्यते तोयवासः ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो जल पीने पर शीघ्र पचन नहीं होता है और सहसा, मलरोध होता है यह जलका पाक नामक दोष है । ऊपर जलमें जो २ छह प्रकारके दोष बतलाये गये उनको उपशमन करनेके जो उपाय हैं उनको अब यहांपर कहेंगे ॥ ११ ॥

जलशुद्धि विधान ।

कतकफलनिघृष्टं वातसीपिष्टयुक्तं ।
दहनमुखविपक्वं तप्तलोहाभितप्तं ॥
दिनकरकरतप्तं चंद्रपादैर्निशीथे ।
परिकलितमनेकैश्शोधितं गालितं तत् ॥ १२ ॥

जलजदललवंगोशीरसच्चंदनाद्यै- ।
हिमकरतुटिकुष्ठप्रस्फुरन्नागपुष्पैः ॥
सुरभिवकुलजातीमल्लिकापाटलीभिः ।
सलवितलवलीनीलोत्पलैश्चोचचोरैः ॥ १३ ॥
अभिनवसहकारैश्चंपकाद्यैरनेकै- ।
स्सुरुचिरवरगंधैर्मृत्कपालैस्तथान्यैः ॥
असनखदिरसारैर्वासितं तोयमेत- ।
च्छमयति सहसा संतापतृष्णादिदोषान् ॥ १४ ॥

भावार्थ—कतकफल (निर्मली बीज) व अतसीके आटा डालना, अग्निसे तपाना, तपे हुए लोहको बुझाकर गरम करना, सूर्यकिरणमें रखना, रात्रिमें चान्दनीमें रखना आदि नाना प्रकारके उपायोंसे शोधन किया गया, तथा वस्त्र वगैरहसे छना हुआ, कमल-पत्र, लौंग, खश, चन्दन, कर्पूर छोटीइलायची, कूट, श्रेष्ट नागपुष्प (चंपा) अत्यंत सुगंधि वकुल जाई, मल्लिकापुष्प, पाढन के फूल, जायफल, हरपारेवडी, नीलोपल, दालचीनि, शरीभेद नवीन व अत्यंत सुगंधि युक्त आमका फूल, चम्पा आदि अनेक सुगंधि युक्त पुष्पोंसे, तथा मृत्कपाल, (भृष्टखर्पर) विजयसार खैरसार आदिकोंसे, सुगंध किया गया जल, शीघ्र ही ताप, तृष्णा आदि दोषोंको शमन करता है ॥१२॥१३॥१४॥

वर्षाकाल से भूस्थ, व आकाशजलके गुण ।

न भवति भुवि सर्वं स्नानपानादियोग्यं ।
विषमिव विषरूपं वार्षिकं भूतलस्थम् ॥
विविधविषमरोगानीकहेतुर्विशेषा- ।
दमृतमिति पठन्त्येतत्तदाकाशतोयम् ॥ १५ ॥

भावार्थः—लोकमें सभी पानी स्नान और पीने योग्य नहीं हुआ करते हैं, कोई विषके समान भी विष (जल) होते हैं। वर्षा ऋतुमें भूतलस्थ जल, नाना प्रकार के विषम व्याधि यों की उत्पत्ति के लिये कारण है। आकाशसे गिरता हुआ जो कि भूमि के स्पर्श करने के पहिले ही ग्रहण किया गया हो ऐसे पानी अमृत के समान है। ॥१५॥

कथित जल गुण ।

कथितमथ च पेयं कोष्णमंभो यदेत-
द्व्यपगतमलफेनं शुद्धिमद्वा विशिष्टं ॥
श्वसनकसनमेदश्लेष्मवातामनाशं ।
ज्वरहरमपि चोक्तम् शोधनं दीपनं च ॥ १६ ॥

भावार्थः—यह वर्षाऋतुका गरम किया हुआ मंदोष्ण जल जिसमें झाग वगैरह न हो ऐसे निर्मल वा शुद्ध जलको पीना चाहिये। वह जल श्वासकांस, मेद, कफ, वात और आमको नाश करता है एवं ज्वरको भी दूर करनेवाला और मलशोधक, अग्निदीपन करनेवाला है ॥ १६ ॥

सिद्धान्नपानवर्गः।

यवागू के गुण।

पचति च खलु सर्वं दीपनी बस्तिशुद्धिं।
वितरति तृषि पथ्या वातनाशं करोति ॥
हरति च वरपित्तं श्लेष्मला चातिलध्वी—।
सततमपि यवागू मानुषर्णां निषिद्धा ॥ १७ ॥

भावार्थः—यवागू सर्व आहारको पचाती है। अग्निको दीपन करती है, वस्ति (मूत्राशय) शुद्धि को करती है, प्यासमें पीने के लिये हितकर है, वातको नाश करती है, पित्तोद्रेकको भी नाश करता है। कफ को वढाती है अत्यंत लघु है। इसलिये यवागू मनुष्यों को हमेशा पीनेके लिये निषिद्ध नहीं हैं अर्थात् हमेशा पी सकते हैं।

विशेषः—यवागू दाल आदि धान्योंको को छह गुना जल डालकर उतना पकावें कि उस में विशेष द्रव न रह जाय लेकिन ज्यादा घन भी नहीं होना चाहिये। उसको यवागू कहते हैं। अन्यत्र कहा भी है। **यवागू षड्गुणस्तोयैः संसिद्धा विरलद्रवा** ॥ १७ ॥

मण्ड गुण।

कफकरमतिवृष्यं पुष्टिकृन्मृष्टमेतत्।
पवनरुधिरपित्तोन्मूलनं निर्मलंच ॥
बहलगुरुतराख्यं बल्यमत्यंतपथ्यं।
क्रिमिजननविषघ्नं मण्डमाहुर्मुनींद्राः ॥ १८ ॥

भावार्थः—माण्ड कफको वृद्धि करनेवाली है, अत्यंत पौष्टिक वृष्य (कायको बढाने वाली है) है, स्वादिष्ट है। वायुविकार व रक्तपित्त के विकारको दूर करने वाली है, निर्मल है। जो मण्ड गाढी है वह गुरु होती है। और शरीरको बल देनेवाली एवं हितकर है। क्रिमियोंको पैदा करती है विषको नाश करती है इस प्रकार मुनींद्र मण्डका गुण दोष बतलाते हैं ॥ १८ ॥

---

१ कहा भी है—मण्डश्चतुर्दशगुणे सिद्धस्तोये त्वसिक्थकः।

मुद्गयूष गुण ।

ज्वरहरमनिलाढ्यं रक्तपित्तप्रणाशं ।
वदति मुनिगणस्तन्मुद्गयूषं कफघ्नं ॥
पवनमपि निहंति स्नेहसंस्कारयुक्तं ।
शमयति तनुदाहं सर्वदोषप्रशस्तम् ॥ १९ ॥

भावार्थः—पूर्वाचार्य मुद्गयूषका गुण दोष कहते हैं कि वह ज्वरको दूर करने वाला है। वातवृद्धि करनेवाला है, रक्तपित्त और कफको दूर करनेवाला है। यदि वह संस्कृत हो अर्थात् घी, तेल आदिसे युक्त हो तो वायुको भी शमन करता है एवं शरीर दाहको शमन करता है, सर्व दोषोंके लिए उपशामक है ॥ १९ ॥

मुद्गयूष सेवन करने योग्य मनुष्य.

व्यपहृतमलदोषा ये व्रणक्षीणगात्रा ।
अधिकतर तृषार्ता ये च घर्मप्रतप्ताः ॥
ज्वलनमुखविदग्धा येऽतिसाराभिभूताः ।
श्रमयुतमनुजास्ते मुद्गयूषस्य योग्याः ॥ २० ॥

भावार्थः—जिन का मल व दोष, वमन आदि कर्मोंद्वारा शरीर से निकाल दिया हो, व्रण के कारण जिन का शरीर क्षीण होगया हो, जो अत्यंत प्यासा हो, धूपसे जिनका शरीर तप्त हो, अग्नि के द्वारा दग्ध हो, अतिसार रोगसे पीडित हो, एवं जो थक गये हो ऐसे मनुष्य मुद्गयूष सेवन करने योग्य हैं अर्थात् ऐसे मनुष्य यदि मुद्गयूष सेवन करें तो हित हो सकता है ॥ २० ॥

दुग्धवर्ग ।

अष्टविधदुग्ध ।

करभमहिषगोऽविच्छागमुग्यश्वनारी- ।
पय इति बहुनाम्ना क्षीरमष्टप्रभेदम् ॥
विविधतरतृणाख्यातौषधोत्पन्नवीर्यै- ।
र्हितकरमिह सर्वप्राणिनां सर्वमेव ॥ २१ ॥

---

१ द्विदल (मूंग मटर आदि) धान्यों को अठारह गुण जल डालकर सिद्ध किया गया दाल को यूष कहते हैं। कहा भी है-स्निग्ध पदार्थो यूष स्मृतो वैदलानामष्टादशगुणेऽम्भसि ।

भावार्थ—ऊंठनी, भैंस, गाय, मेंढी, बकरी, हरिणी, घोडी, और मनुष्य स्त्री, इनसे उत्पन्न लोकप्रसिद्ध दूध आठ प्रकारका है। वह, नानाप्रकारके वृक्ष, तृण, प्रसिद्ध औषधियों द्वारा उत्पन्न है विशिष्ट वीर्य जिसका, अर्थात् उपरोक्त दूध देने वाली प्राणियां नाना प्रकारके वनस्पतियोंको खाती हैं जिसमें प्रसिद्ध औषधि भी होती हैं, उनके परिपाक होनेपर, उन औषधियोंके वीर्य दूधमें आजाता है। इसलिये, सर्व प्राणियोंको सभी दूध हितकर होते हैं ॥ २१ ॥

दुग्धगुण।

तदपि मधुरशीतं स्निग्धमत्यंतवृष्यं ।
रुधिरपवनतृष्णापित्तमूर्च्छातिसारं ॥
श्वसनकसनशोषोन्मादजीर्णज्वरार्ति ।
भ्रममदविषमोदावर्तनिर्नाशनं च ॥ २२ ॥
हितकरमतिबल्यं यो निरोगप्रशस्तं ।
श्रमहरमतिगर्भस्रावसंस्थापनं च ॥
निखिलहृदयरोगप्रोक्तवस्त्यामयानां ।
प्रशमनमिह गुल्मग्रंथिनिर्लोठनं च ॥ २३ ॥

धारोष्णदुग्ध गुण। श्रृतोष्णदुग्धगुण।

अमृतमिव मनोज्ञं यच्च धारोष्णमेतत् ।
कफपवननिहंतृप्रोक्तमेतच्छ्रितोष्णम् ॥
शमयति बहुपित्तं पक्वशीतं ततोन्य- ।
द्विविधविषमदोषोद्भूतरोगैकहेतुः ॥ २४ ॥
क्षीरं हितं श्रेष्ठरसायनं च ।
क्षीरं वपुर्वर्णबलावहं च ॥
क्षीरं हि चक्षुष्यमिदं नराणाम् ।
क्षीरं वयस्थापनमुत्तमं च ॥ २५ ॥

श्रृतशीतदुग्धगुण

क्षीरं हि संदीपनमद्वितीयं ।
क्षीरं हि जन्मप्रभृति प्रधानं ॥
सोष्णं हि संशोधनमादरेण ।
संधानकृत्तच्छ्रितशीतलं स्यात् ॥ २६ ॥

भावार्थः—ऊपर कहे गये आठ प्रकार के दूधोंका सामान्य रूपसे गुण दोष बतलाते हैं। वह मधुर है, शीत है चिकना है, कामवर्द्धक है अत्यंत रक्तदोष, वातविकार, तृष्णारोग, पित्त, मूर्च्छा, अतिसार, श्वास खांस दोष, उन्माद, जीर्णज्वर भ्रम, मद, विषम उदावर्त रोग को नाश करता है ॥ २२ ॥ दूध शरीरको हित करनेवाला है, अत्यंत बल देनेवाला है, योनिरोगोंकेलिये उपयुक्त है। थकावटको दूर करनेवाला एवं गर्भस्रावको रोकनेवाला है, संपूर्ण हृदयके रोगोंको शमन करनेवाला है। वस्ति (मूत्राशय) के रोगों को शमन करता है गुल्मग्रंथियों को दूर करनेवाला है। ॥ २३ ॥ यदि वह दूध धारोष्ण हो अर्थात् धार निकालते ही पीनेके काममें आवे तो वह अमृतके समान है। यदि उसे फिर गरम करके पिया जाय तो कफ और वात विकारको दूर करनेवाला है। गरम करके ठण्डा कियां हुआ दूध पित्तविकारको शमन करता है। बाकी अवस्थामें अनेक विषम रोगोंके उत्पन्न होनेकेलिये कारण है ॥२४॥ दूध शरीरकेलिये हित है एवं श्रेष्ठ रसायन है। दूध शरीरके वर्णकी वृद्धि करनेवाला एवं शरीरमें बलप्रदान करनेवाला है। दूध मनुष्योंकी आंख के लिये हितकर है। दूध पूर्णायुकी स्थितिकेलिये सहकारी है एवं उत्तम है ॥२५॥ क्षीर शरीरमें अग्निको दीपन (तेज) करनेवाला है, प्रत्येक प्राणीके लिये यह जन्म कालसे ही प्रधान आहार है, उसे यदि गरम ही पीवें तो मलकी शुद्धि करता है अर्थात् दस्त लाता है। गरम करके ठण्डा किया हुआ दूध मल आदि को बांधने वाला है ॥२६

दही के गुण।

> दध्युष्णमम्लं पवनप्रणाशी।
> श्लेष्मापहं पित्तकरं विषघ्नं ॥
> संदीपनं स्निग्धकरं विदाहि।
> विष्टंभि वृष्यं गुरुपाकमिष्टम् ॥ २७ ॥

भावार्थः—दही उष्ण है, खट्टी है, वातविकार दूर करनेवाली है, कफको नाश करनेवाली है, पित्तोत्पादक है, विषको हरनेवाली है, अग्नितेज करनेवाली है। स्निग्ध कारक है, विदाहि है, मलावरोधकारक है, वृष्य (कामोत्पादक) है, देरमें पचनेवाला है ॥ २७ ॥

तक्रगुण।

> तक्रं लघूष्णाम्लकषायरूक्ष-।
> मग्निप्रदं श्लेष्मविनाशनं च।
> शुक्लं हि पित्तं मरुतः प्रकोपी ॥
> संशोधनं मूत्रपुरीषयोश्च ॥ २८ ॥

भावार्थः—छाछ (तक्र) हलका (जल्दी पचनेवाला है) व उष्ण है, खट्टा व कषायला होता है। रूक्षगुणवाला है, अग्निको बढानेवाला एवं कफको दूर करनेवाला है, शुक्र पित्त व वायु विकारको उद्रेक करनेवाला है मल मूत्रको साफ करनेवाला है ॥२८॥

उदश्वित्के गुण

सम्यक्कृतं सर्वसुगंधियुक्तं ।
शीतीकृतं सूक्ष्मपटस्रुतं च ॥
स्वच्छांबुसंकाशमशेषरोग ।
संतापनुद्वृष्यमुदश्विदुक्तम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—दहीमें समभाग पानी मिलाकर मथन करें उसे उदश्वित् कहते हैं। जो अच्छीतरह तयार किया गया हो सुगंध द्रव्यसे मिश्रित हो,ठण्डा किया हो, पतले कपडेसे शोधित हो एवं निर्मल पानीके समान हो, संपूर्ण रोगोंको व संतापको दूर करता हो व पौष्टिक हो उसे उदश्वित् कहते हैं ॥ २९ ॥

खलगुण ।

सर्वैः कटुद्रव्यगणैस्सुपक्वं ।
सुस्नेहसंस्कारयुतस्सुगंधिः ॥
श्लेष्मानिलघ्नोऽग्निकरो लघुश्च ।
सर्वः खलस्तत्कृतकाम्लिकश्च ॥ ३० ॥

भावार्थः—उपर्युक्त छाछमें मिरच आदि, कटुद्रव्य डालकर अच्छी तरह पकाकर उसमें घी आदिसे संस्कार (छौंक) किया गया हो उसे खल कहते हैं। यह कफ विकार व वात विकारको दूर करनेवाली है, एवं शरीरमें अग्निको तेज करती है। पचनमें हलकी है। इसी छाछकेद्वारा बनाये गये अम्लिका (कढी) आदिके भी यही गुण है ॥ ३० ॥

नवनीत गुण ।

शीतं तथाम्लं मधुरातिवृष्यं ।
श्लेष्मावहं पित्तमरुत्प्रणाशी ॥
शोषक्षतक्षीणकृशातिवृद्ध-
बालेषु पथ्यं नवनीतमुक्तम् ॥ ३१ ॥

भावार्थः—नवनीत (लोणी) शीत है, खट्टा रसवाला है। मधुर भी है।

अति वृष्य है कफकारक है । पित्तविकारको दूर करनेवाला है। क्षय, उरःक्षत रोग से जो क्षीण होगया हो, अति कृश होगया हो उसे एवं बालक व वृद्धोंके लिये हितकर है ॥ ३१ ॥

घृतगुण।

वीर्याधिकं शीतगुणं विपाकि ।
स्वादुत्रिदोषघ्नरसायनं च ।
तेजो बलायुश्च करोति मेध्यं ॥
चक्षुष्यमेतद्घृतमाहुरार्याः ॥ ३२ ॥

भावार्थः—घी शक्तिवर्द्धक है, शीत गुणवाला है, पचन कारक है। स्वादिष्ट होता है। वात पित्तकफको दूरकरनेवाला है, रसायन है, शरीरमें तेज बल आयु की वृद्धि करनेवाला है। मदको बढानेवाला है एवं आंखके लिये हितकर है ऐसा पूज्य पुरुष कहते हैं ॥ ३२ ॥

तैलगुण।

पित्तं कषायं मधुरातिवृष्यं ।
सुतीक्ष्णमग्निप्रभवैकहेतुम् ॥
केश्यं शरीरोज्वलवर्णकारी ।
तैलं क्रिमिश्लैष्ममरुत्प्रणाशी ॥ ३३ ॥

भावार्थः—तेल पित्त करनेवाला है। इसका रस मधुर और कषाय है। वृष्य है, अग्निको तीक्ष्ण करनेवाला है। केशों को हित करनेवाला है। शरीरका तेज बढानेवाला है एवं क्रिमिको नाश करनेवाला है। कफ और वायुको दूर करनेवाला है ॥ ३३ ॥

कांजिके गुण ॥

सौवीरमम्लं बहिरेव शीत-
मंतर्विदाह्यग्निकृदश्मरेकम् ।
गुल्मादिसंभेद्यनिलापहारि ॥
हृद्यं गुरु प्राणबलप्रदं च ॥ ३४ ॥

भावार्थः—खट्टी कांजी बाहरसे ही शीत प्रतिभास होती है। परंतु अंदर जाकर जलन पैदा करनेवाली है। गुल्म आदिको भेदन करती है। मूत्रके पत्थरको रेचन करनेवाली, वात विकारको दूर करनेवाली है। हृद्य एवं पचनेमें भारी है। शरीरको शक्ति देनेवाली है ॥ ३४ ॥

अथ मूत्रवर्गः।

अष्ट मूत्रगुण

गोऽजामहिष्याश्वखरोष्ट्रहस्ति- ।
शस्ताविसंभूतमिहाष्टभेदम् ॥
मूत्रं क्रिमिघ्नं कटुतिक्तमुष्णम् ।
रूक्षं लघुश्लेष्मगदादिनाशि ॥ ३५ ॥

क्षार गुण

क्षाररसदा मूत्रगुणानुकारी ।
कुष्ठार्बुदग्रंथिकिलासकृच्छ्रान् ।
अर्शांसि दुष्टव्रणसर्वजंतू- ।
नाग्नेयशक्त्या दहतीह देहम् ॥ ३६ ॥

भावार्थः—गाय, बकरी, भैंस, घोडा गधा, ऊंठ, हाथी, मेंढा, इन आठ प्राणियोंसे उत्पन्न मूत्र आठ प्रकारका है। यह क्रिमियोंको नाश करनेवाले हैं। कटु (चिरपरा) तिक्त व उष्ण हैं। रुक्ष हैं लघु है एवं कफ और वातको दूर करनेवाले हैं। क्षार में उपरोक्त मूत्र के गुण हैं। कुष्ट, अर्बुद, ग्रंथि, किलासकुष्ठ, मूत्रकृच्छ्र, बवासीर, दूषितव्रण, और सम्पूर्ण क्रिमिरोग को जीतता है। अपनी आग्नेय शक्ति के द्वारा देह को जलाता है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

द्रवद्रव्यों के उपसंहार

एवं द्रवद्रव्यगुणाः प्रतीताः ।
पानानि मान्यानि मनोहराणि ॥
युक्त्यानया सर्वहितानि तानि ।
ब्रूयाद्भिषग् भक्षणभोजनानि ॥ ३७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार द्रव द्रव्यों के गुणका विचार किया गया है। इसी प्रकार प्राणियोंके लिये हितकर मान्य, व मनोहर भक्ष्य पेय ऐसे अन्य जो पदार्थ हैं, उनके गुणोंको वैद्य बतलावें ॥३७॥

अनुपानाधिकारः

अनुपानविचार।

इत्थं द्रवद्रव्यविधिं विधाय ।
संक्षेपतः सर्वमिहानुपानम् ॥
वक्षाम्यहं सर्वरसानुपानं ।
मान्यं मनोहारि मतानुसारि ॥ ३८ ॥

भावार्थः—इस प्रकार सम्पूर्ण द्रवद्रव्यों को वर्णन करके आगे, हम संक्षेप से, सर्व रसों के सम्पूर्ण अनुपान का वर्णन, मनोहर मत के अर्थात् पूर्वाचार्यों के दिव्य मत के अनुसार, सिद्धांताविरूद्ध रूपसे करेंगे ॥ ३८ ॥

सर्व भोज्यपदार्थों के अनुपान ।

भोज्येषु सर्वेष्वपि सर्वथैव ।
सामान्यतो भेषजमुष्णतोयम् ॥
तिक्तेषु सौवीरमथाम्लतक्रं ।
पथ्यानुपानं लवणान्वितेषु ॥ ३९ ॥

भावार्थः—सभी प्रकारके भोजन में सामान्यदृष्टीसे सर्वथा गरम पानी पीछे से पीना यही एक औषध है। भोजनमे कांजी लेना ठीक है ॥ ३९ ॥

कषाय आदि रसोंके अनुपान ।

नित्यं कषायेषु फलेषु कंद-
शाकेषु पथ्यं मधुरानुपानम् ।
श्रेष्ठं कटुद्रव्ययुतानुपानं ।
सर्वेषु साक्षान्मधुराधिकेषु ॥ ४० ॥

भावार्थः—कषाय रसयुक्त फल व कंदमूलके भाजियोंमें मठारस अनुपान करना पथ्य है, जो भोजन साक्षात् मधुर है उसमें चिरपरा रस अनुपान करना अच्छा है ॥४०॥

अम्ल आदि रसों के अनुपान

आम्लेषु नित्यं लवणमगाढं ।
तिक्तानुपानं कटुकेषु सम्यक् ॥
पथ्यं तथैवात्र कषायपानं ।
क्षीरं हितं सर्वरसानुपानम् ॥ ४१ ॥

भावार्थः—खट्टे पदार्थों के साथ लवणरस अनुपान करना योग्य है। तीखे पदार्थोंके लिये कडुआ व कषायले रस अनुपान हैं दूध सभी रसोंके साथ हितकर अनुपान है ॥ ४१॥

१—कटुस्यात्कटुतिक्तयोः ।

अनुपानविधानका उपसंहार

ांचिन्मधुरे भवत्यतितराकांक्षाम्लसंसेवना- ।
श्वान्यतरातिसेवनतया वांछा भवेदादरात् ।
यस्य हितं यदेव रुचिकृद्यस्य सात्म्यादिकं ।
सर्वमिहानुपानविधिना योज्यं भिषग्भिस्सदा ॥ ४२ ॥

किसी किसीको अम्लरसके अधिक सेवनसे मीठे रसमें अधिक इच्छा ता है । किसी को अम्लके अतिरिक्त किसी रस का अधिक सेवनसे खट्टे रस की इच्छा ती है । इसी तरह किसी को कुछ, अन्य को कुछ रस सेवन की चाह होती है । इस- ये विद्वान वैद्यको उचित है कि वे जिनको जिस रसकी इच्छा हो और जो हितकर हो र उनकी प्रकृतिके लिये अनुकूल हो उन सबको अनुपान विधिसे प्रयोग करें ॥४२॥

भोजन के पश्चात् विधेय विधि।

पश्चाद्धौतकरौ प्रमथ्य सलिलं दद्यात्सुचक्षुप्रदं ।
प्रोद्यदृष्टिकरं विरूपविविधव्याधिप्रणाशावहं ॥
वक्त्रं पद्मसमं भवेत्प्रतिदिनं तेनैव संरक्षितं ।
वक्त्रव्यंगतिलातिकालकमलानीलीप्रणाशावहम् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—भोजन के अनंतर हाथों को धोकर, उन्ही को परस्पर थोडा मळकर उन्ही से थोडा जल आखों में डालना चाहिये अर्थात् जलयुक्त हाथों से आंखका करना चाहिये । इस से, आखों को हित होता है तेजी आती हैं और नाना प्रका- र अक्षिरोग दूर हो जाते हैं । इसी तरह, हाथों को मल कर प्रतिदिन, मुख अर्थात्, थोडासा मलें तो मुख कमल के समान कांतियुक्त होता है, तथा तिलकालक, नीली आदि अनेक रोग दूर हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

तत्पश्चाद्विधेय विधि।

भुक्त्वाचम्य कषायतिक्तकटुकैः श्लेष्माणमुग्रं नुदेत् ।
किंचिद्वर्तितवात्स्थितः पदशतं संक्रम्य शय्यातले ॥
वामं पार्श्वमथ प्रपीड्य शनकैः पूर्वं शयीत क्षणं ।
व्यायामादिविवर्जितो द्रवतरासेवी निषण्णो भवेत् ॥ ४४ ॥

—इस प्रकार, भोजन करनेके पश्चात् अच्छीतरह कुरला करके कषाय

जवत् आसीत ।

कडुआ, तीखा रसयुक्त पदार्थोको, अर्थात् सुपारी, कत्था लवंग कस्त
सेवन कर, या द्रव्य धूम आदि के सेवन कर, उद्रिक्त कफ को दूर करेंप से,
करते ही कफकी वृद्धि होती है) पश्चात् गर्वित होकर बैठें, अर्थात् ऱ्य मत
परवाह न कर निश्चिंत चित्तसे बैठें । बादमें सौ कदम च
को थोडा दबाकर उसी बायें बगलसे थोडी देर सोवे और उठते ही
करें और द्रव पदार्थ को सेवन करते हुए थोडी देर बैठना चाहिये ॥

अंत्यमंगल ।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलत. ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ४५

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथमें जगतका एक मात्र हित साधक है [इसलिये ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ ४५ ॥

—※×※—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षणाधिकारे
अन्नपानविधिः पंचमः परिच्छेदः ।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के स्वास्थ्यरक्षणाधिक
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लि
भावार्थदीपिका टीका में अन्नपानविधि नामक
पांचवां परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अथ षष्ठः परिच्छेदः ।

अथ दिनचर्याधिकारः ।

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा ।

नत्वा देवं देववृंदार्चितांघ्रिं ।
वीरं धीरं साधु सुज्ञानवार्धिम् ॥
स्वस्थं स्वस्थाचारमार्गो यथाव- ।
च्छास्त्रोद्दिष्टः स्पष्टमुद्योततेऽतः ॥ १ ॥

भावार्थः—देवोंके द्वारा वंद्य चरणवाले, धीर वीर और साधुवोंके लिए ज्ञान समुद्रके रूपमें हैं ऐसे भगवान्‌को नमस्कार कर स्वास्थ्याचारशास्त्रमें उपदिष्ट प्रकार श्रेष्ठ स्वास्थ्य का उपदेश यहांपर दिया जाता है ॥ १ ॥

दंत धावन ।

प्रातः प्रातर्भक्षयेद्दंतकाष्ठं ।
निर्दोषं यद्दोषवर्गानुरूपम् ॥
अन्ने कांक्षा वाक्प्रवृत्तिं सुगंधिं ।
कुर्याद्देतन्नाशयेदास्यरोगान् ॥ २ ॥

भावार्थः—प्रतिनित्य प्रातःकाल, नीम बबूल करंज अर्जुन आदिके दांतूनोंसे जो वात पित्त कफोंके अनुकूल अर्थात् दोषोंको नाश करनेवाले हों एवं निर्दोष हों दांत साफ करना चाहिये । इस प्रकार दांतुन करनेसे भोजनमें इच्छा, वचनप्रवृत्तिमें स्पष्टता, मुखगत सुगंधि एवं सर्व मुखरोगोंका नाश होता है ॥ २ ॥

दांतून करनेके अयोग्य मनुष्य ।

शोषोन्मादाजीर्णमूर्च्छार्दिता ये ।
कासश्वासच्छर्दिहिक्काभिभूताः ॥
पानाहाराः क्लिन्नगात्राः क्षतार्ताः ।
सर्वे वर्ज्याः दन्तकाष्ठप्रयोगे ॥ ३ ॥

भावार्थः—शोष [क्षय] उन्माद, अजीर्ण, मूर्च्छा, कास श्वास, वमन हिचकी पीडित, क्षत आदि के द्वारा जिनका शरीर क्लिन्न [आर्द्र] हो और पान, [illegible] हों ऐसे मनुष्य दांतुन नहीं करें ॥ ३ ॥

तैलाभ्यंग गुण।

दद्यात्तैलं मस्तके स्वस्थकाले।
कुर्यादेतत्तर्पणं चेंद्रियाणाम्।
केशानां वा मार्दवं हि प्रशांतं।
रोगान्सर्वान्नाशयेत्त्वग्गतांश्च ॥ ४ ॥

भावार्थः—स्वस्थावस्थामें मस्तकमें तेल लगाना चाहिये। इससे इंद्रियोंको शांति मिलती है। बाल [केश] को मृदु करने के लिये यह कारण है एवं मस्तकको ठण्डा रखता है। चर्मगत सर्वरोगोंको यह नाश करता है ॥ ४ ॥

तैलघृताभ्यंग गुण।

तैलाभ्यंगश्श्लेष्मवातप्रणाशी।
पित्तं रक्तं नाशयेद्वा घृतस्य ॥
देहं सर्वं तर्पयेद्रोमकूपै-।
र्वैवर्ण्यादिख्यातरोगापकर्षी ॥ ५ ॥

भावार्थः—तेल मालिश करना यह कफ और वातको नाश करता है। घी का मालिश करनेसे रक्त पित्त दूर होजाता है। रोमकूपोंसे प्रवेश होकर यह सर्व देहको शांति पहुंचाता है। और वैवर्ण्यादि प्रसिद्ध त्वग्गतरोगोंको दूर करता है ॥ ५ ॥

अभ्यंगकेलिये अयोग्य व्यक्ति।

मूर्च्छाक्रांतोऽजीर्णभक्तः पिपासी।
पानाक्रांतो रेचकी क्षीणगात्रः ॥
तं चाभ्यंगं वर्जयेत्सर्वकालं।
सद्योगर्भे दाहयुक्तज्वरे वा ॥ ६ ॥

भावार्थः—मूर्च्छित, अजीर्णरोगसे पीडित, प्यासा, मद्य आदि को जिसने पी लिया हो, और रेचन लिया हो जिसका शरीर अति कृश हो, दाहज्वर से युक्त हो, गर्भधारण कर अल्प समय होगया हो तो, ऐसे व्यक्तियों को हमेशा अभ्यंग (मालिश) नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥

व्यायाम गुण।

दीप्ताग्नित्वं व्याधिनिर्मुक्तगात्रं।
निद्रा तंद्रास्थौल्यनिर्नाशनं च ॥
कुर्यात्कांतिं पुष्टिमारोग्यमायु-।
र्व्यायामोऽयं यौवनं देहदार्ढ्यम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—प्रतिनित्य मनुष्यको व्यायाम करना चाहिये। व्यायामसे अग्नितेज होता है। शरीरके रोग दूर होते हैं। निद्रा, आलस्य, स्थूलता आदि शरीरदोष दूर होकर शरीरमें कांति, पुष्टि स्वास्थ्य और दीर्घ आयुकी प्राप्ति होती है। विशेष क्या? यह व्यायाम यौवन को कायम रखता है, और शरीरको मजबूत करता है ॥ ७ ॥

व्यायामकेलिये अयोग्य व्यक्ति।

तं व्यायामं वर्जयेद्रक्तपित्ती।
श्वासी बालः कासहिक्काभिभूतः ॥
स्त्रीषु क्षीणो शुक्तवान्सक्षतांग- ।
स्सोष्णे काले स्विन्नगात्रो ज्वरार्तः ॥ ८ ॥

भावार्थः—रक्तपित्त श्वासकास (खांसी) हिचकी, क्षत (जखम) और ज्वर से पीडित, जिसके शरीर से पसीना निकला हो, जो अतिमैथुन से क्षीण हो ऐसे मनुष्य एवं बालक को व्यायाम नहीं करना चाहिये। तथा स्वस्थपुरुष को भी उष्णकाल (ग्रीष्म शरदऋतु) में व्यायाम छोड देना चाहिये ॥ ८ ॥

बलार्ध लक्षण।

प्रस्वेदाद्वा शक्तिशैथिल्यभावा- ।
च्छक्तेरर्धं चावशिष्टं विदित्वा ॥
व्यायामोऽयं वर्जनीयो मनुष्यै- ।
रत्यंताधिक्यान्वितो हंति मर्त्यम् ॥ ९ ॥

भावार्थः—यथेष्ट व्यायाम करने के बाद पसीना आवे अर्थात् शक्ति कम होगई हो तब अर्धांश शक्ति रहगई समझकर व्यायाम को छोडना चाहिये। अत्यधिक व्यायाम शरीरको नाश ही करता है. ॥ ९ ॥

उद्वर्तन गुण

स्वग्वैवर्ण्ये श्लेष्ममेदोविकारे।
कण्डूप्राये गात्रकार्श्यस्वरूपे।
वाताक्रांते पित्तरक्तातुरेऽस्मिन्।
कार्यं तत्रोद्वर्तनं सर्वदैव ॥ १० ॥

भावार्थः—शरीरमें वर्णविकार, कफविकार मेदधातुका विकार होजाय, प्रायः

१ शरीर में जितनी शक्ति हो उस से अर्ध भाग मात्र व्यायाम में खर्च करना चाहिये।

सर्व शरीर वात से पीडित हो, एवं रक्तपित्त से पीडित हो उस अवस्थामें खुजली होजाय व शरीर कृश होजाय तो उद्वर्तन [उवटन] सर्वदा उत्तम है ॥ १० ॥

विशिष्ट उद्वर्तन गुण

फेनोघ्दर्षाच्छोदसंवाहनाद्यैः ।
गात्रस्थैर्यं त्वक्प्रसादो भवेच्च ॥
मेदश्लेष्मग्रंथिकण्डूामयास्ते ।
नश्युस्सर्वे वातरक्तोद्भवाश्च ॥ ११ ॥

भावार्थः—गेहूं आदिकी पिट्ठीसे, शरीरको घर्षण करने व औषधोंके चूर्ण को शरीर पर डालनेसे, शरीरमें स्थिरता आजाती है, चर्ममें कांति आजाती है, मेदविकार, श्लेष्मविकार ग्रंथिरोग [संधिरोग] खुजली और वातरोग, एवं रक्तोत्पन्न रोग भी इससे नष्ट होते है ॥ ११ ॥

पवित्र स्नान गुण

तुष्टिं पुष्टिं कांतिमारोग्यमायु- ।
स्सौम्यं दोषाणां साम्यमग्नेश्च दीप्तिम् ।
तंद्रानिद्रापापशांतिं पवित्रम्
स्नानं कुर्यादन्नकांक्षामतीव ॥ १२ ॥

भावार्थः—स्नान करनेसे मनमें संतोष उत्पन्न होता है। तेज बढता है। आरोग्य रहता है। दीर्घायु होता है। शुचिता प्राप्त होती है। दोषोंका साम्य होता है। अग्नि तेज हो जाती है, आलस्य निद्रा दूर होजाती है। पापकी उपशमन कर शरीरको पवित्र करता है भोजनमें इच्छा उत्पन्न करता है। इसलिये पवित्र स्नान अवश्य करना चाहिये ॥१२॥

स्नान के लिये अयोग्य व्यक्ति ।

स्नानं वर्ज्यं छर्दिते कर्णशूले- ।
चाध्मानाजीर्णाक्षिरोगेषु सम्यक् ॥
सद्योजाते पीनसे चातिसारे ।
भुक्ते साक्षात्सज्वरे वा मनुष्ये ॥ १३ ॥

भावार्थः—जिसको उल्टी होरही हो, कर्णशूल [दर्द] होगया हो जिसकी पेट फूलगयी हो अजीर्ण होगया हो आंखोंका रोग होगया हो, पीनस रोग होकर अल्प समय होगया हो, अतिसार होगया हो, जिसने भोजन किया हो, साक्षात्ज्वर सहित हो, ऐसे मनुष्य ऐसी अवस्थावोंमें स्नान नहीं करें ॥ १३ ॥

तांबूल भक्षण गुण

सौख्यं भाग्यं सौरभं सुप्रसादं ।
कांतिं प्रल्हादं कामुकत्वं सगर्वं ॥
सौख्यं सौंदर्यं सौमनस्यं सुरूपं ।
नित्यं सर्वेषामंगरागः करोति ॥ १४ ॥
कांतिं संतोषं सद्रवत्वं मुखस्य ।
व्यक्तं वेद्यं भूषणं भूषणानाम् ॥
रागं रागित्वं रोगनाशं च कुर्यात् ।
पूज्यं तांबूलं शुद्धिमाहारकांक्षाम् ॥ १५ ॥

भावार्थः—तांबूल (पान) के खानेसे शरीरमें सौख्य भाग्य, सुगंधि, संतोष कांति, उल्हास, सुंदर विषयाभिलाषा आदि गुण बढते हैं । मुखमें कांति होनेके साथ २ मनमें संतोष रहता है । मुखमें द्रवत्व रहता है, लोकमें वह मुखका भूषण भी समझा जाता है । मधुर स्वर पैदा होता है । मुखमें ललाई उत्पन्न होनेके साथ २ वहुतसे रोगोंका नाश भी करता है । आहारमें इच्छाको उत्पन्न करता है । भोजन के बाद मुखशुद्धि करता है, इसलिये ऐसे अनेक प्रकारके गुणोंसे युक्त तांबूल सदा सेव्य है ॥ १४ ॥ १५ ॥

ताम्बूल सेवन के लिये अयोग्य व्यक्ति ।

तत्तांबूलं रक्तपित्तज्वरार्तः ।
शोषी क्षीणस्सद्विरिक्तोऽतिसारी ॥
क्षुत्तृष्णोन्मादातिकृच्छ्राभिभूतः ।
पीत क्षीरस्संत्यजेन्मद्यमत्तः ॥ १६ ॥

भावार्थः—जिसको रक्तपित्त होगया हो, जो ज्वरसे पीडित हो, जिसे क्षयरोग होगया हो जो अत्यंत कृश हो, जिसको विरेचन दे दिया हो अतिसार रोगसे पीडित हो, क्षुधा व तृषासे वाधित हो, उन्माद जिसको हुआ हो, मूत्रकृच्छ्रसे पीडित हो, दूध पिया हो, और शराव पीकर नशेमे मस्त हो ऐसी अवस्थावोमें तांबूल वर्ज्य है ॥ १६ ॥

जूता पहिनने, व पादाभ्यंगके गुण ।

सोपानत्कस्संचरेत्सर्वकालं ।
तेनारोग्यं प्राप्नुयान्मार्दवं च ॥
पादाभ्यंगात्पाददाहप्रशांतिं ।
निद्रासौख्यं निर्मलां चापि दृष्टिम् ॥ १७ ॥

भावार्थः—हमेशा जूता पहिनकर चलना चाहिये जिससे आरोग्य प्राप्त होता है व शरीर मृदु होजाता है। पैर (पादतल) में तैल मालिश करने से पादका जलन शांत होती है। सुखपूर्वक नींद आती है। आंख निर्मल हो जाता है ॥ १७॥

रात्रिचर्याधिकारः।

मैथुनसेवनकाल।

शीते काले नित्यमेकैकवारं।
यायात्स्वस्थो ग्राम्यधर्मप्रयोगम् ॥
ज्ञात्वा शक्तिं चोष्णकाल कदाचित्।
पक्षादर्धात्सप्तषट् पंचरात्रात् ॥ १८॥

भावार्थः— स्वस्थ मनुष्य ठण्डके मौसम में प्रतिनित्य एक दफे मैथुन सेवन कर सकता है। उष्ण काल में अपनी शक्तिका ख्याल रखकर पांच, छह, सात व आठ दिनमें एक दफे मैथुन सेवन करना चाहिये ॥ १८॥

मैथुन के लिये अयोग्य व्यक्ति।

क्षुत्तृष्णार्तो मूत्रविट्शुक्रवेगी।
दूराध्वन्यो य क्षतोत्पीडितांगः ॥
रेतःक्षीणो दुर्बलश्च ज्वरार्तः।
प्रत्यूषे संवर्जयेत्तं व्यवायम् ॥ १९ ॥

भावार्थः— क्षुधा तृषासे जो पीडित हो, मल मूत्र व शुक्र का वेग उपस्थित (बाहेर निकलनेके लिये तैयार हो) हो, दूरसे जो चलकर आनेसे थक गये हों, क्षयसे जो पीडित हो, जिनका शुक्र क्षीण हो गया हो, जो शक्तिहीन हो, ज्वर पीडित हो उनको मथुन सेवन वर्ज्य है। एवंच प्रातःकालके समय मैथुन सेवन (किसीको भी) नहीं करना चाहिये ॥ १९॥

सतत मैथुनके योग्य व्यक्ति।

कल्याणांगो यो युवा वृष्यसेवी।
तस्यैवोक्तस्सर्वकाले व्यवायः ॥
वृष्यान्योगान्योगराजाधिकारे।
वक्ष्याम्यक्षूणान् लक्षणैरुत्तरत्र ॥ २० ॥

भावार्थः—जिसका शरीर बिलकुल निरोग है, जो जवान है व वृष्य (कामोद्रेक, शुक्रजनक) पदार्थोंको सेवन करता है उसीको हमेशाह मैथुन सेवन करनेके लिये कहा है। अर्थात् वही सदा सेवन कर सक्ता है। वह वृष्य पदार्थ कौनसे हैं यह आगे योगराजधिकारमें लक्षण सहित प्रतिपादन करेंगे ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्य के गुण।

वर्णाधिक्यं निर्वलीकं शरीरं।
सत्वोपेतं दीर्घमायुस्सुदृष्टिम्।
कांतिं गात्राणां स्थैर्यमत्यंतवीर्यम्।
मर्त्यः प्राप्नोति स्त्रीषु नित्यं जितात्मा ॥ २१ ॥

भावार्थः—जो स्त्रियों में नित्य विरक्त रहता है उस के शरीर का वर्ण बढता है, शरीर वली (चमडेका सिकुडना) रहित होता है, मनोबलसे युक्त होता है, दीर्घायु होता है, आंख अच्छी रहती है अर्थात् दृष्टि मन्द नहीं होती है। शरीर में कांति व मजबूती आजाती है, वह अत्यंत शक्तिशाली होता है ॥२१॥

मैथुन के लिये अयोग्य स्त्री व काल।

दुष्टां दुर्जातिं दुर्भगां दुस्स्वरूपा-
मल्पच्छिद्रांगीमातुरामार्तवीं च
संध्यास्वस्पृश्यां पर्वसु प्राप्ययोग्यां।
वृद्धान्नोपेयाद्राजपत्नीं मनुष्यः ॥ २२ ॥

भावार्थः— दुष्टाली, नीच जातीवाली, दूषितयोनिवाली, कुरूपी, अल्प छिद्र (योनिस्थानका) वाली, रोग से पीडित, रजस्वला, अस्पृश्या, वृद्धा ऐसी स्त्री तथा राजपत्नी के साथ कभी भी सम्भोग न करें। जो सम्भोग करने के लिये योग्य हो उस के साथ भी, संध्याकाल व अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वदिनों में सम्भोग नहीं करना चाहिये ॥२२॥

मैथुनानंतर विधेय विधि।

स्वादुस्निग्धं मृष्टमिष्टं मनोज्ञं।
क्षीरोपेतं भक्ष्यमिक्षोर्विकारं।
शीतो वातश्शीतलं चान्नपानं।
निद्रा सेव्या ग्राम्यधर्मावसाने ॥ २३ ॥

भावार्थः—स्वादिष्ट, चिकना, स्वच्छ, स्वेच्छाके अनुकूल, मनोज्ञ, तथा क्षीरयुक्त ऐसे भक्ष्य और ईख के विकार शक्कर आदि को मैथुन सेवन के बाद खाना चाहिये

एवं ठण्डी हवा लेनेके साथ शीतगुण युक्त अन्न पानकर शांतिसे निद्रा लेनी चाहिये, यह हितकर है ॥२३॥

निद्राकी आवश्यकता ।

रात्रौ निद्रालुः स्यान्मनुष्यः सुखार्थी ।
निद्रा सर्वेषां नित्यमारोग्यहेतुः ॥
निद्राभंगे स्यात्सर्वदोषप्रकोपो ।
वर्ज्या निद्रा स्यात्सर्वदैवाप्यमोघम् ॥ २४ ॥

भावार्थः—रात्रिमें जो मनुष्य यथेष्ट निद्रा लेता है वह सुखी बन जाता है। अथवा सुखकी इच्छा रखनेवाला रात्रिमें निद्रा अवश्य लेवें। निद्रा सभी प्राणियोंको आरोग्यका कारण है। निद्राभंग होनेसे वातादि दोषोंका उद्रेक होता है। लेकिन रात दिन निद्रा नहीं लेनी चाहिये ॥२४॥

दिनमें निद्रा लेनेका अवस्थाविशेष।

दूराध्वन्यः श्रांतदेहः पिपासी ।
वातक्षीणो मद्यमत्तोऽतिसारी ॥
रात्रौ ये वा जागरूकास्तदर्धा
निद्रा सेव्या तैर्मनुष्यैर्दिवापि ॥ २५ ॥

भावार्थः—दूरसे जो चलकर आया हो, थका हुआ हो, प्यासा हो, वातरोगसे पीडित हो कर क्षीण होगया हो, अतिसार रोगसे पीडित हो, मद्य पीकर मत्त होगया हो एवं रात्रिमें जो जगा हो वह मनुष्य जागरणसे आधी नींद दिनमें लेसकता है ॥२५॥

सर्वर्तुसाधारणचर्याधिकारः ।

हितमितभाषण ।

एवं सद्वृत्तैस्सज्जनं दुर्जनं वा ।
जन्माचारांतर्गतानिष्टवाक्यैः ॥
रागद्वेषात्यंतमोहैर्निमित्तैः ।
नैव ब्रूयात्स्वस्य संपत्सुखार्थी ॥ २६ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य संसारमें सम्पत्ति व सुख चाहता है उसे चाहिये कि वह सज्जन व दुर्जन के प्रति, जन्म (पैदाइश) सम्बंधी व आचार सम्बंधी अनिष्ट वचनों के प्रयोग न करें जो कि राग, द्वेष, व मोह की उत्पत्ति के लिये कारण होते हों ॥२६॥

शैलाद्यारोहण निषेध

शैलान्वृक्षान्दुष्टवाजीद्विपेंद्रा- ।
नारोहेद्वा ग्राहनक्राकुलोर्मिः ॥
तीव्रस्रोतो वाहिनीं वारिधीन्वा ॥
गाहेत्तान्यत्पल्वलस्थं न तोयं ॥ २७ ॥

भावार्थः—सुखेच्छु मनुष्य, पहाड, वृक्ष, दुष्टघोडा व हाथी इत्यादिपर नहीं चढें, जिसमें मगर व अधिक उर्मी हो, तीव्र स्रोत वहरही हो ऐसी नदी व समुद्र में प्रवेश न करें, तथा पल्वल (जमीनमें बडे २ गड्ढे रहते है इनमें बरसात के समय पानी भरजाता है वह कई दिनोंतक रहता है उनको पल्वल कहते हैं) के जलमें भी स्नानादिक न करें ॥२७॥

पापादिकार्यों के निषेध ॥

यद्यत्पापार्थं यच्च पैशून्यहेतु- ।
र्यच्चल्लोकानामप्रियं चाप्रशस्तं ॥
यद्यत्सर्वेषामेव बाधानिमित्तम् ॥
तत्तत्सर्वं वर्जनीयं मनुष्यैः ॥ २८ ॥

भावार्थः—जो जो कार्य पापोपार्जनके लिये कारण हों, जो लोकापवादके लिये कारण हों, लोगोंके लिये अप्रिय एवं अमंगल हों और जो सबके लिये बाधा उत्पन्न करने वाले हों, ऐसे कार्योंको बुद्धिमान् मनुष्य कभी न करें ॥२८॥

हिंसादिके त्याग ।

हिंसासत्यं स्तेयमोहादि सर्वं ।
त्यक्त्वा धीमांश्चारुचारित्रयुक्तः ॥
साधून्संपूज्य प्राज्यवीर्याधियुक्ता- ॥
नारोग्यार्थी योजयेद्योगराजान् ॥ २९ ॥

भावार्थः—स्वास्थ्यकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, कुशील इत्यादि पापोंको छोडकर सदाचरणमें तत्पर होवें, सज्जन व संयमियोंकी सेवा करके अत्यंत शक्तिवर्द्धक योगराजोंका प्रयोग करें ॥२९॥

वृष्याधिकारः ।

कामोत्पत्ति के साधन ।

चित्ताल्हादः कांतिमन्मानसानि ।
प्रोद्यत्पुष्पोद्भासि वल्लीगृहाणि ॥
चक्षुस्पर्शश्रोत्रनासासुखानि ।
प्रायेणैतत्कामिनां कामहेतु ॥ ३० ॥

एवं ठण्डी हवा... र्थः—चित्तमें आल्हाद उत्पन्न करनेवाले एवं मनमें हर्ष और प्रसन्नताको यह हित... लतागृह जिनमें बहुतसे सुंदर पुष्प खिले हुए दिख रहे हों, विहार करने ... हैं। उनसे इंद्रियोंको सुख मिलता है एवं प्रायः ये कामुकोंकेलिये कामकी इच्छा उत्पन्न करने के लिये कारण हैं ॥३०॥

कामोद्दीपन करनेवाली स्त्री।

या लावण्योपेतगात्रानुकूला।
भूषावेषाढ्यासि सद्यौवना च ॥
मध्ये क्षामोत्तुंगपीनस्तनीया।
सुश्रोणी सा वृष्यहेतुर्नराणाम् ॥ ३१ ॥

भावार्थः— जो सुंदरी शरीरके लिये शोभनेवाले वस्त्राभूषणोंको धारण करती हो, युवती हो, मध्यस्थान जिसका कृश हो और उन्नत एवं मोटे स्तनोंसे युक्त हो, नितंबस्थान जिसका सुंदर हो वह स्त्री, पुरुषोंको कामोद्दीपन करनेवाली होती है ॥ ३१ ॥

वृष्यामलक योग।

धात्रीचूर्णं तद्रसेनैव सिक्तं।
शुष्कं सम्यक्क्षीरसंभावितं च ॥
खण्डेनाक्तं सेव्यमानो मनुष्यो।
वीर्याधिक्यं प्राप्नुयात्क्षीरपानात् ॥ ३२ ॥

भावार्थः— आंवले के चूर्ण में, उसीके रस डालकर सुखावें, इसी को भावना कहते हैं। तत् पश्चात् अच्छीतरह दूध की भावना देवें। इस प्रकार भावित चूर्ण के बराबर खांड मिलाकर खावें और ऊपर से दूध पीवें तो अत्यंत वीर्य की वृद्धि होती है।

नोटः— जहाँ भावना का प्रमाण नहीं लिखा हो, वहां सम भावना देनी चाहिये ऐसी परिभाषा है। इसलिये यहां भी भावनाप्रमाण नहीं लिखने के कारण, आंवले के रस, और दूध के साथ २ भावना देनी चाहिये ॥३२॥

वृष्य, शाल्यादियोग।

कृत्वा चूर्णं शालिमाषांस्तिलांश्च।
क्षीराज्याभ्यां शर्करामिश्रिताभ्यां ॥
पक्वापूपान्भक्षयेदक्षयं तत्।
वृष्यं वांछन् कामिनीतृप्तिहेतुं ॥ ३३ ॥

भावार्थः—धान, उडद, तिल इन तीनोंके आटा बनाकर उन... बनाया गया पुआ शक्कर दूध घीके साथ खावे तो पौष्टिक है । एवं कामभो... कोई शिश्न को तृप्ति करनेके लिये कारण है ॥ ३३ ॥ ...ला जो ...योगोंको

वृष्य सक्तू ।

सक्तून्मिश्रान्क्षीरसंतानिकान्वा ।
माषाणां वा चूर्णयुक्तं गुडाढ्यम् ॥
जग्ध्वा नित्यं सप्ततिं कामिनीनां ।
यायाद्वृद्धोप्यश्रमेणैव मर्त्यः ॥ ३४ ॥

भावार्थः—सत्तूको मलाई में मिश्रित करके सेवन करें अथवा गुडसे युक्त उडद के आटेका कोई पदार्थ बनाकर खावे तो वह बुड्ढा भी हो तो प्रतिदिन सत्तर स्त्रियोंको भी विनाश्रमके सेवन कर सकता है ॥ ३४ ॥

वृष्य गोधूमचूर्ण ।

गोधूमानां चूर्णमिक्षोर्विकारैः ।
पक्वं क्षीरेणातिशीतं मनोज्ञं ॥
आज्येनैतद्भक्षयित्वांगनानां ।
षष्टिं गच्छेदेकवारं क्रमेण ॥ ३५ ॥

भावार्थः—गेहूंका आटा शक्कर और दूधके साथ पकाकर अत्यंत ठण्डा करें । इस मनोज्ञ पाक को घीके साथ खावे तो वह मनुष्य एकदफे क्रमसे साठ स्त्रियोंको भोग सकता है ॥ ३५ ॥

वृष्य रक्ताश्वत्थादियोग ।

रक्ताश्वत्थत्वग्विपक्वं पयो वा ।
यष्टीचूर्णोन्मिश्रितं शर्कराढ्यं ॥
पीत्वा सद्यस्सप्तवारान्व्रजेद्वा ॥
निर्वीर्योपि प्रत्यहं कामतप्तः ॥ ३६ ॥

भावार्थः—लाल अश्वत्थकी छालको दूधमें पकाकर अथवा मुलहटीका चूर्ण और शक्करसे मिश्रितदूध को यदि मनुष्य पीवे तो चाहे वह वीर्य रहित क्यों न हो तथापि प्रतिनित्य कामतप्त होकर सातबार स्त्रीसेवन करसकता है ॥ ३६ ॥

एवं ठण्डी ह...
यह हित...
, हैं । उ...
उत्पन्न ...

वृष्यामलकादि चूर्ण ।

छागक्षीरेणामलक्याः फलं वा ।
पक्वं शुष्कं चूर्णितं शर्कराढ्यम् ॥
मूलानां वाप्युच्चटागोक्षुराणां ।
वीर्यं कुर्याच्छागवीर्येण तुल्यम् ॥ ३७ ॥

भावार्थः—बकरीके दूधके साथ आंवलेको पकाकर, सूखनेके बाद, चूर्णकर शक्कर के सम्मिश्रणसे खानेसे या चिचोटकतृण, (उटंगण) और गोखूर की जड को आंवले के रसायन से, खानेपर, बकरेके वीर्यके समान ही वीर्य बनता है ॥ ३७ ॥

छागदुग्ध ।

माषक्वाथोन्मिश्रितं छागदुग्धं ।
पीत्वा रात्रौ तद्घृताक्तं गुडाढ्यम् ॥
यामे यामे सप्तसप्तैकवारं ।
स्त्रीव्यापारे याति जातप्रमोदः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—बकरी के दूध में उडद का क्वाथ [काढा] घी, गुड - मिलाकर रात्रिमें पीवें, तो, प्रति प्रहरमें उल्लासपूर्वक सात सात बार स्त्रियोंका सेवन कर सकता है ॥ ३८ ॥

वृष्य, भूकूष्माण्डादि चूर्ण ।

भूकूष्माण्डं चेक्षुराणां च बीजं ।
गुप्ताबीजं वा मुसल्याश्च मूलम् ॥
चूर्णीभूतं छागदुग्धेन पातुं ।
तद्वद्देयं रात्रिसंभोगकाले ॥ ३९ ॥

भावार्थः—जमीनकद्दू तालमखाना विदारिकंद बीज, कौंच के बीज मुसली (तालमूली) की जड इनको चूर्णकर, बकरीके दूधके साथ रात्रीमें संभोगके समय पीनेके लिये देना चाहिये ॥ ३९ ॥

नपुंसकत्वके कारण व चिकित्सा

मर्मच्छेदाच्छुक्रधातुक्षयाद्वा ।
मेढ्रव्याधेर्जानतः क्लैब्यमुक्तम् ॥
साध्यक्लैब्यं यत्क्षयाज्जातमेषु ।
प्रोक्ता योगास्तेऽत्र योज्या विधिज्ञैः ॥ ४० ॥

भावार्थः—मर्मच्छेद होनेसे, वीर्यका अत्याधिक नाश होनेसे, और कोई शिश्न रोग आदि कारणों से नपुंसकता आती है । इन में से, शुक्रक्षय से होनेवाला जो नपुंसकत्व है वह साध्य है । इस नपुंसकत्व के निवारणार्थ पूर्वकथित वृष्ययोगोंको विधित वैद्य प्रयोग करें ॥ ४० ॥

रसायनाधिकार ।

संक्षेपसे वृष्य पदार्थोंके कथन ।

यद्यच्छीतं स्निग्धमाधुर्ययुक्तं ।
तत्तद्द्रव्यं वृष्यमाहुर्मुनींद्राः ॥
रोगान्सर्वान् हंतुमत्यंतवीर्यान् ।
योगान्वक्षाम्यात्मसंरक्षणार्थं ॥ ४१ ॥

भावार्थः—जो २ पदार्थ शीतगुण युक्त हैं, स्निग्ध [चिकना] हैं, और माधुर्यगुण युक्त हैं वे सभी वृष्य, (वीर्यवर्द्धक, कामोत्तेजक) हैं ऐसा महार्षिगण कहते हैं । आचार्य कहते हैं कि आत्मसंरक्षणके लिए निरोग शरीरकी आवश्यकता है । इसलिए सभी रोगोंको दूर करनेकेलिए अत्यन्त वीर्ययुक्त योगोंका अर्थात् रसायनोंका निरूपण आगे करेंगे ४१

त्रिफला रसायन । [१]

प्रातर्धात्रीं भक्षयेद्भुक्तकाले ।
पथ्यामेकां नक्तमक्षं यथावत् ॥
कल्याणांगस्तीव्रचक्षुश्चिरायु-
र्भूत्वा जीवेद्धर्मकामार्थयुक्तः ॥ ४२ ॥

भावार्थ— प्रातःकाल भोजनके समयमें तीन आंवला रात्रीके समय एक हरड, दो बहेडाको चूर्ण करके घी शक्कर आदि योग्य अनुपानके साथ सेवन करें, तो शरीर के सभी रोग नाश होकर, शरीर सुंदर बनता है, आंखोंमें तेजी आती है । वह व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम, को पालन करते हुए चिरायु होकर, जीता है ॥ ४२ ॥

१ यद्यपि इस श्लोकमें आंवला, और बहेडे की संख्या निर्देश ठीक तौरसे नहीं की गई है। तथापि अन्य अनेक वैद्यक ग्रंथोंमें प्रायः इसी प्रकारका उल्लेख मिलता है कि जहांपर त्रिफलाका साधारण कथन हो वहां उपरोक्त प्रकारसे ग्रहण किया जाता है । इसी आधारसे ऊपर स्पष्टतया संख्या निर्देश की गई है ।

दूसरी बात यह है कि श्लोकमें बहेडा सेवन करनेका समय नहीं बतलाया है । हरडके साथ ही खावें तो मात्रा बढती है, आंवले की मात्रा कमती होती है । इस कारणसे हम यह समझते हैं कि एक हरड, दो बहेडा, तीन आंवला इस क्रमसे लेकर तीनोंको एक साथ चूर्ण करके योग्य मात्रामें शाम सुबह सेवन करना चाहिये । यही आचार्यका अभिप्राय होगा ।

वृष्य विडंग व यष्टिचूर्ण ।

वैडंगं वा चूर्णमत्यंतसूक्ष्मं ।
तद्वद्यष्टीशर्कराचूर्णयुक्तम् ॥
नित्यं प्रातस्सेवमानो मनुष्य- ।
श्शीतं तोयं चानुपानं दधानः ॥ ४३ ॥

भावार्थः—विडंग के सूक्ष्म चूर्ण, अथवा मुलहटी के चूर्ण में समभाग शक्कर मिलाकर ठण्डा पानी के साथ प्रतिनित्य प्रातःकाल सेवन करनेसे वलीपलित आदि नाश होकर चिरकालतक जीता है ॥४३॥

रसायनके अनुपान।

तेषामेव क्वाथसंयुक्तमेत—
द्भल्लातक्या वा गुडूच्यास्तथैव ॥
द्राक्षाक्काथेनाथवा त्रैफलेन ।
प्रायेणैते भेषजस्योपयोग्याः ॥ ४४ ॥

भावार्थः— जिस रसायनिक औषधि को, रसायन के रूप में सेवन करना हो उसके लिये उसी औषधि का क्वाथ (काढा) को अनुपान करना चाहिये । जैसे त्रिफलारसायन के साथ त्रिफलाका ही काढा पीना चाहिये, अथवा भिलावे, गिलोय, द्राक्षा, त्रिफला (हरड बहेडा आंवला) इन एक २ औषधियों के क्वाथ के अनुपान से (रसायन) सेवन करना चाहिये। ये औषधियां प्रायः प्रत्येक रसायन के साथ उपयोग करने योग्य हैं ॥४४॥

रसायनसेवनमें पथ्याहार ।

एतत्पीत्वा जीर्णकाले यथावत् ।
क्षीरेणान्नं सर्पिषा मुद्गयूषैः ।
सामुद्राद्यैर्वर्जितं भाज्यरोगान् ।
जित्वा जीवेन्निर्जरो निर्वलीकः ॥ ४५ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त क्वाथ (अनुपान) को पीकर जीर्ण होनेके बाद दूधके साथ अथवा घी, मूंग के दाल के साथ भोजन करें । परंतु सामुद्रलवण आदि तीक्ष्ण पदार्थों के साथ उपयोग नहीं करें । इससे बडे २ रोग दूर होजाते हैं । और बुढापा, व वली (चमडे की सिकुडन) रहित होकर, अनेक वर्षोंतक जीता है ! ॥ ४५ ॥

विडङ्गसार रसायन।

सारणां वा सद्विडंगोद्भवानां ।
पिष्टं सम्यक्पिष्टवत्शोधयित्वा ॥
शीतीभूतं निष्कषायं विशुष्कं ।
धूलीं कृत्वा शर्कराज्याभिमिश्रम् ॥ ४६ ॥
तद्वंशांभोधौतनिश्छिद्रकुंभे ।
गंधद्रव्यैश्चानुलिप्तांतराले ॥
निक्षिप्योर्ध्वं बंधयेद्गेहमध्ये ।
वर्षाकाले स्थापयेद्धान्यराशौ ॥ ४७ ॥
उद्धृत्यैतन्मेघकाले व्यतीते ।
पूजां कृत्वा शुद्धदेहः प्रयत्नात् ॥
प्रातः प्रातः भक्षयेदक्षमात्रं ।
जीर्णे सर्पिः क्षीरयुक्तं तु भोज्यम् ॥ ४८ ॥
स्नानाभ्यंगं चंदनेनानुलेपं ।
कुर्यादास्यावासमप्यात्मरम्यं ॥
कांताकांतश्शांतरोगोपतापो ।
मासास्वादाद्दिव्यमाप्नोति रूपं ॥ ४९ ॥

भावार्थः— वायविडंग के कणों को पिट्टी बनाकर, (उसको पिट्टी के समान अच्छीतरह से शोधन करके,) जब वह ठण्डे होजाय, कषाय रहित हों सूख गये हों तो उसको अच्छीतरह से चूर्ण करके बराबर, शक्कर, और घी मिलावें। छिद्ररहित नया घडा लेकर उसे सुगंधित पानीमें अच्छीतरह धोलेवें । एवं उसके अंदरके भागमें सुगंधद्रव्य को लेपन करें। उसमें उपर्युक्त अवलेह को रखकर अच्छीतरह उसका मुंह बांधकर बरसात के दिनोंमें घरके बीचमें रहनेवाली धान्यकी राशिमें रखना चाहिये। बरसातका मौसम निकल जानेके बाद इसको निकाल लेवें। तत् पश्चात् वमन, विरेचन आदि पंचकर्मोके द्वारा शरीरकी शुद्धि व प्रयत्नपूर्वक स्नान करके, देवपूजा आदि सत्कर्मों को करें। तदनंतर इस रसायन को प्रातः प्रतिदिन, एक तोलेके प्रमाण मे सेवन करें । जीर्ण होनेके बाद घी दूधके साथ भोजन करना चाहिये । तैलाभ्यंग, स्नान, शरीरको चंदनलेपन आदि करना चाहिये । रहनेका स्थान भी सुंदर बनाना चाहिये । इस प्रकार एक महिना करे तो उसका शरीर अतिसुंदर बनता है, शरीर के सर्व रोग दूर होते हैं तथा स्त्रियों को प्रिय होता है ॥४६-४७-४८-४९॥

बलारसायन ।

यत्नाद्बलामूलतुलां विशोष्य ।
धूलीकृतां शुद्धतनुः पलार्धम् ॥
नित्यं पिबेद्दुग्धविमिश्रितं त-।
ज्जीर्णे घृतक्षीरयुतान्नभुक्तिः ॥ ५० ॥

भावार्थः— खरैटी की जड को अच्छी तरह सुखाकर उसे चूर्ण करें। वमन आदि से शरीर की शुद्धि करके उसे प्रतिनित्य दो तोले दूध के साथ सेवन करें। जीर्ण होने के बाद घी दूध से भोजन करें ॥५०॥

नागबलादि रसायन ।

पिबेत्तथा नागबलातिपूर्व-।
बलातिचूर्णं पयसा प्रभाते ॥
भवेद्विदार्याश्च पिबेन्मनुष्यो ।
महाबलायुष्ययुतो वपुष्मान् ॥ ५१ ॥

भावार्थः— इसी प्रकार गंगेरन, सहदेईका (कंघी) चूर्ण कर दूध के साथ व विदारिकन्द के चूर्ण को दूध के साथ उपयोग करें तो शरीर में बल बढता है। दीर्घायु होता है, शरीर सुंदर बनता है ॥५१॥

बाकुचीरसायन ।

गुडान्वितं बाकुचिबीजचूर्ण-।
मयोघटन्यस्तमतिप्रयत्नात् ॥
निधाय धान्ये भुवि सप्तरात्रं ।
व्यपेतदोषोऽक्षफलप्रमाणम् ॥ ५२ ॥
प्रभक्ष्य तच्छीतजलानुपानं ।
रसायनाहारविधानयुक्तः ॥
निरामयस्सर्वमनोहरांग- ।
स्समाशतं जीवति सत्वयुक्तः ॥ ५३ ॥

भावार्थः—गुडसे युक्त बाकुचीबीज के चूर्णको लोहेके घडेमें बहुत यत्न पूर्वक रखकर धान की राशि या भूमि में, अथवा जमीन में गड्डा खोदकर, उसमें धान भरकर, उसके बीचमें रखें। तदनंतर शुद्ध शरीर होकर (वमन विरेचनादिसे शुद्ध होकर) वह बहेडाके फल के बराबर रोज लेवें, व ऊपरसे ठण्डा पानी पीलेवें। जीर्ण होनेपर रसायन

सेवन करने के समयमें जो भोजन (दूध, घी, भात) आदि बतलाया है उसके सेवन करें। इस रसायनको जो सेवन करता है वह मनुष्य निरोग होकर सुंदर शरीरवाला बनता है एवं महाबलशाली होकर सौ वर्षतक जीता है ॥ ५२-५३ ॥

ब्राम्ह्यादि रसायन ।

ब्राह्मीं मंडूकपर्णीमधिकतरवचाशर्कराक्षीरसर्पि-।
र्मिश्रां संख्याक्रमेण प्रतिदिनममलस्सेवमानो मनुष्यः ॥
रोगान्सर्वान्निहंति प्रकटतरबलो रूपलावण्ययुक्तो ।
जीवेत्संवत्सराणां शतमिह सकलग्रंथतत्वार्थवेदी ॥ ५४ ॥

भावार्थः—ब्राह्मी, मजीठ एवं वच इनको चूर्णकर प्रतिदिन शुद्धचित्तसे घी दूध शक्कर के साथ सेवन करनेवाला मनुष्य निरोगी बनजाता है। उसकी शक्ति बढती है, सौंदर्यसे युक्त होकर एवं संपूर्ण शास्त्रोंको जाननेवाला विद्वान् होकर सौ वर्षतक जीता है ॥ ५४ ॥

वज्रादि रसायन ।

वज्री गोक्षुरवृद्धदारुकशतावर्यश्च गंधाग्निका ।
वर्षाभूसपुनर्नवामृतकुमारीत्युक्तदिव्यौषधीन् ॥
हृत्वा चूर्णितमक्षमात्रमखिलं प्रत्येकशं वा पिबन् ।
नित्यं क्षीरयुतं भविष्यति नरश्चंद्रार्कतेजोऽधिकः ॥ ५५ ॥

भावार्थः—गिलोय, गोखरु, विधारा शतावरी, काली अगर, भिलावा, रक्तपुनर्नवा, श्वेतपुनर्नवा, वाराहीकंद, बडी इलायची, इन दिव्य औषधियोंको समभाग लेकर चूर्ण करें। इस चूर्ण को एक २ तोला प्रमाण प्रतिनित्य सेवन कर ऊपरसे दूध पीलेवें। अथवा उपरोक्त, एक २ औषधियों के चूर्ण को दूध के साथ सेवन करना चाहिये। इस के प्रभाव से मनुष्य चंद्रसूर्य से भी अधिक कांतिवाला बनजाता है ॥ ५५ ॥

रसायन सेवन करनेका नियम ।

मद्यं मांसं कषायं कटुकलवणसक्षाररूक्षाम्लवर्गं ।
त्यक्त्वा सत्यव्रतस्सन् सकलतनुभृतां सद्दयान्यात्मा ॥
क्रोधायासव्यवायातपपवनविरुद्धाशनाजीर्णहीनः ।
शश्वत्सर्वज्ञभक्तो मुनिगणवृषभान्पूजयेदौषदार्थी ॥ ५६ ॥

भावार्थः—औषधसे निरोग बननेकी इच्छा रखनेवाला जीव सबसे पहिले मद्य, मांस, कषायले पदार्थ, तीखा [चरपरा] नमकीन, यवक्षार आदि क्षार, रूक्षपदार्थ,

और हर प्रकार के खट्टे रसोंको छोडकर, एवं क्रोध, परिश्रम, मैथुन, धूप, वायु, विरुद्ध-भोजन, अजीर्णबाधा इत्यादि कष्टसे रहित होकर, सत्यव्रत में दृढ रहे। सभी प्राणियोंके ऊपर दया रखें। सदा काल सर्वज्ञ तीर्थंकरोंके प्रति भक्ति करते हुए मुनिगण व धर्मकी उपासना करें। इस उपरोक्त, आचरण को पालन करते हुए जो रसायन सेवन करता है, वह उन रसायनोंके पूर्ण गुणको पाता है॥ ५६॥

चंद्रामृत रसायन।

प्रोक्तं लोकप्रतीतं भुवनतलगतं चंद्रनामामृताख्यं॥
वल्लयेतत्सपर्णैः प्रतिदिनममलैश्चंद्रवद्वृद्धिहानिं॥
शुक्ले कृष्णे च पक्षे व्रजति खलु सदालभ्यमेतत्प्रमावा-।
स्यायां निष्पत्रमस्य हृदगहननदीशैलदेशेषु जन्म॥ ५७॥

एकानेकस्वभावं जिनमतमिवतद्वीर्यसंज्ञास्वरूपं-।
स्तन्यक्षीरं प्रमाणात्कुडवमिह गृहीत्वादरात् प्रातरेव॥
कृत्वा गेहं त्रिकुड्यं त्रितलमतिघनं त्रिःपरीत्य प्रवेशं।
तस्यैवांतर्गृहस्थो वियुतपरिजनस्तत्पिबेन्निश्चितात्मा॥ ५८॥

पीत्वा दर्भोरुशय्यातलनिहिततनुर्वाग्यतस्संयतात्मा॥
त्यक्त्वाहारं समस्तं तृषित इव पिबेच्छीततोयं यथावत्॥
सम्यग्वांतं विरिक्तं विगतमलकलंकोल्वणं पांशुशय्या-।
संसुप्तांगं क्षुधार्तं परिजनमिह तं पाययेत्क्षीरमेव॥ ५९॥

नित्यं संशुद्धदेहं सुरभितरमृतं क्षीरमत्यंतशीतं॥
सम्यक्तं पाययित्वा बलममृतसमुद्भूतमालोक्य पश्चात्॥
स्नानाभ्यंगानुलेपाननुदिनमशनं शालिजं क्षीरसर्पि-।
र्युक्तं चैकैकवारं ददतु परिजनास्तस्य निष्कल्मषस्य॥ ६०॥

एवं मासादुपानत्प्रवहितचरणो वारबाणावृतांग-।
स्सोष्णीषो रक्षितात्मा परिजनपरितो निर्व्रजेदात्मवासात्॥
रात्रौ रात्रौ तथाप्यनलपवनशीतातपान्यत्नुपाला।
न्यभ्यस्यन्नित्यमेवं पुनरपि निवसेद्गेहमेतत्तथैव॥ ६१॥

प्रत्यक्षं देवतात्मा स भवति मनुजो मानुषांगो द्वितीय-।
श्चंद्रादित्यप्रकाशस्सजलजलधरध्वानगंभीरनादः।
विद्युन्मालासहस्रद्युतियुतिवलसद्रूपणोभूपितांगो।
दिव्यस्रक्चंदनाद्यैरमलिनवसनैरन्वितोऽन्तर्मुहूर्तात्॥ ६२॥

पाताले चांतरिक्षे दिशि दिशि विदिशि द्वीपशैलाब्धिदेशे ।
यत्रेच्छा तत्र तत्रागतिहतगतिकश्चाद्वितीयं बलं च ॥
स्पर्शो दिव्यामृतांगः स्वयमपि सकलान् रोगराजान्विजेतुं ।
शक्तश्चायुष्यमाप्नोत्यमलिनचरितः पूर्वकोटीसहस्रम् ॥ ६३ ॥

भावार्थः—इस भूमिके अंदर चंद्रामृत नामका औषधिविशेष है । उसकी विशेषता यह है कि वह अपने पत्तोंके साथ कृष्ण और शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन चंद्रके समान हानि और वृद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् शुक्ल पक्ष में रोज बढते २ पूर्णिमाके दिन बिलकुल हराभरा होता है । कृष्णपक्षमें प्रतिदिन घटता जाता है और प्रत्येक अमावास्या के रोज उसकी सब पत्तियां झडजाती हैं और बहुत कठिनता से मिलता है। यह तालाब गहरीनदी, और पर्वत प्रदेशों में उत्पन्न होता है । जिनमत के स्याद्वाद के समान, इस का वीर्य नाम, स्वरूप आदि, एकानेक स्वभावयुक्त हैं । तात्पर्य यह कि इसकी शक्ति आदि अचिंत्य है । इस औषधिको सेवन करने के लिये एक ऐसा मकान बनावें जो तीन दीवाल, तीन मंजिल का हो और तीन प्रदक्षिणा देने के ही बाद जिस के अंदर प्रवेश हो सकें । इस के गर्भगृह (बीचवाला कमरा) में, रसायन सेवन करनेवाला, बंधुबांधव परिचारक आदिकों से वियुक्त होकर अकेला ही बैठें । और १६ तोले घी के दूध में इस चद्रांमृत को मिलाकर निश्चल चित्त से, प्रातःकाल में पीवें । पश्चात् मौनधारण करते हुए दर्भशय्या पर सोवें । सम्पूर्ण आहार को छोडकर, प्यासी के समान बार २ केवल ठण्डा पानी पीवें । उस के बाद उसे, अच्छीतरह वमन विरेचन होकर कोष्ट की शुद्धि होती है । इस प्रकार जिस के शरीर से मल, दोष आदि निकल गये हों जो धूलिशय्या (जमीन) में पडा हो, क्षुधा से पीडित हो उस को कुटुंबीजन, केवल दूध पिलावें । फिर चटाईके ऊपर लेटकर मौन धारण करें संपूर्ण आहारोंका त्याग करें । प्यासी के समान बार२ ठण्डा पानी पीलेवें, उसके बाद उसे अच्छीतरह वमन और रेचन होकर उसकी कोष्टशुद्धि हो जायगी तब उसे ऊंची शय्या (पलंग) पर सुलावें । क्षुधारोगसे पीडित उसको कुटुंबीजन केवल दूध पिलावें । प्रतिनित्य (वमन विरेचन होनेके बाद) उसे इसी प्रकार सुगंधयुक्त गरमकरके ठण्डा किया हुआ दूध पिलावें । एवं इस अमृतके योगसे उसके शरीर में शक्ति आई मालुम पडनेपर मालिश, स्नान, अनुलेपन वगैरह करावें, एवं चावलकी भात घी दूधके साथ दिनमें एकबार खिलावें । इस प्रकारका प्रयोग एक महिने तक करें । तदनंतर वह पैर में जूता, मोजा वगैरह पहन कर, गरम कोट वगैरह से शरीरको ढककर, शिरमें साफा बांधकर, अपने परिवारके लोगोंको साथ लेकर बाहर रात में निकलने का अभ्यास करें । इस प्रकार अग्नि, ऋतु, ठण्ड, गरमी और

अधिक पानी पीने आदि का अभ्यास करते हुए फिर उसी घर में प्रवेश करें। यह अभ्यास प्रतिनित्य करें। इस रसायनको सेवन करनेवाला व्यक्ति देवोंके समान अद्वितीय बन जाता है, चन्द्रसूर्य के समान प्रकाशवान शरीरवाला होता है। मेघके समान गंभीर शब्दवाला बन जाता है। हजारों बिजलियों के समान चमकनेवाले आभूषणों से युक्त शरीरवाला बन जाता है। स्वर्गीय पुष्पमाला, चंदन, निर्मलवस्त्र इत्यादि से अन्तर्मुहूर्त में शोभित होता है। पाताल में, आकाश में, दिशा विदिशा में, पर्वत में, समुद्रप्रान्त में, जहांपर भी इच्छा है वहांपर बिगर रुकावट गमन करसकता है। स्पर्शकरनेमें उसका शरीर ऐसा मालुम होता है कि दिव्यअमृत ही हो एवं वह बडे २ रोगोंको जीतनेके लिये समर्थ रहता है। इस संसारमें निर्मल चारित्र को प्राप्तकर सहस्र पूर्वकोटी आयुष्यको प्राप्त करता है ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

विविध रसायन।

एवं चंद्रामृतादप्यधिकतरबलान्यत्रसंत्यौषधानि।
प्रख्यातानींद्ररूपाण्यतिबहुविलसन्मण्डलैर्मण्डितानि ॥
नानारेखाकुलानि प्रबलतरलतान्येकपत्रद्विपत्रा-
ण्येतान्येतद्विधानादनुभवनमिह प्रोक्तमासीत्तथैव ॥ ६४ ॥

भावार्थः—इस प्रकार इस चंद्रामृतसे भी अधिक शक्तियुक्त बहुतसे औषध मौजूद हैं। उनके सेवनसे साक्षात् देवेंद्रके समान रूप बनजाता है। उनके पत्तोंमें बहुतसी चमकीली नानाप्रकारकी रेखायें रहती हैं। कोई एकपत्र द्विपत्रवाली लतायें रहती हैं। उनको उक्त विधीके अनुसार सेवन करनेसे अनेक प्रकारके फल मिलते हैं ॥ ६४ ॥

चन्द्रामृतादिरसायनके अयोग्यमनुष्य।

पापी भीरुः प्रमादी जनधनरहितो भेषजस्यावमानी।
कल्याणोत्साहहीनो व्यसनपरिकरो नात्मवान् रोषिणश्च ॥
तेचान्ये वर्जनीया जिनपतिमतबाह्याश्च ये दुर्मनुष्याः।
लक्ष्मीसर्वस्वसौख्यास्पदगुणयुतसद्भेषजैश्चंद्रमुख्यैः ॥ ६५ ॥

भावार्थः—ऐश्वर्य, व सुखको उत्पन्न करने वाले, उपर्युक्त चंद्रामृतादि दिव्य-औषधोंको पापी, भीरु, आलसी, परिवारजनरहित, निर्धन, औषधिके अपमान करनेवाले, व्यसनोंमें मग्न, इन्द्रियों के वशवर्ति (असंयमी) क्रोधी, जिनधर्मद्वेषी, और दुर्जन आदिकों नहीं देना चाहिये ॥ ६५ ॥

दिव्यौषध प्राप्त न होने के कारण ।

दैवादज्ञानतो वा धनरहिततया भेषजालाभतो वा ।
चित्तस्याप्यस्थिरत्वात्स्वयमिहनियतोद्योगहीनस्वभावात् ॥
आवासाभावतो वा स्वजनपरिजनानिष्टसंपर्कतो वा ।
नास्तिक्याबाप्नुवंति स्वहिततरमहाभेषजान्यप्युदाराः ॥ ६६ ॥

भावार्थः—बडे २ श्रीमंत भी उपर्युक्त महाऔषधियोंको दैवसे, अज्ञानसे, धनाभावसे, औषधिके न मिलनेसे, चित्तकी अस्थिरतासे नियतउद्योगके रहित होनेसे, योग्य मकानके न होनेसे, अनिष्ट निजबंधुमित्रोंके संपर्कसे एवं नास्तिकभावोंके होनेसे प्राप्त नहीं कर पाते हैं ॥ ६६ ॥

अंतिमकथन ।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ६७ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथमें जगतका एक मात्र हित साधक है [इसलिये ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ ६७ ॥

—*×*—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके स्वास्थ्यरक्षणाधिकारे
रसायनविधिष्षष्ठः परिच्छेदः ।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के स्वास्थ्यरक्षणाधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित
भावार्थदीपिका टीका में रसायनविधि नामक
छठा परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अथ सप्तम परिच्छेदः ।

अथ चिकित्सासूत्राधिकार ।

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा ।

जिनेंद्रमानंदितसर्वसत्वं ।
जरारुजामृत्युविनाशहेतुं ॥
प्रणम्य वक्ष्यामि यथानुपूर्व ।
चिकित्सितं सिद्धमहाप्रयोगैः ॥ १ ॥

भावार्थः—जन्मजरामृत्युको नाश करनेके लिए कारणीभूत अतएव मर्त्यलोकको आनंदित करनेवाले श्री जिनेंद्र भगवानको प्रणामकर सिद्धमहाप्रयोगोंके द्वारा यथाक्रम चिकित्साका निरूपण करूंगा, इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

पुरुष निरूपण प्रतिज्ञा ।

चिकित्सितस्याति महागुणस्य ।
य एवमाधारतया प्रतीतः ॥
स एव सम्यक्पुरुषाभिधानो ।
निगद्यते चारुविचारमार्गैः ॥ २ ॥

भावार्थः— महागुणकारक चिकित्साके आधारभूत, और पुरुष नामांकित जो आत्मा है उसके स्वभाव आदि के विषय में सुचारुरूपसे कुछ वर्णन करेंगे इस प्रकार आचार्य कहते हैं ॥ २ ॥

आत्मस्वरूप विवेचन ।

अनादिबद्धस्स कथंचिदात्मा ।
स्वकर्मनिर्मापितदेहयोगात् ॥
अमूर्तमूर्तत्वनिजस्वभाव- ।
स्स एव जानाति स पश्यतीह ॥ ३ ॥

भावार्थः—यह ज्ञानदर्शन स्वरूप (अमूर्तिमान) आत्मा अपने कर्मसे रचित शरीरके द्वारा अनादि कालसे बद्ध है इसलिये वह कथंचित् अमूर्तत्व कथंचित् मूर्तिमत्व, स्वभाव से युक्त है। ज्ञानदर्शन ही उसका लक्षण है इसलिये, वही सब बातों को जानता है, और देखता भी है। अत एव ज्ञाता द्रष्टा कहलाता है ॥ ३ ॥

आत्माके कर्तृत्व आदि स्वभाव।

सदैव संस्कर्तृगुणोपपन्न- ।
स्स्वकर्मजस्यापि फलस्य भोक्ता ॥
अनाद्यनंतस्स्वशरीरमात्रः ।
प्रधानसंहारविसर्पणात्मा ॥ ४ ॥

भावार्थः—यह आत्मा, सदा कर्तृत्व गुण से युक्त है अर्थात् सभी कार्यों को करता है। इसलिये कर्ता कहलाता है। पूर्व में किये गये अपने कर्मफल को स्वयं भोगता है, (अन्य नही) इसीलिये भोक्ता है। यह आत्मा अनादि व अनंत है, एवं अपने शरीरके प्रमाण में रहनेवाला है और संकोच विस्तार गुण से युक्त है ॥ ४ ॥

आत्मा स्वदेहपरिमाण है।

न चाणुमात्रो न कणप्रमाणो ।
नाप्येवमंगुष्ठसमप्रमाणः ॥
न योजनात्मा नच लोकमात्रो ।
देही सदा देहपरिप्रमाणः ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस आत्मा का प्रमाण अणुमात्र भी नहीं है। एक कण मात्र भी नहीं है। एवं अंगुष्ठके समान प्रमाणवाला भी नहीं है, और न इसका प्रमाण योजनका है, न लोकव्यापी है। देही (आत्मा) सदा अपने देहके ही प्रमाणवाला है ॥ ५ ॥

आत्मा का नित्यानित्यादि स्वरूप।

ध्रुवोप्यसौ जन्मजरादियोग- ।
पर्यायभेदैः परिणामयुक्तः ॥
गुणात्मको दुःखसुखाधिवासः ।
कर्मक्षयादक्षयमोक्षभागी ॥ ६ ॥

भावार्थः—यद्यपि यह आत्मा ध्रुव (नित्य) है अर्थात् अविनाशी है। तथापि जन्मजरा मृत्यु इत्यादि पर्यायोंके कारण परिणमन शील है अर्थात् अनित्य है, विनाशस्व-रूपी हैं। अनेक श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त है। दुःखसुखोंका आधारभूत है अर्थात् उनको स्वयं अनुभव करता है। कर्मक्षय होनेके बाद अक्षय (अविनाशी) मोक्षस्थानको प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

आत्मा का उपर्युक्त स्वरूप चिकित्साके लिये आवश्यक है।

एवं विधो जीवपदार्थभेदो ।
मतं मनोज्ञस्य चिकित्सकस्य ॥

सोऽयं भवेद्दोषप्रसंनिधानं ।
सुखैकहेतुं तनुमद्गणस्य ॥ ७ ॥
न नित्यमार्गे क्षणिकस्वभावे ।
क्रिया प्रसिद्धा स्ववचो विरोधात् ॥
हेत्वागमाधिष्ठितयुक्तियुक्तं ।
स्याद्वादवादाश्रयणं प्रधानम् ॥ ८ ॥

भावार्थः—जिस चिकित्सकके मनमें उपर्युक्त प्रकार जीवपदार्थका वर्णन किया गया हो वही चिकित्सक प्राणियोंको सुख उत्पन्न करनेवाली चिकित्साको कर सकता है। अन्य नहीं। आत्माके स्वभावको सर्वथा नित्य माननेपर अथवा सर्वथा क्षणिक माननेपर चिकित्साकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती. क्यों कि, स्ववचन में ही विरोध आता है। आत्माको सर्वथा नित्य माननेपर चिकित्साकी आवश्यकता ही नहीं। सर्वथा क्षणिक माननेपर कौन किसकी चिकित्सा करें। इसलिए हेतु, आगम, युक्ति से युक्त स्याद्वाद [अनेकांत] का आश्रय करना आवश्यक है। अर्थात कथंचित् नित्य कथंचित् अनित्य मानना पडेगा ॥ ७-८ ॥

अतः पुमान्व्याधिरिहौषधानि ।
काल. कथंचिद्व्यवहारयोग्यः ॥
न सर्वथेति प्रतिपादनीयम् ।
युक्त्यागमाभ्यामधिकं विरोधात् ॥ ९ ॥

भावार्थ—इसलिये आत्मा, व्याधि, औषधि, और कालको, ऐसा मानना चाहिये जिससे वे किसी अपेक्षासे व्यवहार में आने योग्य हों। कोई भी, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि इस प्रकार सर्वथा प्रतिपादन न करना चाहिये। क्यों कि सर्वथा प्रतिपादन करने में, युक्ति, और आगम से, अत्यन्त विरोध आता है ॥ ९ ॥

कर्मोंके उदयके लिए निमित्त कारण।

जीवस्स्वकर्मार्जितपुण्यपाप-
फलं प्रयत्नेन विनापि भुंक्ते ॥
दोषप्रकोपोपशमौ च ताभ्या-
मुदाहृतौ हेतुनिबंधनौ तौ ॥ १० ॥

भावार्थः[१]— यह जीव अपने कर्मोपार्जित पुण्यपाप फलको विना प्रयत्नके ही

१—पुण्यकर्म जिस समय, अपना फल देने लगता है, तो प्राणियोंको सुख का अनुभव होता है। पाप कर्म अपना फल देने लगे तो, दुःख ही दुःख का अनुभव होता है। (इन कर्मोंके

अवश्य अनुभव करता है । वातपित्तादि दोषोंके प्रकोप और उपशम, पाप का, व पुण्यकर्म के फल देनेमें निमित्त कारण हैं ॥ १० ॥

रोगोत्पत्ति के हेतु ।

सहेतुकास्सर्वविकारजाता-
स्तेषां विवेको मुख्यभेदात्
हेतुःपुनः पूर्वकृतं स्वकर्म ।
ततःपरं तस्य विशेषणानि ॥ ११ ॥

भावार्थः—शरीरमें सर्व विकार (रोग) सहेतुक ही होते हैं । परंतु उन हेतुओं को जाननेके लिये गौण और मुख्यविवक्षा विवेकसे काम लेनेकी जरूरत है । रोगादिक विकारोंका मुख्य हेतु अपने पूर्वकृत कर्म है । बाकीके सब उसके विशेषण हैं अर्थात् निमित्त कारण हैं। गौण हैं ॥ ११ ॥

कर्म का पर्याय ।

स्वभावकालग्रहकर्मदैव- ।
विधातृपुण्येश्वरभाग्यपापम् ॥
विधिःकृतांतो नियतिर्यमश्च ।
पुराकृतस्यैव विशेषसंज्ञाः ॥ १२ ॥

भावार्थः—स्वभाव, काल, ग्रह, कर्म, दैव, विधाता (ब्रह्मा) पुण्य, ईश्वर, भाग्य पाप, विधि, कृतांत, नियति, यम, ये सब पूर्वजन्मकृत कर्मका ही अपरनाम हैं । इस-लिये जो लोग ऐसा कहा करते हैं कि "काल बिगडगया, ग्रह दोष मुझे दुःख देरहा है, दैव रुष्ट है, ब्रह्माने ऐसा ही लिखा है, ईश्वरकी ऐसी मर्जी है, यम महान् दुष्ट है, होनहार बडा प्रबल है " इन सबका यही अर्थ है कि पूर्वोपार्जित कर्मके उदयसे ही मनुष्यको सुखदुःख मिलते हैं ॥ १२ ॥

रोगोत्पत्ति के मुख्यकारण

न भूतकोपान्नच दोषकोपा- ।
न्नचैव सांवत्सरिकोपदिष्टात् ॥
ग्रहप्रकोपात्प्रभवंति रोगाः ।
कर्मोदयोदीरणभावतस्ते ॥ १३ ॥

विना सुख दुःख का अनुभव हो ही नहीं सकता) लेकिन इन दोनों कर्मोंको अपना फल प्रदान करने में निमित्त कारणोंकी जरूरत पडती है । पुण्यकर्म के लिए निमित्तकारण, दोषोंके उपशम होना है पापकर्म के लिए, दोषोंके प्रकोप होना है ।

भावार्थः—पृथ्वी आदि भूतोंके कोपसे रोग उत्पन्न नहीं होते हैं, और न कोई दोषोंके प्रकोपसे ही रोग होते हैं। वर्षफलके खराब होनेसे और मंगल आदि ग्रहों के प्रकोपसे भी रोगों की उत्पत्ति नहीं होती है। लेकिन कर्मके उदय और उदीरणा से ही रोग उत्पन्न होते हैं॥ १३॥

कर्मोपशांति करनेवाली क्रिया ही चिकित्सा है।

तस्मात्स्वकर्मोपशमक्रियाया।
व्याधिप्रशांतिं प्रवदंति तज्ज्ञाः॥
स्वकर्मपाको द्विविधो यथाव-।
दुपायकालक्रमभेदभिन्नः॥ १४॥

भावार्थः—इसलिये कर्मके उपशमनक्रिया (देवपूजा ध्यान आदि) को बुद्धिमान् लोग वास्तवमें रोगशांति करनेवाली क्रिया अर्थात् चिकित्सा कहते हैं। अपने कर्मका पकना दो प्रकार से होता है। एक तो यथाकाल पकना दूसरा उपायसे पकना॥१४॥

सविपाकाविपाक निर्जरा

उपायपाको वरघोरवीर-।
तपःप्रकारैस्सुविशुद्धमार्गैः॥
सद्यः फलं यच्छति कालपाकः।
कालांतराद्यः स्वयमेव दद्यात्॥ १५॥

भावार्थः— उत्कृष्ट घोर वीर तपस्यादि विशुद्ध उपायोंसे कर्मको जबरदस्ती से (वह कर्मका उदय काल न होते हुए भी) उदयको लाना यह उपाय पाक कहलाता है। इससे उसी समय फल मिलता है। कालांतरमें यथासमय (अपने आयुष्यावसान में) पककर स्वयं उदयमें आकर फल देता है वह कालपाक है॥ १५॥

यथा तरूणां फलपाकयोगो।
मतिप्रगल्भैः पुरुषैर्विधेयः॥
तथा चिकित्सा प्रविभागकाले।
दोषप्रपाको द्विविधः प्रसिद्धः॥ १६॥

भावार्थः—जिस प्रकार वृक्षके फल स्वयं भी पकते हैं एवं उन्हें बुद्धिमान मनुष्य उपयों द्वारा भी पकाते हैं। इसी प्रकार प्रकुपित दोष भी उपाय (चिकित्सा) और कालक्रम से दो प्रकार से पक्व होते हैं॥ १६॥

उपाय और कालपाकका लक्षण।

आमघ्नसद्भेषजसंप्रयोगा-
दुपायपाकं प्रवदंति तद्ज्ञाः ॥
कालांतरात्कालविपाकमाहुः ।
मृगद्विजानाथजनेषु दृष्टम् ॥ १७ ॥

भावार्थः—रोगकी कच्चापनको दूर करनेवाली औषधियोंका प्रयोग करके दोषों को पकाना उपाय पाक कहलाता है। कालांतर में (अपने अवधिके अन्दर) स्वयमेव (विना औषधि के ही) पकजानेको कालपाक कहते हैं, जो पशु पक्षि और अनाथो में देखाजाता है ॥ १७ ॥

गृहनिर्माणकथन प्रतिज्ञा।

तस्माच्चिकित्साविषयोपपन्न ।
नरस्य सद्वृत्तमुदाहरिष्ये ॥
तत्रादितो वेश्मविधानमेव ।
निगद्यते वास्तुविचारयुक्तम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—इसलिये चिकित्सा करने योग्य मनुष्यमें क्या आचरण होना चाहिये यह बात कहेंगे। उसमें भी सबसे पहिले रोगीको रहने योग्य मकानके विषयमें वास्तुविद्या के साथ निरूपण किया जायगा। क्यों कि सबसे अधिक उसकी मुख्यता है ॥१९॥

गृहनिर्मापण विधान।

प्रशस्तदिग्देशकृतं प्रधान- ।
भाशागतायां प्रविभक्तभागं ॥
प्राचीनमंत्रं प्रभुमंत्रतंत्र- ।
यंत्रैस्सदा रक्षितमक्षरज्ञैः ॥ १९ ॥

भावार्थः—मकान योग्य (प्रशस्त) दिशा देशमें बना हुआ होना चाहिये प्रधान दिशा में भी जो श्रेष्ठ भाग है उसमें होना चाहिये। प्राचीन मंत्र यंत्रके विषयको जाननेवाले विद्वानों द्वारा मंत्रयंत्र तंत्रप्रयोग कराकर रक्षित हो ऐसा होना चाहिये ॥१९॥

सदैव संमार्जनदीपधूप- ।
पुष्पोपहारैः परिशोभमानम् ॥
मनोहरं रक्षकरक्षणीयम् ।
परीक्षितस्त्रीपुरुषप्रवेशनम् ॥ २० ॥

भावार्थः—वह मकान, सदा झाड़ लगाना, दीप जलाना, धूपसे सुगंधितकरना, फूलमालाओं को टांगना इन से सुशोभित, मनोहर, और रक्षकों द्वारा रक्षित होना चाहिये। एवं वह योग्य स्त्री पुरुषों के प्रवेश से परीक्षित होना चाहिये ॥ २० ॥

निवातनिश्छिद्रमपेतदोष-
मासन्नसोपस्करभेषजाढ्यम् ॥
आपूर्णवर्णोज्वलककरीभि-
रलंकृतं मंगलवास्तु शस्तम् ॥ २१ ॥

भावार्थः— वह मकान अधिक हवादार छिद्र व दोषयुक्त न हो। अनेक उपकरण और श्रेष्ठ औषधियां जिसके पासमें हो, सुंदर २ चित्र व गुलदस्तोंसे शोभित हो ऐसा मंगल मकान प्रशस्त है ॥ २१ ॥

शय्याविधान।

तस्मिन्महावेश्मनि नातुवंशं।
विशीर्णविस्तीर्णमनोभिरामं ॥
सखट्वमाढ्यं शयनं विधेयम्।
निरंतराताननवितानयुक्तम् ॥ २२ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकार के महान् मकान में, रोगी को सोने के लिये एक अच्छे खाट (पलंग) पर, ऐसा बिस्तर बिछाना चाहिये, जो, नया, विशाल और मनोहर हो, जिसके चारों ओर पर्दा, ऊपर चन्दोवा (मच्छरदानी) हो। ॥ २२ ॥

शयनविधि।

स्निग्धैः स्थिरैर्बंधुभिरप्रमत्त-।
रनाकुलैस्साधु विधाय रक्षाम् ॥
प्राग्दक्षिणाशानिहितोत्तमांग-।
श्शयीत तस्मिन् शयने सुखार्थी ॥ २३ ॥

भावार्थः—मित्रजन, स्थिर चित्तवाले, बंधु, सतर्क और शांत मनुष्योंके द्वारा रोगीकी रक्षा होनी चाहिये। सुखकी इच्छासे वह रोगी उस पलंगपर पूर्व या दक्षिण दिशाके तरफ मस्तक करते शयन करें ॥ २३ ॥

रोगीकी दिनचर्या.

प्रातः समुत्थाय यथोचितात्मा।
नित्यौषधाहारविधानधर्मः ॥

आस्तिक्यबुद्धिस्सततामप्रमत्त- ।
स्सर्वात्मना वैद्यवचोऽनुवर्ती ॥ २४ ॥

भावार्थः—प्रातःकाल उठकर प्रतिनित्य अपने योग्य औषधि और आहारके विषय में यह विचार करें कि किस समय कोनसी औषधि लेनी है, क्या खाना चाहिये आदि। आस्तिक्य बुद्धि रखें और सदा सावधान रहें। एवं सर्व प्रकार से वैद्यके अभिप्राया-नुसार ही अपना आहारविहार आदि कार्य करें॥ २४ ॥

यमैश्च सर्वैर्नियमैरुपेतो ।
मृत्युंजयाभ्यासरतो जितात्मा ॥
जिनेंद्रबिंबार्चनयात्मरक्षां ।
दीक्षामिमां सावधिकां गृहीत्वा ॥ २५ ॥

भावार्थः—प्रतिनित्य यम या नियम व्रतोंसे युक्त रहें। मृत्युंजयादि मंत्रोंको जपते रहें। इंद्रियोंको वश में कर रखें। जिनेंद्र बिंबकी पूजासे मैं अपनी आत्मरक्षा करलूंगा इस प्रकारकी नियम दीक्षा को लेवें॥ २५ ॥

दिवा निशं धर्मकथास्स शृण्वन् ।
समाहितो दानदयापरश्च ॥
शांतिं पयोमृष्टरसान्नपानै- ।
स्संतर्पयन्साधुमुनींद्रवृंदम् ॥ २६ ॥

भावार्थः—रात्रिदिन धर्मकथाओं को सुनते हुए सदाकाल दया और दानमें रत रहें। सदा सुंदर मिष्ट आहारोंसे शांत साधुगणोंको तृप्त करते रहें॥ २६ ॥

सदातुरस्सर्वहितानुरागी ।
पापक्रियाया विनिवृत्तवृत्तिः ॥
तृपान्विमुंचन्नथदेहिनश्च [?]
विमोचयन्बंधनपंजरस्थान् ॥ २७ ॥

भावार्थः—सदा रोगी सबका हितैषी बने और सबसे प्रेम रखें। सर्व पाप क्रियाओं को बिलकुल छोड देवें। बंधन व पंजरमें बद्ध चूहे व अन्य प्राणियोंको दयासे छुडावें॥ २७ ॥

शाम्योपशांतिं च नरश्च भक्त्या ।
जिनादभक्त्या जिनचंद्रभक्त्या ॥
एवंविधो दूरत एव पापा-
द्विमुच्यते किं खलु रोगजालैः ॥ २८ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकार के सदाचरणों से जो मनुष्य अपने आत्माको निर्मल बना लेता है, एवं जो जिनागम व जिनेंद्रके प्रति भक्ति करता है, वह मनुष्य शांति व सुखको प्राप्त करता है। उस मनुष्यको पाप भी दूरसे छोडकर जाते हैं, दुष्ट रोगजाल क्यों उसके पासमें जावेंगे ॥ २८ ॥

सर्वात्मना धर्मपरो नरस्स्या- ।
त्तमाशु सर्वं समुपैति सौख्यम् ॥
पापोदयात्ते प्रभवंति रोगा- ।
धर्माच्च पापाः प्रतिपक्षभावात् ॥ २९ ॥
नश्यंति, सर्वे प्रतिपक्षयोगा-
द्विनाशमायांति किमत्रचित्रम् ॥

भावार्थः—जो व्यक्ति सर्वप्रकारसे धर्मपरायण रहता है उसे संपूर्ण सुख शीघ्र आकर मिलते हैं। (इसलिये, रोगीको, धर्म में रत रहना चाहिये) पापके उदयसे रोग उत्पन्न होते हैं। पाप और धर्म ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। धर्मके अस्तित्वमें पापनाश होता है। क्यों कि धर्म पापके प्रतिपक्षी है अर्थात् पाप अपना प्रभाव धर्मके सामने नहीं चला सकता। प्रतिपक्षकी प्रबलता होनेपर अन्य पक्षके नाशहोनेमें आश्चर्य क्या है!

रोगोपशमनार्थ, बाह्याभ्यंतर चिकित्सा

धर्मस्तथाभ्यंतरकारणं स्या- ।
द्रोगप्रशांत्यै सहकारिपूरम् ॥
बाह्यं विधानं प्रतिपद्यतेऽत्र ।
चिकित्सितं सर्वमिहोभयात्म ॥ ३० ॥

भावार्थः—इस कारणसे रोगशांति के लिये धर्म अभ्यंतर कारण है। बाह्य चिकित्सा केवल सहकारी कारण है उसका निरूपण यहांपर किया जायगा। अत एव संपूर्ण चिकित्सा बाह्य और अभ्यंतरके भेदसे दो प्रकार की है ॥ ३० ॥

बाह्यचिकित्सा।

द्रव्यं तथा क्षेत्रमिहापि कालं ।
भावं समाश्रित्य नरस्सुखी स्यात् ॥
स्नेहादिभिर्वा सुविशेषयुक्तम् ।
छेद्यादिभिर्वा निगृहीतदेहः ॥ ३१ ॥

१ इस श्लोकके दो मूलप्रतियों को टटोलनेपर भी दो ही चरण उपलब्ध हुए।

भावार्थः—द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावको अनुसरण करके यथायोग्य स्नेहन स्वेदन, वमन विरेचन आदि कर्मों को, तथा छेदनभेदन आदि के योग्य रोगो में छेदन, भेदन आदि क्रिया करें तो रोगपीडित मनुष्य सुखी होता है ॥ ३१ ॥

चिकित्सा प्रशंसा ।

चिकित्सितं पापविनाशनार्थं ।
चिकित्सितं धर्मविवृद्धये च ।
चिकित्सितं चोभयलोकसाधनं ॥
चिकित्सितान्नास्ति परं तपश्च ॥ ३२ ॥

भावार्थः—रोगियोंकी चिकित्सा करना पापनाशका कारण है । चिकित्सासे धर्मकी वृद्धि होती है । चिकित्सा इह परमें सुख देनेवाली है । किं बहुना ? चिकित्सासे उत्कृष्ट कोई तप नही हैं ॥ ३२ ॥

चिकित्सा के उद्देश

तस्माच्चिकित्सा न च काममोहा- ।
न्नचार्थलोभान्नच मित्ररागात् ॥
न शत्रुरोषान्नच बंधुबुध्या ।
न चान्यइत्यन्यमनोविकारात् ॥ ३३ ॥

नचैव सत्कारनिमित्ततो वा ।
नचात्मनस्सद्यशसे विधेयम् ॥
कारुण्यबुध्या परलोकहेतो ।
कर्मक्षयार्थं विदधीत विद्वान् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—इसलिये वैद्यको उचित है कि वह काम और मोहबुद्धिसे चिकित्सा कभी नहीं करें । द्रव्यके लोभसे, मित्रानुरागसे, शत्रुरागसे, बंधुबुद्धिसे, एवं अन्य मनोविकारोंसे युक्त होकर वह चिकित्सामें प्रवृत्त नहीं होवें । आदरसत्कारकी इच्छासे, अपने यशके लिये भी वह चिकित्सा नहीं करें । केवल रोगियोंके प्रति दयाभावसे एवं परलोक साधनके लिये एवं कर्मक्षय होनेके लिये विद्वान् वैद्य चिकित्सा करें ॥ ३३-३४ ॥

निरीह चिकित्साका फल ।

एवं कृता सर्वफलप्रसिद्धिं ।
स्वयं विदध्यादिह सा चिकित्सा ॥

सम्यक्कृता साधु कृषिर्यथार्थं ।
ददाति तत्पूरुषदैवयोगात् ॥ ३५ ॥

भावार्थः—इस प्रकार उपर्युक्त उद्देशसे की हुई चिकित्सा उस वैद्यको सर्व फल को स्वयं देती है। विन चाहे उसे धन यश सब कुछ मिलते हैं। जिस प्रकार अच्छी-तरह की हुई कृषि कृषीवलके पौरुष दैवयोगसे स्वयं धनसंचय कराती है उसी प्रकार शुद्ध हृदयसे की हुई चिकित्सा वैद्यको इह परमें समस्त सुख देती है ॥ ३५ ॥

चिकित्सा से लाभ ।

क्वचिच्च धर्मं क्वचिदर्थलाभं ।
क्वचिच्च कामं क्वचिदेव मित्रम् ॥
क्वचिद्यशस्सा कुरुते चिकित्सा ।
क्वचित्तदभ्यासविशारदत्वम् ॥ ३६ ॥

भावार्थः—उस चिकित्सा से वैद्यको कहीं धर्म (पुण्य) की प्राप्ति होगी। कहीं द्रव्यलाभ होगा। कहीं सुख मिलेगा। किसी जगह मित्रत्व की प्राप्ति होगी। कहीं यशका लाभ होगा और कहीं चिकीत्सा के अभ्यास बढ जायगा ॥ ३६ ॥

वैद्योंको नित्य सम्पत्तीकी प्राप्ति ।

न चास्ति देशो मनुजैर्विहीनो ।
न मानुषस्त्यक्तनिजामिषा वा ॥
न भुक्तवंतो विगतामयास्ते- ।
प्यतो हि संपद्भिषजां हि नित्यम् ॥ ३७ ॥

भावार्थः—ऐसा कोई देश नहीं जहां मनुष्य न हों। ऐसे कोई मनुष्य नहीं जो भोजन नहीं करते हों। ऐसे कोई भोजन करनेवाले नहीं जो निरोगी हों। इसलिये विद्वान् वैद्यको सदा सम्पत्ति मिलती है ॥ ३७ ॥

वैद्यके गुण ।

चिकित्सकस्सत्यपरस्सुधीरः ।
क्षमान्वितो हस्तलघुत्वयुक्तः ॥
स्वयं कृती दृष्टमहाप्रयोगः ।
समस्तशास्त्रार्थविदप्रमादी ॥ ३८ ॥

भावार्थः—चिकित्सक वैद्य, सत्यनिष्ठ हो, धीर हो, क्षमा और हस्तलाववसे युक्त हो, कृती [कृतकृत्य व निरोगी] हो, जिसने बडी २ चिकित्साप्रयोगों को

देखा हो, सम्पूर्ण आयुर्वेदीय शास्त्रके अर्थोंको गुरुमुखसे जान लिया हो, तथा प्रमाद-रहित हों । इन गुणोंसे सुशोभित वैद्य ही योग्य वैद्य कहलाता है ॥ ३८ ॥

रोगीके गुण ।

अथातुरोप्यर्थपतिश्चिरायु- ।
स्सुबुद्धिमानिष्टकलत्रपुत्र ॥
सुभृत्यबंधुस्सुसमाहितात्मा ।
सुसत्ववानात्मसुखाभिलाषी ॥ ३९ ॥

भावार्थः—रोगी भी श्रीमंत हो, दीर्घायुषी हो, बुद्धिमान् हो, अनुकूल स्त्रीपुत्र मित्र बंधु भृत्योंसे युक्त हो, शक्तिशाली हो, जितेंद्रिय हो, एवं आत्मसुखकी इच्छा रखने वाला हो ॥ ३९ ॥

औषधिके गुण ।

सुदेशकालोध्धृतमल्पमात्रं ।
सुखं सुरूपं सुरसं सुगंधि ॥
निपीतमात्रामयनाशहेतुम् ।
विशेषतो भेषजमादिशंति ॥ ४० ॥

भावार्थः—सुदेशमें उत्पन्न, योग्य काल में उद्धृत [उखाडी] परिमाणमें अल्प, सुखकारक, श्रेष्ठ रूप, रस, गंध से युक्त और जिसके सेवन करने मात्र से ही रोगनाश होता हो ऐसी औषधि प्रशस्त होती है ॥ ४० ॥

परिचारकके गुण ।

बलाधिकाः क्षांतिपराः सुधीराः ।
परार्थबुध्यैकरसप्रधानाः ॥
सहिष्णवः स्निग्धतराः प्रवीणाः ।
भवेयुरेते परिचारकाख्याः ॥ ४१ ॥

भावार्थः—परिचारक अत्यंत बलशाली, क्षमाशील, धीर, परोपकार करनेमें दत्तचित्त, स्नेही एवं चातुर्य से युक्त होना चाहिए अर्थात् रोगीके पास रहनेवाले परिचारकोंमें उपर्युक्त गुण होने चाहिये ॥ ४१ ॥

पादचतुष्टय की आवश्यकता ।

एते भवंत्यप्रतिमास्तुपादा-
श्चिकित्सितस्यांगतया प्रतीताः ॥

तैस्तद्विकारानचिरेण हंति ।
चतुष्टयेनैव बलेन शत्रून् ॥ ४२ ॥

भावार्थः—इन पूर्व कथितगुणोंसे युक्त, वैद्य, आतुर, औषध, और परिचारक, चिकित्साके विषयमें, असाधारण पाद चतुष्टय कहलाते हैं। ये चारों चिकित्सा के अंग हैं। इनके द्वारा ही, रोगोंके समूह शीघ्र नाश हो सकते हैं। जिसप्रकार राजा चतुरंग-सेनाके बलसे शत्रुओंको नाश करता है ॥ ४२ ॥

वैद्य की प्रधानता।

पादैस्त्रिभिर्भासुरसद्गुणाढ्यो ।
वैद्यो महानातुरमाशु सौख्यं ॥
सम्प्रापयत्यागमदृष्टतत्वो ।
रत्नत्रयेणैव गुरुस्स्वशिष्यम् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—आगमके तत्वोंके अभ्यस्त, सद्गुणी वैद्य उपर्युक्त औषधि और परिचारक व आतुर रूपी प्रधान अंगोंकी सहायतासे भयंकर रोगी को भी शीघ्र आराम पहुंचाता है। जिस प्रकार गुरु सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके बलसे अपने शिष्योंको उपकार करते हैं ॥ ४३ ॥

वैद्यपर रोगीका विश्वास।

अथातुरो मातृपितृस्वबंधून् ।
पुत्रान्समित्रोरुकलत्रवर्गान् ॥
विशंकते सर्वहितैकबुद्धो ।
विश्वास एवात्र भिषग्वरेऽस्मिन् ॥ ४४ ॥

भावार्थः—रोगी अपने माता पिता पुत्र मित्र बंधु स्त्री आदि सबको (औषधिके विषय में) संदेहकी दृष्टिसे देखता है। परंतु सर्वतो प्रकारसे हित को चाहने वाले वैद्यराजके प्रति वह विश्वास रखता है ॥ ४४ ॥

रोगीके प्रति वैद्यका कर्तव्य।

तस्मात्पितेवात्मसुतं सुवैद्यो ।
विश्वासयोगात्करुणात्मकत्वात् ॥
सर्वप्रकारैस्सततात्प्रयत्नो ।
रक्षेन्नरं क्षीणमथो नृपार्थम् ॥ ४५ ॥

भावार्थः—वैद्यको इसलिये उचित है कि जिसप्रकार एक पिता अपने पुत्रकी प्रेम भावसे रक्षा करता है उसी प्रकार रोगीको पुत्रके समान समझकर चिकित्सा करें। क्यों कि वह वैद्यके ऊपर विश्वास रखचुका है अतएव करुणाके पात्र है। इसलिये सर्वप्रकारसे अप्रमादी होकर धर्मके लिये सुवैद्य रोगीकी रक्षा करें॥ ४५॥

योग्य वैद्य

गुरूपदेशादधिगम्य शास्त्रम्।
क्रियाश्च दृष्टाःसकलाः प्रयोगैः॥
स कर्म कर्तुं भिषगत्र योग्यो।
न शास्त्रविन्नैवच कर्मविद्वा॥ ४६॥

भावार्थः—गुरूपदेशसे आयुर्वेद शास्त्रको अध्ययन कर औषध योजनाके साथ २ सम्पूर्ण चिकित्सा को देखें व अनुभव करें। जो शास्त्र जानता है और जिसको चिकित्सा प्रयोगका अनुभव है वही वैद्य योग्य है। केवल शास्त्र जाननेवाला अथवा केवल क्रिया जाननेवाला योग्य वैद्य नहीं हो सकता॥ ४६॥

प्रागुक्तकथनसमर्थन।

तावप्यनन्योन्यमतप्रवीणौ।
क्रियां विधातुं नहि तौ समर्थौ॥
एकैकपादाविव देवदत्ता-।
वन्योन्यवद्धौ नहि तौ प्रयातुम्॥ ४७॥

भावार्थः—एक शास्त्र जाननेवाले और एक क्रिया जाननेवाले ऐसे दो वैद्योंके एकत्र मिलनेपर भी वे दोनों चिकित्सा करनेमें समर्थ नहीं होसकते, जिसप्रकार कि एक एक पैरवाले देवदत्तोंके एक साथ बांधनेपर भी वे चलनमें समर्थ नहीं हो पाते हैं॥ ४७॥

उभयज्ञवैद्य ही चिकित्सा के लिये योग्य।

यस्तूभयज्ञो मतिमानशेष-।
प्रयोगयंत्रागमशस्त्रशास्त्रः॥
राज्ञोपदिष्टस्सकलप्रजानाम्।
क्रियां विधातुं भिषगत्र योग्यः॥ ४८॥

भावार्थः—जो दोनों (क्रिया और शास्त्र) बातों में प्रवीण है, बुद्धिमान् है सर्व औषधि प्रयोग यंत्रशास्त्र, शस्त्र, शास्त्र आदिका ज्ञान रखता है, वह वैद्य राजाकी आज्ञासे सम्पूर्ण प्रजा की चिकित्सा करने योग्य है॥ ४८॥

अज्ञ वैद्यसे हानि ।

अज्ञानतो वाप्यतिलोभमोहा- ।
दशास्त्रविद्यः कुरुते चिकित्साम् ॥
सर्वानसौ मारयतीह जंतून् ।
क्षितीश्वरैरत्र निवारणीयः ॥ ४९ ॥

भावार्थः—अज्ञान, लोभ व मोहसे शास्त्रको नहीं जानते हुए भी चिकित्सा कार्य में जो प्रवृत्त होता है वह सभी प्राणियोंको मारता है । राजाओंको उचित है कि वे ऐसे वैद्योंको चिकित्सा करने से रोकें ॥ ४९ ॥

अज्ञ वैद्यकी चिकित्साकी निंदा ।

अज्ञानिना यत्कृतकर्मजातं ।
कृतार्थमप्यत्र विगर्हणीयम् ॥
उत्कीर्णमप्यक्षरमक्षरज्ञै- ।
र्न वाच्यते तद्गणवर्णमार्गैः ॥ ५० ॥

भावार्थः—अज्ञानी वैद्यकी चिकित्सा में सफलता मिली तो भी वह चिकित्सा विद्वानोंद्वारा प्रसंशनीय नहीं होती है । जिसप्रकार कि लकडी को उखेरनेवाली कीडा या अज्ञानी मनुष्यके द्वारा उखेरे हुए अक्षर होनेपर भी उसे विद्वान् लोग गणवर्ण इत्यादि शास्त्रोक्त मार्गसे नहीं बांचते हैं, या ज्ञानके साधन नहीं समझते इसी प्रकार अज्ञ वैद्यकी चिकित्सा निंद्य समझें ॥ ५० ॥

अज्ञ वैद्य की चिकित्सा से अनर्थ ।

तस्मादनर्थानिभवंति कर्मा- ।
ण्यज्ञानानिना यानि नियोजितानि ॥
सद्भेषजान्यप्यमृतोपमानि ।
निस्त्रिंशधाराशनिनिष्ठुराणि ॥ ५१ ॥

भावार्थः—इसलिये अज्ञानियोंद्वारा नियोजित चिकित्सा से अनेक अनर्थ होते हैं चाहे वे औषधियां अच्छी ही क्यों न हों, अमृतसदृश ही क्यों न हो तथापि खड्गधारा व बिजलीके समान भयंकर हैं । वे प्राण को घात कर देते हैं ॥ ५१ ॥

चिकित्सा करनेका नियम ।

ततस्तुवैद्यास्सुतिथौ सुवारे ।
नक्षत्रयोगे करणे मुहूर्ते ॥

सचंद्रताराबलसंयुते वा ।
दूतैर्निमित्तैश्शकुनानुरूपैः ॥ ५२ ॥
क्रियां स कुर्यात्क्रियया समेतो ।
राज्ञोपदिष्टस्तु निवेद्य राज्ञे ॥
बलाबलं व्याधिगतं समस्तं ।
स्पृष्ट्वाथ सर्वाणि तथैव दृष्ट्वा ॥ ५३ ॥

भावार्थः—इसलिये राजा के द्वारा अनुमोदित क्रियाकुशल, सुयोग्य वैद्य को उचित है कि, योग्य तिथि, वार नक्षत्र, योग करण, और मूहूर्त में, तथा ताराबल, चंद्रबल रहते हुए, अनुकूल दूत व प्रशस्त शकुन को, देखते हुए एवं, दर्शन, स्पर्शन, प्रश्नों के द्वारा व्याधिके बलाबल, साध्यासाध्य आदि समस्त विषयों को अच्छीतरह समझकर और उन को राजासे निवेदन कर वह चिकित्सा करें ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

स्पर्श परीक्षा

स्पृष्ट्वोष्णशीतं कठिनं मृदुत्वं ।
सुस्निग्धरूक्षं विशदं तथान्यत् ॥
दोषेरितं वा गुरुता लघुत्वं ।
साम्यं च पश्येदपि तद्विरूपं ॥ ५४ ॥

भावार्थः—प्रकुपित दोषोंसे संयुक्त, रोगीका शरीर उष्ण है या शीत, कठिन है या मृदु, स्निग्ध है वा रूक्ष, लघु है या गुरु वा विशद, इसीतरह के अनेक (शरीरगत नाडी की चलन आदि) बातोंको, एवं उपरोक्त बातें प्रकृतिके अनुकूल है या विकृत है ? इन को स्पर्शपरीक्षा द्वारा जानना चाहिये ॥ ५४ ॥

प्रश्न परीक्षा ।

स्पृष्ट्वाथ देशं कुलगोत्रमग्नि- ।
बलाबलं व्याधिबलं स्वशक्तिम् ।
आहारनीहारविधिं विशेषा- ।
दसात्म्यसात्म्यक्रममत्र विद्यात् ॥ ५५ ॥

भावार्थः—रोगी किस देश का है ? किस कुल में जन्म लिया है ? शरीर की प्राकृतिक स्थिति क्या है ? जठराग्नि किस प्रकार है, व कितने आहार को पचासकता है ? (इत्यादि प्रश्नों से अग्नि के बलाबल) व्याधि की जोर (यदि ज्वर हो तो कितनी गर्मी बढजाती है ? यदि अतिसार में तो दस्त कितने होते हैं ? कितने २ समय के बाद होते हैं ? आदि, इसी प्रकार अन्य रोगों में भी प्रश्न के द्वारा व्याधिबलाबल)

कितनी है ? रोगी की शक्ति कितनी है, आहार क्या खाना चाहता है ? गेहूं का स्वाद कैसा है ? मलमूत्र विसर्जन का क्या हाल है ? कौनसी चीज प्रकृति के अनुकूल पडती है ? कोनसी नहीं ! आदि बातों को प्रश्न परीक्षा (पूछकर) द्वारा जानें ॥ ५५ ॥

दर्शनपरीक्षा ।

दृष्ट्वायुषो हानिमथापिवृद्धि- ।
छायाकृतिव्यंजनलक्षणानि ॥
विरूपरूपातिशयोग्रशांत- ।
स्वरूपमाचार्यमतेर्विचार्य ॥ ५६ ॥

भावार्थः—रोगीके शरीर की छाया, आकृति, व्यंजन, लक्षण, इनका क्या हाल है ? शरीर, विरूप या कोई अतिशय रूपसे युक्त तो नहीं तथा रोगीका स्वभाव (प्रकृतिके स्वभाव से) अत्यंत उग्र या शांत तो नहीं ? इन उपरोक्त कारणों से, आयुष्यकी हानि व वृद्धि इत्यादि बातों को, पूर्वाचार्यों के, वचनानुसार, दर्शनपरीक्षा द्वारा (देखकर) जानना चाहिये ॥ ५६ ॥

महान् व अल्पव्याधि परीक्षा ।

महानपि व्याधिरिहाल्परूपः ।
स्वल्पोऽप्यसाध्याकृतिरस्ति कश्चित् ॥
उपाचरेदाशु विचार्य रोगं ।
युक्त्यागमाभ्यामिह सिद्धसेनैः ॥ ५७ ॥

भावार्थः—बहुतसे महान् भयंकर रोग भी ऊपरसे अल्परूपसे दिख सकते हैं । एवं अल्परोग भी असाध्य रोगके समान दिख सकते हैं परंतु चतुर सिद्धहस्त वैद्यको उचित है कि युक्ति और आगमसे सब बातोंको विचार कर रोगका उपचार शीघ्र करें ॥५७॥

रोगके साध्यासाध्य भेद ।

असाध्यसाध्यक्रमतो हि रोगा- ।
द्विधैव चोक्तास्तु समंतभद्रैः ॥
असाध्ययाप्यक्रमतोह्यसाध्य ।
द्विधातिकृच्छ्रातिसुखेन साध्यं ॥ ५८ ॥

भावार्थः—रोग असाध्य, और साध्य इस प्रकार दो विभागसे विभक्त हैं ऐसा भगवान् समंतभद्र स्वामीने कहा है । असाध्य [अनुपक्रम] याप्य इस प्रकार दो भेद असाध्यके हैं और कृच्छ्रसाध्य, सुसाध्य यह साध्यके भेद हैं ॥ ५८ ॥

भावार्थः—द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावको अनुसरण करके यथायोग्य स्नेहन स्वेदन, वमन विरेचन आदि कर्मों को, तथा छेदनभेदन आदि के योग्य रोगो में छेदन, भेदन आदि क्रिया करें तो रोगपीडित मनुष्य सुखी होता है ॥ ३१ ॥

चिकित्सा प्रशंसा ।

चिकित्सितं पापविनाशनार्थं ।
चिकित्सितं धर्मविवृद्धये च ।
चिकित्सितं चोभयलोकसाधनं ॥
चिकित्सितान्नास्ति परं तपश्च ॥ ३२ ॥

भावार्थः—रोगियोंकी चिकित्सा करना पापनाशका कारण है । चिकित्सासे धर्मकी वृद्धि होती है । चिकित्सा इह परमें सुख देनेवाली है । किं बहुना ? चिकित्सासे उत्कृष्ट कोई तप नही हैं ॥ ३२ ॥

चिकित्सा के उद्देश

तस्माच्चिकित्सा न च काममोहा- ।
न्नचार्थलोभान्नच मित्ररागात् ॥
न शत्रुरोषान्नच बंधुबुध्या ।
न चान्यइत्यन्यमनोविकारात् ॥ ३३ ॥

नचैव सत्कारनिमित्ततो वा ।
नचात्मनस्सद्यशसे विधेयम् ॥
कारुण्यबुध्या परलोकहेतो ।
कर्मक्षयार्थं विदधीत विद्वान् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—इसलिये वैद्यको उचित है कि वह काम और मोहबुद्धिसे चिकित्सा कभी नहीं करें । द्रव्यके लोभसे, मित्रानुरागसे, शत्रुरोषसे, बंधुबुद्धिसे, एवं अन्य मनोविकारोंसे युक्त होकर वह चिकित्सामें प्रवृत्त नहीं होवें । आदरसत्कारकी इच्छासे, अपने यशके लिये भी वह चिकित्सा नहीं करें । केवल रोगियोंके प्रति दयाभावसे एवं परलोक साधनके लिये एवं कर्मक्षय होनेके लिये विद्वान् वैद्य चिकित्सा करें ॥ ३३-३४ ॥

निरीह चिकित्साका फल ।

एवं कृता सर्वफलप्रसिद्धिं ।
स्वयं विदध्यादिह सा चिकित्सा ॥

सम्यक्कृता साधु कृषिर्यथार्थं ।
ददाति तत्पूरुषदैवयोगात् ॥ ३५ ॥

भावार्थः—इस प्रकार उपर्युक्त उद्देशसे की हुई चिकित्सा उस वैद्यको सर्व फल को स्वयं देती है। विन चाहे उसे धन यश सब कुछ मिलते हैं। जिस प्रकार अच्छी-तरह की हुई कृषि कृषीवलके पौरुष दैवयोगसे स्वयं धनसंचय कराती है उसी प्रकार शुद्ध हृदयसे की हुई चिकित्सा वैद्यको इह परमें समस्त सुख देती है ॥ ३५ ॥

चिकित्सा से लाभ।

क्वचिच्च धर्मं क्वचिदर्थलाभं ।
क्वचिच्च कामं क्वचिदेव मित्रम् ॥
क्वचिद्यशस्सा कुरुते चिकित्सा ।
क्वचित्सदभ्यासविशादरत्वम् ॥ ३६ ॥

भावार्थः—उस चिकित्सा से वैद्यको कहीं धर्म (पुण्य) की प्राप्ति होगी। कहीं द्रव्यलाभ होगा। कहीं सुख मिलेगा। किसी जगह मित्रत्व की प्राप्ति होगी। कहीं यशका लाभ होगा और कहीं चिकीत्सा के अभ्यास बढ जायगा ॥ ३६ ॥

वैद्योंको नित्य सम्पत्तीकी प्राप्ति।

न चास्ति देशो मनुजैर्विहीनो ।
न मानुषस्त्यक्तनिजामिषा वा ॥
न भुक्तवंतो विगतामयास्ते- ।
प्यतो हि संपद्भिषजां हि नित्यम् ॥ ३७ ॥

भावार्थः—ऐसा कोई देश नहीं जहां मनुष्य न हों। ऐसे कोई मनुष्य नहीं जो भोजन नहीं करते हों। ऐसे कोई भोजन करनेवाले नहीं जो निरोगी हों। इसलिये विद्वान् वैद्यको सदा सम्पत्ति मिलती है ॥ ३७ ॥

वैद्यके गुण।

चिकित्सकस्सत्यपरस्सुधीरः ।
क्षमान्वितो हस्तलघुत्वयुक्तः ॥
स्वयं कृती दृष्टमहाप्रयोगः ।
समस्तशास्त्रार्थविदप्रमादी ॥ ३८ ॥

भावार्थः—चिकित्सक वैद्य, सत्यनिष्ठ हो, धीर हो, क्षमा और हस्तलाघवसे युक्त हो, कृती [कृतकृत्य व निरोगी] हो, जिसने बडी २ चिकित्साप्रयोगों को

देखा हो, सम्पूर्ण आयुर्वेदीय शास्त्रके अर्थोंको गुरुमुखसे जान लिया हो, तथा प्रमाद-रहित हो। इन गुणोंसे सुशोभित वैद्य ही योग्य वैद्य कहलाता है ॥ ३८ ॥

रोगीके गुण ।

अथातुरोप्यर्थपतिश्चिरायु- ।
स्सुबुद्धिमानिष्टकलत्रपुत्र ॥
सुभृत्यबंधुस्सुसमाहितात्मा ।
सुसत्ववानात्मसुखाभिलाषी ॥ ३९ ॥

भावार्थः—रोगी भी श्रीमंत हो, दीर्घायुषी हो, बुद्धिमान् हो, अनुकूल स्त्रीपुत्र मित्र बंधु भृत्योंसे युक्त हो, शक्तिशाली हो, जितेंद्रिय हो, एवं आत्मसुखकी इच्छा रखने वाला हो ॥ ३९ ॥

औषधिके गुण ।

सुदेशकालोध्दृतमल्पमात्रं ।
सुखं सुरूपं सुरसं सुगंधि ॥
निपीतमात्रामयनाशहेतुम् ।
विशेषतो भेषजमादिशंति ॥ ४० ॥

भावार्थः—सुदेशमें उत्पन्न, योग्य काल में उद्धृत [उखाडी] परिमाणमें अल्प, सुखकारक, श्रेष्ठ रूप, रस, गंध से युक्त और जिसके सेवन करने मात्र से ही रोगनाश होता हो ऐसी औषधि प्रशस्त होती है ॥ ४० ॥

परिचारकके गुण ।

बलाधिकाः क्षांतिपराः सुधीराः ।
परार्थबुध्यैकरसप्रधानाः ॥
सहिष्णवः स्निग्धतराः प्रवीणाः ।
भवेयुरेते परिचारकाख्याः ॥ ४१ ॥

भावार्थः—परिचारक अत्यंत बलशाली, क्षमाशील, धीर, परोपकार करनेमें दत्तचित्त, स्नेही एवं चातुर्य से युक्त होना चाहिए अर्थात् रोगीके पास रहनेवाले परिचारकोंमें उपर्युक्त गुण होने चाहिये ॥ ४१ ॥

पादचतुष्टय की आवश्यकता ।

एते भवंत्यप्रतिमास्तुपादा-
श्चिकित्सितस्यांगतया प्रतीताः ॥

तैस्तद्विकारानचिरेण हंति ।
चतुष्टयेनैव बलेन शत्रून् ॥ ४२ ॥

भावार्थः—इन पूर्व कथितगुणोंसे युक्त, वैद्य, आतुर, औषध, और परिचारक, चिकित्साके विषयमें, असाधारण पाद चतुष्टय कहलाते हैं। ये चारों चिकित्सा के अंग हैं। इनके द्वारा ही, रोगोंके समूह शीघ्र नाश हो सकते हैं। जिसप्रकार राजा चतुरंग-सेनाके बलसे शत्रुओंको नाश करता है ॥ ४२ ॥

वैद्य की प्रधानता ।

पादैस्त्रिभिर्भासुरसद्गुणाढ्यैः ।
वैद्यो महानातुरमाशु सौख्यं ॥
सम्प्रापयत्यागमदृष्टतत्त्वो ।
रत्नत्रयेणैव गुरुस्स्वशिष्यम् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—आगमके तत्वोंके अभ्यस्त, सद्गुणी वैद्य उपर्युक्त औषधि और परिचारक व आतुर रूपी प्रधान अंगोंकी सहायतासे भयंकर रोगी को भी शीघ्र आराम पहुंचाता है। जिस प्रकार गुरु सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके बलसे अपने शिष्योंको उपकार करते हैं ॥ ४३ ॥

वैद्यपर रोगीका विश्वास ।

अथातुरो मातृपितृस्वबंधून् ।
पुत्रान्समित्रोरुकलत्रवर्गान् ॥
विशंकते सर्वहितैकबुद्धौ ।
विश्वास एवात्र भिषग्वरेऽस्मिन् ॥ ४४ ॥

भावार्थः—रोगी अपने माता पिता पुत्र मित्र बंधु स्त्री आदि सबको (औषधिके विषय में) संदेहकी दृष्टिसे देखता है। परंतु सर्वतो प्रकारसे हित को चाहने वाले वैद्यराजके प्रति वह विश्वास रखता है ॥ ४४ ॥

रोगीके प्रति वैद्यका कर्तव्य ।

तस्मात्पितेवात्मसुतं सुवैद्यो ।
विश्वासयोगात्करुणात्मकत्वात् ॥
सर्वप्रकारैस्सततानमत्तो ।
रक्षेन्नरं क्षीणमथो वृषार्थम् ॥ ४५ ॥

भावार्थः—वैद्यको इसलिये उचित है कि जिसप्रकार एक पिता अपने पुत्रकी प्रेम भावसे रक्षा करता है उसी प्रकार रोगीको पुत्रके समान समझकर चिकित्सा करें। क्यों कि वह वैद्यके ऊपर विश्वास रखचुका है अतएव करुणाके पात्र है । इसलिये सर्वप्रकारसे अप्रमादी होकर धर्मके लिये सुवैद्य रोगीकी रक्षा करें ॥ ४५ ॥

योग्य वैद्य

गुरूपदेशादधिगम्य शास्त्रम् ।
क्रियाश्च दृष्टाःसकलाः प्रयोगैः ॥
स कर्म कर्तुं भिषगत्र योग्यो ।
न शास्त्रविन्नैवच कर्मविद्वा ॥ ४६ ॥

भावार्थः—गुरूपदेशसे आयुर्वेद शास्त्रको अध्ययन कर औषध योजनाके साथ २ सम्पूर्ण चिकित्सा को देखें व अनुभव करें । जो शास्त्र जानता है और जिसको चिकित्सा प्रयोगका अनुभव है वहीं वैद्य योग्य है। केवल शास्त्र जाननेवाला अथवा केवल क्रिया जाननेवाला योग्य वैद्य नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

प्रागुक्तकथनसमर्थन ।

तावप्यनन्योन्यमतप्रवीणौ ।
क्रियां विधातुं नहि तौ समर्थौ ॥
एकैकपादाविव देवदत्ता— ।
वन्योन्यबद्धौ नहि तौ प्रयातुम् ॥ ४७ ॥

भावार्थः—एक शास्त्र जाननेवाले और एक क्रिया जाननेवाले ऐसे दो वैद्योंके एकत्र मिलनेपर भी वे दोनों चिकित्सा करनेमें समर्थ नहीं होसकते, जिसप्रकार कि एक एक पैरवाले देवदत्तोंके एक साथ बांधनेपर भी वे चलनेमें समर्थ नहीं हो पाते हैं ॥ ४७ ॥

उभयज्ञवैद्य ही चिकित्सा के लिये योग्य।

यस्तूभयज्ञो मतिमानशेष— ।
प्रयोगयंत्रागमशस्त्रशास्त्रः ॥
राज्ञाभ्यनुज्ञातसकलप्रजानाम् ।
क्रियां विधातुं भिषगत्र योग्यः ॥ ४८ ॥

भावार्थः—जो दोनों (क्रिया और शास्त्र) बातों में प्रवीण है, बुद्धिमान् है सर्व औषधि प्रयोग यंत्रशास्त्र, शस्त्र, शास्त्र आदिका ज्ञान रखता है, वह वैद्य राजाकी आज्ञासे सम्पूर्ण प्रजा की चिकित्सा करने योग्य है ॥ ४८ ॥

अज्ञ वैद्यसे हानि ।

अज्ञानतो वाप्यतिलोभमोहा- ।
दशास्त्रविद्यः कुरुते चिकित्साम् ॥
सर्वानसौ मारयतीह जंतून् ।
क्षितीश्वरैरत्र निवारणीयः ॥ ४९ ॥

भावार्थः—अज्ञान, लोभ व मोहसे शास्त्रको नहीं जानते हुए भी चिकित्सा कार्य में जो प्रवृत्त होता है वह सभी प्राणियोंको मारता है । राजावोंको उचित है कि वे ऐसे वैद्योंको चिकित्सा करने से रोकें ॥ ४९ ॥

अज्ञ वैद्यकी चिकित्साकी निंदा ।

अज्ञानिना यत्कृतकर्मजातं ।
कृतार्थमप्यत्र विगर्हणीयम् ॥
उत्कीर्णमप्यक्षरमक्षरज्ञै- ।
र्न वाच्यते तद्गणवर्णमार्गैः ॥ ५० ।

भावार्थः—अज्ञानी वैद्यकी चिकित्सा में सफलता मिली तो भी वह चिकित्सा विद्वानोंद्वारा प्रसंशनीय नहीं होती है । जिसप्रकार कि लकडी को उखेरनेवाली कीडा या अज्ञानी मनुष्यके द्वारा उखेरे हुए अक्षर होनेपर भी उसे विद्वान् लोग गणवर्ण इत्यादि शास्त्रोक्त मार्गसे नहीं वांचते हैं, या ज्ञानके साधन नहीं समझते इसी प्रकार अज्ञ वैद्यकी चिकित्सा निंद्य समझें ॥ ५० ॥

अज्ञ वैद्य की चिकित्सा से अनर्थ ।

तस्मादनर्थानिभवंति कर्मा- ।
ण्यज्ञानिना यानि नियोजितानि ।
सद्भेषजान्यप्यमृतोपमानि ।
निस्त्रिंशधाराशनिनिष्ठुराणि ॥ ५१ ॥

भावार्थः—इसलिये अज्ञानियोंद्वारा नियोजित चिकित्सा से अनेक अनर्थ होते हैं चाहे वे औषधियां अच्छी ही क्यों न हों, अमृतसदृश ही क्यों न हो तथापि खड्गधारा व बिजलीके समान भयंकर हैं । वे प्राण को घात कर देते हैं ॥ ५१ ॥

चिकित्सा करनेका नियम ।

ततस्तुवैद्यास्तुतिथौ सुवारे ।
नक्षत्रयोगे करणे मुहूर्ते ॥

सचंद्रताराबलसंयुते वा ।
दूतैर्निमित्तैरशकुनानुरूपैः ॥ ५२ ॥
क्रियां स कुर्यात्क्रियया समेतो ।
राज्ञोपदिष्टस्तु निवेद्य राज्ञे ॥
बलाबलं व्याधिगतं समस्तं ।
स्पृष्ट्वाथ सर्वाणि तथैव दृष्ट्वा ॥ ५३ ॥

भावार्थः—इसलिये राजा के द्वारा अनुमोदित क्रियाकुशल, सुयोग्य वैद्य को उचित है कि, योग्य तिथि, वार नक्षत्र, योग करण, और मूहूर्त में, तथा ताराबल, चंद्रबल रहते हुए, अनुकूल दूत व प्रशस्त शकुन को, देखते हुए एवं, दर्शन, स्पर्शन, प्रश्नों के द्वारा व्याधिके बलावल, साध्यासाध्य आदि समस्त विषयों को अच्छीतरह समझकर और उन को राजासे निवेदन कर वह चिकित्सा करें ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

स्पर्श परीक्षा

स्पृष्ट्वोष्णशीतं कठिनं मृदुत्वं ।
सुस्निग्धरूक्षं विशदं तथान्यत् ॥
दोषेरितं वा गुरुता लघुत्वं ।
साम्यं च पश्येदपि तद्विरूपं ॥ ५४ ॥

भावार्थः—प्रकुपित दोषोंसे संयुक्त, रोगीका शरीर उष्ण है या शीत, कठिन है या मृदु, स्निग्ध है वा रूक्ष, लघु है या गुरु वा विशद, इसीतरह के अनेक (शरीरगत नाडी की चलन आदि) बातोंको, एवं उपरोक्त बातें प्रकृतिके अनुकूल है या विकृत है ? इन को स्पर्शपरीक्षा द्वारा जाननी चाहिये ॥ ५४ ॥

प्रश्न परीक्षा ।

स्पृष्ट्वाथ देशं कुलगोत्रमग्नि- ।
बलाबलं व्याधिबलं स्वशक्तिम् ।
आहारनीहारविधिं विशेषा- ।
दसात्म्यसात्म्यक्रममत्र विद्यात् ॥ ५५ ॥

भावार्थः—रोगी किस देश का है ? किस कुल में जन्म लिया है ? शरीर की प्राकृतिक स्थिति क्या है ? जठराग्नि किस प्रकार है, व कितने आहार को पचासकता है ? (इत्यादि प्रश्नों से अग्नि के बलाबल) व्याधि की जोर (यदि ज्वर हो तो कितनी गर्मी बढजाती है ? यदि अतिसार में तो दस्त कितने होते हैं ? कितने २ समय के बाद होते हैं ? आदि, इसी प्रकार अन्य रोगों में भी प्रश्न के द्वारा व्याधिबलाबल)

कितनी है ? रोगी की शक्ति कितनी है, आहार क्या खाना चाहता है ? गेहुं का स्वाद कैसा है ? मलमूत्र विसर्जन का क्या हाल है ? कौनसी चीज प्रकृति के अनुकूल पडती है ? कोनसी नहीं ! आदि बातों को प्रश्न परीक्षा (पूछकर) द्वारा जानें ॥ ५५ ॥

दर्शनपरीक्षा ।

दृष्ट्वायुषो हानिमथापिवृद्धि- ।
छायाकृतिर्व्यंजनलक्षणानि ॥
विरूपरूपातिशयोग्रशांत- ।
स्वरूपमाचार्यमतैर्विचार्य ॥ ५६ ॥

भावार्थः—रोगीके शरीर की छाया, आकृति, व्यंजन, लक्षण, इनका क्या हाल है ? शरीर, विरूप या कोई अतिशय रूपसे युक्त तो नहीं तथा रोगीका स्वभाव (प्रकृतिके स्वभाव से) अत्यंत उग्र या शांत तो नहीं ? इन उपरोक्त कारणों से, आयुष्यकी हानि व वृद्धि इत्यादि बातों को, पूर्वाचार्यों के, वचनानुसार, दर्शनपरीक्षा द्वारा (देखकर) जानना चाहिये ॥ ५६ ॥

महान् व अल्पव्याधि परीक्षा ।

महानपि व्याधिरिहाल्परूपः ।
स्वल्पोऽप्यसाध्याकृतिरस्ति कश्चित् ॥
उपाचरेदाशु विचार्य रोगं ।
युक्त्यागमाभ्यामिह सिद्धसेनैः ॥ ५७ ॥

भावार्थः—बहुतसे महान् भयंकर रोग भी ऊपरसे अल्परूपसे दिख सकते हैं । एवं अल्परोग भी असाध्य रोगके समान दिख सकते हैं परंतु चतुर सिद्धहस्त वैद्यको उचित है कि युक्ति और आगमसे सब बातोंको विचार कर रोगका उपचार शीघ्र करें ॥५७॥

रोगके साध्यासाध्य भेद ।

असाध्यसाध्यक्रमतो हि रोगा- ।
द्विधैव चोक्तास्तु समंतभद्रैः ॥
असाध्ययाप्यक्रमतोऽप्यसाध्य ।
द्विधातिकृच्छ्रातिसुखेन साध्यं ॥ ५८ ॥

भावार्थः—रोग असाध्य, और साध्य इस प्रकार दो विभागसे विभक्त हैं ऐसा भगवान् समंतभद्र स्वामीने कहा है । असाध्य [अनुपक्रम] याप्य इस प्रकार दो भेद असाध्यके हैं और कृच्छ्रसाध्य, सुसाध्य यह साध्यके भेद हैं ॥ ५८ ॥

अनुपक्रम याप्य के लक्षण ।

कालांतरासाध्यतमास्तु याप्या ।
भैषज्यलाभादुपशांतरूपाः ॥
प्राणांश्च सद्यः क्षपयंत्यसाध्याः ।
विरुयाप्य तद्रूपमुपक्रमेत ॥ ५९ ॥

भावार्थः—जो रोग उसके अनकूल औषधि पथ्य आदि सेवन करते रहनेसे दब जाते हैं (रोगी का सद्य प्राण घात नहीं करते हैं) और कालांतरमें प्राणघात करते हैं असाध्य होते हैं वे याप्य कहलाते है। तत्काल प्राणोंका जो हरण करते हैं उनको असाध्य अर्थात् अनुपक्रम रोग कहते हैं। वैद्यको उचित हैं कि इन असाध्य अवस्थाओंकी चिकित्सा करते समय, स्पष्टतया बताकर चिकित्सा आरंभ करें (अन्यथा अपयश होता है)॥ ५९ ॥

कृच्छ्रसाध्य, सुसाध्य के लक्षण।

महाप्रयत्नान्महतःप्रबंधा-
न्महाप्रयोगैरिहकृच्छ्रसाध्याः ॥
अल्पप्रयत्नादपिचाल्पकाला-।
दल्पौषधैस्साधुतरैस्सुसाध्यम् ॥ ६० ॥

भावार्थः—बडे २ प्रयत्नसे, बहुत व्यवस्थासे एवं बडे २ प्रयोगोंके द्वारा चिकित्सा करनेसे जो रोग शांत होते हों, उनको कठिनसाध्य समझना चाहिये। अल्प प्रयत्नसे, अल्प कालमें अल्प औषधियोंद्वारा जिसका उपशम होता हो उसको सुखसाध्य समझना चाहिये॥

विद्वानोंका आद्यकर्तव्य।

चतुःप्रकाराः प्रतिपादिता इमे ।
समस्तरोगास्तनुविघ्नकारिणः ॥
ततश्चतुर्वर्गविधानसाधनं ।
शरीरमाद्यं परिरक्ष्यते बुधैः ॥ ६१ ॥

भावार्थः—इस प्रकार वह रोग चार प्रकारसे निरूपण किये गये हैं । जितने भर भी रोग हैं वे सब शरीरमें बाधा पहुंचानेवाले हैं । धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी चतुः पुरुषार्थोंके साधन करनेके लिये शरीर प्रधान साधन है। क्यों कि शरीरके विना धर्म साधन नहीं होसकता है । धर्म साधनके विना अर्थ, और अर्थके विना काम साधन नहीं बन सकता है । एवं च जो त्रिवर्गसे शून्य हैं उनको मोक्षकी प्राप्ति होना असंभव ही है। इसलिये बुद्धिमानोंको उचित है कि चतुःपुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये सबसे पहिले शरीरकी हरतरहसे रक्षा करें ॥ ६१ ॥

चिकित्सा के विषय में उपेक्षा न करें।

साध्याः कृच्छ्रतरा भवंत्यविहिताः कृच्छ्राश्च याप्यात्मकाः ।
याप्यास्तेऽपि तथाप्यसाध्यनिभृताः साक्षादसाध्या अपि ॥
प्राणान्हंतुमिहोद्यता इति पुरा श्रीपूज्यपादार्पिता- ।
द्वाक्यात्क्षिप्रमिहाग्निसर्पसदृशान् रोगान् सदा साधयेत् ॥ ६२ ॥

भावार्थः—शीघ्र और ठीक २ (शास्त्रोक्तपद्धति के अनुसार) चिकित्सा न करने से, अर्थात् रोगों की चिकित्सा, शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार, शीघ्र न करने से, जो रोग सुखसाध्य हैं वे ही कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं। जो कृच्छ्रसाध्य हैं वे याप्यत्वको, जो याप्य हैं वे अनुपक्रमत्व अवस्था को प्राप्त करते हैं। और जो अनुपक्रम हैं, वे तत्क्षण ही, प्राण का घात करते हैं। इसप्रकार प्राचीन कालमें, आचार्य श्रीपूज्यपादने कहा है। इसलिये, अग्नि और सर्प के समान, शीघ्र अमूल्यप्राण को नष्ट करने वाले रोगों को, हमेशा शीघ्र ही योग्य चिकित्सा द्वारा ठीक करें ॥ ६२ ॥

अंतिम कथन।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ६३ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथमें जगतका एक मात्र हित साधक है [इसलिये ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ ६३ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
व्याधिसमुद्देशः आदितस्सप्तमपरिच्छेदः ।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित
भावार्थदीपिका टीका में व्याधिसमुद्देश नामक
सातवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

———०———

अथाष्टमः परिच्छेद ।

अथ वातरोगाधिकारः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा ।

अतींद्रियपदार्थसार्थनिपुणावबोधात्मकं ।
निराकृतसमस्तदोषकृतदुर्मदाहंकृतिम् ॥
जिनेंद्रममरेंद्रमौलिमणिरश्मिमालार्चितं ।
प्रणम्य कथयाम्यहं विदितवातरोगक्रियाम् ॥ १ ॥

भावार्थः— समस्त दोषोंको एवं अहंकारको जिन्होने नाश किया है अतएव संपूर्ण पदार्थोंको साक्षात्कार करनेवाले अतींद्रियज्ञानको प्राप्त किया है, जिनके चरणमें आकर देवेंद्र भी मस्तक झुकाते हैं, ऐसे जिनेंद्र भगवान्को नमस्कार कर वातरोगकी चिकित्सा के विषयमें कहेंगे इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

वातदोष

स वात इति कथ्यते प्रकटवेदनालक्षणः ।
प्रवात हिमवृष्टिशीतलररूक्षसेवाधिकः ॥
प्रदेशसकलांगको बहुविधामयैकालयो ।
मुहुर्मुहुरुदेति रात्रिकृतदेहदुःखास्पदः ॥ २ ॥

भावार्थः—जिसका पारुष्य, शीतत्व, खरत्व, सुप्तत्व, तोद शूल आदि वेदना, और रूक्ष, शीत खर, चल, लघु आदि लक्षण (संसार में) प्रसिद्ध हैं, जो अत्यधिकवात बर्फ, वृष्टि, (बरसात) तथा शीत व रूक्षगुणयुक्त आहार को अधिक सेवन करने से प्रकुपित होता है, एकाङ्ग व सर्वांगगत नानाप्रकार के रोगों की उत्पत्तिके लिये जो मुख्य स्थान है अर्थात् मूलकारण है, जो बार २ कुपित होता है और रात्रि में विशेष रीतिसे शरीरको दुःख पहुंचाता है वह वात [दोष] कहलाता है ॥ २ ॥

प्राणवात ।

मुखे वसति योऽनिलः प्रथित नामतः प्राणकः ।
प्रवेशयति सोऽन्नपानमखिलामिषं सर्वदा ॥
करोति कुपितस्स्वयं श्वसनकासहिक्काधिका— ।
नेकविधतीव्ररोगकृतवेदनाव्याकुलान् ॥ ३ ॥

भावार्थः—मुखमें जो वायु वास करता है उसे प्राणवायु कहते हैं। वह [स्वस्थावस्थामें] अन्न पान आदि समस्त भोज्य वर्गको पेटमें पहुंचाता है। यदि वह वायु कुपित होजाय तो अपने नाना प्रकार के तीव्रवेगों द्वारा उत्पादित वेदनासे व्याकुलित करनेवाले दमा, खांसी, हिचकी इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

उदानवायु ।

शिरोगत इहाप्युदान इति विश्रुतस्सर्वदा ।
प्रवर्तयति गीतभाषितविशेषहास्यादिकान ॥
करोति निभृतोर्ध्वजत्रुगतरोगदुःखाकुलं ।
पुमांसमनिलस्ततः प्रकुपितस्स्वयं कारणैः ॥ ४ ॥

भावार्थः—मस्तक में रहनेवाला वायु उदान नामसे प्रसिद्ध है। वह [स्वस्थावस्थामें] गीत, भाषण, हास्य आदिकों को प्रवर्तित करता है। यदि वह स्वकारणसे कुपित होजाय तो कंठ, मुख, कर्ण, मस्तक आदि, जत्रुक हड्डीसे (गर्दनसे) ऊपर होनेवाले रोगोंको पैदा करता है ॥ ४ ॥

समानवायु ।

समान इति योऽनिलोऽग्निसख उच्यते सर्वदा ।
वसत्युदर एव भोजनगणस्य संपाचकः ॥
करोति विपरीततामुपगतस्स्वयं प्राणिना- ।
मनग्निमतिसारमंत्ररुजमुग्रगुल्मादिकान् ॥ ५ ॥

भावार्थः—जो वायु उदर (आमाशय व पक्वाशय) में रहता है, अग्निके प्रदीप्त होने में सहायक है इसलिये अग्निसख कहलाता है तथा भोजनवर्ग को पचाता है उसको समानवात कहते हैं। यदि वह कुपित होजावें तो, अग्निमांद्य. अतिसार, अंत्रशूल गुल्म आदि उग्र रोगों को पैदा करता है ॥ ५ ॥

अपानवायु ।

अपान इति योऽनिलो वसति वस्तिपक्वाशयं ।
स वात मलमूत्रशुक्रनिखिलोरुगर्भार्तवम् ॥
स्वकालवशतो विनिर्गमयति स्वयं कोपतः ।
करोति गुदवस्तिसंस्थितमहास्वरूपामयान् ॥ ६ ॥

भावार्थः—अपानवायु वस्ति व पक्वाशयमें रहता है। वह योग्य समयमें मलमूत्र रजोवीर्य आर्तव (स्त्रियोंके दुष्टरज) व गर्भ को बाहर निकालता है। यदि वह कुपित होजाय

तो गुद व मूत्राशयगत मलावरोध, मूत्रावरोध, मूत्रकृच्छ्र इत्यादि महान् रोगोंको उत्पन्न करता है ॥ ६ ॥

व्यानवायु ।

सकृत्स्नं तनुमाश्रितस्सततमेव यो व्यान इ- ।
त्यनेकविधचेष्टयाचरति सर्वकर्माण्यपि ॥
करोति पवनो गदान्निखिलदेहगेहाश्रितान् ।
स्वयं प्रकुपितस्सदा विकृतवेदनालंकृतान् ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो वायु शरीर के सम्पूर्ण भाग में व्याप्त होकर रहता है उसे व्यानवायु कहते हैं । यह शरीर में अपनी अनेक प्रकार की चेष्टाओं को दर्शाते हुए चलता फिरता है । शरीरगत सर्वकर्मों (रक्तसंचालन, पित्तकफ आदि कोंको यथास्थान पंहुचाना आदि) को करता है । यह कुपित होजावें तो हमेशा सर्व देहाश्रित, सर्वांगवात, वा सर्वाङ्गवध, सर्वाङ्गकम्प आदि विकृत वेदनायुक्त रोगोंको पैदा करता है ॥ ७ ॥

कुपितवात व रोगोत्पत्ति ।

यथैव कुपितोऽनिलस्स्वयमिहामपक्वाशये ।
तथैव कुरुते गदानपि च तत्र तत्रैव तान् ।
त्वगादिषु यथाक्रमादखिलवायुसंक्षोभत-
श्शरीरमथ नश्यते प्रलयवातघातादिव ॥ ८ ॥

भावार्थः—जिसप्रकार आमशय, व पक्वाशय में प्रकुपित (समान) वायु-आमाशयगत व पक्वाशयगत छर्दि अतिसार आदि रोगोंको उत्पन्न करता है उसी प्रकार त्वगादि स्वस्थानों में प्रकुपित तत्तद्वायु भी स्व २ स्थानगत व्याधिको यथाक्रमसे पैदा करता है । यदि ये पांचो वायु एक साथ प्रकुपित होवे तो, शरीर को ही नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार प्रलयकाल का वायु समस्त पृथ्वी को नष्ट करता है ॥ ८ ॥

कफ, पित्त, रक्तयुक्त वात का लक्षण ।

कफेन सह संयुतस्तनुमिहानिलस्तंभये- ।
दवेदनमलेपनानिभृतमंगसंस्पर्शनम् ॥
सपित्तरुधिरान्वितस्सततदेहसंतापकृ-
द्भविष्यति नरस्य वातविधिरेवमत्र त्रिधा ॥ ९ ॥

भावार्थः—यदि वायु कफयुक्त हो तो शरीर को स्तम्भन करता है । पीडा उत्पन्न नहीं करता है और स्पर्श में कठिन कर देता है । यदि पित्त व रक्तसे युक्त हो

तो देह में संताप (जलन) पैदा करता है। इन तीन सांसर्गिक अवस्थाओं में भी तीन प्रकार से वातकी ही चिकित्सा करनी पडती है ॥ ९ ॥

वातव्याधि के भेद।

मुहुर्मुहुरिहाक्षिपत्यखिलदेहमाक्षेपकः।
स संचलति चापतानक इति प्रतीतोऽनिलः ॥
मुखार्धमखिलार्धमर्दितमुपक्षवातादपि।
स्थितिर्भवति निश्चलं विगतकर्मकार्यादिकम् ॥ १० ॥

भावार्थः—संपूर्ण शरीर को बार २ कम्पन करनेवाला आक्षेप वात, चंचलयुक्त सुप्रसिद्ध अपतानक, आधे मुखको वक्र करके निश्चल करनेवाला अर्दित, सारे शरीर के अर्ध भागको निश्चेष्ट करनेवाला पक्षाघात, ये सब वातरोगके भेद हैं ॥ १० ॥

अपतानक रोगका लक्षण।

करांगुलिगतोदरोरुहृदयाश्रितान् कंडरान्।
क्षिपं क्षिपति मारुतस्त्वकशरीरमाक्षेपकान् ॥
कफं वमति चोर्ध्वदृष्टितवभुग्नपार्श्वोहनो-।
न चालयति सोऽन्नपानमपि कृच्छ्रतोऽप्यश्नुते ॥ ११ ॥

भावार्थः—वह वायु हाथ, अंगुली, उदर, एवं हृदय गत कण्डरा (स्थूल शिरा) ओंको प्राप्त करके शरीरमें झटका उत्पन्न करता है, कम्पाता है। उस से पीडित रोगी, कफका वमन करता है, उसकी दृष्टि ऊर्ध्व होती है। दोनों पार्श्व भुग्न (टूटासा हो जाना) होते हैं, वह मुखको नहीं चला सकता है। वह अन्नपान को भी कष्ट से लेता है ॥ ११ ॥

अर्दितनिदान व लक्षण।

विजृंभणविभाषणात्कठिनभक्षणोद्वेगतः।
स्थिरोच्चतरशीर्षभागशयनात्कफाच्छीततः ॥
भविष्यति तथार्दितो विकृतिरिंद्रियाणां तथा।
मुखं भवति वक्रमक्रमगतिश्च वाक्प्राणिनाम् ॥ १२ ॥

भावार्थः—अधिक जंभाई आनेसे, अधिक बोलनेसे, कठिन पदार्थोंको खानेसे, उद्वेगसे, सोतेसमय सिरके नीचे ऊंचा और कठिन तकिया रखकर सोनेसे, कफसे व शीतसे अर्दित नामक रोग होता है। उस रोगमें इंद्रियोंका विकार होता है। मुख वक्र होता है। प्राणियोंका वचन ठीकक्रमसे नहीं निकलता है। अक्रम होकर निकलता है ॥ १२ ॥

अर्दित का असाध्य लक्षण व पक्षाघातकी संप्राप्ति व लक्षण।

त्रिवर्षकृतवेपमानशिरसश्चिराज्ञापिणो।
निमेषरहितस्य चापि न च सिध्यतीहार्दितः॥
रुधा च धमनीशरीरसकलार्धपक्षाश्रितान् ।
प्रपद्य पवनः करोति निभृतांगमज्ञाकृतम् ॥ १३ ॥

भावार्थः—जिस अर्दित रोगी का शिर, बराबर तीन वर्ष से कांप रहा हो, बहुत देरसे जिसका वचन निकलता हो, आंखे जिनकी बंद नहीं होती हों ऐसे रोगीका अर्दित रोग असाध्य जानना चाहिये। वही वायु शरीर के सम्पूर्ण अर्ध भाग में आश्रित धमनियों को प्राप्तकर, और उनको रोक कर, (विशोषण कर) शरीरको कठिन बनाता है एवं स्पर्शज्ञानको नष्ट करता है (जिस से शरीर के अर्ध भाग अकर्मण्य होता है) इस रोग को, पक्षवध पक्षाघात, व एकांगरोग भी कहते हैं ॥ १३ ॥

पक्षघातका कृच्छ्रसाध्य व असाध्यलक्षण।

स केवलमरुत्कृतस्तु भुवि कृच्छ्रसाध्य स्मृतो।
न सिध्यति च यः क्षताद्भवति पक्षघातः स्फुटं॥
स एव कफकारणाद्गुरुतरातिशोफावहः।
स्सपित्तरुधिरादपि प्रबलदाहमूर्च्छाधिकः॥ १४ ॥

भावार्थः—वह पक्षघात यदि केवल वातसे युक्त है तो उसे कठिनसाध्य समझना चाहिये । यदि क्षतसे (जखम) के कारण पक्षाघात होगया हो तो वह निश्चय से असाध्य है । वह यदि कफ से युक्त हो तो शरीरको भारी बनाता है। एवं शरीरमें सूजन आदि विकार उत्पन्न होते हैं। पित्त एवं रक्तसे युक्त हो तो शरीरमें अत्यधिक दाह व मूर्च्छा आदि उत्पन्न होते हैं॥ १४॥

अपतानक व आक्षेपक के असाध्यलक्षण।

तथैवमपतानकोऽप्यधिकशोणितातिस्रवात्।
स्वगर्भपतनात्तथा प्रकटिताभिघातादपि॥
न सिध्यति परित्यजेदथ भिषक्तमप्यातुरं।
तथैवमभिघातजान् स्वयमिहापि चाक्षेपकान्॥ १५॥

र्थः—शरीर से अधिक रक्तके बहजानेसे, गर्भच्युति होनेसे, एवं और कोई धक्का लगनेसे उत्पन्न अपतानक रोग भी असाध्य है। ऐसे अपतानकसे पीडित रोगीको एवं जखमसे उत्पन्न आक्षेपक रोगीको वैद्य असाध्य समझकर छोडें॥ १५॥

दण्डापतानक, धनुस्तम्भ, बहिरायाम, अंतरायामकी संप्राप्ति व लक्षण ।

सयस्तधमनीगतप्रकुपितोऽनिलः श्लेष्मणा ।
स दण्डधनुराकृतिं तनुमिहावनोत्यायताम् ॥
स एव बहिरंतरंगधमनीगतोऽप्युद्धतो ।
बहिर्वहिरिहांतरांतरधिकं नरं नामयेम् ॥ १६ ॥

भावार्थः—वह वायु समस्त धमनियोंमें व्याप्त होकर कफसे प्रकुपित हो जाय तो वह सारे शरीर को दण्ड व धनुष्यके आकारमें नमा देता है । वह वायु यदि बहिरंग धमनीगत हो तो बाहिरके तरफ, यदि अंतरंग धमनीगत हो तो अंदरके तरफ शरीरको नमाता है ।

विशेष—प्रकुपित, वायु, कफ से युक्त होता हुआ, शरीर के समस्त धमनियोंको प्राप्त होकर, शरीर को दण्ड के समान आयत (सीधा) कर देता है । इसको दण्डापतानक वातव्याधि कहते हैं । वही वायु, (कफसे युक्त) वैसे ही (समस्त धमनियोंको प्राप्त कर) शरीरको धनुष समान नमादेता है उसे धनुस्तम्भ वातव्याधि कहते हैं। तथा वही वायु शरीर के बहिर्भागकी धमनियोंको प्राप्त होजाय, तो बाहिरके तरफ शरीर को नमादेता है, और अभ्यंतर (अन्दर के तरफ) के धमनीगत हो, तो अन्दर के तरफ नमादेता है, इनको क्रमसे, बहिरायाम अंतरायाम वातव्याधि कहते हैं ॥ १६ ॥

गृध्रसी अवबाहुकी संप्राप्ति व लक्षण ।

यदात्मकरपादचारुतरकंदरान् दण्डयन् ।
स खण्डयति चण्डवेगपवनो भृशं मानुपान् ॥
तदा निभृतविश्वसत्प्रकटवेदना गृध्रसिं ।
करोति निभृतावबाहुमपिचांसदेशास्थितं ॥ १७ ॥

भावार्थः—जिस समय हाथ और पैरोंके मनोहर कंडराओंको दण्डित (पीडित करता हुआ) भयंकर वेगवाला पवन, मनुष्योंको हाथ पैरोंको टूटासा अनुभव कराता हो, उस समय, उन स्थानोंमें असह्य पीडा होती है । इस को गृध्रसी रोग कहते हैं । कंधों के प्रदेश (मूल) में स्थित वायु, तत्स्थानगत, सिराओं को संकोचित कर, हाथों के स्पन्दन [हिलन] को नष्ट करता है, उसे अवबाहु कहते हैं । ॥ १७ ॥

कलायखंज, पंगु, ऊरुस्तम्भ, वातकंटक व पादहर्ष के लक्षण ।

कटीगत इहानिलः खलः कलायखंजत्वकृत् ।
नरं तरलपंगुमंगविकलं समापादयेत् ॥

तथोरुगतऊरुयुग्ममपि निश्चलं स्तंभयेत् ॥
स्ववातकृतकंटकानपि च पादहर्षं पदे ॥ १८ ॥

भावार्थः—कटिप्रदेशगत दुष्टवायु जब पैरोंके कंडारा (मोटी नस) ओंको खींचता है तब कलायखंज, व पंगु नामक व्याधि को पैदा करता है जिस (पंगु) से, मनुष्य का अंग विकल हो जाता है अर्थात् पैरों के चलनेकी शक्ति नाश हो जाती है। यदि वह ऊरु स्थानको प्राप्त हो तो दोनों ऊरुवोंको स्तंभित करता है जिससे दोनों ऊरु निश्चल हो जाते हैं एवं पादगत वायु पादहर्ष नामक व्याधि को उत्पन्न करता है। इसका खुलासा इस प्रकार है :—

कलायखंज—जो गमनके आरंभ में कम्पाता है लंगडे की तरह चलाता है और पैरोंकी संधि छूटी हुईसी मालूम होती है उसे कलायखंज वातव्याधि कहते हैं।

पंगु—दोनों पैर चलनक्रियामें बिलकुल असमर्थ हो जाते हैं। उसे पंगु [पांगला] कहते हैं।

ऊरुस्तम्भ—जिसमें दोनों ऊरु, स्तब्ध, शीत, और चेतनारहित होते हैं। तथा इतने भारी हो जाते हैं मानों दूसरोंके पैरोंको लाकरके रख दिया हो। उनमें असह्य पीडा होती है। वह रोगी चिंता, अंगमर्द (अंग में पीडा) तंद्रा, अरुचि, ज्वर आदि उपद्रवोंसे युक्त होता है और वह अपने पैरोंको, अत्यंत कष्ट से उठाता है। इत्यादि अनेक लक्षणोंसे संयुक्त इस व्याधिको [अन्य मतके] कोई २ आचार्य आढयवात भी कहते हैं।

वातकण्टक—पैरोंको विषम रूपसे रखनेसे या अत्यंत परिश्रम के द्वारा प्रकुपित वायु गुल्फसंधि [गट्टा] को आश्रित कर पीडा उत्पन्न करता है उसे वातकण्टक कहते हैं।

पादहर्ष—जिस में दोनों पाद हर्षित एवं थोडी देरके लिए संज्ञाशून्य होते हैं। और अपने को थोडा मोटा हुआ जैसा प्रतीत होता है॥ १८॥

तूनी प्रतितूनी, अष्ठीला व आध्मान के लक्षण।

तुनिप्रतितुनि च नाभिगुदमध्यकोत्ष्ठीलिका ।
मनुप्रतिविलोमिकां स कुरुते मरुद्रोधिनीम् ॥
तथा प्रतिसमानलोमगुणनामकाध्मानकं ।
करोति भृशशूलमप्यधिकृतोऽनिलः कुक्षिगः ॥ १९ ॥

भावार्थः—प्रकुपित वात तूनि प्रतितूनि तथा नाभि और गुदाके बीचमें वातको रोकनेवाली अनुलोमाष्ठीला (अष्ठीला) प्रतिलोमाष्ठीला (प्रत्यष्ठीला) नामक रोग को

उत्पन्न करता है। कुक्षि (उदर) गत वायु अत्यंत शूलोत्पादक आध्मान, प्रत्याध्मान नामक रोग को पैदा करता है। इसका खुलासा इस प्रकार हैः—

तूनी—जो पक्वाशय व मूत्राशय में अथवा दोनो में एक साथ उत्पन्न हो, नीचे (गुदा और गुह्येंद्रिय) की तरफ जाता हो, गुह्येंद्रिय व गुदा को फोडने जैसी पीडा का अनुभव कराता हो, ऐसी वेदना [शूल] को तूनी नामक वातव्याधि कहते हैं।

प्रतितूनी—जो शूल गुदा और गुह्येंद्रिय में उत्पन्न होकर वेगके साथ, ऊपरके तरफ जाता हो, एवं पक्वाशय में पहुंचता हो, उसे प्रतितूनी कहते हैं।

अष्ठीला—जो नाभि व गुदा के बीच में गोल पत्थर जैसी, ग्रंथि (गांठ) उत्पन्न हो जाती है, जो चलनशील अथवा अचल होता है, जिसके ऊपरिम भाग दीर्घ है, तिरछाभाग उन्नत [ऊंचा उठा हुआ] है, और जिससे वायु मलमूत्र रुक जाते हैं उसे अष्ठीला कहते हैं।

प्रत्यष्ठीला—यह भी उपरोक्त अष्ठीला सदृश ही है। लेकिन इसमें इतना विशेष है कि इस का तिरछा भाग दीर्घ होता है।

आध्मान—जिससे पक्वाशय में गुडगुड, चल चल, ऐसे शब्द होते हैं उग्र पीडा होती है, वातसे भरी हुई थैली के समान, पेट [पक्वाशय प्रदेश] फूल जाता है उसे आध्मान कहते हैं।

प्रत्याध्मान—उपरोक्त आध्मान ही आमाशय में उत्पन्न होवें उसे प्रत्याध्मान कहते हैं। लेकिन इस से दोनों पार्श्व [बगल] और हृदय में किसी प्रकारकी तकलीफ नहीं होती है ॥ १९ ॥

वातव्याधिका उपसंहार।

> स सर्वगतमारुतो बहुविधामयान्सर्वगान् ।
> करोत्यवयवे तथावयवशोफशूलादिकान् ॥
> किमत्र बहुना स्वभेदकृतलक्षणैर्लक्षित- ।
> र्गदैर्निगदितैर्गदाशनिनिभैः कियंका मता ॥ २० ॥

भावार्थः—यदि वात सर्व देहगत हो तो सर्वांगवात, सर्वांगकम्प आदि नाना प्रकारके सर्वशरीर में होनेवाले रोगोंको उत्पन्न करता है। वही वायु शरीरके अवयव में प्राप्त हो तत्तदवयवोंमें सूजन, शूल आदि अनेक रोगोंको उत्पन्न करता है। इस वातके विषय में विशेष कहने से क्या? स्थान आदि भेदोंके कारण जो रोग भेद होता है उनके अनुसार प्रकट होनेवाले अन्यान्य लक्षणोंसे संयुक्त, विष, बिजली जैसे शीघ्र प्राणघातक अनेक रोगोंको वह वात पैदा करता है। इन सर्व वातरोगों में [मुख्यतया]

एक वातको जीतना पडता है। अतएव सबके लिए एक ही चिकित्सा है ऐसा पूर्वाचार्योंका अभिमत है ॥ २० ॥

वातरक्त का निदान, संप्राप्ति व लक्षण ।

विदाहिरससंयुतान्यतिविदाहिकाले भृशं ।
निषेव्य कटुभोजनान्यतिकटूष्णरूक्षाण्यपि ॥
रथाश्वतरवाजिवारणखरोष्ट्रवाहादिकां ।
श्चिरं समधिरुह्य शीघ्रमिह गच्छतां देहिनाम् ॥ २१ ॥

विदाहकृतदुष्टशोणितमिहांततः पादयोः ।
करोति भृशमास्यशोफमखिलाङ्गदुःखावहम् ॥
सवातरुधिरेण तोदनविभेदनास्पर्शनै- ।
र्विशोषणविशोषणैर्भवत एव पादौ नृणां ॥ २२ ॥

भावार्थः—गर्मीके समयमें विदाही अन्नोंको सेवन करनेसे, कटुभोजन, अतिकटूष्ण तथा रूक्ष आहारोंको अत्यधिक सेवन करने से, एवं रथ, घोडा, हाथी, ऊंट आदि सवारी पर बहुत देरतक चढकर दौडानेसे रक्त विदग्ध होता है तथा वायु भी प्रकुपित होता है। वह विदग्धरक्त जिस समय वायुके मार्ग को रोक देता है तो वह अत्यधिक प्रकुपित होकर और रक्तको दूषित कर देता है। तब रक्त दोनों पादोंमें संचय होते हैं। इसीसे संपूर्ण अंगोंमें दुःख उत्पन्न करनेवाली सूजन हो जाती है। उस समय दोनों पाद तोदन, भेदन आदि पीडासंयुक्त स्पर्शनासह होते हैं और सूख भी जाते हैं। इस को वातरक्त कहते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥

पित्तकफयुक्त व त्रिदोषज वातरक्तका लक्षण ।

सपित्तरुधिरेण सोष्णमृदुशोफदाहान्वितौ ।
शरीरतरकण्डुनौ गुरुघनौ च सश्लेष्मणा ॥
सपित्तकफमारुतैरभिहते च रक्ते तथा ।
भवंति कथितामया विहितपादयोः प्राणिनाम् ॥ २३ ॥

भावार्थः—वह यदि पित्तसे युक्त हो तो पाद उष्ण, मृदु, सूजन, व दाहसे युक्त होते हैं। यदि कफसहित हो तो खुजली से युक्त, भारी एवं घन (सूजन होते हैं। एवं पित्त, कफ, वातसे युक्त होजाय तो तीनों विकारोंसे उत्पन्न लक्षण) उसमें पाये जाते हैं ॥ २३ ॥

क्रोष्टुकशीर्ष लक्षण।

स्थिरप्रबलवेदनासहितशोफमत्यायतं ।
करोति निजजानुनि प्रथिततीव्रसत्क्रोष्टुक- ॥
शिरःप्रतिममित्यनेकविधवातरक्तामया ।
यथार्थकृतनामकाः प्रतिपदं मया चोदिताः ॥ २४ ॥

भावार्थः—इसी वातरक्तके विकारसे जानुवोंमें जो अत्यंत वेदनासे युक्त अत्यंत आयत सूजन उत्पन्न होती है, वह क्रोष्टुक (गीदड) के मस्तकके[१] समान होती है। इसलिये उसे क्रोष्टुकशीर्ष नामका रोग कहते हैं। इसी प्रकार उक्तक्रमसे वातरक्तके विकारसे अपने २ नामके समान गादमें अनेक रोग होते हैं ॥ २४ ॥

वातरक्त असाध्य लक्षण।

स्फुटं स्फुटति भिन्नसास्रतरसं तथा जानुत- ।
स्तदंतदिह वातशोणितमसाध्यमुक्तं जिनैः ॥
यदंतदिह वत्सरानतुगतं च तत्याप्यमि- ।
त्यथोत्तरमिह क्रियां प्रकटयामि सद्भेषजैः ॥ २५ ॥

भावार्थः—वह अच्छीतरह फटकर जिससमय उस से व घुटने से रक्त रसका स्राव होने लगे, उस वातरक्तको असाध्य समझना चाहिये। एक वर्षसे पहिले साध्य है, उसके बाद याप्य होजाता है। अब हम वातरोगोंकी चिकित्सा का वर्णन श्रेष्ठऔषधियों के साथ २ करेंगे ॥ २५ ॥

वातरोगचिकित्सावर्णनकी प्रतिज्ञा।

त एव तनुभृद्गणस्य सुखसंपदां नाशकाः ।
स्फुरद्विपमनिष्ठुराशनिविषोपमा व्याधयः ॥
महाप्रलयवातोपमशरीरवातोद्भवा ।
मया निगदितास्ततस्तु विधिरुच्यते तद्गतः ॥ २६ ॥

भावार्थः—शरीर में उत्पन्न होने वाले वह वात रोग प्राणियोंके सुख संपत्तियोंको नाश करनेवाले हैं। भयंकर बिजली व विषके समान हैं, इतना ही नहीं, महाप्रलय कालके प्रचण्ड मारुत के समान हैं। इसलिये उनका प्रतीकार शास्त्रोक्तक्रमसे यहां कहाजाता है ॥ २६ ॥

---

१ गीदडके मस्तकके समान.

आमाशयगतवातरोगचिकित्सा।

अथ प्रकुपितेऽनिले सति निजामसंज्ञाशये।
प्लुतं सलवणोष्णतोयसहितं हितं पाययेत् ॥
ससैंधवसुखोष्णतैलपरिदिग्धगात्रं नरं।
कुधान्यसिकतादिसोष्णशयने तदा स्वेदयेत् ॥ २७ ॥

भावार्थः—आमाशय में वात प्रकुपित होनेपर, (उसको जीतने के लिये) वमन कराना चाहिये, उसकी विधि इस प्रकार है। उस रोगी को, सबसे पहिले सेंधा-नमक मिला हुआ, सुखोष्ण तैल से मालिश करा कर (इस विधिसे, स्नेहन कराकर) कुधान्य, बालु आदिसे व उष्ण (कम्बल आदि) शयन में सुलाकर स्वेदन करें। तत्पश्चात् वमन करानेकेलिये, गरम पानी में सेंधा नमक भिगोकर पिलाना चाहिये। ॥ २७ ॥

स्नेहपान विधि।

त्रिरात्रमिह पाययेन्मृदुतरोदरं पित्ततः-।
स्तथैव कफतोपि मध्यममिहैव पंचाह्निकम् ॥
स्ववातकृतनिष्ठुरोरुखरकोष्ठमप्यादरा-।
दिनान्यपि च सप्त सर्वविधिषु क्रमोऽयं स्मृतः॥ २८ ॥

भावार्थः—घृत तैल आदि किसी स्निग्ध पदार्थ को सेवन कराकर, शरीर को चिकना बना देना यही स्नेहन है। इसकी विधि इस प्रकार है। शरीरमें पित्तकी अधिकतासे मृदुकोष्ठ, कफकी अधिकतासे मध्यमकोष्ठ, और वाताधिक्यसे खरकोष्ठ, इस प्रकार कोष्ठ तीन प्रकारसे विभक्त है। मृदुकोष्ठकेलिये तीन दिन, मध्यमकोष्ठके लिए पांच दिन व खरकोष्ठके लिए सात दिनतक स्नेहपदार्थ [घृत] पिलाना चाहिये [इस क्रमसे शरीर अच्छीतरह स्निग्ध होता है] स्नेहन क्रियामें सर्वत्र यही विधि है ॥ २८ ॥

स्नेहपान के गुण।

विशदनिर्मलाननयोऽधिकबलाः सुवर्णोज्वलाः।
स्थिराग्निबलधातवः प्रतिदिनं विशुद्धाशयाः ॥
दृढेंद्रियगणाः सुपः स्थिरवयस्सुरूपास्सदा।
भवंति भुवि संततं घृतमिदं पिबंतो नराः ॥ २९ ॥

१ वमन विरेचन आदि प्रत्येक पंचकर्मों को करने के पहिले स्नेहन, और स्वेदन क्रिया करनी चाहिये ऐसा आयुर्वेद शास्त्र का नियम है।

भावार्थः—इस तरह घी पीनेवाले मनुष्यकी अग्नि तीक्ष्ण हो जाती है। अधिक बलशाली व सुवर्णके समान कांतिमान् होता है, शरीरमें स्थिर व नये धातुवोंकी उत्पत्ति होती है। आमाशयादि शुद्ध होते हैं, इंद्रियां दृढ हो जाती हैं, वह शतायुषी होजाता है। शरीर सुरूप व सुडौल बनजाता है ॥ २९ ॥

स्नेहन के लिये अपात्र।

अरोचकनवज्वरान् हृदयगर्भमूर्च्छामद- ।
भ्रमक्लमकृशानसुरापरिगतानथोद्गारिणः ॥
अजीर्णपरिपीडितानधिकशुद्धदेहान्नरान् ।
सबस्तिकृतकर्मणो न घृतमेतदापाययेत् ॥ ३० ॥

भावार्थः—अरोचक अवस्थामें, नवज्वर पीडितको, गर्भवतीको, मूर्च्छितको, मद, भ्रम श्रमसे युक्त, कृश, ऐसे व्यक्तिको एवं मद्य पीये हुए को, उद्गारीको, अजीर्णसे पीडितको, वमनादिसे अत्यधिक विशुद्ध देहवालेको, बस्तिकर्म जिसको कियागया हो उसको यह घृत नहीं पिलाना चाहिये अर्थात् ऐसे मनुष्य स्नेहनके लिये अपात्र हैं ॥ ३० ॥

स्वेदन का फल।

अथाग्निरभिवर्द्धते मृदुतरं सुवर्णोज्वलं ।
शरीरमशने रुचिं निभृतगात्रचेष्टामपि ॥
लघुत्वपवनानुलोम्यं मलमूत्रवृत्तिक्रमान् ।
करोति तनुतापनं सततदुष्टनिद्रापहम् ॥ ३१ ॥

भावार्थः—शरीर से किसी भी प्रकार से पसीना लाया जाता है उसे स्वेदन क्रिया कहते हैं। स्वेदनसे शरीरमें अग्नि तीव्र हो जाती है। शरीर मृदु व कांतियुक्त होजाता है। भोजनमें रुचि उत्पन्न होती है। शरीरके प्रत्येक अवयव योग्य क्रिया करने लगते हैं, शरीर हल्का हो जाता है। वातका अनुलोम हो कर, मल मूत्रोंका ठीक २ निर्गम होता है; दुष्ट निद्राको दूर करता है ॥ ३१ ॥

स्वेदनके लिये अपात्र।

क्षतोष्मपरिपीडितांस्तृषितपाण्डुमेहातुरा- ।
नुपोषितनरातिसारबहुरक्तपित्तातुरान् ॥
जलोदरविषार्तमूर्छितनरार्भकान् गार्भिणीं ।
स्वयं प्रकृतिपित्तरक्तगुणमत्र न स्वेदयेत् ॥ ३२

भावार्थः—क्षत व उष्णसे पीडित, तृषित, पांडु व मेहरोगके रोगीको उपवास किये हुएको, रक्तपित्तीको, अतिसारीको, जलोदर, विषरोग व मूर्च्छारोगसे पीडितको, गर्भिणीको एवं पित्तप्रकृतिवालेको, स्वेदन नहीं करना चाहिये ॥३२॥

वमनविधि ।

ततस्सलवणोग्रमागधिककल्कमिश्रैः शुभैः ।
फलैस्त्रिफलकैस्तथा मदननामकैः पाचितम् ॥
सुखोष्णतरदुग्धमातुरमथागमे पायये- ।
न्निविष्टमिह जानुदघ्नमृदुस्थिरोच्चासने ॥ ३३ ॥

भावार्थः—इस तरह स्नेहन स्वेदन करनेके बाद सैंधा नमक, वच, पीपल इन तीनोंके कल्क से मिश्रित त्रिफला (हर्ड, बहेडा, आमला) व मेनफलको दूधमें पकाना चाहिये । रोगीको घुटने बराबर ऊंचे, स्थिर व मृदु श्रेष्ठ आसनपर बैठालकर उपर्युक्त प्रकारके सुखोष्ण दूधको प्रातःकालके समय पिलाना चाहिये ॥ ३३ ॥

सुवांतलक्षण व वमनानंतर विधि ।

क्रमान्निखिलभेषजोरुकफपित्तसंदर्शनात् ।
सुवांतमतिशांतदोषमुपशांतरोगोद्धतिम् ॥
नरं सुविहितान्नपानविधिना समाप्याययन् ।
सहाप्यमलभेषजैः प्रतिदिनं जयेदामयान् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—(इस के बाद गले में उंगली, या मृदु लकडी डालते हुए वमन करने के लिये कोशिश करनी चाहिये । बाद मे वमन शुरु होजाता है) उस वमन में पहिले औषधि, फिर कफ, तदनंतर पित्त गिरजाय एवं दोषोपशमन, व रोगोद्रेक की कमी होजाय तो अच्छीतरह वमन होगया है ऐसा समझना चाहिये । पश्चात् ऐसे वमित मनुष्य को, पेया आदि योग्य अन्नपानकी योजना से, अग्नि को अनुकूल कर फिर रोगोंकी उपशांति के लिये औषध की व्यवस्था करनी चाहिये ।

विशेषः—वमन आदिके द्वारा शुद्ध किये गये मनुष्यका आहार सेवनक्रमः—

वमनादिकों से शरीर की शुद्धि करने के पश्चात् प्रायः उस मनुष्य की अग्नि मंद होजाती है । उसको निम्नलिखित क्रम से बढाना चाहिये ।

शुद्धि तीन प्रकारकी है । प्रधान (उत्तम) शुद्धि, मध्यमशुद्धि, जघन्यशुद्धि । इन तीनों प्रकार की शुद्धियों से शुद्ध करनेके पश्चात् उस व्यक्तिको गरमपानी से स्नान कराकर, भूख लगनेपर जिस दिन शुद्धि की हो उसी दिन शामको या दूसरे दिन

प्रातःकाल, रक्तशालि के अन्न को (अग्नि बल के अनुसार) खिलाते हुए, यथाक्रम से तीन २ दो २ एक २ अन्नकालों (भोजनसमय) में पेया, विलेपी, कृताकृत-यूष, तथा दूध सेवन कराना चाहिए । तात्पर्य यह है कि किसीको प्रधान [उत्तम] शुद्धि द्वारा शुद्ध किया हो, उस को प्रथम दिन में दो अन्नकालों (सुबह शाम) में पेया पिलावें, दूसरे दिन प्रथम अन्नकाल में पेया, द्वितीय अन्नकाल में विलेपी, तृतीय दिन प्रथम, द्वितीय अन्नकाल में विलेपी, चौथे दिन, प्रथम द्वितीय अन्नकालमें अकृत-यूष (दालका पानी) के साथ, पांचवें दिन में प्रथम अन्नकालमें कृतयूष के साथ लाल चावल के भात, (अथवा एक अन्नकालमें अकृतयूष दो कालोंमें कृतयूष के साथ) द्वितीय अन्नकाल तथा छठवें दिन दोनों अन्नकालोंमें दूध भात देना चाहिए। सातवें दिन स्वस्थपुरुषके समान आहार देना चाहिए। इसी तरह मध्यमशुद्धि में दो२ अन्नकालों में, जघन्यशुद्धि में एक २ अन्नकाल में पेया आदि देना चाहिए । जघन्य-शुद्धि में एक २ अन्नकाल में पेया आदि देने के कारण, कृतयूष अकृतयूप इन दोनोंको दे नहीं सकते क्यों कि अन्नकाल एक है । चीज दो हैं । इसलिये इस शुद्धिमें या तो अकृतयूप ही देवें, अथवा कृताकृत मिश्रकरके देवें ।

ऊपर जो पेयादि देनेका क्रम बतलाया है वह सर्व साधारण क्रम है । लेकिन, देश, काल, प्रकृति, सात्म्य, दोषोद्रेक आदि के तरफ ध्यान देते हुए, अवस्थाविशेष में उस क्रममें कुछ परिवर्तन भी वैद्य कर सकता है । पेयाके स्थान में यवागू भी दे सकता है । तीव्राग्नि हो तो प्रारंभमें ही दूध भात भी दे सकते हैं आदि जानना चाहिये ।

पेया:—दाल चावल आदि को चौदह गुण जल में इतना पकावे जो पीने लायक रहें और दाल आदि के कण भी उसी में रहें उसे पेया कहते हैं ।

विलेपी:—जो चतुर्गुण जलमें तैयार की गई हो, जिस में से दाल आदि के कण नहीं निकाले हों, और इस में द्रवभाग अत्यल्प हो अर्थात् वह गाढी हो, उसे विलेपी कहते हैं ।

यूष:—एक भाग धुली हुई दाल को अठारह गुने जल में पकावें । पकते २ जब पानी चतुर्थांश रहें तब, वस्त्र में छान लेवें इस को यूष कहते हैं । अर्थात् दालके पानीको यूष कहते हैं ।

कृतयूष:—जिस यूष में सोंठ मिरच, पपिल, घी सेंधानमक डाल कर सिद्ध करते हैं उसे कृतयूष कहते हैं ।

अकृतयूष:—जो केवल दाल का ही यूष हो, सोंठ आदि जिसमें नहीं डाला हो उसे अकृतयूष कहते हैं ॥ ३४ ॥

वमनगुण।

प्रलापगुरुगात्रतां स्वरविभेदनिद्रोद्धतिं।
मुखे विरसमग्निमांद्यमधिकास्यदुर्गंधताम्॥
विदाहहृदयामयान्कफनिषेककंठोत्कटं।
व्यपोहति विषोल्वणं वमनमत्र संयोजितं॥

भावार्थः—सम्यग् वमनसे रोगीका बडबडाना, शरीरका भारीपन, स्वरभेद, निद्राधिकता, मुखविरसता, अग्निमांद्य, मुखदुर्गंध, विदाहरोग, हृदयरोग, कफ, कंठरोध, विषोद्रेक आदि बहुतसे रोग दूर होते हैं॥ ३५॥

वमनकेलिये अपात्र।

न गुल्मतिमिरोर्ध्वरक्तविषमार्दिताक्षेपक-।
प्रमीढतरवृद्धपांडुगुदजांकुरोत्पीडितान्॥
क्षतोदरविरूक्षितातिकृशगर्भिविस्तंभक-।
क्रिमिप्रबलतुण्डबंधुरतरान्नरान्वामयेत्॥ ३६॥

भावार्थः—गुल्मरोगी, तिमिररोगी, रक्तपित्त, अर्दित, आक्षेपक, प्रमेह, बहुत पुराना पांडुरोग, बवासीर, और क्षतोदर से पीडित व्यक्तिको एवं रूक्षशरीरवाले को, गर्भिणीको, स्तंभन करने योग्य रोगीको, क्रिमिरोगीको, दंत रोगी को और अत्यंत सुखियों को वमन नहीं देना चाहिये॥ ३६॥

वमनापवाद।

अजीर्णपरिपीडितानातिविषोल्वणश्लैष्मिका-।
नुरोगतमरुत्कृतप्रबलवेदनाव्यापृतान्॥
नरानिह निवारितानपि विपक्वयष्टिजलैः।
कणोग्रफलकल्पितैर्मृदुतरं तदा छर्दयेत्॥ ३७॥

भावार्थः—ऊपर वमन देनेको जिनको निषेध किया है ऐसे रोगी भी कदाचित् अत्यंत अजीर्ण से पीडित हो, विषम विषसे पीडित हो, कफोद्रिक्त हों, छातीमें प्राप्त वातकी प्रबल वेदनासे पीडित हों तो उनको मुलैठी, पीपल, वच, मेनफलके क्वाथसे मृदु वमन करा देना चाहिये॥ ३७॥

कटुत्रिकादिचूर्ण

कटुत्रिकविडंगहिंगुविडसैंधवैलाग्निकान्।
सुवर्चलसुरेंद्रदारुकटुरोहिणीजीरकान्॥

विचूर्ण्य घृतमातुलुंगरससक्ततक्रादिकैः ।
पिबन्कफसमीरणामयगणान्जयत्यातुरः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल) वायविडंग, हींग, बिडनमक, सैंधानमक, इलायची, चित्रक, कालानमक, देवदारु, कुटकी, जीरा, इन चीजोंका चूर्ण करके घी, माहुलुंगाके रस, छाछ आदिमें मिलाकर या उनके अनुपान के साथ सेवनसे वातजन्य, कफजन्य, रोगसमूह उपशम को प्राप्त होते हैं ॥ ३९ ॥

महौषधादि क्वाथ व अनुपान ।

महौषधवराग्निमंथबृहतीद्वयैरण्डकै-
स्सबिल्वसुरदारुपाटलसमातुलुंगैः शृतैः ॥
घृताम्लदधितक्रदुग्धतिलतैलतोयादिभि- ।
र्महातुरमिहान्नपानविधिना सदोपाचरेत् ॥ ३९ ॥

भावार्थः—सोंठ, हरड, बहेडा, आंवला, अग्निमंथ, छोटी व बडी कटेली, एरण्ड देवदारु, पाढल, माहुलुंग बेलगिरि इनके क्वाथसे सिद्ध घी, आम्ल पदार्थ, दही, छाछ, दूध, तिलका तेल, पानी आदिसे अन्नपान विधिपूर्वक रोगीका उपचार करना चाहिये॥३९॥

पक्वाशयगत वात केलिये विरेचन ।

अथ प्रकुपितेऽनिले विदितभूरिपक्वाशये ।
स्नुहित्रिकटुदुग्धकल्कपयसा विपक्वं घृतं ॥
सुखोष्णलवणांभसानिलविनाशहेतुं तथा ।
पिबेत् प्रथमसंस्कृतातिहितदेहपूर्वक्रियः ॥ ४० ॥

भावार्थः—यदि वह वायु पक्वाशयमें कुपित होजाय तो थूहर का दूध, त्रिकटु, (सोंठ मिरच पीपल) गायका दूध इन के कल्क, व दूधसे गोघृत को सिद्ध करना चाहिये। वात को नाश करनेवाले इस विरेचन घृत को, स्नेहन, व स्वेदन से जिसका शरीर पहिले ही संस्कृत किया गया हो, ऐसे मनुष्य को सुखोष्ण (गुनगुना) नमक के पानी में डाल कर पिलाना चाहिये। इस से विरेचन होकर वात शांत हो जाता है ॥४०॥

वातनाशक विरेचकयोग ।

त्रिवृत्त्रिकटुकैस्समं लवणचित्रतैलान्वितं ।
पिबेदनिलनाशनं घृतविमिश्रितं वा पुनः ॥
महौषधहरीतकीं लवणकल्कमुष्णोदकै- ।
स्सतैलसितपिप्पलीकमथवा त्रिवृद्वातनुत् ॥ ४१ ॥

भावार्थः—निसोत, त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल) सेंधानमक, इन के चूर्ण को एरण्डतैल अथवा घी के साथ पीने से, सोंठ, हरीतकी, सेंधानमक इन के कल्कको गरम पानीके साथ, व शक्कर पीपल, निसोत के कल्क व चूर्णको तैल के साथ सेवन करने से विरेचन होकर पक्वाशयगत वात दूर होजाता है ॥ ४१ ॥

विरेचन फल।

सुदृष्टिकरमिष्टमिंद्रियबलावहं बुद्धिकृत् ।
शरीरपरिवृद्धिमिद्धमनलं वयस्थापनम् ॥
विरेचनमिहातनोति मलमूत्रदोषोद्भव- ।
क्रिमिप्रकरकुष्टकोष्ठगतदुष्टरोगापहम् ॥ ४२ ॥

भावार्थः—विरेचनसे दृष्टि तीक्ष्ण होती है, इंद्रियोंका बल बढता है, बुद्धीकी वृद्धि होती हैं। शरीरकी शक्ति बढती है, अग्नि बढती है। दीर्घायुषी होजाता है। एवं च मलमूत्र के दोषोंसे उत्पन्न होनेवाले रोग, क्रिमिरोग, कुष्टरोग, कोष्ठगत दुष्टरोग आदियोंको यह विरेचन दूर करता है ॥ ४२ ॥

विरेचन के लिये अपात्र।

सशोकभयपीडितानतिकृशातिरूक्षाकुलान् ।
श्रमक्लमतृषाजीर्णरुधिरातिसारान्वितान् ॥
शिशुस्थविरगर्भिणीविदितमद्यपानादिकान- ।
संस्कृतशरीरिणः परिहरेद्विरेकैस्सदा ॥ ४३ ॥

भावार्थः—शोक व भयसे पीडित, अतिकृश, अतिरूक्ष, अत्यंताकुलित, श्रम, क्लम, तृषा, अजीर्ण, रक्तातिसारसे युक्त, बालक, वृद्ध, गर्भिणी, मद्यपायी, स्नेहन, स्वेदन, आदिसे असंस्कृत शरीरवाले इत्यादि प्रकारके लोगोंको विरेचन नहीं देना चाहिये ॥ ४३ ॥

विरेचनापवाद।

तथा परिहृतानपि प्रबलपित्तसन्तापिता- ।
नतिक्रिमिगलोदरानपि च मूत्रविष्टम्भिनः ॥
सितत्रिकटुचूर्णकैरहिमवारिणा वान्वितै- ।
स्त्रिवृल्लवणनागरैर्मृदुविरेचनैर्योजयेत् ॥ ४४ ॥

१ यहां निसोत आदि कितना प्रमाण लेना चाहिये ! इसका उल्लेख नहीं किया है। आयुर्वेदशास्त्रका नियम है कि जहां औषधि प्रमाण नहीं लिखा हो वहां सबको समभाग (बराबर) लेना चाहिये। इसलिये यहां और आगे भी ऐसे स्थानोंमें समभाग ही ग्रहण करें।

भावार्थः—ऊपर विरेचनके लिये निषेध किये हुए रोगी भी यदि प्रबल पित्तोद्रेकसे संतप्त हों, उदरमें क्रिमियोंकी अत्यधिकता हो, मूत्रबद्ध हो तो उनको शक्कर त्रिकटुके चूर्णको गरम पानीमें मिलाकर विरेचन देना चाहिए अथवा निसोत, नमक, सोंठके कषाय से चूर्ण से मृदु विरेचन कराना चाहिए ॥ ४४ ॥

सर्वशरीरगत वातचिकित्सा।

समस्ततनुमाश्रितं पवनमुग्रमास्थापनैः ।
प्रवृद्धमनुवासनैरिह जयेद्यथोक्तक्रमात् ॥
निरूह इति सर्वदोषहरणात्तथास्थापनं ।
वयस्थितिनिमित्ततोऽर्थवशतो निरुक्तं मया ॥ ४५ ॥

भावार्थः—समस्तशरीर में व्याप्त (कुपित) वायुको विधिपूर्वक आस्थापन, अनुवासन वस्तियोंसे शमन करना चाहिए । संपूर्णदोषोंको अपहरण करनेसे उसका नाम निरूह, वयस्थापन करनेसे आस्थापन पड गया है । इस प्रकार उन दोनों वस्तियोंके सार्थक नाम हैं ॥ ४५ ॥

अनुवासनवस्तिका प्रधानत्व।

अथान्नमनुवासनादनुवसन्न दुष्यत्यपि ।
प्रधानमनुवासनं प्रकटितं पुराणैः पुरा ॥
तथोभयमपीह वस्तियुतनेत्रसल्लक्षण- ।
द्रवप्रवरभेषजामयवयप्रमाणैर्ब्रुवे ॥ ४६ ॥

भावार्थः—अनुवासनवस्तिका उपयोग करनेपर भी आहारादिकमें (अग्निमांद्य आदि) कोई दोष नहीं आता है। इसलिए इस अनुवासन वस्तिको महर्षिगण मुख्य बतलाते हैं। आगे हम आस्थापन अनुवासन वस्तियोंकी विधि रोग, वय, अनुकूलप्रमाणके साथ २ वस्तिसे युक्त पिचकारी का लक्षण, उस के प्रयोगमें आनेवाले द्रवद्रव्य, उत्कृष्ट औषधि वगैरहका निरूपण करेंगे ॥ ४६ ॥

प्रतिज्ञा।

जिनप्रवचनांबुधेर्विदितवास्तिसंख्याक्रमा- ।
दिहापि गणनाविधिः प्रतिविधास्यते प्रस्तुतः ॥
विचार्य परमागमादधिगतो बुधैर्गृह्यते ।
सुखग्रहणकारणादुरुतरार्थसंक्षेपतः ॥ ४७ ॥

भावार्थः—जैनशास्त्ररूपी समुद्र में वस्तिके विषय में गणनाके जो निरूपण है उसीको अनुसरण करके यहांपर कथन किया जावेगा। बुद्धिमान् लोग परमागम से

विचार किए हुए विषयको ही ग्रहण करते हैं । क्यों कि विस्तृत विषयको भी संक्षेप व सुलभता से जानने केलिए परमागम ही साधन है ॥ ४७ ॥

वस्तिनेत्रलक्षण ।

दृढातिमृदुचर्मनिर्मितनिरास्रवच्छागल- ।
प्रमाणकुडवाष्टकद्रवमितोरुवस्त्यन्वितम् ॥
षडष्टगुणसंख्यया विरचितांगुलीभिः कृतं ।
त्रिनेत्रविधिलक्षणं शिशुकुमारयूनां क्रमात् ॥ ४८ ॥

भावार्थः—निरूह व अन्वासन बस्ति देने के लिये एक ऐसी नेत्र (पिचकारी) बनायें जो मजबूत व मृदुचर्म से निर्मित, छिद्ररहित बस्ति से संयुक्त हो, जिस में आठ कुडव (१२८ तोले) (?) द्रव पदार्थ मासके, जिसकी लम्बाई, बालकोंके लिये ६ अंगुल, कुमारोंके लिये ८ अंगुल, जवानों के लिये १० अंगुल प्रमाण हों ॥४८॥

तथैकनयरत्नभेदगणितांगुलीसंस्थिता- ।
क्रमोन्नतसुकर्णिकान्यपि कनिष्ठिकानामिका ॥
स्वमध्यमवरांगुलात्मपरिणाहसंस्कारिता- ।
न्यनिंद्यपशुवालधिप्रतिमवर्तुलान्यग्रतः ॥ ४९ ॥

भावार्थः—वस्तिनेत्र (पिचकारी) के अग्रभाग में एक गोल कर्णिका होनी चाहिये जिसका प्रमाण (शिशु, कुमार, युवापुरुषों की बस्ति में) एक, दो, तीन अंगुल का प्रमाण होना चाहिये । नेत्र की मोटाई अग्रभागमें कनिष्ठांगुली, मध्यभाग में अनामिका (अंगूठेके पास के) अंगुली, मूल में बीच की अंगुली के बराबर होना चाहिये। एवं श्रेष्ठ गोपुच्छ के समान आकृति से युक्त और अग्रभाग गोल होना चाहिये ॥४९॥

वस्तिनेत्रनिर्माण के योग्य पदार्थ व छिद्रप्रमाण ।

सुवर्णवरतारताम्रतरुनिर्मितान्यक्षता- ।
न्यनूलगुलिकामुखान्यतिविपक्वमुद्गाढकी ॥
कलायगतिपातितात्मसुपिरानुधारान्विता- ।
न्यमूनि परिकल्पयेदुदितलक्षनेत्राण्यलम् ॥ ५० ॥

---

१ द्विविध नय—द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक. द्रव्यकी विवक्षा करनेवाला नय द्रव्यार्थिक व पर्यायकी विवक्षा करनेवाला पर्यायार्थिक कहलाता है । २ रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र. तत्वोंपर यथार्थ विश्वास (Good Conduct) रखना सम्यग्दर्शन तत्वोंके यथार्थ ज्ञान (Good Knowledge) सम्यग्ज्ञान, व हेयोपादेय रूपसे तत्वोंमें विवेक जाग्रति होकर आचरण करना (Good Character) सम्यक्चारित्र कहलाता है ! ३ यह इसलिये बनायी जाती है कि सम्पूर्ण पिचकारी के पूर्ण भाग को गुदाके अंदर जाने से रोके ॥

भावार्थः—यह पिचकारी सुवर्ण, उत्तम चांदी, ताम्र व लकडी आदि से बनाई हुई होनी चाहिये। वह अक्षत हो, उस के मुखमें एक सुंदर गोली होनी चाहिए। अंदर [अग्रभाग में] का छिद्र शिशु, कुमारों युवावस्थावालोंके लिए, क्रम से, पके हुए मूंग, अरहर, व मटरके बराबर होना चाहिए। इस प्रकार के लक्षणोंसे पिचकारी तैयारी करें ॥ ५० ॥

वस्ति के लिए औषधि।

सतैलघृतदुग्धतक्रदधिकांजिकाम्लद्रवै- ।
स्त्रिवृन्मदनचित्रबीजकत्रिपकसूत्रैस्समम् ॥
खजाप्रमथितैर्भृतैस्सह विमिश्रितैः कल्कितै- ।
र्महौषधमरीचमागधिकसैंधवोग्रान्वितैः ॥ ५१ ॥

सदेवतरुकुष्ठहिंगुविडजीरकैलात्रिवृ- ।
घ्यवान्यतिविपासयष्टिसितसर्षपैस्सर्षपैः ।
सुपिष्टवरभेषजैः पलचतुर्थभागांशकै ॥
विलोड्य मथितं कदुष्णमिह सेचयेद्बस्तिषु ॥ ५२ ॥

भावार्थः—बस्तिप्रयोग करनेके लिए, तेल, घी, दूध, तक्र, दही, कांजी ये द्रवपदार्थ, निसोत, मैनफल, एरण्डबीज, इनके काढा और गोमूत्र, इनको यथामात्रा मिलाकर मथन करें। इसमें सोंठ, मिरच, पीपल, सेंधानामक, वच, देवदारु, कूट, हींग बिडनमक, जीरा, इलायची, निसोत, अजवायन, अतीस, मुलैठी, सफेद सरसों, काली-सरसों इन औषधियोंको एक २ तोला प्रमाण लेकर बारीक पीस लेवें और उपरोक्त, द्रवपदार्थ में इस कल्कको मिलाकर, मंथनीसे मथें। इस प्रकार साधित औषध, अल्प उष्ण रहनेपर, बस्ति नेत्र [पिचकारी] में डालें ॥ ५१-५२ ॥

वस्तिके लिए औषध प्रमाण।

इहैकनयसच्चतुः कुडवसंख्यया सद्द्रवा- ।
न्निषिच्य निपुणाः पुरा विहितनेत्रनाडीमुखम् ॥
स्वदक्षिणपदांगुलावधृतवामपादस्थितं ।
द्रवोपरि निबंधयेद्विहितबस्तिवातोद्गमम् ॥ ५३ ॥

भावार्थः—उस पिचकारी में (शिशु, कुमार, युवकोंको) क्रम से एक कुडव (१६ तोले) दो कुडव (३२ तोले) चार कुडव (६४ तोले) उपरोक्त द्रव पदार्थ को भरकर, उस पिचकारी को, बायें पांव के सहारे रखकर दाहिने पैर की

उंगलीयों से पकडकर, उस के मुख में बस्ति को बांधे, पश्चात् उससे वायु को निकाल देवें ॥ ५३ ॥

औषधका उत्कृष्टप्रमाण ।

वयोबलशरीरदोषपरिवृद्धिभेदादपि ।
द्रवप्रवणता भवेद्गणनया गुरुद्रव्ययोः ॥
न च प्रमितिरूर्जिता कुडवपट्कतोन्या मता ।
तदर्धमिह पक्वतैलघृतयोः प्रमाणं परम् ॥ ५४ ॥

भावार्थः—वय, बल, शरीर, दोषोंकी वृद्धि व हानि, गुरुद्रव्य, लघुद्रव्य की अपेक्षासे, द्रवद्रव्योंके प्रयोग होता है। तात्पर्य यह कि द्रवद्रव्यका उपरोक्त प्रमाण से वय आदि को देखते हुए कुछ घटा बढा भी सकते हैं। लेकिन ज्यादासे ज्यादा छह कुडव तक प्रयोग कर सकते हैं। इस से अधिक नहीं। औषधियों द्वारा सिद्ध किया हुआ तैल या घृतकी मात्रा उपरोक्त द्रवद्रव्यके प्रमाण से अर्धांश है ॥ ५४ ॥

बस्तिदान क्रम ।

निपीड्य निजवामपार्श्वमिहजानुगात्रोच्छ्रिते ।
शयानमिति चातुरं प्रतिवदेङ्घ्रिपर्यंचके ॥
प्रवेशय गुदं स्वदक्षिणकरेण नेत्रं शनैः ।
घृताक्तमुपसंहरन् स्वकुंचितांघ्रिवामेतरम् ॥ ५५ ॥

भावार्थः—घुटने के बराबर ऊंचे तख्त में वामपार्श्व को दबाते हुए (उसी करवटसे) रोगीको सुलाकर उस से कहें कि अपने दांये पैर को सिकोडकर, अपने दाहिनेहाथ से घृत से लिप्त उस बस्ति (पिचकारी) को घृत से चिकना किये गये गुदामें, धीरे २ प्रवेश कराओ ॥ ५५ ॥

प्रवेश्य शनकैस्सुखं प्रकटनेत्रनाडीमुखम् ।
प्रपीडयतु बस्तिमप्रचलितानुवंशस्थितिम् ॥
द्रवक्षयविदातुरं विगमनेत्रमाश्वागमात् ।
करेण करमाहरन्पदभवोत्कुटीकासनम् ॥ ५६ ॥

भावार्थः—जिस का मुख खुला हुआ है ऐसी बस्तिनालिका (पिचकारी) को, पूर्वोक्त क्रमसे, धीरे २ प्रवेश करानेके बाद, वंशास्थि (पीठ के बीचमें जो गले से लेकर कमरतक रहने वाली हड्डी) की ओर झुकाकर निश्चल रूपसे पिचकारी को दबाना चाहिये। द्रवद्रव्य खतम होनेके बाद, उस बस्तिको शीघ्र ही हाथों हाथ, गुदद्वार से निकालना

चाहिये। पश्चात् प्रयुक्त औषधि के बाहर निकाल ने के लिये, रोगीको [एक मुहूर्त पर्यंत] उकरू बैठालना चाहिये ॥ ५६ ॥

सुनिरूढलक्षण।

क्रमाद्द्रवपुरीषदोषपरिशुद्धिमालोक्य त- ।
त्पुटत्रयमिहाचरेदपि चतुर्थपंचाह्निकम् ॥
यथा कफविनिर्गमो भवति वेदनानिग्रह- ।
स्तथैव सम्रुपाचरेन्न च निरूहसंख्या मता ॥ ५७ ॥

भावार्थः—उपरोक्त क्रमसे निरूहबस्ति प्रयोग करने के बाद सबसे पहिले प्रयुक्त द्रव पदार्थ पश्चात् यथाक्रमसे मल, वात, पित्त, कफ बाहर निकल आवें, एवं रोग की उपशांति होवे तो जानना चाहिये कि निरूहबस्ति ठीक २ होगयी है। अर्थात् यह सुनिरूढका लक्षण है। यदि सुनिरूढताका लक्षण प्रकट न हो तो फिर चार पांच दिन तक क्रमशः तीन बस्तिका प्रयोग करना चाहिये। लेकिन निरूहबस्ति के विषयमें यह कोई नियम नहीं हैं कि एक, दो, तीन या चार बस्ति प्रयोग करें। जब तक कफ बाहर नहीं आता है और रोग की उपशांति नहीं होती है, तब तक बराबर बस्ति देते जाना चाहिये ॥ ५७ ॥

निरूह के पश्चा द्विधेय विधि व अनुवासनबस्तिप्रयोग।

ततश्च सुविशुद्धकोष्ठमुपयोतमुष्णोदकैः ।
स्वदोषशमनप्रयोगलघुभोजनानंतरम् ॥
यथोक्तमनुवासनं विधियुतं नियुज्याचरे- ।
द्भिषग्जघनपादताडन सुमंचकोत्क्षेपणैः ॥ ५८ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकारसे बस्तिकर्मसे कोष्ठशुद्धि होनेके बाद गरम पानीसे स्नान करा कर तत्तद्दोषोंको शमन करनेवाले औषध योगोंसे सिद्ध किये गये, लघुभोजन कराना चाहिये। तदनंतर उसे विधिपूर्वक अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। अनुवासन बस्तिगतद्रव्य शीघ्र बाहर नहीं आवे, इसके लिये रोगी चितसुलाकर जघन स्थान व पांद को ताडन करना चाहिये। तख्तको ऊंचा उठाना चाहिये ॥ ५८ ॥

१ एक मुहूर्त (दोघडी) के अंदर निरूहबस्ति पेटसे बाहर निकल न जावें तो रोगी की मृत्यु होने की सम्भावना है। कहा भी है। न आगतो परमः कालो मुहूर्तो मृत्यवे परं।

अनुवास के पश्चाद्विधेय विधि।[1]

स्वदक्षिणकरं निपीड्य शयने सुखं संविशेत् ।
स्वमेवमिति तं वदेन्मलविनिर्गमाकांक्षया ॥
ततोऽनिलपुरीषमिश्रघृततैलयोर्वागमात् ।
प्रशस्तमनुवासनं प्रतिवदन्ति तद्वेदिनः ॥ ५९ ॥

भावार्थः—दाहिने हाथको दबाकर अच्छीतरह सुखपूर्वक सोनेके लिये उसे कहना चाहिये । जिससे मल शीघ्र नहीं निकल सके । उसके बाद वायु व मलसे मिश्रित (पहिले प्रयोग किया हुआ) तेल या घी निकल जावें तो बस्तिकर्म को जाननेवाले, उत्तम अनुवासन बस्ति हुई ऐसा कहते हैं ॥ ५९ ॥

अनुवासनका शीघ्र विनिर्गमनकारण व उसाका उपाय ।

पुरीषबहुलान्मरुत्प्रबलतातिरूक्षादपि ।
स्वयं घृतसुतैलयोरतिकनिष्ठमात्रान्वितात् ॥
स च प्रतिनिवर्तते घृतमथापि तैलं पुन- ।
स्ततश्च शतपुष्पसैंधवयुतं नियोज्यं सदा ॥ ६० ॥

भावार्थः—कोष्ट में मलका संचय, वातका प्रकोप, और रूक्षत्व (रूखापना) के अधिक होने से व प्रयुक्त घृत व तेल की मात्रा अत्यल्प होनेसे, प्रयुक्त अनुवासन-बस्ति शीघ्र ही लौट आवें तो, घृत या तेलके साथ सोंफ, सेंधानमक को मिलाकर फिर बस्तिप्रयोग करना चाहिये ॥ ६० ॥

अनुवासनबस्ति की संख्या ।

तृतीयदिवसात्पुनः पुनरपीह संयोजये- ।
द्यथोक्तमनुवासनं त्रिकचतुष्कषष्ठाष्टमान् ॥
शरीरबलदोषविद्विविधवेदनानिग्रहं ।
निरूहमपि योजयेत्तदनुवासमध्ये पुनः ॥ ६१ ॥

अर्थः—पुनः तीसरे दिनमें रोगीके शरीरबल, दोष-प्रकोप, वेदना की उपशांति आदि पर ध्यान देते हुए उसे तीन, चार, छह, आठ तक अनुवासन बस्ति देनी चाहिये । उस अनुवासन बस्तिके बीचमें आवश्यकता हुई तो निरूहबस्तिका प्रयोग भी करना चाहिये ॥ ६१ ॥

---

१ अनुवासनबस्ति प्रयोग करते ही बाहर आने तो गुणकारी नहीं होती है । इसलिये, पेटके अंदर थोडी देर ठहरना आवश्यक है ।

वस्तिकर्म के लिये अपात्र.

अजीर्णभयशोकपाण्डुमदमूर्च्छनारोचक– ।
भ्रमश्वसनकासकुष्ठजठरातितृष्णान्वितान् ॥
गुदांकुरनिपीडितांस्तरुणगर्भिणीशोषिणः ।
प्रमेहकृशदुर्बलाग्निपरिबाधितोन्मादिनः ॥ ६२ ॥

उरःक्षतयुतान्नरानधिकवातरोगादृते ।
बलक्षयविशोषितान्प्रतिदिनं भलापान्वितान् ॥
अतिस्तिमितगात्रगाढतरनिद्रया व्याकुलान् ।
सदैव परिवर्जयेदुदितवस्तिसत्कर्मणा ॥ ६३ ॥

भावार्थः—अजीर्ण, भय, शोक, पाण्डुरोग, मद, मूर्छा, अरुचि, भ्रम, श्वास, कास कुष्ठ, उदररोग, तृषा, बवासीर, अल्पवयस्क, गर्भिणी, क्षय, प्रमेह, कृश, दुर्बलाग्नि, उन्माद इत्यादिसे पीडित एवं प्रबल वातरोगसे रहित उरक्षत, शक्तिका ह्रास, शोष, प्रलाप, गात्रस्तब्ध व गाढ निद्रासे व्याकुलित व्यक्तियोंको, वस्ति कर्म नहीं देनी चाहिये ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

वस्तिकर्म का फल।

न चास्ति पवनामयप्रशमनक्रियान्या तथा ।
यथा निपुणवस्तिकर्म विदधाति सौख्यं नृणां ॥
शरीरपरिवृद्धिमायुरनलं बलं वृष्यतां ।
वयस्थितिमरोगताममलवर्णमप्यावहेत् ॥ ६४ ॥

भावार्थः—वात रोगोंके उपशमनके लिए (अच्छी तरह से प्रयुक्त) वस्तिकर्म से अधिक उपयोगी अन्य कोई क्रिया नहीं है। उचित रूपसे वस्तिकर्म किया जाय तो वातका शमन होकर रोगीको सुख होता है, शरीरमें शक्ति बढती है, आयुष्य भी बढता है। अग्नि तेज होजाती है। वाजीकरण होता है। वयस्थापन [काफी आयु होनेपर भी, शरीर यौवनावस्था सदृश सुदृढ रहना] होता है, निरोगता प्राप्त होजाती है। शरीरकी कांति भी बढती है ॥ ६४ ॥

वस्तिकर्म का फल।

बलेन गजमश्वमाशुगमनेन बुध्या गुरुं ।
दिवाकरनिशाकरावपिच तेजसा कांतितः ॥

सुवर्णमिह सूक्ष्मदृष्टिगुणतोऽगजं रूपतो ।
जयेदमलिनानुवासनशतोपयोगान्नरः ॥ ६५ ॥

भावार्थः—ठीक २ अनुवासन बस्ति यदि सौ संख्यामें ले लीजाय, तो वह मनुष्य बलसे हाथीको, शीघ्रगमनसे घोडेको, बुद्धीसे बृहस्पतिको, तेजसे सूर्य व चंद्रमाको, कांतिसे सुवर्णको, सूक्ष्मदृष्टिगुणसे हाथीको, रूपसे कामदेवको जीतेगा। इतनी शक्ति उस अनुवासनबस्तिमें है ॥ ६५ ॥

शिरोगत वायुकी चिकित्सा।

शिरोगतमिहानिलं शिरसि तैलसंतर्पणैः ।
विपक्वरतैलनस्यविधिना जयेत्संततम् ॥
महौषधिशिरीषशिग्रुसुरदारुदार्वीयुतैः ।
करंजखरमंजरीरुचकहिंगुकांजीरकैः ॥ ६६ ॥
प्रलेपनमपीह तैः कथितभेषजैर्वाचरे ।
द्विपक्वघनकोशधान्यकृतसोष्णसंस्वेदनैः ॥
यथोक्तमुपनाहनैस्सुखतरैश्शिरोवस्तिभिः ।
जयेद्रुधिरमोक्षणैरनिलमुत्तमांगस्थितम् ॥ ६७ ॥

भावार्थः—मस्तकगत वायु को मस्तक में तैल मालिश करना व तैल भिगोया गया पिचु [पोया] रखना, सोंठ, सिरीस का बीज, सेंजन, देवदारु, दारुहलदी, करंज लटजीरा [अपामार्ग] कालानमक, हींग, कांजीर, जीरा इन औषधियों से सिद्ध किये गये तैल के नस्य देना और इन ही [उपरोक्त] औषधियोंके लेप करना, नागरमोथा, कडवीतुरई, धनिया इन औषधियों द्वारा उष्ण स्वेदन देना, विधिपूर्वक उपनाह [पुल्टिश] करना, योग्य शिरोबस्ति व रक्तमोक्षण करना इत्यादि उपायोंसे जीतना चाहिये ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

नस्य का भेद

नस्यं सर्वं तच्चतुर्धा विभक्तं ।
स्नेहेन स्याद्रूक्षजातौषधैश्च ॥
स्नेहान्नस्यं चावमर्षं च योज्यम् ।
वाते पित्ते तद्द्वयव्यापृते वा ॥ ६८ ॥

भावार्थः—तैल आदि चिकना पदार्थ और अपामार्ग आदि रूक्ष पदार्थ, इस प्रकार दो प्रकारके औषधियोंसे नस्यकर्म[1] किया जाता है । उस स्नेहनस्य का भेद[2]

१ जो औषध नाकके द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसे नस्य कहते हैं. २ उत्तम, मध्यम, जघन्यके भेदसे, यथाक्रम १०-८-६ बिन्दु स्नेह जो नाकमें डाला जाता है उसे मर्शनस्य कहते हैं।

अवमर्श [प्रतिमर्श] नाम से दो भेद हैं । और रूक्ष औषधियोंद्वारा किये जानेवाले नस्यके अवपीडन, प्रधमन इस प्रकार दो भेद हैं । चूंकि विरेचन बृंहण आदि जो नस्य के भेद हैं वे सभी उपरोक्त स्नेह व रूक्ष पदार्थों द्वारा ही होते हैं इसलिये [मुख्यतः] सम्पूर्ण नस्यों के भेद चार हैं । वात, पित्त या वातपित्तोंसे उत्पन्न शिरो रोगों में, अवमर्ष नस्य को उपयोग में लाना चाहिये ॥ ६८ ॥

अवमर्ष नस्य ।

यद्यन्नस्यं तत्त्रिवारं प्रयोज्यं ।
यावद्वक्त्रं प्राप्नुयात्स्नेहबिंदुः ॥
तं चाप्याहुश्चावमर्षं विधिज्ञाः ।
रूक्षद्रव्यैर्यत्तदत्र द्विधा स्यात् ॥ ६९ ॥

भावार्थः—सर्वत्र नस्यको त्रिवार प्रयोग करना चाहिये । जब वह नस्यगत स्नेहबिंदु मुखमें आजावे उसे अवमर्ष नस्य कहते हैं । इसकी मात्रा दो बिंदु है । रूक्षद्रव्यगत नस्य उपर्युक्त प्रकार दो तरहका है ॥ ६९ ॥

अवपीडन नस्य ।

व्याख्यावपीडनमिति प्रवदंति नस्यं ।
श्लेष्मानिले मरिचनागरपिप्पलीनाम् ॥
कोशातकी मरिचशिग्रुपमार्गबीज- ।
सिंधूत्थचूर्णमुदकेन शिरोविरेकम् ॥ ७० ॥

भावार्थः—श्लेष्मवात रोगमें मिरच, सोंठ, पीपलके अवपीडन नस्यका देना चाहिये । एवं कडुवीतुरई, मिरच, सैंजन, अपामार्ग के बीज व सैंधानमक के चूर्ण को पानीमें पीसकर शिरोविरेचनार्थ प्रयुक्त करना चाहिये । ॥ ७० ॥

नस्य के लिये अपात्र

नस्येत्वेते वर्जनीया मनुष्याः ।
स्नाताः स्नातुं प्रार्थयन्भुक्तवंतः ॥
अत्यक्षीणा गर्भिणी रक्तपित्ताः ।
श्वासैस्तप्ताः पीनसेनाभिभूताः ॥ ७१ ॥

१ रूक्ष औषधियोंके कल्क क्वाथ स्वरस आदिसे जो नस्य दिया जाता है उसे अवपीडन नस्य कहते हैं । २ जो सूखे चूर्ण को नळीमें भरकर, नासा रंध्रमें फूका जाता है उसे प्रधमन नस्य कहते हैं ।

भावार्थः—स्नान किये हुए व करनेकी इच्छा रखनेवाले को, भोजन किये हुए को, वमन किये हुए को, बहुत कम जीमने वालेको, गर्भिणी और रक्त पित्ती को, श्वास रोगसे व नवीन पीनस रोगसे पीडित व्यक्तिको नस्यका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥७१

नस्यफल.

एतच्चतुर्विधमपि प्रथितोरुनस्यं ।
कृत्वा भवंति मनुजा मनुजायुषस्ते ॥
साक्षाद्वलीपलितवर्जितगात्रयष्टि— ।
साराश्शशांककमलोपमचारुवक्त्राः ॥ ७२ ॥

भावार्थः—इन उपर्युक्त चारों प्रकार के नस्योंके उपयोग करनेसे मनुष्य दीर्घायुषी होते हैं, शरीरमें वली नहीं पडती है, बाल सफेद नहीं होते हैं। उनका मुख चंद्रमाके समान कांतिमान्, कमलके समान सुंदर हो जाता है एवं वे लोकमें सर्वगुणसंपन्न होते हैं ॥ ७२ ॥

अंतिम कथन ।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ७३ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है । साथमें जगतका एकमात्र हित साधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ ७३ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
वातरोगचिकित्सितं नामादितोऽष्टमः परिच्छेदः ।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित
भावार्थदीपिका टीका में वातरोगाधिकार नामक
आठवां परिच्छेद समाप्त हुआ ।

—०—

अथ नवम परिच्छेदः

पित्तरोगाधिकारः

प्रतिज्ञा

स्तुत्वा जिनेंद्रमुपसंहृतसर्वदोषं ।
दोषक्रमादखिलरोगविनाशहेतुम् ॥
पित्तामयप्रशमनं प्रशमाधिकानां ।
वक्ष्यामहे गुरुजनानुमतोपदेशात् ॥ १ ॥

भावार्थः—संपूर्ण दोषोंसे रहित एवं दूसरोंके समस्त रोगोंको नाश करने के लिये कारण ऐसे श्री जिनेंद्र भगवंतको नमस्कार कर दोषोंके क्रमसे पित्तरोगके उपशमन विधि को प्रशम आदि गुण जिनमें अधिक पाया जाता है उन मनुष्यों के लिये गुरूपदेशानुसार प्रतिपादन करेंगे ॥ १ ॥

पित्तप्रकोपमें कारण व तज्जरोग ।

कट्वम्ललक्षलवणोष्णविदाहिमद्य- ।
सेवारतस्य पुरुषस्य भवंति रोगाः ॥
पित्तोद्भवाः प्रकटमूर्छनदाहशोष- ।
विस्फोटनप्रलपनातितृषाप्रकाराः ॥ २ ॥

भावार्थः—कटु (चरपरा) खट्टा, रूखा, नमकीन, उष्ण व विदाहि आहारों को और मद्यको अत्यधिक सेवन करते रहनेसे, पित्त प्रकुपित होता है । इस से मूर्छा, [बेहोश] दाह [जलन] शोष (सूखना) विस्फोट (फफोला) प्रलाप तृषा आदि रोगों की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

पित्तका लक्षण व तज्जन्य रोग ।

पित्तं विदाहि कटुतिक्तरसं सुतीक्ष्णं ।
यत्र स्थितं दहति तत्र करोति रोगान् ॥
सर्वांगगं सकलदेहपरीतदाह- ।
तृष्णाज्वरभ्रमणदाहसमहातिसारान् ॥ ३ ॥

भावार्थः—विदाहि, कटु, तिक्तरस और तीक्ष्ण, ये पित्त का लक्षण है । जहां वह प्रकुपित्त होकर रहता है उस स्थान को जलाते हुए वहीं रोगों को पैदा करता है ।

यदि वह प्रकुपित पित्त सर्वांग में प्राप्त हो तो सम्पूर्ण शरीर में दाह, प्यास, ज्वर, भ्रम, मद, रक्तपित्त, अतिसार, आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

पित्तप्रकोप का लक्षण।

आरक्तलोचनमुखः कटुवाक्प्रचण्डः।
शीतप्रियो मधुरमृष्टरसान्नसेवी ॥
पीतावभासुरवपुः पुरुषोऽतिरोषी।
पित्ताधिको भवति वित्तपतेः समानः ॥ ४ ॥

भावार्थः—पित्तोद्रेकीका मुख व नेत्र लाल २ होते हैं। कटुवचन बोलता है, उग्र दिखता है। उसे ठण्डी अधिक प्रिय रहती है। मधुर व स्वादिष्ट आहारोंको भोजन करनेकी उसे इच्छा रहती है। शरीर पीले वर्णका होजाता है। वह श्रीमंत मनुष्य के समान अति क्रोधी हुआ करता है ॥ ४ ॥

पित्तोपशमनविधि।

शीतं विधानमधिकृत्य तथा प्रयत्ना–।
च्छीतान्नपानमतिशीतलवारिधारा– ॥
पाताभिषेकहिमशीतगृहप्रवेशैः।
शीतानिलैश्शमयति स्थिरपित्तदाहः ॥ ५ ॥

भावार्थः—पित्तोपशमन करने के लिये, मुख्यतया शीत क्रिया करनी चाहिये। इसलिये प्रयत्नपूर्वक शीत अन्नपानादिका सेवन, ठण्डे पानीकी धारा छोडना, स्नान, ठण्डी मकानमें रहना, ठण्डे हवाको खाना इत्यादियोंसे पित्तका प्रबलजलन दूर हो जाती है ॥ ५ ॥

पित्तोपशमन का बाह्य उपाय।

तत्राभितोऽभिनवयौवनभूषणेन।
संभूषिता मधुरवाक्प्रसरप्रगल्भाः ॥
कान्तातिकान्तकठिनात्मकुचैकभारैः।
पाठीनलोचनशतप्रभवैः कटाक्षैः ॥ ६ ॥

स्निग्धैर्मनोहरतरैर्मधुराक्षराढ्यै–।
स्सम्भाषितैश्शशिनिभाननपङ्कजैश्च ॥
नीलोत्पलाभनयनैर्वनितास्तमाशु।
संल्हादयेयुरतिशीतकरावमर्षैः ॥ ७ ॥

भावार्थः—पैत्तिक रोगीको चारों तरफसे, नवीन यौवन व सुंदर आभूषणोंसे भूषित अत्यंत मधुर वचन बोलनेवाली स्त्रियां, अपनी २ सुमनोहर कठिन कुचों से, मत्स्य जैसे सुंदर आंखों से उत्पन्न कटाक्ष से, प्रेमयुक्त अतिमनोहर व मधुराक्षरसंयुक्त मीठे सम्भाषणोंसे, चन्द्रोपम मुखकमलसे, नीलोपलसदृश अक्षियोंसे, अतिशीतल हाथों के स्पर्शसे शीघ्र ही संतोषित करें तो पित्तोपशमन होता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

पित्तोपशमकारक अन्य उपाय ।

स्रक्चंदनैर्विमलसूक्ष्मजलार्द्रवस्त्रैः ॥
कल्हारहारकदलीदलपद्मपत्रैः ।
शीतांबुशीकरकणमकरावकीर्णैः ।
निर्वापयेदरुणपल्लवतालवृंतैः ॥ ८ ॥

भावार्थः—पुष्प मालाधारण, चन्दनलेपन, पानीमें भिगोया हुआ पतला वस्त्र धारण, कमलनाडी का हार पहिनना, केले की पत्ती व कमलपत्ती इनको ऊपर नीचे बिछाकर सोना, ठण्डे पानीके सूक्ष्म कणोंसे प्रक्षेपण, कोंपल व पंखे का शीतल हवा, इत्यादि ठण्डे पदार्थों के प्रयोगसे पित्तोपशमन करना चाहिये ॥ ८ ॥

पित्तोपशामक द्राक्षादि योग ।

द्राक्षासयष्टिमधुकेक्षुजलांबुदानां ।
तोये लवंगकमलोत्पलकेसराणां ।
कल्कं गुडांबुपरिमिश्रितमाशु तस्मि-
न्नालोड्य गालितमिदं स पिबेत्सुखार्थी ॥ ९ ॥

भावार्थः—द्राक्षा, मुलैठी, ईख, नेत्रबाला, नागरमोथा इनके जल (क्वाथ, शीतकषाय आदि) में, लवंग, कमल, नीलकमल, पद्मकेशर इन को अच्छीतरह पीस कर, इसमें गुडके पानी मिलाकर, अच्छी तरह घोल लेवें । उस को छानकर पित्तामयप्रशमन करने के लिये सुखार्थी मनुष्य पीवें ॥ ९ ॥

कासादि क्वाथ ।

कासेक्षुखंडमलयोद्भवशारिवाणां ।
तोयं सुशीतलतरं वरशर्कराढ्यं ॥
कर्कोलजातिफलनागलवंगकल्क- ।
मिश्रं पिबेदधिकतापविनाशनार्थम् ॥ १० ॥

भावार्थः—कास, ईख, चंदन, अनंतमूल इनके ठण्डे पानी में शक्कर मिलाकर फिर उस में कंकोल, जायफल, नागकेसर व लवंगके कल्क मिलाकर पीनेसे पित्तोद्रेकसे उत्पन्न संताप दूर होता है ॥ १० ॥

पित्तोपशामक वमन ।

शीतांबुना मदनमागधिकोग्रगंधा- ।
मिश्रेण चंदनयुतेन गुडाप्लुतेन ॥
तं छर्दयेदधिकपित्तवितप्तदेहं ।
शीतां पिबेत्तदनुदुग्धघृतां यवागूम् ॥ ११ ॥

भावार्थः—ठण्डे पानी में मेनफल, पीपल, वच व चंदन को मिलाकर उसमें गुड भिगोवें । यदि अधिक पित्तप्रकोप हुआ तो उक्त पानी से उसे वमन करावें एवं पीछे ठण्डा घृत व दूध मिली हुई यवागू उसे पीनेको देवें ॥ ११ ॥

व्योषादि चूर्ण ।

व्योषत्रिजातकघनामलकैस्समांशैः ।
निःसूत्रचूर्णमिह शर्करया विमिश्रम् ॥
तद्भक्षयेदधिकपित्तकृतामयार्तः ।
शीतांबुपानमनुपानमुशंति संतः ॥ १२ ॥

भावार्थः—त्रिकटु, त्रिजातक [दालचीनि, इलायची, पत्रज], नागरमोथा, आमलक इनको समभाग लेकर कपडछान चूर्ण करके शक्करके साथ मिलाकर, ठण्डे पानीके अनुपानके साथ, खावे तो अत्यधिक पित्तोद्रेक भी शांत हो जाता है ॥ १२ ॥

एलादिचूर्ण

संशुद्ध देहमिति संशमनप्रयोगैः ।
शेषं जयेत्तदनुपित्तमिहोच्यमानैः ॥
एलालवंगघनचंदननागपुष्प- ।
लाजाकणामलकचूर्णगुडांबुपानैः ॥ १३ ॥

भावार्थः—वमन व विरेचनसे संशुद्ध देहवालों के वक्ष्यमाण उपशमन प्रयोगों के द्वारा पित्तको शांत करना चाहिये । इलायची, लवंग, नागरमोथा, चंदन, नागकेसर, लाजा, (खील) कणा, (जीरा) आंवला इनके चूर्णोंको गुडके पानीके साथ मिलाकर पीनेसे पित्तोशमन होता है ॥ १३ ॥

निंबादि क्वाथ

निंबाम्रमंबुदपटोलसुचंदनानां ।
क्वाथं गुडेन सहितं हिमशीतलं तम् ॥
पीत्वा सुखी भवति दाहतृषाभिभूतः ।
विस्फोटशोषपरितापमसूरिकासु ॥ १४ ॥

भावार्थः—निंबु, आम, नागरमोथा, पटोलपत्र, चंदन, इनके कषायमें गुड मिलाकर चांदनीमें रखकर ठण्ड करें। फिर उस कषायको पीनेसे पित्तोद्रेकसे उत्पन्न फफोले, शोष मसूरिका आदि रोगोंमें यदि दाह तृषा आदि पीडा हो जावें तो सर्व शमन होते हैं, जिससे रोगी सुखी होता है ॥ १४ ॥

रक्तपित्तनिदान

वाताभिघातपरितापनिमित्ततो वा ।
पित्तप्रकोपवशतः पवनाभिभूतम् ॥
रक्तं प्लिहा यकृदुपाश्रितमाशु दुष्टं ।
ऊर्ध्वं स्रवेद्गुदमूत्रमधःक्रमाद्वा ॥ १५ ॥

भावार्थः—वात व अभिघातसे, संताप होनेसे, पित्त प्रकोप होकर दूषित वायु यकृत् प्लिहाके आश्रित रक्तको दूषित करता है। उससे नीचे (शिश्न, योनि, गुदामार्ग) से या ऊपर (आंख, कान, मुख) से या दोनों मार्गसे रक्तस्राव होने लगता है इसे रक्तपित्त रोग कहते हैं ॥ १५ ॥

रक्तपित्तका पूर्वरूप ।

तस्मिन्भविष्यति गुरूदरदाहकण्ठ- ।
धूमायनारुचिबलक्षयरक्तगंध- ।
निश्वासता च मनुजस्य भवंति पूर्व- ।
रूपाणि शोधनमधः कुरु रक्तपित्ते ॥ १६ ॥

भावार्थः—रक्त पित्त होनेके पूर्व उदर गुरु होता है। शरीर में जलन उत्पन्न होती है एवं कंठसे धूंआ निकलता हो जैसा मालूम होता है। अरुचि, बलहीनता, श्वासोच्छ्वासमें रक्तका गंध इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। इस रक्तपित्तमें अधः शोधन[1] (विरेचन) करना उपयोगी है ॥ १६ ॥

---

१ ऊर्ध्वगत रक्त पित्त हो तो विरेचन देना चाहिये. अधोगत में वमन देना योग्य है।

रक्तपित्तका असाध्यलक्षण ।

नीलातिकृष्णमसितपित्तमतिप्रदग्ध- ।
मुष्णं सकोथबहुमांसमतिप्रलापम् ॥
मूर्छान्वितं रुधिरपित्तमहेंद्रचाप- ।
गोपोपमं मनुजमाशु निहंति वांतम् ॥ १७ ॥

भावार्थः—वमन किया हुआ रक्तका वर्ण नीला हो, अधिक काली हो, अत्यधिक पित्तसहित हो, जला जैसा हो, अति गरम हो, सडगया जेसा हो, मांस रसके समान एवं इंद्रधनुषके समान वर्णवाला हो, इंद्रगोपनामक लाल कीडा जैसा हो, साथमें रक्त पित्ती रोगी बहुत प्रलाप कर रहा हो, मूर्छासे युक्त हो, तो ऐसे रक्तपित्तको असाध्य जानना चाहिए । ऐसे रोगी जल्दी नाश होते हैं ॥ १७ ॥

साध्यासाध्य विचार ।

साध्यं तदूर्ध्वमथ याप्यमधःप्रवृत्तं ।
वर्ज्यं भिषग्भिरधिकं युगपद्विसृष्टम् ॥
तत्रातिपाण्डुमतिशीतकराननांघ्रि- ।
निश्वासमाशु विनिहंति सरक्तनेत्रम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—ऊर्ध्वगत रक्त पित्त साध्य, अधोगत याप्य एवं ऊर्ध्व और अध युगपत् अधिक निकला हुआ असाध्य [अनुपक्रम] समझना चाहिए । रक्त पित्तके रोगीका शरीर हाथ पैर बिलकुल पीला होगया हो, मुख श्वास ठंडा पड गया हो, आंखें लाल होगई हों ऐसे रोगी को यमपुरका टिकिट मिलगया समझना चाहिए ॥ १८ ॥

द्राक्षा कषाय ।

द्राक्षाकषायममलं तु कणासमेतम् ।
प्रातः पिबेद्गुडघृतं पयसा विमिश्रम् ॥
सद्यः सुखी भवति लोहितपित्तयुक्तः ।
शीताभिरद्भिरथवा पयसाभिषिक्तम् ॥ १९ ॥

भावार्थः—निर्मल द्राक्षाकषायको प्रातःकाल गुड, घी, दूधके साथ मिलाकर पीनेसे रक्त पित्ती सुखी होजाता है । अथवा ठण्डे पानी या दूध से स्नान कराना भी उसके लिए हितकर होगा ॥ १९ ॥

कासादिस्वरस ।

कासेक्षुखंडपुटजातिरसं विगृह्य ।
स्नात्वार्द्रवस्त्रसहितशिशिरोदकेन ॥

यष्ट्याह्वकल्कगुडमाहिषदुग्धमिश्रं ।
पीत्वास्रपित्तमचिरेण पुमान्निहंति ॥ २० ॥

भावार्थः—कास, ईख, केवटी मोथा, (कैवर्तमुस्त) चमेली इनके रस में मुलैठीका कल्क, गुड (पुराना) और भैंसका दूध मिलाकर ठण्डे पानीसे स्नानकर गीली धोती पहने हुए ही पीनेसे रक्तपित्त रोग शीघ्र नाश होता है ॥२०॥

मधुकादि घृत

पक्वं घृतं मधुकचंदनसारिवाणां ।
क्वाथेन दुग्धसहशेन चतुर्गुणेन ॥
हंत्यस्रपित्तमचिरेण सशर्करेण ।
काकोलिकाप्रभृतिमष्टगुणान्वितेन ॥ २१ ॥

भावार्थः—मुलैठी, लालचंदन, अनंतमूल इनके चतुर्गुण काथ, चतुर्गुण गोदुग्ध व शक्कर और काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि इन आठों द्रव्योंके कल्क के द्वारा सिद्ध किये गये घृतको सेवन करने से रक्तपित्त शीघ्र ही नाश होता है ॥ २१ ॥

घ्राणप्रवृत्तरुधिर चिकित्सा

संतर्पणं शिरसि जीर्णघृतैर्घृतैर्वा ।
क्षीरद्रुमांबुनिचुलार्जुनतोयपक्वैः ॥
घ्राणप्रवृत्तरुधिरं शमयत्यशेषं ।
सौवीरवारिपयसा परिषेचनं वा ।। २२ ॥

भावार्थः—मस्तकमें पुराना घी मलने एवं पंचक्षीरीवृक्ष, (वड, गूलर, पीपल पाखर, शिरीष) नेत्रवाला वेत अर्जुनवृक्ष इनके कषायसे पकाये हुए घीको मस्तकमें मलनेसे यदि नाकसे रक्तपित्त बहरहा हो तो उपशमनको प्राप्त होता है, अथवा वेर का क्वाथ आदि की या दूधकी धार देनी चाहिये । यह भी हितकर है ॥ २२ ॥

घ्राणप्रवृत्त रक्तमें नस्यप्रयोग ।

नस्येन नाशयति शोणितमाशु सर्वं ।
दूर्वाजलामृतपयः पयसा विपक्वं ॥

१ कोई शिरीष के स्थान मे वेंत, कोई पीपल का भेदभूत वृक्षविशेष मानते हैं जैसे कि— न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ पारीषप्लक्षपादपाः। पंचैते क्षीरिणो वृक्षाः । केचित्तु पारीष स्थाने " शिरीषं वेतसं परे " इति वदंति । शब्दसिंधु ।

स्तन्येन दाडिमरसो निचुलस्य वापि ।
घ्राणागतं घृतमथापि च पूर्वमुक्तं ॥ २३ ॥

भावार्थः—दूब, नेत्रवाल, गिलोय इनके रस और दूधसे पकाये हुए घृतका अथवा दाडिमका रस, हिज्जलवृक्ष, व वेंतका रस व स्तन्य दूधसे पकाये हुए घृतका अथवा पूर्वकथित घृतों के नस्य देवें तो रक्तपित्त शीघ्र ही नाश होता है ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वाधःप्रवृत्तरक्तपित्तकी चिकित्सा ।

ऊर्ध्वं विरेचनमयैर्वमनौषधैश्च ।
तीव्रास्रपित्तमिहसाध्यमधःप्रयातम् ॥
शीतैः सुसंशमनभेषजसंप्रयोगैः ।
रक्तं जयेद्युगपदूर्ध्वमधःप्रवृत्तम् ॥ २४ ॥

भावार्थ—रक्तपित्त उर्ध्वगत हो तो विरेचनसे व अधोगत हो तो वमनसे साध्य करना चाहिये । अध और ऊर्ध्व एक साथ स्राव होने लगे तो शीतगुणयुक्त शामक प्रयोगोंसे उसका उपशम करना चाहिये ॥ २४ ॥

रक्तपित्तनाशकवस्तिक्षीर ।

आस्थापनं च महिषीपयसा विधेय- ।
माज्येन सम्यगनुवासनमत्र कुर्यात् ॥
नीलोत्पलांबुजसुकेसरचूर्णयुक्तं ।
क्षीरं पिबेच्छिशिरमिक्षुरसेन सार्धम् ॥ २५ ॥

भावार्थः—इस रक्तपित्तमें भैंसके दूधसे आस्थापनवस्ति व घृतसे अनुवासन बस्ति देनी चाहिये । नीलकमल, कमल, नागकेसर इनके चूर्ण को ठण्डा दूध, और ईखके रस के साथ पीना चाहिये ॥ २५ ॥

रक्तपित्तीको पथ्य

क्षीरं घृतं शिशिरमिक्षुरसान्नपानं ।
पित्तामयेषु विदधीत सतीनयूषः ॥
मुद्गान्गुडप्रगुदितान्दधिमाहिषं वा ।
मत्स्याक्षिशाकमथवा घृतमेघनादम् ॥ २६ ॥

भावार्थः—इस प्रकारके पित्तरोगोंके उपशमनके लिये घी, दूध इक्षुरस, मटर, व मूंग का दाल गुडविकार (गुडसे बने हुए पदार्थ) माहिषदधि, मछेछीका शाक, और मेघनादघृत आदि ठण्डे अन्नपान का सेवन कराना चाहिये ॥ २६ ॥

खर्जूरादि लेप

खर्जूरसर्जरसदाडिमनालिकेर ।
हिंतालताळतरुमस्तकमेव पिष्टम् ॥
रंभारसेन घृतमाहिषदुग्धमिश्र-
मालेपयेन्मधुकचंदनशारिवाभिः ॥ २७ ॥

भावार्थः—रक्तपित्तोशमनकेलिये, खजूर, राल, अनार, नारियल महाताल व ताल (ड) इन वृक्षों के मस्तकोंको (अग्रभागको) केलेके रस मे पीसकर, उसमें घी, भैंस की दही मिलाकर अथवा मुलैठी, चंदन, अनंतमूल इनको उपरोक्त चीजोंमें पीसकर लेप करना चाहिये ॥ २७ ॥

लेप व स्नान

क्षीरद्रुमांकुरशिफान्पयसासुपिष्टा- ।
नालेपयेद्रुधिरपित्तकृतान्विकारान् ॥
जंबूकदंबतरुनिंबकषायधौतान् ।
क्षीरेण चंदनसुगंधिहिमांबुना वा ॥ २८ ॥

भावार्थः—रक्तपित्ती रोगीको क्षीरीवृक्षोंके कोपल व जड को दूध में पीसकर लेपन करें । तथा जंबूवृक्ष, कदंब निंबवृक्षकी छाल के कषायसे अथवा दूधसे या चंदनसे सुगंधित ठण्डे जलसे स्नान कराना चाहिये अथवा लालचन्दन, नागरमोथा कुश इन के क्रषायसे स्नान कराना चाहिये ॥ २८ ॥

रक्तपित्त असाध्य लक्षण

सश्वासकासबलभाजमदज्वरार्तं ।
मूर्छाभिभूतमविपाकविदाहयुक्तम् ॥
तं वर्जयेद्भिषगसृक्परिताप्तदेहम् ।
हिक्कान्वितं कुपितलोहितपूतिगंधिम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—रक्तपित्ती रोगी श्वासकाससे युक्त हो, अशक्त हो, मद, ज्वर, अजीर्ण, मूर्छा और विदाह आदिसे पीडित हो, हिचकीसे युक्त हो, कुपितरक्त के सदृश दुर्गंध से पीडित हो, ऐसे रोगीको असाध्य समझकर छोडना चाहिये ॥ २९ ॥

१ कुपित के स्थान में क्वथित होवें तो अधिक अच्छा मालूम होता है ।

अथ प्रदराधिकारः ।

असृग्दरनिदान व लक्षण

संतापगर्भपतनातिमहाप्रसंगात् ।
योन्यां प्र, समनतावभिघाततो वा ॥
रक्तं सरक्तगानिलान्वितपित्तयुक्तं ।
स्त्रीणामसृग्दर इति प्रवदंति संतः ॥ ३० ॥

भावार्थः—स्त्रीयों को, संताप से, गर्भपात, अतिमैथुन व अभिघात से ऋतुसमय को छोडकर अन्य समय में रक्त, वात, व पित्तयुक्त रजोभूत रक्त जो योनिसे निकलता है, उसे सत्पुरुष असृग्दर (प्रदर) कहते हैं ॥ ३० ॥

प्रदर चिकित्सा

नीलांजनं मधुकतण्डुलमूलकल्क- ।
मिश्रं सलोध्रकदलीफलनालिकेर- ॥
तोयेन पायितमसृग्दरमाशु हंति ।
पिष्टं च सारिवमजापयसा समेतं ॥ ३१ ॥

भावार्थः—कालासुरमा, मुलैठी, चौलाई की जड इन के कल्क से मिश्रित पठानीलोध, कदलीफल (केला) और नारियल के रस. [क्वाथ आदि] को पीनेसे और अनंतमूल को बकरी के दूध के साथ पीसकर पीनेसे, प्रदर रोग शीघ्र ही नाश हो जाता है ॥ ३१ ॥

अथ विसर्पाधिकारः ।

विसर्पनिदान चिकित्सा ।

पित्तात्क्षतादपि भवत्यचिराद्विसर्पः ।
शोफस्तनोर्विसरणाच्च विसर्पमाहुः ॥
शीतक्रियामभिहितामनुलेपनानि ।
तान्याचरेत्कृतविधिं च विपाककाले ॥ ३२ ॥

भावार्थः—पित्त प्रकोपसे, क्षत (जखम) हो जाने से, शीघ्र ही विसर्प नामक रोगकी उत्पत्ति होती है । शरीरमें सूजन शीघ्र ही फैलती है । इसलिये इसे विसर्प कहते हैं । उसके प्रकोप काल में शीतपदार्थों की प्रयोग विधि जो पहिले बतलाई गई है उसका एवं लेपन वगैरह का प्रयोग वमनविरेचन आदि योग्य क्रिया करके करना चाहिये ॥ ३२ ॥

विसर्प का भेद

वातात्कफात्त्रिभिरपि प्रभवेद्विसर्पः ।
शोफःस्वदोषकृतलक्षणसज्वरोऽयम् ॥
तस्माज्ज्वरप्रकरणाभिहितां चिकित्सां ।
कुर्यात्तथा मरुद् ग्विहितौषधानि ॥ ३३ ॥

भावार्थः—इसी प्रकार वातसे, कफसे एवं वातपित्तकफसे भी विसर्प रोग की उत्पत्ति होती है। इसमें विसर्प की सूजन अपने २ दोषोंके लक्षण से संयुक्त [यथा वातिक विसर्प में वात का लक्षण प्रकट होता है, पैत्तिक हो तो पित्त का लक्षण] होती है। एवं ज्वर भी पाया जाता है। इसलिये ज्वर प्रकरणमें कही हुई चिकित्सा एवं वातरक्तके लिये कथित औषधियों के प्रयोग करना चाहिये ॥ ३३ ॥

विसर्प का असाध्यलक्षण।

स्फोटान्वितं विविधतीव्ररुजा विदाह- ।
मत्यर्थरक्तमतिकृष्णमतीवपीतम् ॥
मर्मक्षतोद्भवमपीह विसर्पसर्पं ।
तं वर्जयेदखिलदोषकृतं च साक्षात् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—जो विसर्प रोग फफोलोंसे युक्त हो, नाना प्रकारकी तीव्र पीडा सहित हो, अत्यधिक दाहसे युक्त हो, रोगी का शरीर अत्यन्त लाल, काला वा अत्यन्त पीला हो, मर्मस्थानों के क्षत के कारण उत्पन्न हुआ हो, या सान्निपातिक हो तो ऐसे विसर्प रोगरूपी सर्प को असाध्य समझकर छोड देना चाहिये। ॥ ३४ ॥

अथ वातरक्ताधिकारः

वातरक्त चिकित्सा।

वातादिदोषकुपितेष्वपि शोणितेषु ।
पादाश्रितेषु परिकर्मविधिं विधास्ये ॥
संख्यानतस्सकललक्षणलक्षितेषु ।
संक्षेपतः क्षपितदोषगणैः प्रयोगैः ॥३५॥

भावार्थः—वात आदि दोषों द्वारा कुपित रक्त, पाद को प्राप्त कर जो रोग उत्पन्न करता है, जिसकी संख्या व लक्षणों को पहिले कह चुके हैं ऐसे वातरक्तनामक रोग की चिकित्सा, तत्तद्दोषनाशक प्रयोगों के साथ २ आगे वर्णन करेंगे ॥ ३५ ॥

राम्नादिलेप।

रास्नाहरेणुशतपुष्पसुरेंद्रकाष्ठ- ।
कुष्ठागरुस्तगरबिल्वबलाप्रियालैः ॥
क्षीराम्लपिष्टघृततैलयुतैस्सुखोष्णै- ।
रालेपयेदनिलशोणितवारणार्थम् ॥ ३६ ॥

भावार्थः—रास्ना, रेणुकाका बीज, सोंफ, देवदारु, कूट, अगरू, तगर, बेलफल, बला, चिरौंजी, इन औषधियोंको दूध व अम्ल पदार्थोंके साथ पीसकर उसमें घी और तैल को मिलावें। फिर उसे थोडा गरमकर लेप करनेसे वातरक्त रोग दूर होजाता है ॥३६॥

मुद्गादिलेप।

मुद्गाढकीतिलकलायमसूरमाष- ।
गोधूमशालियवपिष्टमयैर्विशिष्टैः ॥
आलेपयेत् घृतगुडेक्षुरसातिशीतैः ।
क्षीरान्वितैरसृजि पित्तयुते प्रगाढम् ॥ ३७ ॥

भावार्थः—पित्तप्रबल वातरक्त में मूंग, अरहर, तिल, मटर, मसूर, उडद, गेंहू, धान, यव इनके पिष्टमें घी, गुड, इक्षुरस दूध इन अत्यंत ठण्डे पदार्थोंको मिलाकर फिर गाढ लेपन करना चाहिए ॥ ३७ ॥

पुनर्नवादि लेप।

श्वेतापुनर्नवबृहत्यमृतातसीना- ।
मेरण्डयष्टिमधुशिग्रुतिलेक्षुराणाम् ॥
सक्षारमूत्रपरिपिष्टसुखोष्णकल्कै- ।
रालेपयेदतिकफोल्बणवातरक्ते ॥ ३८ ॥

भावार्थः—कफप्रबल वातरक्त में सफेद पुनर्नव, बडी कटेली, गिलोय, एरंड, मुलैठी, सेंजन, तिल, गोखरू इनको क्षार व गोमूत्र के साथ पीसकर उस कल्कको लेपन करना चाहिए ॥ ३८ ॥

जम्ब्वादिलेप।

जंबूकदंबबृहतीद्वयनिंबरम्भा ।
विंध्यंवजोत्पलसुगंधिसृगालविन्ना ॥
कल्कैर्घृतेक्षुरसदुग्धयुतानि शीतै- ।
रालेपयेदधिकमारुतशोणितेऽस्मिन् ॥ ३९ ॥

भावार्थः—वातप्रबल वातरक्तमें जामुन, कंदवृक्ष, दोनों [छोटी बडी] कटेली, नीम, केला, कुंदरु, कमल, नील कमल, पिप्पली मूल, पृस्नपर्णी, इन सबको घी, इक्षुरस, दूध में पीसकर इस कल्कको ठण्डा ही लेपन करना चाहिए ॥ ३९ ॥

मुस्तादिलेप ।

मुस्ताप्रियालुमधुकाश्वविदारिगंधा- ।
दूर्वांबुजासितपयोजशतावरीभिः ॥
भूनिंबचंदनकशेरुककुष्ठकाग्रा- ।
पुष्पैः प्रलेप इह सर्वजशोणितेषु ॥ ४० ॥

भावार्थः—सन्निपातज वातरक्तमें नागरमोथा, चिरौंजी, मुलैठी, आमकी छाल, शालपर्णी, प्रियंगु, दूब, कमल, श्वेतकमल, शतावरी, चिरायता, लालचंदन, कशेरु, कूट, दारु हलदी, इनका लेपन करना चाहिये ॥ ४० ॥

बिम्ब्यादिघृत

बिंबीकशेरुकबलातिबलाटरूप- ।
जीवंतिकामधुकचंदनसारिवाणाम् ॥
कल्केन तत्क्वथिततोयपयोविपक- ।
माज्यं पिबेदनिलशोणितपित्तरोगी ॥ ४१ ॥

भावार्थः—पित्ताधिक वात रोगीको कुंदरु, कशेरु, बला, अतिबला, अडूस, जीवंति, मुलैठी, चंदन, सारिव, इनके कल्कको, उन्हीं औषधियोंके काढा और दूधके द्वारा पकाये हुए घीको पिलाना चाहिये ॥ ४१ ॥

अजपयःपान ।

यष्टीकषायपरिपक्वमजापयो वा ।
शीतीकृतं मधुककल्कसिताज्ययुक्तम् ।
पीत्वानिलास्रमचिरादुपहन्त्यजस्र- ॥
मस्रान्विताखिलबहुपित्तविकारजातान् ॥ ४२ ॥

भावार्थः—मुलैठी का कषाय द्वारा पकाये गये बकरीके ठण्डे दूधमें, मुलैठी का ही कल्क, खांड और घी मिलाकर पीनेसे, शीघ्र ही वातरक्त, रक्तपित्त आदि समस्त पित्तविकार नाश हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

कुंडुकादि दुग्ध ।

डुंडुकपीलुबृहतीद्वयपाटलाग्नि- ।
मंथाश्वगंधसुपवीमधुकांबुपकम् ॥

क्षीरं पिबेत् घृतगुडान्वितमीषदुष्णं ।
सर्वास्रपित्तपवनामयनाशनार्थम् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—सर्व रक्तपित्त व वातरक्त रोगोंको नाश करनेके लिये टेंटूक, पील्, (टेंटू) दोनों कटेली, पाढ, अगेथु, असगंध, कालाजीरा, मुलैठी, नेत्रवाला, इनसे पकाये हुए दूध में घी गुड मिलाकर थोडा ठण्डा करके पीना चाहिये ॥ ४३ ॥

शीतं कषायममलामलकांबुदांबुः-।
कुस्तुंबुरुक्कथितमिक्षुरसप्रगाढम् ॥
प्रातः पिबेत्त्रिफलया कृतमाज्यमिश्रं ।
विश्वामयप्रशमनं कुशलोपदिष्टम् ॥ ४४ ॥

भावार्थः—आंवला, नागरमोथा, नेत्रवाला, धनिया इनके शीतकषाय अथवा काढा में अधिक ईखका रस मिलाकर घृतमिश्रित त्रिफला चूर्ण के साथ पीनेसे समस्त रोग दूर हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

गोधूमादिलेप ।

गोधूमशालितिलमुद्गमसूरमाषै- ।
श्चूर्णीकृतैरपि पयोघृततैलपक्वैः ॥
यत्रार्तिरुग्रभवति तत्र सपत्रबंधो ।
दोषोच्छ्रये कुरुत बस्तियुतं विरेकम् ॥ ४५ ॥

भावार्थः—गेंहू, धान, तिल, मूंग, मसूर, उडद, इनके चूर्णको दूध, घी व तेलसे पकाकर जहां अधिक पीडा होती हो वहां पत्ते के साथ बांध देना चाहिये। दोषका उद्रेक अधिक हो तो बस्ति व विरेचन देना चाहिये ॥ ४५ ॥

क्षीरद्रुमादितैल ।

आलेपनं घृतयुतं परिषेचनार्थं ।
क्षीरद्रुमांबुबलया परिपक्वतैलम् ॥
अभ्यंगबस्तिषु हितं च तथान्नपानं ।
गोधूमशालियवमुद्गपयोघृतानि ॥ ४६ ॥

भावार्थः—इस रोगके लिये क्षीरीवृक्ष, नेत्रवाला, बला इनकेद्वारा सिद्ध किये हुए तैल को परिषेचन [धारा गिराना] अभ्यंग (मालिश) व बस्तिकार्यमें प्रयोग करना चाहिये। लेपनके लिये घी मिलाकर काममें लेना चाहिये। गेहूं, धान, जौ, मूंग, दूध, घृत ये इसमें हितकारी अन्नपान हैं ॥ ४६ ॥

सर्वरोगनाशक उपाय ।

शाल्योदनो घृतदधीक्षुविकारदुग्धं ।
सेवा यथर्तुतनुशोधनसंयमश्च ॥
व्यायामसत्तनुभृत्करुणासदयात्मा ।
पंचेंद्रियार्थविजयश्च रसायनं स्यात् ॥ ४७ ॥

भावार्थः—भात, घी, दही, इक्षुविकार (गुड आदि) दूध, ऋतुके अनुसार शरीर शोधन [वमन विरेचन आदिसे] करना, संयम धारण करना, व्यायाम करना, सर्वप्राणियोंमें अनुकंपा, पंचेंद्रियोंको वशमें रखना यह सर्व रोगों को जीतनेवाले रसायन है ॥ ४७ ॥

वातरक्त चिकित्सा का उपसंहार ।

नित्यं विरेचनपरो रुधिरप्रमोक्ष— ।
वस्तिक्रियापरिगतस्सततोपनाही ॥
शीतान्नपानमधुरातिकषायतिक्त— ।
सेवी जयत्यनिलशोणितरक्तपित्तम् ॥ ४८ ॥

भावार्थ—सदा विरेचन लेनेवाला, रक्त मोक्षण करानेवाला, वस्ति क्रियामें प्रवृत्त, पुल्टिश बांधनेवाला, शीत अन्न पान व मधुर, कषाय, तिक्त रसोंको सेवन करनेवाला वात रक्त व रक्तपित्त को जीत लेता है ॥ ४८ ॥

पित्तादृते न च भवंत्यतिसारदाह- ।
तृष्णाज्वरभ्रममदोष्णविशेषदोषाः ॥
वातात्कफात्त्रिभिरपि प्रभवंति तेषा- ।
मुत्कर्षतो भवति तद्गुणमुख्यभेदात् ॥ ४९ ॥

भावार्थः—पित्तोद्रेकके बिना अतिसार, दाह, तृष्णा, ज्वर, भ्रम, मद, उष्ण इत्यादि विशेष दोष [रोग] उत्पन्न नहीं होते हैं । साथ में देहा रोग, वात, कफ, और वातपित्तकफ इन तीनों दोषोंसे भी उत्पन्न होते हैं इसलिये वातातिसार, त्रिदोषातिसार आदि कहलाते हैं । लेकिन, दोषोंके उत्कर्ष, अपकर्ष के कारण, गौण, मुख्य रूपसे व्यवहार होता है । जैसे अतिसार के लिये मूल कारण पित्त ही है, तो भी वातातिसार में पित्त की अपेक्षा वात का प्रकोप अधिक है इसलिये वह पित्तोद्भव होने पर भी वातातिसार कहलाता है ॥ ४८ ॥

अथ ज्वराधिकार।

ज्वरनिदान

आहारतो विविधरोगसमुद्भवाद्वा।
कालक्रमाद्विचरणादभिघाततो वा॥
दोषास्तथा प्रकुपिताः सकलं शरीरं।
व्याप्य स्थिता ज्वरविकारकरा भवंति॥ ५०॥

भावार्थः—मिथ्या आहारसे, अनेक रोगोंके जन्म होनेसे, कालानुसरणसे, मिथ्याविहार से, चोट लगने से दोष (वात पित्त कफ) प्रकुपित होकर सारे शरीरमें फैल कर ज्वर रोगको उत्पन्न करते हैं॥ ५०॥

ज्वरलक्षण।

स्वेदावरोधपरितापशिरोंगमर्द-।
निश्वासदेहगुरुतातिमहोष्णता च॥
यस्मिन्भवंत्यरुचिरप्रतिमांबुतृष्णाः।
सोऽयं भवेज्ज्वर इति प्रतिपन्नरोगः॥ ५१॥

भावार्थः—पसीनेका रुक जाना, संताप, शिर व शरीर टूटासा मालूम होना, अति उष्णका अनुभव होना, अरुचि व पानी पीनेकी अत्यंत इच्छा होना ये सब ज्वरके लक्षण हैं॥ ५१॥

ज्वरका पूर्वरूप।

सर्वांगरुक्क्षवथुगौरवरोमहर्षा-।
रूपाणि पूर्वमखिलज्वरसंभवेषु॥
पित्तज्वरान्नयनरोगविदाहशोषाः।
वाताद्विजृंभणमरोचकता कफाच्च॥ ५२॥

भावार्थः—सर्वांगमें पीडा होना, छींक आना, शरीर भारी होजाना, रोमांच होना, यह सब ज्वरोंके पूर्वरूप हैं। नयनरोग (आंख आना आदि) नेत्र शरीरमें दाह होना, शोष ये सब पित्तज्वरके पूर्वरूप हैं। वातरोगका पूर्वरूप जंभाई आना है। अरुचि होना यह कफ ज्वरका पूर्वरूप है॥ ५२॥

वातज्वरका लक्षण।

हृत्पृष्ठगात्रशिरसामतिवेदनानि।
विड्भंगरूक्षविरसत्वविजंभणानि।

आध्मानशूलमललोचनकृष्णताति- ।
श्वासोरुकासविषमोष्मककंपनानि ॥ ५३ ॥

स्तब्धातिसुप्ततनुताति हिमाप्रियत्व- ।
निद्राक्षतिश्वसनसंभवलक्षणानि ॥
वातज्वरे सततमेव भवंति तानि ॥
ज्ञात्वानिलघ्नमचिराद्विदधेद्यथोक्तम् ॥ ५४ ॥

भावार्थः—हृदय, पीठ शरीर व शिरमें अत्यधिक दर्द होना, मलावरोध शरीरमें रूक्षपना होजाना, विरसत्व, जंभाई, आध्मान (अफरा) मल व आंख आदि काला हो जाना व श्वास खासी होना, ज्वरका विषम वेग, व कंपन होना, शरीरका जकडाहट, शरीरके स्पर्शाज्ञान होना, ठण्डे पदार्थ अप्रिय लगना, निद्रानाश होना, ये सब वात-ज्वरके लक्षण हैं उनको जानकर वातविकार को दूर करनेवाली चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिये ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

पित्तज्वरलक्षण ।

तृष्णाप्रलापमददाहमहोष्मताति-
मूर्च्छाभ्रमाननकटुत्वविमोहनानि ॥
नासास्यपाकरुधिरान्वितपित्तमिश्र- ।
निष्ठीवनातिशिशिरप्रियतातिरोषः ॥ ५५ ॥

विड्भेदपीतमलमूत्रविलोचनाति- ।
प्रस्वेदनप्रचुररक्तमहातिसाराः ॥
निश्वासपूतिरिति भाषितलक्षणानि ।
पित्तज्वरे प्रतिदिनं प्रभवंति तानि ॥ ५६ ॥

भावार्थः—तृषा, बकवाद, मद, जलन, ज्वरका तीव्रवेग, मूर्च्छा, भ्रम, मुख कडुवा होना, बेचैनी होना, नाक व मुख पक जाना, थूकमें रक्त व पित्त मिलकर आजाना, ठण्डे पदार्थोंमें अत्यधिक इच्छा, अतिक्रोध, अतिसार, मल मूत्र व नेत्र पीला होजाना, विशेष पसीना आना, रक्तातिसार, श्वास में दुर्गंध, ये सब लक्षण पित्तज्वर में पाये जाते हैं ॥ ५५-५६ ॥

कफज्वर लक्षण ।

निद्रालुतारुचिरतीव्रशिरोगुरुत्वं ।
मंदोष्णतातिमधुराननरोमहर्षाः ॥

स्रोतावरोधनमिहाल्परुगाक्षिपात ।
छर्दिप्रसेकधवलाक्षिमलाननत्वम् ॥ ५७ ॥

अत्यंगसादनविपाकविहीनतानि– ।
कासातिपीनसकफोद्गमकण्ठकण्डूः ॥
श्लेष्मज्वरे प्रकटितानि च लक्षणानि ।
सर्वाणि सर्वजमहाज्वरसंभवानि ॥ ५८ ॥

भावार्थः—निद्राविकता, अरुचि, अधिक शिर भारी होजाना, शरीर कम गरम रहना, मुखमें मिठास रहना, रोमांच होना, स्रोतोंका मार्ग रुक जाना, अल्प पीडा, आंखमें स्तब्धता, वमन (थूंक आदि क्षेप) आंख मल व मुख का वर्ण सफेद होजाना, अत्यंत शरीरग्लानि, अपचन, खांसी, जुखाम, कफ आना व कंठ खुजलाना, ये सब श्लेष्मज्वरमें पाये जाने वाले लक्षण हैं। उपर्युक्त वातपित्तकफज्वरके तीनों प्रकारके लक्षण एकत्र पाये जावें तो उसे सन्निपातज्वर समझना चाहिये ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

द्वंद्वजज्वर लक्षण ।

दोषद्वयेरितसुलक्षणलक्षितं त– ।
दोषद्वयोद्भवमिति ज्वरमाहुरत्र ॥
दोषप्रकोपशमनादिह शीतदाहा– ।
वाद्यं तयोर्विनिमयेन भविष्यतस्तौ ॥ ५९ ॥

भावार्थः—जिसमें दो दोषोंके (वात पित्त, वातकफ, या पित्तकफ) लक्षण प्रकट होते हैं उसे द्वंद्वज ज्वर समझना चाहिये। ज्वर के आदि और अंत्य में, दोषोंके प्रकोप व उपशमन के अनुसार शीत, अथवा दाह परिवर्तन से होते हैं। अर्थात् यदि ज्वरके आदि में वातप्रकोप हो तो ठण्डी लगती है, पित्तोद्रेक हो तो दाह कम होता है। यही क्रम ज्वर के अंत में भी जानना चाहिए ॥ ५९ ॥

सन्निपात ज्वरका असाध्य लक्षण ।

सर्वज्वरेषु कथिताखिललक्षणं तं ।
सर्वैरुपद्रवगणैरपि संप्रयुक्तम् ॥
हीनस्वरं विकृतलोचनमुच्छ्वसंतं ।
भूमौ प्रलापसहितं सततं पतन्तम् ॥ ६० ॥
यस्ताम्यति स्वपिति शीतलगात्रयष्टि– ।
रंतर्विदाहसहितः स्मरणादपेतः ॥

रक्तेक्षणो हृषितरोमचयस्सशूल- ।
स्तं वर्जयेद्भिषगिहज्वरलक्षणज्ञः ॥ ६१ ॥

भावार्थः—जिस में सन्निपात के पूर्णलक्षण जो वातादि ज्वरों में पृथक् २ लक्षण बतलाये हैं वे एक साथ प्रकट होवें यही सन्निपात ज्वर का लक्षण है । इन त्रिदोषोंके संपूर्ण लक्षण एक साथ प्रकट हो, संपूर्ण उपद्रवोंसे संयुक्त हो, स्वर (अवाज) कम होगया हो, नेत्र विकृत होगये हो, ऊर्ध्व श्वाससे पीडित हो, बडबड करके भूमिपर सदा गिरता हो, संताप से युक्त हो, दीर्घनिद्रा लेता हो, जिसका शरीर ठंडा पडगया हो, अंदरसे अत्यधिक दाह होरहा हो, जिसकी स्मृतिशक्ति नष्ट होगई हो, आंखे लाल होगई हो, रोमांच होगया हो, शूल सहित हो, ऐसे सान्निपातिक रोगीको ज्वरलक्षण जाननेवाला विद्वान् वैद्य असाध्य समझकर अवश्य छोडें ॥ ६०–६१ ॥

सन्निपातज्वर के उपद्रव ।

मूर्च्छांगरुक्क्षयतृषावमथुज्वरार्ति- ।
श्वासैस्सशूलमलमूत्रनिरोधदाहैः ॥
हिक्कातिसारगलशोषणशोफकासै- ।
रेतैरुपद्रवगणैस्सहिताश्च वर्ज्याः ॥ ६२ ॥

भावार्थः—बेहोश अंगों में पीडा होना, धातुक्षय, तीव्र प्यास, वमन, श्वास, शूल, मलमूत्रावरोध, दाह, हिचकी, अतिसार [दस्त लगना] कंठ शोष, सूजन, खांसी ये सब सन्निपात ज्वर के उपद्रव हैं । इन उपद्रवोंके समूहसे युक्त ज्वरको वैद्य असाध्य समझकर छोड दें ॥ ६२ ॥

ज्वरकी पूर्वरूप में चिकित्सा ।

रूपेषु पूर्वजनितेषु सुखोष्णतोयै- ।
र्वांतः पिबेन्निशितशोधनसर्पिरेव ॥
संशुद्धदेहमिति न ज्वरति ज्वरोऽयं ।
व्यक्तज्वरे भवति लंघनमेव कार्यम् ॥ ६३ ॥

भावार्थः—ज्वर के पूर्वरूप प्रकट होनेपर मंदोष्ण पानीसे वमन कराना चाहिये । एवं तीक्ष्ण विरेचन घृतको पिलाकर विरेचन कराना चाहिये, इस प्रकार शोधित शरीरवालेको ज्वर बाधा नहीं पहुंचाता है अर्थात् बुखार आता ही नहीं । ज्वर प्रकट होनेपर लंघन करना ही उचित है ॥ ६३ ॥

लंघन व जलपान विधि।

आनद्धदोषमखिलं स्तिमितांगयष्टि-।
मालोक्य लंघनविधिं वितरेन्नृपार्त्ते ॥
तोयं पिबेत्कफमरुज्ज्वरपीडितांगः ।
सोष्णं सपित्तसहितः शृतशीतलं तु ॥ ६४ ॥

भावार्थः—दोषोंके विशेष उद्रेक व स्तब्ध शरीर को देखकर लंघन कराना चाहिये। यदि प्यास लगे तो वातकफज्वरी गरम पानी व पित्तज्वरी गरम करके ठण्डा किया हुआ पानीको पीना उचित है ॥ ६४ ॥

क्षुत्पीडितो यदि भवेन्मनुजो यवागूं ।
पीत्वा ज्वरप्रशमनं प्रतिसंविशेद्वा ।
तद्वद्विलेप्यमपि यूषगणैः कदुष्णैः ॥
संयोजयेज्ज्वरविकारनिराकरिष्णुः ॥ ६५ ॥

भावार्थः—लंघित रोगीको यदि भूक लगे तो क्रमसे ज्वरनाशक मंदोष्ण यवागू विलेपी व यूषोंको देना चाहिये, फिर विश्रांती देनी चाहिये ॥ ६५ ॥

वातपित्तज्वर में पाचन।

बिल्वाग्निमंथबृहतीद्वयपाटलीनां ।
क्वाथं पिबेदशिशिरं पवनज्वरार्त्तः ॥
काशेक्षुयष्टिमधुचंदनसारिवानां ।
शीतं कषायमिह पित्तविकारनिघ्नम् ॥ ६६ ॥

भावार्थः—बेल, अगेथु, दोनों कटेली, पाढ, इनका सुखोष्ण क्वाथ वातज्वरीको पाचनार्थ पीना उचित है। काश, ईखका जड, मुलैठी, चंदन, सारिव इनका ठण्डा क्वाथ पाचन के लिये पित्तज्वरीको देना चाहिये ॥ ६६ ॥

कफज्वर में पाचन व पक्वज्वरलक्षण।

भार्ङीफलत्रयकलिंगकपक्वतोय- ।
मुष्णं पिबेत्कफकृतज्वरपाचनार्थम् ॥

---

१ यदि दोषोद्रेक आदि अधिक नहीं, ज्वर भी साधारण हो तो लंघन कराने की जरूरत नहीं है। लघु आहार दे सकते हैं। दूसरा यह भी तात्पर्य है—जब तक दोषोद्रेक अंगोंमें स्तब्धता आदि अधिक हो तब तक लंघन कराना चाहिये।

लध्वी तनुः प्रकृतिमूत्रमलप्रवृत्ति- ।
मंदज्वरश्शिथिलकुक्षिरपीह पक्के ॥ ६७ ॥

भावार्थः—मार्ङी, त्रिफला, (हरड बहेडा आंवला) त्रिकटु [सोंठ मिरच, पीपल,] इनसे पकाया गया पानीको अर्थात् काढा पीनेसे कफज्वरका पाचन होता है। ज्वरके पाचन होनेपर शरीर हल्का, मल मूत्रोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति, मंदज्वर, पेट शिथिल होजाता है ॥ ६७ ॥

वात व पित्त पक्वज्वर चिकित्सा।

पक्वज्वरं समभिवीक्ष्य यथानुरूपं ।
स्निग्धैर्विरेचनगणैरथवा निरूहैः ॥
संयोजयेत्सरुजवातकृतज्वरार्त्तः ।
पित्तज्वरे वमनशीतविरेचनैश्च ॥ ६८ ॥

भावार्थः—ज्वर पकजानेपर यदि वह पीडायुक्त वातज्वर हो तो उसे यथायोग्य स्नेह [एरण्ड तैल आदि] विरेचन अथवा निरूहबस्ति देनी चाहिये, यदि पित्तज्वर हो तो यथायोग्य शीत वमन, वा विरेचनसे उपशम करना चाहिये ॥ ६८ ॥

पक्वश्लेष्मज्वर चिकित्सा।

श्लेष्मज्वरे वमनमिष्टमरिष्टतोयैः ।
संपिष्टसैंधववचामदनप्रभूतैः ॥
नस्यांजनेष्टकटुभेषजसद्विरेक- ।
गण्डूषयूषखलतिक्तगणैः प्रयोज्यः ॥ ६९ ॥

भावार्थः—कफज्वरमें नीम कषायमें सैंधानमक, वचा, मेनफल इनका कल्क डालकर वमन देना चाहिये और कटु औषधीयों द्वारा नस्य, अंजन, विरेचन तथा तिक्तगणौषधियोंद्वारा कवलधारण (कुरला) कराना, व यूष देना चाहिये ॥ ६९ ॥

लंघन आदिके लिये पात्रापात्र रोगी

तत्राल्पदोषकृतदुर्बलबालवृद्ध- ।
स्त्रीणां क्रिया भवति संशमनप्रयोगैः ॥
तीव्रोपवासमलशोधनसिद्धमार्गै- ।
स्संभावयेदधिकसत्वबलान्ज्वरार्तान् ॥ ७० ॥

भावार्थः—यदि दोषोंका उद्रेक अल्प हो, वृद्ध हो, स्त्री हो, तो उनकी चिकित्सा शमन प्रयोगके द्वारा करनी चाहिये। इससे विपरीत अधिक बलवाले ज्वरीको तीव्र लंघन, उपर्युक्त वमन विरेचनादिसे चिकित्सा करना चाहिये ॥ ७० ॥

वातज्वरमें क्वाथ

वासामृतांबुदपटोलमहौषधानां ।
पाठाग्निमंथबृहतीद्वयनागराणाम् ॥
वा शृंगवेरपिचुमंदनृपांघ्रिपानाम् ।
क्वाथं पिबेदखिलवातकृतज्वरेषु ॥ ७१ ॥

भावार्थः—संपूर्ण वातिक ज्वरोंमें अडूसा, गिलोय, नागरमोथा, परवलकी पत्तियां सोंठ इनका वा पाठा, अरेणु, दोनों कटेली, सोंठ इनका, वा शुंठी, नीम, अमलतास इनका क्वाथ (काढा) बनाकर पीना चाहिये ॥ ७१ ॥

पित्तज्वर में क्वाथ ।

लाजाजलामलकबालकशेरुकाणां ।
मृद्वीकनागमधुकोत्पलशारिवानां ॥
कुस्तुंबुरोत्पलपयोदपयोरुहाणां ॥
क्वाथं पिबेदखिलपित्तकृतज्वरेषु ॥ ७२ ॥

भावार्थः—पैत्तिक ज्वरोंमें धानके खील, नेत्रबाला, आंवला, कच्चा कशेरु इनका वा मुनक्का, नागरमोथा, मुलैठी, नीम, कमल, सारिवा इनका, वा धनिया, नीलकमल, नागरमोथा, कमल इनका क्वाथ बनाकर पीना चाहिये ॥ ७२ ॥

कफज्वर में क्वाथ ।

एलाजमोदमरिचामलकाभयाना- ।
मारग्वधांबुदमहौषधपिप्पलीनाम् ॥
भूनिंबनिंबबृहतीद्वयनागराणाम् ।
क्वाथं पिबेदिह कफप्रचुरज्वरेषु ॥ ७३ ॥

भावार्थः—कफ ज्वरमें इलायची, अजवाइन, मिरच, आंवला, हरड इनका वा अमलतास, नागरमोथा, शुंठी, पीपल इनका, वा चिरायता, नीम, दोनों कटेली, शुंठी इनका कषाय बनाकर पीनेसे शांति होती है ॥ ७३ ॥

सन्निपातिक ज्वरमें क्वाथ ।

मुस्तानिशामलकचंदनसारिवानां ।
छिन्नोद्भवांबुदपटोलहरीतकीनां ॥
मूर्वामृतांबुदविभीतकरोहिणीनां ।
क्वाथं पिबेदखिलदोषकृतज्वरेषु ॥ ७४ ॥

भावार्थः—नागरमोथा, हलदी, आंवला, चंदन, सारिवा, इनका वा गिलोय, नागरमोथा, कडुवा परवल (महीन पत्र) हरड इनका अथवा मूर्वा, गिलोय नागरमोथा, बहेडा, कुटकी इनका कषाय पीनेसे सन्निपात ज्वर का उपशम होता है ॥ ७४ ॥

विषमज्वर चिकित्सा।

दोषानुरूपकथितौषधसत्प्रयोगैः ।
प्रत्येकसिद्धघृततैलपयःखलाद्यैः ॥
अभ्यंगनस्यसततांजनपानकाद्यै- ।
रेकांतरादिविषमज्वरनाशनं स्यात् ॥ ७५ ॥

भावार्थ—दोषोंको अनुसरण करके जिन औषधियोंका निरूपण किया गया है उन २ औषधि प्रयोगों से, तथा तत्तदोषघ्नियों द्वारा सिद्ध किये गये घृत, तैल, दूध, व्यंजन विशेष, आदि के अभ्यंग, नस्य, अंजन, पान इत्यादि करानेसे एकांतरा, संतत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थकादि विषमज्वर नष्ट होते हैं ॥ ७५ ॥

विषमज्वरनाशक घृत।

एवं तृतीयकचतुर्थदिनांतरेषु ।
संभूतवातजमहाविषमज्वरेषु ॥
गव्यं घृतं त्रिकटुकं त्रिफलत्रिजात- ।
कात्क्तं पिबेदहिमदुग्धयुतं हितार्थी ॥ ७६ ॥

भावार्थः—इसी प्रकार जिस में वात की प्रधानता रहती है ऐसे तृतीयक, चतुर्थक आदि विषमज्वरोंसे मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य त्रिकटुक, त्रिफला व त्रिजात (दालचीनी, इलायची, तेजपान) चूर्ण मिला हुआ गायके घीको मंदोष्ण दूधके साथ पीवें ॥ ७६ ॥

भूतज्वरके लिये धूप।

गोशृंगहिंगुमरिचार्कपलाशसर्प- ।
निर्मोकनिर्मलमहौषधचापपत्रैः ॥

१ **संतत**—जो, वातपित्त कफों के कारण से, क्रमशः सात, दस, व बारह दिन, तक (बीचमें न छूटकर) बराबर आता है उसे संतत कहते हैं।

सतत—जो दिन के किसी दो टाइम में आता है उसे सतत ज्वर कहते हैं।

अन्येद्युष्क—रात, वा दिन किसी, एक काल में जो ज्वर आता है, उसे, अन्येद्युष्क कहते हैं।

तृतीयक—बीचमें एक दिन रुककर जो तीसरे दिन में आता है उसे तृतीयक कहते हैं।

चतुर्थक—जो बीचमें दो दिनों में न आकर, चौथे दिन में आता है।

कार्पासबीजसितसर्षपबर्हिबर्है- ।
धूपो ग्रहज्वरपिशाचविनाशहेतुः ॥ ७७ ॥

भावार्थः—हींग, मिरच, अकौवा, पलाश, सर्पकी कचैली, उत्तम सोंठ, चार्षपत्र कपासका बीज, सफेद सरसौ, मयूरके पंख इनसे धूप देनेसे भूतप्रेतोंके उपद्रवसे उत्पन्न ग्रहज्वर का भी उपशम होता है ॥ ७७ ॥

स्नेह व रूक्षोत्थित ज्वरचिकित्सा।

स्नेहोत्थितेष्वहिमपेयविलेप्ययूप- ।
दूष्याद्भि रूक्षणविधिः कथितो ज्वरेषु ॥
स्नेहक्रियां तदनुरूपवरौषधाद्यां ।
संयोजयेदधिकरूक्षसमुद्भवेषु ॥ ७८ ॥

भावार्थः—अधिक स्नेहन करनेसे उत्पन्न ज्वरमें गरम पेय, विलेपी, यूषादि धातुओंके रूक्षण करने वाली विधिका प्रयोग करना चाहिये, अति रूक्षण करनेसे उत्पन्न ज्वरोंमें स्नेह क्रिया व तद्योग्य औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ७८ ॥

स्नेह व रूक्षोत्थित ज्वरोंमें वमनादि प्रयोग

स्नेहोद्भवेषु वमनं च विरेचनं स्या- ।
द्रूक्षज्वरेषु विदधीत स बस्तिकार्यम् ॥
क्षीरं घृतं गुडयुतं सह पिप्पलीभिः ।
पेयं पुराणतररूक्षमहाज्वरेषु ॥ ७९ ॥

भावार्थः—स्नेहज ज्वरमें वमन विरेचन देना चाहिये, और रूक्षजज्वरमें बस्तिकार्य करना चाहिये, पुराने रूक्षज महाज्वरमें गुड व पीपल इनसे युक्त दूध या घी को पीना चाहिये ॥ ७९ ॥

ज्वर मुक्त लक्षण

कांक्षां लघुक्षवथुमन्नरुचिं प्रसन्नं ।
सर्वेद्रियाणि समशीतशरीरभावम् ॥
कण्डूमलप्रकृतिमुज्ज्वलितोदराग्निं ।
वीक्ष्यातुरं ज्वरविमुक्तमिति व्यवस्येत् ॥ ८० ॥

भावार्थः—खानेकी इच्छा होना, शरीरका हल्का होजाना, अन्नमें रुचि होना, प्रसन्न चित्त होना, संपूर्ण इंद्रियोंकी अपने २ कार्य करनेमें समर्थता होना, शरीरमें समशीतोष्णता होना, खुजलाना, मल का विसर्जन ठीक २ होना, उदराग्निका प्रज्वलित होना यह ज्वरविमुक्तका लक्षण है ॥ ८० ॥

ज्वरका पुनरावर्तन।

शीतांबुपानशिशिरासनभोजनादे- ।
र्व्यायामवातगुरुप्लवनाभिघातात् ॥
शीघ्रं ज्वरः पुनरुपैति नरं यथेष्ट- ।
चारित्रतो ज्वरविमुक्तमपीह तीव्रः ॥ ८१ ॥

भावार्थः—एक दफे ज्वर छूट जानेपर भी ठंडे पानीके पीनेसे, ठंडे जगहमें बैठनेसे, अत्यंत शीतवीर्ययुक्त भोजन पान आदि करनेसे, अतिव्यायाम करने से, हवा लगने से, विशेष तैरनेसे, चोट लगनेसे, इत्यादि व स्वछंद वृत्तिसे वह पुनः लौट आता है ॥ ८१ ॥

पुनरागत ज्वर का दुष्टफल।

दावानलो दहति काष्ठमिवातिशुष्कं ।
प्रत्यागतो ज्वरविमुक्तमिह ज्वरोऽयं ॥
तस्माज्ज्वरातुर इव ज्वरमुक्तगात्रः ।
रक्ष्यो निजाचरणभोजनभेषजाद्यैः ॥ ८२ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार अग्नि सूखे लकडीको शीघ्र जलाता है उसी प्रकार उस ज्वरमुक्तको लौटा हुआ ज्वर पीडा देता है, शरीरको नष्टभ्रष्ट करता है। इसलिये ज्वरागमनके समय जिस प्रकार उसकी रक्षा करते हैं उसी प्रकार ज्वरमुक्त होनेपर भी निजाचरण, भोजन, औषधियोंद्वारा उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥८२॥

अथ अतिसाराधिकारः।

अतिसारनिदान।

पित्तं विदग्धमसृजा कफमारुताभ्यां ।
युक्तं मलाशयगतं शमितोदराग्निम् ॥
क्षिप्रं मलं विसृजति द्रवतामुपेतम् ।
तं व्याधिमाहुरतिसारमिति प्रवीणाः ॥ ८३ ॥

भावार्थः—स्वकारणसे दग्धपित्त, रक्त, कफ, वायुसे मिलकर जब मलाशय में पहुंच जाता है वहां उदराग्निको मंद कर देता है। फिर उस से पतला दस्त होने लगता है इसे महर्षि लोग अतिसार रोग कहते हैं ॥ ८३ ॥

वातातिसार लक्षण

शूलान्वितो मलमपानरुजा प्रगाढं ।
यस्तोयफेनसहितं सरुजं ससङ्गम् ॥

रूक्षं सृजत्यतिमुहुर्मुहुरल्पमल्पम् ।
वातातिसार इति तं मुनयो वदंति ॥ ८४ ॥

भावार्थः—जिसमें अपानवायु के प्रकोपसे, मल अत्यंत गाढा, रूक्ष एवं फेन युक्त होता हुआ बार २ थोडा २ पीडा व शद्ब के साथ २ उतरता है, रोगी शूलसंयुक्त होता है । उसको महर्षिगण वातातिसार कहते हैं । तात्पर्य—यह कि ये सब लक्षण वातातिसार के हैं ॥ ८४ ॥

पित्तातिसार लक्षण

पीतं सरक्तमहिमं हरितं सदाहं ।
मूर्च्छातृषाज्वरविपाकमदैरुपेतम् ॥
शीघ्रं सृजत्यतिविभिन्नपुरीषमच्छं ।
पित्तातिसार इति तं मुनयो वदंति ॥ ८५ ॥

भावार्थः—पीला हरावर्ण से युक्त, अधिक उष्ण, रक्तसहित स्वच्छ व पतला मल शीघ्र उतरना, रोगी मूर्छा, प्यास, ज्वर, अपचन, मद, इन से युक्त होना, ये सब लक्षण पित्तातिसार के है, ऐसा आचार्यप्रवर कहते हैं ॥ ८५ ॥

श्लेष्मातिसार

श्वेतं बलासबहुतो बहुलं सुशीतं ।
शीतार्दितातिगुरुशीतलगात्रयष्टिः ॥
कृत्स्नं मलं सृजति मंदमनल्पमल्पं ।
श्लेष्मातिसार इति तं मुनयो वदंति ॥ ८६ ॥

भावार्थः—कफ के आधिक्य से, मल का वर्ण श्वेत, गाढा, व अधिक ठण्डा होता है और मंदवेग के साथ, अधिकमात्रा में मल निकलता है, रोगी अत्यंत शीत से पीडित होता है, शरीर भारी, व अति शीतल माल्रुम पडता है जिसमें ये सब लक्षण प्रकट होते हैं उसे महर्षिगण श्लेष्मातिसार कहते हैं ॥ ८६ ॥

सन्निपातातिसार, आमातिसार व पक्वातिसारका लक्षण ।

सर्वात्मकं सकलदोषविशेषयुक्तम् ।
विच्छिन्नमच्छमतिसिक्थमसिक्थकं वा ॥
दुर्गंधमप्स्वपि निमग्नममेध्यमामं ।
पक्वातिसारमिति तद्विपरीतमाहुः ॥ ८७ ॥

भावार्थः—वात पित्त कफ इन तीनों अतिसारोंके लक्षणोंसे युक्त, छिन्न २ स्वच्छ, कण सहित व कणरहित मल निकलता है इसे सन्निपातातिसार कहते हैं। मल पानीमें डालने पर डूबे, दुर्गंधसे युक्त हो तो उसे आमातिसार कहते हैं। इससे विपरीत लक्षण वाले को पक्वातिसार कहते हैं॥ ८७॥

अतिसार का असाध्य लक्षण।

शोकादतिप्रबलशोणितमिश्रमुष्ण-।
माध्मानशूलसहितं मलमुत्सृजंतम्॥
तृष्णाद्युपद्रवसमेतमरोचकार्तम्।
कुक्ष्यामयः क्षपयति क्षपितस्वरं वा॥ ८८॥

भावार्थः—अति शोक के कारण से उत्पन्न, अत्यधिक रक्तमिश्रित, अतिउष्ण, मल को निकालने वाला शोकातिसार, आध्मान (अफरा) व शूलयुक्त, तृष्णा, सूजन, ज्वर, श्वास, खांसी आदि उपद्रवों से, संयुक्त, अरुचि से पीडित, हीन स्वरसंयुक्त रोगी को, [अतिसार रोग] नाश करता है। ॥ ८८॥

अन्य असाध्य लक्षण।

बालातिवृद्धकृशदुर्बलशोषिणां च।
कृच्छ्रातिसार इति तं परिवर्जयेत॥
सर्पिः प्लिहामधुवसायकृतासमानं।
तैलांबुदुग्धदधितक्रसमं स्रवंतम्॥ ८९॥

भावार्थः—अतिसार रोगी अति बालक हो, अति वृद्ध हो, कृश, दुर्बल व शोपी [क्षयरोग से पीडित] हो, एवं जिनका मल घी, प्लिहा, वसा, यकृत्, तेल, पानी, दूध, दही, छाछ के समान वर्णवाला हो, ऐसे रोगियोंका अतिसार महान् कष्ट पूर्ण है। इसलिए उसे छोडना चाहिए।

आमातिसार में वमन।

ज्ञात्वामपक्वमखिलामयसंविधानं।
सम्यग्विधेयमधिकामयुतातिसारे॥
प्रच्छर्दनं मदनसैंधवपिप्पलीनां।
कल्कान्वितोष्णजलपानत एव कुर्यात्॥ ९०॥

भावार्थ—अतिसारोंके आमपक्वावस्थावोंको अच्छी तरह जानकर यथायोग्य (आम में पाचन व पक्वस्तंभन) चिकित्सा करनी चाहिये। अधिक आमयुक्त हो तो

मेनफल, सैंधानमक, पीपल इनके कल्कसे मिश्रित उष्णजलपानसे वमन कराना चाहिये । ॥ ९० ॥

वमनपश्चात्क्रिया ।

वांतं प्रशांतमददाहमपेतदोषं ।
श्रांतं तदाहनि विवर्जितभुक्तपानं ॥
सांग्राहिकौषधविपक्वविलेप्ययूष- ।
मन्येद्युरल्पमहिमं वितरेद्यथोक्तम् ॥ ९१ ॥

भावार्थः—वमन कराने के बाद, जिसका मद, दाह व दोष शांत होगये हों, जो थका हो ऐसे रोगीको उस दिन खाने पीने को कुछ नहीं देना चाहिये। दूसरे दिन ग्राहि औषधियोंसे पकाये हुए विलेपी वा यूष (दाल) गरम व अल्पप्रमाण में देना चाहिये । ॥ ९१ ॥

वातातिसार में आमावस्था की चिकित्सा.

अत्यम्लतक्रमनिलामयुतातिसारे ।
प्रातः पिबेन्मरिचसैन्धवनागराढ्यं ॥
हिंगुप्रगाढमथवा मरिचाजमोद ।
सिन्धूत्थनागरविपक्ववराम्लिकां वा ॥ ९२ ॥

भावार्थ—वातज अतिसारके आमास्थामें अत्यंत खट्टी छाछमें मिरच, सैंधानमक, सोंठ, हींग मिलाकर अथवा मिरच, अजवाईन, सैंधानमक, सोंठ, इनसे पकायी हुई कांजी पीना चाहिये ॥ ९२ ॥

पित्तातिसार में आमावस्था की चिकित्सा ।

यष्टीकषायपरिपक्वमजापयो वा ।
जम्ब्वंबुदाम्रकुटजातिविषाकषायः ॥
पीतस्तथा दधिरसेन तिलांबुकल्कं ।
पित्तामपाशु शमयत्यतिसाररोगे ॥ ९३ ॥

भावार्थः—पित्तज अतिसारके आम अवस्थामें मुलैठीके कषायसे सिद्ध किया हुआ बकरी का दूध व जामुन, नागरमोथा. आम, कूटज, अतीस, इनका कषाय अथवा तिल व नेत्रबालेका कल्कको दहीके तोड [रस] के साथ पीना चाहिये ॥ ९३ ॥

कफातिसार में आमावस्था की चिकित्सा ।

दार्वीनिशाकटुकांबुदचित्रकाणां ।
पाठाजमोदमरिचामलकाभयानाम् ॥

कल्कं पिबेदशिशिरेण जलेन शुंठी- ।
मेकां तथा कफकृतामकृतातिसारे ॥ ९४ ॥

भावार्थः—श्लेष्मातिसारके आम अवस्थामें दारू हलदी, हलदी, त्रिकटुक (सोंठ मिरच, पीपल,) नागरमोथा, चित्रक इनके वा पाठा, अजवाईन, मिरच, आंवला, व हरडा इनके कल्कको गरम जल में मिलाकर पीना चाहिये अथवा शुंठीको ही पानीके साथ पीसकर पीना चाहिये ॥ ९५ ॥

पक्कातिसारमें आम्रास्थ्यादि चूर्ण ।

आम्रास्थिलोध्रमधुकं तिलपद्मकाख्यं ।
सद्धातकीकुसुमशाल्मलिवेष्टकं च ॥
बिल्वप्रियंगुकुटजातिविषासमंगाः ।
पक्कातिसारशमनं दधितोयपीताः ॥ ९५ ॥

भावार्थः—आमकी गुठली, लोध्र, मुलैठी, तिल, पद्माख, धाईके फूल, सेमलके गोंद, बेलकी गुदा, प्रियंगु (फूलप्रियंगु) कुटज की छाल अतीस मंजीठ इनको चूर्णकर दहीके तोडके साथ पीनेसे पक्कातिसार शमन होता है ॥ ९५ ॥

त्वगादिपुटपाक ।

त्वग्दीर्घवृंतकुटजाम्रकदंबजांबू- ।
वृक्षोद्भवा बहुलतण्डुलतोयपिष्टाः ।
रंभादलेन परिवेष्ट्य पुटेन दग्धा ।
निष्पीडिता गलति रक्तरसं सुगंधिम् ॥ ९६ ॥

भावार्थः—दालचिनी, आलु, कुटज, आम, कदंब, जामुन वृक्षोंकी छाल को चावल की माण्डके साथ पीसकर केलेके पत्तेसे लपेटकर पुटपाक विधिसे पकाना चाहिये । फिर उसे निचोडनेपर उससे सुगंध लाल रस निकलता है ॥ ९६ ॥

तं शीतलं मधुककल्कयुतं प्रपेय ।
कुक्ष्यामयं जयति मंक्षुतरं मनुष्यः ॥
अम्बष्ठिकासरसदाडिम तिंदुकं वा ।
तक्रे विपाच्य परिपीतमपीह सद्यः ॥ ९७ ॥

भावार्थः—उस शीतल रसमें मुलैठीका कल्क मिलाकर पीनेसे सर्व अतिसार रोग दूर होते हैं । अथवा अंबाडा[1], उत्तम दाडिम, तेंदु, इनको छाछमें पकाकर पीनेसे भी अतिसार रोगका उपशम होता है ॥ ९७ ॥

१ अंबष्ठिकाका अर्थ पाठा (पहाडमूल) भी होता है ।

जम्ब्वादि पाणितक।

जंब्वाम्रनिंबघनवृक्षसुधातकीना- ।
मष्टांशशिष्टमवतार्य विगाल्य तोयम् ।
दर्वीप्रलेपमिह पाणितकं विपाच्य।
लीढ्वातिसारमचिरेण जयेन्मनुष्यः ॥ ९८ ॥

भावार्थः—जामुन, आम, नीम, नागरमोथा, अमलतास, धाईके फूल, इनका कषाय आठवां अंश बाकी रहे तब उतारकर उसे छान लेवें, फिर उसको दर्वी प्रलेप [जबतक करछलीमें चिपक जावें] होनेतक पकाकर उतार लेवें। उस अवलेह के सेवन करने से अतिसार रोग दूर होता है ॥ ९८ ॥

सिद्धक्षीर।

क्षीरं त्रिवृत्त्रिफलया परिपक्वमाशु ।
कुक्ष्यामयं शमयति त्रिकटुप्रगाढम् ॥
सिंधूत्थहिंगुमरिचातिविपाजमोद- ।
शुंठीसमेतमथवा शतपुष्पयुक्तम् ॥ ९९ ॥

भावार्थः—त्रिवि [निशोथ] त्रिफला, (हरड बहेडा आंवला) त्रिकटु (सोंठ मिरच पीपल) इन से पकाये हुए दूधको पीनेसे अतिसार रोग दूर होजाता है। सैंधानमक, हींग, मिरच, अतीस अजवाईन, सोंठ इन से पकाये हुए दूध अथवा सोंफसे युक्त दूधको पीनेसे अतिसार रोग दूर होता है ॥ ९९ ॥

उग्रगंधादिक्वाथ।

उग्रांबुदातिविपयष्टिकषायमष्ट-।
भागावशिष्टमतिगाल्य विशिष्टमिष्टं॥
अम्बष्टिकासहितमाशु पिबेन्मनुष्यो।
गंगां रुणद्धि किमुताल्पतरातिसारम् ॥१००॥

भावार्थः—वचा, नागरमोथा, अतीस, मुलैठी इनका अष्टभागावशेष कषाय बनाकर फिर उसको छान लेवें। उस कषायमें अंबाडा डालकर पीवें। इससे गंगा नदीके बाडके समान बहनेवाला अतिसार भी उपशम होता है। अल्प प्रमाणवाले अतिसारकी तो क्या बात है? ॥ १०० ॥

क्षीरका विशिष्ट गुण।

गव्यं क्षीरं सुखोष्णं हितमतिचिरकालातिसारज्वरोन्मा- ।
दापस्माराश्मगुल्मोदरश्वयथुघनानिलश्वासकासाम्लिकाद्यु ॥

अष्ठीलाशर्करासृग्दरमदतनुदाहभ्रमक्षीणरेतो ।
मूर्च्छाक्रांतेषु पीतं किमुत तदनुरूपौषधैस्सम्प्रयुक्तम् ॥ १०१ ॥

भावार्थः—मंदोष्ण दूध, पुराना अतिसार, जीर्णज्वर, उन्माद, अपस्मार, अश्मरी, गुल्म, उदर, यकृदुदरवात, श्वासकास, प्लिहोदर, अष्ठीला, शर्करा, असृग्दर, दाहरोग, भ्रम, क्षीणशुक्र, मूर्च्छा आदि अनेक रोगोंके लिये हितकर है । उसको यदि तत्तद्रोग-नाशक औषधियों से सिद्धकर प्रयोग किया जाय तो फिर कहना ही क्या है ॥१०१॥

अतिसारमें पथ्य ।

तक्रं सैंधवनागराढ्यमथवा मुद्गं रसं जीरकै- ।
र्व्यामिश्रं घृतसैंधवैः समरिचैस्संस्कारयासं भृशं ॥
क्षीरं वाप्यजमोदसैंधवयुतं सम्यक्तया संस्कृत- ।
माहारेषु हितं नृणां चिरतरातीसारजीर्णज्वरे ॥ १०२ ॥

भावार्थः—सैंधानमक, सोंठ से मिली हुई छाछ, अथवा मूंग के पानीमें जीरा मिलाकर उसमें घी, नमक व मिर्चका छोंक देकर पीवें, अथवा अजवाईन, सैंधानमक से सिद्ध किया हुआ दूध, यह सब अतिसार व जीर्ण ज्वरमें हितकर है । ॥ १०२ ॥

अंतिम कथन ।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ १०३ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है । साथ में जगतका एक मात्र हित साधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ १०३ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
पित्तरोगचिकित्सितं नामादितो नवमः परिच्छेदः ।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित
भावार्थदीपिका टीका में पित्तरोगाधिकार नामक
नवमा परिच्छेद समाप्त हुआ

—:—

अथ दशमः परिच्छेदः

कफरोगाधिकारः ।

श्लेष्मरोगाभिधानप्रतिज्ञा ।

मंगलाचरण ।

जीवाजीवाद्यशेषं विधिवदभिहितं येन तद्भेदभिन्नं ।
ध्रौव्योत्पादव्ययात्माप्रकटपरिणतिप्राप्तमेतत्क्षणेस्मिन् ॥
तं देवेंद्राभिवंद्यं जिनपतिमजितं प्राप्तसत्प्रातिहार्यं ।
नत्वा श्लेष्मामयानामनुगतमखिलं संविधास्ये विधानम् ॥ १ ॥

भावार्थः—जिसने अपने २ भेदोंसे भिन्न तथा (अपने स्वभावमें स्थित होते हुए भी) परिणति को प्राप्त उत्पाद, व्यय, ध्रौव्योंसे युक्त जीवादि द्रव्योंको विधिप्रकार निरूपण किया है और जो देवेंद्रादियों के द्वारा पूज्य है, अष्टमहाप्रातिहार्योंकर युक्त हैं ऐसे श्री अजितनाथ जिनेंद्रको वंदनाकर कफरोगोंके विषयमें निरूपण करेंगे इसप्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

प्रकुपितकफका लक्षण ।

स्तब्धं शैत्यं महत्त्वं गुरुतरकठिनत्वातिशीतातिकंडू- ।
स्नेहक्लेदप्रसेकारुचिवमथुशिरोगौरवात्यंतनिद्राः ॥
मंदाग्नित्वाविपाकौ मुखगतलवणस्वादुता सुप्ततादिः ॥
श्लेष्मव्याधिस्वरूपाण्यविकलमधिगम्याचरेदौषधानि ॥ २ ॥

भावार्थः—शरीरका स्तब्ध होना, ठण्डा पडजाना, फूलजाना, भारी होजाना, कठिन, अतिशीत, अतिकंडू [खाज] चिकना, गीला होजाना, थूकका पडना, अन्नादिकमें अरुचि, शिरोगुरुता, अत्यधिक निद्रा, मंदाग्नित्व, अपचन, मुख नमकीन वा स्वादु हो जाना, अंगोमें स्पर्शज्ञानका नाश हो जाना, यह सब कफप्रकोप का लक्षण हैं । ये लक्षण जिन २ व्याधियो में पाये जाते हैं उनको कफजव्याधि समझना चाहिये । इन लक्षणोंको अच्छीतरह जानकर कुशल वैद्य तद्योग्य औषधियोंके द्वारा उपचार करें ॥२ ॥

श्लेष्म नाशक गण ।

सक्षारैरुष्णवर्गैर्लघुतरविशदैरल्पमात्रान्नपानैः ।
कौषस्थैर्मुद्गयूषैरतिकटुककषायाम्लकैर्वा प्रसेकैर्वा ॥

तीव्रस्वेदोपवासैस्तिलजपरिगतोन्मर्दनादिव्यवायैः ।
श्लेष्मोद्रेकप्रशांतिं व्रजति कटुकतिक्तातिरूक्षैः कषायैः ॥ ३ ॥

भावार्थः—क्षारपदार्थ, उष्ण पदार्थोंके वर्ग, लघु व विशद (स्वच्छ) अल्पप्रमाण में अन्नपान का सेवन, कुलथी व मूंगका यूष, कटुक रस युक्त मटर वं अरहरका पानी (पेया आदि) तीव्र स्वेदन, उपवास, तिल तैलसे मर्दन, मैथुन सेवन, एवं कडुवा, चरपरा, कषायरस, रूक्षपदार्थ इत्यादि से कफविकार (कफप्रकोप) शांतिको प्राप्त होता है ।॥ ३ ॥

कफनाशक उपाय ।

गण्डूषैस्सर्षपाद्यैर्लवणकटुकषायातितिक्तोष्णतोयैः ।
निंबैः कारंजकाद्यैस्त्रिकटुकलवणोन्मिश्रितैर्दंतकाष्ठैः ॥
नारंगैर्वेत्रजातैश्चणकविलुलितैर्मातुलुंगाम्लवर्गैः ।
सव्योषैस्सैंधवाद्यैः कफशमनमवाप्नोति मर्त्यः प्रयोगैः ॥ ४ ॥

भावार्थः—सरसों आदि कफनाशक औषधियों के तथा लवण, चरपरा, कषाय, कडुआ रस, गरम पानी, इत्यादि औषधियों के गण्डूष धारण करने से नीम करंज बबूल आदि कडुआ, चरपरा, कषायरस दांतोन, व सोंठ मिरच, पीपल नमक मिश्रित दंतमंजन द्वारा, दंतधावन करने से, निंबू, वेत के कोंपल, चने का क्षार, बिजोरी निंबू, जम्बीरी निंबू, तिंतिडीक आदि अम्लवर्गोक्त पदार्थ एवं त्रिकटु सेंधानमक, कालानमक, सामुद्रनमक, विडनमक, व औद्भिद (ऊषर) नमक इनके प्रयोग से कफ शमन होता है ॥ ४ ॥

भार्ग्यादि चूर्ण ।

भार्ङीहिंगूग्रगंधामरिचविडयवक्षारसौवर्चलैलाः ।
कुष्टं शुंठीसपाठाकुटजफलमहानिंबबीजाजमोदाः ॥
चव्याजाजीशताह्वादहनगजकणापिप्पलीग्रंथिसिंधून् ।
चूर्णीकृत्याम्लवर्गैर्लुलितमसकृद्दाशोषितं चूर्णितं तत् ॥ ५ ॥

१. अम्लवर्गः—अम्लवेतसजम्बीरलुङ्गाम्ललवणाम्लकाः नगरंगं तिंतिडीच चिंचाफलसनिम्बुकं । चांगेरी दाडिमं चैव करमर्दं तथैव च । एष चाम्लगणः प्रोक्तो वेतसाम्लसमायुतः ॥ रसेंद्रसारसंग्रह ।

अम्लवेत, जम्बीरीनिंबू बिजौरा निंबू, चनेका खार नारंगी तिंतिडीक, इमली के फल निंबू, चांगेरी, (चुका) खट्टा अनार और कमरख इन को अम्लवर्ग कहा है ।

२ औषधियों के कषाय को जबतक मुख में भरकर रखें जबतक कफादि दोष निकल न जावे उसे गण्डूष कहते हैं ।

पीत्वा सौवीरमिश्रं क्षपयति यकृदष्ठीलगुल्माग्निमांद्यं ।
कासोर्ध्वश्वासशूलात्रमथुजठरकुक्ष्यामयार्शप्लिहादीन् ॥
तक्रेण श्लेष्मरोगान् घृतगुडपयसा पैत्तिकान् हंत्यशेषा- ।
नुष्णांभस्तैलयुक्तं शमयति सहसा वातजातानमोघम् ॥ ६ ॥

भावार्थः—भार्ङी, हिंग, वचा, मिरच, विडनमक, यवक्षार, कालानमक, इलायची, कूट, सोंठ, पाठा, कुटज फल (इंद्रजौ) महानिंब (बकायन) का बीज, अजवाईन, चाव, जीरा, सोंफ, चित्रक, गजपीपल, पीपल, सैंधानमक इनको चूर्ण करके आम्लवर्ग के औषधियोंके रसोंसे इसमें अनेकवार भावना देकर कांजी मिलाकर पीवें जिससे यकृदुदर, अष्ठीलिका गुल्म, अग्निमांद्य खांसी, ऊर्ध्वश्वास, शूल, वमन उदर रोग. कुक्षिरोग [संग्रहणी आतिसार आदि] प्लिहोदर, आदि रोग दूर होते हैं । तथा इस चूर्ण को छाछमें मिलाकर पीवे तो समस्त श्लेष्मरोग, घृतगुड व दूधमें मिलाकर पीवे तो सर्व पित्तज रोग, एवं गरमपानी व तेल में मिलाकर पीवे तो वातज रोग उपशमन होते हैं । ॥ ६ ॥

कफनाशक व खदिरादि चूर्ण ।

निंबक्वाथं सुखोष्णं त्रिकटुकसहितं यः प्रपाय प्रभूतं ।
छर्दिं कृत्वा समांशं खदिरकुटजपाठापटोलानिशानाम् ॥
चूर्णं व्योषप्रगाढं प्रतिदिनमहिमेनांभसातत्पिबन्सः ।
कुष्ठार्शः कीटकच्छून् शमयति कफसंभूतमातंकजातम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—त्रिकटुकसे युक्त नीमके कषाय को थोडा गरम पिलाकर वमन कराना चाहिये । तदनंतर खैर, कुटज, पाठा, पटोलपत्र, हलदी, त्रिकटु इनके समांश चूर्णको गरम पानीके साथ प्रतिदिन पिलानेसे कुष्ठ, बवासीर, कीटकरोग, कच्छुरोग, एवं कफोत्थ सर्व रोगोंकी उपशांति होती है ॥ ७ ॥

व्योषादि चूर्णचतुष्क ।

व्योषं वा मातुलुंगोद्भवरससहितं सैंधवाढ्यं समांशं ।
क्षारं वा मुष्कभस्मोदकपरिगलितं पक्वमारक्तचूर्णं ॥
चूर्णं गोमूत्रपीतं समधृतमसकृत्त्रैफलं मार्कवं वा ।
श्लेष्मव्याधीनशेषान् क्षपयति बहुसूत्रामयानप्रमेयान् ॥ ८ ॥

भावार्थः—मातुलुंग के रस सहित सैंधानमक, त्रिकुट के समांश चूर्ण. मुष्कवृक्षके [मोखावृक्ष] लालवर्ण का क्षार, व समांश त्रिफला व भृंगराज चूर्ण गोमूत्र के

साथ सेवन करने से सर्व कफ रोगोंको दूर करते हैं । एवं अत्यंत कठिन साध्य बहुमूत्र रोगको भी उपशमन करते हैं ॥ ८ ॥

हिंग्वादि चूर्णत्रय ।

हिंग्वेलाजाजिचव्यत्रिकुटकयवजक्षारसौवर्चलं वा ।
मुस्ताव्योषाजमोदामलकलवणपाठाभयाचित्रकं वा ॥
शिग्रुग्रंथ्यक्षपथ्यामरिचमगधजानागरैलाविडंगं ।
चूर्णीकृत्योष्णतोयैर्घृतयुतमथवा पीतमेतत्कफघ्नम् ॥ ९ ॥

भावार्थः—१हींग, इलायची, जीरा, चाव, त्रिकटुक, यवक्षार, कालानमक, २अथवा नागरमोथा, त्रिकुटु, अजवाईन, आंवला, सेंधालवण, पाठा, हरड, चित्रक, ३अथवा सेंजन, पीपलीमूल, बहेडा, हरड, मिरच पीपली, सोंठ, इलायची, वायुविडंग, इनको चूर्ण करके गरम पानी या घृत में मिलाकर पीनेसे कफको नाश करता है ॥ ९ ॥

बिल्वादिलेप ।

बिल्वाग्निग्रंथिकाताकुलहलकुनटी शिग्रुमूलाग्निमंथा- ।
नर्कालर्कोग्रगंधात्रिकटुकरजनीसर्षपोष्णीकरंजान् ॥
कल्कीकृत्य प्रदेहः प्रबलकफमरुज्जातशोफानशेषा- ।
न्निर्मूलं नाशयेत्तान् दवदहन इवामेघतार्णोरुराशीन् ॥ १० ॥

भावार्थः—बेल, चित्रक, पीपलीमूल, रेणुकबीज, महाश्रावणी, गोरखमुण्डी, मनःशिला, सेंजनकाजड, अगेथु, अकौवा, सफेद अकौवा, वचा, त्रिकटु, हल्दी, सरसौं, प्याज, करंज इनका कल्क बना-कर उसे लेपन करें जिससे प्रबल कफ व वातसे उत्पन्न हरतरह की सूजन दूर होजाती हैं। बडे भारी तृणराशी को जिस प्रकार दावानल नाश करदेती है उसी प्रकार उक्त कल्क समस्त वातज और कफज रोगोंको दूर करता है ॥ १० ॥

शिग्र्वादि लेप ।

शिग्रुव्याघातकाग्नित्रिकटुकहयमाराश्वगंधाजगंधै- ।
रेतैर्वा चक्रमर्दामलकलवणसद्वाकुचीभूशिरीषैः ॥
क्षारांबुक्षीरतक्रैर्लवणजलयुतैः श्लक्ष्णपिष्टैस्समांशै- ।
र्कृत्यालेपनार्थं क्षपयति किटिभान् दद्रुकच्छूनशेषान् ॥ ११ ॥

भावार्थः—सेंजन, करंज, चित्रक, त्रिकटुक, अश्वमार (करनेर) अश्वगंध, रानतुलसी इनको, अथवा चकोंदा, आंवला सैंधानमक, बाकुची भूशिरीष इनको समांश

लेकर क्षारजल या दूध या छाछ, लवणजलके साथ पीसकर महीन लेपन करें तो किटिभ कुष्ठ, दद्रु, कच्छू आदि अनेक कुष्ठविशेष दूर होते हैं, ॥ ११ ॥

धात्र्यादि लेप।

धात्र्यक्षाहाभयाख्या त्रिकटुकरजनीचक्रमर्दाद्रिकर्णी।
निंबव्याधातकाग्निद्रुमलवणगणैः कांजिकातक्रपिष्टैः॥
गाढाश्चावर्तनालेपनयुतविधिना दद्रुकंडूकिलास-।
प्रोसिध्मात्युग्रकच्छून् शमयति सहसा श्लेष्मरोगानशेषान्॥१२॥

भावार्थः—आंवला, बहेडा, हरड, त्रिकटु, हलदी, चकोंदा, कोइल, नीम करंज भिलावा, पांचो लवण, इनको कांजी व छाछमें पीसकर अवलेपन करनेसे दद्रु, कंडू, किलास सिध्मारोग, उग्रकच्छू आदि अनेक श्लेष्म रोग उपशम होते है ॥ १२ ॥

धूमपानकवलधारणादि।

धूमैर्वा ग्रंथिहिंगुत्रिकटुककुनटीभव्यभार्ङ्गीनिशानां।
कल्केनालिप्तसूक्ष्मांबरधृतबृहदेरण्डवृंतांतदत्तैः॥
सिद्धार्थैस्सर्षपाख्यैर्मरिचमगधजानागरैश्शिग्रुमूलैः।
श्लेष्मोद्रेकप्रशांतिं व्रजति कवलगंडूषसेकप्रलेपैः॥ १३ ॥

भावार्थः—पीपलामूल, हींग, त्रिकटु, धनिया, कमरख, भार्ङ्गी, हलदी, इन के कल्कको पताले वस्त्र पर लेप करके, उस कपडे के बीचमें एक, एरण्डका डंटल रख कर उसको लपेट लेवें। इस वत्तीमें आग लगाकर, इसका धूमपान करनेसे, तथा सफेद सरसों, सरसों, कालीमिरच, पीपल, सोंठ सेंजनका जड इनके कवलधारण, गण्डूष, सेक, और लेपसे, कफप्रकोपका शमन होता है ॥ १३ ॥

एलादि चूर्ण।

एलात्वङ्नागपुष्पोषणकमगधजानागरं भागवृध्या।
संख्यातश्चूर्णितं तत्समसितसहितं श्रेष्ठमिष्टं कफघ्नम्॥
पित्तास्रपांडुरोगक्षयमदगुदजारोचकाजीर्णगुल्म-।
ग्रंथिश्वासोरुहिकाज्वरजठरमहाकासहृद्रोगनाशं॥ १४ ॥

भावार्थः—इलायची एकभाग, दालचीनी दो भाग, नागकेसर तीन भाग, पीपल चार भाग मिरच पांच भाग, सोंठ छह भाग, इनको इस क्रमसे लेकर चूर्णकरं सबके बराबर उसमें शक्कर मिलावें। इस चूर्ण के सेवनसे कफ रोग दूर होता है तथा पित्तरक्त, पांडुरोग, मद, क्षय, अरुचि, अजीर्ण, खांसी, हृदयरोग को यह चूर्ण नाश करता हैं। अतएव यह श्रेष्ट है ॥ १४ ॥

तालीसादि मोदक ।

तालीसंचैकभागं द्विगुणितमरिचं त्र्यंशशुंठीचतुर्भा- ।
गाढ्यं सतिप्पलीकं त्वगमेलबहुलं पंचभागप्रमाणं ॥
चूर्णं कृत्वा गुडेनामलकसमकृतान्मोदकान् भक्षयित्वा ।
कासोर्ध्वश्वासहिकाज्वरवमथुमदश्लेष्मरोगान्निहंति ॥ १५ ॥

भावार्थः—एक भाग तालीस, दो भाग मिरच, तीनभाग सोंठ, चार भाग पीपल, दालचीनी इलायची ये दोनों मिलकर पांचभाग लेकर किये हुए चूर्णमें गुड मिलाकर आंवलेके बराबर गोली बनावें(इसे तालीसादि मोदक कहते हैं) उस मोदकको भक्षण करनेसे खांसी, ऊर्ध्वश्वास, हिचकी ज्वर, वमन, मद, व श्लेष्म रोग नाश होते हैं॥ १५ ॥

कफनाशक गण ।

शार्ङ्गष्टानक्तमालाह्वयखदिरपलाशाजकर्णाजशृंगैः ।
पिप्पल्येलाहरिद्राद्वयकुटजवचाकुष्ठमुस्ताविडंगैः ॥
निर्गुंडीचित्रकारुष्करवरखरभूपार्जुनत्रैः फलाख्यै- ।
र्भूनिंबारग्वधाद्यैः कफशमनमवाप्नोति सर्वप्रकारैः ॥ १६ ॥

भावार्थः—काकजंघा, दोनों करंज, (करंज पुतीकरंज) खैर, पलाश, विजयसार, मेढसिंगी, पीपल, इलायची, हलदी, दारु हलदी, कूडाकी छाल, बच, कूट, नागरमोथा, वायुविडंग, निर्गुण्डी, चित्रक, भिलावा, मरवा, अर्जुन, त्रिफला, चिरायता, अमलतास ये सब औषधियां कफशमनको करनेवाली हैं । कुशल वैद्यको उचित हैं कि वह विकारोंके बला-बलको देखकर इन औषधियोंका सर्वप्रकार (क्वाथ चूर्ण आदि) से प्रयोगकर कफ रोगका उपशमन करना चाहिये ॥ १६ ॥

कफनाशक, औषधियों के समुच्चय ।

यत्तिक्तं यच्च रूक्षं यदपि च कटुकं यत्कषायं विशुष्कं ।
यत्क्षारं यच्च तीक्ष्णं यदपि च विशदं यल्लघुद्रव्यमुष्णं ॥
तत्तत्सर्वं कफघ्नं रसगुणमसकृत्सम्यगास्वाद्य सर्वं ।
योज्यं भोज्येषु दोषक्रममिममवगम्यातुराणां हितार्थम् ॥ १७ ॥

१ तुंगमपि बहुलं इति पाठांतरं । इसके अनुसार दालचीनी की जगह वंशलोचन ग्रहण करना चाहिये । लेकिन वंशलोचन बोधक तुगा शब्द है । तुग नहीं है । तुगशब्द से अन्य किसी औषधका बोध नहीं होता है । तथा तालीसादि चूर्णमें वंशलोचन आता है । वह कफ नाशक भी हैं । इसलिये इस को ग्रहण कर सकते हैं ।

भावार्थः—जो पदार्थ कडुआ है, रूक्ष है, चरपरा है, कषायला है, शुष्क है, क्षार है, तीक्ष्ण है, विशद है, लघु व उष्ण है, वे सर्व पदार्थ कफनाशक हैं। उन सर्व पदार्थोंके रस व गुण बार २ अच्छीतरह जानकर एवं रोगियोंके दोषक्रमको भी अच्छी-तरह जानकर उनके हितके लिये उन पदार्थोंको भोजनादिमें प्रयोग करना चाहिये ॥१७॥

वातनाशक गण ।

एरंडौ द्वे बृहत्यौ वरणकृतपवृक्षाग्निमंथाग्निशिग्रु- ।
ख्यातार्कालर्कतर्कार्यमरतरुमगूराख्यहुहृककवृक्षाः ॥
मूर्वाकोरंटपीलुस्नुहियुततिलकाख्तिल्वकाः कंचुकाख्याः ।
वर्षाभूपाटलीकाः पवनकृतरुजाः शांतिमापादयंति ॥ १८ ॥

भावार्थः—लाल व सफेद एरण्ड, [छोटी बडी] दोनों कटेली, वरना, आम-लतास, अगेथु, चित्रकका जड, सेंजन, अकौवा, सफेद अकौवा की छाल, पाडल, तर्कारी देवदारु, लटजीरा, टेंटु, मूर्वा, पीयावास, पीलु, सेहुण्ड, मरूआ, लोध, पतंग, पुनर्नवा ये सब वात विकारोंको उपशम करनेवाले हैं ॥ १८ ॥

वातघ्न औषधियोंके समुच्चयन ।

यत्तीक्ष्णं स्निग्धमुष्णं लवणमतिगुरुद्रव्यमत्यम्लयुक्तं ।
यत्सम्यक्पिच्छिलं यन्मधुरकटुकतिक्तादिभेदस्वभावम् ॥
तत्तद्वातघ्नमुक्तं रसगुणमधिगम्यातुरारोग्यहेतोः ।
पानाभ्यंगोपनाहाहृतियुतपरिषेकावगाहेषु योज्यं ॥ १९ ॥

भावार्थः—जो जो पदार्थ तीक्ष्ण हैं, स्निग्ध है, उष्ण है, खारा है, अत्यंत गुरु है, खट्टा है, पिच्छिल [लिबलिबाहट] है, मधुर है, चरपरा है, कडुआ आदि स्वभावोंसे युक्त है वह वातविकारको नाश करनेवाला है । पदार्थोंके रस व गुण को समझकर रोगि-योंके हित के लिये उन पदार्थोंका पान, अभ्यंग, पुल्टिष, आहार, सेक, अवगाहन, आदि क्रियावों में प्रयोग करना चाहिये ॥ १९ ॥

पित्तनाशक गण ।

बिंबीनिंबेंद्रपुष्पीमधुकससहविम्बादिदेवीविदारी ।
काकोलीवृश्चिकाल्यंजनकमधुकपुष्पैरुशीराम्रसारैः ॥
जंबूरंभाम्बुदाब्जाम्बुजवरनिचुलैश्चंदनैलासमेतै- ।
र्न्यग्रोधाश्वत्थवृक्षैः कुमुदकुवलयैः पित्तमायाति शांतिम् ॥ २० ॥

भावार्थः—कुंदुरु, नीम, लवंग, मुलैठी, सहदेवी, (वृक्ष) गंगेरन विदारीकंद, काकोली, वृश्चिकाली, रसोंत, महुवेका फूल, खस, आम्र, केला, नागरमोथा, सुगंधवाला, कमल, जलवेत, चंदन, इलायची, मंजिष्ठा, वट, अश्वत्थ, नीलकमल श्वेतकमल, इन पदार्थोंके प्रयोगसे पित्तका शमन होता है ॥ २० ॥

पित्तघ्न औषधियोंके समुच्चय ।

यत्स्निग्धं यच्च शीतं यदपि च मधुरं यत्कषायं सुतिक्तं ।
यत्साक्षात्पिच्छिलं यन्मृदुतरमधिकं यद्गुरुद्रव्यमुक्तम् ॥
तत्तत्पित्तघ्नमुक्तं रसगुणविधिना सम्यगास्वाद्य सर्वं ।
भोज्याभ्यंगप्रलेपप्रचुरतरपरीषेकनस्येषु योज्यम् ॥ २१ ॥

भावार्थः—जो जो पदार्थ स्निग्ध हैं, शीत हैं, मधुर है, कषायला है, तीखा है, चिकना है, मृदुतर है, गुरु है यह सब पित्तको उपशमन करनेवाले हैं। इसप्रकार रस व गुणोंको अच्छीतरह जानकर भोजन, अभ्यंग, लेपन, सेक, व नस्योंमें प्रयोग करना चाहिये ॥ २१ ॥

त्वगादि चूर्ण ।

त्वक्चैला पिप्पलीका मधुरतरतुगा शर्कराचातिशुभ्रा ।
याथासंख्यक्रमेण द्विगुणगुणयुता चूर्णितं सर्वमेतत् ॥
व्यामिश्रं भक्षयित्वा जयति नरवरो रक्तपित्तक्षयास्र- ।
स्तृष्णाश्वासोरुहिक्काज्वरमदकसनारोचकात्यंतदाहान् ॥ २२ ॥

भावार्थः—दालचीनी १ भाग, इलायची २ भाग, पीपल ४ भाग, वंशलोचन ८ भाग, शक्कर १६ भाग प्रमाण लेकर सुखाकर चूर्ण करें। फिर सबको मिलाकर खानेसे यह मनुष्य रक्तपित्त, क्षय, रक्त तृष्णा, श्वास, हिचकी, ज्वर, मद, खांसी, अरुचि व अत्यंत दाह आदि अनेक रोगोंको जीतलेता है ॥ २२ ॥

दोषोंके उपसंहार ।

एवं दोषत्रयाणामभिहितमखिलं संविधानस्वरूपं ।
श्लोकैःस्तोकैर्यथोक्तैरधिकृतमधिगम्यामयानप्रमेयान् ॥
तत्तत्सर्वं नियुज्य प्रशमयतु भिषग्दोषभेदानुभेद- ।
व्यामिश्राधिक्ययुक्त्या तदनुगुणलसद्भेषजानां प्रयोगैः ॥ २३ ॥

---

१. इसे व्यवहारमें सितोपलादि चूर्णके नामसे कहते हैं।

भावार्थः—इस प्रकार, तीनों दोषों के प्रकोप के कारण, कुपित होनेपर प्रकट होनेवाले लक्षण, और उसके प्रशमन उपाय, आदि सर्व विषय थोडे ही श्लोकों द्वारा, अर्थात् संक्षेप से, निरूपण किया गया है । कठिनतासे जानने योग्य इन रोगों के स्वरूप भेद आदि को अच्छीतरह जानकर, वैद्यको उचित है कि, दोषोंके भेद, अनुभेद, व्यामिश्र भेद, आधिक्य अनाधिक्य इत्यादि अवस्थाओंपर ध्यान देते हुए उनके अनुरूप श्रेष्ठ औषधियों का युक्ति पूर्वक प्रयोगकर के रोगोंको उपशमन करें ॥ २३ ॥

लघुताप्रदर्शन.

द्रव्याण्येतान्यचिंत्यान्यगणितरसवीर्यप्रपाकप्रभावा- ।
न्युक्तान्यन्यान्यनुक्तान्यधिकतरगुणान्यद्भुतान्यल्पशास्त्रे ॥
वक्तुं शक्नोति नान्यस्त्रिभुवनभवनाभ्यंतरानेकवस्तु- ।
ग्राहिज्ञानैकचक्षुस्सकलविदपि मोमुह्यते मद्विधः किम् ॥ २४ ॥

भावार्थः—अभीतक जो औषधियों के वर्णन किये गये हैं वे अचिंत्य हैं, अगणित रस वीर्य विपाक प्रभावोंसे संयुक्त हैं । लेकिन अधिक व अद्भुत गुणयुक्त, और भी अनेक औषध मौजूद हैं जिनके वर्णन यहां नहीं किया है । क्यों कि अगणित शक्तिके धारक, असंख्यात अनंत द्रव्योंका कथन इस अल्पशास्त्र में कैसा किया जासकता है । इस तीनलोक के अंदर रहनेवाले अनेक वस्तुओंको जानने में जिन का ज्ञान समर्थ है, इसीलिये सर्वविद् हैं ऐसे वैद्यों के कथन में भी औषधद्रव्य अपूर्ण रहजाते हैं तो फिर मुझ सरीखों की क्या बात ? ॥ २४ ॥

चिकित्सासूत्र ।

दोषान्विचार्य गुणदोषविशेषयुक्त्या । सद्भेषजान्यपि महामयलक्षणानि ॥
योग्यौषधैः प्रतिविधाय भिषग्विपश्चि- द्रोगान् जयत्यखिलरोगबलप्रमाथी ॥२५॥

भावार्थः—सम्पूर्ण रोगरूपी सैन्य को मारने में समर्थ विद्वान् वैद्य, दोषों के विषय में विचार करते हुए, अर्थात् किस दोषसे रोगकी उत्पत्ति हुई है, कोनसा प्रबल है अबल है आदि बातोंपर ध्यान देते हुए श्रेष्ठ भेषजोंके गुणदोषोंको युक्तिपूर्वक समझकर तथा महारोगोंके लक्षणों को भी जानकर योग्य औषधियोंद्वारा चिकित्सा करके रोगों को जीतता है अथवा जीतना चाहिये ॥ २५ ॥

औषधि का यथालाभ प्रयोग ।

सर्वैरेतैः प्रोक्तसद्भेषजैर्वाप्यर्धैरर्धैर्वा यथालाभतो वा ।
योग्यैर्योगैः प्रत्यनीकैः प्रयोगैः रोगाञ्छाम्यंस्त्यद्वितीयैरयोघैः ॥ २६ ॥

भावार्थः—जो तत्तद्रोगनाशक, औषधगण, (अभीतक कहे हैं) वे स्वकार्य करने में अद्वितीय हैं व अमोघ हैं इसीलिये योग्य योग हैं। अतएव सर्व औषधियों द्वारा, यदि गणोक्त सम्पूर्ण औषधियां न मिले तो आधा, वा उसके आधा, अततो जितने मिले उतनीसी ही औषधियोंसे चिकित्सा करें तो रोग अवश्य शमन होते हैं ॥ २६ ॥

साध्यासाध्य रोगोंके विषय में वैद्यका कर्तव्य।

साध्यान्व्याधीन् साधयेदौषधाद्यैः ।
याप्यान् व्याधीन् यापयेत्कर्मभेदैः ॥
दुर्विज्ञेयान् दुश्चिकित्स्यानसाध्या-
न्मुक्त्वा वैद्यो वर्जयेद्दुर्जनीयान् ॥ २७ ॥

भावार्थः—साध्य रोगोंको औषधादिक प्रयोगसे साधन करना चाहिये। याप्य-रोगोंको कुशल क्रियावोंके द्वारा याप्य करना चाहिये। दुर्विज्ञेय व दुश्चिकित्स्य ऐसे असाध्य रोगोंको असाध्य समझकर व कहकर छोडना चाहिये ॥ २७ ॥

अंतिम कथन।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ २८ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथ में जगतका एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ २९ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे श्लेष्मव्याधिचिकित्सितं नामादितो दशमः परिच्छेदः।

—:o:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित
भावार्थदीपिका टीका में कफरोगाधिकार नामक
दशम परिच्छेद समाप्त हुआ।

—o—

अथैकादशः परिच्छेद.

महामयाधिकारः ।

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा.

श्रियामधीशं परमेश्वरं जिनं । प्रमाणनिक्षेपनयप्रवादिनम् ॥
प्रणम्य सर्वामयलक्षणैस्सह । प्रवक्ष्यते सिद्धचिकित्सितं क्रमात् ॥ १ ॥

भावार्थः—अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीके स्वामी, परमैश्वर्यसे युक्त, प्रमाण, नय व निक्षेप के द्वारा वस्तुतत्वको कथन करनेवाले श्री जिनेंद्रभगवानको प्रणाम करके क्रमशः समस्त रोगोंके लक्षणों के साथ सिद्ध चिकित्सा का वर्णन भी किया जायगा ॥ १ ॥

प्रतिज्ञा

न कश्चिदप्यस्ति विकारसंभवो । विना समस्तैरिह दोषकारणैः ॥
तथापि नामाकृतिलक्षणेक्षितानशेषरोगान्सचिकित्सितान् ब्रुवे ॥ २ ॥

भावार्थः—वात पित्त कफ, इस प्रकार तीन दोषोंके बिना कोई विकार [रोग] की उत्पत्ति होनेकी संभावना नहीं। फिर भी रोगोंके नाम, आकृति, लक्षण, आदिकोंको कथन करते हुए, तत्तद्रोगोंकी चिकित्सा भी कहेंगे ॥ २ ॥

वर्णनाक्रम

महामयानादित एव लक्षणै-स्सरिष्टवर्गैरपि तत्क्रियाक्रमैः ।
ततः परं क्षुद्ररुजागणानथ । ब्रवीमि शालाक्यविषौषधैस्सह ॥ ३ ॥

भावार्थः—सबसे पहिले महारोग उनके लक्षण, मरणसूचक चिन्ह, व उनकी चिकित्सा भी क्रमसे कहेंगे। तदनंतर क्षुद्ररोग समुदायोंका, शालाक्यतंत्र व अगदतंत्र का वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥

महामय संज्ञा ।

महामया इत्यखिलामयाधिकाः । प्रमेहकुष्ठोदरदुष्टवातजः ॥
समूढगर्भ गुदजांकुराश्मरी । भगंदरं चाहुरशेषवेदिनः ॥ ४ ॥

भावार्थः—सब विषयको जाननेवाले [सर्वज्ञ] प्रमेह, कुष्ठ, उदररोग, वातव्याधि, मूढगर्भ, बवासीर, अश्मरी, भगंदर, इनको महारोग कहते हैं ॥ ४ ॥

महामय वर्णनक्रम ।

महामयानामखिलां क्रियां ब्रुवे । यथाक्रमाल्लक्षणतच्चिकित्सितैः ।
असाध्यसाध्यादिकरोगसंभवप्रधानसत्कारणवारणादिभिः ॥ ५ ॥

भावार्थ---उन महारोगोंकी संपूर्ण चिकित्सा, क्रमसे लक्षण, साध्यासाध्य विचार रोगोत्पत्ति के प्रधान कारण, रोगोत्पत्ति से रोकने के उपाय, आदियोंके साथ निरूपण करेंगे ॥ ५ ॥

अथ प्रमेहाधिकारः ।

प्रमेह निदान ।

गुरुद्रवस्निग्धहिमातिभोजनं । दिवातिनिद्रालुतया श्रमालसं ॥
नरं प्रमेही हि भविष्यतीरितं । विनिर्दिशेदाशु विशेषलक्षणैः ॥ ६ ॥

भावार्थः---गुरु, द्रव्य, स्निग्ध, व ठंडा भोजन अधिक करनेसे, दिनमें अधिक निद्रा लेनेसे, श्रम न करने से, आलस्य करनेसे प्रमेह रोग उत्पन्न होता है। लक्षणोंके प्रकट होनेपर उन्हे देखकर प्रमेह रोग है ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ६ ॥

प्रमेहका पूर्वरूप ।

स्वपाणिपादांगविदाहता तृषा । शरीरसुस्निग्धतयातिचिक्कणम् ॥
सुखातिमाधुर्यमिहातिभोजनम् । प्रमेहरूपाणि भवंति पूर्वतः ॥ ७ ॥

भावार्थः---अपने हाथ पैर व अंग में दाह उत्पन्न होना, अधिक प्यास लगना, शरीर स्निग्ध व अतिचिकना होना, मुख अत्यंत मीठा होना, अधिक भोजन करना, यह सब प्रमेह रोगके पूर्वरूप हैं ॥ ७ ॥

प्रमेहकी संप्राप्ति.

अथ प्रवृद्धाः कफपित्तमारुतास्समेदसो बस्तिगताः प्रपाकिनः ॥
प्रमेहरोगान् जनयंन्त्यथाविल- । प्रभूतमूत्रं बहुशस्स्रुवंति ते ॥ ८ ॥

भावार्थः---प्रकुपित कफ पित्त व वात मेदके साथ २ बस्ति में जाकर जब परिपाक होते हैं तब प्रमेह रोगको उत्पन्न करते हैं। इससे गंदला मूत्र अधिक प्रमाण से निकलने लगता है यही प्रमेह का मुख्य लक्षण है ॥ ८ ॥

प्रमेह विविध है ।

इह प्रमेहा विविधा त्रिदोषजा- स्स्वदोषभेदात् गुणमुख्यभावतः ॥
त एव सर्वे निजदुर्जया मताः । नटा इवानेकरसस्वभाविनः ॥ ९ ॥

भावार्थः—यह प्रमेह, वात, पित्त, कफ, इन दोषोंसे, उत्पन्न होने पर भी दोषभेद, व दोषों के गौण मुख्य भेद के कारण, अनेक प्रकारका होता है। जैसे, नाटक में एक ही वेषधारी, अनेक रस व स्वभाव में मग्न रहता है वैसे ही यह प्रमेह अनेक प्रकारका होता है। सम्पूर्ण प्रमेह, स्वभाव से ही दुर्जय होते हैं॥ ९ ॥

प्रमेहका लक्षण।

स पूर्वरूपेषु बहूदकं यदा । स्रवेत्प्रमेहीति विनिर्दिशेत्तरं ॥
प्रमीढ इत्येव भवेत्प्रमेहवान् । मधुप्रमेही पिटकाभिरन्वितः ॥१०॥

भावार्थः—जब पूर्वरूप प्रकट होते हुए यदि अधिक मूत्र को विसर्जन करने लगेगा तब उसे प्रमेह रोग कहना चाहिए। प्रमेहवान् को प्रमीढ ऐसा कहते हैं। यदि प्रमेहकी चिकित्सा शीघ्र नहीं की जावे तो, वही कालांतरमें मधुमेहके रूपको धारण कर लेता है। इसलिए रोगी मधुमेही कहलाता है एवं प्रमेहपिटिका (फुंशी) से युक्त होता है ॥ १० ॥

दशविध प्रमेहपिटकाः।

शराविका सर्षपिका सजालिनी । सपुत्रिणी कच्छपिका मसूरिका ॥
विदारिका विद्रधिकालजी मता । प्रमेहिणां स्युः पिटका दशैव ताः ॥११॥

भावार्थः—शराविका, सर्षपिका, जालिनी, पुत्रिणी, कच्छपिका, मसूरिका, विदारिका, विद्रधिका, अलजी, विनता, इस प्रकार वह प्रमेहपिटक दश प्रकारके हैं॥११॥

शराविकालक्षण।

समेचका क्लेदयुतातिवेदना । सनिम्नमध्योन्नततोष्ठसंयुता ॥
शरावसंस्थानवरप्रमाणता । शराविकेति प्रतिपाद्यते बुधैः ॥ १२ ॥

भावार्थः—वह पिटक अनेक वर्ण व स्राव युक्त हो, अतिवेदना युक्त हो उसका मध्यभाग नीचा व. किनारा ऊंचा होकर सरावेके आकार में हो तो उसको विद्वान् लोग शराविका कहते हैं ॥ १२ ॥

सर्षपिका लक्षण।

सशीघ्रपाका महती सवेदना । ससर्षपाकारसमप्रमाणता ॥
सुसूक्ष्मका स्वल्पघना द्विधा च सा । प्रभाषिता सर्षपिका विदग्धकैः॥१३॥

भावार्थः—जल्दी पकनेवाला, अतिवेदनासे युक्त, सरसोंके आकार के बराबर होता हो, छोटे २ हो, ऐसे पिटकोंको विद्वान् लोग सर्षपिका कहते हैं॥ १३ ॥

जालिनी लक्षण ।

समांसनाडीचयजालकावृता । महाशयात्यर्तिसतोदनान्विता ॥
सुस्निग्धसंस्राविसमूक्ष्मरंध्रका । स्तव्धा सजालिन्यपि कीर्त्यते ततः ॥

भावार्थः—जो मांस व नाडीसमूह के जालेसे आवृत हो, बडा हो, अत्यंत पीडा व तोदनसे युक्त हो, स्निग्ध हो, जिससे स्राव होता हो, सूक्ष्मरंध्रोंसे युक्त हो, स्तब्ध हो उसको जालिनी पिटक कहते हैं ॥ १४ ॥

पुत्रिणी, कच्छपिका, मसूरिका लक्षण ।

ससूक्ष्मकाभिः पिटकाभिरन्विता । प्रवक्ष्यते सा महती सपुत्रिणी ।
महासमूलातिघनार्तिसंयुता । सकच्छपापृष्ठनिभातितोदना ॥ १५ ॥
सदापि संश्लक्ष्णगुणातिखेदना । निगद्यते कच्छपिकापि पण्डितैः ।
मसूरकाकारवरप्रमाणा मनाक् सतोदा च मसूरिकोक्ता ॥ १६ ॥

भावार्थः—सूक्ष्मपिटक युक्त हो व बडी हो उसे पुत्रिणी कहते हैं। एवं मूलमें जो बडी हो, बडे भारी पीडासे युक्त हो, कछुवेके पीठके समान आकारवाली हो, अति तोदनसे युक्त हो, चिकनी हो, अत्यंत खेद उत्पन्न करनेवाली हो उसे विद्वान् लोग कच्छपिका कहते हैं। मसूरके आकारसे युक्त व तोदनसे सहित पिटकको मसूरिका कहते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

विदारी, विद्रधि, विनताका लक्षण ।

विदारिका कंदकठोरवृत्तता । विदारिका वेदनया समन्विता ।
सविद्रधिः पंचविधः प्रकल्पितः । समस्तदोषैरपि कारितैः पुरा ॥१७॥
सवर्णकः शीघ्रविदाहितायास्सविद्रधिश्चेद्विविधो मयोदितः ।
उन्नम्य तीव्रैर्दहति त्वचं सा स्फोटैर्वृता कृष्णतरातिरक्ता ॥ १८ ॥
तृष्णामोहसंजूर्तिकरी सदाहा भूयिष्ठकष्टाप्यलजी समुक्ता ।
पृष्ठोदराद्यन्यतरप्रसिद्धाधिस्थानभूता महती सतोदा ॥ १९ ॥
गाढातिरुक्क्लेदयुता सनीला । संकल्पितेयं विनता विराजिता ॥
त्रिदोषजास्सर्वगुणास्समस्ता – स्त्रिदोषलक्ष्मांकितवर्णयुक्ता ॥ २० ॥

भावार्थः—विदारिका कंदके समान कठोर व गोल जो रहती है उसे विदारिका कहते हैं। समस्त दोषोंसे उत्पन्न, वेदनासे युक्त विद्रधि पांच प्रकारसे विभक्त है। फिर

१. भेदना

भी मुख्य रूपसे यहां सवर्णक व शीघ्रविदाहिके भेदसे दो ही प्रकारसे वर्णन किया है। उठती हुई जो त्वचामें खूब दाह उत्पन्न करती हो, फफोलेंसे युक्त हो, जिसका वर्ण काला व लाल हो, तृषा व मोह दाह को करती हों जो अत्यंत कष्टमय हो उसे अलजी कहते हैं। पृष्ठ उदरस्थानोमें से किसी एक स्थानमें होकर उत्पन्न, अत्यंत तोदनसे(सुई चुभने जैसी पीडा) युक्त, पीडा व गाढ स्राव से युक्त नीलवर्णवाली, इसे विनता कहते हैं। तीन दोषोंसे पिटिकाओंकी उत्पत्ति होती हैं। इसलिये इसमें तीनों दोषोंमें कहे गये लक्षण गुण, आदि पाये जाते हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

पिटिकाओंके अन्वर्थ नाम।

शराविकाद्याः प्रथितार्थनामकास्सविद्रधिश्चापि भवेत्सविद्रधिः ॥
सरक्तविस्फोटवृतालजी मता–प्युपद्रवान् दोषकृतान् ब्रवीम्यहम् ॥ २१ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त शराविका आदि पिटिकायें अन्वर्थ नामोंसे युक्त हैं। अर्थात् नामके अनुसार आकृति गुण आदि पाये जाते हैं। जैसे कि जो विद्रधि के समान है, उसका नाम विद्रधि हैं। तथा, जो लाल स्फोटों [फफोले जैसे] से युक्त हो उस का नाम अलजी है। अब हम दोषोंसे उत्पन्न उपद्रवोंको कहते हैं ॥ २१ ॥

कफप्रमेहका उपद्रव।

अरोचकाजीर्णकफप्रसेकता–प्रपीनसालस्यमथातिनिद्राः ॥
समक्षिकासर्पणमास्यपिच्छिलं। कफप्रमेहेषु भवंत्युपद्रवाः ॥ २२ ॥

अर्थः—अरुचि, अजीर्ण, कफगिरना, पीनस (नाकके रोगविशेष) आलस्य, अतिनिद्रा, रोगीके ऊपर मक्खी बैठना, मुखमें लिबलिबाहट होना, इत्यादि कफज प्रमेहमें उपद्रव होते हैं ॥ २२ ॥

पैत्तिक प्रमेहके उपद्रव।

समेद्रमुष्कक्षतवस्तितोदनं। विदाहकृच्छूलपिपासिकाम्लिकम्॥
ज्वरातिमूर्च्छामदपाण्डुरोगताः। सपित्तमेहेषु भवंत्युपद्रवाः ॥ २३ ॥

भावार्थः—लिंग, अण्डकोश में जखम होना व बस्तिस्थान (मूत्राशय) में दर्द को करनेवाले शूल अर्थात् पैत्तिक शूल होना, विदाह, पिपासा, (प्यास) मुखमें खट्टा मालुम होना, ज्वर, मूर्छा, मद, पाण्डुरोग, ये सब पित्तप्रमेहमें होनेवाले उपद्रव हैं ॥ २३ ॥

वातिकप्रमेहके उपद्रव।

सहृद्ग्रहं लौल्यमनिद्रया सह। प्रकम्पशूलातिपुरीषबंधनम् ।
प्रकासहिक्काश्वसनास्यशोषणं। सवातमेहेषु भवंत्युपद्रवाः ॥ २४ ॥

भावार्थः—हृदयका ग्राह (कोई पकडकर खींचता हो ऐसे मालूम होना) इंद्रियोंके विषयमें लोलुपता होना, निद्रा नहीं आना, शरीरमें कंप (कांपना) अतिशूल, मलावरोध, खांसी, हिचकी, श्वास होना, मुखके सूखना, ये सब वातप्रमेहमें होनेवाले उपद्रव हैं ॥ २४ ॥

प्रमेहका असाध्य लक्षण।

वसाघृतक्षौद्रनिभं स्रवंति ये । मदांधगंधेभजलप्रवाहवत् ॥
सृजंति ये मूत्रमजस्रमाविलं । समन्विता ये कथितैरुपद्रवैः ॥ २५ ॥
गुदांसहृत्पृष्ठशिरोगलोदरस्वमर्मजाभिः पिटकाभिरन्विताः ॥
पिबंति ये स्वप्नगतास्तरंति ये नदीसमुद्रादिषु तोयमायतम् ॥२६॥
यथोक्तदोषानुगतैरुपद्रवैः स्समन्विता ये मधुवत्क्षरंत्यपि ॥
विशीर्णगात्रा मनुजाः प्रमेहिणोऽचिरान्म्रियंते न च तानुपाचरेत् ॥२७॥

भावार्थः—वसा, घृत, मधुके समान व मदोन्मत्त हाथीके गण्डस्थलसे स्राव होनेवाले मदजलके समान जिनका गंदला मूत्र सदा बह रहा हो एवं उपर्युक्त उपद्रवोंसे सहित हो, गुदा,अंस (कंधा) हृदय, पीठ, शिर, कंठ, पेट, व मर्मस्थानमें जिनको पिटिकायें उत्पन्न हुई हों, एवं स्वप्नमें नदी समुद्र इत्यादिको तैरते हों या उनका पानी पीते हों, पूर्वोक्त दोषानुसार उपद्रवोंसे युक्त हों, मधुके समान मूत्र भी निकलता हो, जिनका शरीर अत्यंत शीर्ण (शिथिल) हो चुका हो ऐसे प्रमेही रोगी जल्दी मरजाते है। उनकी चिकित्सा करना व्यर्थ है ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

प्रमेहचिकित्सा।

सदा त्रिदोषाकृतिलक्षणेक्षित–प्रमेहरूपाण्यधिगम्य यत्नतः ॥
भिषक्त्वदुद्रेकवशादशेषवित् क्रियां विदध्यादखिलप्रमेहिणां ॥ २८ ॥

भावार्थः—सर्व विषयको जानने वाले, वैद्यको उचित है कि वह उपर्युक्त प्रकारसे त्रिदोषोंसे उत्पन्न प्रमेहका लक्षण व आकारको दोषोद्रेकके अनुसार, प्रयत्नपूर्वक जानकर, संपूर्ण प्रमेहियोंकी चिकित्सा करें ॥ २० ॥

कर्षणबृंहण चिकित्सा।

कृशस्तथा स्थूल इति प्रमेहिणौ । स्वजन्मतोऽपथ्यनिमित्ततोऽपि यौ ॥
तयोः कृशस्याधिकपुष्टिवर्धनैः । क्रियां प्रकुर्यादपरस्य कर्षणैः ॥ २९ ॥

भावार्थः—जन्मसे अथवा अपथ्यके सेवनसे प्रमेहके रोगी दो प्रकार के होते हैं। एक कृश (पतला) दूसरा स्थूल [मोटा]। उनमें कृशको पुष्टि देनेवाले

औषधियोंसे पुष्ट, व स्थूलको कर्षण (पतला करनेवाले) प्रयोगसे कृश करना चाहिये ॥ २९ ॥

प्रमेहियोंके लिये पथ्यापथ्य ।

सुरासवारिष्टपयोघृताम्लिका । प्रभूतमिष्टान्नदधीक्षुभक्षणम् ।
विवर्जयेन्मांसमपि प्रमेहवान् । विरूक्षणाहारपरो नरो भवेत् ॥ ३० ॥

भावार्थः—प्रमेही रोगी मद्य, आसवारिष्ट, दूध, घी, इमली, (अम्ल खट्टे पदार्थ) मिष्टान्न, दही, ईख, मांस आदि आहारको छोडकर रूक्षाहार को लेवें ॥ ३० ॥

प्रमेहीके वमन विरेचन ।

तिलातसीसर्षपतैलभावितं- स्वदेहमेहातुरमाशु वामयेत् ।
सनिंबतोयैर्मदनोद्भवैः फलै- र्विरेचयेच्चापि विरेचनौषधैः ॥ ३१ ॥

भावार्थः—प्रमेही रोगीके शरीरको तिल, अलसी व सरसोंके तेलसे स्नेहित (स्नेहनक्रिया) करके नीमका रस व मेनफल के कषाय से वमन कराना चाहिये । एवं विरेचन औषधियोंद्वारा विरेचन कराना चाहिये ॥ ३१ ॥

निरूहबस्ति प्रयोग ।

विरेचनानंतरमेव तं नरं । निरूहयेच्चापि निरूहणौषधैः ।
गवांबुयुक्तैस्तिलतैलमिश्रितै – स्ततो विशुद्धांगममीभिराचरेत् ॥ ३२ ॥

भावार्थः—विरेचनके अनंतर गोमूत्र व तिलतैलसे मिश्रित निरूहण औषधियोंके द्वारा निरूह बस्ति देनी चाहिये । उसके बाद उस शुद्ध अंगवालेको निम्नलिखित पदार्थोंसे उपचार करें ॥ ३२ ॥

प्रमेहियोंकेलिये भोज्यपदार्थ ।

प्रियंगुकोद्दालकशालिपिष्टकैः । सकंगुगोधूमयवान्नभोजनैः ।
कषायतिक्तैः कटुकैस्सहाढकी – कलायमुद्गैरपि भोजयेद्भिषक् ॥ ३३ ॥

भावार्थः—प्रियंगु [फूलप्रियंगु] जंगली कोद्रव, शालिधानका आटा, कांगुनी धान, गेहूं, जौं तथा कषायले, चरपरे कडुवे पदार्थोंके साथ एवं अरहर, मटर व मूंग का उसे भोजन कराना चाहिये ॥ ३३ ॥

आमलकारिष्ट ।

निशां विचूर्ण्यामलकांबुमिश्रितां । घटे निषिक्तं ह्यपिधाय संस्कृतं ॥
सप्ताहमन्यत्कुपे निहितं यथाबलं निहंति मेहान् क्रमतो निषेवितम् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—हल्दीको अच्छीतरह पीसकर आंवले के रस या काढेमें मिलावे। फिर उसे एक धूप आदि से संस्कृत घडेमें डालकर उसका मुंह अच्छी तरह बांधे। फिर धानसे भरे हुए, गड्ढेमें [एक महिनेतक] रखें। फिर वहां अच्छीतरह संस्कृत होनेके बाद निकालकर प्रमेहीको सेवन करावें तो प्रमेह रोग दूर हो जाता है॥ ३४ ॥

निशादिक्काथ।

निशां सुमुस्तात्रिफलां सुरेंधनम्। विपच्य निष्काथमिह प्रयत्नतः।
प्रपाय नित्यं कफमेहमागम- प्रणीतमार्गाद्विजितेंद्रियो जयेत्॥ ३५ ॥

भावार्थः—जिसने आगमोक्त मार्गसे, इन्द्रियोंको जीत लिया है ऐसे प्रमेह रोगीको हलदी, नागरमोथा, त्रिफला, देवदारु इनसे बनाये हुए कषायको सदा पिलाकर कफप्रमेहको जीतना चाहिये॥ ३५ ॥

चंदनादि क्वाथ।

सचंदनेंद्राशनतिंदुकद्रुमैः। क्षरत्पयोवृक्षगणैः फलत्रयैः।
कृतं कषायं घनकल्कमिश्रितं स पाययेत्पैत्तिकमेहजातकान्॥ ३६ ॥

भावार्थः—चंदन, जायफल, इंद्र, असन, तेंदुवृक्ष, पंच क्षीरीवृक्ष [वड, गूलर, पीपल, पाखर, शिरीष] त्रिफला इनसे बनाये हुए कषायमें नागरमोथाका कल्क मिलाकर पिलानेसे पैत्तिक प्रमेह दूर होता है॥ ३६ ॥

कपित्थादि क्वाथ।

कपित्थबिल्वासनधावनीनिशा। हरीतकाक्षामलकार्जुनांघ्रिपैः।
श्रितं कषायं प्रपिबेत् जितेंद्रियो। जयेत्प्रमेहानखिलानुपद्रवैः॥ ३७ ॥

भावार्थ—कैथ, बेल, विजयसार, पिठवन, हलदी, हरडा, बहेडा, आंवला, और अर्जुनवृक्ष की छालसे बनाये हुए कषायको पीनेसे जितेंद्रिय रोगी प्रमेहरोगको उपद्रवके साथ २ जीत लेता है॥ ३७ ॥

खर आदिके मलोपयोग।

खरोष्ट्रगोमाहिषवाजिनां शकृ- द्रसेन संमिश्रितपिष्टभक्षणैः॥
तथैव तद्भस्मविगालितोदक- प्रपानभोजैर्जयति प्रमेहवान्॥ ३८ ॥

भावार्थः—गधा, ऊंठ, गाय, भैंस, घोडा, इनके मलरससे मिश्रित शालि गेंहू आदि के आटे को खानेसे; एवं उसी मलको जलाकर बनाये हुए भस्मसे छने हुए जलको पान, भोजन में उपयोग करनेपर प्रमेह रोग दूर होता है॥ ३८ ॥

त्रिफला क्वाथ ।

फलत्रिकक्वाथघृतं शिलाजतु । प्रपाय मेहानखिलानशेषतः ॥
जयेत्प्रमेहान् सकलोपद्रवैः । सह प्रतीतान् पिटकाभिरन्वितान् ॥३९॥

भावार्थः—त्रिफला, घी, शिलाजीत इनका क्वाथ बनाकर पिलावे तो अनेक उपद्रवोंसे सहित एवं प्रमेह पिटकोंसे युक्त सर्वप्रमेह रोगको भी पूर्णरूपेण जीत लेता है ॥ ३९ ॥

प्रमेहीके लिए विहार ।

सदा श्रमाभ्यासपरो नरो भवेदशेषमेहानपहर्तुमिच्छया ।
गजाश्वरोहैरखिलायुधक्रम–क्रियाविशेषैः परिधावनादिभिः ॥ ४० ॥

भावार्थः—प्रमेहरोगको नाश करने के लिए मनुष्य सदाकाल परिश्रम करनेका अभ्यास करें । हाथी पर चढना, घोडेपर चढना, आयुध लाठी वगैरह चलाना व दौडना आदि क्रिया विशेषोंसे, श्रम होता है । इसलिये प्रमेहीको ऐसी क्रियावोंमें प्रवृत्त होना चाहिये ॥ ४० ॥

कुलीनको प्रमेहजयार्थ क्रियाविशेष ।

कुलीनमार्तं धनहीनमद्भुतं । प्रमेहिनं साधु वदेदतिक्रमात् ।
मडंबघोषाकरखर्वटादिकान् । विहृत्य नित्यं व्रज तीर्थयात्रया ॥४१॥

भावार्थः—जिसका रोग कृच्छ्रसाध्य है ऐसा प्रमेही यदि कुलीन हो एवं धन-हीन हो तो उसे ग्राम नगरादिकको छोडकर पैदल तीर्थयात्रा करनेके लिये कहें जिससे उसे श्रम होता है ॥ ४१ ॥

प्रमेहजयार्थ नीचकुलोत्पन्न का क्रियाविशेष ।

कुलेतरः कूपतटाकवापिकाः । खनेत्तथा गां परिपालयेत्सदा ।
दिवैकवेलाप्रगृहीतभैक्षशु– ग्जलं पिबेद्गोगणपानमालितम् ॥ ४२ ॥

भावार्थः—नीचकुलोत्पन्न एवं निर्धन प्रमेही कुआ, तालाब आदिको खोदें, एवं उसे गाय भैंस आदिको चरानेके लिये कहें । भिक्षावृत्ति से प्राप्त भोजन को दिनमें एक दफे खाना चाहिये । तथा गायोंको पीने लायक ऐसा पानी पीना चाहिये ॥ ४२ ॥

पिटिकोत्पत्ति ।

यथोक्तमार्गाचरणौषधादिभिः । क्रियाविहीनस्य नरस्य दुस्सहाः ।
अधःशरीरे विविधा विशेषतो । भवन्त्यथोक्ताः पिटिकाः प्रमेहिणः ॥४३॥

भावार्थः—उपरोक्त प्रकारसे आहार, विहार, औषध आदि द्वारा प्रमेह रोगीकी चिकित्सा न की जावें तो उसके शरीरके नीचले भाग में नाना प्रकारकी दुस्सह, पूर्वकथित पिटिकायें निकलती हैं ॥ ४३ ॥

प्रमेहपिटिका चिकित्सा।

अतस्तु तासां प्रथमं जलायुका – निपातनाच्छोणितमोक्षणं हितम् ।
विरेचनं चापि सुतीक्ष्णमाचरेन्मधुप्रमेही खलु दुर्विरिच्यते ॥ ४४ ॥

भावार्थः—इसलिए सबसे पहिले हितकर है कि उन पिटकोंके ऊपर जोंक लगाकर रक्तमोक्षण करना चाहिए उसके बाद तीक्ष्ण विरेचन कराना चाहिए । मधुप्रमेहीको विरेचन कष्टसे होता है ॥ ४४ ॥

विलयन पाचन योग।

सुसर्षपं मूलकबीजसंयुतं । स सैंधवोष्णमधुशिग्रुणा सह ॥
कटुत्रिकोष्णाखिलभेषजान्यपि । प्रपाचनान्यामविलायनानि च ॥ ४५ ॥

दारणशोधनरोपणाक्रिया।

प्रपीडनालेपनबंधनादिकान् । क्रियाविशेषानभिभूय यद्बलात् ॥
स्वयं प्रपक्काः पिटिका भिषग्वरो । विदार्य संशोधनरोपणैर्जयेत् ॥४६॥

भावार्थः—पाचन करनेवाले एवं आम विकारको नष्ट करनेवाले सरसों, मूलीका बीज, सैंधालवण, सेंजन व त्रिकटु इन औषधियोंसे पीडन, आलेपन, बंधन आदि क्रियाओंको करनी चाहिए, जिससे वह पिटक स्वयं पक जाते हैं। जब वैद्यको उचित है कि उसका विदारण [चीरना] करें। तदनंतर उस व्रणको स्वच्छ रखनेवाली औषधियोंसे संशोधन कर, फिर व्रण भरकर आने योग्य औषधियोंसे भरनेका प्रयत्न करें ॥ ४५-४६ ॥

शोधन औषधियां।

करंजकाजीरनिशासशारिवाः । सनिंबपाठाकटुरोहिणींगुदी ॥
सराजवृक्षेंद्रयवेंद्रवारुणी पटोलजातीव्रणशोधने हिताः ॥ ४७ ॥

भावार्थः—कारंज, जीरा, हलदी, सारिव, नीम पाठा, कुटकी, इंगुद, अमलतास, इद्रजौ, इंद्रायन; जंगली परवल, चमेली, ये सब व्रणशोधन (पीप आदि निकालकर शुद्धि करने) में हितकर औषधियां हैं ॥ ४७ ॥

रोपण औषधियां।

तिलाः सलोध्रा मधुकार्जुनत्वचः । पलाशदुग्धांघ्रिपसूतपल्लवाः ।
कदंबजम्ब्वाम्रकपित्थतिंदुकाः । समंग एते व्रणरोपणे हिताः ॥ ४८ ॥

भावार्थः—तिल, लोध, मुलैठी, अर्जुनवृक्षकी छाल, पलाश [ढाक] क्षीरीवृक्ष [वड, गूलर, पीपल, पाखर, शिरीष] के कोंपल, कदंब, जामुन, आम, कैथ, तेंदु, मंजिष्ठा, ये सब औषधियां व्रणरोपण (भरने) में हितकर हैं ॥ ४८ ॥

रोपण वर्त्तिका।

सवज्रवृक्षार्ककुरंटकोद्भवैः । पयोभिरात्तैस्सकरंजलांगलैः ।
ससैंधवांकोलशिलान्वितैः कृता । निहंति वर्तिर्व्रणदुष्टनाडिकाः ॥४९॥

भावार्थ—दुष्ट नाडीव्रणमें थोहर, अकौआ, कुरंटवृक्ष, इनके दूध व करंज, कलिहारी सेंधानमक, अंकोल, मेनशिल इनसे बनाई हुई बत्ती को व्रणपर रखनेसे, दुष्टव्रण, नाडीव्रण आदि नाश होते हैं अर्थात् रोपण होते हैं। ॥ ४९ ॥

सद्योव्रण चिकित्सा।

विशोध्य सद्यो व्रणवक्त्रपूरणं । घृतेन संरोपणकल्कितेन वा ॥
सुपिष्टयष्टीमधुकान्वितेन वा । क्षतोष्मणः संहरणार्थमिष्यते ॥ ५० ॥

भावार्थः—सद्योव्रणको अच्छीतरह धोकर, उसके मुखमें घी [उपरोक्त] रोपण कल्क, अथवा मुलैठीके कल्कको जखमकी गर्मी शांत करनेके लिए भरना चाहिए ॥५०॥

बंधनक्रिया।

सपत्रदानं परिवेष्टयेद्व्रणं । सुसूक्ष्मवस्त्रावयवेन यत्नतः ।
स्वदोषदेहव्रणकालभावतः सदैव बद्धं समुपचारेद्भिषक् ॥ ५१ ॥

भावार्थः—इस प्रकार व्रण में कल्क भरने के बाद, उसके ऊपर पत्ते रख कर, उस पर पतले कपडे से लपेटना चाहिये अर्थात् पट्टी बांधनी चाहिये। तत्तद्दोष, शरीर, व्रण, काल, भाव, इत्यादि पर ध्यान देते हुए, व्रण को हमेशा बांधकर वैद्य चिकित्सा करें ॥ ५१ ॥

बंधनपश्चात्क्रिया।

ततो द्वितीयेऽहनि बंधमोक्षणं । विधाय पूर्वं विनिवर्त्य पट्टिनैः ।
कषायधौतं व्रणमौषधैः पुनः—विधाय बंधं विदधीत पूर्ववत् ॥ ५२ ॥

१ शस्त्र अस्त्र आदि से अकस्मात् जो जखम होती है उसे सद्योव्रण कहते हैं।

भावार्थः—उसके बाद दूसरे दिन उस पट्टीको खोलकर पीडन क्रियाओंके द्वारा अर्थात् उस व्रणको अच्छीतरह दाबकर उसके पूयको निकालना चाहिये। फिर कषाय जलसे धोकर पूर्ववत् औषधि वगैरह लगाकर उसको बांधना चाहिये ॥ ५२ ॥

बंधन फल।

स बंधनात् शुध्यति रोहति व्रणो। मृदुत्वमायाति विवेदनो भवेत्।
अतस्सदा बंधनमेव शोभनं व्रणेषु सर्वेष्वयमेव सत्क्रमः ॥ ५३ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकारसे पट्टी बांधनेसे वह फोडा शुद्ध होजाता है। भर जाता है, मृदु व वेदनारहित होजाता है। इसलिये उसको बांधना ही योग्य है। सर्व व्रणचिकित्सामें यही क्रम उपयुक्त है ॥ ५३ ॥

व्रण चिकित्सा समुच्चय।

यथोक्तसद्भेषजवर्गसाधितं। कषायकल्काज्यतिलोद्भवादिकं।
विधीयते साधनसाध्यवेदिना। विधानमत्यद्भुतदोषभेदतः ॥ ५४ ॥

भावार्थः—रोगके साध्य साधनभाव को जानने वाला वैद्य दोषोंके बलाबल को देखकर पूर्व में कहे हुए औषधियोंसे साधित कषाय, कल्क, घृत व तैल आदिका यथोपयोग प्रयोग करें ॥ ५४ ॥

शुद्ध व रूढ व्रणलक्षण।

स्थिरो निरस्रावपरो विवेदनः। कपोतवर्णान्तयुतोऽतिमांसलः ॥
व्रणस्स रोहत्यतिशुद्धलक्षणः। समस्सवर्णो भवति प्ररूढवान् ॥ ५५ ॥

भावार्थः—जो व्रण स्थिर हो गया हो, जिससे पीप नहीं निकलता हो, वेदना रहित हो, व्रणके अंदरका भाग कपोत वर्णसे युक्त हो, अत्यंत मांससे युक्त हो अर्थात् भरता आ रहा हो, तो, उसे शुद्धव्रण समझना चाहिये। शुद्ध व्रण अवश्य भरता है। त्वचाके समतल, व समान वर्ण होना यह रूढ (भरा हुआ) व्रण का लक्षण है ॥ ५५ ॥

प्रमेहविमुक्त लक्षण।

यदा प्रमेही विशदातितिक्तकं। सरूक्षसक्षारकटूष्णमूत्रकम् ॥
कदाचिदल्पं विसृजेदनाविलं। तदा भवेन्मेहविहीनलक्षणम् ॥ ५६ ॥

भावार्थः—जब प्रमेही विशद, अति कडुआ, रूक्ष, क्षार व मंदोष्ण (थोडा गरम) व निर्मल गंदला रहित मूत्रको कभी २ थोडा २ विसर्जन करता हो तब उसे प्रमेह रोगसे वियुक्त समझना चाहिये ॥ ५६ ॥

प्रमेह पिडिका का उपसंहार।

एवं सर्वमुदीरितं व्रणमिमं ज्ञात्वा भिषक्छोधनैः ।
शोध्यं शुद्धतरं च रोपणयुतैः कल्कैः कषायैरपि ॥
क्षाराण्यौषधशस्त्रकर्मसहितैर्यो येन साध्यो भवे-
त्तेनैवात्र विधीयते विधिरयं विश्वामयेष्वादरात् ॥ ५७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार उपर्युक्त सर्व प्रकारके व्रण व उनके भेद को जानकर कुशल वैद्यको उचित है कि वह शोधनप्रयोगोंके द्वारा उन व्रणोंका शोधन करें। जब व्रण शुद्ध हो जाय तब कषाय, कल्क आदि रोपण प्रयोगोंके द्वारा रोपण करना चाहिये। एवं क्षार, औषधि, शस्त्रकर्म आदि प्रयोग जो जिससे साध्य हो उसका उपयोग करना चाहिये ॥ ५७ ॥

कुष्ठरोगाधिकार।

कुष्ठं दुष्टसमस्तदोषजनितं सामान्यतो लक्षणैः ॥
दोषाणां गुणमुख्यभेदरचितैरष्टादशात्मान्यपि ॥
तान्यत्रामयलक्षणैः प्रतिविधानाद्यैः सरिष्टक्रमैः ।
साध्यासाध्यविचारणापरिणतैर्वक्ष्यामि संक्षेपतः ॥ ५८ ॥

भावार्थः—कुष्ठ सामान्य रूपसे दूषित वात पित्त कफों (त्रिदोष) से उत्पन्न होता है। फिर भी दोषोंके गौण मुख्य भेदोंसे उत्पन्न लक्षणोंसे युक्त हैं। इसीलिए अठारह प्रकार से विभक्त हैं। उन अठारह प्रकार के कुष्ठोंको लक्षण, चिकित्साक्रम, मरणचिन्ह व साध्यासाध्य विचार सहित यहांपर संक्षेप से कहेंगे ॥ ५८ ॥

कुष्ठकी संप्राप्ति।

आचारतोऽपथ्यनिमित्ततो वा, दुष्टोऽनिलः कुपितपित्तकफौ विगृह्य ।
यत्र क्षिपत्युद्रिक्तदोषभेदात्तत्रैव कुष्ठमतिकष्टतरं करोति ॥ ५९ ॥

भावार्थः—दुष्ट आचार (देव गुरु शास्त्रकी निंदा आदि) से अथवा अपथ्य सेवन से, दूषित वात, कुपित कफ पित्त को लेकर, जिस स्थान में क्षेपण करता है, अर्थात् रुक जाता है उसी स्थान में, उद्रिक्त दोषोंके अनुसार अति कष्टदायक, दुष्ट कुष्ठकी उत्पत्ति होती है। ॥ ५९ ॥

कुष्ठका पूर्वरूप.

प्रस्वेदनास्वेदनरोमहर्षा— स्सुप्तत्वकृष्णरुधिरातिगुरुत्वकंडूः ॥
पारुष्यविस्पंदनरूपकाणि । कुष्ठे भविष्यति सति प्रथमं भवंति ॥ ६० ॥

१ न्यात्मकै इति पाठांतरं।

भावार्थः—अत्यधिक पसीना आना, बिलकुल पसीना नहीं आना, रोमांच, छूनेसे मालूम नहीं होना, रक्त (खून) काला होजाना, शरीर अत्यंत भारी होजाना, खाज चलना, कठिनता होना व कंपन ये सब कुष्ठके पूर्वरूप हैं ॥ ६० ॥

सप्तमहाकुष्ठ ।

वातोद्भवं कुष्ठमिहारुणाख्यं । विस्फोटनैररुणवर्णयुतैस्सतोदैः ।
पित्तात्कपालर्ष्यकजिह्विकात–च्चौदुंबरं स्फुरितकाकनकं सदाहम् ॥६१॥

भावार्थः—अरुण कुष्ठ वातसे उत्पन्न होता है, जो दर्दसहित लालवर्णके फफोलोंसे युक्त होता है। ऋष्य कपाल, जिह्वा, औदुंबर, काकनक ये चार कुष्ठ पित्तसे उत्पन्न होते हैं ॥ ६१ ॥

श्लेष्मोद्भवं दद्रुसपुण्डरीकं । कण्डूयुताधिकसितं बहुलं चिरोत्थम् ॥
धातुप्रदेशादधिकादसाध्यात्। कुष्ठानि सप्त कथितानि महांति लोके॥६२॥

भावार्थः—कफसे दद्रु और पुण्डरीक ऐसे दो कुष्ठ उत्पन्न होते हैं जो अधिक खुजली, श्वेतवर्ण युक्त, मोटा, बहुत दिनोंसे चले आने वाले होते हैं। ये सब कुष्ठ धातुवोंमे प्रविष्ट होनेसे अधिकतर असाध्य होनेसे ये सात प्रकारके कुष्ठ महाकुष्ठ कहे गये है ॥ ६२ ॥

क्षुद्रकुष्ठ ।

क्षुद्राण्यरुष्कुष्ठमिहापि सिध्म । श्लेष्मान्वितं रक्ततया सहस्रम् ॥
गादिष्टरूपेऽद्भुतकण्डुराणि श्वेतं तनुत्वचि भवं परुषं च सिध्म ॥ ६३ ॥

भावार्थः—श्लेष्म व रक्तभेदसे क्षुद्रकुष्ठ में हजारों भेद होते हैं उनमें से अरुष्कुष्ठ, सिध्मकुष्ठ इन दोनों में कफ प्रधान होता है। जिसमें अत्यधिक खाज चले, शरीरके चमडे सफेद होजाय, एवं कठिन होजाय उसे सिध्म कुष्ठ कहते हैं ॥ ६३ ॥

रकशाकुष्ठलक्षण ।

निस्राववत्यः पिटकाः शरीरे । नश्यंति ताः प्रतिदिनं च पुनर्भवंति ।
कण्डूयुताः सूक्ष्मबहुप्रकाराः स्निग्धाः कफादधिकृता रकशेति दृष्टाः॥६४॥

भावार्थः—जिनसे पूय नहीं निकलते हों ऐसी बहुतसी फुसियां शरीरमें रोज उत्पन्न होतीं हैं व रोज नष्ट होती हैं। उनमें खाज चलती है। वे सूक्ष्म व अनेकप्रकारसे होता है। स्निग्ध गुणसे युक्त एवं कफसे उत्पन्न होनेसे उसे रकशा कहते हैं ॥ ६४ ॥

कुष्ठमें दोषों की प्रधानता ।

वातान्महैकं परिसर्पमेकं पित्तादतोऽन्यदवशिष्ट्यमिह त्रिदोष्यम् ।
देहेऽखिले ताडनभेदनत्वक्- संकोचनं महति कुष्ठपरे तथैकं ॥ ६५ ॥

भावार्थः—वातसे महाकुष्ठ उत्पन्न होता है । पित्तसे परिसर्प व अन्य कुष्ठ होते हैं । बाकीके सब त्रिदोषसे उत्पन्न होते हैं । महाकुष्ठसे युक्त रोगीके शरीरमें ताडन भेदन, त्वक्संकोचन आदि लक्षण होते हैं ॥ ६५ ॥

एक विचर्चि विपादिका कुष्ठलक्षण ।

कृत्स्नं शरीरं घनकृष्णवर्णं ।
तोदान्वितं समुपयत्यरुणप्रभं वा ॥
दह्याः सदा पाणितले विचर्चिः ।
पादद्वये भवति सैव विपादिकाख्या ॥६६॥

भावार्थः—जिसमें सारा शरीर काला वर्ण अथवा लाल होजाता है एवं शरीरमें दर्द, सुई चुभने जैसी पीडा होती है वह भी एक कुष्ठ है । जिससे करतलमें जलन उत्पन्न होती है उसे विचर्चि कहते हैं. यदि दोनों पादतलोंमें जलन उत्पन्न करें तो उसे विपादिका कुष्ठ कहते हैं ॥ ६६ ॥

परिसर्पविसर्पणकुष्ठलक्षण ।

पित्तात्सदाहाःपिटकास्सुतीव्राः । स्रावान्वितास्सरुधिराः परिसर्पमाहुः ।
सोष्णं समंतात्परिसर्पते य- त्तीक्ष्णं विसर्पणमिति प्रवदंति तज्ज्ञाः ॥६७॥

भावार्थः—पित्तसे जलनसहित, तीव्र पूय व रक्त निकलनेवाले पिटक जिसमें होते हैं उसे परिसर्प कहते हैं जो कि उष्ण रहता है और सारे शरीरमें फैलता है । जो तीक्ष्ण रहता है उसे विसर्पण कहते हैं ॥ ६७ ॥

किटिभपामाकच्छुलक्षण ।

रूक्षावलुस्निग्धमतीवकृष्णं सन्मण्डलं किटिभमाहुरतिप्रगल्भाः ।
ऊष्मान्वितं शोषयुतं सतोदं पाण्योस्तले प्रबलचर्मदलं वदंति ॥ ६८ ॥

पामेति कंडूप्रबलाः सपूयतीव्रो- ।
ष्मिकाः पिटिकिकाः पदयुग्मजाताः ॥
पाण्योः स्फिचोः संभवति प्रभूता ।
या सैव कच्छुरिति शास्त्रविदोपदिष्टा ॥ ६९ ॥

भावार्थः—स्रावसहित, स्निग्ध, अत्यंत काला व मंडल सहित कुष्ठको किटिभ कहते हैं। करतलमें जो कुष्ठ होता है उष्णता, शोष व तुदन जैसी दर्दसे युक्त होता है उसे चर्मदल कुष्ठ कहते हैं। जिस में तीव्र खाज चलती हो, पीपका स्राव होता हो, तीव्र उष्णता से युक्त हो, ऐसे दोनों पादोंमें उत्पन्न होने वाली पिटिकाओंको पामाकुष्ठ कहते हैं। वही यदि, हाथ, व चूतडमें पैदा हो तो उसे आयुर्वेदशास्त्रज्ञ विद्वान कच्छु कहते हैं॥ ६८ ॥ ॥६९॥

असाध्यकुष्ठ।

अन्यत्किलासाख्यमपीहकुष्ठं कुष्ठात्परं त्रिविधदोषकृतं स्वरूपम् ॥
त्वक्स्थं निरास्रावि विपाण्डुरं त—त्सद्वर्णमाप्तसहजं च न सिद्धिमेति ॥७०

भावार्थः—किलास, व त्रिदोषोत्पन्नकुष्ठ एवं स्रावरहित, पांडुवर्ण युक्त, ऐसे त्वचा में स्थित, तथा जो सहज [जन्म के साथ होने वाले] कुष्ठ ये सब असाध्य होते हैं। ७० ॥

वातपित्त प्रधान कुष्ठलक्षण।

त्वग्नाशशोषस्वरभंगुराद्याः। स्वापे भवंत्यनिलकुष्ठमहाविकाराः।
भ्रूकर्णनासाक्षतिराक्षिरागः। पादांगुलीपतनसक्षतमेव पित्तात् ॥ ७१ ॥

भावार्थः—वातजकुष्ठमें त्वचाका स्वाप (स्पर्शज्ञान शून्य होना) शोष, स्वरभंग व निद्राभंग आदि विकार होते हैं। भ्रू, कान, नाकमें जखम होना, आंखे लाल होना, पैरके अंगुलियोंका गलना, व जखम होना ये विकार पैत्तिक कुष्टमें होते हैं ॥७१॥

कफ प्रधान, व त्वकस्थ कुष्ठलक्षण।

कुष्ठमें कफका लक्षण।

सस्रावकण्डूगुरुगात्रतांग— शैत्यं सशोफमखिलानि कफोद्भवानि।
रूपाण्यमून्यत्र भवंति कुष्ठे। त्वक्स्थे स्ववर्णविपरीतविरूक्षणं स्यात् ॥७२॥

भावार्थः— स्राव होना, खुजली चलना, शरीर भारी होना, शीत व सूजन होना ये सब लक्षण कफज कुष्ठ में होते हैं। त्वचामें स्थित कुष्ठमें त्वचासे विपरीत वर्ण व रूक्षण होता है ॥ ७२ ॥

रक्तमांसगत कुष्ठ लक्षण।

सस्वेदनस्वापविरूपशोफा। रक्ताश्रिते निखिलकुष्ठविकारनाम्नि ॥
सास्रान्विताः स्फोटगणास्सुतीव्राः। संधिष्वतिप्रबलमांसगतेऽस्कुष्ठे ॥ ७३ ॥

भावार्थः—अधिक पसीना आना, अंगमें स्पर्श ज्ञान शून्य होना विरूद व सूजन उत्पन्न होना, यह सब रक्ताश्रित कुष्ठमें होनेवाले लक्षण है। मांसगत प्रबल कुष्ठ में स्रावयुक्त तीव्र फफोले उठते हैं ॥ ७३ ॥

मेदसिरास्नायुगत कुष्टलक्षण।

कौण्यं क्षतस्यापि विसर्पणत्व- मंगक्षतिं गमनविघ्नमिहावसादम् ॥
मेदस्सिरास्नायुगतं हि कुष्ठं । दुष्टव्रणत्वमपि कष्टतरं करोति ॥ ७४ ॥

भावार्थः—मेद, शिरा व स्नायुगत कुष्ठमें हाथमें लंगडापना, जखम, फैलना, शरीरक्षति, चलनेमें विघ्न, अंगग्लानि व दुष्टव्रण आदि अनेक विकार होते हैं ॥ ७४ ॥

मज्जास्थिगत कुष्ठलक्षण।

तीक्ष्णाक्षिरोगक्रिमिसंभवपाटनाद्या । नासास्वरक्षतिरपि प्रबला विकाराः ॥
मज्जास्थिसंप्राप्तमहोग्रकुष्ठे ते पूर्वपूर्वकथिताश्च भवंति पश्चात् ॥ ७५ ॥

भावार्थः—मज्जा व अस्थिगत भयंकर कुष्ठमें तीक्ष्ण अक्षिरोग, क्रिमियोंकी उत्पत्ति, फूटना, नाकमें जखम, स्वरभंग आदि प्रबल विकार होते हैं एवं पूर्व धातुगत कुष्ठके लक्षण उत्तरोत्तर कुष्ठोंमें पाये जाते हैं ॥ ७५ ॥

कुष्ठका साध्यासाध्य विचार।

त्वग्रक्तमांसाश्रितमेव कुष्ठं । साध्यं विधानं विहितौषधस्य ।
मेदोगतं याप्यमतोन्यदिष्टं । कुष्ठं कनिष्टमिति सत्परिवर्जनीयम् ॥ ७६ ॥

भावार्थः—त्वचा, रक्त, मांसमें आश्रित कुष्ठमें औषधिप्रयोग करें तो साध्य है। मेदोगत कुष्ठ याप्य है। शेष कुष्ठ असाध्य समझकर छोडें ॥ ७६ ॥

असाध्य कुष्ठ।

यत्पुण्डरीकं सितपद्मतुल्यं । बंधूकपुष्पसदृशं कनकावभासम् ॥
बिंबोपमं काकणकं सपित्तं । तद्वर्जयेदुदितजन्मत एव जातम् ॥ ७७ ॥

भावार्थः—जो सफेद कमलके समान रहनेवाला पुण्डरीक कुष्ठ है, बंधूक पुष्प व सोनेके समान एवं बिंबफलके समान जिसका वर्ण है ऐसे पित्त सहित काकनक एवं जन्मगत कुष्ठ असाध्य समझकर छोडना चाहिए ॥ ७७ ॥

असाध्यकुष्ठ व रिष्ट।

यत्कुष्ठिदुष्टार्तवशुक्रजाता- पत्यं भवेदाधिककुष्ठिगतं त्वसाध्यम् ॥
रिष्टं भवेत्तीव्रतराक्षिरोग- नष्टस्वरव्रणमुखो गलितप्रपूयम् ॥ ७८ ॥

भावार्थः—कुष्टरोगयुक्त मातापितरों के, दूषित रजोवीर्यके संबंध से उत्पन्न संतान अधिक कुष्ठी हो तो उसे असाध्य समझना चाहिए। तीव्र अक्षिरोग, स्वर भंग, व व्रणोंसे पूय निकलना यह कुष्ट में रिष्ट [मरणचिन्ह] है ॥ ७८ ॥

कुष्ठीके लिए अपथ्य पदार्थ।

कुष्ठी सदा दुग्धदधीक्षुजात- निष्पावमाषातिलतैलकुलत्थवर्गं ॥
पिष्टालसांद्रानलफलानि सर्वं । मांसं त्यजेल्लवणपुष्टिकरान्नपानम् ॥७९॥

भावार्थः—दूध, दही, शक्कर गुड आदि इक्षु रसोत्पन्न पदार्थ, सेम, उडद, तिल, तैल, कुलथी, आटेका पदार्थ व वन पदार्थ, फल, मांस, लवण एवं पुष्टिकर अन्न पान आदि कुष्ठ रोगवाला ग्रहण नहीं करें ॥ ७९ ॥

अथ कुष्ठचिकित्सा।

कुष्ठमें पथ्यशाक।

वासागुडूचीसपुनर्नवार्क-पुष्पादितिक्तकटुकाखिलशाकवर्गैः ॥
आरग्वधारुष्करनिंबतोय-पक्वैस्सदा खदिरसारकषायपानैः ॥ ८० ॥

भावार्थः—अमलतास, भिलावा, नीम व कत्था इनके पानीसे पकाये हुए अडूसा, गिलोय, सोंठ, अर्कपुष्पी, व तीखे व कडुवे शाकवर्गको कुष्ठमें प्रयोग करें ॥ ८० ॥

कुष्ठ में पथ्य धान्य।

मुद्गाढकीसूपरसप्रयुक्तम् । श्यामाककंगुवरकादिविरूक्षणान्नं ॥
भुंजीत कुष्ठी नृपनिंबवृक्ष- तोयेन सिद्धमथवा खदिरांबुपक्वम् ॥ ८१ ॥

भावार्थः—अमलतास, नीमके कषाय अथवा खेरके कषाय से पकाया हुआ एवं मूंग, अरहर श्यामाक धान्य, कंगुनी, मोंठ आदि रूक्ष अन्न कुष्ठीको देना चाहिये ॥ ८१ ॥

कुष्ठ में वमन विरेचन व त्वक्स्थकुष्ठ की चिकित्सा।

मार्गद्वये शोधनमेव पूर्वं — रूपेषु कुष्ठजननेषु विधेयमत्र ।
त्वक्स्थेऽपि कुष्ठेऽधिकशोधनं स्या—त्कुष्ठघ्नसद्विविधभेषजलेपनं च ॥८२॥

भावार्थः—कुष्ठके पूर्वरूपोंके प्रकट होनेपर वमन विरेचन से शरीरका शोधन करना चाहिये, त्वचामें स्थित कुष्ठके लिये भी वमन विरेचन से अधिक शोधन व कुष्ठ-नाशक विविध औषधियोंका लेपन भी हितकर है ॥ ८२ ॥

रक्त व मांसगत कुष्ठ चिकित्सा ।

रक्ताश्रिते पूर्वमुदाहृतानि । रक्तस्य मोक्षणकषायनिषेवणं च ॥
मांसस्थिते पूर्वकृतानि कृत्वा । पश्चान्महाविविधभेषजयोगसिद्धम् ॥८३॥

भावार्थः—रक्ताश्रित कुष्ठ में त्वचागत कुष्ठ की सर्वक्रिया (वमन विरेचन) लेपन, रक्त निकालना व कषाय सेवन करना चाहिये । मांसगत कुष्ठ हो तो उसके लिये उपर्युक्त शोधनादि विधियोंको करके तदनंतर तदुपयोगी अनेक उत्कृष्ट सिद्ध औषधियोंका प्रयोग करना चाहिए ॥ ८३ ॥

मेदोऽस्थ्यादिगतकुष्ठ चिकित्सा ।

मेदोगतं कुष्ठमिहातिकष्टं । याप्यं भवेदधिकभेषजसंविधानैः ।
अन्यद्भिषग्भिः परिवर्जनीयम् । यत्पंचकर्मगतिमप्यधिगम्य याति ॥८४॥

भावार्थः—मेदोगत कुष्ठ अत्यंत कष्टतर है । उसे अनेक प्रकारकी औषधियोंके प्रयोगसे यापन करना चाहिये । बाकी के कुष्ठ अस्थि, मज्जा शुक्रगत, पंचकर्म करनेपर भी ठीक नहीं होते उनको असाध्य समझकर छोडना चाहिये ॥ ८४ ॥

त्रिदोषकुष्ठचिकित्सा ।

दोषत्रयोद्भूतसमस्तकुष्ठ – दर्पापहैर्विविधभेषजसंविधानैः ॥
पक्वं घृतं वापि सुतैलमेतत् । पीत्वातुरस्तनुविशोधनमेव कार्यम् ॥ ८५ ॥

भावार्थः—त्रिदोषसे उत्पन्न कुष्ठमें कुष्ठगर्वको नाश करनेवाले औषधियोंसे पक्व घृत या अच्छे तेलको पिलाकर कुष्ठ रोगीका शरीरशोधन करना चाहिये ॥ ८५ ॥

ज्ञात्वा शिरामोक्षणमत्र कृत्वा । योगानिमानखिलकुष्ठहरान्विदध्यात् ।
दन्तीं द्रवंतीं त्रिवृतं हरिद्रां । कुष्ठं वचां कटुकरोहिणिकां सपाठाम् ॥८६ ॥
भल्लातकां वल्गुजबीजयुक्तां निंबा–स्थिमज्जसहितां सतिलां समुस्ताम् ।
पथ्याक्षधात्रीसविडंग नीली–मूलानि भृंगरजसारपुनर्नवानि ॥ ८७ ॥
एतानि सर्वाणि विशोषितानि । सम्यक्तुलासमधृतानि विचूर्णितानि ।
निंबासनारग्वधधात्रनीनां । क्वाथेन सम्यक्परिभावितानि ॥ ८८ ॥
ब्राम्हीरसेनापि पुनः पुनश्च । संभावितानि सकलं बदरप्रमाणात् ॥
आरभ्य तन्मात्रदिहाक्षमात्रं । खादेत्ततस्सुविहिताक्षपरिप्रमाणं ॥ ८९ ॥
कुष्ठानि मेहानखिलोदराणि । दुर्नामकान्क्रिमिभगंदरदुष्टनाडीः ॥
ग्रंथीन् सशोफानखिलामयान – प्येतद्धरेत्सततमेव निषेव्यमाणम् ॥९०॥

भावार्थः—त्रिदोषज आदि कुष्ठोंके साध्यासाध्य विषयको अच्छी तरह जानकर सिरामोक्षण करना चाहिये। तदनंतर निम्नलिखित योगोंका प्रयोग करना चाहिये। जमालगोटा, बड. जमाल गोटा, त्रिवि, हल्दी, कूट, वचा, कुटकी, पाठा, भिलावा, बावुचीका बीज, नीमकी मिगनी, व गूदा, तिल, नागरमोथा, हरड, बहेडा, आंवला, वायु विडंग, नीलीका मूल, भंगरा, पुनर्नव इन सबको समान भागमें लेकर सुखाना चाहिये फिर चूर्ण करना चाहिये। तदनंतर नीम, असनवृक्ष, पृश्नपर्णी, अमलतास इनकी छालके कषायसे भावना देनी चाहिये। फिर पुनः पुनः ब्राह्मी रससे भावना देकर बेरके प्रमाणसे लेकर बहेडेके प्रमाण (एक तोला) पर्यंत प्रमाणसे उसे खाना चाहिये। जिससे सर्व कुष्ट, प्रमेह, उदर, बवासीर, भगंदर, दुष्ट नाडीव्रण, ग्रंथि, सूजन आदि अनेक रोग दूर होते हैं ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

निंबास्थिसारादि चूर्ण।

निंबास्थिसारं सविडंगचूर्णं । भल्लातकास्थिरजनीद्वयसंप्रयुक्तम् ॥
निम्बास्थितैलेन समन्वितं त- त्क्षुण्णं निहंति सकलामपि कुष्ठजातिम् ॥९१॥

भावार्थः—नींमके बीज का गूदा, वायुविडंग, भिलावेका बीज, हल्दी, दारु हलदी इनको कपडा छान चूर्ण करके नीमके बीजके तेलके साथ मिलाकर उपयोग करनेसे समस्त जातिके कुष्ठ नाश होते हैं ॥ ९१ ॥

पुन्नागबीजादिलेप।

अत्युच्छ्रितान्यत्र हि मण्डलानि । शस्त्रैस्सफेननिशितेष्टिकया विघृष्य ॥
पुन्नागबीजैः सह सैंधवार्कै- स्सौवर्चलैः कुटजकल्कयुतैः प्रलिंपेत् ॥९२॥

भावार्थः—जिस कुष्ठमें अत्यधिक उठे हुए मण्डल (चकत्ते) हों तो इनको शस्त्रसे, समुद्रफेनसे अथवा तीक्ष्ण ईंठसे घिसकर फिर उसको पुन्नागवृक्ष के बीज, सैंधानमक, अकौवा, कालानमक, कुरैया की छाल इनके कल्कको लेपन करना चाहिये ॥ ९२ ॥

पलाशक्षारलेप।

पालाशभस्मन्युदकाश्रिते तत् । सम्यक्परिस्रुतमिहापि पुनर्विपक्वम् ॥
तस्मिन् हरिद्रां गृहधूमकुष्ट- । सौवर्चलत्रिकटुकान् प्रतिवाप्य लिंपेत् ॥९३॥

भावार्थः— पलाश [ढाक] भस्म को पानीमें घोलकर अच्छीतरह छानना चाहिये। फिर उसको पकाकर उसमें हलदी, घरके धूंआ, कूट, कालानमक, त्रिकटुक इनको डालें व लेपन करें जिससे कुष्ठ रोग दूर होजाता है ॥ ९३ ॥

लेपद्वय ।

आलेपयेत्सैंधवचक्रमर्द- । कुष्ठाग्निकात्रिकटुकैः पशुमूत्रपिष्टैः ।
सद्याकुचीसैंधवभूशिरीष- कुष्ठाश्वमारकटुकत्रिकचित्रकैर्वा ॥ ९४ ॥

भावार्थः—सेंधानमक, चकमोंद [चकोंदा] कूट, चित्रक, त्रिकटुक इनको गोमूत्रके साथ पीसकर लेपन करना चाहिये । अथवा बावची, सैंधानमक, भूसिरस, कूट, करनेर, सोंठ, मिरच, पीपल व चित्रक इनको गोमूत्रमें पीसकर लेपन करना चाहिये ॥ ९४ ॥

सिद्धार्थादिलेप ।

सिद्धार्थकैः सर्षपसैंधवोग्र - कुष्ठार्कदुग्धसहितैस्समनश्शिलालैः ।
चूर्णीकृतैस्तीक्ष्णसुधाविमिश्रै - रालेपयेदसितमुष्ककभस्मयुक्तैः ॥ ९५ ॥

भावार्थः—सफेद सरसों, सरसों, सैंधा नमक, वचा, कूट, मेनशिला, हरताल, तीक्ष्णविष (वत्सनाभ आदि) इनको चूर्णकर इसमें काला मोखा वृक्षका भस्म व अकौवाके दूध मिलाकर, कुष्ठ रोगमें लेपन करना चाहिये ॥ ९५ ॥

श्वित्रेष्वपि प्रोक्तमहाप्रलेपा । योज्या भवंति बहुलोक्तचिकित्सितं च ।
अन्यत्सवर्णस्य निमित्तभूत - मालेपनं प्रतिविधानमिहोच्यतेऽत्र ॥९६॥

भावार्थः—श्वेतकुष्ठमें भी उपर्युक्त लेपन व चिकित्सा करनी चाहिये । अब चर्मको सवर्ण बनानेकेलिये निमित्तभूत लेपन सवर्णकरण योगोंको कहेंगे ॥९६॥

भल्लातकास्थ्यादिलेप ।

भल्लातकास्थ्यग्निकबिल्वपेशी । भृंगार्कदुग्धहरितालमनश्शिलाश्च ॥
द्वैप्यं तथा चर्म गजाजिनं वा । दग्ध्वा विचूर्ण्य तिलतैलयुतः प्रलेपः॥९७॥

भावार्थः—भिलावेका बीज, चित्रक, बेलकी मज्जा, भांगरा, अकौवेका दूध, हरताल, मेनशिला इनको अथवा चीता व्याघ्र गज व मृग इनके चर्मको जलाकर चूर्ण करके तिलके तेलमें मिलाकर लेपन करें ॥ ९७ ॥

भल्लातकादिलेप ।

भल्लातकाक्षामलकाभयार्क - दुग्धं तिलास्त्रिकटुकं क्रिमिहापमार्गं ॥
कांजीरधामार्गवतिक्ततुंबी । निंबास्थिदग्धमिह तैलयुतः प्रलेपः ॥९८॥

भावार्थः—भिलावा, बहेडा, आंवला, हरड, अकौवेका दूध, तिल, त्रिकटुक, वायुविडंग, लटजीरा, कांजीर, कडवी तोरई, कटुतुंबी, नीमका बीज इनको जलाकर तिलतैल मिश्रकर लेपन करना चाहिये ॥ ९८ ॥

ऊर्ध्वाधःशोधन ।

संशोधयेदूर्ध्वमधश्च सम्य – ग्रक्तस्य मोक्षणमपि प्रचुरं विदध्यात् ।
दोषेऽवशिष्टेऽपि पुनर्भवंति । कुष्ठान्यतः प्रतिविधानपरो नरः स्यात् ॥९९॥

भावार्थः—कुष्ठरोगियोंके शरीर वमन, विरेचन द्वारा अच्छीतरह शुद्ध करके रक्तमोक्षण भी खूब करना चाहिये । दोष यदि शेष रहे तो पुनः कुष्ठ होजाता है । इसलिये उसकी चिकित्सा यथोक्त विधिसे करने में लीन होना चाहिये ॥ ९९ ॥

कुष्ठ में वमन विरेचन रक्तमोक्षणका क्रम ।

पक्षादतः पक्षत एव वम्याः । कुष्ठातुरान्वरविरेचनमेव मासात् ॥
मासाच्च तेषां विदधीत रक्तं । निर्मोक्षयेदपि च षट्सु दिनेषु षट्सु ॥१००॥

भावार्थः—इसके बाद पंद्रह पंद्रह दिनमें वमन कराना चाहिये । तदनंतर एक २ मास के बाद तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिये । छह २ दिन के बाद रक्तमोक्षण करना चाहिये । ॥ १०० ॥

सम्यक्शिरश्शुद्धिमपीह कुर्या– । द्वैद्यस्त्रिभिस्त्रिभिरहोभिरिहाप्रमादी ॥
सर्वेषु रोगेष्वयमेव मार्ग – स्तत्साध्यसाधनविशेषविदां प्रकर्षः ॥१०१॥

भावार्थः—इसी प्रकार वैद्य प्रमादरहित होकर प्रति तीन दिन में शिरोविरेचन कराना चाहिये । सम्पूर्ण कुष्ठरोग की यही चिकित्साक्रम हैं। साध्य साधन आदि विशेष बातोंको जाननेवाले वैद्योंको (कुष्ठरोग के विषय में) इसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये ॥ १०१ ॥

कुष्ठप्रमेहोदरदुष्टनाडी – स्थूलेषु शोफकफरोगयुतेषु मेदः– ॥
प्रायेषु भेषज्यमिहातिकार्श्य – मिच्छत्सु साधु कथयामि यथाप्रयोगैः ॥१०२

भावार्थः—कुष्ठ, प्रमेह, उदररोग, नाडीव्रण, इन रोगों के कारण से जो स्थूल हैं, तथा, सूजन, कफरोग, मेदवृद्धि से संयुक्त हैं, और वे कृश होना चाहते हैं, अथवा उनको कृश करना जरूरी है उनकेलिये उपयुक्त, औषधियोंके प्रयोग कहेंगे १०२

गोधूमकान्रेणुयवान्यवान्वा । क्षुण्णांस्तुषापहरणानतिशुद्धशुष्कान् ॥
गोमूत्रकेणापि पुनः पुनश्च । संभावितानभिनवामलपात्रभृष्टान् ॥ १०३ ॥
भल्लातकावल्गुजमार्कवार्क । मुस्ताविडंगकृतचूर्णचतुर्थभागान् ॥
चूर्णीकृतान्त्रक्षपरिप्रमाणान् । संयोजितान्कटुकतिक्तकषायपिष्टान् ॥ १०४॥

गोभिस्तथाश्वैरपि भक्षितांस्तां- स्तद्वात्क्रियानतिसुसूक्ष्मतरं विचूर्ण्य ।
सालाजकर्णार्जुनशिंशपानां । सालोदकेन सहितान् प्रपिबेत्सुसक्थून् ॥१०५॥

भावार्थः—गेहूं, रेणुकीबीज, जौ, इनको कूटकर छिलका निकाल कर शुद्धकर अच्छीतरह सुखाले और गोमूत्र से बार २ भावना देकर नये वर्तन में भुनना चाहिये। फिर उन का सूक्ष्म चूर्ण करें। भिलावा, वाकुची, भृंगराज [भांगरा] अंकोवा, नागरमोथा, वायविडंग इन को समभाग लेकर, चूर्ण कर के उपरोक्त चूर्ण में मिलावें। इस का प्रमाण उपरोक्त (गेहूं आदि के) चूर्ण से, चौथाई हिस्सा होना चाहिये। फिर इनको चरपरा, कडुआ, कषाय, रस के द्वारा पीस कर इस सत्थू को साल विजयसार, अर्जुन और सीसम की छाल के चूर्ण [रालवृक्ष) व साल के कषाय के साथ पीना चाहिये ॥ १०३ ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

तानेव सक्थून् कथितक्रमेण, कृत्वा त्रिजातकमहौषधचूर्णमिश्रान् ।
भल्लातकाद्यौषधसंप्रयुक्ता- न्निंबासनक्षितिपवृक्षकषाययुक्तान् ॥ १०६ ॥
सच्छर्करानामलकाम्ललुंग- वेत्राम्लदाडिमलसच्चणकाम्लयुक्तान् ।
साराग्निपक्वाथ ससैंधवांस्तांस्तान्पिबेदखिलमंदविकल्प एषः ॥ १०७ ॥

भावार्थः—उन्हीं [पूर्वकथितगोधूमादि] सत्थूओंको उपर्युक्त प्रकार से तैयार कर के उस में त्रिजातक [दालचिनी, इलायची तेजपाल] सोंठ, और भिलावा आदि [उपरोक्त] औषधियों को मिलाकर, नीम, विजयसार, अमलतास, इनके काढेसे भावना देवें फिर शक्कर, आंवला, खट्टा बिजौरा निंबू, वेत, खट्टा अनार, चनेका क्षार, सेंधानमक मिलाकर और खैर के काढे के साथ, निःसंशय होकर पीवें ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

तैरेव सक्तुप्रकरैर्विपक्वान् भक्ष्यानपूपसकलानि सपूर्णकोशान् ।
धानानुदं भानपिशष्कुलीका- स्तं भक्षयेदखिलकुष्ठमहामयार्तः ॥ १०८ ॥

भावार्थः—कुष्ठरोगीके लिये उपर्युक्त प्रकारके सत्थुवोंके साथ पकाये हुए भक्ष्य, पुआ, पोळी व पूरी शष्कुली आदि खानेको देना चाहिये ॥ १०८ ॥

दंती त्रिवृच्चित्रकदेवदारु – पूतीकसत्रिकटुकत्रिफलासु ।धि ॥
प्रत्येकमेवं कुडवप्रमाणं । चूर्णं भवेदमलतीक्ष्णरजोऽर्धभागम् ॥१०९॥
प्रागाज्यकुंभं पुनरग्निदग्धं । जंबूकपित्थसुरसाम्रकमातुलुंगैः ॥
पत्रैर्विपक्वं परिधौतमंत– र्गंधोदकैर्मरिचमागधिकाविचूर्णैः ॥ ११० ॥
सच्छर्कराभःपरिमिश्रितैस्तै – र्लिप्तान्तरं कुसुमवासितरूपितांतः ॥
तत्रां [illegible] कृतोरुवदम् । [illegible] भेषजचूर्णमिह लिप्तम् ॥१११॥

तस्मिन्नुद्दृत्यार्धतुलां निधाय । सारोदकस्य कुडवाष्टकामिश्रितं तत् ॥
सम्यक्पिधायास्य घटस्य वक्त्रं । संस्थापयेदधिकधान्ययवोरुकूपे ॥ ११२ ॥
एवं समस्तानमृतप्रयोगान् । संयोजयेत्कथितमार्गत एव सर्वान् ॥
संस्कार एषोऽभिहितस्समस्तः । सर्वौषधाधारघटे विधेयम् ॥ ११३ ॥
उद्धृत्य तत्सप्तदिनाच्च पक्षात् । मासादतः प्रचुरगंधरसं सवीर्यं ।
तद्भक्षयेदाग्निबलानुरूपम् । कुष्ठप्रमेहोदरनाशहेतुम् ॥ ११४ ॥

भावार्थः— जमालगोटेकी जड, चित्रक, देवदारु, पूतीकरंज, निशोथ, त्रिकटु, त्रिफला, पीपलमूल इनको प्रत्येकको कुडव (१६ तोला) प्रमाण लेकर उनका चूर्ण करें और उसमें अर्ध भाग (८ तोला) लोहेके चूर्ण [भस्म] को मिलावें, यह चूर्ण तैयार रखें ।

एक घीका घडा लेकर उसे अग्निमें जलावे, एवं जामुन, कैथ, आम्र, तुलसी, मातुलुंग इनके पत्तोंको उसमें पकाकर पुनः गंधोदक [चंदन नेत्रवाला, खशआदि गंधद्रव्योंके कषाय] से उसे अच्छीतरह धोना चाहिये । फिर शक्कर के पानीसे मिश्रित काली मिरच, पीपल के चूर्णको घडेके अंदर लेपन कर सुगंध पुष्पों द्वारा उसे सुगंधित करें । पश्चात् बाहरसे अच्छीतरह उसे डोरोंसे बुनना चाहिये जिससे वह सुरक्षित रहे। इस प्रकार संस्कार किये गये घडेमें ऊपर तैयार किये हुए चूर्णको डाल देवे, उसमें अर्ध तुला ढाईसेर एवं आठ कुडव प्रमाण खादिरका काढा मिलाकर उसके मुंहको अच्छी तरह बंदकर कोई धान्य कूप [धान व जौसे भरा हुआ गड्ढा] मे गाडना चाहिये । इसी विधिसे सम्पूर्ण अमृततुल्य प्रयोगोंको तैयार करना चाहिये । तात्पर्य सम्पूर्ण अरिष्टोंको बनानेकी विधि यही है । उस औषधिके आधारभूत घटका संस्कार उपर्युक्त विधिसे ही करना चाहिये ।

फिर उसकी सात दिनमें या पंद्रह दिनमें या एक महिनेमें जब अच्छी तरह गंध, रस, वीर्य आदि गुण उसमें व्यक्त हो जाय तब निकालकर रोगीके अग्निबलके अनुसार खिलावे जिससे कुष्ठरोग, उदर व प्रमेहरोग नष्ट होते हैं ॥ १०९ ॥ ११० ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥ ११४ ॥

आरग्वधारुष्करमुष्कनिंब । रंभार्कतालतिलमंजरिकासुभस्म ॥
द्रोणं चतुर्द्रोणजलैर्विपक्कं । रक्तं रसं स्रवति शुद्धपटावबद्धम् ॥ ११५ ॥
अत्र क्षिपेदाढकसंप्रमाणं । शुद्धं गुडं त्रिकटुकं त्रिफलाविडंगम् ॥
प्रत्येकमेकं कुडवप्रमाणं । चूर्णं लवंगलवलीदहुलाप्रगाढम् ॥ ११६ ॥

कुंभे निधायोक्तबहुप्रकार । धान्ये स्थितं मासपरिप्रमाणम् ॥
तद्भक्षयेदक्षयरोगराजान् । संक्षेपतः क्षपयितुं मनसाभिवांछन् ॥ ११७ ॥

भावार्थ—अमलतास, भिलावा, मोखा, नीम, ताडका फूल, केले की जड, अकौवा, तिलका गुच्छ इनका भस्म तैयार कर एक द्रोण [१२॥ सेर ४ तोला] भस्मको चार द्रोण पानीसे पकाकर शुद्धकपडेसे छाने । जब लाल बूंदे उससे टपकती है उसमें एक आढक [३ सेर १६ तोला] शुद्ध गुड, त्रिकटुक त्रिफला व वायुविडंग इनको प्रत्येक सोलह२ तोला प्रमाण चूर्णको डालकर साथमें लवंग, हरपारेवडी, इलायचीको मिलावे उपर्युक्त प्रकारसे संस्कृत घटमें डालकर धानसे भरे हुए गड्ढे में गाडकर रखे फिर एक मास बाद निकालकर रोगीको पिलावें जिससे अनेक प्रकारके कुष्ठ प्रमेह आदि रोगराज अत्यंत शीघ्र नष्ट होते हैं ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

खदिर चूर्ण ।

सारद्रुमाणामपि सारचूर्णं । सारद्रुमस्वरसभावितशोषितं तत् ॥
सारांघ्रिपक्वाथयुतं प्रपीतं । सारौषधं भवति सारमहामयघ्नम् ॥ ११८ ॥

भावार्थः—खैरके वृक्षके सारभूत चूर्णको खैरके रससे भावना देकर फिर उसे सुखावे, पुनः उस शुष्कचूर्णको खैरके वृक्षके कषायके साथ मिलाकर पीवें तो कुष्ठ रोगके लिए उत्तम औषध है अर्थात् उसको पीनेसे कुष्ठ रोग दूर होजाता है ॥ ११८ ॥

तीक्ष्ण लोह भस्म.

तीक्ष्णस्य लोहस्य तनूनि पात्रा- । ण्यालिप्य पंचलवणाम्लकृतोरुकल्कैः ॥
दग्ध्वा पुटेनैव सुगोमयाग्नौ । निर्वाप्य सारतरुसत्रिफलारसेन ॥ ११९ ॥
एवं पुनः पूर्ववदेव दग्ध्वा । निर्वाप्य तद्वदिह षोडशवारमात्रम् ॥
पश्चात्पुनः खादिरकाष्ठदग्धं । शांतं विचूर्ण्य पटनिस्रुतमत्र कृत्वा ॥ १२० ॥
तच्चूर्णमाज्यान्वितशर्करांकं । ज्ञात्वा बलं सततमेव निषेव्यमाणम् ॥
कुष्ठप्लिहार्शादिकपाण्डुरोगान् । हत्वा वयोबलशरीरसुखं करोति ॥ १२१ ॥

भावार्थः—तीक्ष्ण लोहके पतले पतरोंको लेकर पंचलवण, [सेंधानमक, काला-नमक व सामुद्रनमक विडनमक औद्भिद नमक] आम्ल पदार्थ इनके कल्कोंसे उन्हें लेपन करें फिर उसे संपुटमें बंद करके कण्डेके अग्निसे पुट देना चाहिए । फिर वहांसे निकालकर, पुनः खैरकी छाल व त्रिफला इन के काढेसे लपेटकर वा लेपन कर पुनः सम्पुट बंद कर के पुट देना चाहिये । इस प्रकार सोलहबार पुट देना चाहिये । पुनः उसे खैरकी लकडीके अग्निसे पुट देना चाहिये । जब वह शीत हो जाय

अब उसे बारीक चूर्ण कर कपडे से छान लें [इस क्रिया से लोहभस्म हो जाता है] फिर इस भस्मको घी शक्करके साथ मिलाकर, उसे कपडेसे छान लेवें। शरीरबल, अग्निबल आदि देखकर सतत सेवन करें तो वह कुष्ठ, प्लिहा, अर्श, पाण्डु आदि रोगोंको दूर कर शरीरबल वय व सुखको उत्पन्न करता है ॥ ११९ ॥ १२० ॥ १२१ ॥

लोह भस्म फल.

जीर्णायसायस्कृतिभेषजेऽस्मिन् । रोगानुरूपलवणाम्लविवर्जितान्नम् ॥
भुक्त्वा तुलामेतदिहोपयुज्य । जीवेदनामयशरीरयुतः शतायुः ॥ १२२ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकारसे तैयार किये हुए तीक्ष्णलोहके भस्म को उपयोग करते समय रोगके बलाबल को देखकर लवण खटाई रहित भोजन करते हुए यदि एक तुला [५ सेर] प्रमाण इस को सेवन करें तो निरोगी होकर सौ वर्षतक जीता है अर्थात् यह रसायन है ॥ १२२ ॥

नवायसचूर्ण।

मुस्ताविडंगं त्रिफलाग्निकैस्स–त्र्योषं विचूर्ण्य नवभाग समं तथायः– ॥
चूर्णं सिताज्येन विमिश्रितं तत्। संभक्ष्य मंक्षु शमयत्यधिकान्विकारान् १२३

भावार्थः—नागरमोथा, वायुविडंग, व चित्रक, त्रिकटु इन को समभाग लेकर चूर्ण करके उसके नौ भाग लोहभस्म मिलावें फिर उसे शक्कर व घीके साथ मिलाकर खानेसे शीघ्र ही पाण्डु आदि अनेक रोग उपशान्त होते हैं ॥ १२३ ॥

एवं नवायसमिति प्रथितौषधाख्यं । कृत्वोपयुज्य विधिना विविधप्रकारान् ॥
पाण्डुप्रमेहगुदजांकुरदुष्टकुष्ट– । नाडीव्रणक्रिमिरुजः शमयेन्मनुष्यः ॥१२४॥

भावार्थः—इस प्रकार नवायस नामक प्रसिद्ध औषधि को तैयार कर जो विधि पूर्वक सेवन करते हैं उनके अनेक प्रकारके पांडु, प्रमेह, बवासीर, दुष्टकुष्ट, नाडीव्रण क्रिमिरोग आदि अनेक रोग उपशमन होते हैं ॥ १२४ ॥

संक्षेपसे सम्पूर्णकुष्टचिकित्सा कथन।

कुष्ठप्रसिद्धविधभेषजकल्कतोयैः । पक्वं घृतं तिलजमप्युपहंति नित्यं ॥
अभ्यंगपानपरिषेकशिरोविरेकै– र्योयुज्यमानमचिरात्प्रचुरप्रयोगैः ॥ १२५ ॥

भावार्थः—कुष्ठहर अनेक प्रकारके औषधिप्रयोगों, औषधि के कल्क व कषायों से पक्व घृत वा तेल प्रतिनित्य अभ्यंग, पान, सेक व शिरोविरेचन आदि काममें उपयोग करनेसे शीघ्र कुष्ठ दूर होता है ॥ १२५ ॥

खदिरप्रयोग ।

सर्वात्मना खदिरसारकषायमेकं । पीत्वाभिषिक्ततनुरप्यतिकुष्ठजुष्टः ॥
नीचैर्नखैस्तनुरुहैस्सुविशुद्धगात्रः । सद्यः सुखी भवति शांतमहामयार्तिः ॥१२६॥

भावार्थः—अकेला खैरके कषायको ही सतत पीनेके काममें एवं स्नानके काममें लेनेसे नख रोम उत्पन्न होकर, शरीर शुद्ध होता है । कुष्ठरोग उपशमन होता है । इसलिये रोगी सुखी होता है ॥ १२६ ॥

अथ उदररोगाधिकारः ।

उदररोगनिदान ।

नृणां समस्तैः पृथगेव दोषै- । र्यकृत्प्लिहाभ्यामुदकोपयोगात् ॥
विषप्रयोगांत्रनिरोधशल्या- । द्भवंति घोराणि महोदराणि ॥ १२७ ॥

भावार्थः—मनुष्योंको समस्त या व्यस्त दोषोंसे, यकृत्, प्लिहामें, जलविकारसे उदरमें, विषप्रयोग व अवरोध शल्यसे अनेक प्रकारके घोर उदर रोग होते हैं । प्रकुपित वात पित्त कफ व इनके सन्निपात, यकृत् प्लिहा में स्नेहन आदि क्रिया करते समय, पानी पीना, विष के प्रयोग, आंतडीमें शल्य के रुक जाना इत्यादि कारणोंसे घोर उदररोग उत्पन्न होते हैं । तात्पर्य यह कि, उपरोक्त कारणोंसे, वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, सन्निपातिकोदर [दूष्योदर] यकृत्प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, क्षतोदर [परिस्राव्युदर] दकोदर, इस प्रकार, अष्टविध उदररोग उत्पन्न होते हैं ॥ १२७ ॥

वातोदर लक्षण ।

अपथ्यमिथ्याचरणाहितेभ्यो । प्रदुष्टवातोऽन्नरसान् प्रदूष्य ॥
सशूलमाध्मानमनेकतोदं । महोदरं कृष्णशिरां करोति ॥ १२८ ॥

भावार्थः—अपथ्यसेवन मिथ्या आहार विहार के कारण वातप्रकुपित होकर उदररोग को उत्पन्न करता है अर्थात् वातोदर की उत्पत्ति होती है । जिसमें शूल, पेट अफराना [पेट फूलना] सुई चुभने जैसी नानाप्रकार की पीडा होना, पेटकी नसें काली पडजाना, आदि लक्षण प्रकट होते हैं । ॥ १२८ ॥

पित्तोदर लक्षण ।

सदाहतृष्णाज्वरशोषयुक्तम् । सपीतविण्मूत्रशिरामतानम् ॥
महोदरं शीघ्रविसारि साक्षात् । करोति पित्तं स्वनिमित्तदुष्टम् ॥१२९॥

भावार्थः—अपने प्रकोपकारणोंसे, दूषित पित्तसे उत्पन्न महोदरमें दाह, तृष्णा, ज्वर, शोष आदि विकार होते हैं। महोदर व (पेटसम्बंधी) शिरा समूह पीले वर्णका होता है, एवं यह शीघ्र पसरनेवाला होता है ॥ १२९ ॥

कफोदर लक्षण।

गुरुस्थिरं स्निग्धतरं सुशीतं । महत्सितं शुक्लशिरावनद्धम् ॥
क्रमात्प्रवृद्धं जठरं सशोफम् । कफः करोति स्वयमेव दुष्टः ॥ १३० ॥

भावार्थः—अपने प्रकोपकारणों द्वारा प्रकुपित कफसे उत्पन्न महोदरमें उदर भारी, स्थिर, कठिन, चिकना, ठण्डा बडा व सफेद होजाता है एवं शिरा [उदरसम्बंधी] भी सफेद होती हैं। शरीर शोथयुक्त होता है। एवं, रोग धीरे २ बढता है ॥१३०॥

सन्निपातोदर निदान।

समूत्रविट्शुक्ररजोयुतान्नै- । र्विषोदकैश्चापि विषप्रयोगैः ॥
सरक्तदोषाः कुपिताः प्रकुर्यु- । र्महोदरं दूषिविषांबुजातम् ॥ १३१ ॥

भावार्थः—मल, मूत्र, वीर्य, रजसहित अन्नके सेवनसे, विषजलके सेवनसे एवं अन्य विषोंके प्रयोगसे रक्तके साथ तीनों दोष, प्रकुपित होकर सान्निपातिकोदर [दूष्योदर] रोग को उत्पन्न करते हैं। ॥ १३१ ॥

सन्निपातोदरलक्षण।

तदेतदत्यंबुदुर्दिनेषु । विशेषतः कोपमुपैति नित्यम् ॥
तदातुरो मूर्च्छति तृष्णया च । विदाह्यते दाहपरीतदेहः ॥ १३२ ॥

भावार्थः—यह विशेषकर बरसातके दिनोंमें उन में भी जिस दिन आकाश अत्यधिक बादल से आच्छादित होता है उसदिन उद्रिक्त होता है। इसके प्रकोप होनेसे रोगी मूर्च्छित होता है एवं अत्यधिक प्यास लगनेसे, सारे अंगोंमें दाह उत्पन्न होता है, इसलिये वह जलन का अनुभव करता है ॥१३२॥

यकृत्प्लिहोदर लक्षण।

ज्वरातिदाहात्प्रचुरांबुपाना-द्विदाहिभिर्दूषितरक्तकोपात् ।
यकृत्प्लिहाभ्यामधिकं प्रवृद्धं । महोदरं दक्षिणवामपार्श्वे ॥ १३३ ॥

---

१ स्त्रियां अज्ञानसे, पुरुषोंको वशवर्ति करनेके लिये, मल मूत्र आदि अन्न में मिलाकर, खिला देती हैं। वैरीगण, मारने आदि के वास्ते, विषप्रयोग करते हैं।

भावार्थः—ज्वर, अत्यंत दाह, अत्यधिक पानी पीने व विदाहि पदार्थोंके सेवनसे दूषित रक्तके प्रकोप होनेसे दक्षिण भागमें यकृत् व वाम भागमें प्लिहा बढ जाता है। इस से, यकृदुदर, प्लीहोदर उत्पन्न होता है या इसी को यकृत्प्लीहोदर कहते हैं ॥ १३३ ॥

बद्धोदर लक्षण।

सबालपाषाणतृणावरोधात् । सदांत्र एवातिचितं मलं यत् ।
महोदरं बद्धगुदप्रतीतं । करोत्यमेध्यादिकगंधयुक्तम् ॥ १३४ ॥

भावार्थः—भोजन में छोटे कंकर, व घासके टुकडे आदि जाकर आंतडीमें रुक जानेसे सदा मल आंत्रमें ही जमा होजाता है, तब मलावरोध होता है। और बहुत मुश्किल से निकलता है। इसे बद्धोदर कहते हैं एवं उससे अमेध्यादिक दुर्गंध युक्त होते हैं ॥ १३४ ॥

स्राव उदर लक्षण।

सशल्यमज्ञानत एव भुक्तं । तदंत्रभेदं प्रकरोति तस्मात् ।
परिस्रवन्भूरिरसप्रवृद्धं । महोदरं स्रावि भवेत्स्वनाम्ना ॥ १३५ ॥

भावार्थः—भोजनके समय नहीं जानते हुए कांटे को खाजावे तो वह अंदर जाकर अंत्रभेदन करता है। तब आंतडीसे बहुत, (पानी जैसा) रसका स्राव होकर गुद मार्ग से निकलता है। सुई चुभने जैसी पीडा आदि लक्षण प्रकट होते हैं। इसे स्रावि उदर कहते हैं ॥ १३५ ॥

जलोदर निदान।

यदैव वांतः सुविरिक्तदेह-स्सवस्तिदत्तो घृतपानयुक्तः ।
पिबेज्जलं शीतलमत्यनल्पं । जलोदरं तत्कुरुते यथार्थम् ॥ १३६ ॥

भावार्थः—जिस को, वमन व विरेचन कराया हो, बस्ति प्रयोग किया हो, घृत आदि स्नेह जिसने पी लिया हो अर्थात् स्नेहन क्रिया की हो, यदि वह उन हालतों में, ठण्डा जल, अत्यधिक पीवें तो, निश्चयसे उसे जलोदर रोग उत्पन्न होता है ॥ १३६ ॥

जलोदर लक्षण।

महज्जलापूर्णदृतिप्रकल्पं । प्रकंपते क्षुभ्यति विस्तृतं तत् ।
सचातुरः कृश्यति मुह्यतीह । पिपासुराहारविरक्तभावः ॥ १३७ ॥

भावार्थः—बहुत जलसे भरा हुआ मशक जिस प्रकार हिलता है इसी प्रकार जलोदरसे पीडित व्यक्तिका विस्तृत पेट भी कंपता है व उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है। वह जलोदरी कृश व बेहोश भी होता है। उसे प्यास तो अधिक लगती है। उसे भोजन करनेकी विशेष इच्छा नहीं रहती है ॥ १३७ ॥

उदररोग के साधारण लक्षण।

सदाहमूर्च्छोदरपूरणाग्नि। मरुत्पुरीषार्तिविरोधनानि ॥
सशोफकार्श्यांगनिपीडनानि। भवंति सर्वाणि महोदराणि ॥ १३८ ॥

भावार्थः—सर्व महोदर रोगोमें दाह, मूर्च्छा, पेट भरा हुआ रहना, अग्निमांद्य, वातावरोध, मलावरोध, सूजन, कृशता, व शरीरमें दर्द आदि विकार होते हैं ॥१३८॥

असाध्योदर।

जलोदराण्येव भवंति सर्वा-ण्यसाध्यरूपाण्यवसानकाले।
तदाभिपक्कानि विवर्जयेत्तत्। सबद्धसंस्राव्युदराणि चापि ॥१३९॥

भावार्थः—वृद्धावस्थामें जलोदर हो तो उसे असाध्य समझना चाहिये एवं बद्धोदर स्रावी उदरको भी समझना चाहिये। वैद्यको उचित है कि वह ऐसे रोगियोंकी चिकित्सा नहीं करें ॥ १३९ ॥

कृच्छ्रसाध्योदर।

अथावशिष्टानि महोदराणि। सुकृच्छ्रसाध्यानि भवंति तानि ॥
भिषक्प्रतिक्रम्य यथानुरूपं। चिकित्सितं तत्र करोति नित्यम् ॥ १४१ ॥

भावार्थः—बाकीके महोदर रोग कष्टसाध्य होते हैं। यदि वैद्य कुशल क्रियावों से प्रतिनित्य अनुकूल चिकित्सा करें तो वे कष्टसे अच्छे होते हैं ॥ १४० ॥

भेषजशस्त्रसाध्योदरों के पृथक्करण।

तदर्धमप्यष्टमहोदरेषु। वरौषधैस्साध्यमथापरार्धम् ॥
सशस्त्रसाध्यं सकलानिकालाद्भवंति शस्त्रौषधसाधनानि ॥ १४१ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त आठ महोदर रोगोमें आदि के चार (वात पित्त, कफ, व सन्निपात इन से उत्पन्न) तो उत्तम औषधियों से साध्य हो सकते हैं। बाकीके चार शस्त्रकर्म से ठीक होते हैं। बहुतकाल बीतनेपर सर्व ही महोदर शस्त्र व औषधियोंसे साध्य होते हैं ॥ १४२ ॥

असाध्य लक्षण।

अरोचकोऽत्यरिभग्नपार्श्वे। सशोफकुक्ष्यामयपीडितांगम् ॥
विरिक्तमप्याशु निपूरयंतम्। विवर्जयेत्तं जठरामयार्तम् ॥ १४२ ॥

भावार्थः—जिस उदर रोगीको अरुचि अधिक हो, जिसका दोनों पार्श्व टूटेसे मालुम होते हो व सूजन से युक्त हो, विरेचन देनेपर भी शीघ्र पानी भरजाता हो उस रोगी को असाध्य समझकर छोडना चाहिये ॥ १४२ ॥

अथोदर चिकित्सा।

बिडोग्रगंधामधुशिग्रुवल्कं। कषायकल्कं घृतमत्र पीत्वा ॥
विरेचयेत्तिल्वकसर्पिषासौ। गवांबुना चापि निरूहयेत्तम् ॥ १४३ ॥

भावार्थः—बिडानमक, वचा, मधुसेंजन, इनके कषाय व कल्कसे सिद्ध घृत को पिलाकर महोदररोगीको तिल्वक घृत प्रयोगसे विरेचन कराना चाहिये एवं गोमूत्रसे निरूह बस्ति देनी चाहिये ॥ १४३ ॥

वातोदर चिकित्सा।

महोदरं तैलविलिप्तगात्रं। मरुत्कृतं क्षीरदधिप्रपक्वैः ॥
सुशिग्रुमूलैस्सकरंजयुग्मै-। स्सपत्रदानैरुपनाहयेत्तम् ॥ १४४ ॥

भावार्थः—वातज महोदर हो तो उसके पेटपर तेलका लेपनकर दूध व दहीसे पकाये हुए सेंजनका जड व दोनो करंज (करंजपूतिकरंज) के पुल्टिश एरंड आदि वातनाशकक पत्तोंके साथ पेट पर बांधनी चाहिये ॥ १४४ ॥

सदैव संस्वेदनमप्यभीक्ष्णं। महोदरे मारुतजे विधेयम् ॥
महौषधैस्सैंधवशिग्रुमूलै। स्सुसिद्धदुग्धादिकभोजनं च ॥ १४५ ॥

भावार्थः—वातज महोदरमें सदा स्वेदन (पसीना लाना) भी कराना चाहिये। एवं उसे सदा सोंठ, सेंधानमक, सेंजनके जडसे सिद्ध दूध आदि भोजन कराना चाहिये ॥ १४५ ॥

पित्तोदर चिकित्सा।

अपित्तदुष्टोदरिणं सुखुष्ण-। विशिष्टशीतौषधसाधुसिद्धम् ॥
घृतं प्रपाय त्रिवृता यथेष्टं। विरेचयेत्तं समशर्करेण ॥ १४६ ॥

भावार्थः—पित्तोद्रेकसे उत्पन्न महोदरीको अच्छे व विशेषरूपसे शीत औषधियोंसे अच्छीतरह सिद्ध किया हुआ घृत पिलाकर एवं निशोथ व शक्कर मिलाकर उसे विरेचन कराना चाहिए ॥ १४६ ॥

पैत्तिकोदर में निरूह बस्ति ।

सशर्करा क्षीरघृतप्रगाढै- । र्वनस्पतिकाथगणैस्सुखोष्णैः ॥
निरूहणैः पित्तकृतोदरार्त । निरूहयेदौषधसंप्रयुक्तैः ॥ १४७ ॥

भावार्थः—पित्तज महोदरीको जिसमें शक्कर, दूध व घी अधिक हो ऐसे मंदोष्ण निरूहण वनस्पतिके काथसे निरूह बस्ति देनी चाहिए ॥ १४७ ॥

घृत प्रलिप्तं सुविशुद्धकोष्ठं । सपत्रबद्धं कुरु पायसेन ॥
सुखोष्णदुग्धाधिकभोजनानि । विधीयतां तस्य सतिक्तशाकैः ॥१४८॥

भावार्थः—कोष्ठ शुद्ध होनेके बाद उस के पेटके ऊपर घी लगाकर दूधसे सिद्ध पुल्टिश बांधनी चाहिए जिस के ऊपर पत्ते बांधने चाहिए। और उसे जिसमें दूध अधिक हो एवं कडुवी तरकारियोंसे युक्त हो ऐसा भोजन कराना चाहिए ॥ १४८ ॥

कफोदर ।

कफोदरं तिक्तकषायरूक्ष- । कटुत्रिकक्षारगणप्रपक्वैः ।
घृतैस्सतैलैस्सुसमाहितं त- । द्विरेचयेद्गजपयः प्रसिद्धैः ॥ १४९ ॥

भावार्थः—कफोदरीको कडुआ, कषाय रस, रूक्ष औषध त्रिकटु व क्षारसमूह के द्वारा पक्व घृत तेल से स्नेहन कराकर थोहरके दूधसे विरेचन कराना चाहिये ॥१४९॥

गवांबुगोक्षीरकटुत्रिकाद्यैः । फलत्रयकाथगणैस्सतिक्तैः ।
निरूहभैषज्ययुतैस्सुखोष्णै- । र्निरूहयेत्तैरुपनाहयेच्च ॥ १५० ॥

भावार्थः—गोमूत्र, गायका दूध, त्रिकटु आदि कफनाशक औषध, त्रिफला और निरूहणकारक अन्य औषध इनके सुखोष्ण कषाय से निरूह बस्ति देनी चाहिए एवं पूर्वोक्त प्रकार कफनाशक पुल्टिश बांधनी चाहिए ॥ १५० ॥

सदैव शोभांजनकार्द्रकाणां । रसेन संपक्वपयः प्लवान्नम् ॥
कषायतिक्तातिकटुप्रकारै- । स्सुशाकवर्गैस्सह भोजयेत्तम् ॥ १५१ ॥

भावार्थः—उसको सदा सेंजन व अदरख के रस से पक्व दूधसे युक्त अन्न व कषाय, तीखे, अति कडुए रस से युक्त तरकारियोंसे भोजन कराना चाहिये ॥१५१॥

सन्निपातोदर चिकित्सा ।

यथोक्तदूषीविषजं महोदरं । त्रिदोषभैषज्यविशेषमार्गतः ॥
उपाचरेदाशुकरंजलांगली- । शिरीषकल्कैरनुलेपयेद्बहिः ॥१५२ ॥

भावार्थः—यदि दूष्योदर (सन्निपातोदर) होजाय तो त्रिदोषके उपशामक औषधियोंसे शीघ्र उपचार करना चाहिए । एवं करंज, कलिहारी, सिरसके कल्कसे बाहर लेपन करना चाहिए ॥ १५२ ॥

निदिग्धिकादि घृत ।

निदिग्धिका निंबकरंजपाटली । पलाशनीली कुटजांघ्रिपांबुभिः ॥
विडंगपाठास्नुहिदुग्धमिश्रितैः । पचेद्घृतं तच्च पिबेद्विषोदरी ॥१५३॥

भावार्थः—कटेली, नीम, करंज, पाडल, पलाश, नील, कुटज, इन वृक्षोंके कषाय व वायविडंग, पाढा, थोहर के दूध, इनके कल्क से पकाये हुए घृत उस विषोदरीको पिलाना चाहिये ॥ १५३ ॥

एरण्डतैल प्रयोग ।

ससैंधवं नागरचूर्णमिश्रितं । विचित्रबीजोद्भवतैलमेव वा ॥
लिहेत्समस्तोदरनाशहेतुकं । सुखोष्णगोक्षीरतनुं पिबेदपि ॥ १५४ ॥

भावार्थः—एरण्ड बीजसे उत्पन्न तेल अर्थात् एरण्ड तेलमें सैंधानमक सोंठके चूर्णको मिलाकर चाटनेको देना चाहिये एवं मदोष्ण गायका दूध पिलाना चाहिये जिससे समस्त उदर रोग नाश होते हैं ॥ १५५ ॥

उदर नाशक योग ।

तथैव दुग्धार्द्रकजातिसद्द्रवै- । र्विपक्वमाशु क्षरयेच्छतांशकैः ॥
तथा मरुंग्या स्वरसेन साधितं । पुनर्नवस्यापि रसैर्महोदरम् ॥ १५५ ॥

भावार्थः—इसी प्रकार दूध अदरख व जाईके रससे सौ बार पकाये गये तथा कालेंसेजनके रससे वा पुनर्नवाके रससे सिद्ध एरण्ड तैलके सेवनसे महोदर रोग नाश होता है ॥ १५६ ॥

अन्यान्य योग ।

सुवर्चिका हिंगुयुतं सनागरं । सुखोष्णदुग्धं शमयेन्महोदरं ॥
गुडं द्वितीयं सततं निषेवितं । हरीतकीनामयुतं प्रयत्नतः ॥ १५६ ॥

भावार्थः—यवक्षार हींग व सोंठसे युक्त मंदोष्ण दूधको पीनेसे अथवा हरडके साथ गुडको प्रतिनित्य प्रयत्नपूर्वक सेवन करनेसे उदरमहारोग नाश होता है ॥१५६॥

स्नुहीपयोभावितजातपिप्पली । — सहस्त्रमेवाशु जयेन्महोदरम् ॥
हरीतकीचूर्णचतुर्गुणं घृतं लिहंति तक्रं मथितं भुविस्थितं ॥ १५७ ॥

भावार्थः—थोहरके दूधसे भावित हजार पीपलके सेवनसे उदर महारोग शीघ्र नाश होता है। इसी प्रकार हरडेके चूर्णको चतुर्गुण तक्रमें डालकर गरम करके जमीनमें गाढे। पंद्रह दिन या एक मासके बाद निकाल कर पीवें तो सर्व उदररोग नाश होता है ॥ १५७ ॥

नाराच घृत ।

महातरुक्षीरचतुर्गुणं गवां । पयो विपाच्यं मतितक्रसंधितं ॥
खजेन मंथा नवनीतमुध्दृतं । पुनर्विपक्वं पयसा महातरोः ॥ १५८ ॥
तदर्धमासं वरमासमेव वा । पिबेच्च नाराचघृतं घृतोत्तमं ॥
महामयानामिदमेव साधनं । विरेचनद्रव्यकषायसाधितम् ॥ १५९ ॥

भावार्थः—थोहरके दूधके साथ चतुर्गुण गायका दूध मिलाकर फिर तपावे तदनंतर छाछके संयोगसे उस दूधको जमावे जब वह दही हो जावे तब उसे मथनकर लोणी निकालें उस लोणीमें पुन थोहरके दूध मिलाकर पकावे। इसे नाराच घृत कहते हैं। यह सर्व घृतोंमें श्रेष्ठ है। उसे १५ दिन या एक मास तक पीवें। जिससे (विरेचन होकर) रोग दूर होता है। कुष्ठ, उदर आदि महारोगोंके नाशार्थ यही एक उत्तम साधन है। एवं विरेचन द्रव्योंसे साधित अन्य घृत भी ऐसे रोगोंके लिये हितकर है ॥ १५८ ॥ १५९ ॥

महानाराच घृत ।

त्रिवृत्सदंती त्रिफला सशंखिनी । कषायभागैर्द्रुपवृक्षसत्फलैः ॥
महातरुक्षीरयुतैस्सचित्रकै— । विडंगचव्यक्षणदा कटुत्रिकैः ॥ १६० ॥
पचेत्सनाराचघृतं महाख्यं । महोदराष्ठीलकनिष्ठुरुछिनाम् ।
सगुल्मिकापस्मरणोद्धतोन्मद— । भगंदिनां श्रेष्ठमिदं विरेचनम् ॥ १६१ ॥

भावार्थः—जमालगोटेकी जड, त्रिफला, शंखिनी (यवतिक्ता, चोरपुष्पी, पुन्नाग-वृक्ष,) इन के कषाय, थोहर का दूध, और अमलतास का गूदा, चीता की जड वाय-विडंग, चव्य, हल्दी, सोंठ, मिरच, पीपल, इन के कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिए।

इसका नाम महानाराच घृत है। इस के सेवन से, शीघ्र विरेचन होता है। इसलिये सर्व उदररोग, अष्ठीलिका, कुष्ठ, गुल्म, अपस्मार भयंकर उन्माद और प्रजापयुक्त रोगीयोंके यह अत्यंत हितकर है ॥ १६०॥१६१ ॥

मूत्रवर्तिका।

समस्तसंशोधनभेषजैस्समैः। कटुप्रकारैर्लवणैर्गवां जलैः॥
महातरुक्षीरयुतैस्सुसाधिते-। र्महामयघ्ना वरमूत्रवर्तिका ॥ १६२ ॥

भावार्थः—सर्व प्रकार के पीपल आदि संशोधन औषधियां (विरेचन निरूह कारक) कटु रसयुक्त पंचलवण इनको गोमूत्र व थोहरके दूध के साथ पीसकर, बत्ती बनावें, इसका नाम मूत्रवर्तिका है। इसको गुद में रखनेसे, उदररोग नाश होत है ॥ १६२ ॥

द्वितीय वर्तिका।

संशोधनद्रव्ययुतैस्सुसर्षपै-। स्ससैंधवक्षारगणानुमिश्रितैः ॥
कटुत्रिकैः मूत्रफलाम्लपेषितै-। र्विधीयते वर्तिरियं महोदरे ॥ १६३ ॥

भावार्थः—शोधनद्रव्य, सरसौ, सैंधानमक, क्षारवर्ग (यवक्षार, सज्जीक्षार आदि पूर्वकथित) त्रिकटु इनको गोमूत्र, व अम्ल पदार्थ के साथ पीसकर बत्ती बनावे और गुदा में रखें तो वह महोदर रोग में उपयोगी है ॥ १६३ ॥

वर्तिका प्रयोगविधि।

गुदे विलिप्ते तिलतैलसैंधवैः। प्रलिप्तवर्तिं च विधाय यत्नतः ॥
जयेन्महानाहमिहोदराश्रितान्। क्रिमीन्मरुन्मूत्रपुरीषरोधनम् ॥१६४॥

भावार्थः—गुदस्थानमें सेंधानमक से मिश्रित तिलके तेलको लेपनकर, उपरोक्त बत्तीको भी लेपन करें। फिर (इन दोनोंको चिकना बनाकर) उसे गुदा के अंदर प्रवेश करना चाहिये। जिससे, उदरमें आश्रित, आध्मान (अफराना) क्रिमि वात और मल मूत्रावरोध दूर होता है। अर्थात् आध्मान, महोदर, इन रोगोंमे रहने वाले क्रिमि व वायुविकार एवं मल मूत्रावरोध आदि दूर होते हैं ॥१६४॥

दूष्योदर चिकित्सा।

तदाशु दूष्योदरिणं परित्यजे- द्विषाणि वा सेवितुमस्य दापयेत् ॥
कदाचिदेवाशु च रोगनिवृत्ति- र्भवेत्कदाचिन्मरणं यथासुखम् ॥१६५॥

भावार्थः—दूष्योदरीको असाध्य कहकर छोडना चाहिये। अथवा उसे विष सेवन कराना चाहिये। उसके सेवनसे कदाचित् उसके रोगकी निवृत्ति होजायगी अथवा कदाचित् सुख पूर्वक मरण भी होजायगा ॥१६५॥

यकृत्प्लीहोदर चिकित्सा।

यकृत्प्लिहोद्भूतमहोदरे शिरां। स्वदक्षिणे वामकरे च मध्यमे ॥
यथाक्रमात्तां व्यधयेद्विमर्दयन्। प्लिहां करेणातिदधिप्रभोजिनम् ॥१६६॥

भावार्थः—रोगीको खूब दही खिलाकर यकृदुदररोग में दाहिने हाथ के, प्लीहोदर में बायें हाथ के मध्यप्रभाग स्थित शिराको, प्लीहा को, मर्दन करते हुए, व्यधकरना (फस्त खोलना) चाहिये ॥ १६६ ॥

सुधांशतीक्ष्णाम्बरशेषमप्रयां। सुखोष्णगोक्षीरविमिश्रितां पिबेत् ॥
यकृत्प्लिहाध्मातमहोदरो नरः। क्रमात्सुखं प्राप्नुमना मनोहरम् ॥१६७॥

भावार्थ— कपूर से मिश्रित सुखोष्ण गायके दूध उसे पिलाना चाहिए। जिससे यकृत्, प्लिहा, आध्मान, महोदर आदि रोग दूर होते हैं ॥ १६७ ॥

यकृत्प्लिह नाशकयोग।

सौवर्चिकाहिंगुमहौषधान्विता। पलाशभस्मसृतमिश्रितां पिबेत् ॥
निहंति सक्षारगणैर्विपाचितं। समुद्रजातं लवणं प्लिहोदरम् ॥ १६८ ॥

भावार्थः—काला नमक, हींग, सोंठ इनको पलाश भस्मके कषाय में मिलाकर पीना चाहिये। एवं क्षारवर्गके साथ समुद्रलवणको पकाकर पीवें तो प्लिहोदर रोग नाश होता है ॥ १६८ ॥

पिप्पल्यादि चूर्ण।

सपिप्पलीसैंधवचित्रकान्वितं। यवोद्भवं साधु विचूर्णितं समम् ॥
रसेन सौभांजनकस्य मिश्रितं। लिहेद्यकृत्प्लीह्युदरोपशांतये ॥ १६९ ॥

भावार्थः—पीपल, सैंधानमक, चित्रक व यवक्षार को समांश चूर्ण करके उसे सैंजनके रस में मिलाकर रोज चाटे तो यकृत् व प्लीहोदर की शांति होती है ॥१६९॥

षट्पलसर्पि।

सपिप्पली नागरहस्तिपिप्पली। शटीसहृद्राग्नियवोद्भवैः शुभैः ॥
कषायकल्कैः पलषट्कसंमितैः। रिदं घृतं प्रस्थसमांशगोमयम् ॥१७०॥

लिहेदिदं षट्पलसर्पिरुत्तमं । यकृत्प्लिहाध्मानमहोदरेष्वपि ॥
सकासगुल्मोर्ध्वमरुत्प्रपीडिता- । स्तुदावृत्तनिवारणं परम् ॥१७१॥

भावार्थः—पीपल, सोंठ, गजपीपल, कचोर, समुद्रलवण, चित्रक, व यवक्षार इनके छहपल (२४ तोला) कषाय व छहपल कल्क और एक प्रस्थ (६४ तोला) गोबर का रस डालकर एक प्रस्थ घृत सिद्ध करें । इसे षट्पलसर्पि कहते हैं । इस उत्तम घृतको सेवन करनेसे, यकृत्, प्लिहा, आध्मान, महोदर, कास, गुल्म, ऊर्ध्ववात, उदावर्त को नाश करता है. ॥ १७० ॥ १७१ ॥

बद्ध व स्राव्युदरचिकित्सा ।

विबद्धसंस्राव्युदरेऽपि वामतो । विपाट्य नाभेश्चतुरंगुलादधः ॥
तदांत्रमाकृष्य निरीक्ष्य रोधनं । व्यपोह्य सिव्यादचिराद्बहिर्व्रणम् ॥१७२॥
प्रवन्महांत्रं रजतेन कीलये- । च्छृतं पयः पातुमिहास्य दापयेत् ॥
सुखोष्णतैलप्रकटावगाहनं । विधाय रक्षेत्परिपाटितोदरम् ॥१७३ ॥

भावार्थः—विबद्ध व स्रावी उदरमें भी बांये ओरसे नाभीके नीचे चार अंगुलके स्थानमें चीरना चाहिये । उसके बाद अंदरसे आंतडी को खींचकर अच्छीतरह देखकर उसमें ककंड कांटे आदि रुके हुए को निकालना चाहिये । छिन्न भिन्न आंतडीको चांदीके पतले तारसे जोडदेना चाहिये । पश्चात् उदर के बाहर के भागको शीघ्र सीकर ओटाये हुए दूधको पिलाना चाहिए । एवं उसको थोडा गरम तैल मे बैठालकर उसकी रक्षा करनी चाहिए ॥१७२॥१७३॥

जलोदर चिकित्सा ।

जलोदरे तैलविलिप्तदेहिनं । सुखोष्णतोयैः परिषिक्तमातुरम् ॥
पटेन कक्ष्यात्परिवेष्टितोदरम् । यथोक्तदेशे व्यथयेदधारया ॥ १७४ ॥

भावार्थः—जलोदरीको सबसे पहिले तैलका लेपन कर मंदोष्ण पानीसे स्नान करना चाहिए । उसके बाद कटी प्रदेशके ऊपर कपडे को लपटना चाहिए । फिर बिगर धारके कोई शस्त्रसे पूर्वोक्तप्रदेश [नाभिके चार अंगुल नीचे बांयें भाग] में छेद करना चाहिए ॥ १७५ ॥

उदरसे जल निकालने की विधि ।

निधाय नाडीं तनुधारयान्वितां । क्रमादिहाल्पाल्पजलं निषेचयेत् ॥
न चैकवारं निखिलं सृजेद्बुधः । तीव्रातिमूर्च्छाज्वरदाहसंभवात् ॥१७६॥

भावार्थः—उस छेद में एक योग्य दो मुखवाली नलीको रखकर थोडे २ जल उस से निकालना चाहिए। एकदम सब जल नहीं निकालना चाहिए। क्यों कि अत्यंत तृषा तीव्रमूर्च्छा, ज्वर व दाह इत्यादि होनेकी संभावना रहती है ॥ १७६ ॥

यथा यथा दोषजलस्रुतिर्भवेत् । तथा तथा गाढतरातिबंधनम् ॥
विधाय पक्षादथवापि वामतः । समस्तदोषोदकमुत्सृजेद्बुधः ॥१७७॥

भावार्थः—जैसे २ सदोष जल निकल जायेगा वैसे २ [कमरके] कपडेके बंधनको अधिक कसते हुए जाना चाहिए। इस प्रकार बुद्धिमान् वैद्यको उचित है कि पंद्रह दिन तक संपूर्ण दोष युक्त जलको वामपार्श्वसे निकालना चाहिए ॥ १७७ ॥

जलोदरीका पथ्य ।

ततश्च षण्मासमिहोदरार्दितं । सुखोष्णदुग्धेन सदैव भोजयेत् ॥
क्रियासु सर्वास्वथ सर्वथैव । महोदरे क्षीरमिह प्रयोजयेत् ॥ १७८ ॥

भावार्थः—उसके बाद छह महीने तक भी उस जलोदरी को मंदोष्णदूध के साथ ही भोजन कराना चाहिये। महोदररोगसंबंधी सर्वचिकित्सा करते समय दूधका उपयोग करना चाहिये ॥ १७८ ॥

दुग्धका विशेष गुण ।

क्षीरं महोदरहितं परितापशोष- । तृष्णास्रपित्तपवनामयनाशहेतुम् ॥
वृष्यं बलप्रजननं परिशोधनं च । संधानकृत्तदनुरूपगुणौषधाढ्यम् ॥१७९॥

भावार्थः—तत्तद्रोगनाशक औषधियों से युक्त, दूध, उदररोग संताप, शोष, तृष्णा, रक्तपित्त व वातविकार को नाशकरता है। साथ ही पौष्टिक है। बलप्रद है, शोधक है। और संधानकारी है ॥ १७९ ॥

अंतिम कथन ।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ १८० ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे

उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथ में जगतका एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ १८० ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे महाव्याधिचिकित्सितं नामादितो एकादशमः परिच्छेदः।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित भावार्थदीपिका टीका में महारोगाधिकार नामक **ग्यारहवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

—०—

अथ द्वादशः परिच्छेदः

वातरोगचिकित्सा ।

मंगल व प्रतिज्ञा ।

देवदेवमभिवंद्य जिनेंद्रं । भाषितामखिलवातचिकित्सां ॥
श्रावयामि वरभेषजयुक्तां । सावशेषकथितां सहरिष्टैः ॥ १ ॥

भावार्थः—देवाधिदेव श्री जिनेंद्र भगवंतको नमस्कार कर पूर्वऋषियों के द्वारा आज्ञापित वात चिकित्सा के संबंधमे पूर्वोक्त प्रकरण से शेषविषयों को औषधविधान व रिष्ट वगैरहके साथ कहेंगे ॥ १ ॥

वातरोग का चिकित्सासूत्र ।

यत्र यत्र नियताखिलरोगः । तत्र तत्र विदधीत विधानम् ॥
तैललेपनविमर्दनयुक्त- । स्वेदनोपनहनैरनिलघ्नैः ॥ २ ॥

भावार्थः—शरीरके जिस २ अवयवमें जो २ रोग हो उसी भागमें वात नाशकरनेवाले औषधियोंसे सिद्ध तैललेप, उबटन, स्वेदन, और उपनाहन [पुलटिस बांधना) के द्वारा तदनुकूल चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २ ॥

त्वक्सिरादिगतवातचिकित्सा ।

त्वक्सिरापिहितसंश्रितवाते । रक्तमोक्षणमथासकृदुक्तम् ॥
अस्थिसंधिधमनीगतमास्वे- । द्याशु बंधनविधिं विदधीत ॥ ३ ॥

भावार्थः—यदि वात त्वचा व शिरागत हो तो बार २ रक्त मोक्षण (खून निकालना) करना चाहिये । यदि अस्थि संधि व धमनीमें प्राप्त हो तो शीघ्र स्वेदन क्रियाकर बंधन करना चाहिये ॥ ३ ॥

अस्थिगत वातचिकित्सा ।

अस्थिसंश्रितमथावयवस्थं । शृंगमाशु जयतीह नियुक्तम् ॥
पाणिमन्थनविदारितमस्थ्या । व्यापयेन्नलिकया पवनं वा ॥ ४ ॥

भावार्थः—वह वायु अस्थ्यवयवमें प्रविष्ट हो तो सीग लगाकर रक्त निकालनेसे वह ठीक होता है अथवा हाथसे मलकर व चीरकर नळीसे वायुको बाहर निकालना चाहिये ॥ ४ ॥

श्लेष्मादियुक्त व सुप्तवात चिकित्सा।

श्लेष्मपित्तरुधिरान्वितवायौ । तत्प्रति प्रवरभेषजवर्गैः ॥
सुप्तवातमसृजः परिमोक्षै- । र्योजयेदुपशमक्रिययापि ॥ ५ ॥

भावार्थः—यदि वात कफ, पित्त व रक्तसे युक्त हो तो उसके लिये उपयोगी श्रेष्ठ औषधियोंका प्रयोग करना चाहिये। सुप्तवातके लिये रक्तमोक्षण करना व उसके योग्य उपशम क्रिया करना उपयोगी है ॥ ६ ॥

कफ पित्त युक्त वात चिकित्सा।

तापबंधनमहोष्मनिजाख्यैः । स्वेदनैः कफयुताद्भुतवातम् ॥
स्वेदयेद्रुधिरपित्तसमेतं । क्षीरवारिघृतकांजिकमिश्रैः ॥ ६ ॥

भावार्थः—ताप, बंधन [उपनाह] ऊष्म, और द्रव, इस प्रकार स्वेद के चार भेद हैं।। यदि वात कफयुक्त हो तो ताप, बंधन, और उपनाह के द्वारा स्वेदन करना (पसीना निकालना) चाहिये। रक्त व पित्त युक्त हो तो दूध, पानी, घी और कांजी मिलाकर द्रवस्वेद के द्वारा पसीना निकालना चाहिये। इसका विशेष इस प्रकार है।

(१) तापस्वेदः—वालुकी पोटली हथेली, वस्त्र, ईंठ आदि को गरम कर के, इन से, शरीरको तपाकर (सेककर) जो पसीना निकाला जाता है उसे तापस्वेद कहते हैं।

(२) उपनाह [बंधन] स्वेदः—वातघ्न औषधि, तैल, तार्क, दही, दूध, अम्ल पदार्थ आदिसे सिद्ध किये हुए औषध पिण्ड से तत्तदंगो में मोटा लेप कर उसके ऊपर कम्बल, कपडा, वातघ्न एरण्ड अर्कादि पत्तियोंको बांधकर [इसी को पुलटिश बांधना कहते हैं] जो पसीना निकाला जाता है उसे उपनाह व बंधन कहते हैं ।

(३) ऊष्मस्वेदः—[१] लोहेका गोला, ईंठ आदिकोंको तपाकर उस पर छाछ, कांजी आदि खट्टाद्रव छिडकना चाहिये। रोगीको कम्बल आदि उढाकर उस तपे हुए गोले व ईंठसे सेके तो उसके बाष्पसे पसीना आता है।

वातघ्न दशमूल आदि औषधोंके काढा व रसको एक घडेमें भरकर तपावे घडे का मुह बंद करके और उसके पेटमें छिद्र बनाकर उसमें लोहा बांस आदिसे बनी हुई एक नली लगावे। रोगीको वातघ्न तैल मालिश करके कम्बल आदि ओढाकर बैठावे। पश्चात् घडेकी नलीके मुंहको रोगीके कपडेके अंदर करें तो उसके बाफसे पसीना आता है।

१ देखो श्लोक नंबर ७.

मनुष्यके शरीरके बराबर लम्बा और चौडा जमीन खोदकर उसमें खैरकी लकडी भरकर जलावे। जब वह अच्छीतरह जलजावे उसी समय कोयला निकालकर दूध छाछ कांजी आदि छिडककर उसपर वातघ्न निर्गुण्डी एरण्ड, आक आदिके पत्तियोंको बिछावे बादमें उसके ऊपर रोगीको सुलावे। ऊपरसे कम्बल आदि ओढावें। इससे पसीना आता है। इत्यादि विधियोंसे जो स्वेद निकाला जाता है इसे ऊष्मस्वेद कहते हैं।

(४)द्रवस्वेदः—वातघ्न औषधियोंके गरम काढेको लोह ताम्र आदिके बडे पात्रमें भरकर उसमें तैलसे मालिश किये हुए रोगीको बैठालकर (रोगीका शरीर छाती पर्यन्त काढेमें डूबना चाहिये) जो पसीना लाया जाता है अथवा रोगीको खाली बर्तनमें बैठालकर ऊपरसे काढेकी धारा तबतक गिरावे जब तक कि नाभिसे छह अंगुल ऊपर तक वह जावे इससे भी पसीना आता है इनको द्रवस्वेद कहते हैं। इसी प्रकार घी दूध तैल आदि से यथायोग्य रोगोंमें स्वेदन करा सकते हैं॥ ६॥

वातघ्नउपनाह।

तैलतक्रदधिदुग्धघृताम्लैः। तण्डुलैर्मधुरभेषजवर्गैः॥
क्षारमूत्रलवणैस्सह सिद्धं। पत्रबंधनमिदं पवनघ्नम्॥ ७॥

भावार्थः—तैल, छाछ, दही, घृत अम्ल पदार्थ, चावल, व मधुर औषधिवर्ग यवक्षारादि क्षार गोमूत्र व सेंधवादि लवणोंके द्वारा सिद्ध पुल्टिसको बांधकर उसके ऊपर वातघ्न पत्तोंका प्रतिबंधन करना चाहिये। यह वातहर होता है॥ ७॥

सर्वदेहाश्रितवातचिकित्सा

सर्वदेहमिह संश्रितवातं। वातरोगशमनैरवगाहः॥
पक्वधान्यनिचयास्तरणाद्यैः। स्वेदयेत्कुरुत बस्तिविधानम्॥ ८॥

भावार्थः—सर्वदेहमें व्याप्त वात हो तो वात रोग को उपशमन करनेवाले औषधियोंसे सिद्ध काढेमें रोगी को अवगाहन, (बैठालना) व पके हुए धान्यसमूह के ऊपर सुलाना आदि क्रियावोंके द्वारा स्वेदन कराना चाहिये। फिर बस्तिप्रयोग करना चाहिये॥ ८॥

स्तब्धादिवातचिकित्सा।

स्तब्धदेहमिह कुंचितगात्रं। गाढबंधयुतमाचरणीयम्॥
स्कंधजत्रुगलवक्षसि वातं। नस्यमाशुशमयेद्वमनं च॥ ९॥

१-२ इन दोनोंका खुलासा ऊष्मद्रवस्वेद में किया है।

भावार्थः—वातविकारसे जिसका शरीर स्तब्ध व आकुंचित हो गया है उसके लिये मोटा पुल्टिश बांधना चाहिये। स्कंध (कंधा), जत्रु (हंसली) गल व वक्षस्थानमें वात हो तो नस्य और वमनसे शमन करना चाहिये ॥ ९ ॥

सर्वांगगतादिवातचिकित्सा।

एकदेशसकलांगगवातं। बस्तिरेव शमयेदतिकृच्छ्रम् ।
उत्तमांगसहितामलबस्तिं। धारयेत्क्षणसहस्रमशेषम् ॥ १० ॥

भावार्थः—एक देशगत व सर्वांगगत अतिकठिनसाध्य वात को बस्तिप्रयोग ही शमन करसकता है। शिरोगतवायु हो तो शिरोबस्तिको एक हजार क्षणतक धारण करना चाहिये।

शिरोबस्तिः—चर्म व चर्मसदृश मोटे कपडेसे टोपीके आकारवाली लेकिन इसके ऊपर व नीचेका भाग खुला रहे [टोपीमें ऊपरका भाग बंद रहता है] ऐसी बस्ति बनावे। उसके एक मुंहको शिरपर जमाके रखें। उसकी संधिमें उडदकी पिट्ठीका लेप करें। इसके बाद उसके अंदर वातघ्न तैल भरकर १००० एक हजार क्षणतक शिरको निश्चल रखकर धारण करावे तो नाक मुंह और नेत्रमें स्राव होने लगता है। तब उसको शिरसे निकाल लेवें। इसे शिरोबस्ति कहते हैं ॥ १० ॥

अतिवृद्धवातचिकित्सा।

स्नेहिकैर्वमनलेपविरेका- । भ्यंगधूपकबलाखिलबस्तिम् ॥
प्रोक्तनस्यमखिलं परिकर्म। प्रारभेत बहुवातविकारे ॥ ११ ॥

भावार्थः—अत्यधिक वातविकार हो तो स्नेहन वमन, लेप, विरेक, अभ्यंग, धूप, कवल व बस्ति आदि पहिले कहे हुए नस्य प्रयोगोंका आवश्यकतानुसार प्रयोग करें ॥ ११ ॥

वातरोग में हित।

स्निग्धदुग्धदधिभोजनपाना- । न्यम्लकानि लवणोष्णगृहाणि ॥
कुष्ठपत्रबहुलागुरुयुक्ता- । लेपनान्यनिलरोगहितानि ॥ १२ ॥

भावार्थः—चिकने पदार्थ (तैल घी) व दूध, दही, खट्टा और नमकीन पदार्थोंको भोजन व पान में उपयोग, गरम मकान में निवास और कूट, तेजपात, इलायची व अगुरु उनका लेपन करना, वातरोग के लिये हितकर है। ॥ १२ ॥

वातरोग में हित ।

सान्नियानगुरुसंवरणानि । ब्रम्हचर्यशयनानि मृदूनि ॥
धान्ययूषसहितानि खलानि । प्रस्तुतान्यनिलरोगिषु नित्यम् ॥१३॥

भावार्थः—गरम सवारीमें जाना, भारी कपडोंको ओढना, ब्रम्हचर्यसे रहना, मृदुशयनमें सोना, धान्ययूष सहित खल (व्यंजनविशेष), ये सब वातरोग के लिये हितकर हैं ॥ १३ ॥

वातरोग में हित ।

आज्यतैलयुतभक्षणभोज्यैः- । रुष्णावगाहपरिषेककरीषैः ॥
स्वेदनान्यतिसुखोष्णसुखानी- । त्येवमाद्यनिलवारणमिष्टम् ॥ १४ ॥

भावार्थः—घी, तेलसे युक्त भक्ष्य व भोजन, उष्ण काढा आदिमें अवगाहन, करीष [सूखे गोबर] को, थोडा गरम कर के सेक कर सुखपूर्वक स्वेदलाना आदि यह सब वातनिवारणके लिये हितकर हैं ॥ १४ ॥

तिल्वकादि घृत ।

तिल्वकाम्लपरिपेषितकल्कं । बिल्वमात्रमवगृह्य सुदंती ॥
क्षीरकंचुकमिति त्रिवृताख्या- । न्यक्षमात्रपरिमाणयुतानि ॥ १५ ॥
आढकं दधिफलत्रयजात- । क्वाथमाढकमथापि घृतस्य ॥
प्रस्थयुग्ममखिलं परिपक्वं । वातिनां हितविरेचनसर्पिः ॥ १६ ॥

भावार्थः—खट्टी चीजोंसे पिसा हुआ तिल्वक[1] (लोधके वृक्षके आकारवाला, जिसकी पत्तियां बडी होती है, लालवर्ण युक्त, ऐसे विरेचनकारक वृक्षविशेष) कल्क ४ तोले, जमालगोटे की जड, क्षीर कंचुकी [क्षीरीशवृक्ष] निशोथ ये एक २ तोले लेकर, चूर्ण करें और उपरोक्त (तिल्वक) कल्कमें मिलावें । यह कल्क, एक आढक [३ सेर, १६ तोले] दही, एक आढक त्रिफलाक्वाथ, इन चीजोंसे, दो प्रस्थ [डेढ सेर १२ तोला] घृत यथाविधि सिद्ध करें। यह तिल्वकादि घृत, वातिक रोगियोंको विरेचन के लिये उपयोगी है ॥ १५ ॥ १६ ॥

अणुतैल ।

पीलुकोपकरणानि तिलानां । खण्डखण्डशकलानि विधाय ॥
क्वाथयेद्बहुतरोदकमध्ये । तैलमुत्पतितमत्र गृहीत्वा ॥ १७ ॥

१ रोध्राकारे बृहत्पत्रे, रक्ताविरेचनिक वृक्षे ' वैद्यक शब्दसिंधु.

तच्च वातहरभेषजकल्क- । क्वाथदुग्धदधिभागविपक्कम् ॥
वातरोगमणुतैलमशेषं । हंति शांतिरिव कर्मकलंकम् ॥ १८ ॥

भावार्थः---पीलु वृक्षकी छाल व तिलको टुकडा २ कर बहुतसे पानीमें पकाकर क्वाथ करना चाहिए। उसमें जो तेल निकले उसे निकालकर वात हर औषधियोंका कल्क क्वाथ, दूध, दहीके साथ पकानेपर तेल सिद्ध होता है। उसका नाम अणुतैल है। जिस प्रकार शांतिक्रिया कर्म कलंकको नाश करती है उसी प्रकार उस तेलका एक अणु भी संपूर्ण वात रोग को नाश करता है ॥ १७ ॥ १८ ॥

सहस्रविपाक तैल।

सर्ववातहरवृक्षविशेषै- । रुशोषितैरवनिमाशु विदग्धाम् ॥
तद्विपक्कवरतैलघटैर्नि- । र्वाप्य नक्तमुषितां ह्यपरेद्युः ॥ १९ ॥
स्नेहभावितसमस्तमृदं निः- । क्वाथ्य पूर्ववदिहोत्थिततैलम् ।
आम्लदुग्धदधिवातहरक्का- । थौषधैरपि ससहस्रगुणांशैः ॥२०॥
सर्वगंधपरिवापविपक्कं । पूजया सततमेव महत्या ॥
पूजितं रजतकांचनकुंभ- । स्थापितं वरसहस्रविपाकम् ॥ २१ ॥
राजराजसदृशोऽतिधनाढ्यः । श्रीमतां समुचितं भुवि साक्षात् ॥
तैलमेतदुपयुज्य मनुष्यो । नाशयेदखिलवातविकारान् ॥ २२ ॥

भावार्थः---सर्व वातहर वृक्षोंको सुखाकर उनसे भूमि को जलावे तथा उन्ही वात हर वृक्षोंकी छाल, जड आदि के क्वाथ व कल्कके द्वारा एक आढक तिलके तैल को पकाकर सिद्ध करें। उस तेलको उस जलाई हुई भूमि पर डाले। एक रात्री वैसा ही छोडकर दूसरे दिन उस तेल से भावित मिट्टीको निकालकर क्वाथ करें जिससे यथापूर्व निकल जायगा। उस तेलको हजार गुना आम्ल, दधि, दुग्ध व वातहर औषधियोंके क्वाथ व कल्क के साथ हजार वार पकाना चाहिए। तब वह तेल सिद्ध होजाता है। फिर उसमें सर्व गंधद्रव्यों [चन्दन कस्तूरी कपूर आदि] को डालकर बहुत विजृंभणके साथ पूजा करके उसे चांदी व सोनेके घडेमें भरकर रखें। इस तेल को तैयार करनेके लिए राजाधिराज सदृश धनाढ्य ही समर्थ हैं। इस तैलको उपयोग करनेसे मनुष्य सर्वप्रकारके वात विकारोंको दूर करता है ॥१९॥२०॥२१॥२२॥

पत्रलवण।

नक्तमालबृहतीद्वयपूति- काग्निकेक्षुरकमुष्कपुनर्न- ॥
रंडपत्रगणमत्र गृहीत्वा । क्षुण्णमंबुलवणेन समानम् ॥ २३ ॥

तत्सुपात्रनिहितं प्रपिधाया – रण्यगोमयमहाग्निविदग्धम् ॥
पत्रनामलवणं पवनघ्नम् । ग्रंथिगुल्मकफशोफविनाशम् ॥ २४ ॥

भावार्थः—करंज, छोटी कटेली, वडी कटेली, पूती करंज, चित्रक, गोखुर मोखा, पुनर्नवा, एरण्ड इनकी पत्तियोंको समभाग लेकर चूर्ण करें। इस चूर्ण के बराबर समुद्र नमक मिलाकर उसे एक अच्छे मिट्टी के घडेमें डालकर, उसके मुंह बंद कर दें। फिर जंगली कण्डोंसे एक लघु पुट देवें [जलावे]। बस औषध तैयार होगया। इसका नाम पत्रलवण है। इसके सेवन से वातरोग नाश होते हैं। तथा ग्रंथि, गुल्म, कफ, और शोथ (सूजन) को नष्ट करता है॥ २३ ॥ २४ ॥

काथ सिद्धलवण।

नक्तमालपिचुमंदपटोला– पाटलीनृपतरुत्रिफलाग्नि– ॥
काथसिद्धलवणं स्नुहिदुग्धो– न्मिश्रितं प्रशमयेदुदरादीन् ॥२५॥

भावार्थः—करंज, नीम, पटोलपत्र (कडवी परवल) पाढ, अमलतास की गूदा त्रिफला, चित्रक इनको समांश लेकर बने हुए काथसे सिद्ध[1] नमकमें थोहरका दूध मिश्रकर उपयोगमें लेवें तो उदरादि अनेक रोगोंको दूर करता है॥ २५ ॥

कल्याण लवण।

पारिभद्रकुटजार्कमहावृ– क्षापमार्गनिचुलाग्निपलाशान् ।
शिग्रुशाकबृहतीद्वयनादे– याटरूषकसपाटलबिल्वान् ॥ २६ ॥
नक्तमालयुगलामलचव्या– रुष्करांघ्रिपसमूलपलाशान् ।
वैजयंत्युपयुतान् लवणेनो– न्मिश्रितान्कथितमार्गविदग्धान् ॥२७॥
षड्गुणोदकविमिश्रितपका– न्गालितानतिघनामलवस्त्रे ।
तद्द्रवं परिपचेत्प्रतिवापै– र्हिंगुजीरकमहौषधचव्यैः ॥ २८ ॥
चित्रकैर्मरिचदीप्यकमिश्रैः । पिप्पलीत्रिकयुतैश्च समांशैः ।
चूर्णितैर्बहलपक्कमिदं कल्याणकाख्यलवणं पवनघ्नम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—बकायन, कुटज, अकौवा, थोहर, लटजीरा, चित्रक, पलाश, सेंजन, दोनों (छोटी बडी) कटेली, अडूसा, पाढ, बेल, दोनों (करंज पूतीकरंज) करंज, चाब, भिलावा, पलाशमूल, अगेथु इन सब औषधियोंको चूर्ण कर उसमें सेंधालवण सन्मिश्रण करके पूर्वोक्त प्रकारसे जलाना चाहिये। तदनंतर उसे षड्गुण जल मिलाकर

१ औषधियोंके काथ में उसके बराबर सेंधानमक डालकर तबतक पकावे कि वह जबतक गाढा न होवे।

उसको पकावे । फिर अच्छे कपडेसे छानकर उस द्रवमें हींग, जीरा, सोंठ चाव चित्रक कालीमिरच अजमोद '' तीनों प्रकारके पीपल, इनके समांश चूर्णको डालकर तबतक पकावे जबतक गाढा न हो इसे कल्याणलवण कहते हैं । यह वातविकारको नाश करता है ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

अग्निमांद्यगुदजांकुरगुल्म- । ग्रंथिकीटकठिनोदरशूला- ॥
नाहकुक्षिपरिवर्तविषूची । साररोगशमनं लवणं तत् ॥ ३० ॥

भावार्थः—यह लवण अग्निमांद्य, बवासीर, गुल्म, ग्रंथि, कृमिरोग कठिनोदर, शूल, आध्मान, कुक्षि, परिवर्त, हैजा, अतिसार आदि अनेक रोगोंको उपशमन करता है ॥ ३० ॥

साध्यासाध्य विचारपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए ।

उक्तलक्षणमहानिलरोगे- ष्वप्यसाध्यमधिगम्य विधिज्ञः ॥
साधयेदधिकसाधनवेदी । वक्ष्यमाणकथितौषधयोगैः ॥ ३१ ॥

भावार्थः—इस प्रकार लक्षणसहित कहे गये वातरोगोंमें चिकित्सा शास्त्र में कुशल वैद्य साध्यासाध्यका निर्णय करें । और साध्यरोगोंको आगे कहनेवाले व कहे गये औषधियोंके प्रयोग से साध्य करें ॥ ३१ ॥

अपतानकका असाध्यलक्षण ।

स्रस्तलोचनमतिश्रमबिंदु- । व्याप्तगात्रमभिजृंभितमेदम् ॥
मंचकाहतबहिर्गतदेहम् । वर्जयेत्तदपतानकतप्तम् ॥ ३२ ॥

भावार्थः—जिसकी आंखे खिसक गई हो, अतिश्रमसे युक्त हो जिसके शरीरमें बहुतसे चकत्ते होगये हों, जिसका शिश्न बहुत बढ गया हो, खाटपर हाथ पैरको खूब पटकता हो व उस से बाहर गिरता हो ऐसे अपतानक रोगीको असाध्य समझकर छोडना चाहिए ॥ ३२ ॥

पक्षाघातका असाध्यलक्षण ।

शूनगात्रमपसुप्तशरीरा- । ध्मानभुग्नतनुकंपरुजार्तम् ।
वर्जयेदधिकवातगृहीतं । पक्षघातमरुजं परिशुष्कम् ॥ ३३ ॥

भावार्थः— जिसका शरीर सूजगया हो, सुप्त (स्पर्शज्ञान शून्य) हुआ हो, आध्मान (अफराना) से युक्त हो, नमगया हो, व कम्पसे युक्त हो, अत्यधिक वातसे गृहीत

१ पिप्पली २ जलपिप्पली ३ गजपिप्पली.

हो, पीडा रहित हो, अंगोपांग सूख गये हों, ऐसे पक्षाघात रोगी को असाध्य समझकर छोडना चाहिए ॥ ३३ ॥

आक्षेपकअपतानकचिकित्सा ।

स्नेहनाद्युपकृतातुरमाक्ष- । पापतानकनिपीडितगात्रम् ॥
शोधयेच्छिरसि शोधनवर्गैः । पाययेद्घृतमनंतरमच्छम् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—आक्षेपक अपतानकसे पीडित रोगी को स्नेहन स्वेदन आदि क्रियाओंके प्रयोगकर [शिरोविरेचन] शिरश्शोधनवर्ग की औषधियोंसे शिरश्शोधन करना चाहिए । तदनंतर स्वच्छ घृतको पिलाना चाहिए ॥ ३४ ॥

वातहर तैल ।

ख्यातवातहरभेषजकल्क- । क्वाथकोलयवतोयकुलुत्था- ॥
त्पन्नयूषदधिदुग्धफलाम्लैः- । स्तैलमाज्यसहितं परिपक्वम् ॥३५॥

भावार्थः—वातको नाश करनेवाली औषधियोंसे बनाया हुआ कल्क व क्वाथ बेर व यवका पानी, कुलथी का यूष, दही, दूध अम्लफल और घी इनसे तैल सिद्ध करना जाहिये ॥ ३५ ॥

वातहर तैल का उपयोग ।

नस्यतर्पणशिरःपरिषेका- भ्यंगवस्तिषु विधेयमिहाक्षे- ।
पापतानकमहानिलरोगे- ष्वष्टवर्गसहितं मिथुनाख्यम् ॥३६॥

भावार्थः— उपरोक्त तैल को, अपतानक महावात रोगोंमें नस्य, सिर का तर्पण, परिषेक, अभ्यंग, और वस्तिक्रिया में उपयोग करना चाहिये। एवं जीवक ऋषभक, काकोली क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि इन अष्टवर्ग से सिद्ध किये हुए मिथुन नामक तैल को उपरोक्त कार्योंमें उपयोग करना चाहिये ॥ ३६ ॥

अर्दित वात चिकित्सा ।

स्वेदयेदसकृदर्दितवातं । स्वेदनैर्बहुविधैर्बहुधोक्तैः ।
अर्कतैलमपतानकपत्रा- । म्लाधिकं दधि च पीतमभुक्त्वा ॥३७॥

भावार्थः—अर्दित वातरोग में भोजन न खिलाकर, अम्लरस या दही को पिलावें पश्चात् अनेक बार कहे गये, नाना प्रकार के स्वेदन विधियों द्वारा, बार २ स्वेदन करें । आकके तैल का मालिश करें ॥ ३७ ॥

शुद्ध व मिश्रवातचिकित्सा ।

शुद्धवातहितमेतदशेषं । मिश्रितेष्वपि च मिश्रितमिष्टम् ॥
दोषभेदरसभेदविधिज्ञो । योजयेत्मतिविधानविशेषैः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—ऊपर अभीतक जो वातरोग की चिकित्सा का वर्णन किया है, वे सम्पूर्ण शुद्धवातारब्ध अर्थात् केवल वातसे उत्पन्न रोगों में हितकर हैं । अन्यदोषों से मिश्रित (युक्त) वातरोगों के लिये भी रसभेद, दोषभेद, व तत्तद्रोगों के प्रतीकार विधान को जाननेवाला वैद्य, तत्तद्दोषोंके प्रतिकूल, ऐसी मिश्रित चिकित्सा करें ॥ ३८ ॥

पक्षाघात अर्दितवात चिकित्सा ।

पक्षघातमपि साधु विशोध्या- । स्थापनाद्यखिलरोगचिकित्सा ॥
संविधाय विदितार्दितसंज्ञम् । स्वेदनैरुपचरेदवपीडैः ॥ ३९ ॥

भावार्थः—पक्षाघात रोगीको अच्छीतरह विरेचन कराकर, आस्थापनाबस्ति आदि वातरोगों के लिये कथित, सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये । अर्दित वातरोगी को स्वेदन व अवपीडननस्य आदि से उपचार करना चाहिये ॥ ३९ ॥

आर्दितवात के लिए काशादि तैल ।

काशदर्भकुशपाटलबिल्व । क्वाथभागयुगलैकसुदुग्धम् ॥
तैलमर्धमखिलं परिपक्वं । सर्वथार्दितविनाशनमेतत् ॥ ४० ॥

भावार्थः—कास तृण, दर्भा, कुश, पाढ, बेल इनके दो भाग क्वाथ एक भाग दूध एवं उस से [दूधसे] आधा भाग तैल डालकर पकावें । इस तैल को नस्य आदि के द्वारा प्रयोग करें तो, आर्दितवात को विनाश करता है ॥ ४० ॥

गृध्रसी प्रभृतिवात रोग चिकित्सा ।

गृध्रसिप्रभृतिवातविकारा- । न्रक्तमोक्षणमहानिलरोग- ॥
प्रोक्तसर्वपरिकर्मविधानैः । साधयेदुरुतरौषधयोगैः ॥ ४१ ॥

भावार्थः—गृध्रसि आदि महावात विकारमें रक्तमोक्षण करके पहिले कहे गये उत्तम औषधियोंके प्रयोगसे योग्य चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४१ ॥

कोष्ठगतवातचिकित्सा ।

कोष्ठजानपि महानिलरोगान् । कुष्ठपत्रलवणादिघृतैर्वा ॥
वस्तिभिर्विविधभेषजयोगैः । साधयेदनिलरोगविधिज्ञः ॥ ४२ ॥

भावार्थः—कोष्ठगत महावात रोगोंमे पत्र लवणादिक, घृत व बस्तिप्रयोग आदि अनेक प्रकारके प्रयोगों द्वारा संपूर्ण वात रोगोंकी विधीको जाननेवाला कुशल वैद्य चिकित्सा करें ॥ ४२ ॥

वातव्याधिका उपसंहार.

केवलोऽयमितरैस्सहयुक्तो । वात इत्युदितलक्षणमार्गात् ॥
आकलय्य सकलं सविशेषै- । र्भेषजैरुपचरेदनुरूपैः ॥ ४३ ॥

भावार्थः—यह केवल वातज विकार है, यह अन्य दोषोंसे युक्त है । इन वातोंको पहिले कहे हुए वातादि दोषोंके लक्षणोंसे निश्चयकर उनके योग्य औषधियोंसे चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

कर्णशूल चिकित्सा ।

कर्णशूलमपि सैंधवहिंगु- । श्रृंगवेररसतैलसमेतैः ॥
पूरयेच्छ्रवणमाशु जयेत्तं । छागतोयलशुनार्कपयोभिः ॥ ४४ ॥

भावार्थः—सैंधानमक, हींग, अदरखके रसको तेलमें मिलाकर अथवा बकरेकी मूत, लहसन व अकौवेका रस इनको मिलाकर गरम करके कानमें भरें और उसको सौ पांचसौ अथवा एक हजार मात्रा[1] समयतक धारण करावे तो कर्णशूल शांत होता है ।

अथ मूढगर्भाधिकारः ।

मूढगर्भकथनप्रतिज्ञा ।

उक्तमेतदखिलामययोग्यं । सच्चिकित्सितमतःपरमन्ये ॥
मूढगर्भगतिलक्षणरिष्ट- । मोग्रदुद्धरणयुक्तकथेयम् ॥ ४५ ॥

भावार्थः—अभीतक वात रोगोंके लिये योग्य चिकित्साविशेषोंका प्रतिपादन किया है । अब मूढगर्भके लक्षण, रिष्ट, व उद्धरणकी (निकालनेकी) विधि आदिको कहेंगे ॥ ४५ ॥

गर्भपात का कारण ।

वाहनाध्वगमनस्खलनाति- । ग्राम्यधर्मपतनाद्यभिघातात् ॥
प्रच्युतः पतति विसृतगर्भ- । स्स्वाशयात्फलमिवांघ्रिपवृंदात् ॥ ४६ ॥

[1] घुटनेके चारों तरफ हाथसे एक चक्कर फिराकर चुटकी बजावे। इतने कालकी एक मात्रा होती है।

भावार्थः—अत्याधिक वाहनमें बैठने से, अधिक चलनेसे, स्खलन (पैर फिसलना) होनेसे, मैथुन करनेसे, कहीं गिरपडनेसे, चोट लगनेसे, जिस प्रकार वृक्षसे फलच्युत होता है उसी प्रकार गर्भ अपने स्थानसे अर्थात् गर्भाशयसे च्युत होकर गिरजाता है (इसे गर्भपात[1] कहते हैं) ॥ ४६ ॥

गर्भस्राव स्वरूप ।

गर्भघातविपुलीकृतवायुः । पार्श्वबस्त्युदरयोनिशिरस्था- ॥
नाहशूलजलरोधकरोऽस्रं । स्रावयत्यतितरां तरुणश्चेत् ॥ ४७ ॥

भावार्थः—वह गर्भ यदि तरुण (चारमहीनेतक का) होवें तो गर्भके आघातसे उद्रिक्तवायु पार्श्व, बस्ति उदरयोनि व शिर आदि स्थानोंको पाकर आध्मान, शूल, मूत्ररोध को करते हुए अत्याधिक रक्त का स्राव करता है। (इसी अवस्थाको गर्भस्राव[2] कहते हैं.) ॥ ४७ ॥

मूढगर्भलक्षण ।

कश्चिदेवमभिवृद्धिमुपेतोऽ- । पानवायुविपुटीकृतमार्गम् ॥
मूढगर्भ इति तं प्रवदंति । द्वारमाश्वलभमानमसुघ्नम् ॥ ४८ ॥

भावार्थः—विना किसी उपद्रव के, कोई गर्भवृद्धि को प्राप्त होकर जब वह प्रसवोन्मुख होता है, तब यदि अपानवायु प्रकुपित हो जावे तो वह गर्भ की गति को विपरीत कर देता है। इसलिये, उसे निर्गमनद्वार शीघ्र नहीं मिलपाता है। विरुद्ध क्रम से बाहर निकलने लगता है। इसे मूढगर्भ कहते हैं। यदि इस की शीघ्र चिकित्सा न की जाय तो प्राणघात करता है ॥ ४९ ॥

मूढगर्भकी गतिके प्रकार ।

कश्चिदेव करपादयुगाभ्या-- । मुत्तमांगविनिवृत्तकराभ्याम् ॥
पृष्टपार्श्वजठरेण च कश्चित् । स्फिक्छिरोंघ्रिभिरपि प्रतिभुग्नः ॥४९॥

भावार्थः—उस मूढगर्भसे पीडित होनेपर किसी किसी बालकका सबसे पहिले हाथ पाद एक साथ बाहर आते हैं। किसी २ के मस्तक ही बाहर आजाता है। हाथ अंदर रहजाता है। किसी २ बालककी पीठ व बगल बाहर आजाते हैं और

---

१ पांचवे या छटवे महीनेमें जो गर्भ गिरजाता है उसे गर्भपात कहते हैं।

२ प्रथमसे चार महिनेतक जो गर्भ गिरजाता है उसे गर्भस्राव कहते हैं।

किसीका पेट, इसी प्रकार किसी २ के पाद और मस्तक एक साथ निकलनेसे कटि-प्रदेश पहिले आजाता है ॥ ४९ ॥

मूढगर्भ का अन्य भेद।

योनिवायुगतपादयुगाभ्यां । प्राप्नुयाद्बहुविधागमभेदैः ॥
मूढगर्भ इति तं प्रविचार्या- । श्वाहरेदमुहरं निजमातुः ॥ ५० ॥

भावार्थः—योनिगत कुपित वातसे दोनों पाद ही पहिले आते हैं। इस प्रकार गर्भ अनेक प्रकारसे बाहर आता है इसलिए मूढगर्भका भी अनेक भेद हैं। उस समय मूढगर्भ की गति को अच्छी तरह विचार कर जैसा भी निकल सके, बच्चेको शीघ्र बाहर निकालना चाहिए। नहीं तो वह माताके प्राणका घातक होगा ॥ ५० ॥

मूढगर्भका असाध्य लक्षण।

वेदनाभिरतिविश्रुतमत्या- । ध्मानपीडितमतिप्रलपन्तीं ॥
मूर्च्छयाकुलितमुद्गतदृष्टीं । वर्जयेदधिकमूढजगर्भाम् ॥ ५१ ॥

भावार्थः—अत्यंत वेदनासे युक्त, आध्मानसे पीडित, अत्यंत प्रलाप करती हुई, मूर्च्छाकुलित व जिसकी दृष्टी ऊपरकी ओर हो ऐसी मूढगर्भवाली स्त्री को असाध्य समझकर छोडें ॥ ५१ ॥

शिशुरक्षण।

प्राणमोक्षणमपि प्रमदायाः । स्पंदनातिशिथिलीकृतकुक्षिम् ।
प्राग्विबुध्य जठरं प्रविपाट्य । प्रोद्धरेत्करुणया तदपत्यम् ॥ ५२ ॥

भावार्थः—स्त्री का प्राण छूट जानेपर भी यदि पेट में गर्भ फडकता हो, पेट शिथिल हो गया हो तो ऐसी अवस्था को पहिले ही जानकर दयाभावसे बच्चे को बचाने की इच्छा से, पेटको चीर कर उसे बाहर निकाले ॥ ५२ ॥

मृतगर्भ लक्षण।

श्वासपूतिरतिशूलपिपासा । पाण्डुवक्त्रमचलोदरताल्या- ॥
ध्मानमप्यविपरिणाशनमेत- । ज्जायते मृतशिशावबलायाः ॥ ५३ ॥

भावार्थः—यदि बच्चा पेटमें मर गया तो माताको श्वासदुर्गंध, अतिशूल, प्यास, पाण्डुरामुख, निश्चलपेट, अति आध्मान [अफराना] प्रसववेदनाविनाश ये सब विकार प्रकट होते हैं ॥ ५३ ॥

मूढगर्भउद्धरणविधि ।

मूढगर्भमतिकृष्टमिहांत्रा- । धंतराक्तमपहर्तुमशक्यम् ॥
तन्निवेद्य नरपाय परेभ्यः । तस्य कृच्छतरतां प्रतिपाद्य ॥ ५४ ॥
पिच्छिलौषधघृतप्रविलिप्त- । क्लृप्तकुंठनखरेण करेण ॥
प्रोद्धरेत्समुचितं कृपया त- । द्गर्भिणीमपि च गर्भमहिंसन् ॥ ५५ ॥

भावार्थः—आंतडी यकृत् प्लीहा आदिके बीच में रहनेवाले मूढगर्भको निकालना अतिकठिन व दुःसाध्य काम है । इसलिये वैद्य को उचित है कि उसकी कष्ट साध्यता को, राजा व अन्य उसके बंधुबांधवों से कहकर लिबलिबाहट [फिसलनेवाले] औषध और घी को, नाखून कटे हुए हाथों में लेपकर, अंदर हाथ डालकर योग्य रीतीसे, दयाद्रहृदय होते हुए निकाल लेवें । परंतु ध्यान रहें कि गर्भिणी व उसके गर्भ को कुछ भी बाधा न पहुंचे ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

वर्तनातिपरिवर्तनविक्षे- । पातिकर्षणविशेषविधानैः ।
आहरेदसुहरं द्रुढगर्भं । श्रावयेदपि च मंत्रपदानि ॥ ५६ ॥

भावार्थः—माताके प्राण को घात करनेवाले मूढगर्भको निकालनेके लिये जिस समय वह अंदर हाथ डाले उस समय बच्चे को जैसा रहे वैसा ही खींचना, उसको बदलकर खींचना, सरकाकर खींचना व एकदम खींचना आदि अनेक विधानोंसे अर्थात् प्राण हरनेवाले मूढगर्भकी जैसी स्थिती हो तदनुरूप विधानों (जिससे बिना बाधा के शीघ्र निकल आवें) के द्वारा बाहर निकालना चाहिये ॥ ५६ ॥

लांगलाख्यवरभेषजकल्कं । लेपयेदुदरपादतलान्युन्- ।
मत्तमूलमथवा खरमंज- । र्याश्च साधु शिरसि प्रणिधेयम् ॥५७॥

भावार्थः—कलिहारीकी जडके कल्क बनाकर गर्भिणीके पेट व पादतलमें लेपन करना चाहिये, धतूरेकी जड व चिरचिरेकी जडको मस्तकपर रखना चाहिये ॥५७॥

सुखप्रसवार्थ उपायान्तर ।

तीर्थकृत्प्रवरनामपदैर्वा । मंत्रितं तिलजपानमनूनम् ॥
चापपत्रमथ योनिमुखस्थं । कारयेत्सुखतरप्रसवार्थम् ॥५८॥

भावार्थः— तीर्थंकर परमदेवाधिदेव के पवित्र नामोच्चारणसे मंत्रित तेल गर्भिणीको पिलाना चाहिये । तथा योनीके मुखमें चाषपत्रोंको रखना चाहिये । उपरोक्त-क्रीयाओंसे सुखपूर्वक शीघ्र ही प्रसव होता है ॥५८॥

मृतगर्भाहरणविधान।

पूर्वमेव तदनंतरमास- । आगतं ह्यपहरेयुरपत्यं ॥
मुद्रिकानिहितशस्त्रमुखेना- । श्वाहरेन्मृतशिशुं मविदार्य ॥ ५९ ॥

भावार्थः—पहिलेसे ही अथवा औषधि आदिके प्रयोग के बाद निकट आये हुए बच्चेको हाथसे बाहर निकालना चाहिये। यदि वह बच्चा मरगया हो तो मुद्रिका शस्त्रसे विदारण करके निकालना चाहिये ॥ ५९ ॥

स्थूलगर्भाहरणविधान।

स्थौल्यदोषपरिलग्नमपीह । प्राहरेत्प्रबलपिच्छिलतैला- ॥
लिप्तहस्तशिशुयोनिमुखान्त- । र्मार्गगर्भमतियत्नपरस्सन् ॥ ६० ॥

भावार्थः— यदि वह बच्चा कुछ मोटा हो अत एव योनिके अंतर्मार्गमें रुका हुआ हो तो उस समय लिबलिबे औषधियों को अपने हाथ, बच्चा व योनिमें लगाकर बच्चे को बहुत सावधान होकर बाहर निकालना चाहिये ॥ ६० ॥

गर्भको छेदनकर निकालना।

येन येन सकलावयवेन । सज्यते मृदुशरीरमपत्यम् ॥
तं करेण परिमृज्य विधिज्ञः । छेदनैरपहरेदतियत्नात् ॥ ६१ ॥

भावार्थः—मृदुशरीरके धारक बच्चा जिस अवयवसे अटक जाता हो उन अंगों को हाथसे मलकर एवं छेदकर[१] बहुत यत्नके साथ बच्चेको बाहर निकालना चाहिये ॥६१

सर्वमूढगर्भापहरण विधान।

मूढगर्भगतिरत्र विचित्रा । तत्वविद्विविधमार्गविकल्पैः ॥
निर्हरेत्तदनुरूपविशेषै- । र्गर्भिणीमुपचरेदपि पश्चात् ॥ ६२ ॥

भावार्थः—मूढगर्भकी गति अत्यंत विचित्र हुआ करती है। इसलिये उनके सब प्रकार के भेदोंको जानने वाला कुशल वैद्य अनेक प्रकारकी उचित रीतियों से उसे बाहर निकालें। तदनंतर गर्भिणीका उपचार करें ॥ ६२ ॥

प्रसूता का उपचार।

योनितर्पणशरीरपरिषे- । कावगाहनविलेपननस्यैः ॥
पूकतैलमनिलघ्नमशेषं । योजयेदपि बलाविहितं च ॥ ६३ ॥

१ यदि गर्भ जीवित होतो कभी छेदन नहीं करना चाहिये।

भावार्थः—प्रसूत स्त्री के योनितर्पण [योनिमें तेलसे भिजा हुआ कपडा रखना आदि) शरीरसेक, शरीर पर तेल छिडकना वा धारा देना आदि अवगाहना, लेपन और नस्य क्रिया में पूर्वोक्त सम्पूर्ण वातहर तैलोंको अथवा बलातैल [आगे कहेंगे] को उपयोग में लाना चाहिये। सारांश यह कि वातनाशक तैलोंके द्वारा प्रसूता स्त्रीको योनितर्पण आदि चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६३ ॥

बलातैल।

क्वाथ एव च बलाग्निविपक्व- । त्पड्गुणस्सदृशदुग्धविमिश्रैः ॥
कोलबिल्वबृहतीद्वयटुंटू- । काग्निमंथयवहस्तकुलुत्थैः ॥ ६४ ॥
विश्रुतैः कृतकषायविभागैः । तैलभागसहितास्तु समस्ताः ॥
तच्चतुर्दशमहाढकभागं । पाचयेदधिकभेषजकल्कैः ॥ ६५ ॥
अष्टवर्गमधुरौषधयुक्तैः । क्षीरिका मधुकचंदनमंजि- ॥
ष्टाश्वगंधसुरदारुशताव- । र्यग्निकुष्ठसरलस्तगरैला ॥ ६६ ॥
सारिवासुरससर्जरसाख्यै । पत्रशैलजजटागुरुगंधो- ॥
ग्राख्यसैंधवयुतैः परिपिष्टैः । कल्कितैस्सममृतैस्सहपक्वम् ॥६७॥
साधुसिद्धमवतार्य सुतैलं । राजते कनकमृण्मयकुंभे ॥
सन्निधाय विदधीत सदेदं । राजराजसदृशां महतां च ॥ ६८ ॥
पाननस्यपरिषेकविशेषा- । लेपबस्तिषु विधानविधिज्ञैः ॥
योजितं पवनपित्तकफोत्था- । न्नाशयेदखिलरोगसमूहान् ॥ ६९ ॥

भावार्थः— तैलसे षड्गुण बलामूलका कषाय व दूध एवं तेलका समभाग बेर, बेल, दोनों कटेली, टुंटुक, अगेथु, जौ, कुलथी इनके कषाय व चतुर्दश आढक प्रमाण तिलका तेल लेकर पकाना चाहिये। उसमें अष्टवर्ग (काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेद, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक) मधुरौषधि, अकौवा, मुलैठी, चंदन, मंजीठ असगंध, देवदारु, शतावरीमूल, कूट, धूपसरल, तगर, इलायची, सारिवा, तुलसी, राल, दालचीनीका पत्र, शैलज नामक सुगंधद्रव्य [भूरिछरील] जटामांसी, अगरु, वचा, सैंधानमक इनको पीसकर तैल से चतुर्थांश भाग कल्क उस तेलमें डालकर पकाना चाहिये। जब वह तेल अच्छीतरह सिद्ध हो जाय तो उसे उतारे। फिर उसे चांदी सोने अथवा मट्टीके घडेमें रखें। वह राजाधिराजों व तत्सदृश महान पुरुषों को उपयोग करने योग्य है। इस तैलको पान, नस्य, सेक, आलेपन, बस्ति आदि विधानों

१ अवगाहन आदिका स्वरूप पहिले लिख चुके हैं।

में प्रयोग किया जाय तो वात, पित्त, कफ आदि दोषोंसे उत्पन्न अनेक रोगोंको दूर करता है ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

शतपाकबला तैल।

तत्कषायबहुभावितशुष्क । कृष्णसत्तिलनिपीडिततैलम् ॥
तद्बलाकथिततोयशतांशैः । पक्वमेतदसकृच्छतपाकम् ॥ ७० ॥
तद्रसायनविधानविशेषै- । स्सेव्यमान शतपाकबलाख्यम् ॥
दीर्घमायुरनवद्यशरीरं । द्रोणमेव कुरुतेऽत्र नराणाम् ॥ ७१ ॥

भावार्थः—बलामूल के कषाय से अनेकबार भावित काले तिल से तैल निकाल कर उस में, सौगुना बलामूल के कषाय डालकर बार २ पकावें। इसका नाम शतपाक बलातैल है। इस तैल को रसायन सेवन विधान से, एक द्रोण [१२॥ पौने तेरह सेर] प्रमाण सेवन किया जाय तो दीर्घायु एवं शरीर निर्दोष होता है ॥७०।७१॥

नागबलादि तैल।

तद्वदुत्तमगजातिबलाको- । रंटमूलशतमूलगुडूच्या- ॥
दित्यपर्णितुरगार्कविशारी- । ण्यादितैलमखिलं पचनीयम् ॥ ७२ ॥

भावार्थः—इस तैल की विधिसे उत्तम नागबला, अतिबला, पियाबासा इन के मूल शतावरी गुडूची (गुर्च) मूत्रपर्णी, अश्वगंध, अकौवा, माषपर्णी (बनमूग) इत्यादि वातघ्न औषधियोंसे तैल सिद्ध करना चाहिये ॥ ७२ ॥

प्रसूता स्त्री के लिये सेव्य औषध।

मार्कवेष्वपि पिबेद्यवजं स- । क्षारमाज्यसहितोष्णजलैर्वा ॥
पिप्पलीत्रिकटुकद्वययुक्तं । सैंधवं तिलजमिश्रितमेव ॥ ७३ ॥
सत्रिजातककटुत्रयमिश्रं । मिश्रशोधनपुराणगुडं वा ॥
भक्षयेन्मरिचमागधिकाकु- । स्तुंबरक्वथितसोष्णजलं वा ॥ ७४ ॥

भावार्थः—प्रसूता स्त्री को भृंगराज रस में यवक्षार डालकर अथवा घी, उष्ण जल यवक्षार मिलाकर अथवा सोंठ मिरच पीपल, सेंधानमक इनको तिलके तैलमें मिलाकर पिलाना चाहिये व पुराने गुडके साथ त्रिकटु व त्रिजातक मिलाकर भक्षण करना चाहिये। अथवा मिरच, पीपल व धनियासे क्वथित उष्णजलको पिलाना चाहिये ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

१ तैल को सिद्ध करने की परिपाटी यह है कि तैल के बराबर कषाय डालकर प्रत्येक दिन पकाया जाता है। इस प्रकार सौ दिन पकाने पर तैल सिद्ध होता है।

गर्भिणी आदिके सुखकारक उपाय।

गर्भिणीं प्रसविनीं तदपत्यं । प्रोक्तवातहरभेषजमार्गैः ॥
संविनीय सुखितामतियत्ना-- । द्बालपोषणमपि प्रविदध्यात् ॥ ७५ ॥

भावार्थः—इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार वातहर औषधियोंके प्रयोगों द्वारा बहुत प्रयत्नसे गर्भिणी, प्रसूता व बच्चेको सुखावस्थामें पहुंचाना चाहिये । तदनंतर उस बालकका पोषण भी करना चाहिये ॥ ७५ ॥

बालरक्षणाधिकारः ।

बालकं बहुविधौषधरक्षा-- । रक्षितं कृतसुमंगलकार्यम् ॥
यंत्रतंत्रनुतमंत्रविधानै-- । र्मंत्रितं परिचरेदुपचारैः ॥ ७६ ॥

भावार्थः—उस बालकको जातकर्म आदि मंगल कार्य करते हुए अनेक प्रकारकी औषधि व यंत्र, तंत्र, मंत्र आदि विधानों के द्वारा रक्षा करनी चाहिये ॥ ७६ ॥

शिशुसेव्यघृत ।

गव्यमेव नवनीतिघृतं वा । हेमचूर्णसहितं वचयात्र ॥
पाययेच्छिशुमिहाग्निबलेना- । त्यल्पमल्पमधिकं च यथावत् ॥ ७७ ॥

भावार्थः—गायका मक्खन व घीमें सुवर्णभस्म व वच का चूर्ण मिलाकर बालकको अग्निबलके अनुसार अल्पमात्रासे आरम्भ कर थोडा २ बढाते हुए पिलाना चाहिये । जिससे आयुष्य, शरीर, कांति आदि वृद्धि होते हैं ॥ ७७ ॥

धात्री लक्षण ।

दुग्धवत्कृशतरस्तनयुक्तां । शोधितामतिहिताभिह धात्रीं ॥
गोत्रजां कुशलिनीमपि कुर्या- । दायुरर्थमतिबुद्धिकरार्थं ॥ ७८ ॥

भावार्थः—बालककी आयु व बुद्धिके लिए दूधवाले और कृश (पतला) स्तनोंसे संयुक्त परीक्षित (दुष्टस्वभाव आदिसे रहित) बालकके हितको चाहनेवाली स्वगोत्रोत्पन्न कुशल ऐसी धाईको दूध पिलाना आदि बालकके उपचार के लिए रखनी चाहिये ॥ ७८ ॥

बालग्रहपरीक्षा ।

बालकाकृतिशरीरसुचेष्टां । संविलोक्य परिपृच्छ्यच धात्रीम् ॥
भूतवैकृतविशेषविकारा- । नाकलय्य सकलं विदधीत ॥ ७९ ॥

भावार्थः—बालकके आकार और शरीरचेष्टाको देखकर एवं उसके विषयमें धाईसे पूछकर भूत विकार अर्थात् बालग्रह रोगकी परीक्षा करें। यदि बालग्रह मौजूद हो तो उसकी सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ७९ ॥

बालग्रहचिकित्सा।

होमधूमबलिमण्डलयंत्रान्। भूततंत्रविहितौषधमार्गात् ॥
संविधाय शमयेच्छमनीयम्। बालकग्रहगृहीतमपत्यम् ॥ ८० ॥

भावार्थः—बालग्रहसे पीडित बालकको होम, धूवां, बली, मण्डल, यंत्र, एवं भूत तंत्रोक्त भूतोंको दूरकरने वाली औषधियोंसे उपशम करना चाहिये ॥ ८० ॥

बालरोग चिकित्सा.

आमयानपि समस्तशिशूनां। दोषभेदकथितौषधयोगैः ॥
साधयेदधिकसाधनवेदी। मात्रयात्र महतामिव सर्वान् ॥ ८१ ॥

भावार्थः—प्रकुपित दोषोंके अनुसार अर्थात् तत्तद्दोषनाशक औषधियोंके योगों द्वारा वय, बल, दोषादिके अनुकूल मात्रा आदिकी कल्पना करते हुए जिस प्रकार बडों (युवादि अवस्थावालों) की चिकित्साकी जाती है उसी विधिके अनुसार उन्हीं औषधियोंसे सम्पूर्ण रोगोंकी चिकित्सा कार्यमें अत्यंत निपुण वैद्य बालकोंकी चिकित्सा करें ॥ ८१ ॥

बालकोंको अग्निकर्म आदिका निषेध.

अग्निकर्मसविरेकविशेष-। क्षारकर्मभिरशेषशिशूनाम् ॥
आमयान्न तु चिकित्सयितव्या-। स्तत्र तत्समुचितेषु मृदुस्यात् ॥८२॥

भावार्थ—बालकों के रोगोंकी चिकित्सा अग्निकर्म, विरेक, क्षारकर्म शस्त्रकर्म, वमन आदि अग्निकर्म आदिसे नहीं करना चाहिये। साध्य रोगोंमें तदनुरूप मृदु क्रियाओंसे करनी चाहिये ॥ ८२ ॥

अथार्शरोगाधिकारः।

अर्शकथन प्रतिज्ञा।

मूढगर्भमखिलं प्रतिपाद्य। घोरदुष्कृतमहामयसंघ--॥
न्ध्यर्शसामपि निदानचिकित्सां। स्थानरिष्टसहितां कथयामि ॥८३॥

भावार्थः—इस प्रकार मूढगर्भके विषयमें प्रतिपादन कर महारोगसंबंधी अर्श रोग [बवासीर] के निदान चिकित्सा, उसके स्थान व रिष्टोंका (मरणचिन्ह) कथन करेंगे इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ ८३ ॥

अर्श निदान ।

वेगधारणचिरासनविष्टं- । भाभिघातविषमाद्यशनाद्यैः ॥
अर्शसां प्रभवकारणमुक्तं । वातपित्तकफरक्तसमस्तैः ॥ ८४ ॥

भावार्थः—मलमूत्र के वेगको रोकना, बहुत देर तक बैठे रहना, मलावरोध, चोट लगाना, विषम भोजन आदि कारणोंसे दूषित व इनके एक साथ कुपित होनेसे, पृथक २ वात, पित्त, कफ व रक्तोंसे अर्श रोगकी उत्पत्ति होती है ॥ ८४ ॥

अर्शभेद व वातार्श लक्षण ।

षड्विधा गुदगदांकुरजातिः । प्रोक्तमार्गसहजक्रमभेदात् ॥
वातजानि परुषाणि सशूला- । ध्मानवातमलरोधकराणि ॥ ८५ ॥

भावार्थः—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, सन्निपातज एवं सहज इस प्रकार अर्श [बवाशीर] के छह भेद हैं । इनमें वातज अर्श कठिण होते हैं एवं शूल ३।ध्मान (अफराना) वात व मलरोध आदि लक्षण उस में उत्पन्न होते हैं ॥ ८५ ॥

पित्तरक्त कफार्शलक्षण ।

पित्तरक्तजनितानि मृदून्य- । त्युष्णमस्रमसकृद्विसृजंति ॥
श्लेष्मजान्यपि महाकठिनान्य- । त्युग्रकण्डुरतराणि बृहन्ति ॥ ८६ ॥

भावार्थः—पित्त व रक्तज अर्श मृदु होते हैं । अत्युष्ण रक्त जिनमें बार २ पडता है । श्लेष्मज अति कठिण होते हैं । देखनेमें अन्य अर्शों की अपेक्षा बडे होते हैं । एवं उसमें बहुत अधिक खुजली चलती है ॥ ८६ ॥

सन्निपातसहजार्शलक्षण ।

सर्वजान्यखिललक्षणलक्ष्या- । णीक्षितानि सहजान्यतिसूक्ष्मा- ॥
ण्युक्तदोषसहितान्यतिकृच्छ्रा- । ण्यर्शसां समुदितानि कुलानि ॥ ८७ ॥

भावार्थः—सन्निपातज बवासीर में, वातादि पृथक् २ दोषोत्पन्न, अर्शों में पाये जाने वाले, पृथक् २ लक्षण एक साथ पाये जाते हैं । अर्थात् तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं । सहज (जन्मगत) अर्श अत्यंत सूक्ष्म होते हैं, एवं इसमें सन्निपातार्शमें प्रकट होनेवाले सर्व लक्षण मिलते हैं । [क्यों कि यह भी सान्निपातज है] । उपरोक्त सर्व प्रकार के अर्शके, समूह कष्ट साध्य होते हैं ॥ ८७ ॥

अर्शके स्थान।

तिस्र एव वलयास्तु गुदोष्ठा- दंगुलांतरनिवेशितसंस्थाः ॥
तत्र दोषविहितात्मकता दु- र्नामकान्यनुदिनं प्रभवंति ॥ ८८ ॥

भावार्थः—गुदास्थान में तीन वलय [वलियां] होते हैं और वे गुदा के मुख से लेकर तीनों एक २ अंगुल के अंतर में हैं। (तात्पर्य यह कि एक २ वलय एक २ अंगुलप्रमाण है। इस प्रकार तीनों वलय गुदा के मुख से लेकर तीन अंगुल प्रमाण हैं) इन वलयोंमें, वातादि दोषोत्पन्न पूर्वोक्त सभी अर्श उत्पन्न होते हैं। ॥ ८८ ॥

अर्शका पूर्वरूप।

अम्लिकारुचिविदाहमहोद- राविपाककृशतोदरकंपाः ॥
संभवंति गुदजांकुरपूर्वो- त्पन्नरूपकृतिभूरिविकाराः ॥ ८९ ॥

भावार्थः—खट्टी डकार आना और मुख खट्टा २ होजाना, अरुचि होना, दाह, उदर रोग होना, अपचन, कृशता व उदरकंप आदि बहुतसे लक्षण अर्श-रोग होनेके पहिले होते हैं। अर्थात् बवासीरके ये पूर्वरूप हैं ॥ ८९ ॥

मूलरोगसंज्ञा।

ग्रंथिगुल्मयकृदद्भुतवृध्य-। ष्ठीलकोदरबलक्षयशूलाः ॥
तन्निमित्तजनिता यत एते। मूलरोग इति तं प्रवदंति ॥ ९० ॥

भावार्थः—अर्श रोगसे ग्रंथि, गुल्म, यकृत्वृद्धि, अष्ठीला, उदर, बलक्षय व शूल आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अर्थात् अनेक रोगों की उत्पत्ति में यह मूलकारण है इसलिये इसे मूलरोग [मूलव्याधि] कहते हैं ॥ ९० ॥

अर्शके असाध्य लक्षण।

दोषभेदकृतलक्षणरूपो-। पद्रवादिसहितैर्गुदकीलैः।
पीडिताः प्रतिदिनं मनुजास्ते। मृत्युवक्त्रमचिराद्रुपयांति ॥ ९१ ॥

भावार्थः— जिसमें भिन्न २ दोषोंके लक्षण प्रगट हों अर्थात् तीनों दोषोंके संपूर्ण लक्षण एक साथ प्रगट हों, उपद्रवोंसे संयुक्त हो ऐसे अर्श रोगसे पीडित मनुष्य शीघ्र ही यमके मुख में जाते हैं ॥ ९१ ॥

---

१ प्रवाहणी, विसर्जनी, संवरणी, ये अंदर से लेकर बाहर तक रहने वाली वलियों के क्रमश नाम हैं। २ अन्य ग्रंथों में, प्रथम वली १ अंगुल प्रमाण, बाकीकी दो वलियां १॥ डेढ २ अंगुलप्रमाण हैं ऐसा पाया जाता है।

मेढ्रादि स्थानोंमें अर्शरोगकी उत्पत्ति ।

मेढ्रयोनिनयनश्रवणास्य- । घ्राणजेष्वपि तदाश्रयरोगाः ॥
संभवंत्यतितरां त्वचि जाता- । श्चर्मकीलनिजनामयुतास्ते ॥९२॥

भावार्थः—मेढ्र (शिश्नेन्द्रिय) योनि, आंख, कान, मुंह और नाक में भी अर्श रोग की उत्पत्ति होती है । उस के होने पर, मेढ्र आदिस्थानों में उत्पन्न होने वाले अन्यरोगों की उत्पत्ति भी होती है । यह अर्श यदि त्वचा में होवे तो उसे चर्मकीला कहते हैं ॥ ९२ ॥

अर्शका असाध्य लक्षण ।

प्रस्रुतातिरुधिराद्यतिसार- । श्वासशूलपरिशोषतृषार्तम् ॥
वर्जयेद्गुदगदांकुरवर्गा- । त्पीडितं पुरुषमाशु यशोऽर्थी ॥ ९३ ॥

भावार्थः—जिससे अधिक रक्त पडता हो, और जो अतिसार, श्वास, शूल, परिशोष और अत्यंत प्यास आदि अनेक उपद्रवोंसे युक्त हो ऐसे अर्श रोगी को यश को चाहनेवाला वैद्य अवश्य छोडें ॥ ९३ ॥

अन्य असाध्य लक्षण ।

अंतरंगवलिजैर्गुदकीलै- । स्सर्वजैरपि निपीडितगात्राः ॥
पिच्छिलास्रकफमिश्रमलं येऽ- । जस्रमाशु विसृजंति सतोदम् ॥ ९४ ॥

भावार्थः— अंदर की (तीसरी) वलिमें उत्पन्न अर्श एवं सन्निपातज अर्शसे पीडित तथा जो सदा पिच्छिल रक्त व कफ मिश्रितमलको विसर्जन करते रहते हैं जिसे उस समय अत्यंत वेदना होती है ऐसे अर्श रोगीको असाध्य समझकर छोडें ॥ ९४ ॥

अन्य असाध्य लक्षण ।

वल्य एव बहुलाविलदुर्ना- । मांकुरैरुपहता गुदसंस्थाः ॥
तान्नरानखिलरोगसमूहैः- । कालयान्परिहरेदिह येषां ॥ ९५ ॥

भावार्थः—अर्शरोग से पीडित, गुदास्थानगत, वलिया, अत्यंत गंदली या सडगयी हों, एवं अनेक रोगोंके समूह से पीडित हों ऐसे अर्शरोगी को असाध्य समझकर छोडना चाहिये ॥ ९५ ॥

अर्शरोग की चिकित्सा ।

तच्चिकित्सितमतः परमुद्य- । त्पाटयेन्नवरभेषजशस्त्रैः ॥
उच्यतेऽधिकमहागुणयुक्तः । क्षारपाकविधिरप्यतियत्नात् ॥ ९६ ॥

भावार्थः—उस अर्श रोगकी चिकित्सा यंत्र, पट्टीबंधन, उत्तम औषधि व शस्त्रकर्मके बलसे एवं महान् गुणसे युक्त क्षारकर्म विधिसे किस प्रकार करनी चाहिये यह विषय बहुत प्रयत्नसे यहांसे आगे कहा जायगा अर्थात् अर्श रोगकी चिकित्सा यहांसे आगे कहेंगे ॥ ९६ ॥

मुष्ककादिक्षार।

कृष्णमुष्ककतरुं परिगृह्यो- । त्पाट्य शुष्कमवदह्य सुभस्म ॥
द्रोणमिश्रितजलाढकषट्कं । क्वाथयेन्महति निर्मलपात्रे ॥ ९७ ॥
यावदच्छमतिरक्तसुतीक्ष्णं । तावदुत्कथितमाशुविगाल्यो- ॥
द्वट्टयन् परिपचेदथ दर्व्या । यद्यथा द्रवघनं न भवेत्तत् ॥ ९८ ॥
शंखनाभिमवदह्य सुतीक्ष्णं । शर्करामपि निषिच्य यथावत् ॥
क्षारतोयपरिपेषितपूति- । कार्मिकं प्रतिनिवापितमेतत् ॥ ९९ ॥
साधुपात्रनिहितं परिगृह्या- । भ्यंतरांकुरमहोदरकीले ॥
ग्रंथिगुल्मयकृति प्रपिबेत्त । द्बाह्यजं प्रति विलेपनमिष्टम् ॥ १०० ॥

भावार्थः—काला मोखा वृक्षको फाडकर सुखावें, फिर उसे जलाकर भस्म करें। इसका एक द्रोण [१२॥ पौने तेरह सेर] भस्मको, एक बडा निर्मल पात्र में डालकर, उसमें छह आढक (१९ सर १० तोला) जल मिलावें। पश्चात् इसे तबतक पकावें जबतक वह स्वच्छ, लाल व तीक्ष्ण न हों। फिर इसे छानकर इस पानीको करछलीसे चलाते हुए पुनः पकाना चाहिये जबतक वह द्रव गाढा न हों। इस [क्षारजल] में तीक्ष्ण शंखनाभि, और चूनाको जलाकर योग्य प्रमाण में मिलावें तथा पूतिकरंज व भिलावे को क्षार जलमें पीस कर डालें। इस प्रकार सिद्ध किये हुए क्षारको एक अच्छे पात्रमें सुरक्षित रूपसे रखें। इस को अंदर के भाग में होनेवाले अर्श, महोदर, ग्रंथि, गुल्म, यकृत्वृद्धि इत्यादि रोगों में योग्य मात्रा में पीना चाहिये तथा बाहर होनेवाले अर्श, चर्मकील आदि में लेपन करें। तात्पर्य यह है उस को पीने व लगानेसे, उपरोक्त रोग नष्ट होते हैं ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ ९९ ॥ १०० ॥

अर्श यंत्र विधान।

गोस्तनप्रतिमयंत्रमिहद्वि- । च्छिद्रमंगुलिचतुष्कसमानम् ॥
अंगुलीप्रवरपंचकवृत्तम् । कारयेद्रजतकांचनताम्रैः ॥ १०१ ॥
यंत्रवक्त्रमवलोकनिमित्तं । स्यादिहांगुलिमितोन्नमितांष्टं ॥
त्र्यंगुलायतमिहांगुलिदेशं । पार्श्वतो विवरमंकुरकार्ये ॥ १०२ ॥

भावार्थः—अर्श को शस्त्र, क्षार आदि कर्म करनेके लिये, गायके स्तनोंके सदृश आकारवाला, चार अंगुल लम्बा, पांच अंगुल गोल, दो छिद्रोंसे युक्त ऐसा एक यंत्र चांदी, सोन' या ताम्र से बनवाना चाहिये। ऊपर जो दो छिद्र बतलाये हैं उन में से, एक यंत्रके मुख में होना चाहिये (अर्थात् यह यंत्र का मुखस्वरूप रहे) जो अर्श को देखने के लिये हैं। इस का ओष्ठ अर्थात् बाहर का भाग थोडा उठा हुआ होना चाहिये। दूसरा छिद्र यंत्रके बगलमें होना चाहिये, यह क्षारादि कर्म करनेके लिये है। ये दोनों, तीन अंगुल लम्बा, एक अंगुल मोटा होना चाहिये ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

अर्शपातन विधि।

स्नेहनाद्युपकृतं गुदकीलैः । पीडितं बालिनमन्यतरस्यो- ॥
त्संगसंनिहितपूर्वशरीरं । शुक्तवंतमिह संवृतदेशे ॥ १०३ ॥
व्यभ्रसौम्यसमये समकायो- । त्थानशायितगुदप्रतिसूर्यम् ॥
शाटकेन गुदसंधिनिबद्धम् । संगृहीतमपि कृत्य सुहृद्भिः ॥ १०४ ॥
तस्य पायुनि यथा सुखमाज्या- । लिप्तयंत्रमुपधाय घृताक्ते ॥
यंत्र पार्श्वविवरागतमर्श- । पातकेन पिचुनाथ विमृज्य ॥ १०५ ॥
संविलोक्य वलितेन गृहीत्वा । कर्तरीनिहितशस्त्रमुखेन ॥
छर्दयेदपि दहेदचिरार्तः । शोणितं स्थितिविधाननिमित्तम् ॥ १०६ ॥
कूर्चकेन परिगृह्य विपक- । क्षारमेव परिलिप्य यथार्शः ॥
पातयेन्निहितयंत्रमुखं त- । द्वावृतं करतलेन पिधाय ॥ १०७ ॥
पक्वजांबवसमप्रतिभासं । मानमीपदवसन्नमदार्शः ॥
प्रेक्ष्य दुग्धजलमस्तुसधान्या- म्लैस्सुधौतमसकृद्भिमशीतैः ॥ १०८ ॥
सर्पिषा मधुकचंदनकल्का- । लेपनैः प्रशमयेदतितीव्रम् ॥
क्षारदाहमपनीय च यंत्रम् । स्नापयेत्तमपि शीतलतोयैः ॥ १०९ ॥
तन्निवातसुखशीतलगेहे । सन्निवेश्य घृतदुग्धविमिश्रम् ॥
शालिषाष्टिकयवाद्युचितान्नं । भोजयेत्तदनुरूपकशाकैः ॥ ११० ॥
सप्त सप्त दिवसात्तत एकै- । कांकुरक्षतमिहाचरणीयम् ॥
सावशेषमपि तत्पुनरेवं । संदहेत्कथितमार्गविधानात् ॥ १११ ॥

भावार्थः—अर्शरोगसे पीडित बलवान मनुष्यको स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि, से संस्कृत कर के, लघु, चिकना, उष्ण, अल्प अन्न को खिलाकर, मेघ (बादल) से रहित सौम्य समय में किसी एकांत वा गुप्त प्रदेश में, किसी मनुष्य की गोद में

[रोगी को] इस प्रकार चित सुलावें कि, गुदा सूर्य के अभिमुख हो, कमर से उपरके शरीरभाग (पूर्वोक्त मनुष्य के) गोद में हो, कटिप्रदेश जहां ऊंचा हो । पश्चात् गुदे संधि को कपडे की पट्टीसे बांधकर उसे परिचारक मित्र, अच्छीतरह से पकड रक्खे (जिस से वह हिले नहीं) तदनंतर गुदप्रदेश को घी लेपन कर, घृत मे लिप्त अर्शयंत्र को गुदा में प्रवेश करावें । जब मस्से यंत्रके पार्श्वस्थित, छिद्र (सूराक) से अंदर आजावें तो उन को कपडा व फायासे साफ कर के और अच्छीतरह से देखकर, वलित [शस्त्रविशेष] से पकड कर कर्तरी शस्त्रसे काटकर अर्श की स्थिति के लिये कारणभूत दूषित रक्त को, बाहर निकालना चाहिये अथवा जला देना चाहिये अथवा कूर्चक से पकड कर, पकाकर सिद्ध किये हुए क्षार को लेप करके, अर्श यंत्रके मुंह को, हथेली से ढके (और सौतक गिनने के समयतक रहने दें) जब मस्से पका हुआ जामुन सदृश नीले थोडा ऊंचा हो जावे तो, पश्चात् ठण्डे एवं दूध, जल, दही का तोड, कांजी इनसे बार २ धोकर, एवं मुलैठी, चंदन इन के कल्कको घी के साथ लेपन कर, क्षार का जलन को शमन करना चाहिये । इस के बाद अर्श यंत्र को निकालकर ठंडे पानीसे स्नान करावे और हवा रहित मकान में बैठाले । पश्चात साठी चावल, जौ आदि के योग्य अन्नको घी, दूध मिलाकर योग्य शाकोंके साथ खिलाना चाहिये । सात २ दिनमें एक अंकुरको गिराना चाहिये । इस प्रकार गिराते हुए यदि कुछ भाग शेष रहजाय तो फिर पूर्वोक्त क्रमसे जलाना चाहिये ॥ १०३ ॥१०४ ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥ १११ ॥

इस में अर्श का शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म, बतलाये हैं । आगे अनेक अर्शनाशक योग भी बतलायेंगे । लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इन को किन २ हालतों में प्रयोग करना चाहिये ? इस का खुलासा इस प्रकार है ।

जिसको उत्पन्न होकर थोडे दिन होगये हों, अल्प दोष, अल्प लक्षण, अल्प उपद्रवोंसे संयुक्त हो, तथा जो अभ्यंतर भाग में होने से बाहर नहीं दीखता हो ऐसे बवासीर को औषध खिलाकर ठीक करना चाहिये । अर्थात् वे औषध सेवनसे अच्छे होसकते हैं ।

जिस के मस्से, कोमल, फैले हुए, मोटे और उभरे हुए हों तो उसको क्षार लगाकर जीतना चाहिये ।

जो मस्से, खरदरे, स्थिर, ऊंचे व कडे हों उनको अग्निकर्म से ठीक करना चाहिये ।

जिनकी जड पतली हो, जो ऊंचे व लटकते हो, क्लेदयुक्त हो, उन को शस्त्रसे काट कर अच्छा करना चाहिये ।

१ दोनों पैर और गले को परस्पर बांधना चाहिये । ऐसा अन्य ग्रंथों में लिखा है ।

भिन्न २ अर्शोकी भिन्न २ चिकित्सा ।

तत्र वातकफजान्गुदकीलान् । साधयेदधिकतीव्रतराग्नि- ॥
क्षारपातविधिना तत उद्यत्- । क्षारतो रुधिरपित्तकृतानि ॥११२ ॥
स्थूलमूलकठिनातिमहान्तं । छेदनाग्निविधिना गुदकीलम् ।
कोमलांकुरचयं प्रतिलेपै- । र्योजयेद्बलवतां बहुयोगैः ॥ ११३ ॥

भावार्थः—वात व कफसे उत्पन्न अर्शको क्षार कर्म व अग्नि कर्मसे, रक्त व पित्तोत्पन्न अर्शको क्षारकर्मसे एवं मूलमें स्थूल, कठिन व बडे अर्शको छेदन व अग्निकर्म से साधन करना चाहिए । जिसका अंकुर कोमल है रोगी भी बलवान है उसको अनेक प्रकारके लेपों अनेक प्रकारके औषधि योगों द्वारा उपशम करना चाहिए ॥११२।११३॥

अर्शघ्न लेप ।

अर्कदुग्धहरितालहरिद्रा- । चूर्णमिश्रितविलेपनमिष्टम् ॥
वज्रवृक्षपयसाग्निकगुंजा- । सैंधवोज्वलनिशान्वितमन्यत् ॥ ११४ ॥

भावार्थः—आकके दूधमें हरताल हलदीके चूर्णको मिलाकर लेपन करें अथवा थोहरके दूधमें चित्रक, घुंवची, सैंधानमक व हलदीके चूर्ण मिलाकर लेपन करें तो अर्श रोग उपशमनको प्राप्त होता है ॥ ११४ ॥

पिप्पलीलवणचित्रकगुंजा- कुष्टमर्कपयसा परिपिष्टम् ।
कुष्ठचित्रकसुधारुचकं गो- मूत्रपिष्टमपरं गुदजानाम् ॥११५ ॥

भावार्थः—पीपल, सैंधानमक, चित्रक व घुंवचीको कूटकर अकौवेके दूधके साथ पीसें । उसे लेपन करें अथवा कूठ, चित्रक, थोहर व काले नमकको कूटकर गोमूत्रके साथ पीसा हुआ लेपन भी उपयोगी है ॥ ११५ ॥

अश्वमारकविडंगसुदन्ती- चित्रमूलहरितालसुधार्कैः ॥
क्षीरसैंधवविपक्वमथार्श- स्तैलमेव शमयेदिह लेपात् ॥ ११६ ॥

भावार्थः—करनेर, वायविडंग, जमालगोटेकी जड, चित्रक, हरताल, थोहरका दूध अकौवेका दूध व सैंधानमकसे पका हुआ तेल अर्शपर लेपनके लिये उपयोगी है ॥११६॥

अदृश्यार्श नाशक चूर्ण ।

यान्यदृश्यतररूपकदुर्ना- मानि तेषु विदधीत विधिज्ञः ॥
प्रातरग्निकहरीतकचूर्णं । भक्षणं पलशतं गुडयुक्तम् ॥ ११७ ॥

भावार्थः—जो अर्श अदृश्यरूपसे हो अर्थात् अंदर हो तो कुशल वैद्यको उचित है कि वह रोगीको प्रतिदिन प्रातःकाल भिलावा व हरडके चूर्णको गुडके साथ मिलाकर खानेको देवें। इस प्रकार सौ पल चूर्ण उसे खिलाना चाहिये ॥११७॥

अर्शोघ्नयोगद्वय।

प्रातरेवमभयाग्निकचूर्णं- सैंधवेन सह कांजिकया वा- ।
मूत्रसिद्धमसकृत्प्रपिबेद्वा । तत्र साधितरसं खरभूषात् ॥ ११८ ॥

भावार्थः—प्रातःकालमें हरड, चीताकी जड, सेंधानमक इनके चूर्णको गोमूत्रसे भावना देकर कांजी के साथ बार २ पीना चाहिये। अथवा गोमूत्र से सिद्ध किये गये, खरबूजेके कषाय को पीना चाहिये ॥ ११८ ॥

चित्रकादि चूर्ण।

चित्रकान्वितभरुष्करबीजैः। क्षुण्णसात्तिलगुडं सततं तत् ॥
भक्षयन् जयति सर्वजदुर्ना- । मान्युपद्रवयुतान्यपि मर्त्यः ॥११९॥

भावार्थः—चित्रक की जड व भिलावेके बीजके साथ तिल व गुडको कूटकर जो रोज भक्षण करता है वह सन्निपातज व उपद्रवसहित अर्शको भी जीत लेता है अर्थात् वे उपशम होते हैं ॥ ११९ ॥

अर्शनाशकतक्र।

श्लक्ष्णपिष्टवरचित्रकलिप्ता- । भ्यन्तराभिनवनिर्मलकुंभे ॥
न्यस्ततक्रमुपयुज्य समस्ता- । न्यर्शसां शमयतीह कुलानि ॥ १२० ॥

भावार्थः—चित्रकको बारीक पीसकर एक निर्मल घडा लेकर उसके अंदर उसे लेपन करें। ऐसे घडेमें रखे हुए छाछ को प्रतिनित्य सेवन करें तो अर्शरोग उपशमन होता है ॥ १२० ॥

सूरण मोदक।

सत्क्रमान्मरिचनागरवित्या- । ताग्निकभ्रकटसूरणकन्दान् ॥
उत्तरोत्तरकृतद्विगुणांशान् । मर्दितान् समगुडेन त्रिचूर्णान् ॥१२१॥

मोदकान्विदितनिष्परिहारान् । भक्षयन्नधिकमृष्टसुगंधान् ॥
दुर्जयानपि जयत्यतिगर्भा- । दर्शसां सकलरोगसमूहान् ॥ १२२ ॥

भावार्थः—मिरच, सोंठ, भिलावा व सूरणकंद इनको क्रमसे द्विगुणांश लेकर सबको एक साथ पीसे । उसके बाद इनके बराबर गुड लेवें । इन दोनोंको मिलाकर बनाया हुआ रुचिकर व सुगंध मिठाईको (लाडू) जो रोज खाते हैं उनके कठिनसे कठिन अर्श भी दूर होते हैं । इसके सेवन करते समय किसी प्रकारकी परहेज करनेकी जरूरत नहीं है ॥ १२१ ॥ १२२ ॥

तक्रकल्प

तक्रमेव सततं प्रपिबेद्- । त्यम्लमन्नरहितं गुदजघ्नम् ॥
शृंगवेरकुटजाग्निपुनर्भू- । सिद्धतोयपरिपक्वपयो वा ॥ १२३ ॥

भावार्थः—अर्श रोगीको अन्न खानेको नहीं देकर अर्थात् अन्नको छुडाकर केवल आम्ल छाछ पीनेको देना चाहिये अथवा अदरख, कूट, चित्रक, पुनर्नवा इनसे सिद्ध जल व इन औषधियोंसे पकाये हुए दूध पीनेको देना चाहिये ॥ १२३ ॥

अर्शनाशक पाणितक ।

तत्कषायमिह पाणितकं कृ- । त्वाग्निकत्रिकटुजीरकदीप्य- ॥
ग्रंथिचव्यविहितमतिवर्ण्यं । भक्षयेद्गुदगदांकुररोगी ॥ १२४ ॥

भावार्थः— उपर्युक्त कषायको पाणितक बनाकर उसमें चित्रक, त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल) जीरक, अजवाईन, पीपलामूल, चाव इनका कल्क डालकर अर्श रोगी प्रतिनित्य भक्षण करें ॥ १२४ ॥

पाटलादियोग ।

पाटलीकबृहतीद्वयपूति- । कापमार्गकुटजाग्निपलाश- ॥
क्षारमेव सततं प्रपिबेद्- । नामरोगशमनं शृतमच्छम् ॥ १२५ ॥

भावार्थः—पाढ, दोनों कटेली, पूतीकरंज, लटजीरा, कुडाकी छाल, चित्रक व पलाश इनके क्षार अथवा स्वच्छ कषायको सतत पीनेसे अर्शरोग उपशम होता है ॥ १२५ ॥

अर्शघ्न कल्क ।

कल्कमेव नियतं प्रपिबेत्त- । पां कृतं दधिरसाम्लकरीरैः ॥
क्षारवारिसहितं च तथाद्- । र्नामनामसहितामयतप्तः ॥ १२६ ॥

१—१ तोला काली मिरच, २ तोला सोंठ ४ तोला भिलावा ८ तोला सूरणकंद (जमीकंद इनको बारीक चूर्ण करें और १५ तोला गुडकी चासनी बनाकर ऊपरके चूर्णको मिलावें लाडू या बर्फी तैयार करें ।

भावार्थः—एवं अर्श रोगीको उपर्युक्त औषधियोंके कल्क बनाकर दहीके तोद आम्ल तक्रके साथ पीने को देना चाहिये। अथवा क्षार जलके साथ पीनेको देना चाहिये ॥ १२६ ॥

भल्लातक कल्प।

साधुवेश्मनि विशुद्धतनुं भ- । ल्लातकैः क्वथितचारुकषायम् ॥
आज्यलिप्तवदनोष्ठगलं तम् । पाययेत्प्रतिदिनं क्रमवेदी ॥ १२७ ॥

भावार्थः—उस अर्श रोगीके शरीरको वमन, विरेचन आदि से शुद्ध करके एवं उसे प्रशस्त घरमें रखकर भिलावेके कषायको प्रतिदिन पिलाना चाहिये। कषाय पिलानेके पहिले मुख, ओष्ठ, कंठ आदि स्थानोंमें घीका लेपन कुशल वैद्य करावें ॥ १२७ ॥

प्रातरौषधमिदं परिपीतं । जीर्णतामुपगतं सुविचार्य ॥
सर्पिषोदनमतः पयसा सं- । भोजयेदलवणाम्लकमग्र्यम् ॥ १२८ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त औषधिको प्रातःकाल के समय पिलाकर जब वह जीर्ण होजाय तब उसे नमक व खटाई से रहित एवं दूध घीसे युक्त भातका भोजन कराना चाहिये ॥ १२८ ॥

भल्लातकास्थिरसायन.

पक्वशुष्कपरिशुद्धबृहद्भ- । ल्लातकाननुविदार्य चतुर्थं- ॥
कैकमंशमभिवर्ध्य यथास्थ्यै- । कैकमेव परिवर्धयितव्यम् ॥ १२९ ॥
अस्थिपंचकगणैः प्रतिपूर्णं । पंचपंचभिरतः परिवृद्धिम् ॥
यावदस्थिशतमत्रसुपूर्णं । ह्रासयेदपि च पंच च पंच ॥ १३० ॥
यावदेकमवशिष्टमतः पू- । र्वोक्तमार्गपरिवृध्यवतीरः ॥
सेवितैर्दशसहस्रमुशीजै- । र्निर्जरो भवति निर्गतरोगः ॥ १३१

भावार्थः—अच्छातरह पके हुए बडे २ भिलावों को शुद्ध[1] कर के सुखाना चाहिये। फिर उन को फोडकर (उनके) बीज निकाल लेवें। पहिले दिन इस बीज (गुठली) की चौथाई, दूसरे दिन आधा, व तीसरे दिन पौन हिस्सा भक्षण करें। चौथे दिन एक बीज, पांचवें दिन २ बीज, छठवें दिन ३ बीज, सातवें दिन ४

१ भिलावेकी शुद्धि—८ भिलावे को एक बोरीके अंदर रखकर, साधारण कुचलना चाहिये। पश्चात् उसको निकालकर, उसपर ईंटका चूर्ण डालें और एक दिन तक रखें। दूसरे दिन पानीसे धोकर टुकडा करके चौगुने पानीमें (बर्तन के मुंहको न ढकते हुए) पकावें। फिर बराबर दूध में पकावें। बादमें धोकर सुखा लेवें। इस विधीसे भिलावे की अच्छीतरह से शुद्धि होती है ॥

बीज, आठवें रोज ५ बीज खावें। इस प्रकार पांच बीज खाचुकने के बाद, प्रतिदिन पांच २ बीज को बढाते हुए, तबतक सेवन करें जबतक सौ बीज न होजाय। सौ बीज खाने के बाद फिर रोज पांच २ घटाते हुए, जबतक एक बीज बचें तब तक खावें। इस प्रकार बढाते घटाते हुए, उपरोक्त क्रमसे जो मनुष्य दस हजार भिलावे के बीजों को खाता है, उसका सम्पूर्ण रोग नष्ट होकर वह निर्जर होता है अर्थात् वह वृद्ध नहीं होता है ॥ १२९ ॥ १३० ॥ १३१ ॥

भल्लातक तैल रसायन।

स्नेहमेव सततं प्रपिबेद्वा- । रुष्करीयमखिलोक्तविधानम् ॥
माससात्रमुपयुज्य शतायु- । र्मास मासत इतः परिवृद्धिः ॥ १३२ ॥

भावार्थः—भिलावेके तेलको निकालकर पूर्वोक्त प्रकार वृद्धिहानिक्रमसे एक मास सेवन करें तो सौ वर्षका आयुष्य बढजाता है। इसी प्रकार एक २ मास अधिक सेवन करने से सौ २ वर्षकी आयु बढती जाती है ॥ १३२ ॥

अर्शोहर उत्कारिका।

अम्लिकाघृतपयः परिपक्वो- । त्कारिका प्रतिदिनं परिभक्ष्य ॥
प्राप्नुयादतिसुखं गुदकीलो- । त्पन्नदुःखशमनं प्रविधाय ॥ १३३ ॥

भावार्थः—खट्टी चीज, घी व दूधसे पकायी हुई लप्सी उस रोगी को खिलानी चाहिये जिससे समस्त अर्श दूर होकर रोगीको अत्यंत सुख प्राप्त होता है ॥ १३३ ॥

वृद्धदारुकादि चूर्ण।

वृद्धदारुकमहौषधभल्ला- । तामिचूर्णमसकृद्गुडमिश्रम् ॥
भक्षयेद्गुदगदांकुररोगी । सर्वरोगशमनं सुखहेतुम् ॥ १३४ ॥

भावार्थः—अर्श रोगीको उचित है कि वह विधारा, सोंठ, भिलावा व चित्रक इनके चूर्णको गुड मिलाकर प्रतिनित्य खावें जिससे सर्वरोग शमन होकर सुखकी प्राप्ति होती है ॥ १३४ ॥

अर्श में तिलप्रयोग।

नित्यं खादेत्सत्तिलान् कृष्णवर्णान् । प्रातः प्रातः कौडुबार्धप्रमाणम् ॥
शीतं तोयं संप्रपायत्तु जीर्णे । भुंजीतान्नं दुष्टदुर्नामरोगी ॥ १३५ ॥

भावार्थः—नित्य ही प्रातःकाल अच्छे काले तिल अर्ध कुडुव [८ तोले] प्रमाण खावें। उसके ऊपर ठण्डा जल पीवे। जब वह पच जाय उस अवस्थामें उसे उचित

भोजन करावें, इस प्रकार के प्रयोगोंसे अर्शरोग दूर हो जाता है। एवं ऐसे दुर्नामरोगीको सुख प्राप्त होता है ॥ १३५ ॥

अंतिम कथन।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ १३६ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथ में जगतका एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ १३६ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे महाव्याधिचिकित्सितं नामादितो द्वादशः परिच्छेदः।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में महारोगाधिकार नामक **बारहवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

—०—
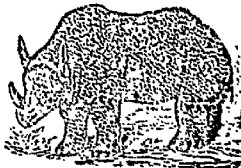
अथ त्रयोदशपरिच्छेदः

अथ शर्कराधिकारः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा ।

समस्तसंपत्सहिताच्युतश्रियं । प्रणम्य वीरं कथयामि सत्क्रियाम् ॥
सशर्करामत्युतवेदनाश्मरी- । भगन्दरं च प्रतिसर्वयत्नतः ॥ १ ॥

भावार्थः—अंतरंग व बहिरंग समस्त संपत्तियोंसे युक्त अक्षयलक्ष्मीको प्राप्त श्रीवीरजिनेश्वरको प्रणाम कर, शर्करा, अत्यंत वेदना को उत्पन्न करनेवाली अश्मरी और भगंदर इन रोगोंके स्वरूप व चिकित्साको यत्नपूर्वक कहूंगा, इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

वस्तिस्वरूप ।

कटित्रिकालंबननाभिवंक्षण- । प्रदेशमध्यस्थितबस्तिसंज्ञितम् ॥
अलाबुसंस्थानमधोमुखाकृतिम् । कफःसमूत्रानुगतो विशत्यतः ॥ २ ॥

भावार्थः—कटि, त्रिकास्थि, नाभि, राड इन अवयवोंके बीचमें तूंबीके आकारमें जिसका मुख नीचेकी ओर है ऐसा वस्ति (मूत्राशय) नामक अवयव है। उसमें जब मूत्रके साथ कफ आवे उस समय ॥ २ ॥

शर्करा संप्राप्ति ।

नवे घटे स्वच्छजलप्रपूरिते । यथात्र पंकः स्वयमेव जायते ॥
कफस्तथा बस्तिगतोष्मशोषितो । मरुद्विशीर्णः सिकतां समावहेत् ॥ ३ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार नये घडेमें नीचे कीचड अपने आप जम जाता है उसी प्रकार बस्तिमें गया हुआ कफ जमकर उष्णतासे सूखकर कडा हो जाता है यह वातके द्वारा टुकडा होकर रेती जैसा बनजाता है तभी शर्करा रोगकी उत्पत्ति हो जाती है अर्थात् इसीको शर्करा रोग कहते हैं ॥ ३ ॥

शर्करालक्षण ।

स एव तीव्रानिलघातजर्झरो । द्विधा त्रिधा वा बहुधा विभेदतः ।
कफः कटीवंक्षणबस्तिशेफसां । स्वमूत्रसंगाद्बहुवेदनावहः ॥ ४ ॥

भावार्थः—वही शुष्क कफ तीव्र वातके आघातसे दो, तीन अथवा अधिक टुकडा हो जाता है। जब वह मूत्र मार्ग में आकर अटक जाता है तब कटी, जांघोंका जोड, बस्ति व लिंग आदि स्थानमें अत्यंत वेदना उत्पन्न करता है ॥ ४ ॥

शर्कराशूल।

सशर्कराशूलमितीह शर्करा। करोति साक्षात्कटिशर्करोपमा ॥
पतंति तास्तीव्रतरा मुहुर्मुहुः। स्वभेदिसद्भेपजसंप्रयोगतः ॥ ५ ॥

भावार्थः—साक्षात् रेती के समान रहने वाला, वह शर्करा, इस (पूर्वोक्त) प्रकार शर्कराशूल को उत्पन्न करता है। शर्करा को भेदन करने वाली श्रेष्ठ औषधियों के प्रयोग करने से वह तीव्र शर्करा बार २ गिर जाते हैं अर्थात् मूत्र के साथ बाहर जाते हैं ॥ ५ ॥

अथाश्मर्यधिकारः।

अश्मरीभेद।

कफःप्रधानाः सकलाश्मरीगणाः। चतुः प्रकाराः गुणमुख्यभेदतः।
कफादिपित्तानिलशुक्रसंभवाः। क्रमेण तासामत उच्यते विधिः ॥ ६ ॥

भावार्थः—सर्व प्रकार के अश्मरी (पथरी) रोगों में कफ की प्रधानता रहती है। अर्थात् सर्व अश्मरी रोग कफ से उत्पन्न होते हैं। फिर भी गौणमुख्य विवक्षासे कफज, पित्तज, वातज व वीर्यज इस प्रकार चार प्रकारसे होते हैं अर्थात् अश्मरी के भेद चार हैं। अब उनका लक्षण व चिकित्साका वर्णन किया जाता है ॥ ६ ॥

कफाश्मरीलक्षण।

अथाश्मरीमात्मसमुद्भवां कफः। करोति गुर्वी महतीं प्रपाण्डुराम् ॥
तया च मूत्रागममार्गरोधतो। गुरुर्भवेद्वास्तिरिवेह भिद्यते ॥ ७ ॥

---

१ बस्तिमें, मूत्र के साथ कफ जाकर पूर्वोक्त प्रकार से पत्थर जैसा जम जाता है। अर्थात् घन पिण्ड को उत्पन्न करता है। इसे पथरी वा अश्मरी कहते हैं। यही पथरी वायु के द्वारा टुकडा हो जाता है तब उसे शर्करा कहते हैं।

२ जब कफ अधिक पित्तयुक्त होता है इस से उत्पन्न पथरी में पैत्तिकलिंग प्रकट होते हैं इसलिये पित्ताश्मरी कहलाता है। इस पित्ताश्मरी में भी मूल कारण कफ ही है। क्यों कि कफ को छोड कर पत्थर जैसा घन पिण्ड अन्य दोषों से हो नहीं सकता। फिर भी यहां अधिक पित्तसे युक्त होने से पित्त की मुख्य विवक्षा है कफ की गौण। इसी प्रकार अन्य भी जानना चाहिये।

भावार्थः—केवल कफ से उत्पन्न अश्मरी [पथरी] भारी व सफेद होती है। जब इससे मूत्रद्वार रुक जाता है तो बस्ति भारी हो जाती है और वह बस्ति को फोडने जैसी पीडा को उत्पन्न करती है ॥ ७ ॥

पैत्तिकाश्मरीलक्षण।

कफस्सपित्ताधिकतामुपागतः । करोति रक्तासितपीतसंप्रभाम् ।
अरुष्करास्थीप्रतिमामिहाश्मरीं । रुणध्यसौ स्रोतसि मूत्रमास्थिता ॥८॥

स्वमूत्रघातादिहबस्तिरूष्मणा । विदह्यते पच्यत एव संततम् ।
सदाहदेहो मनुजस्तृषाहतः । सदोष्मवातैरपि तप्यते मुहुः ॥ ९ ॥

भावार्थः—अधिक पित्तयुक्त कफ से उत्पन्न होनेवाली अश्मरी का वर्ण लाल, काला व पीला होता है। भिलावे की गुठली जैसी उसकी आकृति होती है। यह मूत्र मार्ग में स्थित होकर मूत्र को रोकती है। मूत्रके रुक जानेसे, उष्णता के द्वारा बस्ति में अत्यंत जलन होती है और उसको अधिक प्यास लगती है। वह बार २ उष्णवात से भी पीडित होता है ॥ ८ ॥ ९ ॥

वातिकाश्मरीलक्षण।

बलास एवाधिकवातसंयुतो । यथोक्तमार्गादभिवृद्धिमागतः ॥
करोति रूक्षासितकण्टकाचितां । कदंबपुष्पप्रतिमामथाश्मरीम् ॥ १० ॥

तया च बस्त्याननरोधतो नरो । निरुद्धमूत्रो बहुवेदनाकुलः ॥
असह्यदुःखश्शयनासनादिषु । प्रतिक्रियाभावतया स धावति ॥११॥

स नाभिमेढ्रं परिमर्दयन्मुहुः । गुदेऽङ्गुलिं निक्षिपति प्रपीडया ॥
स्वदंतयंत्रं प्रविधाय निश्चलं । पतत्यसौ भुग्नतनुर्धरातले ॥ १२ ॥

भावार्थः—अधिक वायुसे युक्त कफसे उत्पन्न व वृद्धि को प्राप्त अश्मरी रूक्ष, कालेवर्णसे युक्त कंडरों से व्याप्त एवं कदंब पुष्पके समान रहता है इस से जब बस्तिका मुख रुकजाता है, तो मूत्र भी रुकजाता है। जिससे उसको बहुत वेदना होती है। सोनेमें बैठने आदिमें उस रोगी को असह्य दुःख होता है। एवंच उसके उपशमकेलिये कोई उपाय न रहनेसे वह विह्वल होकर इधर उधर दौडता है। उस पीडासे पीडित होकर वह रोगी अपने नाभि व लिंगको बार २ मर्दन करता है एवं गुदमें अंगुलि डालता है। एवं अधिक वेदना होनेसे अपने दांतोंको चबाकर निश्चलतासे मूर्छितसा होकर ज़मीनमें पडा रहता है ॥१० ॥ ११ ॥ १२ ॥

बालाश्मरी ।

दिवातिनिद्राकुलतया प्रणालिका- । सुसूक्ष्मतः स्निग्धमनोज्ञभोजनात् ॥
कफोल्बणाद्दोषकृताश्मरीगणा । भवंति बालेषु यथोक्तवेदनाः ॥ १३ ॥

भावार्थः—दिनमें अधिक सोनेसे, मूत्रमार्ग अत्यंत सूक्ष्म होनेसे, अधिक स्निग्ध मधुर ऐसे मनोज्ञ अर्थात् मिष्टान्न खानेसे, (स्वभाव से ही) अधिक कफ की वृद्धि होने से तीनों दोषोंसे उत्पन्न होनेवाले अश्मरीरोगसमूह (अर्थात तीनों प्रकारकी अश्मरी) बालकों में विशेषतया होते हैं । उनके लक्षण आदि पूर्वोक्त प्रकार हैं ॥ १३ ॥

बालकोंमें अश्मरीका सुखसाध्यत्व ।

अथाल्पसत्वादतियंत्रयोग्यत- । स्तथाल्पवस्तेरपि चाल्पमांसतः ॥
सदैव बालेषु यदश्मरीसुखा- । द्गृहीतुमाहर्तुमतीव शक्यते ॥ १४ ॥

भावार्थः—बालकोंके शरीर व बस्ति का प्रमाण छोटा होनेसे, शरीर में मांस भी अल्प रहनेसे, यंत्रप्रयोग में भी सुलभता होनेसे बालकों में उत्पन्न अश्मरी को अत्यंत सुलभतासे निकालसकते हैं ॥ १४ ॥

शुक्राश्मरी संप्राप्ति ।

महत्सु शुक्राश्मरिका भवेत्स्वयं । विनष्टमार्गो विहतो निरोधतः ॥
प्रविश्य मुष्कांतरमाशु शोफकृत् । स्वमेव शुक्रो निरुणद्धि सर्वदा ॥१५॥

भावार्थः—शुक्र के उपस्थित वेग को धारण करने से वह स्वस्थान से च्युत होकर बाहर निकलने के लिये मार्ग न होने से उन्मार्गगामी होता है । फिर वह वायुके बल से अण्डकोश और शिश्न के बीचमें अर्थात् बस्ति के मुख में प्रवेश करके, वहीं रुककर शुष्क होनेसे पथरी बनजाता है इसीको शुक्राश्मरी कहते हैं । यह अण्डकोश में सूजन उत्पन्न करती है । यह शुक्राश्मरी जवान मनुष्योंको ही होती है । बालकों को नहीं ॥१५॥

शुक्राश्मरी लक्षण ।

विलीयते तत्र विमर्दितः पुनः । विवर्धते तत्क्षणमात्रसंचितम् ॥
कुमार्गगो नारकवन्महातनुं । स एव शुक्रः कुरुतेऽश्मरीं नृणाम् ॥ १६ ॥

भावार्थः—अण्डकोश शिश्नेंद्रिय के बीच में मसलने से एक दफे तो अश्मरीका विलय होता है । लेकिन थोडे ही समय के बाद संचित होकर पूर्ववत् बढ जाता है ।

१ शुक्रके वेग को धारण करने के कारण से बाहर निकलनेका मार्ग संकुचित होता है। इसलिये वह बाहर नहीं निकल पाता है।

इस प्रकार कुमार्गगामी अर्थात् स्वमार्ग को छोडकर जानेवाला वह शुक्र, अश्मरीरोग को उत्पन्न करता है । जिस प्रकार महान् शरीर धारण करनेवालों को भी नारकी कष्ट पहुंचाते हैं वैसे ही शक्तिमान शरीरवाले मनुष्योंको भी यह कष्ट पहुंचाता है ॥ १६ ॥

अश्मरी का कठिनसाध्य लक्षण ।

अथाश्मरीष्वद्भुतवेदनास्वसृ- । ग्विमिश्रमूत्रं बहुकृच्छ्रसंगतम् ॥
व्रणैश्च जातासु तथा विधानवि- । द्विचार्य तासां समुपाचरेत्क्रियाम् ॥१७॥

भावार्थः—अश्मरीरोग से पीडित व्यक्ति भयंकर वेदना (दर्द) से युक्त हो, रक्त से मिश्रित मूत्र अत्यंत कठिनता से बाहर निकलता हो, मूत्रप्रणाली आदि स्थानों में व्रण भी उत्पन्न होगया हो, ऐसे अश्मारी रोग असाध्य या कष्टसाध्य होता है । इसलिये चिकित्साके कार्य में निपुण वैद्य को चाहिये कि उपरोक्त लक्षणयुक्त रोगीयों की अत्यंत विचार पूर्वक चिकित्सा करें ॥ १७ ॥

अश्मरी का असाध्य लक्षण ।

स्वनाभिमुष्कध्वजशोफपीडितं । निरुद्धमूत्रातिरुजार्तमातुरम् ॥
विवर्जयेत्तत्सिकतां सशर्करा- । महाश्मरीभिः प्रविघट्टितं नरम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—जिसका नाभि व अण्डकोश सूज गया है, मूत्र रुकगया है और अत्यंत वेदना से व्याकुलित है ऐसे शर्करा व अश्मरी रोग से पीडित व्यक्ति को असाध्य समझकर छोड देना चाहिये ॥ १८ ॥

सदाश्मरी वज्रविषाग्निसर्पवत् । स्वमृत्युरूपो विषमो महामयः ॥
सदौषधैः कोमल एव साध्यते । प्रवृद्धरूपोऽत्र विभिद्य यत्नतः ॥ १९ ॥

भावार्थः—अश्मरीरोग सदा वज्र, विष, अग्नि व सर्पके समान शीघ्र मृत्युकारक है । यह रोग अत्यंत विषम महारोगोंकी गणनामें है । वह (पथरी) कोमल हो (सख्त नहीं) तो औषधिप्रयोगसे ठीक होती है । यदि सख्त होगयी हो और बढगयी तो यत्नपूर्वक फोड कर निकालनेसे ठीक होती है अर्थात् वह शस्त्रसाध्य है ॥ १९ ॥

वाताश्मरी नाशकघृत ।

इहाश्मरी संभवकाल एव तं । यथोक्तसंशोधनशोधितं नरं ॥
प्रपाययेदश्महांतकाश्मभि- । श्शतावरी गोक्षुरपाटलीद्रुमैः ॥ २० ॥
त्रिकंटकोशीरपलाशशाकजैः । सवृक्षचक्रैस्सबलामहाबलैः ॥
कपोतवंकैर्बृहतीद्वयान्वितैः । यवैः कुलत्थैः कतकोद्भवैः फलैः ॥ २१ ॥

सकोलविल्वैर्वरणाग्निमंथकैः । सुवर्चिकासैंधवहिंगुचित्रकैः ॥
कषायकल्कैःपरिपाचितं घृतं । भिनत्ति तद्वातकृतां महाश्मरीम् ॥ २२॥

भावार्थः—अश्मरी रोगकी उत्पत्ति होते ही उस मनुष्यको वमन विरेचन आदिसे शोधन करना चाहिये। फिर उसे पाषाण भेदी शिलाजित शतावरी गोखरू पाढल, गोखरू, खस, पलाश, शेगुन, कूडाकी छाल, तगर, खिरेंटी, सहदेई, ब्राह्मी, छोटीकटेली, बडीकटेली, जौ, कुलथी, निर्मलीबीज, बदरीफल [बेर] बेल, वरना, अगेथु, यवक्षार, सेंधालोण, हींग, चीता की जड इनके कषाय व कल्क से सिद्ध किये हुए घृत को पिलावें। वह वातज महा अश्मरी [पथरी] रोगको दूर करता है ॥२०॥२१॥२२॥

वाताश्मरीके लिये अन्नपान।

यथोक्तसद्भेषजसाधितोदकैः । कृता यवागूः सविलेप्य सत्खला— ॥
पयांसि संभक्षणभोज्यपानका— । न्यपि प्रदद्यादनिलाश्मरीष्वलम् ॥२३॥

भावार्थः—वाताश्मरी से पीडित व्यक्तिको उपरोक्त [वाताश्मरी नाशक] श्रेष्ठ औषधियों द्वारा साधित जल से किया हुआ यवागू, विलेपी खलयूष[1] एवं (उन्हीं औषधियों से सिद्ध) दूध, भक्ष्य, भोज्य और पानक को भक्षण भोजनादिके लिये प्रदान करना चाहिये ॥ २३ ॥

पित्ताश्मरी नाशक योग।

सकाशदर्भोत्कटमोरटाश्मभि— । त्त्रिकण्टकैस्सारिवया सचंदनैः ॥
शिरीषधत्तूरकुरण्टकाशमी— । वराहपाठाकदलीविदारकैः ॥ २४ ॥
सपुष्पकूष्माण्डकपद्मकोत्पल— । प्रतीतकोशातकतुम्बिचिर्भिका— ॥
विपक्वसत्त्रापुषबीजसंयुतैः । द्विजातकश्शीतलसृष्टभेषजैः ॥ २५ ॥
कृतैः कषायैस्सघृतैस्सशर्करैः । पयोगणैर्भक्षणपानभोजनैः ॥
प्रयोजितैः पित्तकृताश्मरी सदा । विनश्यति श्रीरिव दुष्टमंत्रिभिः ॥२६॥

भावार्थः—कास, दर्भ, रामसर [भद्रमुंज] ईखका जड, पाषाणभेदी, गोखरु, सारिवा (अनंतमूल) चंदन, सिरस, धतूरा, पीली कटसरैया, छोंकरा, नागरमोथा, पाठा, केलेका जड, विदारक (जलके मध्यस्थ वृक्षविशेष) नागकेशर, कूष्माण्ड (सफेद कद्दू) कमल, नलिकमल, कवडी का बीज, तुम्बी [लौके] कुंदुरु, पके हुए खीरे का बीज,

---

1 कैथ इमली, मिरच, चित्रक, बेलगिरी और जीरा इनको डालकर सिद्ध किये हुए यूष को खलयूप कहते हैं।

दालचीनी, तेजपात, इलायची, एवं ऐसे ही शीतगुण व मधुर रसयुक्त अन्य औषधि इनके कषाय को घी शक्कर मिलाकर पीनेसे, तथा इन्हीं औषधियों से सावित दूध, भक्ष्य पानक व भोज्य पदार्थोंको पीने आदि कार्यों में प्रयोग करनेसे, पित्त से उत्पन्न अश्मरी (पथरी) सदा नाश होती है। जैसे कि दुष्ट मंत्रियोंसे राजाकी राज्य संपत्ति नष्ट होती है ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

कफाश्मरीनाशकयोग।

फलत्रिकव्यूषणशिग्रुचित्रकै- । र्विडंगकुष्ठैर्वरणैस्तुटिद्वयैः (?) ॥
विडोत्थसौवर्चलसैन्धवान्वितैः । कषायकल्कीकृतचारुभेषजैः ॥२७॥
विपक्वतैलाज्यपयोन्नभक्षणैः । कषायसक्षारयुतैस्सपानकैः ॥
सुपिष्टकल्कैः कफजाश्मरी सदा । तपोगुणैस्संसृतिवद्विनश्यति ॥ २८ ॥

भावार्थः—त्रिफला [हरड बहेडा आंवला] त्रिकटु [सोंठ मिरच पीपल] सेंजिन, चीताकी जड, वायविडंग, कूट, वरना, बडी इलायची, छोटी इलायची, बिड नमक, काला नोन, सेंधालोण इन औषधियोंके कल्क व कषायसे पकाये हुए तैल, घी, दूध, व अन्नके भक्षण से, क्षारयुक्त कषायको पीनेसे एवं अच्छीतरह पिसे हुए कल्कके सेवनसे कफज अश्मरी रोग नष्ट होता है जिस प्रकार कि तपोगुणसे संसार का नाश होता है ॥ २७ ॥ २८ ॥

पाटलीकादिकाथ.

सपाटलीकैः कपिचूतकांघ्रिभिः । कृतः कषायोश्मजतुप्रवापितः ॥
सशर्करः शर्करया सहाश्मरीं । भिनत्ति साक्षात्सहसा निषेवितः ॥२९॥

भावार्थः—पाडल, अम्बाडा, (अथवा अश्वत्थभेद) इन वृक्षोंके जडके कषाय में शिलाजीत और शक्कर मिलाकर पीनेसे शर्करा तथा अश्मरी रोग दूर होता है ॥ २९ ॥

कपोतवंकादि क्वाथ ।

कपोतवंकैः सहशाकजैः फलैः । सविष्णुकांतैः कदलांबुजाह्वयैः ॥
श्रृतं पयष्टंकणचूर्णमिश्रितं । सशर्करेंदुं प्रपिबेत्सशर्करी ॥ ३० ॥

भावार्थः—ब्राह्मी, विष्णुकांत, शेगुन वृक्षका फल, सेमर, हिज्जल वृक्ष [समुद्र फल] इनके कषाय में सुहागेके चूर्ण शक्कर और कपूर मिलाकर शर्करा रोगवाला पीवे तो रोग शांत होता है ॥ ३० ॥

अजदुग्धपान ।

सुभृष्टसट्टंकणचूर्णमिश्रितं । पिबेदनाहारपरो नरस्सुखम् ॥
अजापयस्सोष्णतरं सशर्करं । भिनत्ति तच्छर्करया सहाश्मरीम् ॥३१॥

भावार्थः—संपूर्ण आहारको त्यागकर बकरीके गरम दूधमें शक्कर और सुहागेके चूर्णको मिलाकर अनेक दिन पीवें तो शर्करा और अश्मरी रोग दूर होते हैं ॥३१॥

नृत्यकाण्डादि कल्क ।

सनृत्यकाण्डोद्भवबीजपाटली । त्रिकण्टकानामपि कल्कमूर्छितम् ॥
पिबेद्विक्षीरयुतं सशर्करं । सशर्कराश्मर्यतिभेदकृद्भवेत् ॥ ३२ ॥

भावार्थः—नृत्य काण्डका बीज (?) गोखरू, पाटल इनका कल्क बना कर उस में दूध, दही व शक्कर अच्छीतरह मिलाकर पीवें तो शर्करा और अश्मरी को शीघ्र भेदन करता है ॥ ३२ ॥

तिलादिक्षार ।

तिलापमार्गेक्षुरतालमुष्कक । क्षितीश्वराख्यांघ्रिपकिंशुकोद्भवम् ॥
सुभस्मनिश्राव्य पिबेत्तदश्मरीं । शिलाजतुद्राविलमिश्रितं जयेत् ॥ ३३ ॥

भावार्थः—तिल, चिरचिरा, गोखरू, ताल, मोखा, अमलतास, किंशुक इन वृक्षोंको अच्छीतरह भस्मकर उसको पानी में घोलकर छानलेवें। उस क्षार जल में शिलाजीत, और बिडनमक मिलाकर पीवे तो वह अश्मरी रोग को जीत लेता है ॥ ३३ ॥

यथोक्तसद्भेषजसाधितैःघृतैः । कषायसक्षारपयोऽवलेहनैः ॥
सदा जयेदश्मतराश्मरीं भिषग् । विशेषतो बस्तिभिरप्यथोत्तरैः ॥३४॥

भावार्थः—इस प्रकार ऊपरके कथनके अनुसार अनेक अश्मरी नाशक औषधियोंसे सिद्ध घृत, कषाय, क्षार, दूध व अवलेहों के द्वारा विशेष कर उत्तरबस्ति[1] के प्रयोग से वैद्य पत्थरसे भी अधिक कठिन अश्मरी रोग को जीतें ॥ ३४ ॥

उत्तरबस्ति विधान ।

अतः परं चोत्तरबस्तिरुच्यते । निरस्तबस्त्यामयवृंदबंधुरा ॥
प्रतीतनेत्रामलबस्तिलक्षण- । द्रवप्रमाणैरपि तत्क्रियाक्रमैः ॥ ३५ ॥

भावार्थ—उत्तरबस्ति बस्ति (मूत्राशय) गत सम्पूर्ण रोगोंको जीतने वाली है।

१ जो लिंग व योनि में बस्ति [पिचकारी] लगायी जाती है उसे उत्तरबस्ति, कहते हैं।

इसलिये यहां से आगे, नेत्र (पिचकारी) व बस्ति का लक्षण, प्रयोग करने योग्य द्रवप्रमाण, और प्रयोग करने की विधि आदि उत्तरबस्ति संम्बधि विषय का वर्णन करेंगे ॥ ३५ ॥

पुरुषयोग्यनेत्रलक्षण।

प्रमाणतोऽष्टांगुल नेत्रमायतं । सुवृत्तसुस्निग्धसुरूपसंयुतम् ॥
सुतारनिर्मापितमूलकर्णिकं । सुमालतीवृन्तसमं तु सर्वथा ॥ ३६ ॥

भावार्थः—वह बस्ति, आठ अंगुल लम्बी, गोल, कोमल व सुंदर चांदी आदि धातुओं द्वारा निर्मापित, मूल में कर्णिका से संयुक्त एवं चमेलीपुष्प के डंठल के समान होनी चाहिये। यह नेत्रप्रमाण व लक्षण पुरुषोंको प्रयुक्त करने योग्य नेत्रका है ॥ ३६ ॥

कन्या व स्त्रीयोग्य नेत्र लक्षण।

तदर्धभागं सबृहत्सुकर्णिकं । सुबस्तियुक्तं प्रमदाहितं सदा ॥
तथांगुलीयुग्मनिविष्टकर्णिकं । तदेव कन्याजननेत्रमुच्यते ॥ ३७ ॥

भावार्थः—स्त्रियोंके लिये नेत्र, चार अंगुल लम्बा व बडी कर्णिका से संयुक्त होना चाहिये। कन्याओंके लिये प्रयोग करने योग्य नेत्र दो अंगुल लम्बा एवं कर्णिकायुक्त होना चाहिये। उपरोक्त तीनों प्रकार के नेत्र बस्ति से संयुक्त होना चाहिये ॥ ३७ ॥

द्रवप्रमाण।

द्रवप्रमाणं प्रसृतं विधाय तत् । कषायतैलाज्यगुणेषु कस्यचित् ॥
प्रयोज्यतां बस्तिमथेंदुलिप्तया- । शलाकया मेढ्रमुखं विशोध्य तम् ॥३८॥

भावार्थः—बस्ति में, कषाय, तैल, घी इत्यादिमें से किसी भी चीज (द्रव) को प्रयोग करना हो, उस की अधिक से अधिक मात्रा एक प्रसृत (साठ तोला) प्रमाण है। बस्ति प्रयोग करनेके पहिले कपूर से लेपन किये गये, पतले शलाका [सलाई] को, अंदर डालकर, शिश्नेंद्रिय के मुख को साफ कर लेनी चाहिये ॥ ३८ ॥

उत्तरबस्तिसे पूर्वपश्चाद्विधेयविधि।

प्रपीडयेत्तु प्रथमं विधानवित् । नियोजयेदुत्तरबस्तिमूर्जिताम् ॥
ततोऽपराण्हे पयसा च भोजयेत् । अतो विधास्ये वरबस्तिसत्क्रियाम् ॥३९॥

१ यह रोगीके हाथ का अंगुल है।

भावार्थः—उत्तर बस्ति देनेके पहिले उन अवयवोंको मल लेना चाहिए। तदनंतर बस्तिका प्रयोग करना चाहिए। उस दिन सायंकाल दूधके साथ भोजन कराना चाहिए। अब वस्ति देनेके क्रमको कहेंगे ॥ ३९ ॥

उत्तरवस्त्यर्थं उपवेशनविधि।

स्वजानुदघ्नोन्नतसुस्थिरासने। व्यवस्थितस्याद्दतकुक्कुटासने ॥
नरस्य योज्यं वनिताजनस्य च। तथैवमुत्तानगतोर्ध्वपादितः ॥ ४० ॥

भावार्थ— पुरुषको उत्तरवस्ति प्रयोग करना हो तो उसको घुटनेके बराबर ऊंचे व स्थिर आसन (बेंच कुर्सी आदि) पर कुक्कुटासन में व्यवस्थित रूपसे बिठाल कर प्रयोग करें। स्त्रीको हो तो उपरोक्त आसनपर, चित सुलावें और दोनों पैर ऊंचा करके अर्थात् संकुचित करके प्रयोग करें ॥ ४० ॥

नभोगतेऽप्युत्तरवस्तिगद्रवे। सतैलनिर्गुण्डिरसंदुलिप्तया ॥
शलाकया मेढ्रमुखं निघट्टय-। न्नधश्च नाभेः प्रतिपीडयेद्दृढम् ॥ ४१ ॥

भावार्थः—पिचकारीका द्रवद्रव्य पूर्ण होनेपर तेल, निर्गुण्डिका रस और कपूर लिप्त शलाकासे शिश्नके मुखको अच्छीतरह शोधन करना चाहिए एवं नाभिके नीचे अच्छीतरह हाथ से मलना चाहिए ॥ ४१ ॥

अगारधूमादिवर्ति।

अगारधूमोत्पलकुष्ठपिप्पली। सुसैंधवैः सद्बृहतीफलद्रवैः ॥
विलिप्तवर्तिं प्रविवेशयेद्बुधः। सुखेन सद्यो द्रवनिर्गमो भवेत् ॥ ४२ ॥

भावार्थः—गृहधूम[1], नील कमल, कूठ, पीपल, सेंधालोण व कटेहली फल इन के द्रव [क्वाथ आदि] को वत्तीके उपर लेपन कर अंदर प्रवेश करानेसे उसी समय द्रवद्रव्य सुगमतासे आता है ॥ ४२ ॥

उत्तरवस्तिका उपसंहार।

समूत्ररोगानतिमूत्रकृच्छ्रतां। सशर्करानुग्ररुजाश्मरीगणान् ॥
समस्तवस्त्याश्रयरोगसंचयान्। विनाशयेदुत्तरवस्तिरुत्तमः ॥ ४२ ॥

भावार्थः—मूत्रारोग, मूत्रकृच्छ्र, शर्कराश्मरी आदि संपूर्ण बस्त्याश्रित रोग इस उत्तर बस्तिसे नाश होते हैं। अर्थात् मूत्रसंबंधी रोगोंके लिये, उग्रसे उग्र अश्मरी रोगकेलिये व सर्व प्रकारके वस्तिगत रोगोंकेलिये यह उत्तरवस्ति उत्तम साधन है ॥ ४३ ॥

१ घर में धूवें के कारण, जो काला जम जाता है उसे गृहधूम, [घर का धूवा] कहते हैं ॥

अथ भगंदररोगाधिकारः ।

भगंदरवर्णनप्रतिज्ञा ।

निगद्य संक्षेपत एवमश्मरीं । भगंदरस्य प्रतिपाद्यते क्रिया ।
स्वलक्षणैः साध्यविचारणायुतैः । सरिष्टवर्गैरपि तच्चिकित्सितैः ॥४४॥

भावार्थः—इस प्रकार संक्षेपसे अश्मरी रोगको प्रतिपादनकर अब भगंदर रोगका वर्णन उसकी चिकित्सा, लक्षण साध्यासाध्य विचार, मृत्युचिन्ह आदि के साथ २ करेंगे इस प्रकार आचार्यश्री प्रतिज्ञा करते हैं ॥ ४४ ॥

भगंदर का भेद ।

क्रमान्मरुत्पित्तकफैरुदीरितैः । समस्तदोषैरपि शल्यघाततः ॥
भवंति पंचैव भगंदराणि त– । द्विषाग्निमृत्युप्रतिमानि तान्यलं ॥ ४५ ॥

भावार्थः—भगंदर रोग क्रमसे वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तकफज (सन्निपातज) शल्यघातज (कांटे के आघातसे उत्पन्न) इस प्रकारसे पांच प्रकारका होता है । यह रोग विष, अग्नि, मृत्युके समान भयंकर है ॥ ४५ ॥

शतयोनक व उष्ट्रगललक्षण ।

सतोदभेदप्रचुरातिवेदनं । मरुत्प्रकोपाच्छतयोनकं भवेत् ॥
सतीव्रदाहज्वरमुग्रपैत्तिकं । भगंदरं चोष्ट्रगलोपमांकुरम् ॥ ४६ ॥

भावार्थः—वातोद्रेक से उत्पन्न भगंदर, तोद, भेद, आदि अत्यंत वेदना से युक्त होता है । इसका नाम शतयोनक है । पित्तप्रकोपसे उत्पन्न भगंदर में तीव्र दाह [जलन] व ज्वर होता है । यह ऊंट के गले के समान होता है । इसलिये इसे उष्ट्रगल कहते हैं ॥ ४६ ॥

परिस्रावि व कंबुकावर्तलक्षण ।

कफात्परिस्रावि भगंदरं महत् । सकण्डुरं सुस्थिरमल्पदुर्घटम् ॥
उदीरितानेकविशेषवेदनम् । सुकंबुकावर्तमशेषदोषजम् ॥ ४७ ॥

---

१ गुदा के बाहर और पास में अर्थात् गुदा से दो अंगुल के फासले में, अत्यंत वेदना उत्पन्न करनेवाली पिडका [फोडा] उत्पन्न होकर, वहीं फूट जाता है, इसे भगंदर रोग कहते है ।

२ शतयोनक का अर्थ चालनी है । इस भगंदर में चालनी के समान अनेक छिद्र होते हैं । इसलिये शतयोनक नाम सार्थक है ।

भावार्थः—कफप्रकोप से उत्पन्न भगंदर, बडा व स्थिर होता है इस में खुजली होती है वेदना (पीडा) मंद (कम) होती है एवं पूयस्राव होता रहता है। इसलिये इसे परिस्रावि भगंदर कहते हैं। सन्निपात भगंदर में, पूर्वोक्त तीनों दोषों से उत्पन्न भगंदरों के पृथक २ लक्षण एक साथ पाये जाते हैं। इसकी शंख के आवर्त [घुमाई] के समान आकृति होने से इसे कंबुकावर्त कहते हैं ॥ ४७ ॥

उन्मार्गि भगंदर लक्षण।

सशल्यमज्ञानतयान्नमाहृतम् । क्षिणोति तीक्ष्णं गुदमन्यथागदं ॥
विमार्गमुन्मार्गविशेषसंचितं । भगंदरं तत्कुरुते भयंकरम् ॥ ४८ ॥

भावार्थः—विना देखें भालें, अन्यथा चित्त से भोजन करते समय आहार के साथ कांटा जावें तो, वह गुद में चुभकर भगंदर को पैदा करता है। इस में अनेक प्रकार के मार्ग (छिद्र) होते हैं। यह उन्मार्गगामी होता है। इसलिये उसे उन्मार्गी भगंदर कहते हैं। यह अत्यंत भयंकर होता है ॥ ४८ ॥

भगंदर की व्युत्पत्ति व साध्यासाध्य विचार।

भगान्विते वस्ति गुदे विदारणात् । भगंदराणीति वदंति तद्विदः ॥
स्वभावतः कृच्छ्रतराणि तेषुत- । द्विवर्जयेत्सर्वजशल्यसंभवम् ॥४९॥

भावार्थः—भग, वस्ति और गुद स्थानमें विदारण होनेसे इसे भगंदर ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। सर्व प्रकारके भगदंर, अत्यंत कष्ट साध्य हैं। इनमें से, सनिपातज व शल्यज तो असाध्य हैं। इसलिए इन दोनों को छोड देवें ॥ ४९ ॥

भगंदर चिकित्सा।

भगंदरोद्यत्पिटिकाप्रपीडितं । महोपवासैः वमनैर्विरेचनैः ॥
उपाचरेदाशुविशेषशोणित- । प्रमोक्षसंस्वेदनलेपनैर्घनैः ॥५०॥

भावार्थः—भगंदर पिडका [फुनसी] से पीडित अर्थात् भगंदर रोगसे युक्त मनुष्यको उपवास, वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, संस्वेदन, लेपन, आदि विधियोंसे शीघ्र चिकित्सा करें ॥ ५० ॥

चिकित्सा उपेक्षासे हानि।

उपेक्षितान्युत्तरकालमुद्धतै- । स्समस्तदोषैः परिपाकमेत्यतः ॥
सृजंति रेतोमलमूत्रमारुत- । क्रिमीनपि स्वव्रणवक्त्रतस्सदा ॥ ५१ ॥

१ भगं दारयतीति भगंदरः।

भावार्थः—यदि इस भगंदर रोगीकी उपेक्षा करें तो वह तीनों दोषों से संयुक्त हो कर, उस का परिपाक होता है। भगंदर के मार्ग [मुख] से शुक्र, मल, मूत्र, और वायु बाहर आने लगते हैं। एवं उस में नाना प्रकार के मुख से संयुक्त व्रणोंकी उत्पत्ति होकर, उन व्रणों के मुख से क्रिमी पडने लगते हैं। अर्थात् क्रिमि भी पैदा होते हैं ॥ ५१ ॥

भगंदर का असाध्य लक्षण।

पुरीषमूत्रक्रिमिवातरेतसां। प्रवृत्तिमालोक्य भगंदरव्रणे ॥
चिकित्सकस्तं मनुजं विवर्जये-। दुपद्रवैरप्युपपन्नमुद्धतैः ॥ ५२ ॥

भावार्थः—भगंदर के मुखसे मल, मूत्र, वात, वीर्य, क्रिमि आदिकी प्रवृत्तिको देखकर एवं भयंकर उपद्रवोंके उद्रेक को देखकर चिकित्सकको उचित है कि वह भगंदर रोगीको असाध्य समझकर छोडें ॥ ५२ ॥

भगंदर की अंतर्मुखबहिर्मुखपरीक्षा।

तथा विपक्षेषु भगंदरेष्वतः। प्रतीतयत्नाद्गुदजांकुरेष्विव।
प्रवेश्य यंत्रम् प्रविधाय चैषणीं। बहिर्मुखांतर्मुखतां विचारयेत् ॥ ५३ ॥

भावार्थः—उपरोक्त भगंदरोंसे विपरीत अर्थात् असाध्यलक्षणोंसे रहित भगंदर रोग को, अर्शके समान ही अत्यंत यत्नके साथ यंत्रको अंदर प्रवेशकर ऐषणी (लोह की शलाका) को अंदर डालकर भगंदरका मुख अंतर्गत है या बहिर्गत है इसको अच्छीतरह विचार करना चाहिये ॥ ५३ ॥

भगंदर यंत्र।

यथार्शसां यंत्रमुदाहृतं पुरा। भगंदराणां च तथाविधं भवेत् ॥
अयं विशेषोऽर्धशशांकसन्निभं। स्वकर्णिकायां प्रतिपाद्यते बुधैः ॥५४॥

भावार्थः—जिस प्रकार पहिले अर्शरोगकेलिये यंत्र बतलाये गये हैं वैसे ही यंत्र भगंदरकेलिये भी होते हैं। परंतु इतना विशेष विद्वानोंद्वारा कहाजाता है कि इसमें कर्णिका अर्धचंद्राकृति की होनी चाहिये ॥ ५४ ॥

भगंदरमें शस्त्राग्निक्षारप्रयोग।

अथैषणीमार्गत एव साशयं। विदार्य शस्त्रेण दहेत्तथाग्निना ॥
निपातयेत्क्षारमपि व्रणक्रियां। प्रयोजयेच्छोधनरोपणौषधैः ॥ ५५ ॥

भावार्थः—भगंदर व्रण में लोहशलाका डालकर, भगंदर और उसके आधार को शस्त्र से विदारण करके अग्नि से जलावें । अथवा क्षारपातन करें । इस प्रकार, शस्त्र प्रयोग आदि करने के बाद, उस व्रण (घाव) को, व्रणोपचार पद्धति से शोधन (शुद्ध करनेवाली) रोपण (भरनेवाली) औषधियों द्वारा चिकित्सा करें । अर्थात् रोपण करें ॥ ५५ ॥

भगंदर छेदन क्रम ।

यदैवमन्योन्यगतागतिर्भवेत् । तदैकदा छेदनमिष्टमन्यथा ॥
क्रमक्रमेणैव पृथक्पृथग्गतिं । विदारयेच्चन्न बृहद्व्रणं भवेत् ॥ ५६ ॥

भावार्थः—जब भगंदरोंकी गति परस्पर मिली हुई रहें तब उनको एक बार ही छेदन करना चाहिये । जिनकी गति पृथक् २ है परस्पर मिली नहीं है उनको क्रम २ से विदारण करें अर्थात् एक भरने के बाद दूसरे को । दूसरा भरने के बाद तीसरे को दारण करें । ऐसा करने से व्रण बडा नहीं हो पाता है ॥ ५६ ॥

बृहद्व्रणका दोष व उसका निषेध ।

बृहद्व्रणं यच्च भवेद्भगंदरम् । तदैव तस्मिन्मलमूत्ररेतसाम् ॥
प्रवृत्तिरुक्ता महती गतिस्ततो । भिषग्विमुख्यैरपि शस्त्रकर्मवित् ॥५७॥

ततो न कुर्याद्विवृतं व्रणान्वितं । भगंदरं तत्कुरुते गुदक्षतिम् ॥
स शूलमाध्मानमथान्यभावतां । करोति वातःक्षतवक्त्रनिर्गतः ॥५८॥

भावार्थः—जिस भगंदर में (शस्त्र कर्मके कारण) व्रण (घाव) बहुत बडा होजाता है उस व्रण मार्ग से मल, मूत्र, शुक्र बाहर निकल ने लगते हैं । जिस से भगंदर की गति और भी महान होजाती है ऐसा भिषग्वरोंने कहा है । इसलिये शस्त्रकर्म को जानने वाले वैद्य को चाहिये कि वह शस्त्र कर्म करते समय भगंदर के व्रण (घाव) को कभी भी बडा न बनावें । यदि बढजावें तो वह गुदाको (विदारण) कर देता है । उस क्षतगुदाके मुख से निकला हुआ वात शूल, आध्मान (अफरा) को करता है ५७ ॥ ५८ ॥

अतः प्रयत्नादतिशोफभेदतां । विचार्य सम्यग्विदधीत भेषजम् ॥
विधीयते छेदनमर्धलांगल- । प्रतीतगोतीर्थसमाननामकम् ॥५९॥

१ यहां शस्त्र, अग्नि व क्षार कर्म बतलाया है । इन सब को एक ही अवस्थामें प्रयोग करना चाहिये । अवस्थांतर को देखकर प्रयोग करें ।

भावार्थः—इसलिये भगंदर की सूजन के भेदों को देख कर उस पर अच्छीतरह से विचारकर उस के अनुकूल प्रयत्नपूर्वक शस्त्रकर्म आदि करें । भगंदर के छेदन (की आकृति) या तो अर्धलांगलके[1] सदृश अथवा गोतीर्थ[2] के समान करें ॥ ५९ ॥

सुखोष्णतैलेन निषेचनं हितं । गुदे यदि स्यात्क्षतवेदना नृणां ॥
तथानिलघ्नौषधपक्वभाजने । सबाष्पिकेप्यासनमिष्टमादरात् ॥६०॥

भावार्थः—यदि गुदक्षत होकर उस में वेदना हुई हो तो मंदोष्ण तेलका सिंचन करना हितकर है । एवं वातहर औषधियों से पका हुआ बाफ सहित पानीमें बैठना भी उपयुक्त है ॥ २६० ॥

स्वेदन ।

सवक्रनाडीगतबाष्पतापनं । हितं शयानस्य गुदे नियोजयेत् ॥
तथैवमभ्यक्तशरीरमातुरं । सुखोदकेष्वप्यगाहयेद्भिषक् ॥ ६१ ॥

भावार्थः—भगंदर से पीडित रोगी की चिकित्साकेलिये यह भी उपाय है कि एक घडे में वातघ्न औषधि यों से सिद्ध कषाय को भरकर उसके मुहं बंद करें । और उस घडे में एक टेढी नली लगावें । उस नली द्वारा आई हुई बाफ से गुदा को स्वेदन करें । अथवा वातघ्नतैल से शरीर को मालिश करके कदुष्ण [थोडा गरम] जल को एक बडे बर्तन में डालकर उस में रोगीको बैठालें ॥ ६१ ॥

भगंदरघ्न उपनाह ।

सुतैलदुग्धाज्यविपक्वपायसं । ससैंधवं वातहरौषधान्वितम् ॥
सपत्रवस्त्रैर्निहितं यथासुखं । भगंदरस्याहुरिहोपनाहनम् ॥ ६२ ॥

---

१ लांगल हल को कहते हैं जो आधा हल के समान हो उसे अर्धलांगल कहते हैं ॥

२ इस के विषय में अनेक मत है । कोई तो चलती हुई गाय मूतनेपर जो टेढी २ लकीर होती हैं उसे गोतीर्थ कहते हैं । कोई तो गायकी योनि को गोतीर्थ कहते हैं ।

ग्रंथांतर में ऐसा भी लिखा है—

द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्यां छेदे लांगलको मतः ।
ह्रस्वमेकतरं यच्च सोऽर्धलांगलकस्स्मृतः ॥ १ ॥

अर्थः—जो दोनों पार्श्वों में समान छेद किया जावें उसे " लांगलक " कहते हैं । जो एक तरफ छोटा हो वह " अर्धलांगल " कहलाता है ।

पार्श्वगतेन छिद्रेण छेदो गोतीर्थको भवेत् ॥

जो पांसवाडी के तरफ झुककर छेद किया जावें उसे " गोतीर्थ " कहते हैं ॥

भावार्थः—तेल, दूध, घी, सेंधानमक और वातहर औषधि इनको एकत्र डाल-कर तब तक पकावें, जबतक खीर के समान गाढा नहीं होवें। इस पुलटिश को, इस भगंदर व्रण पर पत्ते और वस्त्र के साथ जैसा सुख होवें वैसा बांधे ॥ ६२ ॥

शल्यज भगंदर चिकित्सा।

यदेतदंतर्गतशल्यनामकं । भगंदरं तच्च विदार्य यत्नतः ॥
व्यपोह्य शल्यं प्रतिपाद्य कृच्छ्रतां । नृपाय पूर्वं विदधीत तत्क्रियाम् ॥६३॥

भावार्थः—जो शल्य (कांटा) भक्षणसे उत्पन्न भगंदर है (वह असाध्य होनेसे) उसकी कठिनताको पहिले राजाको सूचित करें। फिर उसका बहुत प्रयत्नके साथ विदारण करें एवं कांटेको निकालें ॥ ६३ ॥

शोधनरोपण।

व्रणक्रियां प्राग्विहितां प्रयोजयेत् । प्रमेहतीव्रव्रणशोधनं भिषक् ॥
भगंदरेप्यत्र विधिर्विधीयते । विशेषतश्शोधनरोपणादिकं ॥ ६४ ॥

भावार्थः—पहिले प्रमेहव्रणके प्रकरणमें जो व्रण क्रिया बताई गई है उसी विधीसे भगंदरव्रणका भी शोधन करें। विशेषतः भगंदरव्रणको शोधन रोपण आदि औषधियोंका प्रयोग करें ॥ ६४ ॥

भगंदरघ्न तैल व घृत।

तिलैस्सदंतीत्रिवृदिंद्रवारुणी-। शताव्हकुष्टैः करवीरलांगलैः ॥
निशार्ककांजीरकरंजचित्रकैः-। सहिंगुदी (?) सैंधवचित्रबीजकैः ॥६५॥

सनिंबजातीकटुरोहिणीवचा । कटुत्रिकांकोलगिरींद्रकर्णिकैः ॥
सहाश्वमारैः करकर्णिकायुतैः । महातरुक्षीरकरुटिकान्वितैः ॥ ६६ ॥

कषायकल्कीकृतचारुभेषजैः । विपक्वतैलं घृतमेव वा द्वयम् ॥
प्रयोगयेत्तच्च भगंदरव्रणे । रुजाहरं शोधनमाशु रोपणं ॥ ६७ ॥

भावार्थः—तिल, दंती जड (जमाल गोटेका पेड) निसोथ, इंद्रायन, शतावरी कूठ, कनेर, हलदी, कांजीर, कंजा, कलिहारिकी जड, आक, सेंधालवण, चीताकी जड, गोंदीवृक्ष, अथवा बडी कटेली, एरण्ड बीज, निंब, जायफल, कुटकी, वचा, त्रिकटु (सोंठ मिरच पीपल) अंकोल, [हिरा वृक्ष] सफेद किणिही वृक्ष और कर्णिकासे युक्त कनेर, थूहरका दूध, लाल एरण्ड वृक्ष, पीली कटसरैया इन औषधियोंके कल्कसे कषाय तैयार कर उसमें

पकाये हुए तेल या घी अथवा दोनों को भगंदरव्रणमें उपयोग करना चाहिये। उससे व्रणका शोधन और रोपण हो जायगा। एवं रोग भी दूर होगा ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

उपरोक्त तैल घृतका विशेष गुण।

तदेव दुष्टार्बुदनाडिकांकुर- । स्तनक्षतेष्वद्भुतपूतिकर्णयोः ॥
प्रमेहकुष्ठव्रणकच्छुदद्रुषु । क्रिमिष्वपीष्टं प्रथितापचीष्वलम् ॥ ६८ ॥

भावार्थः—उपरोक्त तेल व घृत, दुष्टअर्बुदरोग, नाडीव्रण, अर्श, स्तनक्षति, पिडिका, पूति, कर्णरोग, प्रमेह, कुष्ट, कच्छु, दद्रु, अपचि, और क्रिमिरोगोंके लिये हितकर है ॥ ६८ ॥

हरीतक्यादि चूर्ण।

हरीतकी रोहिणि सैंधवं वचा । कटुत्रिकं श्लक्ष्णतरं विचूर्णितं ॥
पिबेत्कुलत्थोद्भवतक्रकांजिकां । द्रवेण केनापि युतं भगंदरी ॥ ६९ ॥

भावार्थः—हरड, कुटकी, सैंधालोण, वचा, त्रिकटु, इन औषधियोंको महीन चूर्णकर उसे कुलथी व छाछकी कांजी में मिलाकर किसी द्रवके साथ भगंदरी पीवें जिस से वह सुखी होता है ॥ ६९ ॥

भगंदर में अपथ्य।

व्यवायदूराध्वगमातिवाहन- । प्रयाणयुद्धाद्यभिघातहेतुकम् ॥
त्यजेद्विरूढोपि भगंदरव्रणी । मासद्वयं बद्धपुरीषभोजनम् ॥ ७० ॥

भावार्थः—भगंदर व्रण अच्छा हो जाने पर भी (भर जानेपर भी) दो महीने तक भगंदरी मैथुनसेवन, दूरमार्ग गमन, घोडे आदि सवारीपर बैठकर अधिक प्रयाण, युद्ध [कुस्ती आदि] आदि आघात (चोट लगने) के लिये कारणभूत क्रियाओंको न करें। एवं गाढामल होने योग्य भोजन भी नहीं करना चाहिए, दो महिनेतक आहार नीहारकी योग्य व्यवस्था रखें ॥ ७० ॥

अश्मरी आदिके उपसंहार।

इति क्रमादुद्धतरोगवल्लभा- । नसाध्यसाध्यप्रविचारणान्वितान् ॥
निगद्य तल्लक्षणतच्चिकित्सितान् । ब्रवीम्यतः क्षुद्ररुजागणानपि ॥ ७१ ॥

भावार्थः—इस प्रकार क्रमसे बडे २ रोग उनका लक्षण, साध्यासाध्यविचार उनकी चिकित्सा आदि बातोंको कहकर अब क्षुद्ररोगों के विषयमें कहेंगे ॥ ७१ ॥

वृद्धि उपदंश आदिके वर्णन की प्रतिज्ञा ।

अतः परं वृध्युपदंशश्लीपद- । प्रतीतवल्मीकपदापचीगल- ॥
प्रलंबगण्डार्बुदलक्षणैस्सह । प्रवक्ष्यते ग्रंथिचिकित्सितं क्रमात् ॥ ७२ ॥

भावार्थः—अब अण्डवृध्यादिक रोग, उपदंश, श्लीपद, अपचि, गलगण्ड, अर्बुद, ग्रंथि आदि रोगोंका लक्षण व चिकित्साके साथ वर्णन किया जाता है ॥ ७२ ॥

सप्त प्रकारकी वृषणवृद्धि ।

क्रमाच्च दोषैः रुधिरेण मेदसा । प्रभूतमूत्रांत्रनिमित्ततोऽपि वा ॥
सनामधेया वृषणाभिवृद्धयो । भवंति पुंसामिह सप्तसंख्यया ॥ ७३ ॥

भावार्थः—क्रमसे वात, पित्त, कफ, रक्त व मेदके विकारसे एवं मूत्र और आंत्रके विकारसे, दोषोंके अनुसार नामको धारण करनेवाली (जैसे वातज वृद्धि, पित्तज वृद्धि आदि) वृष वृद्धि सातण प्रकारकी होती हैं ॥७३॥

वृद्धि संप्राप्ति ।

अथ प्रवृत्तोन्यतमोऽनिलादिषु । प्रदुष्टदोषः फलकोशवाहिनीं ॥
समाश्रितोऽसौ पवनः समंततः । करोति शोफं फलकोशयोरिव ॥ ७४ ॥

भावार्थः—वात आदि दोषोंमें कोई भी एक दोष स्वकारण से प्रकुपित होकर अण्डकोश में वहनेवाली धमनी को प्राप्तकर वायु की सहायता से अण्डकोश में फलकोशके समान सूजन को उत्पन्न करता है । इसे अण्डवृद्धि कहते हैं ॥७४॥

वात, पित्त, रक्तज वृद्धि लक्षण ।

मरुत्प्रपूर्णः परुषो महान्परः । सकण्टकः कृष्णतरोऽतिवेदनः ॥
स एव शोफोऽनिलवृद्धिरुच्यते । ज्वरातिदाहैः सह पित्तरक्तजा ॥७५॥

भावार्थः—जो परिपूर्ण हो, कठिन वायुसे हो, कण्टक (कांटे जैसे) से युक्त हो, कालांतरमें जिस में अत्यंत वेदना होती हो, उस सूजनको वातोत्पन्न अण्डवृद्धि, अर्थात् वातजवृद्धि कहते हैं । वही अण्डवृद्धि, यदि ज्वर और अत्यंत दाहसे युक्त हो तो उसे पित्तज व रक्तज समझना चाहिए ॥ ७५ ॥

कफ, मेदजवृद्धि लक्षण ।

गुरुस्थिरो मंदरुजोऽग्रकण्डुरो । बृहत्करो यः कफवृद्धिरुच्यते ॥
महान् मृदुस्तालफलोपमाकृतिः । स तीव्रकण्डूरिह मेदसा भवेत् ॥७६॥

भावार्थः—जो भारी और स्थिर [घटने बढने वाली न हो] हो जिसमें पीडा थोडी होती हो, अत्यधिक खुजली चलती हो व कठिन हो इन लक्षणोंसे संयुक्त अण्डवृद्धि कफज कहलाती है। जो महान मृदु ताडके फल के समान जिसकी आकृति हो, अत्यंत खुजली चलती हो उसे मेदज अण्डवृद्धि कहते हैं ॥ ७६ ॥

मूत्रजवृद्धिलक्षण।

स गच्छतः क्षुभ्यति वारिपूरिता- । दृतिर्यथा मूत्रनिरोधतस्तथा ॥
महातिकृच्छ्राधिकवेदनायुतो । मृदुर्नृणां मूत्रविवृद्धिरुच्यते ॥ ७७ ॥

भावार्थः—जो सूजन चलते समय पानीसे भरी हुई दृति (मशक) जिस प्रकार क्षोभको [चंचल] प्राप्त होती है, उसी प्रकार क्षोभायमान होती है। मूत्रकृच्छ्र व अधिक पीडासे युक्त है, व मृदु है वह मूत्रजवृद्धि कहलती है। यह मूत्रके रोकनेसे उत्पन्न होती है ॥ ७७ ॥

अंत्रज वृद्धिलक्षण।

यदांत्रमंतर्गतवायुपीडितं । त्वचं समुन्नम्य विधूय वंक्षणम् ॥
प्रविश्य कोशं कुरुतेऽतिवेदनाम् । तदांत्रवृद्धिं प्रतिपादयेद्भिषक् ॥ ७८ ॥

भावार्थः—जिससमय अंदर रहनेवाला वात अंत्रको पीडित करता है (संकुचित करता है) तब वह त्वचाको नमाकर वंक्षण संधि (राङ) को कम्पित करते हुए (उसी वंक्षण संधि द्वारा) अण्डमें प्रवेश करता है। तभी अंडकी वृद्धि होती है इसे वैद्य अंत्रज वृद्धि कहें ॥ ७८ ॥

सर्व वृद्धिमें वर्जनीय कार्य।

तथोक्तवृद्धिष्वखिलासु बुद्धिमान् । विवर्जयेद्वेगनिरोधवाहनम् ॥
व्यवाययुद्धाद्यभिघातहेतुकं । ततश्च तासां विदधीत तत्क्रियाम् ॥ ७९ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त सर्व प्रकारके वृद्धिरोगोंमें बुद्धिमान रोगीको उचित है कि वह शरीरको आघात पहुंचाने वाली मैथुनसेवन, वेगनिरोध (मलमूत्रादिक निरोध) वाहन में बैठना, युद्ध करना आदि क्रियावों को छोडनी चाहिये। फिर उसकी चिकित्सा करानी चाहिये ॥ ७९ ॥

वातवृद्धि चिकित्सा।

अथानिलोत्थाधिकवृद्धिमातुरं । विरेचयेत्स्निग्धतमं प्रपाययेत् ॥
सदुग्धमेरण्डजतैलमेव वा । निरूहयेद्वाप्यनुवासयेद्भृशम् ॥ ८० ॥

भावार्थः—वातोत्पन्न अण्डवृद्धिसे पीडित रोगी को कोई स्निग्ध विरेचन (विरेचक घृत आदि) औषध पिलाकर विरेचन कराना चाहिये। इस के लिये, दूध में एरण्ड तैल मिलाकर पिलाना अत्यंत हितकर है। अथवा निरूह व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ॥ ८० ॥

स्वेदन, लेपन, बंधन व दहन।

सदैव संस्वेदविधायनौषध- । प्रलेपबंधैरपि वृद्धिमुद्धताम् ॥
उपाचरेदाशु विशेषतो दृढं । शलाकया वाप्यधरोत्तरं दहेत् ॥ ८१ ॥

भावार्थः—अधिक बढी हुई वृद्धी को हमेशा स्वेदन औषधियोंद्वारा स्वेदन, लेपन औषधियोंसे लेपन, बंधन औषधियोंसे बंधन आदि क्रियाओंसे उपचार कराना चाहिये। जो वृद्धि विशेष दृढ [मजबूत] है उसे अग्नि से तपायी गयी शलाकासे नीचेके व उत्तर भाग को जला देवें ॥ ८१ ॥

पित्तरक्तजवृद्धि चिकित्सा।

स पित्तरक्तोद्भववृद्धिबाधितं । विरेचनैः पित्तहरैर्विशोधयेत् ।
जलायुकाभिर्वृषणस्थशोणितं । प्रमोक्षयेच्छीततरैर्विलेपयेत् ॥८२ ॥

भावार्थः—पित्तरक्तके विकारसे उत्पन्न वृद्धिमें पित्तहर औषधियोंसे विरेचन कराना चाहिये। एवं जलोंक लगवाकर अण्डके दुष्ट रक्तका मोक्षण (निकालना) कराना चाहिये और उसपर शीत औषधियोंका लेपन करना चाहिये ॥ ८२ ॥

कफजवृद्धि चिकित्सा।

कफप्रवृद्धिस्त्रिफलाकटुत्रिकै- । र्गवां जलैः क्षारयुतैस्सुपेषितैः ॥
प्रलेपयेत्तच्च पिबेदथातुरः । सुखोष्णवर्गैरुपनाहयेत्सदा ॥ ८३ ॥

भावार्थः—कफवृद्धि में त्रिफला (हरड, बहेडा, आंवला) व त्रिकटु [सोंठ, मिरच पीपल] को क्षारयुक्त गोमूत्रके साथ अच्छीतरह पीसकर लेपन करना चाहिये। और उसी औषधिको रोगी को पिलाना चाहिये। एवं च उष्ण वर्गों अर्थात् उष्णगुण युक्त औषधियोंका पुल्टिश बांधना चाहिये ॥ ८३ ॥

मेदज वृद्धिचिकित्सा।

विदार्य मेदःप्रभवातिवृद्धिकां । विवर्ज्य यत्नादिह सीवनीं भिषक् ॥
व्यपोह्य मेदः सहसाविशोधनै- । रुपाचरेत्सत्क्रमसोष्णबंधनैः ॥ ८४ ॥

भावार्थः—मेदोत्पन्न वृद्धि में सीवनी (लिंगके नीचे से गुदा तक गई हुई रेखा) को छोडकर अण्डकोश को अतियत्न के साथ विदारण (फोडे) करें। पश्चात् मेद को शीघ्र ही निकाल कर, क्रमसे शोधन (शुद्धि) करें। तथा उष्ण औषधियों द्वारा बांध देवें ॥ ८४ ॥

मूत्रजवृद्धिचिकित्सा।

समूत्रवृद्धिं दृढबंधबंधितां। विभिद्य सुव्रीहिमुखेन यत्नतः ॥
विगालयेत्सनलिकामुखेन त-। ज्जलोदरप्रोक्तविधानमार्गतः ॥ ८५ ॥

भावार्थः—मूत्रज अण्डवृद्धिमें, जलोदर में पानी निकालने की जो विधि बतलायी है उसी विधिके अनुसार अण्ड को अच्छी तरहसे बेध कर, अति प्रयत्नके साथ व्रीहिमुख नामके शस्त्रसे भेदन करके,नली लगाकर अण्डसे पानीको बाहर निकालें॥८५॥

अंत्रवृध्दिचिकित्सा।

अथांत्रवृद्धौ तदसाध्यतां सदा। निवेद्य यत्नादनिलघ्नमाचरेत् ॥
बलाभिधानं तिलजं प्रपाययेत्। ससैंधवैरण्डजतैलमेव वा ॥ ८६ ॥

भावार्थः—अंत्रवृद्धिके होने पर उसे पहिलेसे असाध्य कहना चाहिये। फिर वातहर औषधियोंका प्रयोग कर बहुत यत्नके साथ चिकित्सा करनी चाहिये। बलातैल अथवा सेंधालोण मिलाकर एरण्डका तैल उसे पिलाना चाहिये॥ ८६ ॥

अण्डवृध्दिघ्नलेप।

सुखाह्वकांजीरकरंजलांगली-। खरापमार्गाग्रिभिरेव कल्कितैः ॥
प्रदिह्य पत्रैःसह बंधमाचरेत्। प्रवृद्धवृद्धिप्रशमार्थमाचरेत् ॥ ८७ ॥

भावार्थः—सुखाह्वा, (वृद्धिनाशक औषधि) की जड, कंटकयुक्त वृक्ष विशेष, कांजीर, करंज, कलिहारी, चिरचिरा इनके जडका कल्क बनाकर उसे पत्तेपर लेप करके उसको वृद्धिपर बांधना चाहिये। जिससे वह वृद्धि उपशम को प्राप्त होती है॥ ८७ ॥

अण्डवृध्दिघ्नकल्क।

पिबेत्कुबेराक्षिफलाग्रिभिः कृतं। सुकल्कमप्यम्लकतक्रकांजिकैः ॥
सुशिग्रुमूलं त्रिकटुं ससैंधवं। सहाजमोदैः सह चित्रकेण वा ॥ ८८ ॥

भावार्थः—पाडरवृक्ष, मदनवृक्ष [मैनफलका पेड] इनके जडसे बनाया हुआ कल्क, अम्लक, छाछ वा कांजीके साथ तथा सैंजनका जड, त्रिकटु, सैंधालोण इनके कल्कको अजमोद या चित्रकके क्वाथ के साथ पीनें ॥ ८८ ॥

---

१ प्रसूति अधिकारोक्त।

सुवर्चिकादिचूर्ण।

सुवर्चिकासैंधवहिंगुजीरकैः। करंजयुग्मैः श्रवणाह्वभेषजैः ॥
कटुत्रिकैश्चूर्णकृतैः पयः पिबेत्। करोति मुष्कं करिमुष्कसन्निभम् ॥८९॥

भावार्थः—सर्जीखार, सेंधालोण, हींग, जीरा, छोटी बडी करंजा, श्रवणी, त्रिकटु इन सब औषधियोंको चूर्णकर दूध के साथ पीवे तो अण्डकोश हाथीके अण्डकोश के समान सुदृढ बनता है ॥ ८९ ॥

उपदंशशूकरोग वर्णनप्रतिज्ञा।

वृषणवृद्धिगणाखिललक्षणं। प्रतिविधानविधिं प्रविधायच ॥
तदुध्वजगतानुपदंशविशेषितान्। निशितशूकविकारकृतान् ब्रुवे ॥ ९० ॥

भावार्थः—इस प्रकार वृषण वृद्धीका संपूर्ण लक्षण, चिकित्सा आदिको कहकर अब पुरुषलिंग के ऊपर होनेवाले उपदंश और शूक रोगका वर्णन अब आगेके प्रकरणमें करेंगे ॥ ९० ॥

अंतिम कथन।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ९१ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथ में जगतका एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ ९१ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे क्षुद्ररोगचिकित्सितं नामादितो त्रयोदशः परिच्छेदः।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित भावार्थदीपिका टीका में क्षुद्ररोगाधिकार नामक तेरहवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

—०—

अथ चतुर्दशपरिच्छेदः।

अथ उपदंशाधिकारः।

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा।

जिनमनघमनंतज्ञाननेत्राभिरामं।
त्रिभुवनसुखसंपन्मूर्तिमत्यादरेण ॥
प्रतिदिनमतिभक्त्याऽनम्य वक्षाम्युदारं।
ध्वजगतमुपदंशख्यातशूकाभिधानम् ॥ १ ॥

भावार्थः—सर्व पाप कर्मों से रहित, अनंतज्ञानरूपी नेत्रसे शोभायमान, तीन लोक के संपत्ति के मूर्ति स्वरूप श्री जिनेंद्र भगवान्को अत्यंत आदर के साथ अति भक्ति से नमस्कार कर मेढ़ पर होनेवाले उपदंश व शूक रोगोंको प्रतिपादन करेंगे ॥१॥

उपदंश चिकित्सा।

वृषणविविधवृद्धिप्रोक्तदोषक्रमेण ॥
प्रकटतरचिकित्सां मेहनोत्पन्नशोफे ॥
वितरतु विधियुक्तां चोपदंशाभिधाने।
निखिलविषमशोफेष्वेष एव प्रयोगः ॥ २ ॥

भावार्थः—अण्डवृद्धि के प्रकरण में भिन्न २ दोषोत्पन्न वृद्धियों के जिस प्रकार भिन्न २ प्रकार का चिकित्साक्रम बतलाया था, उन सब को लिंग में उत्पन्न उपदंश नामक शोथ (सूजन) में भी दोषभेदों के अनुकूल उपयोग करें। एवं अन्य सर्व प्रकार के भयंकर शोथों में भी इसी चिकित्सा का उपयोग करें ॥ २ ॥

दो प्रकारका शोथ।

स भवति खलु शोफो द्विप्रकारो नराणा-।
मवयवनियतोऽन्यः सर्वदेहोद्भवश्च ॥

---

१ लिंग को हाथ के आघात से, नाखून व दांत के लगनेसे, अच्छीतरह साफ न करनेसे, अत्यंत विषयोपभोग से, एवं विकृत योनिवाली स्त्री के संसर्ग [मैथुन] से, शिश्नेंद्रिय [लिंग] में शोथ (कुलथी धान्य के आकार वाले फफोले उत्पन्न होते है उसे उपदंश अर्थात् गर्मीरोग कहते हैं। वातज, पित्तज, रक्तज, कफज, सन्निपातज इस प्रकार उसके पांच भेद आयुर्वेद में वर्णित हैं ॥

सकलतनुगतो वा मध्यदेहेऽर्धदेहे ।
श्वयथुरतिसुकष्टः क्लिष्टशुष्केतरांगः ॥ ३ ॥

भावार्थः—वह सूजन दो प्रकारकी होती है । एक नियत अवयव में होनेवाली और दूसरी सर्वांगीण । सर्व अंगमें फैली हुई तथा शरीरके मध्यभाग अथवा अर्ध शरीरमें सूजन होकर अन्य अवयव सूख गये हों ऐसे शोथ रोग कठिन साध्य होते हैं ॥ ३ ॥

विद्रधि ग्रंथिपिटकालक्षण व चिकित्सा ।

श्वयथुरितिविशालो विद्रधिः कुंभरूपो ।
मुखरहिततया ते ग्रंथयः संप्रदिष्टाः ॥
मुखयुतपिटकाख्याः शोफकालेऽनुरूपै- ।
रुपनहनविशेषैः साधनैः साधयेत्तान् ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो शोथ विशाल है और कुम्भके समान है वह विद्रधि कहलाता है । जिनको मुख नहीं होता वे ग्रंथियां हैं और मुखसहित पिटक कहलाते हैं । इन सब शोफभेदोंकी यथ काल तदनुकूल औषधियों द्वारा पुल्टिश आदि बांधकर एवं और भी उपायोंसे चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४ ॥

उपदंशका असाध्य लक्षण ।

ज्वरयुतपरिदाहश्वासतृष्णातिसार- ।
मकटबलविहीनारोचकोद्गारयुक्तः ॥
यमसदनमवाप्नोत्याशु शून्यांगयष्टिः ।
यममसकृदनूनं द्रष्टुकामो मनुष्यः ॥ ५ ॥

भावार्थः—उपदंशका उद्रेक तीव्र होकर जो रोगी अत्यंत क्षीण होगया हो फिर वह ज्वर, दाह, श्वास, तृषा, अतिसार, अशक्तपना, अरोचकता व उद्गार से पीडित हो और जिसका शरीर बिलकुल शून्य होगया हो तो समझना चाहिये कि वह यमको बहुत उत्सुकताके साथ देखना चाहता है । इसलिये जल्दी से जल्दी वह यमके घर पहुंच जायगा ॥ ५ ॥

दंतोद्भव उपदंश चिकित्सा ।

निशितविषमदन्तोद्धट्टनात् मेढ्जात- ।
क्षतयुतमुपदंशात्यंतशोफं यथावत् ॥
शिशिरघृतपयोभिः साधयेदाशु धीमान् ।
अतिहिमबहुभैषज्यैरपीह प्रलिंपेत् ॥ ६ ॥

भावार्थः—तीक्ष्ण व विषम दांतोंके रगडसे उत्पन्न उपदंशक्षत (जखम) और अत्यंत सूजनसे युक्त हो तो उसका यथायोग्य ठण्डा घृत, दूध आदिके प्रयोगसे बुद्धिमान वैद्य उपशमन करें एवं अत्यंत शीत औषधियोंको लेपन करें ॥ ६ ॥

यदुचितमभिघाते जातशोफे विधानं ।
तदपि च कुरुते यत्नेन वंशाख्यशोफे ॥
व्रणविहितसमस्तैश्शोधनै रोपणैर- ।
प्युपनहनविशेषैस्साधयेत्तत्कृतं च ॥ ७ ॥

भावार्थः—वंश नामक शोथमें अभिघातसे उत्पन्न सूजनमें जो चिकित्सा क्रम बतलाया है उनको तथा व्रण प्रकरणमें कहे गये शोधन, रोपण, उपनाह (पुल्टिश) इत्यादिका प्रयोग करें ॥ ७ ॥

अथ शूकदोषाधिकारः ।

शूकरोग निदान व चिकित्सा.

परुषविषमपत्रोद्घट्टनं मेढ्रवृद्ध्यैः ।
करमथनविशेषादल्पयोनिप्रसंगात् ॥
अधिकृतबहुशूकाख्यामयाः स्युस्ततस्तान् ॥
घृतबहुपरिषेकैः स्वेदनैः स्वेदयेच्च ॥ ८ ॥

भावार्थः—मेढ्र (लिंग) के बढनेके लिये अनेक तरहके रूक्ष पत्तोंके घर्षणसे, हस्त मैथुनसे एवं अल्पयोनिमें मैथुनसेवन करनेसे उस शिश्नपर अनेक तरहकी फुनसियां पैदा होती हैं । उसे शूकरोग कहते हैं[1] । उसपर घृतका सिंचन करना चाहिये और स्वेदन औषधियोंसे स्वेदन कराना चाहिये ॥ ८ ॥

तिलमधुकादि कल्क ।

तिलमधुककलायाश्वत्थमुद्गैः सुपिष्टैः ।
घृतगुडपयसाद्यामिश्रितैः शीतवर्गैः ॥
कुपितरुधिरशांत्यै संप्रलिप्य प्रयत्नात् ।
विदितसकलदोषप्रक्रमेणारभेत ॥ ९ ॥

भावार्थः—तिल, ज्येष्ठमधु [मुलैठी] मटर, अश्वत्थ, मूंग इनको अच्छीतरह पीस-कर घी, दूध व गुडके साथ मिलाके फिर शीतवर्ग औषधियोंके साथ दूषित रक्तके शांतिके

1 यह अठारह प्रकारका होता है ।

लिये पिलावे। फिर सर्व दोषोंको विचार कर उसके उपशमनके लिये तदनुकूल योग्य चिकित्सा करें ॥ ९ ॥

व्रणविधिमपि कुर्यान्मेढ्जातव्रणेषु।
प्रकुपितरुधिरस्रावं जलौकाप्रपातैः।
निखिलमभिहितं यद्दोषभैषज्यभेदात्।
उचितमिह विदित्वा तत्प्रयोज्यं भिषग्भिः ॥ १० ॥

भावार्थः—मेढ्पर उत्पन्न व्रण (शूक रोग) में व्रणचिकित्साके विधानका भी उपयोग करें। एवं जलौंक लगाकर विकृतरक्तको निकाले। वात पित्तादिक विकारोंके उपशमनके लिये जो औषधि बतलाई गई हैं उनको यहां भी दोषोंके बलाबलको जानकर कुशल वैद्य प्रयोग करें ॥ १० ॥

अथ श्लीपदाधिकारः।

श्लीपद रोग.

कुपितसकलदोषैर्येनकेनापि वा त-।
द्गुणगणरचितोग्रं वंक्षणो दीर्घशोफः॥
प्रभवति स तु मूलाद्दूरमाश्रित्य पश्चात्।
अवतरति यथावज्जानुजंघाघ्रिदेशे ॥ ११ ॥

स भवति दृढरोगः श्लीपदाख्यो नराणा-।
मनुदिनमतिसम्यक्संचितांघ्रिप्रदेशे ॥
तमपि निखिलदोषाशेषभैषज्यबंध-।
प्रचुररुधिरमोक्षाद्यैस्सदोपाचरेच्च ॥ १२ ॥

भावार्थः—सर्व दोषोंका एक साथ उद्रेक वातपित्तकफों के एक साथ प्रकोप होनेसे, अथवा, एक २ दोषके प्रकोपसे, अपने २ (दोषोंके) लक्षणोंसे संयुक्त, जांघोंकी संधिमें शोफ होता है। फिर वह शिश्नमूलसे जानु, जंघा व पादतक उतरजाता है। इसे श्लीपद रोग कहते हैं। यह रोग कठिन होता है। वह रोगीके पाद देशमें अच्छीतरह संचित होकर प्रतिदिन उसे पीडा देता है। समस्त दोषोंके उपशामक औषधियोंसे एवं बंधन, रक्तमोक्षण आदि विधियोंके द्वारा उसकी चिकित्सा करें ॥ ११ ॥ ॥ १२ ॥

त्रिकट्वादि उपनाह।

त्रिकटुलशुनहिंगूग्रेंगुदीलांगलीकैः।
प्रतिदिनमनुलिप्तं चोष्णपत्रोपनाहैः॥
उपशमनमवाप्नोत्युद्धतं श्लीपदाख्यं।
बहलपरिवृद्धत्तस्यस्तुतं वर्जनीयम् ॥ १३ ॥

भावार्थः—त्रिकटु, लहसन, हींग, बच, हिंगोट, कलिहारी इन औषधियोंका प्रतिदिन लेपनकर उष्ण गुणयुक्त पत्ते को उस के ऊपर बांधनेपर वह उद्रिक्त श्लीपद रोग उपशमनको प्राप्त होता है। यदि अत्यधिक बढ गया हो तो उसे असाध्य समझना चाहिये ॥ १३ ॥

वल्मीकपादघ्न तैलघृत।

तिलजलवणमिश्रैरेभिरेवौषधैस्तैः॥
प्रशमनमिह संप्राप्नोति वल्मीकपादः॥
स्नुहि पयसि विपक्कं तैलमेवं घृतं वा।
शमयति लवणाढ्यं पत्रबंधेन सार्धम् ॥ १४ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त औषधियोंको तिलका तेल, सेंधालोण के साथ मिलाकर (अथवा औषधियों के कल्क क्वाथ से तैल सिद्ध करके) लेपन करके ऊपर से पत्ता बांधे तो वल्मीकपाद उपशमन को प्राप्त होता है। अथवा थूहरके दूधमें पकाये हुए तैल या घी में सेंधालोण मिलाकर लेपन करें और पत्तेको बांधे तो भी हितकर होगा ॥ १४ ॥

वल्मीकपाद चिकित्सा।

अथ च कथितवल्मीकाख्यपादं त्रिदोष-।
क्रमगतविधिनोपक्रम्य तस्य व्रणेषु॥
प्रकटतरमहासंशोधनद्रव्यसिद्धा-।
न्यसकृदभिहितान्यन्यत्र तैलानि दद्यात् ॥ १५ ॥

भावार्थः—उद्रिक्त दोषों के अनुसार विधिपूर्वक चिकित्सा करके उस के व्रणोंको प्रसिद्ध संशोधन औषधियोंसे सिद्ध, पूर्वमें अनेकबार कथित, तैलका प्रयोग करना चाहिये ॥ १५ ॥

अपचीलक्षण।

हनुगलनयनाशिषास्थिसंधि प्रदेशे- ।
ष्वधिकमुपचितं यन्मेद एवाल्पशोफम् ॥
कठिनमिह विधत्ते वृत्तमत्यायतं वा- ।
प्युपचयनविशेषात्माहुरत्रापचीं ताम् ॥ १६ ॥

भावार्थः—हनु (ठोडी) गला, आंख, इनके व सर्व हड्डियों की संधि [जोड] में अधिक मेद [चौथा धातु] एकत्रित होकर एक अल्प शोथ को उत्पन्न करता है। जो कि कठिन, गोल अथवा लम्बा होता है। इस को अपची कहते हैं। इसमें मेद का उपचय होता है। इसलिये इस को अपची नामसे कहते हैं ॥ १६॥

अपचीका विशेष लक्षण।

कतिचिदिह विभिन्नस्रावमेवं स्रवन्ती ।
प्रशमनमिह साक्षात् केचिदेवाप्नुवंति ॥
सततमभिनवास्ते ग्रंथयोऽन्ये भवंति ।
विविधविषमरूपास्तेषु तैलं यथोक्तं ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस अपची की कितनी ही गांठें, अपने आप फूट जाती हैं। और उस में पूय आदि स्राव होने लगते हैं। पूर्वोत्पन्न कितने ही (अपने आपही) उपशमन होते हैं। फिर हमेशा नये २ उत्पन्न होते रहते हैं जो नानाप्रकार के विषमरूप [लक्षण] से युक्त होते हैं। इसपर पूर्वोक्त तैल का ही उपयोग करें ॥ १७ ॥

अपची चिकित्सा।

वमनमपिच तीक्ष्णं नस्यमत्रापचीनां ।
विधिवदिह विधेयं सद्विरेकश्च पश्चात् ॥
विविधविषमनाडीप्रोक्तमन्यच्च तच्च ।
प्रतिदिनमिह योज्यं श्लेष्ममेदःप्रशांत्यै ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस अपची रोग में कफ और मेद की शांतिके लिये विधिके अनुसार वमन और तीक्ष्ण नस्य देना चाहिये। उसके पश्चात् विरेचन भी देना चाहिये। एवं अनेक विषम नाडीरोगों [नासूर] के लिये जो चिकित्सा कही गई हैं उन सब का भी प्रयोग करना चाहिये ॥ १८ ॥

१ क्यों कि इस रोग में कफ मेद की ही अधिक वृद्धि रहती है।

नाडीव्रण अपची नाशक योग।

दिनकरतरुमूलैः पक्वसत्पायसो वा ।
प्रतिदिनमशनं स्यात्सर्वनाडीव्रणेषु ॥
बदरखदिरशार्ङ्गेष्टांघ्रिभिर्वापि सिद्धं ।
शमयति तिलजाढ्यं साधुनिष्पाववर्गः ॥ १९ ॥

भावार्थः—सर्व प्रकारके नाडी व्रणोमें अकौवेके जडके साथ पकाया हुआ पायस (खीर) ही प्रतिनित्य भोजन में देना चाहिये । अथवा बदर, (बेर) खदिर, (खैर) बंडी करंज, इनके जडसे सिद्ध पायस देना चाहिये । अथवा निष्पाव (भटवासु) वर्ग के (रक्तनिष्पाव, सफेद निष्पाव आदि) धान्यों को तिलके तैलसे मिलाकर भोजन में देनेसे सर्व नाडीव्रण (नासूर) व अपची नष्ट होते हैं ॥ १९ ॥

अपि च सरसनीलीमूलमेकं सुपिष्टं ।
दिनकरशशिसंयोगादिकाले स्वरात्रौ ॥
असितपशुपयोऽभ्यायोजितं पीतमेतत् ।
प्रशमनमपचीनामाचहत्यंधकारे ॥ २० ॥

भावार्थः—रसयुक्त एक ही नील के जडको अच्छी तरह पीसकर, काली गायके दूध में मिलाकर जिस दिन सूर्य और चंद्रमा का संयोग होता हो, उसी दिन रातको अंधेरे में पीवें तो अपची रोग शांत होता है ॥ २० ॥

गलगण्डलक्षण व चिकित्सा।

गलगतकफमेदोजातगण्डामयाना- ।
मधिकवमननस्यस्वेदतीव्रोपनाहान् ॥
सततमिह विधाय प्रोक्तपाकान्विदार्य ।
प्रतिदिनमथ सम्यग्योजयेच्छोधनानि ॥ २१ ॥

भावार्थः—कफ और मेद दूषित होकर, गले में रहनेवाली मन्या नाडी को प्राप्त करके उसमें शोथको उत्पन्न करते हैं जो कि अण्डकोश के समान गले में बंधा हुआ जैसा दीखता है इसे गलगण्ड कहते हैं । इस को वमन, नस्य, स्वेदन, तीव्र उपनाह आदि का प्रयोग करें । जब वह पकजावे तो विदारण करके शोधन, रोपणविधानका प्रयोग करना चाहिये ॥ २१ ॥

अर्बुद लक्षण ।

पवनरुधिरपित्तश्लेष्ममेदःप्रकोपा- ।
द्भवति पिशितपेशीजालरोगार्बुदाख्यम् ॥
अतिकफबहुमेदोव्यापृतात्मस्वभावा- ॥
न्न भवति परिपाकस्तस्य तत्कृच्छसाध्यः ॥ २२ ॥

भावार्थः—वात, रक्त, पित्त, कफ व मेदके प्रकोपसे मांस पेशियोंमें मांसपिण्डके समान शरीरके किसी भी प्रदेशमें उत्पन्न ग्रंथि या शोथको अर्बुद रोग कहते हैं। वह, अत्यधिक कफ व मेदो विकारसे युक्त होनेके कारण पक्व अवस्थाको नहीं पहुंचता है, इसलिये उसे कष्टसाध्य समझना चाहिये ॥ २२ ॥

अर्बुद चिकित्सा.

तमिह तदनुरूपप्रोक्तभेषज्यवर्गैः ।
परुषतरसुपत्रोद्घट्टनासृक्प्रमोक्षैः ॥
अनुदिनमनुलेपस्नेहपत्रोपनाहै- ॥
रुपशमनविधानैः शोधनैः शोधयेत्तः ॥ २३ ॥

भावार्थः—पहिले कहे गये उसके अनुकूल औषधिप्रयोग, कठिन पत्रोंसे घर्षण (रगडना) रक्तमोक्षण (फस्त खोलना) प्रतिदिन औषधि लेपन, स्नेहन (सिद्ध घृत तैल लगाना) पत्तियोंका पुल्टिश एवं अन्य उपशमन विधियों द्वारा उस अर्बुद रोगकी चिकित्सा करनी चाहिये तथा शोधन करनेवाली औषधियोंसे (जब आवश्यकता हो) शुद्धि भी करें ॥ २३ ॥

ग्रंथिलक्षण व चिकित्सा ।

रुधिरसहितदोषैः मांसमेदस्सिराभि- ।
स्तदनुविहितलिंगा ग्रंथयोऽगे भवंति ॥
असकृदभिहितस्तै दोषभैषज्यभेद- ।
प्रकटतरविशेषैः साधयेत्तद्यथोक्तैः ॥ २४ ॥

---

१ रक्त इत्यादिके विकारसे उत्पन्न ग्रंथियां सात प्रकारकी हैं ऐसा ऊपरके कथनसे ज्ञात होता है। लेकिन तंत्रांतरोंमें वातज, पित्तज, कफज, मेदज, सिराज, इसप्रकार ग्रंथियोंके भेद पांच बतलाये हैं। (हमारी समझसे) ऊपरका कथन साधारण है। इसलिये, मांस रक्तसे ग्रंथि उत्पन्न नहीं होती है केवल वे दूषित मात्र होते हैं। ऐसा जानना चाहिये ॥ अथवा उग्रादित्याचार्य ग्रंथिके सात ही भेद मानते होंगे। ऐसा भी हो सकता है।

भावार्थः—दूषित रक्त, वात, पित्त, कफ, एवं मांस मेद, सिराओंसे तत्तद्दोष व धातुओंके अनुकूल प्रकट होनेवाले लक्षणोंसे संयुक्त, शरीरमें ग्रंथियां (गांठे) होजाती हैं। इन सर्व प्रकारकी ग्रंथियोंको दोष दूष्यादि भेदके अनुसार बार २ कहे गये औषधियोंके प्रयोगसे तथा लेपन, उपनाह आदि विधियोंसे चिकित्सा करें ॥ २४ ॥

सिराजग्रंथि के असाध्य कृच्छ्रसाध्य लक्षण ।

परिहरति शिराजग्रंथिरोगानचाल्यान् ।
प्रचलतरविशेषाः वेदनाढ्यास्तु कृच्छ्राः ॥

द्विविधविद्रधि

भवति बहिरिहांतर्विद्रधिश्चापि तद्वत् ।
विषमतरविकारो विद्रधिश्चांतरंगः ॥ २५ ॥

भावार्थः—सिरासे उत्पन्न अर्थात् सिराजग्रंथि, (सिराज ग्रंथि के चल, अचल इस प्रकार दो भेद हैं) यदि अचल (चलनशील न हो) होवें एवं वेदनासे रहित होवें तो वह असाध्य होता है। इसलिये वह छोडने योग्य हैं (अचिकित्स्य है।) यदि चल एवं वेदना से युक्त होवें तो वह कष्टसाध्य होता है ॥

विद्रधि रोग दो प्रकार का है। एक बाह्यविद्रधि दूसरा अंतर्विद्रधि। पहला तो शरीरके बाहर के प्रदेशोंमे होता है, इसलिये बाह्य कहलाता है। दूसरा तो शरीर के अंदर के भाग में होनेसे अंतर्विद्रधि कहलाता है। इन में अंतर्विद्रधि अत्यंत विषम होता है अर्थात् कठिन साध्य होता है ॥ २५ ॥

विशेषः—अस्थि में आश्रित कुपित वातादि दोष, त्वचा, रक्त मांस, मेदोंको दूषित कर, एक बहुत बडा गोल व लम्बा सूजन को उत्पन्न करते हैं। जिस का मूल (जड) भारी व बडा होता है। वह अतीव पीडासे युक्त एवं भीषण होता है। इसे विद्रधि कहते हैं।

अंतर्विद्रधि शरीर के अंदर, के बाजूमें गुदा बस्ति, (मूत्राशय) नाभि, कुक्षि रांड प्लिहा (तिल्ली) यकृत् इत्यादि स्थानो में होता हैं।

विद्रधिका असाध्य दुःसाध्य लक्षण.

गुदहृदययकृन्नाभिप्लिहाबस्तिजातः ।
समुपजनितपाको विद्रधिर्नैव साध्यः ॥
विषमतरविपक्वो यश्च भिन्नोऽन्यदेशे ॥
तमपि च परिहृत्य ब्रूहि दुःसाध्यतां च ॥ २६ ॥

भावार्थः—गुद, हृदय, यकृत्, नाभि, प्लीहा, वस्ति इन स्थानोंमें होकर जो विद्रधि पक गया हो वह असाध्य है। दूसरे अवयवमें होकर भी विषम रूपसे जो पक गया हो व फूट गया हो वह भी असाध्य होता है। इसलिये उसे पहिले असाध्य कहकर फिर चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २६ ॥

विद्रधिका असाध्य साध्य लक्षण।

श्वसनकसनहिकारोचकाध्मानशूल- ।
ज्वरयुतपरितापाद्बंधनिष्पंदवातात् ॥
उपरिनिसृतपूये विद्रधौ नैव जीवेत् ॥
भवति सुखकरोऽयं चाप्यधःसृष्टपूयः ॥ २७ ॥

भावार्थः—वात के प्रकोपसे जिस विद्रधिमें श्वास, कास, हिचकी, अरोचकता अफराना, शूल, ज्वर, ताप उद्बंधन (बंधाहुआ जैसा) निश्चलता आदि विकार प्रकट होते हैं और ऊपरकी ओर पूय (पीप) निकलने लगता है, उसमें रोगी कभी नहीं जी सकता है। नीचे की ओर पूय जिसमें निकले वह विद्रधि साध्य है ॥ २७ ॥

विद्रधि चिकित्सा।

प्रथममखिलशोफेषूष्णवर्गोपनाहः ।
प्रवर इति जिनेंद्रैः कर्मविद्भिः प्रणीतः ॥
प्रशमनमधिगच्छत्यामसंज्ञाविधिज्ञ- ।
स्त्वरिततरविपक्वं स्याद्विपक्वामभेदम् ॥ २८ ॥

भावार्थः—सबसे पहिले सर्व प्रकारके शोफो (विद्रधि) में उष्णवर्गोक्त औषधियों का पुल्टिश बांधना उपयोगी है। ऐसा सर्व चिकित्सा कार्य को जाननेवाले श्री जिनेंद्र भगवान्ने कहा है। उससे आम शोफ [जो नहीं पका है] जल्दी उपशमन को प्राप्त होता है अर्थात् बैठ जाता है। जो बैठने योग्य नहीं है तो शीघ्र ही पक जाता है। शोफ दो प्रकारका है। एक आमशोफ दूसरा पक्व शोफ ॥ २८ ॥

आमविदग्धविपक्व लक्षण.

कठिनतरविशेषः स्यादिहामाख्यशोफो ।
ज्वरबहुपरितापोष्माधिकः स्याद्विदग्धः ॥
विगतविषमदुःखःस्याद्विवर्णो विपक्व- ।
स्तमिह निशितशस्त्रच्छेदनैः शोधयेत्तम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—विशेष रूपसे जो शोफ कडा रहता है उसे आमशोफ कहते हैं। जो ज्वर, अधिक ताप (जलन) उष्णता आदियों से पीडित होता है उसे विदग्ध कहते हैं। (जिस वक्त वह पक रहा हो, आम व पक्क के बीचमें होनेवाली, यह अवस्था है) जिस में पूर्वोक्त ज्वर, पीडा आदि भयंकर दुःख नाश होगये हों, शोथ भी विवर्ण [पहले का रंग बदल गया हो] होगया हो, उसे विपक्व कहते हैं। अर्थात् वह अच्छी तरह पका हुआ समझना चाहिये। इस पके हुए को तीक्ष्ण शस्त्र के प्रयोगसे शुद्धि करना (पूय आदि निकालना) चाहिये ॥ २९ ॥

अष्टविध शस्त्रकर्म व यंत्रनिर्देश

बहुविधमथशल्यं छेदनं भेदनं वा।
ध्यसकृदिह नियोज्यं लेखनं वेधनं स्यात् ॥
अविदितशरशल्याद्येषणं तस्य साक्षात्।
हरणमिह पुनर्विस्रावणं सीवनं च ॥ ३० ॥

सकलतनुभृतां कर्मेव कर्माष्टभेदं।
तदुचितवरशस्त्रैः तद्विधेयं विधिज्ञैः ॥
विदितसकलशल्यान्यैवमुद्धर्तुमत्रा—।
प्यविहतमुरुयंत्रं कंकवक्त्रं यथार्थम् ॥ ३१ ॥

भावार्थः—शरीर में नानाप्रकारके शल्य हो जाते हैं। उन शल्योंको निकालनेके लिये यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि के प्रयोग करना पडता हैं। जिस प्रकार समस्तप्राणियों में आठ प्रकारके कर्म होते हैं उसी प्रकार शस्त्र कर्म के छेदन, भेदन, लेखन, वेधन, एषण, हरण, (आहरण) विस्रावण, सीवन इस प्रकार आठ भेद हैं। विविध प्रकार के जो शस्त्र बतलाये हैं उन में से जिन जिनकी जहां जरूरत हो उनसे, शस्त्रकर्म में निपुण वैद्य छेदन आदि कर्मों को विधिके अनुसार करें। इसी प्रकार विद्रधि रोग के जिन अवस्थाओं में जिन शस्त्रकर्मोंकी जरूरत होती हैं उनको बार २ अवश्य प्रयोग करना चाहिये। शरीरगत सम्पूर्ण शल्यों (बाण अन्य कांटे आदि) को निकालने केलिये (सर्व यंत्रों से श्रेष्ठ) कंकवक्त्र (जो कंकपक्षी के चोंच के समान हो) इस अन्वर्थ नामके धारक महान् यंत्र होता है उसे भी तत्तत्कार्यों में प्रयोग करें ॥३०।३१॥

विशेष—शरीर में कोई कांटा घुसकर मनुष्य को तकलीफ देता है उसी प्रकार बार बार कष्ट पहुंचाने वाले, शरीर के अंदर गये हुए तृण, काष्ठ, पत्थर, लोहा, बाण

हड्डी, सींग इत्यादि, तथा नानाप्रकार के दुष्टव्रण, गुल्म, अश्मरी, मूढगर्भ इत्यादि सब शल्य कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि शल्य नाम कांटे का है। जो शल्य के समान दुःख देवें वह सभी शल्य कहलाते हैं ॥

१ अर्श आदि को जो जडसे छेदा जाता है वह छेदन कहलाता है।

२ जो विद्रधि जैसोंको फोडा जाता है वह भेदन कहलाता है।

३ जो खुरचा जाता है वह लेखन कहलाता है।

४ जो छोटे मुखवाले शस्त्रोंसे सिरा आदि वेध दिया जाता है वह वेधन कहलाता है।

५ जो शरीरगत शल्य, किस तरफ है, इत्यादि माळूम न पडनेपर शलाका से ढूंढा जाता है वह एषण कहलाता है।

६ जो शरीरगत शल्य अश्मरी आदिको बाहर निकाला जाता है वह आहरण कहलाता है।

७ जो विद्रधि आदि व्रणोंसे मवाद आदि बहाया जाता है वह विस्रावण कहलाता है।

८ उदर आदि चीरनेके बाद जो सूईयोंसे सीया जाता है वह सीवन कहलाता है ॥

शस्त्र—छुरी, चक्कू, कैंची, आदि, जो छेदन आदि कामों में आते हैं।

यंत्र—शरीर में घुसे हुए, नाना प्रकार के शल्यों को पकडके बाहर खींचने व देखनेके लिये, अर्श, भगंदर आदि रोगोमें शस्त्र, क्षार, अग्नि कर्मों की योजना व शेष अंगोंकी (क्षार आदि के पतनसे) रक्षा करने के लिये, एवं बस्ति के प्रयोग के लिये, उपाय भूत, जो वस्तु (लायन फोर्सेस, ड्रेसिंगफार्सेप्स, ट्युबुलर, स्कूप डूस आदि आजकल प्रचालित) विशेष है, वह यंत्र कहलाता है।

बाह्यविद्रधि चिकित्सा.

बहिरुपगतवृद्धौ विद्रधौ दोषभेद- ।
क्रमयुतविधिनात्रामादिषु प्रोक्तमार्गैः ॥
रुधिरपरिविमोक्षालेपबंधाद्यशेष- ।
व्रणविहितविधानैः शोधयेद्रोपयेच्च ॥ ३२

भावार्थः—विद्रधि यदि बाहिर हो तो दोषोंके अनुसार जो शोफके आम, विदग्ध, विपक्व अवस्थाओंमें जो चिकित्सा बताई गई है वैसी चिकित्सा करें। रक्तमोक्षण, लेपन, बंधन आदि समस्त व्रण चिकित्सामें कहे गये, विधानोंसे उसका शोधन और रोपण करें ॥ ३२ ॥

अंतर्विद्रधिनाशक योग.

वरुणमधुकशिग्रुख्यातसत्कार्यमोघं ।
प्रशमयति महांतर्विद्रधिं सर्वदैव ॥
सकलमलकलंकं शोधयेदत्यभीक्ष्णं ॥
शुकमुखसितमूलं पाययेदुष्णतोयैः ॥ ३३ ॥

भावार्थः—वरणा, ज्येष्ठमधु, सेजिन इन औषधियोंके प्रयोगसे अंतर्विद्रधि उपशमनको प्राप्त होता है। शुकमुख (वृक्षभेद) धववृक्ष इनके जड को गरम पानीमें पीसकर पिलावें तो हमेशा, विद्रधिके मलकलंककी शुद्धि होती है ॥ ३३ ॥

विद्रधि रोगीको पथ्याहार।

व्रणगतविधिनाप्याहारमुद्यत्पुराण- ।
प्रवरविशदशालीनामिहान्नं सुपक्वं ॥
वितरतु घृतयुक्तं शुष्कशाकोष्णतोयैः ।
तदुचितमपि पेयं वा विलेप्यं सयूषम् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—व्रणसे पीडित रोगियों को जो हित आहार बतलाये हैं, उन को इस में [विद्रधि] भी देना चाहिये। एवं इस रोगमें पुराने धान्योंके अच्छी तरह पक्व हुए अन्नको खिलाना चाहिये। उसके साथ घी और शुष्क शाक एवं पानीके लिये उष्णजल देना चाहिये। इसके अलावा उसको योग्य अहित नहीं करनेवाले पेय विलेपी या यूषको भी देना चाहिये ॥ ३४ ॥

अथ क्षुद्ररोगाधिकारः।

क्षुद्ररोगवर्णनप्रतिज्ञा।

पुनरपि बहुभेदान् क्षुद्ररोगाभिधानान् ।
प्रकटयितुमिहेच्छन् प्रारभेत प्रयत्नात् ॥
विहितविविधदोषप्रोक्तसल्लक्षणैस्त- ।
द्धितकरवरभैषज्यादिसंक्षेपमार्गैः ॥ ३५ ॥

भावार्थः—पहिले क्षुद्र रोगोंका वर्णन किया गया है। फिर भी यहांपर अनेक प्रकार के क्षुद्ररोगोंको कहनेकी इच्छासे प्रयत्न के साथ उक्त अनेक दोषों के लक्षण एवं उन रोगों के लिये हितकर औषधियों का निरूपण करते हुए संक्षेपके साथ उन (क्षुद्र रोगों) के कथनका प्रारंभ करेंगे ॥ ३५ ॥

अकथित रोगों की परीक्षा ।

न भवति खलु रोगो दोषजालैर्विना यत् ।
तदकथितमपि प्राधान्यतस्तद्गुणानाम् ॥
उपशमनविधानैस्साधयेत्साध्यमेवं ।
पुनरपि कथनं स्यात्पिष्टसंपेषणार्थम् ॥ ३६ ॥

भावार्थः—यह निश्चित है कि वात, पित्त कफके बिना रोग उत्पन्न होता नहीं। इसलिये जिन रोगोंका या रोगके भेदोंका कथन नहीं किया है ऐसे रोगोंमें भी वात पित्तादिक विकारोंके मुख्य (अर्थात् यह व्याधि वातज है ? पित्तज है ? या कफज ! इत्यादि बातोंको तत्तदोषोंके लक्षणोंसे निश्चित कर) और गौणत्वका विचार कर योग्य औषधियोंके प्रयोगसे उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। पुनः उसका कथन करना पिष्टपेषण दोषसे दूषित होता है ॥ ३६ ॥

अजगल्लीलक्षण ।

परिणतफलरूपा तीक्ष्णपत्रस्य साक्षात् ।
कफपवनकृतेयं तोयपूर्णाल्परुक् च ॥
जलमरुदुपयोगाद्बुद्बुदस्येव जन्म ।
त्वचि भवति शिशूनां नामतस्साजगल्ली ॥ ३७ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार जल और वातके संयोगसे बुदबुद की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार कफ और वातके विकारसे बालकोंकी त्वचामें पानीसे भरे हुए और कुछ वेदना सहित पिटक होते हैं, उन्हें अजगल्ली कहते हैं। उनका आकार पके हुए तुंबुरु, फलके समान होता है ॥ ३७ ॥

अजगल्ली चिकित्सा.

अभिनवजनितां तां ग्राहयेद्वा जलौका- ।
मुपगतपरिपाकां संविदार्याशु धीमान् ॥
व्रणविहितविधानं योजयेद्योजनीयम् ।
कफपवननिहंतृद्रव्यवर्गप्रयोगैः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—नवीन उत्पन्न अजगल्ली हो, जो कि पकी नहीं हो, जलौंक लगवाकर दुष्ट रक्त मोक्षण करके उपशम करना चाहिए। यदि वह पक गई हो तो उसे बुद्धिमान् वैद्यको उचित है कि शीघ्र विदारण करें और कफ व वात हर औषधियोंके प्रयोग के साथ २ व्रण चिकित्सा में कहे गये शोधन रोपण आदिको करें ॥ ३८ ॥

अलजी, यव, विवृत लक्षण.

अतिकठिनतरां मत्वालजीं श्लेष्मवातैः ।
पिशितगतविकारामल्पपूयामवक्त्रां ।
यवमिति यवरूपं तद्वदंतर्विशालं ॥
विवृतमपि च नाम्ना मण्डलं पित्तजातं ॥ ३९ ॥

भावार्थः—श्लेष्म वातके प्रकोप से मांस के आश्रित अल्प पू (पीप) सहित, मुखरहित अत्यंत कठिन पिटक होते हैं उन्हे अलजी कहते हैं। यव के आकार में रहनेवाले [मांसके आश्रित कठिन] पिटकों को यव (यवप्रख्य) कहते हैं। उसी प्रकार पित्तके विकारसे अंदर से विशाल, खुले [फटा] मुखवाला जो मंडल (चकता) होता है उसे विवृत कहते हैं ॥ ३९ ॥

कच्छपिका वल्मीक लक्षण.

कफपवनविकारात्पंचषड्ग्रंथिरूपे ।
परिवृतमतिमध्यं कच्छपाख्यं स्वनाम्ना ॥
तलहृदयगले संध्यूर्ध्वजत्रुप्रदेशे ।
कफयुतबहुपित्तोद्भूतवल्मीकरोगम् ॥ ४० ॥

भावार्थः—कफ और वात के प्रकोप से पांच अथवा छह ग्रंथि के रूप में जिन का मध्यभाग खुला नहीं है [कछुवे के पीठके समान ऊंचा उठा हुआ है] ऐसे, जो पिटक होते हैं उन्हे कच्छपपिटका [कच्छपिका] कहते हैं। हस्त व पादतल, हृदय, गला, सर्वसंधि, एवं जत्रुकास्थि [हंसली की हड्डी] से ऊपर के प्रदेश में कफयुक्त अधिक पित्त के प्रकोप से सर्पके वामी के समान ग्रंथि [गांठ] होती है उसे वल्मीकरोग कहते हैं ॥ ४० ॥

इंद्रविद्धा, गर्दभिका, लक्षण.

परिवृतपिटकाढ्यां पद्मसत्कर्णिकाभ्यां ।
कुपितपवनविद्धामिंद्रविद्धां विदित्वा ॥
पवनरुधिरपित्तात्तद्वदुत्पन्नरूप- ।
मतिकठिनसरक्तं मंडलं गर्दभाख्यम् ॥ ४१ ॥

भावार्थः—वातके प्रकोपसे कमलके कर्णिकाके समान, बीचमें एक पिडिका हो उसके चारों तरफ गोल छोटी २ फुंसियां हों उसे इंद्रविद्धा कहते हैं। वात पित्त

रक्तके प्रकोपसे, इंद्रविद्धाके समान, छोटी २ पिडिकाओंसे संयुक्त कठिन व लाल मण्डल (चकत्ता) होता है उसे गर्दभ कहते हैं ॥ ४१ ॥

पाषाणगर्दभ, जालकाली लक्षण.

हनुगतबरसंधौ तद्वदंबातिशोफम् ।
परुषविषमपाषाणाधिकं गर्दभाख्यम् ॥
तदुपमगतपाकं जालकालं विसर्प- ।
प्रतिममधिकपित्तोद्भूतदाहज्वराढ्यम् ॥ ४२ ॥

भावार्थः—इसीप्रकार हनुकी संधि [टोडी] में [वात कफसे उत्पन्न] अति कठिन व विषम जो बडा शोथ होता है उसे पाषाणगर्दभ कहते है । पित्तके उद्रेकसे उत्पन्न पाषाणगर्दभ आदिके समान जो नहीं पकती है विसर्पके समान इधर उधर फैलती है एवं दाह [जलन] ज्वरसे युक्त होती है, ऐसी सूजनको जालकाली [जालगर्दभ] कहते हैं ॥ ४२ ॥

पनसिका लक्षण.

श्रवणपरिसमंतादुन्नतामुग्रशोफां ।
कफपवननिमित्तां वेदनोद्भूतदुःखां ॥
प्रबलपनसिकाख्यां साधयेदौषधैस्तां ।
प्रतिपदविहितैस्तैः आमपक्वक्रमेण ॥ ४३ ॥

भावार्थः—कफवात के विकारसे कानके चारों तरफ अत्यधिक सूजन होती है और वह वेदनासे युक्त होतीहै उसे पनसिका कहते हैं । उनको उनकी आम पक्व दशाओंको विचार करके तदवस्थायोग्य बार २ कहे हुए औषधियोंके प्रयोगसे उनकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

इरिवेल्लिका लक्षण.

शिरसि समुपजातामुन्नतां वृत्तशोफां ।
कुपितसकलदोषोद्भूतलिंगाधिवासाम् ॥
ज्वरयुतपरितापां तां विदित्वेरिवल्ली- ।
मुपशमनविशेषैः साधयेद्बालकानाम् ॥ ४४ ॥

भावार्थः—बालकोंके मस्तकमें ऊंची २ गोल २ सूजन होती हैं । और वह प्रकुपित समस्त [तीनों] दोषों के लक्षणों से युक्त होती है अर्थात् त्रिदोषोंसे उत्पन्न हैं और

जिसमें ज्वर व ताप होता है, उसे इरिवल्ली समझकर उपशामक औषधियों से उसकी चिकित्सा करें ॥ ४४ ॥

कक्षालक्षण.

करहृदयकटीपार्श्वांसकक्षप्रदेशे ।
परिवृतबहुपित्तोद्भूतविस्फोटकाः स्युः ॥
ज्वरयुतवरकक्षाख्यां विदित्वेंद्रपुष्पं ।
मधुकतिलकलायालेपनान्यत्रकुर्यात् ॥ ४५ ॥

भावार्थः—हाथ, हृदय, कटी, पार्श्व, कंधा, कक्षा इन प्रदेशोंमें अत्यधिक पित्तके विकारसे होनेवाले विस्फोटक (फोडा) होते हैं । उनके साथ ज्वर भी यदि हो तो उसे कक्षा कहते हैं । लवंग, मधुक, तिल व मंजीठका लेपन करना इसमें उपयोगी है ॥४५॥

गंधनामा [गंधमाला] चिप्पलक्षण.

अभिहितवरकक्ष्याकारविस्फोटमेकं ।
त्वचिभवमतिपित्तोद्भूतगंधाभिधानं ॥
नखपिशितमिहाश्रित्यानिलः पित्तयुक्तो ।
जनयति नखसंधौ क्षिप्रमुष्णातिदुःखम् ॥ ४६ ॥

भावार्थः—ऊपर कथित कक्षाके समान त्वचामें जो एक विस्फोट [फोडा] होता है उसे गंधनामा [गंधमाला] कहते हैं। वायु पित्तसे युक्त होकर नाखूनके मांसको आश्रितकर नाखूनकी संधिमें शीघ्र ही अतीव दुःखको उत्पन्न करनेवाले दाह व पाकको करता है, उसे चिप्प रोग कहते है ॥ ४६ ॥

अनुशयी लक्षण.

कफपिशितमिहाश्रित्यांतरंगप्रपूर्यां ।
बहिरुपशमितोष्णामल्पसंरंभयुक्ताम् ॥
विधिवदनुशयीं तामाशु शस्त्रेण भित्वा ।
कफशमनविशेषैः शोधयेद्रोपयेच्च ॥ ४७ ॥

भावार्थः—प्रकुपित कफ, मांसको आश्रय करके [विशेषकर पैरों] एक ऐसी पिडिका व सूजनको उत्पन्न करता है, जिसके अंदर तो मवाद हो, बाहरसे शांत दीखें और जो थोडा दाह पीडा आदिसे युक्त हो, उसे अनुशयी कहते हैं । उसको शीघ्र ही विधिके अनुसार शस्त्रसे भेदन करके, कफ शमनकर औषधियोंके प्रयोगसे शोधन व रोपण करें [भरें] ॥ ४७ ॥

विदारिका लक्षण.

त्रिभिरभिहितदोषैर्वंक्षणे कक्षदेशे ।
स्थिरतरगुरुशोफास्कंदवद्वा विदार्याः ।
भवति तदभिधानख्यातरोगस्त्रिलिंग– ॥
स्तमपि कथितमार्गैः सर्वदोषक्रमेण ॥ ४८ ॥

भावार्थः—पूर्वकथित तीनों दोषोंके प्रकोपसे रांङ व कक्षा प्रदेश [जोड] में विदारीकंद के समान, गोल, स्थिर, व बडे भारी शोथ उत्पन्न होता है। इसमें तीनों दोषोंके लक्षण प्रकट होते हैं, इसका नाम विदारिका है। इसको भी पूर्वकथित दोष भेदोंके अनुसार योग्य औषधिके प्रयोगसे उपशमन करें ॥ ४८ ॥

शर्करार्बुदलक्षण.

कफपवनबृहन्मेदांसि मांसं सिरास्तत् ।
त्वचमपि सकलस्नायुप्रतानं प्रदूष्य ॥
कठिनतरमहाग्रंथिं प्रकुर्वंति पक्कं ।
स्रवति मधुवसासर्पिः प्रकाशं स एव ॥ ४९ ॥
तमधिकतरवायुर्विशोष्याशु मांसं ।
ग्रथितकठिनशुष्कं शर्कराद्यर्बुदं तं ॥
वितरति विषमं दुर्गंधमुक्लेदिरक्तम् ।
सततमिह सिराभिः सास्रवं दुष्टरूपम् ॥ ५० ॥

भावार्थः—प्रकुपित कफ व वात, मेद, मांस सिरा, त्वचा एवं संपूर्ण स्नायु समूह को दूषित कर, अत्यंत कठिन ग्रंथि (गांठ) को उत्पन्न करते हैं। जब वह पककर फूट जावे तो, उस में से, शहद, चर्बी व घी के समान स्राव होने लगता है। इससे फिर वात अधिक वृद्धि होकर शीघ्र ही मांस को सुखाता है, और, ग्रथित; कडी, व सूखी, बालू के समान बारीक गांठ को पैदा करता है। इससे शिराओं द्वारा, अतिदुर्गंध, क्लेदयुक्त रक्त हमेशा बहने लगता है तो उसे शर्करार्बुद कहते हैं। ॥ ४९ ॥ ५० ॥

विचर्चिका, वैपादिक, पामा, कच्छु, कदर, दारी, रोग लक्षण.

विधिविहितविचर्चीभेदरूपान्विपादी ।
विरचितवरपामालक्षणान्कच्छुरोगान् ॥
बहुविधगुणदोषाद्रूक्षपादद्वयेऽस्मिन् ।
कदरमिति तले ब्रूयुर्दरीः तीव्ररूपाः ॥ ५१ ॥

भावार्थः—विचर्चिका, इसी का भेदभूत विपादिका (वैवादिक) पामा, कच्छु इन रोगों का वर्णन कुष्ठ प्रकरण में क्रमप्रकार कर चुके हैं । इसलिये यहां भी वैसा ही लक्षण जानना चाहिये । पैरों में कंकर छिदने से, कांटे लगने से, बेर अथवा कील के समान जो गांठ होती है, उसे कदर [ठेक] कहते हैं। जो पुरुष अधिक चलता रहता है, उस के पैरों में वायु प्रकुपित होकर उनको रूक्ष करता है और फाड देता है इसे दारी या पाददारी कहते हैं। इस का स्वभाव तीव्र होता है ॥ ५१ ॥

इंद्रलुप्तलक्षण.

पवनसहितपित्तं रोमकूपस्थितं तत् ।
वितरति सहसा केशच्युतिं श्वेततां च ॥
कफरुधिरनिरुद्धात्मीयमार्गेषु तेषां ।
न भवति निजजन्मात्तच्च चावेंद्रलुप्तं ॥ ५२ ॥

भावार्थः—वातसे युक्त पित्त जब रोमकूपोंमें प्रवेश करता है, तब केशच्युति व केशमें सफेदपना हो जाता है । पश्चात् कफ और रक्तके द्वारा रोमकूप [रोमोंके छिद्र] रोके जाते हैं तो फिर नये रोमोंकी उत्पत्ति नहीं होती है। इसे इंद्रलुप्त [चाई] रोग कहते हैं ॥ ५२ ॥

जतुमणि लक्षण.

सहजमथ च लक्षोत्पन्नसन्मण्डलं तत् ।
कफरुधिरनिमित्तं रक्तमज्ञातदुःखम् ॥
शुभमशुभमितीत्थम् तं विदित्वा यथाव- ।
ज्जतुमणिरपनेयं स्थापनीयो भिषग्भिः ॥ ५३ ॥

भावार्थः—कफ व रक्त के प्रकोपसे, जन्मके साथ ही उत्पन्न मण्डलके समान जो गोल व रक्तवर्ण युक्त चिन्ह होता है जिससे किसी भी प्रकारका दुःख नहीं होता है, उसे जतुमणि कहते हैं । (इसको देश भाषामें लहसन कहते हैं) । कोई जतुमणि किसी को शुभफलदायक और कोई अशुभदायक होता है। इसलिये इसमें जो शुभ फलदायक है उसको वैसे ही छोडें । [किसी भी प्रकारकी चिकित्सा न करे] जो अशुभफलदायक है उसको औषधि आदि प्रयोगसे निकाल देवें ॥ ५३ ॥

व्यंग लक्षण-

कुपितरुधिरपित्ताद्वातिरोषातिदुःखा- ।
द्दहनतपनतापाद्वा सदा क्लेशकोपात् ॥

पवनकृतविशेषादानने स्वच्छमल्पं ।
त्वचि भवति सुकृष्णं मंडलं व्यंगसंज्ञम् ॥ ५४ ॥

भावार्थः—रक्त व पित्तके उद्रेकसे, अतिरोष करनेसे, अत्यंत दुःख करनेसे, अग्नि और धूपसे तप जानेसे, सदा मनमें क्लेश होनेसे, वातके प्रकोपसे मुखमें जो काला मण्डल (गोल चिन्ह) उत्पन्न होता है, उसको व्यंग [झांई] कहते हैं ॥ ५४॥

माषतिलन्यच्छ लक्षण.

पवनरुधिरजातं माषवन्माषसंज्ञम् ।
समतलमतिकृष्णं सत्तिलाभं तिलाख्यं ॥
सितमसितमिहाल्पं वा महत् नीरुजं तं ।
मुखगतमपरं तद्देहजं न्यच्छमाहुः ॥ ५५ ॥

भावार्थः—वातरक्तके विकारसे शरीरमें उडदके आकारमें होनेवाले मण्डलोंको माष [मस्सा] कहते हैं। समतल होकर अत्यंत काले जो तिलके समान होते हैं उन्हे तिल कहते हैं। और काला या सफेद, छोटा या बडा, मुखमें या अन्य अवयवमें, पीडा रहित जो दाग या चकत्ते होते हैं उन्हे न्यच्छ कहते हैं ॥ ५५ ॥

नीलिका लक्षण.

तदिह भवति गात्रे वा मुखे नीलिकाख्यं ।
बृहदुरुतरकृष्णं पित्तरक्तानिलोत्थम् ॥
तदनुविहितरक्तोन्मोक्षणालेपनाद्यैः ।
प्रशमनमिह सम्यग्योजयेदात्मबुध्या ॥ ५६ ॥

भावार्थः—पित्तरक्त व वातके विकारसे या मुखमें बडे २ काले जो मण्डल होते हैं उन्हे नीलिका कहते हैं। उसके लिये अनुकूल रक्तमोक्षण लेपन आदि प्रशमन विधियोंका प्रयोग करके वैद्य अपनी बुद्धीसे चिकित्सा करें ॥ ५६ ॥

तारुण्यपिडका लक्षण.

तरुणपिटकिकास्ताः श्लेष्मजाः यौवनोत्थाः ।
बहलविरलरूपाः संभवंत्यानने ऽस्मिन् ॥
मतियुतमुनिभिस्साध्याः कफघ्नैः प्रलेपै- ।
रनवरतमहानस्यप्रयोगैरनेकैः ॥ ५७ ॥

भावार्थः—श्लेष्म विकारसे यौवनके मदसे मुखमें जो पिडका होते हैं, जो कुछ मोटे व विरल [थोडे] होते हैं, उन्हें तारुण्यपिडका कहते हैं। उनको योग्य कफहर लेपन, नस्यप्रयोग आदि उपायोंसे जीतना चाहिये, ऐसा बुद्धिमान मुनियोंने कहा है ॥५७॥

वर्तिका लक्षण.

कुपितपवनदोषाद्येनकेनाभिघाता-।
त्प्रजननमुखचर्मालंबमानः प्रसूनम् ॥
जलमिह निरुणद्धि प्रस्रवं कृच्छ्रकृच्छ्रात्।
प्रसरति बहुदुःखं वर्तिकाख्यं तमाहुः ॥ ५८ ॥

भावार्थः—वातदोषके उद्रेक होनेसे या किसीके आघातसे मुखका चर्म लंबा होजाता है उसमें पूय भरकर थोडी बहुत कठिनतासे उसका स्राव होता है व अत्यधिकवेदना होती है, उसे वर्तिका नाम रोग कहते हैं ॥ ५८ ॥

सन्निरुद्धगुदलक्षण.

मलमलमतिवेगाद्धारणशीलैर्मनुष्यैः ।
प्रतिदिनमिह रुद्धं तत्करोत्याशु सूक्ष्मं ॥
गुदमुखमतिवातात्कष्टमेतद्विशिष्टैः ।
परिहृतपरिदुःखं सन्निरुद्धं गुदाख्यम् ॥ ५९ ॥

भावार्थः—जो मलके वेगको धारण करते रहते हैं, तब अपानवायु प्रकुपित होकर उनके गुदाको रोक कर (गुदाद्वार के चर्मको संकोचित करके) गुदा के द्वारको छोटा कर देता है। जिससे अत्यंत कष्ट के साथ मलविसर्जन होता हैं। इसे सन्निरुद्ध गुद कहते हैं। यह अतीव दुःखको देने वाला कठिन रोग है ॥५९॥

अग्निरोहिणी लक्षण.

त्रिकगलकरपार्श्वांघ्रिप्रदेशेषु जातां ।
दवदहनशिखाभामंतकाकारमूर्तिम् ॥
कुपितसकलदोषामग्निरोहिण्यभिख्यां ।
परिहर पिटकाख्यां पक्षमात्रावसानाम् ॥ ६० ॥

भावार्थः—त्रिक (पीठके बांसके नीचेकी वह जोड जहां तीन हाड मिले हैं) गला, हाथ, पार्श्व, व पाद इन प्रदेशोंमें समस्तदोषोंके कुपित होनेसे उत्पन्न दावानलकी शिखाके समान दाहसहित, यमके समान रहनेवाले पिडकाको अग्निरोहिणी कहते हैं।

यह अत्यंत भयंकर है। इसे वैद्य छोड देवें अर्थात् इस की चिकित्सा न करें। वह रोगी ज्यादासे ज्यादा १५ दिनतक जीयेगा ॥ ६० ॥

स्तनरोग चिकित्सा.

स्तनगतबहुरोगान् दोषभेदादुदीक्ष्य ।
श्वयथुमपि विचार्यामं विदग्धं विपक्वं ॥
क्रमयुतविधिना साध्यं भिषक् साधयेत्तत् ।
विषमकृतविशेषाशेषभैषज्यमार्गैः ॥ ६१ ॥

भावार्थः—स्तनगत अनेक रोगोंको दोषोंके भेदके अनुसार देखकर उनकी चिकित्सा करनी चाहिये। यदि शोफ (स्तनविद्रधि आदि) भी हो तो उसके आम विदग्ध, विपक्व भेदोंको विचार कर आमादि अवस्थाओं में पूर्वोक्त विलयन पाचन, विदारण आदि तत्तद्योग्य चिकित्सा को, अनेक योग्य नानाप्रकारके औषधियों द्वारा करें ॥ ६१ ॥

क्षुद्ररोगोंकी चिकित्साका उपसंहार.

इति कथितविकल्पान् क्षुद्ररोगानशेषा– ।
नभिहितवरभैषज्यप्रदेहानुलेपैः ॥
रुधिरपरिविमोक्षैः सोपनाहैरनेकै– ।
स्तदनुविहितदोषप्रक्रमैः साधयेत्तान् ॥ ६२ ॥

भावार्थः—इस प्रकार अभीतक वर्णित नानाभेदोंसे विभक्त संपूर्ण क्षुद्र रोगोंको उनके कारण लक्षण आदि जानकर उन दोषोंके अनुसार पूर्वकथित योग्य प्रदेह, लेपन, रक्तमोक्षण, उपनाहन आदि विधियोंसे उनकी चिकित्सा करें ॥ ६२ ॥

सर्वरोगचिकित्सा संग्रह।

पृथगपृथगपि प्रख्यातदोषैः सरक्तै– ।
रिहबहुविधमार्गाः संभवंत्युद्धतास्ते ॥
सहजनिजविकारान् मानसान् सोपसर्गान् ॥
अपि तदुचितमार्गैस्साधयेद्युक्तियुक्तैः ॥ ६३ ॥

भावार्थः—वात, पित्त, कफ, अलग [एक] वा दो २ या तीनों एकसाथ मिलकर, अथवा रक्त को साथ लेकर, स्व स्व कारणोंसे प्रकुपित हो जाते हैं और वे प्रकुपित दोष शरीर के अनेकविध मार्गोंको अर्थात् नाना प्रकार

के अंगोपांग आदिको आश्रित कर, शारीरिक, मानसिक, औपसर्गिक, सहज आदि रोगोंको उत्पन्न करते हैं। उनको [अच्छीतरहसे जानकर] युक्ति से युक्त, तत्तद्योग्य चिकित्सा द्वारा जीतें ॥ ६३ ॥

नाडीव्रण निदान व चिकित्सा.

प्रपूर्णपूयः श्वयथुः समाश्रयो ।
विदार्य नाडीं जनयत्युपेक्षितम् ॥
स्वदोषभेदादवगम्य तामपि ।
प्रसादयेच्छोधनतैलवर्तिभिः ॥ ६४ ॥

भावार्थः—मवादसे भरे हुए व्रणको शोधन करनेमें उपेक्षा करें अर्थात् पीडन शोधन आदिके द्वारा मवादको न निकाले तो वह मवाद त्वचा, मांस सिरा, स्नायु, आदिको भेद कर अन्दर अन्दर गहरा प्रवेश करने लगता है । इसको नाडीव्रण (नासूर) कहते हैं। (इसकी गति नाडी (नली) के समान, एक मार्गसे होनेके कारण इसे नाडीव्रण कहा गया है ।) इस नाडीव्रण को भी उसके दोषभेदोंको (इसके लक्षणोंसे) जानकर उनके योग्य शोधन तैलसे भिगोयी गई वत्तियोंके प्रवेश आदिके द्वारा ठीक करना चाहिये ॥ ६४ ॥

मुखकांतिकारक घृत.

काश्मीरचन्दनकुचंदनलोध्रकुष्ठ- ।
लाक्षाशिलालरजनीद्वयपद्ममध्यं ॥
मंजिष्ठिकाकनकगैरिकया च सार्धं ।
काकोलिकाप्रभृति मृष्टगुणं सुपिष्टं ॥ ६५ ॥
तस्माच्चतुर्गुणघृतेन सुगंधिनाति- ।
यत्नाद्घृताद्द्विगुणदुग्धयुतं विपाच्य ॥
व्यालेपयेन्मुखमनेन घृतेन तज्जान् ।
रोगान्व्यपोह्य कुरुते शशिसन्निभं तम् ॥ ६६ ॥

भावार्थः—केसर, चंदन, लालचंदन, लोध, कूट, लाख, मैनसिल, हरताल, हल्दी, दारुहलदी, कमलकेसर, मंजीठ, सोनागेरु, काकोली, क्षीर काकोली, जीवक ऋषभक, मेदा, महामेदा, वृद्धि, ऋद्धि इन औषधियोंको चतुर्गण (चौगुना) सुगंधि घी, घीसे द्विगुण (दुगुना) दूध इनसे प्रयत्न पूर्वक घृत सिद्ध करें । इस घृत (Snow) को मुखपर लेपन करनेसे मुखमें उत्पन्न व्यंग, नीलिका, आदि समस्त रोग नाश होकर मुख चंद्रमाके समान कांतियुक्त होकर सुंदर होजाता है ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

मुख कांतिकारक लेप.

तालं मनाशिलंयुतं वटपत्रयुक्तं ।
श्वेताभ्रसूतसहितं पयसा सुपिष्टं ॥
आलिप्यवक्त्रममलं कमलोपमानं ।
मान्यं मनोनयनहारि करोति मर्त्यः ॥ ६७ ॥

भावार्थः—हरताल, मैनसिल, वटपत्र, सफेद अभ्रक, पारद इनको दूधके साथ अच्छीतरह पीसकर मुखपर लेपन करें तो मुख कमलके समान बन जाता है । और सबका मन व नेत्रको आकर्षित करता है ॥ ६७ ॥

अंतिम कथन ।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ९१ ॥

भावार्थः— जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिए प्रयोजनभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है । साथमें जगत्‌का एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है]

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
क्षुद्ररोगचिकित्सितं नामादितश्चतुर्दशः परिच्छेदः ।

--:०:--

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित
भावार्थदीपिका टीका में क्षुद्ररोगाधिकार नामक
चौदहवां परिच्छेद समाप्त हुआ ।

—०—

अथ पंचदश परिच्छेदः ।

अथ शिरो रोगाधिकारः ।

मंगलाचरण ।

श्रियः प्रदाता जगतामधीश्वरः । प्रमाणनिक्षेपनयप्रणाशकः ।
निजोपमानो विदिताष्टकर्मजि- । ज्जयत्यजेयो जिनवल्लभोऽजितः ॥१॥

भावार्थः—अंतरंग बहिरंग संपत्तिको प्रदान करनेवाले, जगत्के स्वामी, प्रमाण निक्षेप व नयको प्रतिपादन करनेवाले, किसीसे जेय नहीं ऐसे श्री अजित जिनेश्वर जयवंत रहें ॥ १ ॥

शिरोरोगकथन प्रतिज्ञा ।

प्रणम्य तं पापविनाशिनं जिनं । ब्रवीमि रोगानखिलोत्तमांगगान् ॥
प्रतीतसल्लक्षणसच्चिकित्सितान् । प्रधानतो व्याधिविचारणान्वितान् ॥२॥

भावार्थः—पापको नाश करनेवाले श्री अजितनाथको प्रणाम कर लक्षण, चिकित्सा व व्याधिविचारण पूर्वक शिरोगत रोगोंका कथन करेंगे इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ २ ॥

शिरोरोगोंके भेद ।

शिरोरुजो वातबलासशोणित- । प्रधानपित्तैरखिलैर्ब्रवीम्यहम् ॥
स सूर्यवर्त्तार्धशिरोवभेदकैः । सशंखकेनापि भवंति देहिनाम् ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों के शिरमें वात, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपातसे, वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, सन्निपातज शिरोरोग उत्पन्न होते हैं । एवं तत्तद्दोषों के प्रकोप से[1], सूर्यावर्त, अर्धावभेदक, शंखक नामक शिरोरोगों की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

---

१ इन शिरोरोगों में वातादि दोषों के लक्षण प्रकट होते हैं ।

वातिकलक्षण—जिसका शिर अकस्मात् दुखे, रात्रि मे अत्यधिक दुखे बंधन, सेक आदिसे शांति हो उसको वातज शिरोरोग जानना चाहिये ।

पित्तज—जिसमें मस्तक अग्निके समान अधिक उष्ण हो, आंख नाक में जलन होती हो एवं शीतल पदार्थ के सेवन से रात्रिमें उपशमन होता हो उसे पित्तोत्पन्न, मस्तकशूल जानना चाहिये ।

क्रिमिज, क्षयज शिरोरोग.

क्रिमिप्रकारैर्दलतीव तच्छिरो । रुजत्यसृङ्नासिकया सृजत्यलं ।
स्वदोषधातुक्षयतः क्षयोद्भव- । स्तयोर्हितं तत्क्रिमिदोपवर्धनम् ॥ ४ ॥

भावार्थः—मस्तक के अंदर नाना प्रकार की क्रिमियों की उत्पत्ति से शिर में दलन होता हो, ऐसी पीडा होती है, नाक से खून पूय आदि वहने लगते हैं। इसे कृमिज शिरोरोग जानना चाहिये। मस्तकगत वातपित्तकफ व वसा रक्त आदि धातुओंके क्षयसे क्षयज शिरोरोग की उत्पत्ति होती है। कृमिज शिरोरोगमें कृमिनाशक नस्य आदि देना चाहिये। क्षयज शिरो रोग में दोष व धातुओं को बढानेवाली चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४ ॥

सूर्यावर्त, अर्धावभेदक लक्षण.

क्रमक्रमाद्वृद्धिमुपैति वेदना । दिनार्धतोऽसौ व्रजतीह सूर्यवत् ॥
शिरोऽर्धमर्धं क्रमतो रुजत्यलं । ससूर्यवर्त्तार्धशिरोऽवभेदकः ॥ ५ ॥

भावार्थः—सूर्य जिस प्रकार बढजाता है उसी प्रकार सुबहसे शिरकी दर्द मध्यान्ह समयतक बढती जाती है और सूर्यके उतरते समय वह वेदना भी उतरती जाती है। उसे सूर्यावर्त शिरोरोग कहते हैं। शिरके ठीक अर्धभाग में जो अत्याधिक दर्द होती है उसे अर्धावभेदक कहते हैं ॥ ५ ॥

शंखक लक्षण.

स्वयं मरुद्वा कफपित्तशोणितैः । समन्वितो वा तु शिरोगतोऽधिकः ॥
सशीतवाताद्भुतदुर्दिने रुजां । करोति यच्छंखकयोर्विशेषतः ॥ ६ ॥

भावार्थः—एक ही वात अथवा, कफ, पित्त व रक्त से युक्त होकर, शिरका आश्रय करता है, तो, वह जिस दिन शीत अत्यधिक हो, ठण्डी हवा चल रही हो,

---

कफज—जिसका मस्तक के भीतर का भाग कफ से लिप्त होवें, भारी, बंधासा एवं ठंडा होवे, नेत्र के कोथे व मुख सूज गये हों तो उसे कफोत्पन्न शिरोरोग जानना चाहिये ॥

सान्निपातज—उपरोक्त तीनो दोषों के लक्षण एक साथ प्रकट हो तो सन्निपातज शिरोरोग जानना चाहिये।

रक्तज—रक्तज शिरोरोगमें पित्तज शिरोरोग के संपूर्णलक्षण मिलते हैं एवं मस्तक स्पर्शासह हो जाता है।

१ इस का लक्षण यह है कि छींक अधिक आती है। शिर ज्यादा गरम होता है। असह्य पीडा होती है। एवं स्वेदन, वमन, धूमपान, नस्य, रक्त मोक्षण, इन से वृद्धि को प्राप्त होता है।

आकाश मेघसे आच्छादित हो उस दिन शिरमें, विशेषकर कनपटी में पीडा को उत्पन्न करता है। इसे शंखक शिरोरोग कहते हैं ॥ ६ ॥

रक्तपित्तज, वातकफज शिरोरोग के विशिष्टलक्षण.

दिवातिरुक् शोणितपित्तवेदना । निशासु शांतिं समुपैति सर्वदा ॥
मरुत्कफौ रात्रिकृतातिवेदना- । विह प्रसन्नावहनि स्वभावतः ॥ ७ ॥

भावार्थः—रक्त पित्तके विकारसे होनेवाली शिरोपींडा दिनमें अत्यधिक होती है और रात्रिमें पीडाशांति होती है। वात और कफके विकारसे होनेवाली पीडा रात्रिमें तो अधिक होती है और दिनमें वे दोनों रोगी प्रसन्न रहते हैं ॥ ७ ॥

शिरोरोग चिकित्सा.

विशेषतो दोषगतिं विचार्य ता- । नुपाचरेदुग्रशिरोगतामयान् ।
सिराविमोक्षैः शिरसो विरेचनैः । प्रतापबंधैः कवलैः प्रलेपनैः ॥८॥

भावार्थः—इन भयंकर शिरोरोगोंके दोषोंकी प्रधानता अप्रधानता आदिका विचार करके (जिस दोषसे शिरोरोग की उत्पत्ति हुई हो उस के अनुकूल) सिरा मोक्षण, शिरो विरेचन, तापन, बंधन, कवलधारण, लेपन आदि विधियोंसे उनकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८ ॥

क्रिमिज शिरोरोगघ्न योग.

विजालिनीबीजवचाकटुत्रिकैः । सशिग्रुनिंबास्थिविडंगसैंधवैः ॥
सकंगुतैलैरिह नस्यकर्मतः । क्रिमीन् शिरोजानपहंति सर्षपैः ॥

भावार्थः—विजालिनी बीज, वचा, सेंजन, सोंठ, मिरच, पीपलका बीज, नींबुकी गिरी, वायविडंग, सेंधालोण, सरसों मालकांगनीके तैल में मिलाकर अथवा इन औषधियोंसे मालकांगनीके तैल को सिद्धकरके नस्यकर्म करनेसे शिरमें उत्पन्न समस्त क्रिमियोंको दूर करता है ॥ ९ ॥

शिरोरोगका उपसंहार.

दशप्रकारान् शिरसो महामयान् । विधाय साध्यान् विषमोरुशंखकान् ॥
अतःपरं कर्णगतानशेषतो । ब्रवीमि संक्षेपविशेषलक्षणैः ॥ १० ॥

---

१ और कनपटीमें, तीव्रदाह व सूजन होती है । जिस प्रकार विषके वेग से गला रुक जाता है उसी तरह इस में भी गला रुकजाता है। यह रोग तीन दिन के अन्दर मनुष्यका प्राणघात करता है।

भावार्थः—इस प्रकारके, विषम शंखक आदि शिरोरोगों के लक्षण व चिकित्सा को निरूपण करके अब कर्णगतसमस्तरोगोंको संक्षेपसे विशेषलक्षणोंके साथ कहेंगे ॥ १० ॥

अथ कर्णरोगाधिकारः ।

कर्णशूल कर्णनादलक्षण.

यथानिलः कर्णगतोऽन्यथा चरन् । करोति कर्णाधिकशूलमुद्धतम् ॥
स एव शब्दाभिवहासिसराश्रितः । प्रणादसंज्ञः कुरुतेऽन्यथा ध्वनिम् ॥११

भावार्थः—कर्णगत वायु प्रकुपित होकर उलटा फिरने लगता है तो कानोंमें तीव्र शूल उत्पन्न होता है । इसे कर्णशूल कहते हैं । वही कर्णगत वायु प्रकुपित होकर शब्दवाहिनी सिराओंको प्राप्त करता है तो कानोंमें नाना तरहके, मृदंग, भेरी, शंख, आदिके शब्द के समान विपरीत शब्द सुनाई पडता है । इसे कर्णप्रणाद या कर्णनाद कहते हैं ॥ ११ ॥

बधिर्यकर्ण व क्ष्वेद लक्षण.

स एव वातः कफसंयुतो नृणां । करोति बाधिर्यमिहातिदुःखदम् ॥
विशेषतः शब्दपथे व्यवस्थितो । तथा तितरक्ष्वेद समुद्रघोषणम् ॥ १२ ॥

भावार्थः—वही प्रकुपित कर्णगत वायु कफके साथ संयुक्त होकर जब शब्दवाहिनी सिराओंमें ठहर जाता है तो कानको बधिर (बहरा) कर देता है । वही वायु अन्य दोषोंसे संयुक्त होकर शब्द वाहिनी सिराओंमें ठहरता है तो कानमें समुद्र घोष जैसा शब्द सुन पडता है । इसे कर्णक्ष्वेद कहते हैं ॥ १२ ॥

कर्णस्राव लक्षण.

जलप्रपाताच्छिरसोऽभिघाततः । प्रपाकतस्तत्पिटकादिविद्रधेः ॥
अजस्रमास्रावमिहास्रवत्यलं । स कर्णसंस्राव इति स्मृतो बुधैः ॥ १३ ॥

भावार्थः—जलके पातसे (गोता मारने) सिरको चोट आदि लगनेसे, पिटिका विद्रधि आदिके उत्पत्ति होकर पककर फूट जानेसे, सदा कानसे मवाद बहता है, उसे कर्णसंस्राव रोग कहते हैं ॥ १३ ॥

पूतिकर्ण क्रिमिकर्ण लक्षण.

सपूतिपूयः श्रवणात्स्रवेद्यदा । स पूतिकर्णो भवतीह देहिनम् ॥
भवंति यत्र क्रिमयोऽतिदारुणाः । स एव साक्षात्क्रिमिकर्णको भवेत्॥ १४

भावार्थः—कानसे जब दुर्गंध मवाद बहने लगता है उसे पूतिकर्ण कहते हैं। जिसमें अत्यंत भयंकर क्रिमियोंकी उत्पत्ति होती है उसे क्रिमिकर्णक रोग कहते हैं ॥१४

कर्णकण्डू, कर्णगूथ, कर्णप्रतिनादके लक्षण.

कफेन कण्डूः श्रवणेषु जायते । स एव शुष्को भवतीह गूथकः ॥
स गूथ एव द्रवतां गतः पुनः । पिधाय कर्णं प्रतिनादमावहेत् ॥१५॥

भावार्थः—कानमें कफ संचित होनेसे खुजली चलने लगती है। इसे कर्णकण्डू कहते हैं। वही कफ जब कान में (पित्त के उष्णसे) सूख जाता है, उसे कर्णगूथ कहते हैं। वह कर्णगूथ जब द्रव होकर कान को ढक देता है तो इसे कर्णप्रतिनाद (प्रति-नाह) कहते हैं ॥ १५ ॥

कर्णपाक, विद्रधि, शोथ, अर्शका लक्षण.

सुपक्वभिन्नादिकविद्रधेर्वशात् । स कर्णपाकाख्यमहामयो भवेत् ॥
अथापरे चार्बुदशोफविद्रधि- । प्रधानदुर्नामगणा भवंत्यपि ॥ १६ ॥

भावार्थः—कान में विद्रधि उत्पन्न होकर अच्छीतरह पककर फूटजाता है तो कान गीला व सडजाता है इसे कर्णपाक कहते हैं। इसी प्रकार कान में अर्बुद, शोथ विद्रधि, अर्श (बवासीर) समूह उत्पन्न होते हैं। इन को उन्हीं नामोंसे पुकारा जाता है जैसे कर्णार्बुद, कर्णविद्रधि आदि ॥ १६ ॥

वातज कर्णव्याधिचिकित्सा.

अतःपरं कर्णगतामयेषु तत् । चिकित्सितं दोषवशाद्विधीयते ॥
अथानिलोत्थेष्वनिलघ्नभेषजै- । र्विपक्वतैलैरहिमैर्निषेचयेत् ॥१७॥

भावार्थः—अब कर्णरोगोंकी दोषोंके अनुसार चिकित्सा कही जाती है। यदि वात विकारसे उत्पन्न हो तो वातहर औषधियोंसे पकाये हुए गरम तेलको कानमें छोड देवें ॥ १७ ॥

कर्ण स्वेदन.

निषिक्तकर्णं पुनरुष्णतापनैः । प्रतापयेद्धान्यगणेष्टिकादिभिः ॥
प्रणालिकास्वेदनमेव वा हितं । सपत्रभाण्डेऽग्नियुते निधापयेत् ॥ १८ ॥

भावार्थः—तेल सेचन करने के बाद उष्ण धान्यगण (धान्यों की पोटली बांधकर उससे) व ईंट आदियोंसे कानको सेकना चाहिये। अथवा नली स्वेदन भी

इसके लिये हितकर है । पत्रसहित अग्नि (गरम) युक्त बरतन में कानको रखें व स्वेदन करें ॥ १८ ॥

घृतपानआदि.

पिबेत्स सर्पिः पयसा समन्वितं । सुखोष्णमस्योपरि कर्णरोगवान् ॥
बलाख्यतैलेन शिरोवितर्पणं । सनस्यकर्मात्र निषेचनं हितं ॥ १९ ॥

भावार्थः—अत्यधिक कर्ण रोगवाला कुछ गरम घीके साथ दूध मिलाकर पीवे । बला तैल शिरमें लगावें, अथवा तैल से भिगोये गये पिचुको शिरपर रखें तो कर्ण रोग दूर होता है । इस में नस्यकर्म व कानमें तैल डालना भी हितकर है ॥ १९ ॥

कर्णरोगांतक घृत.

सपेचुकांकोलफलार्द्रकाद्रवै- । रहिंस्रया शिग्रुरसेंद्रदारुभिः ।
सवेणुलेखैर्लशुनैरसरामठैः । ससैंधवैर्मूत्रगणैः कटुत्रिकैः ॥ २० ॥
पृथक्समस्तैः कथितौषधैर्बुधः । पचेध्दृतं तैलसमन्वितं भिषक् ॥
प्रपूरयेत्कर्णमनेन सोष्मणा- । निहंति तत्कर्णगताखिलामयान् ॥ २१ ॥

भावार्थः—केमुक [पेचुका] अंकोल का फल, अद्रक का रस, जटमासी, सेंजन का रस, देवदारू, बांसका त्वचा, लहसन, हींग, सेंधानमक, सोंठ, मिरच, पीपल इनको अलग२ अथवा मिले हुए औषधियों के काथ व कल्क, और आठ प्रकारके मूत्र, इन से घृत व तैल को बराबर लेकर सिद्ध करें । फिर उस तेलको थोडा गरम कर कान में भरें तो, कर्णगत समस्तरोग को नाश करता है ॥ २० ॥ २१ ॥

कफाधिक कर्णरोगचिकित्सा.

सशिग्रुमूलार्द्रकसद्रसेन वा । ससैंधवेनोष्णतरेण पूरयेत् ॥
अजांबुना वा लशुनार्कसैंधवैः । कफाधिके कर्णगतामये भृशम् ॥ २२ ॥

भावार्थः—सेंजनके मूल का रस, अद्रकका रस इसमें सेंधालोण मिलाकर गरम करें फिर उसे कानमें छोडें । अथवा बकरीके मूत्र में लसून, अकौवारस व सेंधालोण मिलाकर कुछ गरम कर कान में भरें । इन से कफके विकारसे उद्रिक्त कर्णरोग उपशम हो जायगा ॥ २२ ॥

क्रिमिकर्ण, कर्णपाकचिकित्सा.

सनिंबतैलैर्लवणैस्सुपूरयन् । क्रिमिप्रगाढे क्रिमिनाशनो विधिः ॥
विधीयतां पूरणमेभिरेव वा । सुकर्णपाके क्षतवद्विसर्पवत् ॥ २३ ॥

भावार्थः—अधिक क्रिमियुक्त कर्णरोगमें निंबतैल सेंधालोण से कानको भरना चाहिए। एवं क्रिमिनाशक उपाय भी करना चाहिए। कर्णपाकमें क्षत व विसर्प के समान इन्ही औषधियोंको कानमें भरकर चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २३ ॥

क्रिमिनाशक योग.

त्रिवृद्धरिद्रानृपवृक्षवृक्षकैः । प्रपक्वतोयैः श्रवणप्रधावनम् ॥
प्रदीपिकातैलमपि प्रयोजितं । क्रिमीन्निहंत्युग्रतरातिवेदनान् ॥ २४ ॥

भावार्थः—निसोथ, हलदी, अमलतास, कुडाकी छाल, इनके द्वारा पकाये हुए कषायसे कानको धोवे एवं दीपिकैतैलको भी कानमें भरें तो कृमि व भयंकर शूल भी नाश होता है ॥२४॥

कर्णगत आगंतुमल चिकित्सा.

बलाधिकं यन्मलजातमंतरे । व्यवस्थितं कर्णगतं तदा हरेत् ॥
अलाबुशृंगान्यतमेन यत्नतो । बली सदा चूषणकर्मकोविदः ॥ २५ ॥

भावार्थः—कानके छेदमें (बाहरसे आकर) खूब मल जम गया हो तो उसे यदि रोगी बलवान हो तो चिकित्सा (चूषणकर्म) कार्यमें निपुण वैद्यको उचित है कि अत्यंत सावधानसे तुंबी अथवा सींगे लगाकर अथवा शलाकासे निकाले (कानमे कीडा घुस गया तो उसे भी इसी प्रकार निकाले) ॥ २५ ॥

पूतिकर्ण, कर्णस्राव, कर्णार्श, विद्रधि, चिकित्सा.

सपूतिपूयास्रवसंयुते द्रवं । प्रपूरयेत् शोधनतैलमीरितं ॥
अथार्शसामप्यथ विद्रधीष्वपि । प्रणीतकर्माण्यसकृत्प्रयोजयेत् ॥ २६ ॥

भावार्थः— दुर्गंध स्राव बहनेवाले कर्णरोग में औषधियों के द्रवको भरना, अथवा पूर्वकथित शोधन तैलको भरना हितकर है । एवं अर्श और विद्रधिरोगमें जो चिकित्साक्रम बतलाया है उनका प्रयोग कर्णगत अर्श, विद्रधि में बार २ करना चाहिये ॥ २६ ॥

---

१ बेल, सोनापाठा, पाढल, कुंभेर, अरणी इनसे किसी एककी अथवा पांचोंकी अठारह अंगुल लम्बी डाली लेकर उसके तीन भागको अतसी वस्त्र लपेट देवे और उसे तैलमे भिगो देवे। पश्चात् इसको वत्तीकी तरह जलाकर (किन्हीके ऊपर) नीचेकी ओर नोक करके रखें, इसके नीचे एक पात्र भी रखें। इस पात्रपर जो तैल टपकता है इसे दीपिका तैल कहते हैं। इसी प्रकार देवदारु, कूट, सरल, इनकी लकडीसे (उपरोक्त विधिसे जलाकर) तैल निकाल सकते हैं।

कर्णरोगचिकित्सा का उपसंहार.

इति प्रयत्नादिह विंशति स्थिताः । तथैवषष्ठी श्रवणामया मया ।
प्रकीर्तितास्तेषु विशेषतो भिषक् । स्वयं विदध्याद्विधिमात्मबुद्धितः ॥२७॥

भावार्थः—इस प्रकार मैंने अट्ठाईस प्रकारके जो कर्णरोग बतलाये हैं उनके दोषादिकोंको विचारकर बुद्धिमान् वैद्य अपनी बुद्धिसे उनकी चिकित्सा प्रयत्न के साथ करें ॥ २७ ॥

अथ नासारोगाधिकारः ।

नासागतरोगवर्णन प्रतिज्ञा.

अथात्र नासागतरोगलक्षणैः । चिकित्सितं साधु निगद्यतेऽधुना ।
विदार्य तन्नामविशेषभेषज- । प्रयोगसंक्षेपवचोविचारणैः ॥२८॥

भावार्थः—अब यहांपर नाक के रोगोंका नाम, उनका लक्षण, योग्य औषधियोंका प्रयोग व चिकित्सा क्रमआदि संक्षेपसे कहा जाता है ॥ २८ ॥

पीनसलक्षण व चिकित्सा.

विदाहधूमायनशोषणद्रवै- । र्नवेत्ति नासागतगंधजातकम् ॥
कफानिलोत्थोत्तमपीनसामयं । विशोधयेद्वातकफघ्नभेषजैः ॥२९॥

भावार्थः—जिसकी नाकमें दाह, धूंवेके समान निकलना, सूखजांना व द्रव निकलना एवं सुगंध दुर्गंध का बोध न होना, कफ व वातके विकारसे उत्पन्न पीनस नामक रोगका लक्षण है उसको वात व कफहर औषधियोंसे शुद्धि करना चाहिये ॥ २९ ॥

पूतिनासा के लक्षण व चिकित्सा.

विदग्धदोषैर्गलताल्वकाश्रितै- । र्निरंतरं नासिकवायुरुद्गतः ।
सपूतिनासां कुरुते तथा गलं । विशोधयेत्तच्छिरसो विरेचनैः ॥ ३० ॥

भावार्थः—प्रकुपित पित्तादि दोषों से वायु संयुक्त होकर जब गला, व तालूमें आश्रित होता है तो, नाक व गले अर्थात् मुंह से दुर्गंध वायु निकलने लगता है

अट्ठाईस प्रकारके कर्णरोगः—कर्णशूल, कर्णनाद बाधिर्य, क्ष्वेड, कर्णस्राव, कर्णकण्डू, कर्णगूथ, कृमिकर्ण प्रतिनाह, कर्णपाक, पूतिकर्ण, दोषज, क्षतज, इस प्रकार द्विविध विद्रधि, वातार्श पित्तार्श, कफार्श, सन्निपातार्श, इस प्रकार चतुर्विध अर्श. वातार्बुद, पित्तार्बुद कफार्बुद रक्तार्बुद, मांसार्बुद, मेदोऽर्बुद, शालाक्यतंत्रोक्त (अक्षिरोग विभाग में कहागया) सन्निपातार्बुद, इस प्रकार सप्तविध अर्बुद; वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज इस प्रकार चतुर्विध शोथ ये अट्ठाईस कर्णरोग हैं।

इसे पूतिनासा (पूतिनस्य) रोग कहते हैं। इसमें गले को एवं शिरोविरेचन औषधियोंसे शिरको, शुद्धि करना चाहिये ॥ ३० ॥

नासापाक लक्षण व चिकित्सा.

अरूंषि पित्तं कुपितं स्वनासिका- । गतं करोत्येवमतो हि नासिका ॥
विपाकरोगं समुपाचरेद्भिषक् । क्षतद्रवैः पित्तविसर्पभेषजैः ॥ ३१ ॥

भावार्थः—प्रकुपित पित्त, नाकमें (जाकर) उतरकर फुंसीको उत्पन्न करता है (एवं नाकके भीतरका भाग पकजाता है) इसे नासापाक रोग कहते हैं। इसकी, क्षतरोग के लिये उपयुक्त द्रव व पित्तविसर्परोगोक्त औषधियोंसे चिकित्सा करनी चाहिये ॥३१॥

पूयरक्त लक्षण व चिकित्सा.

ललाटदेशे क्रिमिभक्षितक्षतैः । विदग्धदोषैरभिघाततोपि वा ॥
सपूयरक्तं स्रवतीह नासिका । ततश्च दुष्टव्रणनाडिकाविधिः ॥ ३२ ॥

भावार्थः—ललाट स्थानमें कीडोंके खाजानेके घावसे प्रकुपित दोषोंके कारणसे अथवा चोट लगनेसे नाकसे पूय (पीब) सहित रक्तस्राव होता है इसे, पूयरक्त रोग कहते हैं। इसमें दुष्टव्रण (दूषित जखम) व नाडीव्रण में जो चिकित्सा विधि बतलाई है उस ही चिकित्साका प्रयोग करना चाहिये ॥ ३२ ॥

दीप्तनासा लक्षण व चिकित्सा.

सरक्तपित्तं विहितक्रमैर्जयेत् । प्रदीप्तनासामपि पित्तकोपतः ।
महोष्णनिश्वासविदाहसंयुता- । मुपाचरेत्पित्तचिकित्सितैर्बुधः ॥ ३३ ॥

भावार्थः—पित्तके प्रकोपसे, नाकमें अत्यधिक जलन होती है, और गरम (धूवांके सदृश) निश्वास निकलता है इसे दीप्तनासा रोग कहते हैं। इस रोगका रक्त-पित्त व पित्तनाशक चिकित्सा क्रमसे उपचार करना चाहिये ॥ ३३ ॥

क्षवथु लक्षण व चिकित्सा.

स्वनासिकामर्मगतोऽनिलो भृशं । मुहुर्मुहुश्शब्दमुदीरयत्यतः ।
स एव साक्षात्क्षवथुः प्रजायते । तमत्र तीक्ष्णैरवपीडनैर्जयेत् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—नासिका के मर्मस्थानमें गया हुआ वात प्रकुपित होकर बार २ कुछ २ शब्द करते हुए नाकसे बाहर निकल आता है तो वही साक्षात् क्षवथु [छींक] बन जाता है। अर्थात उसे क्षवथु कहते हैं। उसे अतितीक्ष्ण अवपीडन या नस्य के द्वारा उपशमन करना चाहिये ॥ ३४ ॥

आगंतुक्षवथुलक्षण.

सुतीक्ष्णचूर्णान्यतिजिघ्रतोपि वा । निरीक्षणादुष्णकरस्य मण्डलम् ।
स्वनासिकांतस्तरुणास्थिघट्टनात् । प्रजायमानः क्षवथुर्विनश्यति ॥ ३५ ॥

भावार्थः—तीक्ष्ण चूर्णोंको वार २ सूंघनेसे, सूर्यमंडल को अधिक देखने से, एवं नाककी तरुण हड्डी को चोट लगने से उत्पन्न होनेवाली छींक को, आगंतु क्षवथु कहते हैं। यह अपने आप ही नाश हो जाता है ॥ ३५ ॥

महाभ्रंशन लक्षण व चिकित्सा.

ततो महाभ्रंशननामरोगतः । कफोतिसांद्रो लवणः समूर्धतः ॥
निरीक्ष्य तत्संशिरसोवपीडनै- । र्विशोधनैरक्रममर्मसंचितम् ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मस्तक के मर्मस्थान में पहिले संचित, [सूर्य किरणों से पित्त के तेजसे तप्त होकर] गाढा व खारा कफ, मस्तक से निकलता है इसे महाभ्रंशन (भ्रंशथु, प्रभ्रंशथु) रोग कहते हैं। इस को अवपीडन व विरेचन नस्य के प्रयोगसे जीतना चाहिये ॥ ३६ ॥

नासाप्रतिनाह लक्षण व चिकित्सा.

उदानवातोतिकफप्रकोपत- । स्सदैव नासाविवरं वृणोति यत् ॥
तमाशुनासाप्रतिनाहसंयुतः । सुधूमनस्योत्तरवास्तिभिर्जयेत् ॥ ३७ ॥

भावार्थः—उदानवात कफके अत्यंत प्रकोपसे नासारंध्रमें आकर भरा रहता है। अर्थात् नासा रंध्रको रोक देता है। इसे नासा प्रतिनाह कहते हैं। इसको शीघ्र धूम, नस्य व उत्तरबस्ति किंवा उत्तमांगबस्तियों के प्रयोगसे जीतना चाहिये ॥ ३७ ॥

नासापरिस्राव लक्षण व चिकित्सा.

अहर्निशं यत्कफदोषकोपतः । स्रवत्यजस्रं सलिलं स्वनासिकाम् ॥
ततः परिस्राविविकारिमूर्जितां । जयेत्कफघ्नौषधचूर्णपीडनैः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—रात दिन कफदोषके प्रकोपसे नाकसे पानी निकलता रहता है उसे नासा परिस्रावीरोग कहते हैं। उसे कफहर औषधि व अवपीडन, नस्य आदिसे जीतना चाहिये ॥ ३८ ॥

नासापरिशोष लक्षण व चिकित्सा.

कफोतिशुष्कोधिकपित्तमारुतैः । विशोषयत्यात्मनिवासनासिकां ॥
ततोत्र नासापरिशोषसंज्ञितं । जयेत्सदा क्षीरसमुत्थसर्पिषा ॥ ३९ ॥

भावार्थः—अधिक पित्त व वातके कारणसे कफ एकदम सूखकर अपने निवास स्थान नासिकाको भी एकदम सुखा देता है। उसे नासा परिशोष रोग कहते हैं। उसे दूधसे निकाले हुए घृतसे चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३९ ॥

नासागत रोग में पथ्य.

हितं सनस्यं घृतदुग्धपायसं । यदेतदुत्क्लेदकरं च भोजनम् ॥
समस्तनासागतरोगविभ्रमान् । जयेद्यथोक्ताधिकदोषभेषजैः ॥४०॥

भावार्थः—नासारोगोंमें नस्य प्रयोग व भोजनमें घृत, दूध, पायस (खीर) व उत्क्लेद कारक पदार्थोंका उपयोग करना हितकर है। और जिन दोषोंका अधिक बल हो उनको देखकर वैसे ही औषधियोंका प्रयोग करना चाहिये। इससे नासागत समस्त रोग दूर होजायेंगे ॥ ४० ॥

सर्वनासारोग चिकित्सा.

शिरोविरेकैः शिरसश्च तर्पणैः । सधूमगंडूषविशेषलेहनैः ।
कटूष्णसक्षारविपक्वसत्खलै- । रुपाचरेत् घ्राणमहामयार्दितम् ॥ ४१ ॥

भावार्थः—शिरोविरेचन, शिरोतर्पण, धूम, गण्डूष (कुल्ला) लेहन, इनसे व कटु, उष्ण, क्षार द्रव्योंसे पकाया हुआ खल, इनसे नासारोगसे पीडित रोगीकी चिकित्सा करें ॥ ४१ ॥

नासार्श आदिकोंकी चिकित्सा.

अथार्बुदार्शोधिकशोफनामका- । न्विनाशयेत्तानपि चोदितौषधैः ॥
यदेतदन्यच्च विकारजातकं । विचार्य साध्यादि भिषग्विशेषवित् ॥४२॥

भावार्थः—इसी प्रकार नासागत अर्बुद, अर्श, शोफ आदि रोगोंको भी पूर्व कथित औषधियोंसे चिकित्सा करें। इनके अतिरिक्त नाकमें अन्य कोई भी रोग उत्पन्न हो उनकी दोषबल आदिकोंको देखकर कुशल वैद्य साध्यासाध्यादि विचार कर चिकित्सा करें ॥ ४२ ॥

नासारोगका उपसंहार व मुखरोग वर्णन प्रतिज्ञा.

इति क्रमात्त्रिंशदिहैकसंख्यया । प्रकीर्तिता घ्राणगता महामयाः ॥
अतो मुखोत्थाखिलरोगसंचयान् । ब्रवीम्यशेषाकृतिनामलक्षणैः ॥ ४३ ॥

भावार्थः—इस प्रकारसे ३१ प्रकारसे नासागत महारोग कहे गये हैं। उनका निरूपण कर अब मुखगत समस्त रोगोंको, लक्षण व नामनिर्देशके साथ कहेंगे ॥ ४३ ॥

अथ मुखरोगाधिकारः

मुखरोगोंके स्थान.

मुखे विकारायतनानि सप्त तत् । यथा तथोष्ठौ दशना सजिह्वया ॥
स्वदंतमूलानि गलः सतालुकः । प्रणीतसर्वाणि च तेषु दोषजाः ॥ ४४ ॥

भावार्थः—मुखमें व्याधियोंके आधारभूत स्थान सात बतलाये गये हैं। जैसे कि दो ओंठ, दांत, जिह्वा, दंतमूल, गला, तालु; इस प्रकार सात हैं। उन सबमें दोषज विकार उत्पन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

अष्टविध ओष्ठ रोग.

पृथक् समस्तैरिह दोषसंचितै- । रसृग्विमिश्रैरभिघाततोपि वा ॥
समांसमेदोभिरिहाष्टभेदतः । सदोषकोपात्प्रभवंति देहिनां ॥ ४५ ॥

भावार्थः— वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त, अभिघात, मांस व मेदा इनके विकारसे प्राणियोंके ओठमें आठ प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ४५ ॥

वातपित्त, कफज, ओष्ठ रोगोंके लक्षण.

सवेदनौ रूक्षतरातिनिष्ठुरौ । यदैवमोष्ठौ भवतस्तु वातजौ ॥
सदाहपाकौ स्फुटितौ च पित्तजौ गुरू महांतौ कफतोतिपिच्छिलौ ॥४६॥

भावार्थः—दोनों ओंठ वेदनासहित अत्यंत रूक्ष व कठिन होते हैं उन्हे वातज विकारसे दूषित समझें। जब उनमें दाह होता हो और पक गये हो एवं फूट गये हों उस समय पित्तज विकारसे दूषित समझें। बडे व भारी एवं चिकने जिस समय हों उस सयय कफज विकारसे दूषित समझें ॥ ४६ ॥

सन्निपात रक्तमांस मेदोत्पन्न ओष्ठरोगोंके लक्षण.

समस्तलिंगाविह सान्निपातजा- । वसृक्प्रभूतौ स्रवतोऽतिशोणितौ ॥
स्थिरावतिस्थूलतरौ च मांसजौ । वसाघृतक्षौद्रनिभौ च मेदसा ॥ ४७ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त समस्त (तीन दोषोंके) चिन्ह जिसमें पाये जाय उसे सन्निपातज (ओष्ठ रोग) समझें। रक्त विकारसे उत्पन्न ओष्ठ रोगमें ओठोंसे रक्तस्राव होता है। जब स्थिर व अत्यंत स्थूल ओंठ हो तो मांसज समझे। चर्बी, घी, व मधुके समान जब ओंठ हो जाते हैं उसे मेदोविकार से उत्पन्न समझें ॥ ४७ ॥

सर्वओष्ठरोग चिकित्सा.

दलत्स्वरूपावतिशोफसंयुता- । विहाभिघातप्रभवावरौ गतौ ॥
यथाक्रमाद्दोषचिकित्सितं कुरु । प्रलेपसंस्वेदनरक्तमोक्षणैः ॥ ४८ ॥

भावार्थः—ओठों में चोट लगनेसे चिरजावे एवं अधिक सूजनसे संयुक्त हो तो उसे अभिघातज ओष्ठरोग समझें । इस प्रकार क्रम से जो ओष्ठरोगोंका वर्णन किया है उनको तत्तद्दोषोपशामक औषधियोंके प्रयोगसे, लेपन, स्वेदन व रक्तमोक्षण आदि विधियोंसे (जहां जिसकी जरूरत पडे) चिकित्सा करें ॥ ४८ ॥

इहोष्ठकोपान्वृषणवृद्धिमार्गतः । प्रसादयेद्ग्रंथिचिकित्सितेन वा ॥
निशातशस्त्रौषधदाहकर्मणा । विशेषतः क्षारनिपातनेन वा ॥ ४९ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त ओष्ठविकारों की वृषण वृद्धिकी चिकित्सा क्रमसे अथवा ग्रंथिरोगकी चिकित्सा क्रमसे या शस्त्रकर्म औषधप्रयोग व दाह क्रियासे या विशेषतः क्षार प्रयोगसे चिकित्सा करके ठीक करना चाहिये ॥ ४९ ॥

दंतरोगाधिकारः ।

अष्टविध दंतरोग वर्णन प्रतिज्ञा व दालनलक्षण.

अथाष्टसंख्यान् दशनाश्रितामयान् । सलक्षणैस्साधुचिकित्सितैर्ब्रुवे ॥
विदारयंतीव च दंतवेदना । स दालनो नामगदोऽनिलोत्थितः ॥ ५० ॥

भावार्थः—अब आठ भेदसे युक्त दंतरोगका लक्षण व चिकित्सा को कहेंगे । दंतका विदारण होता हो जैसी वेदना जिसमें होती हो वह वात विकारजन्य दालन नामक दंत रोग है ॥ ५० ॥

क्रिमिदंतलक्षण.

यदा सितच्छिद्रयुतोतिचंचलः । परिस्रवान्नित्यरुजोऽनिमित्ततः ॥
स कीटदन्तो मुनिभिः प्रकीर्तित- । स्तमुद्धरेदाशु विशेषबुद्धिमान् ॥५१॥

भावार्थः—जिस समय दांतोमें काली छिद्र सूराक हो जाय दांत अत्यधिक चंचल हो, उन में से पूय आदिकास्राव होता हो विना विशेष कारण के ही, हमेशा पीड़ा होती हो, इसे मुनीश्वरोने क्रिमिदंत कहा है । इस क्रिमिदंत को बुद्धिमान वैद्य शीघ्र ही उखाड देवें । क्यों कि औषधियोसे यह ठीक नहीं हो पाता ॥ ५१ ॥

दंतहर्षलक्षण.

यदा च दंता न सहंति संततं । विचर्वितुं सर्वमिहोष्णशीतजं ॥
स दंतहर्षो भवतीह नामतः । सवातजः स्पर्शविहीनदोषजः ॥ ५२ ॥

भावार्थः—जब दातोंसे उष्ण, शीत गुणयुक्त किसी भी चीजको चाबने को नहीं बनता है उसे दंतहर्ष रोग कहते हैं । यह प्रकुपित वात, पित्त से उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

भंजनक लक्षण.

मुखं सवक्रं भवतीह देहिनां । सदंतभंगश्च महातिनिष्ठुरः ॥
त्रिदोषजो भंजनको महागदः । स साधनीयस्त्रिविधौषधक्रमैः ॥ ५३ ॥

भावार्थः—जिस में मनुष्यों के मुख वक्र होता हो, और दांत भी टूटने लगते हैं उसे दंतभजंनक रोग कहते हैं । यह त्रिदोषज, एवं भयंकर महारोग हैं । उसको त्रिदोषनाशक औषधिप्रयोग से साधना चाहिये ॥ ५३ ॥

दंतशर्करा, कापालिका लक्षण.

घनं मलं दंतघुणावहं भृशं । सदैव दंताश्रितशर्करा मता ।
कपालवद्यं स्फुटितं स्वयं मलं । कपालिकाख्यं दशनक्षयावहम् ॥ ५४ ॥

भावार्थः—दंतगत मल (उनको साफ न करनेसे) सूखकर गाढा हो जाता है, रेत के समान खरदरास्पर्श मालूम होने लगता है और वही दांतके घुनने को कारण होजाता है । इसे दंतशर्करा रोग कहते है । दांत का मल (उपरोक्त शर्करा) अपने आप ही, टीकरी के समान फूटने लगता है इसे कापालिका रोग कहते हैं । इससे दांत का नाश होजाता है ॥ ५४ ॥

श्यामदंतक हनुमोक्ष लक्षण.

सरक्तपित्तेन विदग्धदंतको । भवेत्सदा श्यामविशेषसंज्ञितः ॥
तथैव केनापि विसंगते हनौ । हनुप्रमोक्षोऽर्दितलक्षणो गदः ॥५५॥

भावार्थः—रक्त पित्तके प्रकोप से दांत विदग्ध होजाते हैं । उसे श्यामक रोग कहते हैं । इससे दांत काले व नीले हो जाते हैं । इसे श्यामदंतक रोग कहते हैं । वातोद्रेकसे चोट आदि लगने से हनुसंधि (ठोडी) छूट जाती है चलायमान होती है । इसे हनुमोक्ष व्याधि कहते हैं । इस में अर्दितरोगके लक्षण मिलते हैं ॥ ५५ ॥

क्रियाभिमां दंतगलामयेष्विह । प्रयोजयेद्दोषविशेषभेषजैः ।
चलंतमुद्यच्छुषिराख्यदंतकं । समुद्धरेन्मूलमिहाग्निना दहेत् ॥५६॥

भावार्थ—दंत व गल रोगोमें उनके दोषोंको विचारकर योग्य औषधियोंका प्रयोग करना चाहिये । जिसमें शुषिरदन्तक नामक रोग होकर दांत हिलता हो उसमें दांत को उखाडकर दंतमूल को अग्निसे जलादेवें ॥ ५६ ॥

दंतहर्ष चिकित्सा.

स्वदंतहर्षेपि विधिर्विधीयते । महानिलघ्नाधिकभेषजान्वितः ॥
हितं च सुस्निग्धसुखोष्णभोजनं । घृतस्य भुक्तोपरि पानमिष्यते ॥५७॥

भावार्थः—दंतहर्ष रोगमें विशेषतया वातनाशक औषधियोंके प्रयोगसे चिकित्सा की जाती है । उसके लिए स्निग्ध (घृत, तैल, दूध आदि) व सुखोष्ण भोजन करना हितकर है व भोजनानंतर घृतपान करना चाहिये ॥ ५७ ॥

दंतशर्करा कापालिका चिकित्सा.

स दंतमूलक्षतमाचरन् भृशं । समुद्धरेद्दंतगतां च शर्करां ॥
कपालिकां कृच्छ्रतरां तथा हरेत् । सुखोष्णतैलैः कवलग्रहैस्तयोः ॥५८॥

भावार्थः—दांतोंके मूलमें जखम न हो इस प्रकार दांतोंमें लगी हुई शर्करा को निकाल देवे। कष्टसे साध्य होनेवाली कापालिका को भी निकाले । एवं इन दोनोंमें अल्प गरम तैलसे, कवल धारण करावें ॥ ५८ ॥

हनुमोक्ष-चिकित्सा.

ततो निशायुक्तकटुत्रिकान्वितैः । ससिंधुतैलैः प्रतिसारयेद्भिषक् ॥
हनुप्रमोक्षार्दितवाद्विधीयता- । मितोऽत्र जिह्वामयपंचके तथा ॥ ६९ ॥

भावार्थः—इस के बाद, हलदी, सोंठ, मिरच, पीपल, सेंधानमक तैल इन को दांतोपर प्रतिसारणा करें [घुरखें] । हनुमोक्ष दंतरोग की अर्दितवात के अनुसार चिकित्सा करें । अब यहां से आगे पांच प्रकार के जिह्वा रोगोंका वर्णन करेंगे ॥ ६९ ॥

जिव्हागत पंचविधरोग.

त्रिभिस्तु दोषैरिह कंटकाः स्मृताः । स्ववेदनाविष्कृतरूपलक्षणाः ॥
ततो हरिद्रालवणैः कटुत्रिकै- । र्विघर्षयेत्तैलयुतैर्मरुत्कृतान् ॥ ६० ॥

भावार्थः—प्रकुपित वात, पित्त व कफसे जिव्हाके ऊपर कांटे के समान अंकुर उत्पन्न होते हैं। दोषों के अनुसार प्रकट होनेवाली वेदना व लक्षण से युक्त होते हैं। हलदी, सेंधालोण, त्रिकटु व तेल मिलाकर उसे घर्षण करना चाहिये ॥ ६० ॥

वातपित्तकफजजिह्वारोग लक्षण व चिकित्सा.

विघृष्य पत्रैरपहृत्य शोणितं । सशीतलैरुष्णगणैर्घृतप्लुतैः ॥
प्रसारयेत्पित्तकृतोरुकंटकान् । कटुत्रिकैर्मूत्रगणैः कफोत्थितान् ॥६१॥

भावार्थः—पित्तज विकारसे उत्पन्न कंटकों में पहिले खरदरे पत्रोंसे जिव्हाको घिसकर रक्त निकालना चाहिये। तदनंतर शीतल व उष्णगणोक्त औषधियों को घी में भिगोकर उसपर लगाना चाहिये। कफके विकारसे उत्पन्न कंटकोंमें त्रिकटु को मूत्र वर्गसे मिलाकर लेपन करना चाहिये ॥ ६१ ॥

जिव्हालसकलक्षण.

रसेंद्रियस्याधरशोफमुन्नतं । बलासपित्तोत्थितमल्पवेदनम् ।
वदंति जिह्वालसकाख्यमामयं । विपक्वदोषं रसनाचलत्वकृत् ॥६२॥

भावार्थः—कफ व पित्तके विकारसे रसना इंद्रिय (जीभ) के नीचे का भाग अधिक सूज जाता है। किंतु वेदना अल्प रहती है। उसे जिह्वालसक रोग कहते हैं। इसमें दोषोंका विपाक होनेपर (रोग बढजाने पर) जीभ हिलाने में नहीं आती ॥६२॥

जिह्वालसक चिकित्सा.

विलिख्य जिह्वालसकं विशोध्य तत् । प्रवृत्तरक्तं प्रतिसारयेत्पुनः ।
ससर्षपैस्सैंधवपिप्पलीवचा-पटोलनिंबैर्घृततैलमिश्रितैः ॥ ६३ ॥

भावार्थः—जिह्वालसक को लेखन (खुरच) कर जब उस से रक्त की प्रवृत्ति होवें तब अच्छी तरह से शुद्ध करना चाहिये। विलेखन कर उस से निकले हुए अर्थात रक्तका शोधन करना चाहिये तदनंतर सरसों, सेंधालोण, पीपल, वचा, परवलके पत्ते, नीम इनको घी तेल में मिलाकर उस में लगाना चाहिये ॥ ६३ ॥

उपजिव्हालक्षण.

अधस्समुन्नम्य रसेंद्रियं भृशं । तदग्ररूपं कफरक्तशोफकम् ।
अजस्रलालाकरकण्डुरान्वितं ब्रुवंति साक्षादुपजिह्विकामयम् ॥ ६४ ॥

भावार्थः—जीभ को नीचे नमाकर, जिव्हाके अग्रभाग के समान (जीभ के आगे का हिस्सा जैसे देखने में आवें) कफ व रक्त के प्रकोप से, सूजन उत्पन्न होती

है। हमेशा उस से लार निकलने लगती है और खुजली युक्त होता है। इसे उपजिव्हा रोग कहते हैं ॥ ६४ ॥

उपजिव्हा चिकित्सा.

तमत्र जिह्वालसवत्प्रसारये- । च्छिरोविरेकैः कवलग्रहैस्सदा ॥
तथात्र पंचादशदंतमूलजान् । सलक्षणान् साधुचिकित्सितान्ब्रुवे ॥६५॥

भावार्थः—उस उपजिह्विकाको जिह्वालसक रोगके समान ही औषधियोंसे पुरखना चाहिये एवं सदा शिरोविरेचन व कवल धारण द्वारा उपचार करना चाहिये। अब दंतमूलमें उत्पन्न होनेवाले पंद्रह प्रकारके रोगोंके लक्षण व चिकित्साके साथ वर्णन करेंगे ॥ ६५ ॥

सीतोद लक्षण व चिकित्सा.

स्रवेदकस्मादिह दंतवेष्टतः । कफास्रदोषक्षुभितातिशोणितम् ॥
गदोत्र शीतोद इति प्रकीर्तित- । स्तमस्रमोक्षैः कवलैरुपाचरेत् ॥ ६६॥

भावार्थः—अकस्मात् कफ रक्तके प्रकोपसे मसूडोंसे खून निकलने लगता है उसे सीतोद रोग कहते हैं। उसे रक्तमोक्षण व कवलधारणसे उपचार करना चाहिये ॥ ६६ ॥

दंतपुप्पट लक्षण व चिकित्सा.

यदा तु वृत्तः श्वयथुः प्रजायते । सदंतमूलेषु स दंतपुप्पटम् ।
कफासृगुत्थं तमुपाचरेद्विपक् । सदामपक्वक्रमतो विचक्षणः ॥६७॥

भावार्थः—कफ व रक्त के उद्रेक से जब दंतमूलमें गोलाकार रूपमें सूजन होती है उसे दंतपुप्पट रोग कहते हैं। कुशल वैद्य को उचित है कि वह उसको आम पक्वादिक दशाको विचारकर चिकित्सा करें अर्थात् आमको विलयन, विदग्धको पाचन, व पक्व को शोधन रोपणसे चिकित्सा करें ॥ ६७ ॥

दंतवेष्टलक्षण व चिकित्सा.

सपूतिरक्तं स्रवतीह वेष्टतो । भवंति दंताश्च चलास्समंततः ॥
सदंतवेष्टो भवतीह नामतः । स्वदुष्टरक्तस्रवणैः प्रसाध्यते ॥ ६८ ॥

---

१ सतीोद इति पाठांतरं ॥
२ दंतपुप्पकमिति पाठांतरम् ।
३ यह सूजन दो अथवा तीनों ही दांतों के मूल में होता है।

भावार्थः—मसूडों से दुर्गंध रक्त बहता है और दांत सब के सब हिलने लगते हैं उसे दंतवेष्ट नामक रोग कहते हैं। उसे दुष्ट रक्त के मोक्षणसे जीतना चाहिये ॥६८॥

शुषिरलक्षण व चिकित्सा.

रुजाकरश्शोफयुतस्सवेष्टजो । बलासरक्तप्रभवः कफावहः ॥
भवेत्स्वनाम्ना शुषिरं तमामयं । रुजांजनैर्लोध्रघनैः प्रसारयेत् ॥ ६९ ॥

भावार्थः—कफ रक्त के प्रकोपसे मसूडों में पीडाकारक सूजन उत्पन्न होती है जिस से कफ का स्राव होता है। इसे शुषिर रोग कहते हैं। इस को, कूट, सुरमा लोध्र, नागरमोथा इन से घुरखना चाहिये ॥ ६९ ॥

महाशुषिरलक्षण व चिकित्सा.

पतंति दंताः परितः स्ववेष्टतः । विशीर्यते तालु च तीव्रवेदना ॥
भवेन्महाख्यस्सुषिरोरुसर्वजः । स साध्यते सर्वजितौषधक्रमैः ॥ ७० ॥

भावार्थः—दंतवेष्टनसे दंत गिरजाते हैं और तालु चिर जाता है। एवं अत्यंत वेदना होती है उसे महाशुषिर नामक रोग कहते हैं। वह सन्निपातज है। उसके लिये तीनों दोषोंको जीतनेवाले औषधियोंका प्रयोग करना चाहिये ॥ ७० ॥

परिस्रदरलक्षण.

विशीर्य मांसानि पतंति दंततो । बलासपित्तक्षतजोद्भवो गदः ।
असृक्स निष्ठीवति दुष्टवेष्टकः । परिस्रयुक्तो दर[1] इत्युदीरितः ॥ ७१ ॥

भावार्थः—जिस में दांतों के मांस (मसूडे) चिरकर गिरते हैं, दंतवेष्ट उनसे दूषित हो जाता है, दंतवेष्टों [मसूडों] से खून निकलता है वह कफपित्त व रक्त के प्रकोप से उत्पन्न है। इस रोगको परिस्र से युक्त दर अर्थात् परिस्रदर कहते हैं ॥७१॥

उपकुशलक्षण.

सदाहवेष्टः परिपक्वमेत्यसौ । प्रचालयत्युद्धृतदंतसंततिम् ।
भवेत्स दोषो कुशनामको गदः । सपित्तरक्तप्रभवोतिदुःखदः ॥ ७२ ॥

भावार्थः—पित्त रक्त के प्रकोप से, मसूडोंमें दाह व पाक होता है। फिर वही सब दांतोंको हिलाता है। उस में अत्यधिक दुःख होता है। उसे कुशनामक रोग कहते हैं ॥ ७२ ॥

---

१ रद इति पाठांतरं।

वैदर्भ, खल वर्धन [खल्ली वर्धन] लक्षण.

विघृष्यमाणेऽखिलदंतवेष्टके । महातिसंरंभकरोऽभिघातजः ॥
भवेत्स वैदर्भगदोऽधिदंतको । मरुत्कृतः स्यात्खलवर्द्धनोऽतिरुक् ॥ ७३ ॥

भावार्थः—सभी मसूडोंको रगडनेसे, उन में महान् सूजन होती है [दांत भी हिलने लगते हैं] इसे वैदर्भ रोग कहते हैं। यह अभिघात [चोट लगने] से उत्पन्न होता है। वायु के कोप से, दांत के ऊपर दूसरा दांत ऊगता है और उस समय अत्यंत वेदना होती है। (जब दांत ऊग आवे तब पीडा अपने आप ही होती है) इसे खलवर्धन [खल्लीवर्धन] रोग कहते हैं ॥ ७३ ॥

अधिमांस लक्षण व चिकित्सा.

हनौ यथेपश्चिमदंतमूलज- । स्सदैव लालाजननोऽतिवेदनः ॥
महाधिमांसश्वयथुः कफोल्बण- । स्तमाशु मांसक्षरणैः क्षयं नयेत् ॥७४॥

भावार्थः—हनु अस्थिके अंदरके बाजूमेंसे पीछे (अंतिम)के दांतके व मूल (मसूडे) में कफके प्रकोपसे, लारका स्राव, अत्यंत वेदनायुक्त जो महान् शोथ उत्पन्न होता है उसे अधिमांस कहते हैं। इसको शीघ्रही मांसक्षरणके द्वारा नाश करना चाहिये ॥ ७४ ॥

दंतनाडी लक्षण व चिकित्सा.

तथैव नाड्योऽपि च दंतमूलजाः । प्रकीर्तिताः पंचविकल्पसंख्यया ॥
यथाक्रमादोषविशेषतो भिषक् । विदार्य संशोधनरोपणैर्जयेत् ॥ ७५ ॥

भावार्थः—पहिले नाडीव्रणके प्रकरणमें वात, पित्त, कफ, सान्निपात और आगंतुक ऐसे पांच प्रकारके नाडीव्रण बतलाये हैं। वे पांचों ही दंतमूलमें होते हैं। इसे दंत नाडी कहते हैं। इनको दोषभेदके अनुसार विदारण, शोधन, रोपण आदि विधियों द्वारा चिकित्सा करके जीतना चाहिये ॥ ७५ ॥

दंतमूलगत रोग चिकित्सा.

दृढातिशोफान्वितमूलमुष्मणा । प्रतप्तमाश्वस्रविमोक्षणैः सदा ॥
कषायतैलाज्यकृतैः सुभेषजैः । स्सुखोष्णगण्डूषविशेषणैर्जयेत् ॥ ७६ ॥

भावार्थः—कठिन सूजनसे युक्त उष्णसे प्रतप्त (तपा हुआ) दंतमलको, शीघ्र ही रक्तमोक्षण द्वारा उपचार करें। एवं कषाय, तैल, घृत इनसे सिद्ध श्रेष्ठ औषधियोंके गण्डूष धारण आदि विशेष क्रियाओंसे जीतना चाहिये ॥ ७६ ॥

---

१ पलवर्द्धन इति पाठांतरं ।

उपकुश में गण्डूष व नस्य.

सपिप्पलीसैंधवनागरान्वितैः । ससर्षपैस्सोष्णजलप्रमेलितैः ॥
सदैव गण्डूषविधिर्विधीयतां । घृतं स नस्येन फलेन (१) पूजितम् ॥७७॥

भावार्थः—पीपल, सेंधालोण, सोंठ, सरसों इन को गरम जलमें मिलाकर सदा गण्डूष धारण करना चाहिये एवं नस्य व कवल धारण में [मधुरौषध काकोल्यादि गणसे सिद्ध] घृत का उपयोग करना चाहिये ॥ ७७ ॥

वैदर्भचिकित्सा.

निशातशस्त्रेण विदर्भसंज्ञितं । विशोधयेत्तद्दशनोरुवेष्टकम् ॥
निपातयेत्क्षारमनंतरं ततः । क्रियास्तुशीताः सकलाः प्रयोजयेत् ॥७८॥

भावार्थः—वैदर्भनामक रोग में दंतवेष्टगत शोथ को, तीक्ष्ण शस्त्र से [विदारण कर के] शुद्धि कर, क्षारपातन [क्षार डालना] करें । पश्चात् संपूर्ण शीतचिकित्सा का उपयोग करना चाहिये ॥ ७८ ॥

खलवर्धन चिकित्सा.

अथाधिकं दंतमिहोद्धरेत्ततो । दहेच्च मूलं क्रिमिदंतवत्क्रियाम् ॥
विधाय सम्यग्विदधीत भेषजं । गलामयानां दशसप्तसंख्यया ॥७९॥

भावार्थः—खलवर्धन में जो अधिक दांत आता है उसको निकाल डालना चाहिए दंत मूलको जलाना चाहिए । इस में क्रिमिदंतक रोगके लिए जो क्रिया बताई गई है उन सबको करके योग्य औषधिद्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। अब सत्रह प्रकार से गलरोगोंका निरूपण करेंगे ॥ ७९ ॥

रोहिणी लक्षण.

गलातिसंशोधनतत्परांकुरै- । स्सदोषलिंगैरुपलक्षिताः पृथक् ॥
पृथक्समस्तैरनिलादिभिस्तत- । स्तथासृजः स्यादिह रोहिणी नृणाम् ८०

भावार्थः—वात, पित्त, कफ, रक्त के प्रकोप, एवं सन्निपात से, गलेको एकदम रोकनेवाले (कांटे जैसे) अंकुर (गलेमें) उत्पन्न होते हैं, जो कि तत्तद्दोषोंके लक्षणोंसे संयुक्त हैं इसे रोहिणी रोग कहते हैं ॥ ८० ॥

१ उपरोक्त प्रकार पांच प्रकारसे रोहिणी रोग होते हैं ।

रोहिणीके साध्यासाध्य विचार.

स्वभावतः कृच्छ्रतरातिरोहिणी । स्वसन्निपातप्रभवा कफात्मिका ॥
विवर्जयेद्या भिषजास्रगुत्थिता । सुखेन साध्यात्र विधिर्विधीयते ॥८१॥

भावार्थः—सर्व प्रकारके रोहिणी रोग स्वभावसे ही अत्यंत कष्टसाध्य होते हैं। उस में भी सन्निपातज, कफ व रक्तविकारसे उत्पन्न रोहिणीको वैद्य असाध्य समझकर छोडें। सुखसाध्य रोहिणी का चिकित्साक्रम आगे कहा जाता है ॥ ८१ ॥

साध्यरोहिणीकी चिकित्सा.

सरक्तमोक्षैः कवलग्रहैः शुभैः । सधूमपानैर्वमनावलेहनैः ॥
शिरोविरेकैः प्रतिसारणादिभि । जयेत्स्वदोषक्रमतो हि रोहिणीम् ॥८२॥

भावार्थः—दोषोंके बलाबलको विचार कर उनके अनुसार [जहां जिसकी जरूरत हो] रक्त मोक्षण, कवलग्रहण, धूमपान, वमन, लेहन, शिरोविरेचन, प्रतिसारण [घुरखना] विधियोंसे रोहिणीकी चिकित्सा करें ॥ ८२ ॥

कण्ठशालूक लक्षण व चिकित्सा.

खरः स्थिरः कंटकसंचितः कफात् । गले भवः कोलफलास्थिसन्निभः ॥
सकंठशालूक[1] इति प्रकीर्तितः । तमाशु शस्त्रेण विदार्य शोधयेत् ॥ ८३ ॥

भावार्थः—कफके विकारसे कठोर, स्थिर, व कंटकसे युक्त बेरके बीजके समान कंठमें एक ग्रंथि (गांठ) होती है उसे कंठशालूक रोग कहते हैं। उसे शीघ्र शस्त्रसे विदारण कर शोधन करना चाहिये ॥ ८३ ॥

विजिव्हिका [अधिजिव्हिका] लक्षण.

रसेंद्रियस्योपरि मूलसंभवां । गले प्रबद्धां रसनोपमांकुरां ॥
बलासरक्तप्रभवां विजिह्विकां । विवर्जयेत्तां परिपाकमागतां ॥ ८४ ॥

भावार्थः—कफ व रक्तके प्रकोपसे, जिव्हा (जीभके) के ऊपर व उसके मूलमें गलेसे बंधा हुआ, और जीभके समान, जो ग्रंथि उत्पन्न होती है, इसे विजिव्हिक (अधिजिव्हिका) रोग कहते हैं। यदि यह (विजिव्हिका) पकजाय तो असाध्य होती है उसको छोडना चाहिये ॥ ८४ ॥

1 तालूक इति पाठांतर

वलयलक्षण.

कफः करोत्युच्छ्रितशोफमायतं । जलान्नरोधादधिकं भयंकरम् ॥
विवर्जयेत्तं वलयं गलाश्रयं । विषाग्निशस्त्राशनिमृत्युकल्पितम् ॥ ८५ ॥

भावार्थः—कफ के प्रकोप से, गले में, ऊंचा और लम्बा शोथ [ग्रंथि] उत्पन्न होता है। जिससे जल अन्न आदि आहार द्रव्य गले से नीचे उतरते नहीं, इसी लिये यह अत्यधिक भयंकर है। इस का नाम वलय है। यह विष, अग्नि, शस्त्र, बिजली व मृत्यु के समान है। इसे असाध्य समझकर छोडना चाहिये ॥ ८५ ॥

महालसलक्षण.

कफानिलाभ्यां श्वयथुं गलोत्थितं । महालसाख्यं बहुवेदनाकुलम् ॥
सुदुस्तरश्वासयुतं त्यजेद्बुधः । स्वमर्मविच्छेदनमुग्रविग्रहम् ॥ ८६ ॥

भावार्थः—कफवात के प्रकोप से गले में एक ऐसा शोथ उत्पन्न होता है जो अत्यधिक वेदना व भयंकर श्वास से युक्त होता है। मर्मच्छेदन करनेवाली इस दुस्तर व्याधिको महालस (बलाश) कहते हैं ॥ ८६ ॥

एकवृंदलक्षण.

बलासरक्तप्रभवं सकंडुरं । स्वमन्युदेशे श्वयथुं विदाहिनं ॥
मृदुं गुरुं वृत्तमिहाल्पवेदनम् । तमेकवृंदं प्रविदार्य साधयेत् ॥ ८७ ॥

भावार्थः—कफरक्तके विकारसे खुजली व दाह सहित कंठप्रदेशमें होनेवाला शोफ जो मृदु, गुरु, गोल व अल्प वेदनासहित है उसे एकवृंद कहते हैं। उसको विदारण कर चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ८७ ॥

वृन्दलक्षण.

गले समुत्थं श्वयथुं विदाहिनं । स्ववृत्तमत्युत्कटपित्तरक्तजम् ॥
समुन्नतं वृन्दमतिज्वरान्वितम् । भयंकरं प्राणहरं विवर्जयेत् ॥ ८८ ॥

भावार्थः—गले में, गोल ऊंचा शोथ उत्पन्न होता है जो कि दाह, तीव्र ज्वर से संयुक्त है, इस प्राणघातक, भयंकर व्याधिको वृन्द कहते हैं। यह असाध्य होता है, इसलिये इसे छोड देवें, चिकित्सा न करें ॥ ८८ ॥

शतघ्नी लक्षण.

सतोदभेदप्रचुरांचितांकुरां । घनोन्नतां वर्तिनिभां निरोधिनीम् ।
त्रिदोषलिंगां गलजां विवर्जयेत् । सदा शतघ्नीमिह सार्थनामिकाम् ॥८९॥

भावार्थः—तोदन भेदनादिसे युक्त, कठिन, उन्नत, तीनों दोषों के लक्षणों से संयुक्त (त्रिदोषज). गले को रोकनेवाला, बत्तीके सदृश जो अकुंर उत्पन्न होता है इसे शतघ्नी कहते हैं। इसकी शतघ्नी (कांटे से युक्त शस्त्रविशेष) के समान आकृति होनेसे इसका शतघ्नी नाम सार्थक है ॥ ८९ ॥

शिलातु (गिलायु) लक्षण.

गलोद्भवं ग्रंथिमिहाल्पवेदनं । बलासरक्तात्मकमूष्मसंयुतम् ॥
विलग्नसिक्थोपममाशु साधये- । द्विदार्य शस्त्रेण शिलातुसंज्ञिकम् ॥९०॥

भावार्थः—कफरक्तके विकारसे उष्णतासे युक्त, अल्पवेदनासहित शिलातु नामक गलग्रंथि होती है। जिसके होनेसे, (भोजन करते समय) गलेमें अन्नका ग्रास अटकतासा मालुम पडता है। इसको शीघ्र विदारण करके चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९० ॥

गलविद्रधि व गलौघलक्षण.

स विद्रधिर्विद्रधिरेव सर्वजो । गले नृणां प्राणहरस्तथापरम् ॥
कफास्रगुत्थं श्वयथुं निरोधतो । गले गलौघं ज्वरदाहसंयुतम् ॥ ९१ ॥

भावार्थः—मनुष्योंके कंठमें पूर्वोक्त विद्रधि के समान लक्षणोंसे युक्त सान्निपातज विद्रधि होता है। वह मनुष्योंका प्राण अपहरण करनेवाला है। और दूसरा कफ रक्तसे उत्पन्न ज्वर व दाहसे युक्त गल में महान् शोथ उत्पन्न होता है। यह गलावरोध (अन्नपानादिक व वायुसंचार को रोकता है) करता है इसलिये यह गलौघ कहलाता है ॥ ९१ ॥

स्वरघ्नलक्षण.

बलाससंरुद्धशिरासु मारुत- । प्रवृत्त्यभावाच्छ्वसितश्रमान्वितं ॥
हतस्वरः शुष्कगलो विलग्नव- । द्भवेत्स्वरघ्नामयपीडितो नरः ॥९२॥

भावार्थः—वायुका मार्ग कफसे लिप्त होने से, वायुकी प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये श्वास व परिश्रमसे युक्त होकर रोगीका स्वर बैठ जाता है, गला सूख जाता है, गलेमें आहार अटकतासा मालुम होता है। इस वातजन्य रोगको स्वरघ्न कहते हैं ॥९२॥

मांस रोग [मांसतान लक्षण]

गले तनोति श्वयथुं क्रमात् क्रमात् । त्रिदोषलिंगोच्छ्रयवेदनाकुलम् ॥
स मांसरोगाख्यगलामयं नृणां । विनाशकृत्तीव्रविषोरगोपमम् ॥ ९३ ॥

भावार्थः—तीनों दोषोंके लक्षणोंको प्रकट करते हुए क्रम क्रमसे गले में शोफ बढता जाता है उसे मांसरोग कहते हैं। वह तीव्र विषैला सर्पके समान विनाश करनेवाला है ॥ ९३ ॥

गलामय चिकित्सा व तालुरोगवर्णनप्रतिज्ञा.

गलामयं छर्दननस्यलेपन– । प्रलेपगण्डूषविशेषरूपणैः ॥
जयेदतस्तालुगतामयांतरं । ब्रवीमि तल्लक्षणतश्चिकित्सितैः ॥ ९४ ॥

भावार्थः—इस प्रकार गलगत रोगोंकी वमन, नस्य, लेपन, प्रलेपन, गण्डूष, आदि विशिष्ट प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिए। अब तालुगत रोगोंका निरूपण लक्षण व चिकित्सा के साथ करेंगे ॥ ९४ ॥

नव प्रकारके तालुरोग।

गलशुंडिका [गलशुंडी] लक्षण.

असृक्कफाभ्यामिह तालुमूलजं । प्रवृद्धदीर्घोन्नतशोफमुन्नतम् ॥
सकासतृष्णाश्वसनैः समन्वितम् । वदंति संतो गलशुंडिकामयम् ॥९५॥

भावार्थः—रक्तकफके विकारसे तालुके मूलमें वृद्धिको प्राप्त, लम्बा, बडा व उन्नत शोफ होता है जो कि खांसी, तृषा व श्वास से युक्त रहता है उसे गलशुंडिका रोग कहते हैं ॥ ९५ ॥

गलशुंडिका चिकित्सा व तुण्डिकेरीलक्षण व चिकित्सा.

विभिद्य शस्त्रेण तमाशु साधयेत् । कटुत्रिकैः कुष्ठकुटन्नटान्वितैः ॥
स दाहवृत्तोन्नतशोफलक्षणं । स तुण्डिकेरीमपि खण्डयेद्बुधः ॥ ९६ ॥

भावार्थः—गलशुण्डिको शीघ्र शस्त्रसे विदारण करके त्रिकटु, कूट, शोनाक इन औषधियोंसे (इनका लेप, गण्डूष आदि द्वारा) चिकित्सा करनी चाहिये। तालु में, दाह सहित गोल, उन्नत शोथ (कफ रक्त के प्रकोपसे) उत्पन्न होता है। इसे तुण्डिकेरी रोग कहते हैं। इसे जो भी विद्वान वैद्य भेदन आदिद्वारा चिकित्सा करें ॥ ९६ ॥

अध्रुष लक्षण व चिकित्सा.

ज्वरातिदाहप्रचुरोऽति रक्तज– । ससरक्तवर्णः श्वयथुर्मृदुस्तथा ॥
तं तालुदेशोद्भवमध्रुषं जयेत् । स शस्त्रकर्मप्रतिसारणादिभिः ॥ ९७ ॥

भावार्थः—रक्तके तीव्र प्रकोप, ज्वर व अतिदाहसे युक्त लाल व मृदु शोथ, तालु में उत्पन्न होता है। इसे अध्रुप रोग कहते हैं। शस्त्रकर्म व प्रतिसारण आदि उपायोंसे उसकी चिकित्सा करें ॥ ९७ ॥

कच्छपलक्षण व चिकित्सा.

स कच्छपः कच्छपवत्कफाद्भवेत् । सतालुशोफो विगतातिवेदनः ॥
तमाशु विश्रम्य विशोधयेत्सदा । फलत्रिकत्र्यूषणतैलसैंधवैः ॥ ९८ ॥

भावार्थः—कफके विकारसे तालुपर कछुवेके समान (आकारवाला) शोथकी उत्पत्ति होती है। जिसमें अत्यधिक वेदना नहीं होती है (अल्प वेदना होती है) इसे कच्छप रोग कहते हैं। उसे शीघ्र विश्रांति देकर हरड, बहेडा, आंवला, सोंठ, मिरच, पीपल, तैल व सेंधालवणके द्वारा शोधन करना चाहिये ॥९८॥

रक्तार्बुद लक्षण व मांससंघात लक्षण.

स्वतालुमध्ये रुधिरार्बुदं भवेत् । प्रतीतरक्तांबुजसप्रभं महत् ॥
तथैव दुष्टं पिशितं चयं गतं । स मांससंघातगलो विवेदनः ॥ ९९ ॥

भावार्थः—रक्तके प्रकोपसे तालुके मध्यभाग में प्रसिद्ध लाल कमल के कर्णिकाके समान जो महान शोथ होता है इसे रक्तार्बुद रोग कहते हैं। (जिसका लक्षण पूर्वोक्त रक्तार्बुदके समान होता है) उसी प्रकार तालुके मध्य भागमें (कफसे) मांस दूषित होकर इकट्ठा होता है व वेदनारहित है, इसे मांससंघात कहते हैं ॥ ९९ ॥

तालुपुप्प(प्प)ट लक्षण.

अरुक् स्थिरः कोलफलोपमाकृति- । र्बलासमेदः प्रभवोऽल्पवेदनः ॥
सतालुजः पुप्पटकस्तमामयं । विदार्य योगैः प्रतिसारयेत् भृशम् ॥१००॥

भावार्थः—कफ व मेदके विकारसे तालुमें पीडारहित अथवा अल्पवेदना युक्त स्थिर, बेरके समान जो शोथ उत्पन्न होता है इसे तालुपुप्पक (तालुपुप्पुट) रोग कहते हैं। इसे विदारण कर, प्रतिसारणा करें ॥ १०० ॥

तालु शोष लक्षण.

विदार्यते तालु विशुष्यति स्फुटं । भवेन्महाश्वासयुतोऽतिरूक्षजः ॥
सतालुशोषो घृततैलमिश्रितैः । क्रियाः प्रकुर्यादिह वातपित्तयोः ॥१०१॥

भावार्थः—अत्यधिक रूक्षसे, तालु फटजाता है सूख जाता एवं महान् श्वास युक्त होता है। इसे तालुशोष रोग कहते हैं। इसमें वातपित्तनाशक घी व तैलसे मिले हुए औषधियों द्वारा चिकित्सा करना चाहिये ॥ १०१ ॥

तालुपाक लक्षण.

महोष्मणा कोपितपित्तमुत्कटं । करोति तालुन्यतिपाकमद्भुतम् ॥
स तालुपाकः पठितो जिनोत्तमैः । तमाशु पित्तक्रिययैव साधयेत् ॥१०२॥

भावार्थः—अत्यधिक उष्ण पदार्थके उपयोगसे पित्त प्रकुपित होकर तालुमें भयंकर पाक उत्पन्न करता है। उसे जिनेंद्र भगवंत तालुपाक रोग कहते हैं। उसे पित्तहर औषधियोंके प्रयोगसे साधन करना चाहिये ॥ १०२ ॥

सर्वमुखगतरोगवर्णनप्रतिज्ञा.

निगद्य तालुप्रभवं नवामयं । मुखेऽखिले तं चतुरं ब्रवीम्यहम् ॥
पृथग्विचारीति विशेषनामकं त्रिदोषजं सर्वसरं तथापरम् ॥ १०३ ॥

भावार्थः—तालुमें उत्पन्न नव प्रकारके रोगोंका प्रतिपादन कर संपूर्ण मुखगत चार प्रकारके रोगोंका अब निरूपण करेंगे। उसमें एक विचारी नामक पृथक् रोग है। दूसरा सर्वसर नामक रोग है जो वात, पित्त व कफसे उत्पन्न होता है ॥ १०३ ॥

विचारी लक्षण।

विदाहपूत्याननपाकसंयुतः । प्रतानवान्[1] उत्कटपित्तकोपजः ॥
भवेद्विचारी प्रतिपादितो जिनै— । र्महाज्वरस्सर्वगतो भयंकरः ॥ १०४ ॥

भावार्थः—अत्यधिक पित्तके प्रकोप से संपूर्ण मुख में दाह, दुर्गंध, पाक, स्नायुप्रतान व महान ज्वर से संयुक्त जो शोथ उत्पन्न होता है। इसे श्रीजिनेंद्र भगवानने विचारी (विदारी) रोग कहा है। यह भयंकर होता है ॥ १०४ ॥

वातज सर्वसर [मुखपाक] लक्षण।

सतोदभेदप्रचुरातिवेदनैः । सरूक्षविस्फोटगणैर्मुखामयैः ॥
समन्वितस्सर्वसरस्सवातज— । स्तमामयं वातहरौषधैर्जयेत् ॥ १०५ ॥

भावार्थः—मुखमें तोदन, भेदन आदि से संयुक्त अनेक तरह की अत्यधिक

१ स्नायुप्रतानप्रभवः इति ग्रंथांतरे।

पीडा से युक्त रूक्ष विस्फोट (फफोले) हों, इसे वातजन्य सर्वसर (मुखरोग) इसको वातनाशक औषधियोंसे जीतना चाहिए ॥ १०५ ॥

पित्तज सर्वसर लक्षण ।

स दाहपाकज्वरसंयुतैर्मुखं । सरक्तविस्फोटगणैश्चितं यदा ॥
स पित्तजः सर्वसरोऽत्र वक्त्रज- स्तमाशु पित्तघ्नवरौषधैर्जयेत् ॥

भावार्थः—पित्तके प्रकोपसे दाह, पाकज्वरसे संयुक्त, लाल विस्फोट [: मुखमें व्याप्त होते हैं इसे पित्तज सर्वसर [मुखपाक] कहा है । इसे शीघ्र ही पि. श्रेष्ठ औषधियोंके प्रयोग से जीतना चाहिए ॥ १०६ ॥

कफज सर्वसर लक्षण ।

खरैस्सुशीतैरतिकण्डुरैर्घनै- । रवेदनैः स्फोटगणैः सुपिच्छिलैः ॥
चितं मुखं सर्वसरो बलासजः । कफापहस्तं समुपाचरेद्भिषक् ॥ १०

भावार्थ—खरदर, शीत, खुजलीयुक्त, कठिन, दर्दरहित, पिच्छिल (लिब. आदि जब मुखमें होते हैं उसे कफ विकारसे उत्पन्न सर्वसररोग समझें । कफहर औषधियों से चिकित्सा करें ॥ १०७ ॥

सर्व सर्वसररोग चिकित्सा ।

सपित्तरक्तानखिलान्मुखामयान् । जयेद्विरेकैः रुधिरप्रमोक्षणैः ॥
मरुत्कफोत्थान्वमनैः सुधूमकै- शिरोविरेकैः कवलैः प्रसारणैः ॥ १०

भावार्थः—पित्तरक्त के विकारसे उत्पन्न, समस्त मुखरोगों को विरेच रक्तमोक्षण से चिकित्सा करनी चाहिये । वातकफ के विकारसे उत्पन्न मुख रो. वमन, धूमपान, शिरोविरेचन, कवलग्रहण व प्रतिसारण से जीतना चाहिये ॥ १०८

मधूकादि धूपन वर्ति ।

मधूकराजादननिंबसिंगुदी । पलाशसैरण्डकमज्जमिश्रितैः ॥
सकुष्ठमांसीसुरदारुगुग्गुल । प्रतीतसर्जार्द्रकसारिवादिभिः ॥ १०९
सुपिष्टकल्कैः प्रविलिप्तपट्टकं । विवेष्ट्य वर्ति वरवृत्तगर्भिणीम् ॥
विशोषितां प्रज्वलिताग्रधूमिकां विधाय वक्त्रे सततं प्रधूपयेत् ॥ ११०

---

१ यह रोग, मुख, जिव्हा, गला, ओंठ, मसूडे, दांत व तालु इन सात स्थानोंमें भी होनेसे, इसको सर्वसर रोग कहा है ।

२ सद्वेव. शुभे इति पाठांतरं ।

भावार्थः—महुआ, खिरनी, नीम, हिंगोट, पलाश, एरण्ड इनकी मज्जा [गिरी] कूट, जटामांसी, देवदारु, गुग्गुल, राल, अद्रक, सारिवा इत्यादि को [घी के साथ] अच्छीतरह पीसकर कल्क बनावें। फिर उस कल्कको कपडेमें लेपन कर उसे गोल वेष्टन करें। उस बत्तीको सुखावें। सुखाने के बाद उसे जलावें। जलाकर ठीक धूंवे के ऊपर मुख रखकर धूप देना चाहिये ॥ १०९ ॥ ११० ॥

मुखरोग नाशक धूप.

तथैव दंती किणिही सहिंगुदी। सुरेंद्रकाष्ठैः सरलैश्च धूपयेत् ॥
सगुग्गुलुध्यामकमांसिकागुरु-। मणीतसूक्ष्मामरिचैस्तथापरैः ॥ १११ ॥

भावार्थः—उसी प्रकार दंती, चिरचिरा, हिंगोट, देवदारु, धूप सरल इनसे बनाई हुई वत्तिसे भी धूपन-प्रयोग करना चाहिये, इसी प्रकार गुग्गुल सुगंधि तृण (रोहिस सोधिया) जटामांसी, सूक्ष्मजटामांसी, अगुरु, मिर्च इन औषधियोंसे एवं इसी प्रकारके अन्य औषधियोंसे भी धूपन विधि करनी चाहिये ॥ १११ ॥

मुखरोगनाशक योगांतर

अयं हि धूपः कफवातरोगनुत्। घृतेन युक्तः सकलान् जयत्यपि ॥
सदैव जातीकुसुमांकुरान्वितः। कषायगोमूत्रगणो मुखामयान् ॥ ११२ ॥

भावार्थः—यह धूप कफवातके विकारसे उत्पन्न मुखरोगोंको नाश करता है। यदि घृतसे युक्त करें तो सर्व मुखरोगोंको भी जीतता है। सदा जाईका फूल व अंकुर से युक्त कषाय रस व गोमूत्र, मुखगत समस्त रोगोंको दूर करता है ॥११२॥

भृंगराजादि तैल.

सुभृंगराराजामलकाख्यया रसं। पृथक् पृथक् प्रस्थमिदं सतैलकम् ।
पयश्चतुःप्रस्थपलं च यष्टिकं। पचेदिदं नस्यमनेकरोगजित् ॥ ११३ ॥

भावार्थः—भृंगराज (भांगरा) का रस एक प्रस्थ (६४ तोला) आंवले का रस एक प्रस्थ, तिलका तैल एक प्रस्थ, गायका दूध चार प्रस्थ, मुलैठी (कल्कार्थ) १६ तोला, इन सबको मिलाकर तैल सिद्ध करें। इस तैल के नस्य देनेसे मुखसम्बंधी अनेक रोग नष्ट होते हैं ॥ ११३ ॥

सहादितैल.

सहारिमेदामलकाभयासनैः। कषायकल्कैः रजनीकटुत्रिकैः।
विपक्वतैलं पयसा जयत्यलं। स नस्यगण्डूषविधानतो गदान् ॥११४॥

भावार्थः—रास्ना, अरिमेद (दुर्गंध युक्त खैर) आमलक, हरड, विजयसार हल्दी, त्रिकटु इनका कषाय व कल्क, दूध, इनके साथ पकाये हुए तैलको नस्य व गण्डूष विधानमें उपयोग करें तो वह अनेक मुखरोगोंको जीतता है ॥११४॥

सुरेंद्रकाष्ठादि योग.

सुरेंद्रकाष्ठं कुटजं सपाठां । सरोहिणीं चातिविषां सदंतिकां ।
पिबन् समूत्रं धरणांशसंमितं । पृथक् पृथक्श्लेष्ममुखामयान् जयेत् ॥११५

भावार्थः—देवदारु, कूडाकी छाल, पाठा, कुटकी, अतिविषा, दंति (जमालगोटे की जड) इन औषधियोंको पृथक् पृथक् २४ रत्ति प्रमाण गोमूत्रमें मिलाकर पीवे तो कफविकारसे उत्पन्न मुखरोगोंका नाश होता है ॥ ११५ ॥

सर्व मुखरोग चिकित्सा संग्रह ।

किमुच्यते वक्त्रगतामयौषधं । कफानिलघ्नं सततं प्रयोजयेत् ॥
स नस्य गण्डूषविलेपसारण- । प्रधूपनोद्यत्कबलानि शास्त्रवित् ॥११६॥

भावार्थः—मुखरोगके लिए औषधिको कहने की क्या जरूरत है । क्योंकि मुख में विशेषतया वात व कफसे रोग हुआ करते हैं । उनको वात व कफहर औषधि प्रयोगोंसे सदा चिकित्सा करें । शास्त्रज्ञ वैद्य नस्य, गण्डूष, विलेपन, सारण, धूपन, व कवलग्रहण इस उपायोंको भी काममें लेवें ॥ ११६ ॥

मुखरोगीको पथ्यभोजन ।

समुद्गयूषैः सघृतैस्सलावणैः खलैस्सयूषैः कटुकौषधान्वितैः ॥
कषायतिक्ताधिकशाकसंयुतै- । रिहैकवारं लघु भोजनं भवेत् ॥११७

भावार्थः—मुखरोगसे पीडित रोगीको, मुद्गयूष, घृत, लवण, खल, यूष, एवं कटुक औषधि इन से युक्त तथा कषाय व कडुआ शाकोंसे युक्त लघु भोजन दिनमें एक वार देना चाहिए ॥ ११७ ॥

मुखगत असाध्यरोग ।

इति प्रयत्नात्कथिता मुखामयाः । षडुत्तराः षष्ठिरिहात्मसंख्यया ॥
ततस्तु तेष्वोष्ठगता विवर्ज्यास्त्रिदोषमांसक्षतजोद्भवास्त्रयः ॥ ११८ ॥

१ ग्रंथांतरमें कुटजफल ।

भावार्थः—महुआ, खिरनी, नीम, हिंगोट, पलाश, एरण्ड इनकी मज्जा [गिरी] कूट, जटामांसी, देवदारु, गुग्गुल, राल, अद्रक, सारिवा इत्यादि को [घी के साथ] अच्छीतरह पीसकर कल्क बनावें। फिर उस कल्कको कपडेमें लेपन कर उसे गोल वेष्टन करें। उस वत्तीको सुखावें। सुखाने के बाद उसे जलावें। जलाकर ठीक धूंवे के ऊपर मुख रखकर धूप देना चाहिये ॥ १०९ ॥ ११० ॥

मुखरोग नाशक धूप.

तथैव दंती किणिही सहिंगुदी। सुरेंद्रकाष्टैः सरलैश्च धूपयेत् ॥
सगुग्गुलुध्यामकमांसिकागुरु-। प्रणीतसूक्ष्मामरिचैस्तथापरैः ॥ १११ ॥

भावार्थः—उसी प्रकार दंती, चिरचिरा, हिंगोट, देवदारु, धूप सरल इनसे बनाई हुई वत्तिसे भी धूपन-प्रयोग करना चाहिये, इसी प्रकार गुग्गुल सुगंधि तृण (रोहिस सोधिया) जटामांसी, सूक्ष्मजटामांसी, अगुरु, मिर्च इन औषधियोंसे एवं इसी प्रकारके अन्य औषधियोंसे भी धूपन विधि करनी चाहिये ॥ १११ ॥

मुखरोगनाशक योगांतर

अयं हि धूपः कफवातरोगनुत्। घृतेन युक्तः सकलान् जयत्यपि ॥
सदैव जातीकुसुमांकुरान्वितः। कषायगोमूत्रगणो मुखामयान् ॥ ११२ ॥

भावार्थः—यह धूप कफवातके विकारसे उत्पन्न मुखरोगोंका नाश करता है। यदि घृतसे युक्त करें तो सर्व मुखरोगोंको भी जीतता है। सदा जाईका फूल व अंकुर से युक्त कषाय रस व गोमूत्र, मुखगत समस्त रोगोंको दूर करता है ॥११२॥

भृंगराजादि तैल.

सुभृंगराजामलकाख्यया रसं। पृथक् पृथक् प्रस्थमिदं सतैलकम्।
पयश्चतुःप्रस्थपलं च यष्टिकं। पचेदिदं नस्यमनेकरोगजित् ॥ ११३ ॥

भावार्थः—भृंगराज (भांगरा) का रस एक प्रस्थ (६४ तोला) आंवले का रस एक प्रस्थ, तिलका तैल एक प्रस्थ, गायका दूध चार प्रस्थ, मुलैठी (कल्कार्थ) १६ तोला, इन सबको मिलाकर तैल सिद्ध करें। इस तैल के नस्य देनेसे मुखसम्बंधी अनेक रोग नष्ट होते हैं ॥ ११३ ॥

सहादितैल.

सहारिमेदामलकाभयासनैः। कषायकल्कै रजनीकटुत्रिकैः।
विपक्वतैलं पयसा जयत्यलं। स नस्यगण्डूषविधानतो गदान् ॥११४॥

भावार्थः—रास्ना, अरिमेद (दुर्गंध युक्त खैर) आमलक, हरड, विजयसार हल्दी, त्रिकटु इनका कषाय व कल्क, दूध, इनके साथ पकाये हुए तैलको नस्य व गण्डूष विधानमें उपयोग करें तो वह अनेक मुखरोगोंको जीतता है ॥११४॥

सुरेंद्रकाष्ठादि योग.

सुरेंद्रकाष्ठं कुटजं सपाठां। सरोहिणीं चातिविषां सदंतिकां।
पिबन् समूत्रं धरणांशसंमितं। पृथक् पृथक्श्लेष्ममुखामयान् जयेत्॥११५

भावार्थः—देवदारु, कूडाकी छाल, पाठा, कुटकी, अतिविषा, दंति (जमालगोटे की जड) इन औषधियोंको पृथक् पृथक् २४ रत्ति प्रमाण गोमूत्रमें मिलाकर पीवे तो कफविकारसे उत्पन्न मुखरोगोंका नाश होता है ॥ ११५ ॥

सर्व मुखरोग चिकित्सा संग्रह।

किमुच्यते वक्त्रगतामयौषधं। कफानिलघ्नं सततं प्रयोजयेत्॥
स नस्य गण्डूषविलेपसारण-। प्रधूपनोद्यत्कवलानि शास्त्रवित् ॥११६॥

भावार्थः—मुखरोगके लिए औषधिको कहने की क्या जरूरत है। क्योंकि मुख में विशेषतया वात व कफसे रोग हुआ करते हैं। उनको वात व कफहर औषधि प्रयोगोंसे सदा चिकित्सा करें। शास्त्रज्ञ वैद्य नस्य, गण्डूष, विलेपन, सारण, धूपन, व कवलग्रहण इस उपायोंको भी काममें लेवें॥ ११६ ॥

मुखरोगीको पथ्यभोजन।

समुद्गयूषैः सघृतैस्सलावणैः खलैस्सयूषैः कटुकौषधान्वितैः॥
कषायतिक्ताधिकशाकसंयुतै-। र्दिनैकवारं लघु भोजनं भवेत् ॥११७॥

भावार्थः—मुखरोगसे पीडित रोगीको, मुद्गयूष, घृत, लवण, खल, यूष, एवं कटुक औषधि इन से युक्त तथा कषाय व कडुआ शाकोंसे युक्त लघु भोजन दिनमें एक बार देना चाहिए॥ ११७ ॥

मुखगत असाध्यरोग।

इति प्रयत्नात्कथिता मुखामयाः। षडुत्तराः षष्ठिरिहात्मसंख्यया॥
ततस्तु तेष्वोष्ठगता विवर्ज्यास्त्रिदोषमांसक्षतजोद्भवास्त्रयः ॥ ११८ ॥

---

१. ग्रंथांतरमें कुटजफल।

भावार्थः—इस प्रकार छासठ ६६ प्रकार के मुखरोगों का वर्णन प्रयत्नपूर्वक किया गया है। उन पूर्वोक्त ओष्ठरोगों में त्रिदोष (सन्निपात) मांस, रक्त इनसे उत्पन्न ३ तीन ओष्ठ रोग छोडने योग्य हैं अर्थात् अचिकित्स्य है ॥ ११८ ॥

दंतगत असाध्यरोग।

स्वदंतमूलेष्वपि वर्जनीयौ। त्रिदोषलिंगौ गतिशौपिरौ परौ ॥
तथैव दंतप्रभवास्ततोऽपरे। सदालनश्यामलभंजनद्विजाः ॥ ११९ ॥

भावार्थः—दंतमुलज रोगोंमें तीनों दोषोंके लक्षणोंसे संयुक्त, अर्थात् तीनों दोषों से उत्पन्न नाडी व महाशोपिर ये दोनो रोग वर्जनीय हैं। एवं दंतोत्पन्न रोगों में दालन, श्यावदंत, भंजन ये तीन रोग असाध्य हैं ॥ ११९ ॥

रसनेंद्रिय, व तालुगत असाध्यरोग।
कंठगत व सर्वगत असाध्य रोग

रसेंद्रिये चाप्यलसं महागदं। विवर्जयेत्तालुगतं तथार्बुदं ॥
गले स्वरघ्नं वलयं सवृंदम्। महालसं मांसचयं च रोहिणीम् ॥ १२० ॥
गलौघमप्युग्रतरं शतघ्निकं। भयप्रदं सर्वगतं विचारिणम् ॥
नवोत्तरान्वक्त्रगतामयान्दश। प्रयत्नतस्तान् प्रविचार्य वर्जयेत् ॥१२१॥

भावार्थ—रसनेंद्रियज अलस नामक महारोग असाध्य है। तालुगत अर्बुद नामक् रोग वर्जनीय है. कंठगत स्वरघ्न, वलय, वृन्द. महालस, मांसचय मांसतान रोहिणी, उग्रतर शतघ्नी, एवं सर्वमुख, गत, विचारी रोग को भी भयंकर असाध्य समझना चाहिये। इस प्रकार मुख में होनेवाले उन्नीस रोगों को वैद्य प्रयत्नपूर्वक अच्छी तरहसे विचार करके अर्थात् रोगका निर्णय करके, छोड देवें ॥ १२०॥१२१ ॥

अथ नेत्ररोगाधिकार.

अतः परं नेत्रगतामयान्ब्रवी—। म्यशेषतः संभवकारणाश्रितान् ॥
विशेषतल्लक्षणतश्चिकित्सितानसाध्यसाध्यानखिलक्रमान्वितान् ॥१२२॥

भावार्थः— अब नेत्रगत समस्त रोगोंको उनके उत्पत्तिकारण, लक्षण चिकित्सा, साध्या साध्य विचार आदि बातों के साथ प्रतिपादन करेंगे ॥ १२२ ॥

नेत्रका प्रधानत्व.

मुख्यं शरीरार्द्धमथाखिलं मुखं। मुखेऽपि नेत्राधिकतां वदंति तत् ॥
तथैव नेत्रद्वयहीन मानुष—। स्वरूपमानस्तमसावगुंठितः ॥ १२३ ॥

भावार्थः—मनुष्यके शरीरमें मुख सारे शरीरका अर्धभाग समझना चाहिये क्यों कि मुख न हो तो उस शरीरकी कोई कीमत नहीं है। अतएव [अन्य अंगोंकी अपेक्षा] मुख्य है। मुखमें भी अन्य इंद्रियोंकी अपेक्षा नेत्रका मूल्य अधिक है। क्यों कि यदि नेत्र न हो तो वह मनुष्य अंधकारसे घिरा हुआ एक वृक्षके समान है ॥ १२३ ॥

नेत्ररोगों की संख्या.

ततस्तु तद्रक्षणमेव शोभनं। यथार्थनेत्रेंद्रियबाधकाशुभाः ॥
षडुत्तराः सप्ततिरेव संख्यया। दुरामयास्तान् समुपाचरेद्भिषक् ॥१२४॥

भावार्थः—इसलिये उस नेत्रेंद्रिय की रक्षा करनेमें ही शोभा है अर्थात् हर तरहसे उस की रक्षा करनी चाहिये। यथार्थ में नेत्रेंद्रियको बाधा देनेवाले, अशुभ, व दुष्ट छहत्तर रोग होते हैं। उनको वैद्य बहुत विचारपूर्वक चीकित्सा करें ॥१२४॥

नेत्ररोगके कारण.

जलप्रवेशादतितप्तदेहिनः। स्थिरासनात् संक्रमणाच्च घर्मतः ॥
व्यवायनिद्राक्षतिसूक्ष्मदर्शना- द्रजो विधूमश्रमबाष्पनिग्रहात् ॥१२५॥
शिरोतिरूक्षादतिरूक्षभोजनात्। पुरीषमूत्रानिलवेगधारणात् ॥
पलांडुराजीलशुनार्द्रभक्षणा- द्भवंति नेत्रे विविधाः स्वदोषजाः ॥१२६॥

भावार्थः—गरमी से अत्यंत तप्त होकर एकदम (ठण्डा) जलमें प्रवेश (स्नान, पानी में डूबना आदि) करने से, स्थिर आसन में रहने से, ऋतुओंके संक्रमण अर्थात् ऋतुविपर्यय होनेसे (आंखमें) पसीना आने से, अथवा अत्यधिक चलनेसे, अति मैथुन से, निद्राका नाश होनेसे, सूक्ष्मपदार्थों को देखने से, धूली का प्रवेश व धूमका लगने से, अधिक श्रमसे, आसूंके रोकनेसे शिर अत्यंत रूक्ष होनेसे, अधिक रूक्षभोजनसे, मल, मूत्र, वायु इनके वेगोंको धारण करने से, प्याज, राई, लहसन, अदरख, इनके अधिक भक्षण से, नेत्राश्रित दोषोंसे उत्पन्न नानाप्रकार के रोग नेत्र में होते हैं ॥ १२५।१२६॥

नेत्र रोगोंके आश्रय।

अतस्तु तेषां त्रिविधास्तथाश्रयाः। समण्डलान्यत्र च संधयोऽपरे ॥
भवंति नेत्रे पटलानि तान्यलं। पृथक् पृथक् पंच षडेव षट्पुनः ॥१२७॥

भावार्थः—उन नेत्र रोगोंके नेत्रोंमें मण्डल, संधि, पटल ये तीन प्रकार के आश्रय हैं। और क्रमशः इन की संख्या [पृथक्] पांच छह और छह होती हैं। अर्थात् पांच मण्डल, छह संधि और छह पटल होते हैं ॥ १२७ ॥

१ संक्रमणाच्च इति पाठांतरं। २ विन्दुघट्टनात् इति पाठांतरं।

पंचमंडल षट् संधि.

स्वपक्ष्मवर्त्मद्वयशुक्लकृष्णस- । द्विशेषदृष्ट्याश्रयमण्डलानि तत् ॥
द्वयोश्च संधावपि संधयस्ततः । कनीनिकापांगगतौ तथापरौ ॥ १२८ ॥

भावार्थः—नेत्रों में पक्ष्म, वर्त्म, शुक्ल, कृष्ण, दृष्टि इस प्रकार से पांच मंडल हैं। इनमें दो २ मंडलों के बीच में एक २ संधि[1] है। इस प्रकार पांच मंडलोंके बीच में ४ संधियां हुई। पांचवी संधि, कनीनक (नाक के समीप) में, छठी अपांग [कनपटी के तरफ नेत्र की कोर] में है ॥ १२८ ॥

षट् पटल।

इमे च साक्षात्पटले स्ववर्त्मनि । तथैव चत्वार्यपि चक्षुषः पृथक् ॥
भवेच्च घोरं तिमिरं च येषु तत् । विशेषतस्सर्वगतामयान्ब्रुवे ॥१२९॥

भावार्थः—दो पटल (परदे) तो वर्त्ममें होते हैं। इसी प्रकार चार पटल नेत्र गोलक (अक्षि) में होते हैं। इन्ही नेत्र गोलकके चार पटलोंमें तिमिर नामक घोर व्याधि होती है। आगे सम्पूर्ण नेत्रगत रोगोंके वर्णन विशेष रीतीसे करेंगे ॥ १२९ ॥

अभिष्यंदवर्णनप्रतिज्ञा।

समस्तनेत्रामयकारणाश्रयान् । ब्रवीम्यभिष्यंदविशेषनामकान् ॥
विचार्य तत्पूर्णमुपक्रमं च त- । द्विशेषदोषप्रभावालिलामयान् ॥१३०॥

भावार्थः—समस्त नेत्र रोगोंके कारण व आश्रयभूत तत्तद्विशेष दोषोंसे उत्पन्न, अभिष्यंद इस विशेष नामधारक, सम्पूर्ण रोगोंको कहते हुए, उनकी सम्पूर्ण चिकित्साको भी कहेंगे ॥ १३० ॥

वाताभिष्यंद लक्षण.

सतोदभेदप्रचुरातिवेदना । विशेषपारुष्यसरोमहर्षणम् ॥
हिमाश्रुपातोऽशिशिराभिनंदनं । भवत्यभिष्यंद तदेव मारुतम् ॥ १३१ ॥

भावार्थः—जिस अक्षिरोग में, आंखोंमें तोदन भेदन आदि नाना प्रकारकी अत्यंत वेदना, कडापन व रोमांच होता हो, ठण्डी आंसू (जल) गिरती हो और गरम उपचार अच्छा मालूम होता हो, इसे वाताभिष्यंद अर्थात् वातोद्रेकसे उत्पन्न अभिष्यंद जानना चाहिये ॥ १३१ ॥

---

१ जैसे १ पक्ष्म और वर्त्म के बीच में. २ वर्त्म और शुक्ल भाग (सफेद पुतली) के बीच में। ३ सफेद और काली पुतली के बीच में। ४ काली पुतली और दृष्टि(तिल) के बीच में।

२ व्यपोह्य इति पाठांतरं ॥

वाताभिष्यंद चिकित्सा.

पुराणसर्पिः प्रविलिप्तमक्षित– । द्विशेषवातघ्नगणैः श्रृतांबुना ॥
सुखोष्णसंस्वेदनमाशु कारयेत् । प्रलेपयेत्तैरहिमैस्ससैंधवैः ॥ १३२ ॥

भावार्थः—उस (वाताभिष्यंद से पीडित आंख) पर पुराने घीका लेपन करके वातनाशक गणोक्त औषधियोंसे पक्क अन्य उष्ण जलसे उसको अच्छी तरहसे स्वेदन कराना चाहिये । उन्ही वातनाशक औषधियों में सेंधा नमक मिलाकर कुछ गरम करके उसपर लेपन करना चाहिये ॥ १३२ ॥

वाताभिष्यंद में विरेचन आदि प्रयोग.

ततश्च सुस्नेह्य ततुं विरेचयेत् । सिराविमोक्षैरपि बस्तिकर्मणा ॥
जयेत्सनस्यैः पुटपाकतर्पणैः । सुधूमनिस्वेदनपत्रबंधनैः ॥ १३३ ॥

भावार्थः—इसके बाद रोगीको स्नेहन करके विरेचन कराना चाहिये । सिरा विमोक्ष व बस्तिकर्म भी करना चाहिये । एवं नस्यप्रयोग, पाक तैल तर्पण, धूमन, स्वेदन व पत्रबंधन आदि विधि करनी चाहिये ॥ १३३ ॥

विशेषः—तर्पण–जो नेत्रोंकी तृप्ति करता है उसे तर्पण कहते हैं । अर्थात् आंखोंके हितकारी औषधियोंके रस, घी आदिको (रोगीको चित सुलाकर) आंखोंमें डालकर कुछ देर तक धारण किया जाता है इसे तर्पण कहा है ।

पुटपाक–नेत्र रोगोंको हितकारी औषधियोंको पीसकर गोला बनावे । पश्चात् आम इत्यादि पत्तियोंको उस पर लपेट कर उसपर मिट्टीका लेप करे। इसके बाद कण्डोंकी अग्निसे उस गोले को (पुट पाक की विधि के अनुसार) जलावें । फिर उसकी मिट्टी व पत्तोंको दूर करके उस गोले को निचोडके रस निकाल लेवें और उसको तर्पण की विधि के अनुसार नेत्रोंमें डालें । इसे पुटपाक कहते हैं ।

पथ्य भोजनपान.

फलाम्लसंभारसुसंस्कृतैः खलैः । घृतैःश्रृतक्षीरयुतैश्च भोजयेत् ॥
पिबेत्स भुक्तोपरि सौरभं घृतं । सुखोष्णमल्पं तृषितो जलांजलिम् १३४

भावार्थः—फल, आम्लसे युक्त, खट्टा फल, धनिया जीरा इत्यादिसे अच्छीतरह संस्कृत खल, तथा घीसे पका हुआ व दूधसे युक्त भोजन कराना चाहिये । भोजन करनेके ऊपर सुगंध घी [सौरभघृत], पिलाना चाहिये । यदि प्यास लगे तो थोडासा गरम जल पिलाना चाहिये ॥ १३४ ॥

१ सुरभिगायके दूधसे उत्पन्न घृत.

वाताभिष्यंदनाशक अंजन.

सधातुलुंगाम्लकसैंधवं घृतं । सतैलमेतद्वनितापयो युतम् ॥
सनीलिकं घृष्टमिदं सदंजनं । कटुत्रिकैर्धूपितमंजयेत्सदा ॥ १३५ ॥

भावार्थः— बिजोरा निंबूका रस, सेंधालोण, तिल का तेल, स्त्री का दूध, नीली, इन को एकत्र कर के (ताम्रपात्र या पत्थर के पात्र में) अच्छी तरह पीसें और इस श्रेष्ठ अंजन को सोंठ, मिरच, पीपल से धूप देकर हमेशा अंजन करना चाहिये ॥ १३५ ॥

वाताभिष्यंदचिकित्सोपसंहार.

विलोचनोद्भूतमरुत्कृतामयान् । प्रसाधयेत्प्रोक्तविधानतोऽखिलान् ॥
यथोक्तवातामयसच्चिकित्सित- । प्रणीतमार्गादथवापि यत्नतः ॥ १३६ ॥

भावार्थः—इस प्रकार वात से उत्पन्न संपूर्ण नेत्र रोगोंको पूर्वोक्त कथन के अनुसार चिकित्सा करके, ठीक करना चाहिये । अथवा वात रोगोंके लिये जो चिकित्सा पहिले बताई गई है उस क्रम से यत्नपूर्वक चिकित्सा करे ॥ १३६ ॥

पैत्तिकाभिष्यंद लक्षण.

विदाहपाकप्रबलोष्मताधिक- । प्रबाष्पधूमायनसोष्णवारिता ॥
तृषा बुभुक्षाननपीतभावता । भवंत्यभिष्यंदगणे तु पैत्तिके ॥ १३७ ॥

भावार्थः—आखोंमे दाह व अधिक उष्णता, पानी गिरना, धूंआंसा उठना, अश्रुजल उष्ण रहना, अधिक भोजन की इच्छा होना, मुख पीला पडजाना आदि लक्षण पित्तकृत अभिष्यंद रोगमें पाये जाते हैं ॥ १३७ ॥

पैत्तिकाभिष्यंदचिकित्सा.

घृतं प्रपाय प्रथमं मृदूकृतं । विशोधयेत्तत्र शिरां विमोक्षयेत् ॥
त्र्यहाच्च दुग्धोद्भव सर्पिषा शिरो-विरेचयेत्तर्पणमाशु योजयेत् ॥ १३८ ॥

भावार्थः—पित्ताभिष्यंदसे पीडित रोगीको प्रथम घृत पिलाकर (घृतसे स्नेहन करके) शरीरको मृदु करके विरेचन देना चाहिये और सिरामोक्षण (फस्त खोलना) भी करना चाहिये । इसके तीन दिनके बाद दूधसे उत्पन्न (दहीसे उत्पन्न नहीं) घीसे शिरोविरेचन और तर्पणको शीघ्र प्रयोग करना चाहिये ॥ १३८ ॥

---

१ सद्वयघृष्टमिष्टतः इति पाठांतर । २ किसीका ऐसा मत है कि रोगकी उत्पत्तिसे तीन दिनके बाद शिरोविरेचन आदि करना चाहिये ।

पित्ताभिष्यंदमें लेप व रसक्रिया.

मृणालकल्हारकपद्मकोत्पल— । प्रवालदुग्धांघ्रिपशृंगिचंदनैः ॥
पयोनुपिष्टैः घृतशर्करायुतैः । प्रलेपयेदितरेद्रसक्रियाम् ॥ १३९ ॥

भावार्थः—कमलनाल, श्वेतकमल (कुमुदिनी) पद्मकाष्ठ व नीलकमल, प्रवाल, पंच क्षीरिवृक्ष (वड, गूलर, पीपल, पारिसपीपल, पाखर) शक्कर काकडासिंगी मिलाकर उसमें प्रलेपन करना एवं इन्ही औषधियोंकी रसक्रियाका प्रयोग करना हितकर है ॥

अंजन.

सुचूर्णितं शंखमिह स्तनांबुना । विघट्टयेदायसभाजनद्वये ॥
मुहुर्मुहुश्शर्करया सुधूपितं । सदांजयेत्पित्तकृतामयाक्षिणि ॥ १४० ॥

भावार्थः—शंखको अच्छीतरह चूर्णकर फिर उसे स्तन दूधके साथ लोहके दो बरतनमें डालकर खूब रगडना चाहिये (अर्थात् लोह के बरतन में डालकर लोहेकी मूसलीसे रगडे) उसे बार २ शक्करसे धूप देकर पित्तजन्य अभिष्यंद रोग से पीडित आंखो में हमेशा अंजन करें ॥ १४० ॥

अक्षिदाह चिकित्सा.

सयष्टिकल्कं पय एव माहिषं । विगालितं शीतलबिंदुसंयुतम् ॥
निषेचयेदक्षिविदाहबाधिते । घृतेन पौंड्रेक्षुरसेन वा पुनः ॥१४१॥

भावार्थः—आंखें दाहसे पीडित होजाय तो मुलैठी के कल्कमें भैंसका दूध मिलाकर गालन करें। तदनंतर उसमें कपूर मिलाकर सेवन करें अथवा इसी कल्क को घी, या गन्नेके रसके साथ सेवन करें ॥ १४१ ॥

पित्ताभिष्यंद में पथ्यभोजन.

पिबेद्यवागूं पयसा सुसाधितां । घृतप्लुतां शर्करया समन्वितां ॥
समुद्गयूषं घृतमिश्रपायसं । ससुद्गयूषौदनमेव वाशनम् ॥१४२॥

भावार्थः—पित्ताभिष्यंदसे पीडित रोगीको दूधसे पकाया हुआ, घीसे तर, शंकरसे युक्त यवागूको पिलाना चाहिये। एवं मुद्गयूष या घृतमिश्रित पायस (खीर) अथवा मुद्गयूप के साथ अन्नका भोजन कराना चाहिये ॥ १४२ ॥

---

१ क्वाथ इत्यादियोंको फिर पकाकर, गाढा (घन) किया जाता है इसे रसक्रिया कहते हैं। ग्रंथांतर में कहा भी है। क्वाथादीनां पुनः पाकात् घनभावे रसक्रिया ।

पित्ताभिष्यंद में पथ्यशाक व जल.

कषायतिक्तैर्मधुरैस्सुशीतलैः । विपक्वशाकैरिह भोजयेन्नरम् ॥
पिबेज्जलं चंदनगंधबंधुरं । हितं मितं पुष्पघनाधिवासितम् ॥१४३॥

भावार्थः—कषाय, कडुआ, मधुररस व शीतल वीर्ययुक्त पकाया हुआ शाक उस रोगीको खिलावें । यदि उसे प्यास लगे तो चंदन के गंध से मनोहर व सुगंध पुष्प, कपूर से सुवासिक हितकर जलको मितसे पिलाना चाहिये ॥ १४३ ॥

पित्तजसर्वाक्षिरोग चिकित्सा.

कियंत एवाक्षिगतामया नृणां । प्रतीतपित्तप्रभवा विदाहिनः ॥
ततस्तु तान्शीतलसर्वकर्मणा । प्रसाधयेत्पित्तचिकित्सितेन वा ॥ १४४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों की आंखमें पित्त से उत्पन्न अतएव अत्यंत दाहसे युक्त कितने ही नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये इन सब को, शीतल चिकित्साद्वारा अथवा पैत्तिक रोगोक्त चिकित्साक्रम द्वारा जीतना चाहिये ॥ १४४ ॥

रक्तजाभिष्यंद लक्षण.

सलोहितं वक्त्रमथाक्षिलोहितं । प्रतानराजीपरिवेष्टितं यथा ॥
सपित्तलिंगान्यपि यत्र लोहितं । भवेदभिष्यंद इति प्रकीर्तितः ॥१४५॥

भावार्थः—जिस नेत्ररोग में मुख लाल हो जाता है, आंखें भी लाल हो जाती हैं, एवं लाल रेखाओं के समूह से युक्त होती हैं, जिसमें पित्ताभिष्यंद के लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं, उसे रक्तजन्य अभिष्यंद रोग जानना चाहिये ॥ १४५ ॥

रक्तजाभिष्यंद चिकित्सा ।

तमाशु पित्तक्रियया प्रसाधये- । दसृग्विमोक्षैरपि शोधनादिभिः ॥
सदैव पित्तास्रसमुद्भवान्गदा- । नशेषशीतक्रियया समाचरेत् ॥१४६॥

भावार्थः—उसे शीघ्र पित्तहर औषधियोंसे चिकित्सा करनी चाहिये । एवं रक्त मोक्षण, शोधनादि (वमन विरेचन आदि) विधि भी करनी चाहिये । सदा पित्त व रक्त-विकारसे उत्पन्न रोगोंको समस्त शीतक्रियावोंसे उपचार करना चाहिये ॥१४६॥

कफजाभिष्यंद लक्षण.

प्रदेहशीतातिगुरुत्वशोफता । सुतीव्रकण्डूरहिमाभिकांक्षणम् ॥
सपिच्छिलास्रावसमुद्भवः कफा- । द्भवन्त्यभिष्यंदविकारनामनि ॥१४७॥

भावार्थः—आंखोंमें कुछ लिप्तसा मालूम होना और अति शैत्य, भारीपना व शोफ होना, तीव्र खुजली चलना, गरम पदार्थोंमें अधिक लालसा होना, एवं आंखो से चिकना स्राव होना ये लक्षण कफज अभिष्यंद रोग में पाये जाते हैं ॥ १४७ ॥

कफजाभिष्यंद की चिकित्सा.

तमप्यभीक्ष्णं शिरसो विरेचनैः । सिराविमोक्षैरतिरूक्षतापनैः ॥
फलत्रिकत्र्यूषणसार्द्रकद्रवैः । प्रलेपयेत्सोष्णगवांबुपेषितैः ॥ १४८ ॥

भावार्थः—उस कफज अभिष्यंदको भी शिरोविरेचन, सिरा मोक्षण व अतिरूक्ष पदार्थोंसे तापनके द्वारा उपचार करना चाहिये । एवं त्रिफला [सोंठ मिरच पीपल] इनको अद्रकके रस व उष्ण गोमूत्रके साथ अच्छीं तरह पीसकर आंखोंमे लेपन करना चाहिये ॥ १४८ ॥

कफाभिष्यंदमें आश्चोतन व सेक.

ससैंधवैस्सोष्णतरैर्मुहुर्मुहु- । र्भवेत्सदाश्चोतनमेव शोभनम् ॥
पुनर्नवांघ्रिप्रभवैः ससैंधवैः । रसैर्निषिंचेत्कफरुद्धलोचनम् ॥ १४९ ॥

भावार्थः—बार २ उष्णतर सेंधा लोणसे उसपर सेक देना चाहिये एवं सोंठके रसको सेंधा लोणके साथ मिलाकर उसको उस कफगत आंखमें सेचन करना चाहिये ॥ १४९ ॥

कफाभिष्यंदमें गण्डूष व कवल धारण.

सुपिष्टसत्सर्षपसोष्णवारिभिः । सदैव गण्डूषविधिर्विधीयताम् ।
सशिग्रुमूलार्द्रककुष्टसैंधवैः । प्रयोजयेत्सत्कवलान्यनंतरम् ॥ १५० ॥

भावार्थः—सरसोंको अच्छीतरह पीसकर गरम पानीसे मिलाकर उससे गण्डूष प्रयोग करें । एवं तदनंतर सेंजनका जड, अद्रक, सैंधानमक इन औषधियोंसे कवल ग्रहण करावे ॥ १५० ॥

कफाभिष्यंद में पुटपाक.

पुटप्रपाकैरतितीक्ष्णरूक्षजैः । कषायसक्षारगणैर्गवांबुभिः ॥
निशाद्वयत्र्यूषणकुष्टसर्षप । प्रपिष्टकल्कैर्लुलितैः सुगालितैः ॥ १५१ ॥

भावार्थः—अतितीक्ष्ण व रूक्ष औषधियोंको कषाय व क्षार द्रव्यों के साथ मिलाकर गोमूत्रके साथ पीसें, एवं दोनों हलदी, त्र्यूषण, कूठ, सरसों इनका कल्क बनाकर उसमें मिलावें फिर गालनकर पुटपाक सिद्ध होनेपर कफाभिष्यंदमें प्रयोग करें १५१ ॥

मातुलुंगाद्यंजन.

समातुलुंगाम्लकसैंधवान्वितं । निशाभयानागरपिप्पलीत्रयम् ॥
विघट्टयेदुज्वलताम्रभाजने । हरीतकीतैलसुधूपितं मुहुः ॥१५२॥

भावार्थः—बिजोरा निंबू, बहेडा, सेंधानमक, हलदी हरड, सोंठ, पीपल, वन पीपल गजपीपल, इन को साफ, ताम्र के बर्तन में डालकर खूब रगडना चाहिये। और उसे, हरड व तिलके तैल से बार २ धूप देना चाहिये। यह अंजन श्लेष्माभिष्यंद रोग को हितकारी है ॥ १५२ ॥

सुरुंग्यांजन.

तथा सुरुंगी सुरसार्द्रकद्रवै- । र्मणिच्छिला मागधिका महौषधम् ॥
विमर्दयेत्तद्वदिहप्रधूपितं । सदांजनं श्लेष्मकृताक्षिरोगिणां ॥ १५३ ॥

भावार्थः—काला सेंजन, तुलसी. व आद्रक के रस से मैनशिल, पीपल, सोंठ, इन को ताम्रके बर्तन में, खूब मर्दन करें। और हरड, और तैल से धूप देवें। इस अंजन को, कफोत्पन्न नेत्ररोगियों को प्रयुक्त करना चाहिये ॥ १५३ ॥

कफज सर्वनेत्ररोगोंके चिकित्सा संग्रह.

कफोद्भवानक्षिगताखिलामया- । नुपाचरेदुक्तसमस्तभेषजैः ।
विशेषतः कोमलशिग्रुपल्लव- । प्रधानजातीपुटपाकसद्रसैः ॥१५४॥

भावार्थः—उक्त प्रकारके समस्त औषधियोंसे कफ विकारसे उत्पन्न नेत्र रोगोंकी चिकित्सा करनी चाहिये। विशेषतया सेंजनका कोमल पत्ते जाई (चमेली) के पत्ते को पुटपाक करके भी इसमें उपचार करना चाहिये॥ १५४ ॥

कफाभिष्यंद में पथ्य भोजन.

कफातियुक्तेतिकटुप्रयोगै- । र्विशुष्कशाकैरहिमैर्विरूक्षितैः ॥
त्र्यहात्त्र्यहात् प्रातरुपोषितं नरं । घृतान्नमल्पं लघुभोजयेत्सकृत् ॥१५५

भावार्थः—कफ अत्याधिक युक्त नेत्र रोगी मनुष्य को अति कटु औषधियोंके प्रयोगके साथ २ तीन २ दिनतक उपवास कराकर, सूखे व रूक्ष गरम शाकोंके साथ घीसे युक्त लघु व अल्प अन्न को प्रातःकाल एक बार भोजन करावें ॥ १५५ ॥

कफाभिष्यंद में पेय.

पिबेदसौ कुष्ठहरीतकीघनैः । शृतोष्णमल्पं जलमक्षिरोगवान् ।
कटूष्णसंश्लेषजसिद्धमेव वा । हितं मनोहारिणमाढकीरसम् ॥ १५६ ॥

भावार्थः—यह नेत्र रोगवाला कूठ, हरड, नागरमोथा, इनसे पकाये हुए थोडा गरम, पानीको पीवें अथवा कटु, उष्ण औषधियोंसे सिद्ध अडहरके रस (जल) को पीवें, यह हितकर है ॥ १५६ ॥

अभिष्यंदकी उपेक्षासे अधिमंथकी उत्पत्ति.

उपेक्षणादक्षिगतामया इमे । प्रतीतसत्स्यंदविशेषनामकाः ।
स्वदोषभेदैर्जनयंति दुर्जयान् । परानधीमन्थसंभिधानकान् ॥ १५७ ॥

भावार्थः—यदि इन अभिष्यंद नामक प्रसिद्ध नेत्ररोगोंकी उपेक्षा की जाय, अर्थात् सत्कालमें योग्य चिकित्सा न करे तो वे अपने २ दोषभेदोंके अनुसार दुर्जय ऐसे अधिमंथ नामक दूसरे रोगोंको पैदा करते हैं। जैसे कि कफाभिष्यंद हो तो कफाधिमंथको, पित्ताभिष्यंद पित्ताधिमंथको उत्पन्न करता है इत्यादि जानना चाहिये ॥ १५७ ॥

अधिमंथका सामान्य लक्षण.

भृशं समुत्पाट्य त एव लोचनं । मुहुर्मुहुर्मथ्यत एव सांप्रतम् ॥
शिरोऽर्धमप्युग्रतरातिवेदनम् । भवेदधीमन्थविशेषलक्षणम् ॥१५८॥

भावार्थः—जिसमें एकदम आंख उखडती जैसी मालुम होती हो और उनको कोई मथन करते हों इस प्रकारकी वेदना जिसमें होती हो एवं अर्धमस्तक अत्यधिक रूपसे दुखता हो उसे अधिमन्थ रोग समझें अर्थात् यह अधिमंथ रोगका लक्षण है ॥१५८॥

अधिमंथोंमें दृष्टिनाश की अवधि.

कफात्मको वातिकरक्तजौ क्रमात् । ससप्तषट्पंचभिरेव वा त्रिभिः ॥
क्रियाविहीनाः क्षपयंति ते दृशं । प्रतापवान् पैत्तिक एव तत्क्षणात् १५९

भावार्थः—कफज, वातज व रक्तज अधीमन्थ की यदि चिकित्सा न करें तो क्रमसे सात छह व पांच दिनके अंदर आखोंको नष्ट करता है। अर्थात् कफज अधिमंथ सात दिनमें, वातिक अधिमंथ छह दिनमें, रक्तज अधिमंथ पांच या तीन दिनमें दृष्टिको नष्ट करता है। पैत्तिक अधिमंथ तो उसी समय आंखोंको नष्ट करता है ॥ १५९ ॥

अधिमंथचिकित्सा.

अतस्तु दृष्टिक्षयकारणामयान् । सतो ह्यधिमन्थगुणान्विचार्य तान् ॥
चिकित्सितुं शीघ्रमिह प्रसाधये- । द्भयंकरान् स्यंदविशेषभेषजैः ॥१६०॥

---

१ इस अधिमंथ के अभिष्यंदके समान वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, इस प्रकार चार भेद हैं।

भावार्थः—इसलिये आंखोंके नाश के लिए कारणीभूत इन भयंकर अधिमंथ रोगोंके गुणोंको अच्छीतरह विचारकर उनके योग्य औषधियोंसे एवं अभिष्यंद रोगोक्त औषधियोंसे बहुत विचार पूर्वक चिकित्सा करें ॥ १६० ॥

हताधिमंथ लक्षण.

भवेदधीमन्थ उपेक्षितोऽनिल- । प्रसूतरोगोऽक्षिनिपातयत्यलं ॥
असाध्य एषोऽधिक वेदनाकुलो । हताधिमन्थो भुवि विश्रुतो गदः॥१६१॥

भावार्थः—वातज अधिमन्थ की उपेक्षा करनेपर एक रोगकी उत्पत्ति होती है, जो आंखों को गिराता है एवं जिसमें अत्यंत वेदना होती है उसे हताधिमंथ रोग कहते हैं। वह असाध्य होता है ॥ १६१ ॥

शोफयुक्त, शोफरहित नेत्रपाक लक्षण.

प्रदेहकण्डूस्रवदाहसंयुतः । प्रपक्वबिंबीफलसन्निभो महान् ॥
सशोफकः स्यादखिलाक्षिपाकइ- । त्यथापरः शोफविहीनलक्षणः॥१६२॥

भावार्थः—मलसे लिप्तसा होना, खाज, स्राव व दाहसे युक्त होकर बिंबीफलके समान जो लाल सूज गया हो उसे शोफसहित अक्षिपाक कहते हैं । इसके अलावा शोफरहित अक्षिपाक भी रोग होता है ॥ १६२ ॥

वातपर्यय लक्षण.

यदानिलः पक्ष्मयुगे भ्रमत्यलं । भ्रुवं सनेत्रं त्वधिकं श्रितस्तदा ।
करोति पर्यायत एव वेदनां । स पर्ययस्स्यादिह वातकोपतः ॥ १६३ ॥

भावार्थः—जब वायु भृकुटी व नेत्र को विशेषतया प्राप्त कर दोनों पलको में घूमता है अर्थात् (भृकुटी, नेत्रकी अपेक्षा) कुछ कम अंशमें पलको में आश्रित होता है तब (कभी नेत्र, कभी दोनों पलके, कभी भृकुटी प्रदेशमें घूमता है तो) पर्याय रूप से अर्थात् कभी नेत्र में कभी भृकुटी में कभी पलकोमें वेदना उत्पन्न करता है। वह उद्रिक्त वातसे उत्पन्न होता है। इसे वातपर्यय रोग कहते हैं ॥ १६३ ॥

शुष्काक्षिपाक लक्षण.

यदाक्षि संकुंचितवर्त्मदारुणं । निरीक्षितुं रूक्षतराविलात्मकं ।
न चैव शक्नोत्यनिलप्रकोपजो । विशुष्कपाकं गदितं तदादिशेत् ॥ १६४ ॥

भावार्थः—वातके प्रकोप से आखें संकुचित होजाय अर्थात् खुले नहीं और रूक्ष हो जिसकी वर्त्म, (बापणी) कठिन हो, देखनेमें मैला दीखें (साफ न दीखें), आखोंसे देख नहीं सकें (उघाडनेमें अत्यंत कष्ट होता हो) उसे शुष्काक्षिपाक कहना चाहिये ॥ १६४ ॥

अन्यतो वात लक्षण.

विलोचनस्थो भ्रुवि संश्रितोऽनिलः । शिरोवहां कर्णहनुप्रभेदिनीं ।
करोति मन्यास्वपि तीव्रवेदनां । तमन्यतो वातमुशन्ति संततम् ॥ १६५ ॥

भावार्थः— आंख में रहनेवाला, भ्रूमें संचित वात शिर में बहनेवाली नाडी, कान, हनु (ठोडी) और मन्यानाडी में ऐसी तीव्र पीडा उत्पन्न करता है जो भिदती माळूम होती है । इसे अन्यतो[1] वातरोग कहते हैं ॥१६५॥

आम्लाध्युषित लक्षण.

विदाहिनाम्लेन निषेवितेन त- । द्विपच्यते लोचनमेव सर्वतः ॥
सलोहितं शोफयुतं विदाहव- । द्भवेत्तदाम्लाध्युषितस्तु रक्ततः ॥१६६॥

भावार्थः—विदाही आम्ल पदार्थके सेवन करनेसे संपूर्ण आंख पक जाती है । और लाल, शोफयुक्त व दाहयुक्त होती है । वह रोग रक्तके प्रकोप से उत्पन्न होता है । उसे अम्लाध्युषित रोग कहते हैं ॥ १६६ ॥

शिरोत्पात लक्षण.

यदाक्षिराज्यो हि भवंति लोहिताः । सवेदना वाप्यथवा विवेदनाः ॥
मुहुर्विसृज्यन्त्यसृजः प्रकोपतो । भवेच्छिरोत्पात इतीरितो गदः ॥१६७॥

भावार्थः—जिसमें आंखोंकी नसें पीडायुक्त अथवा पीडारहित होती हुई, लाल हो जाती हैं और बार २ ललाईको छोड देती हैं अथवा विशेष लाल हो जाती हैं इस व्याधिको शिरोत्पाद कहते हैं । यह रक्त प्रकोप से उत्पन्न होता है ॥१६७॥

शिराप्रहर्ष लक्षण.

यदा शिरोत्पात उपेक्षितो नृणां । शिराप्रहर्षो भवतीह नामतः ॥
ततः स्रवत्यच्छमजस्रमास्रवो । नरो न शक्नोत्यभिलक्षितुं क्षणम् ॥१६८

---

१ अन्यग्रन्थकारोंका तो ऐसा मत है कि मन्या, हनु, कर्ण आदि स्थानोंमें रहनेवाला वात आंख व भ्रुकुटीमें पीडा उत्पन्न करता है उसे अन्यतो वात कहते हैं । वह वात अन्यस्थानोंमें रहकर अन्यस्थानमें पीडा उत्पन्न करता है । इसलिये इसका नाम सार्थक है ।

भावार्थः—यदि शिरोत्पात रोगकी उपेक्षा करे तो शिराप्रहर्ष नामक रोग होता है । जिसमें सदा आखोंसे स्वच्छ स्राव होता ही रहता है । वह मनुष्य एक क्षण भी देखने के लिये समर्थ नहीं होता है ॥ १६८ ॥

नेत्ररोगोंका उपसंहार.

इति प्रयत्नाद्दशसप्तसंख्यया । प्रतीतरोगाञ्चनाखिलाश्रयान् ॥
विचार्य तत्साधनसाध्यभेदवि- । द्विशेषतस्स्यंदचिकित्सितैर्जयेत् ॥१६९॥

भावार्थः—इस प्रकार संपूर्ण नेत्र में होनेवाले सत्रह प्रकार के नेत्र रोगोंको, साध्यसाधन भेद को जानने वाला मतिमान् वैद्य, विशेष रीतिसे विचार करके, उन को अभिष्यंदोक्त चिकित्सा पद्धति से जीतें ॥ १६९ ॥

संध्यादिगत नेत्ररोग वर्णन प्रतिज्ञा.

अतोत्र नेत्रामयमाश्रितामया- । नसाध्यसाध्यक्रमतश्चिकित्सितैः ॥
ब्रवीमि तल्लक्षणतः पृथक् पृथक् । विचार्य संध्यादिगतान्स्वसंख्यया १७०

भावार्थः—यहां से आगे, नेत्ररोगोंके आश्रित्त रहनेवाले, संधि आदि स्थानों में होनेवाले, संधिगत, वर्त्मगत आदि रोगों के साध्यासाध्य विचार, उन की चिकित्सा, अलग २ लक्षण और संख्या के साथ २ वर्णन करेंगे ॥ १७० ॥

संधिगतनवविध रोग व पर्वणी लक्षण ।

नवैव नेत्राखिलसंधिजामया । यथाक्रमात्तान् सचिकित्सितान् ब्रुवे ॥
चलातिमृद्वी निरुजातिलोहिता । मतात्र संधौ पिटका तु पर्वणी ॥१७१॥

भावार्थः—नेत्र की सर्व संधियो में, होनेवाले रोग नौ प्रकारके ही होते हैं । उन को उन के चिकित्साक्रम के साथ २ क्रम से वर्णन करेंगे । कृष्ण व शुक्ल की संधि में चल, अत्यंत मृदु, पीडासे रहित, अल्पविवलाल, ऐसी जो पिडिका होती है उसे आचार्योंने पर्वणी नामसे कहा है ॥ १७१ ॥

अलजी लक्षण,

कफादतिस्रावयुतोऽतिवेदनः । सकृष्णवर्णः कठिनश्च संधिजः ॥
भवेदतिग्रंथिरिहालजी गदः । स एव शोफः परिपाकमागतः ॥१७२॥

---

१ पूयालस, कफोपनाह, चार प्रकार के स्राव (कफजस्राव, पित्तजस्राव, रक्तजस्राव, पूयास्राव अर्थात् सन्निपातजस्राव,) पर्वणी, अलजी और क्रिमिग्रंथि इस प्रकार संधिगत रोगों के भेद नौ हैं

पूयालस, कफोपनाह लक्षण.

सतोदभेदो बहुपूयसंस्रवी । भवेत्स पूयालस इत्यथापरः ॥
स्वदृष्टिसंधौ न विपक्ववान् महा- । नुदीरितो ग्रंथिरिहाल्पवेदनः ॥१७३

कफजस्राव लक्षण.

कफोपनाहो भवतीह संज्ञया । स एव पक्को बहुपूयसंस्रवात् ॥
सपूयसंस्रावविशेषनामकः । सितं विशुष्कं बहुलातिपिच्छिलम् ॥१७४॥

पित्तजस्राव व रक्तजस्रावलक्षण.

स्रवेत्सदा स्रावगतो बलासजो । निशाद्रवाभं स्रवतीह पित्तजः ।
सशोणितः शोणितसंभवो यतश्चतुर्विधाः स्रावगदा उदीरिताः ॥ १७५ ॥

कृमिग्रंथि लक्षण.

स्ववर्त्मजाताः क्रिमयोऽथ शुक्लजाः । प्रकुर्वते ग्रंथिमतीव कण्डुरम् ॥
स्वसंधिदेशे निजनामलक्षणैः । समस्तसंधिप्रभवाः प्रकीर्तिताः॥१७६॥

भावार्थः—कफके विकारसे अत्याधिक स्रावसे युक्त, अत्यंत वेदना सहित, कृष्ण-वर्णवाला कठिन संधिज ग्रंथिशोफ अलजी के नामसे कहाजाता है। वही (अलजी) शोफ जब पकजाता है तोदन, भेदन पीडासे संयुक्त होता है तो उसमेंसे अधिक पूयका स्राव होने लगता है इसे पूयालस कहते हैं। दृष्टिकी संधिमें पाकसे रहित अल्प वेदना युक्त, जो महान् ग्रंथि [गांठ] उत्पन्न होता है उसे कफोपनाह कहते हैं। वही (कफोपनाह) पककर, उससे जब बहुत प्रकारके पूय निकलने लगते हैं तो उसे पूयसंस्राव [पूयस्राव व सान्निपातजस्राव] कहते हैं। यदि उससे, सफेद शुष्क, गाढा व चिकना पूय, सदा स्राव होवें तो उसे कफजस्राव समझना चाहिये। यदि हलदीके पानीके सदृश, पीला स्राव होवें तो उसे पित्तजस्राव, रक्तवर्णका स्राव होवें तो रक्तजस्राव समझें। इस प्रकार चतुर्विध स्रावरोग आगममें कहा है। वर्त्मभाग शुक्ल भाग में उत्पन्न कृमियां, वर्त्म और शुक्ल की संधि में अत्यधिक खुजलीसे युक्त ग्रंथि (गांठ) को उत्पन्न करते हैं इस को कृमिग्रंथि कहते हैं। इस प्रकार अपने २ नाम लक्षणों के साथ, संपूर्ण संधि में उत्पन्न होनेवाले संधिगत रोगोंका वर्णन हो चुका है ॥१७२॥ १७३॥१७४॥ १७५ ॥ १७६ ॥

वर्त्मगतरोगवर्णनप्रतिज्ञा.

अतःपरं वर्त्मगतामयान्ब्रुवे । स्वदोषभेदाकृतिनामसंख्यया ॥
विशेषतस्तैः सह साध्यसाधन- । प्रधानसिद्धांतसमुद्धृतौषधैः ॥

भावार्थः—यहां से आगे वर्त्मगत (आखों के) रोगोंको उन का दोष भेद, लक्षण, नाम, संख्या, साध्य को साधन करनेका प्रधान सिद्धांत (चिकित्साक्रम) और श्रेष्ठ औषधियोंके साथ २ विशेषरीति से वर्णन करेंगे ॥ १७७ ॥

उत्संगिनी लक्षण.

त्रिदोषजेयं पिटकांतराननता । बहिर्गतेका वरसंस्थिता घना ॥
स्ववर्त्मजोत्संगिनिकात्मनामतो । भवेद्विकारो बहुवेदनाकुलः ॥१७८॥

भावार्थः—नीचे के कोय में बाहर उभरी हुई, घन, अत्यंत वेदना से आकुलित, त्रिदोषोत्पन्न पिडिका होती है जिस का मुख भीतर को (आंख की तरफ) हो इस वर्त्म में उत्पन्न विकार का नाम उत्संगिनी है ॥ १७८ ॥

कुंभीकलक्षण.

स्ववर्त्मजा स्यात्पिटका विवेदना । स्वयं च कुंभीकफलास्थिसन्निभा ॥
मुहुस्सदाध्माति पुनश्च भिद्यते । कफात्स कुंभीक इतीरितो गदः ॥१७९॥

भावार्थः—अपने वर्त्म (कोये, पलकोंके बीच) में वेदनारहित कुंभीके बीजके आकारवाला पिटका [फुन्सी] उत्पन्न होता है। जो एक दफे सूजता है, दूसरी दफे फूटकर उससे पूय निकलता है, पुनः सूजता है। वह कफ विकारसे उत्पन्न कुंभीक नामक रोग है ॥ १७९ ॥

पोथकी लक्षण.

सकण्डुरस्रावगुरुत्ववेदना भवंति बह्व्यः पिटकाः स्ववर्त्मजाः ॥
सुरक्तवर्णास्समसर्षपोपमा- । स्सदैव पोथक्य इति प्रकीर्तिताः ॥१८०॥

भावार्थः—आंखों के वर्त्म [कोये] में खाज सहित, स्राव, वेदना व गुरुत्वसे युक्त बहुतसी पिडिकायें उत्पन्न होती हैं व लालवर्णसे युक्त सरसोंके समान रहती हैं उन्हे सदैव पोथकी पिटका कहते हैं ॥ १८० ॥

वर्त्मशर्करा लक्षण.

खरा महास्थूलतरा प्रदूषणा । स्ववर्त्मके पिटकावृतापरैः ॥
ससूक्ष्मकण्डूपिटकागणैर्भवेत् । कफानिलाभ्यामिह वर्त्मशर्करा ॥१८१॥

१ अनार के आकारवाला फल विशेष। कोई कुम्हेर कहते हैं।

भावार्थः—कठिन, बडी, कोयेको दूषण करनेवाले खुजलीयुक्त अन्य छोटी २ फुन्सीयोंके समूहसे व्याप्त, जो पिडका (फुन्सी) कोये में होता है उसे वर्त्म शर्करा कहते हैं । यह कफवातके प्रकोपसे उत्पन्न होता है ॥ १८१ ॥

अर्शवर्त्मका लक्षण.

तथा च उर्वारुकबीजसन्निभाः । खरांकुराः श्लक्ष्णतराः विवेदनाः ॥
भवंति वर्त्मन्यवलोकनक्षयाः । सदा तदर्शोऽधिकवर्त्मदेहिनाम् ॥ १८२ ॥

भावार्थः—मनुष्यके कोयेमें ककडीके बीजके समान आकारवाली कठिन. चिकनी, वेदनारहित और आंखको नाश करनेवाली जो फुंसियां होती हैं, उसे, अर्शवर्त्म कहते हैं ॥ १८२ ॥

शुष्कार्श व अंजननासिकालक्षण.

खरांकुरो दीर्घतरोऽतिदारुणो । विशुष्कदुर्नामगदः स्ववर्त्मनि ॥
सदाहताम्रा पिटकातिकोमला । विवेदना सांजननामिका भवेत् ॥१८३॥

भावार्थः—कोयेमें खरदरा, दीर्घ [लम्बा] अति भयंकर अंकुर उत्पन्न होता है उसे शुष्कार्श रोग कहते हैं । कोयेमें दाह युक्त, ताम्रवर्णवाली अत्यंत कोमल, वेदना रहित जो फुन्सी होती है उसे अंजननामिका कहते हैं ॥ १८३ ॥

बहलवर्त्म लक्षण.

कफोल्वणाभिः पिटकाभिरंचितं । सवर्णयुक्ताभि समाभि संततः ॥
समंततः स्यात् बहलाख्यवर्त्मता । स्वयं गुरुत्वान्न ददाति वीक्षितुम् ॥

भावार्थः—कोया, चारों तरफसे कफोद्रेकसे उत्पन्न, समान व सवर्ण फुन्सीयोंसे युक्त होता है तो इसे, बहलवर्त्म रोग कहते हैं । यह स्वयं गुरु रहनेसे आंखोंको देखने नहीं देता ॥ १८४ ॥

वर्त्मबंध लक्षण.

सशोफकण्ड्युततुच्छवेदना । समेतवर्त्माक्षिनिरीक्षणावहात् ॥
युतस्तदा वर्त्मगतावबन्धको । नरो न सम्यक्सकलान्निरीक्षते ॥ १८५ ॥

भावार्थः—कोया, खुजली व अल्पवेदनावाली सूजन से युक्त होनेके कारण आंखें देखनेमें असमर्थ होती हैं । इस रोगसे पीडित मनुष्य सम्पूर्ण रूपोंको अच्छी तरहसे नहीं देख पाता है । इसे वर्त्मावबंध अथवा वर्त्मबंध कहते हैं ॥ १८५ ॥

१ समाभिरत्यंतसवर्णसंश्रयात् इति पाठांतरं.

क्लिष्टवर्त्म लक्षण.

समं सवर्णं मृदुवेदनान्वितं । सताम्रवर्णाधिकमेव वा सदा ॥
सवेदकस्माद्रुधिरं स्रवत्यतो । भवेदिदं क्लिष्टविशिष्टवर्त्मकम् ॥१८६॥

भावार्थः—कोया, समान हो अर्थात् शोथ रहित हो, स्वाभाविक वर्णसे युक्त हो अथवा हमेशा ताम्रवर्ण [कुछ लाल] ही अधिकता से हो और अकस्मात् कोयेसे रक्तका स्राव हो तो, इसे क्लिष्टवर्त्म रोग कहते हैं ॥ १८६ ॥

कृष्णकर्दम लक्षण.

उपेक्षणात्क्लिष्टमिहात्मशोणितं । दहेत्ततः क्लेदमथापि कृष्णताम् ॥
व्रजेत्ततः प्राहुरिहाक्षिभिन्नकाः । स्ववेदकाः कृष्णयुतं च कर्दमम् ॥१८७

भावार्थः—उपर्युक्त क्लिष्टवर्त्म रोगकी उपेक्षा करनेसे, वह वर्त्मगत रक्त को जलावें तो उस में क्लेद [कीचडसा] उत्पन्न होता है, और वह काला हो जाता है। इसलिये अक्षिरोगों को जाननेवाले आत्मज्ञानी ऋषिगण,[1] इसे कृष्णकर्दम रोग कहते हैं ॥ १८७ ॥

श्यामलवर्त्म लक्षण.

सबाह्यमंतश्च यदाशु वर्त्मनः । प्रसूनकं श्यामलवर्णकान्वितम् ॥
वदंति तच्छ्यामलवर्त्मनामकम् । विशेषतः शोणितपित्तसंभवम् ॥१८८॥

भावार्थः—जिसमें कोयेके बाहर व अंदरके भाग शीघ्र ही सूजता है और काला पड़जाता है तो, उसे श्यामलवर्त्म रोग कहते हैं। यह विशेष कर रक्तपित्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है ॥ १८८ ॥

क्लिन्नवर्त्म लक्षण.

यदा रुजं शूनमिहाक्षिबाह्यतः । सदैवमंतः परिपिच्छिलद्रवम् ॥
स्रवेदिह क्लिन्नविशिष्टवर्त्मकम् । कफास्रगुत्थं प्रवदंति तद्विदः ॥ १८९

भावार्थः—जब आंख [कोये] के बाहर पीडा रहित सूजन हो और हमेशा अन्दर से पिच्छिल [चिकना] पानी का स्राव हो, तब उसे अक्षिरोग को जाननेवाले, क्लिन्नवर्त्म रोग कहते हैं। यह कफ, रक्त से उत्पन्न होता है ॥ १८९ ॥

---

१ इस को अन्य ग्रंथमें वर्त्मकर्दम नामसे कहते हैं।

अपरिक्लिन्नवर्त्मलक्षण.

मुहुर्मुहुर्धौतमपीह वर्त्म यत् । प्रदिह्यते तत्सहसैव सांप्रतम् ॥
अपाकवत्स्यादपरिप्रयोजितं । कफोद्भवं क्लिन्नकवर्त्मनामकम् ॥१९०॥

भावार्थः—कोये को बार २ धोनेपर भी शीघ्र ही चिपक जावें और पके नहीं इसे अपरिक्लिन्नवर्त्म (अक्लिन्नवर्त्म) कहते हैं। यह कफ से उत्पन्न होता है ॥१९०॥

वातहतवर्त्म लक्षण.

विमुक्तसंधिप्रविनष्टचेष्टितं । निमील्यते यस्य च वर्त्म निर्भरम् ॥
भवेदिदं वातहताख्यवर्त्मकं । वदंति संतः सुविचार्य वातजम् ॥ १९१ ॥

भावार्थः—जिस में कोये की संधि खुलजावें (पृथक् हो जावें) पलक चेष्टा रहित हो, अर्थात् खुलने मिचने वाली क्रिया न हो, पलक एकदम बंद रहे, तो इसे सत्पुरुष अच्छीतरह विचार करके वातहतवर्त्म कहते हैं। यह वातसे उत्पन्न होता है ॥ १९१ ॥

अर्बुद लक्षण.

सुरक्तकल्पं विषमं विलंबितं । सवर्त्मतोऽतस्थमवेदनं घनम् ॥
भवेदिदं ग्रंथिनिभं तदर्बुदं । ब्रुवंति दोषागमवेदिनो बुधाः ॥ १९२ ॥

भावार्थः—कोये के भीतर, लाल, विषम (कष्टकारी) अवलम्बित, वेदना रहित, कडा, ग्रंथि (गांठ) के सदृश जो शोथ होता है, उसे दोषशास्त्र को जानने वाले विद्वान्, अर्बुद (वर्त्मार्बुद) कहते हैं ॥ १९२ ॥

निमेषलक्षण

सिरां स्वसंधिप्रभवां समाश्रितः । स चालयत्याश्वनिलश्च वर्त्मनि ॥
निमेषनामामयमामनंति तं । प्रभंजनोत्थं स्फुरसन्मुहुर्मुहुः ॥ १९३ ॥

भावार्थः—कोये की संधि में रहने वाली निमेषिणी (पलकों को उघाड ने मूंदने वाली) सिरा, नस में आश्रित वायु, शीघ्र ही कोयों को चलायमान करता है, इस से वह वार २ स्फुरण होता है। इसलिये इस वातजरोग को निमेष कहते हैं ॥ १९३ ॥

रक्तार्शलक्षण

स्ववर्त्म संश्रित्य विवर्धते मृदु- । रसलोहितो दीर्घतरांकुरोऽतिरुक् ॥
स लोहितार्शो भवतीह नामतः । प्ररोहति छिन्नमपीह तत्पुनः ॥१९४॥

भावार्थः—आंख के कोये को आश्रित कर जो मृदु, लाल, अत्यंत पीडा कर ने वाला, लम्बा अंकुर (उत्पन्न होकर) बढता है। जिसको छेदन करने पर भी फिर उगता रहता है, इसे रक्तार्श कहते हैं ॥ १९४ ॥

लगणलक्षण

अवेदनो ग्रंथिरपाकवान्पुनः । स वर्त्मनि स्थूलतरः कफात्मकः ॥
स्वलिंगभेदो लगणोऽथ नामतः । प्रकीर्तितो दोषविशेषवेदिभिः ॥१९५॥

भावार्थः—कोये में वेदना व पाक से रहित स्थूल, कफ से उत्पन्न, कफज लक्षणों से संयुक्त जो ग्रंथि (गांठ) उत्पन्न होता है उसे वातादि दोषों को विशेष रीति से जानने वाले लगण रोग कहते हैं ॥ १९५ ॥

बिसवर्त्मलक्षण

सुसूक्ष्मगंभीरगतांकुरो जले । यथा बिसं तद्वदिहापि वर्त्मनि ॥
स्रवत्यजस्रं बिसवज्जलं मुहुः । स नामतस्त्विह बिसवर्त्म निर्दिशेत् ॥१९६॥

भावार्थः—कमल नाली जो जलमें नीचे तक गहरी चली जाती है और सदा जलमें रहने से उस से जलस्राव होता रहता है, उसी प्रकार कोये में, अतिसूक्ष्म व गहरा गया हुआ अंकुर हो, जिसमे हमेशा पानी बहता रहता हो, इसे बिसवर्त्मरोग कहना चाहिये ॥ १९६ ॥

पक्ष्मकोपलक्षण

यदैव पक्ष्माण्यतिवातकोपतः । प्रचालितान्यक्षि विशंति संततम् ॥
ततस्तु संरंभविकारसंभवः । स पक्ष्मकोपो भवतीह दारुणः ॥ १९७ ॥

भावार्थः—वात के प्रकोप से, जब कोये के बाल चलायमान होते है और आंख के अन्दर प्रवेश करते हैं (वे नेत्रों को रगडते हैं) तब इस से आंख के शुक्ल कृष्ण भाग में शोथ उत्पन्न होता है। इसे पक्ष्मकोप कहते हैं। यह एक भयंकर व्याधि है ॥ १९७ ॥

वर्त्मरोगोंके उपसंहार

इतीह वर्त्माश्रयरोगसंकथा । स्वदोषभेदाकृतिनामलक्षणैः ॥
अथैकविंशत्युदितात्मसंख्यया । प्रकीर्तिताः शुक्लगतामयान्ब्रुवे ॥१९८॥

१ यह रक्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है इसलिये रक्तार्श कहा है ॥

भावार्थः—इस इसप्रकार आंखों के कोयों में रहने वाले इक्कीस प्रकार के रोगों को उनके दोषभेद, आकृति, नाम व लक्षण संख्या के साथ वर्णन कर चुके हैं। अब शुक्लमण्डलगत रोगों को कहेंगे ॥ १९८ ॥

विस्तार्यर्म व शुक्लार्म के लक्षण

अथार्म विस्तारि सनीललोहितं । स्वशुक्लभागे तनुविस्तृतं भवेत् ॥
तथैव शुक्लार्म चिराच्च वर्धते । सितं मृदु श्वेतगतं तथापरं ॥ १९९ ॥

भावार्थः—आंख के शुक्ल [सफेद] भाग में, थोडा नील वा रक्तवर्णयुक्त पतला और विस्तृत [फैला हुआ] ऐसा जो मांसका चय [इकठा] होवें इसे विस्तारि अर्म रोग कहते हैं। इसी प्रकार शुक्ल भाग में जो मृदु, सफेद, और धीरे २ बढने वाला जो मांसचय होता है इसे शुक्लार्म कहते हैं ॥ १९९ ॥

लोहितार्म व अधिमांसार्मलक्षण

यदा तु मांसं प्रचयं प्रयात्यलं । स्वलोहितांबुजपत्रसन्निभम् ॥
यकृत्प्रकाशं बहलातिविस्तृतं । सिताश्रयोऽसावधिमांसनामकम् ॥२००॥

भावार्थः—जब (शुक्ल भाग में) रक्त कमल दलके समान, लाल, मांस संचित होता है इसे लोहितार्म कहते हैं। जो जिगर के सदृशवर्णयुक्त, मोटा, अधिक फैला हुआ, मांस संचित होता है इसे अधिमांसार्म कहते हैं ॥ २०० ॥

स्नायुअर्म व कृश शुक्तिके लक्षण.

स्थिरं बहुस्नायुकृतार्म विस्तृतं । सिरावृतं स्यात्पिशितं सिताश्रयं ॥
सलोहिता श्लक्ष्णतराश्च बिंदवो । भवंति शुक्के कृशशुक्तिनामकम् ॥२०१॥

भावार्थः—शुक्ल भाग में मजबूत फैला हुआ शिराओं से व्याप्त जो मांस की वृद्धि होती है इसे स्नायुअर्म कहते हैं। लाल व चिकने बहुत से बिंदु शुक्लभाग में होते हैं, इसे कृशशुक्ति [शुक्ति] नामक रोग कहते हैं ॥ २०१ ॥

अर्जुन व पिष्टकलक्षण.

एकः शशस्य क्षतजोपमाकृति- । र्व्यवस्थितो बिंदुरिहार्जुनामयः ॥
सितोन्नतः पिष्टनिभः सिताश्रयः । सुपिष्टकाख्यो विदितो विवेदनः॥२०२॥

भावार्थः—शुक्ल में खरगोश के रक्त के समान लाल, जो एक बिंदु [बूंद]

---

१ यथार्श एव इति पाठांतरं।

होता है इसे अर्जुन रोग कहते हैं। और उसी में सफेद उठा हुआ वेदना रहित पिष्टी के समान, बिंदु होता है उसे पिष्टक रोग कहा है ॥ २०२ ॥

शिराजाल व शिराजपिडिका लक्षण.

महत्सरक्तं कठिनं सिरातत । शिराद्जालं भवतीह शुक्लम् ॥
शिरावृता या पिटका शिराश्रिता । सिता सिरोत्थान् समरान् सिरोद्भवान् २०३

भावार्थः—शुक्ल मण्डल में महान् अत्यंत लाल, कठिन जालसा फैला हुआ शिरासमूह जो होते है उसे शिराजाल रोग कहते हैं। उस शुक्लमण्डल मे कृष्ण मण्डलके समीप रहने वाली शिराओंसे आच्छादित जो सफेद फुन्सी होती है उस को शिराजपिटका कहते हैं ॥ २०३ ॥

मृदुस्वकोशप्रतिमोरुबिंबिका– फलोपमो वा निजशुक्लभागजः ॥
भवेद्वलासग्रथितो दृशीकजः । अतः परं कृष्णगतामयान् ब्रुवे ॥२०४॥

भावार्थः—शुक्ल मण्डल में मृदु फूल की कली के समान अथवा बिंबीफल [कुंदरु] के समान, ऊंची गांठसा होवे उसे बलासग्रथित कहते हैं । इस प्रकार ग्यारह प्रकार के शुक्लगत रोगों के वर्णन करचुके हैं। अब आगे कृष्णमण्डलगत रोगों के वर्णन करेंगे ॥ २०४ ॥

अथ कृष्णमण्डलगतरोगाधिकारः ।

अव्रण, व सव्रणशुक्ललक्षण.

अपव्रणं यच्च सितं समं तनु । सुसाध्यशुक्लं नयनस्य कृष्णजम् ।
तदेव मग्नं परितस्स्रवद्भवं । न साध्यमेतद्विदितं तु सव्रणम् ॥ २०५ ॥

भावार्थः—आंख के कृष्णमण्डल में जो सफेद बराबर (नीचा व ऊंचे से रहित) पतला शुक्ल फूल होता है, उसे अपव्रण शुक्ल अथवा अव्रण शुक्ल कहते हैं। यह साध्य होता है। वही [अव्रणशुक्ल] यदि नीचे को गड़ा हुआ हो चारों तरफ से द्रवस्राव होता हो इसे सव्रण शुक्ल कहते हैं। यह असाध्य होता है ॥ २०५ ॥

अक्षिपाकात्यय लक्षण.

यदत्र दोषेण सितेन सर्वतो– । ऽसितं तु संछाद्यत एव मण्डलम् ॥
तमक्षिपाकात्ययमक्षयामयं । त्रिदोषजं दोषविशेषविग्यजेत् ॥ २०६ ॥

भावार्थः—जो काली पुतली दोषोंसे उत्पन्न, सफेदी से सभी तरफसे आच्छा-

दित हो, यह अक्षिपाकात्यय नामक अक्षय (नाशरहित) व त्रिदोषोत्पन्न रोग है । इस को दोषोंके विशेष को जानने वाला वैद्य छोड देवें अर्थात् यह रोग सन्निपातज होनेसे असाध्य होता है ॥ २०६ ॥

अजक लक्षण.

वराटपृष्ठप्रतिमोऽतितोदनः । सरक्तवर्णो रुधिरोपमद्रवः ॥
स कृष्णदेशं प्रविदार्य वर्द्धते । स चाजकाख्योऽक्षिभयंकरो गदः ॥२०७॥

भावार्थः—कमल बीजके पीठ के समान आकारवाला, अत्यंत तोदन (सुई चुभने जैसी पीडा) युक्त लाल, ऐसा जो फूल कृष्णमण्डल को दारण कर के उत्पन्न होकर वृद्धिंगत होता है, जिससे रक्त के समान लाल पानी गिरता है, यह अजक या भाजक [अजकजात] नामक भयंकर नेत्र रोग जानना चाहिये ॥२०७॥

कृष्णगतरोगोंके उपसंहार.

इमे च चत्वार उदीरिता गदाः । स्वदोषलक्ष्मा निजकृष्णमण्डले ।
अतःपरं दृष्टिगतामयान् ब्रुवे- । विशेषनामाकृतिलक्षणेक्षितान् ॥२०८॥

भावार्थः—इस काली पुतली में होनेवाले, चार प्रकार के रोग जो कि दोष-भेदानुसार उत्पन्न लक्षण से संयुक्त हैं उन को वर्णन कर चुके हैं । इस के बाद दृष्टि गत रोगों को उन के नाम आकृति लक्षण आदि सम्पूर्ण विषयोंके साथ वर्णन करेंगे ॥२०८॥

दृष्टि लक्षण.

स्वकर्मणामोपशमप्रदेशजां । मसूरमात्रामतिशीतसाधनीं ॥
प्रयत्नरक्ष्यामतिशीघ्रनाशिनीम् । वदंति दृष्टिं विदिताखिलामयाः ॥२०९॥

भावार्थः—नेत्रेंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशम जिस प्रदेशमें होता है, उस प्रदेशमें उत्पन्न, मसूरके दालके समान जिसका आकार गोल है और शीतलताप्रिय वा अनुकूल होता है, जिससे रूपको देख सकते हैं ऐसे अवयव विशेष को सम्पूर्ण नेत्र रोगों को जानने वाले दृष्टि कहते हैं । वह दृष्टि शीघ्र नाशस्वभावी है । अत एव अति प्रयत्न से रक्षण करने योग्य है ॥ २०९ ॥

दृष्टिगतरोगवर्णनप्रतिज्ञा.

दृगाश्रयान् दोषकृतामयान् ब्रुवे । द्विषट्प्रकारान् पटलप्रभेदजान् ॥
यथाक्रमाकारविशेषलक्षण- । प्रधानसाध्यादिविचारसत्क्रियाम् ॥२१०॥

१ सभाजकाख्यो इति पाठांतरं । २ लक्षण ।

भावार्थः—उस दृष्टि के आश्रयभूत अर्थात् दृष्टि में होनेवाले वातादि दोषोंसे उत्पन्न पटल को भेदन करनेवाले १२ प्रकारके रोगों को नाम, लक्षण, साध्यासाध्य विचार व चिकित्साके कथनके साथ २ निरूपण करेंगे ॥ २१० ॥

प्रथमपटलगतदोषलक्षण ।

यदा तु दोषाः प्रथमे व्यवस्थिताः । भवंति दृष्ट्याः पटले तदा नरः ॥
न पश्यतीहाखिलवस्तु विस्तृतं । विशिष्टमस्पष्टतरं सुकष्टतः ॥२११॥

भावार्थः— जब आंखोंके प्रथम पटलमें दोषोंका प्रभाव होता है अर्थात् स्थित होते हैं तब मनुष्य सर्व पदार्थोंको स्पष्टतया देखता नहीं है । बहुत कष्टसे अस्पष्ट-रूपसे बड़े भी बड़े पदार्थोंको देख सकता है ॥२११॥

द्वितीयपटलगतदोषलक्षण.

नरस्य दृष्टिः परिविव्हला भवेत् । सदैव सूचीसुषिरं न पश्यति ॥
प्रयत्नतो ह्यप्यथ दोषसंचये । द्वितीयमेवं पटलं गते सति ॥ २१२ ॥

भावार्थः—दोषोंके समूह, जब (आंखके) दूसरे पटल (परदे) को प्राप्त होते हैं तो मनुष्यकी दृष्टि विव्हल होती है और वह प्रयत्न करनेपर भी [निगाह करके देखने पर भी] हमेशा सुई के छिद्रको नहीं देखसकता है अर्थात् उसे दीखता नहीं है ॥ २१२ ॥

तृतीयपटलगतदोषलक्षण.

अधो न पश्यत्यथ चोर्ध्वमीक्षते । तृतीयमेवं पटलं गतेऽखिलान् ॥
स केशपाशान्मशकान्समक्षिकान् । सजालकान् पश्यति दोषसंचये ॥२१३

भावार्थः—आंखके तृतीय पटल को, दोष समूह प्राप्त होनेपर, उस मनुष्यको नीचेके वस्तु नहीं दिखाई देते हैं । और ऊपरकी वस्तु तो दिखाई देते हैं । वह सम्पूर्ण वस्तुवोंको केशपाश, मशक (मच्छर) मक्खी एवं इसी प्रकारके अन्य जीवोंके रूपमें देखता है ॥ २१२ ॥

नक्तांध्य लक्षण.

त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो । नरस्य नक्तांध्यमिहावहत्यलम् ॥
दिवाकरेणानुगृहीतलोचनो । दिवा स पश्येत् कफतुच्छभावतः ॥२१४॥

भावार्थः—तीनों पटलों में अल्पप्रमाणमें स्थित दोष [कफ] मनुष्य को

नक्तांध [रातको अंधा] कर देता है, जिससे उसे रातको नहीं दीखता है। उसकी आंखें सूर्य से अनुगृहीत होने से व कफ की अल्पता होनेसे उसे दिन में दीखता है ॥२१४॥

चतुर्थपटलगतदोषलक्षण.

यदा चतुर्थं पटलं गतस्सदा । रुणद्धि दृष्टिं तिमिराख्यदोषः ॥
स सर्वतः स्यादिह लिंगनाश इ- । त्यथापरः षड्विधलक्षणान्वितः २१५

भावार्थः—जब तिमिरनामक दोष [रोग] चतुर्थ पटलमें प्राप्त होता हो तो वह दृष्टि को सर्वतो भावसे रोकता है इसे लिंगनाश [दृष्टि का नाश] कहते हैं। इसलिये यह [लिंगनाश] अन्य छह प्रकार के लक्षणोंसे संयुक्त होता है। अत एव इसका छह भेद है ॥ २१५ ॥

लिंगनाश का नामांतर व वातजलिंगनाशलक्षण.

स लिंगनाशो भवतीह नीलिका । विशेषकाचाख्य इति प्रकीर्तितः ॥
समस्तरूपाण्यरुणानि वातजा- द्भवंति रूक्षाण्यनिशं स पश्यति ॥२१६॥

भावार्थः—वह लिंगनाश रोग, निलिकाकाच भी कहलाता है। अर्थात् नीलिका-काच यह लिंगनाश का पर्याय है। वातज लिंगनाश में समस्त पदार्थ सदा लाल व रूक्ष दिखते हैं ॥ २१६ ॥

पित्तकफरक्तज लिंगनाश लक्षण.

शतन्हदेंद्रायुधवन्हिभास्कर- । प्रकाशखद्योतगणान्स पित्तजात् ॥
सितानि रूपाणि कफाच्च शोणिता- । दतीव रक्तानि तमांसि पश्यति २१७

भावार्थः—पित्तज लिंग नाश रोगमें रोगीको सर्व पदार्थ बिजली इंद्रायुध अग्नि, सूर्य, व खद्योत के समान दिखते हैं। कफ विकारसे सफेद ही दिखते हैं। रक्त विकारसे अत्यंत लाल व काले दिखने लगते हैं ॥ २१७ ॥

सन्निपातिकलिंगनाशलक्षण व वातज वर्ण.

विचित्ररूपाण्यति विप्लुतान्यलं । प्रपश्यतीत्थं निजसन्निपातजात् ।
स एव काचः पवनात्मकोऽरुणो । भवेत् स्थिरो दृष्टिगतारुणप्रभः॥२१८॥

भावार्थः—सन्निपातज लिंगनाशमें वह रोगी अनेक प्रकारके विचित्र [नानावर्णके] रूपोंको देखने लगता है। उसको सर्व पदार्थ विपरीत दीखते हैं।

१ इसे तिमिर भी कहते हैं। व्यवहार में मोतिया बिंदु कहते हैं।

वही, काच, [लिंगनाश] यदि वातिक हो तो उससे, दृष्टिमण्डल लाल व स्थिर होता है ॥२१८॥

पित्त कफज वर्ण.

तथैव पित्तादतिनीलमाभकं । भवेत् परिम्लायि च पिंगलात्मकं ॥
कफात्सितं स्यात् इह दृष्टिमण्डलं । विमृश्यमाने विलयं प्रयात्यलं ॥ २१९

भावार्थः—पित्तसे दृष्टि मण्डल नील, परिम्लयी [म्लानतायुक्त अर्थात् पीला व नील मिला हुआ वर्ण] अथवा पिंगल हो जाता है। कफसे सफेद होता है और दृष्टि मण्डलको मलने पर वर्ण विलय [नाश] होता है ॥२१९॥

रक्तज सन्निपातजवर्ण.

प्रवालसंकाशमथापि वासितं । भवेच्च रक्तादिह दृष्टिमण्डलं ।
विचित्रवर्णं भरितस्त्रिदोषजं । प्रकीर्तिताः षड्विधलिंगनाशकाः ॥ २२० ॥

अर्थ—रक्त विकारसे दृष्टि मंडल प्रवालके समान लाल या काला होजाता है। एवं सन्निपातसे विचित्र [नानावर्ण] वर्ण युक्त होता है। इस प्रकार छह प्रकारके लिंगनाशक रोग कहे गये हैं ॥२२०॥

विदग्धदृष्टिनासक षड्विध रोग व पित्तविदग्ध लक्षण.

स्वदृष्टिरोगानथ षड्ब्रवीम्यहं । प्रदुष्टपित्तेन कलंकितान्स्वयं ।
सुपीतलं पित्तविदग्धदृष्टिरप्यतीव पीतानखिलान्प्रपश्यति ॥२२१॥

---

१ नोटः—इस सान्निपातिक लिंगनाश लक्षण कथनके बाद परिम्लायि नामक पित्तजन्य रोग का लक्षण ग्रंथांतर में पाया जाता है। जो इसमें नहीं है। लेकिन् इसका होना अत्यंत जरूरी है। अन्यथा षड्संख्या की पूर्ति नहीं होती। इस के लक्षण को आचार्य ने अवश्य ही लिखा है। लेकिन् प्रतिलिपिकारोंके दुर्लक्ष्य से यह छूट गया है। क्यों कि स्वयं आचार्य " षड्विध लिंगनाशकाः " " परिम्लायि च " ऐसा स्पष्ट लिखते हैं। इसका लक्षण हम लिख देते हैं।

परिम्लायी लक्षणः—रक्त के तेजसे मूर्च्छित पित्तसे परिम्लायी रोग उत्पन्न होता है। इस से रोगीको सब दिशायें पीली दिखती हैं और सर्वत्र उदय को प्राप्त सूर्यके समान दिखता है। तथा वृक्ष ऐसे दिखने लगते हैं कि खद्योत (ज्योतिरिंगण) व किसी प्रकाश विशेषसे आच्छादित हों। इसे परिम्लायी रोग कहते हैं।

२ पीतनीलो वर्णः। ३ दीपशिखातुल्यवर्ण। दीपके शिखाके सदृश वर्ण।

भावार्थः—अब दृष्टिगत छह रोगोंको कहेंगे, दूषित पित्तसे वह दृष्टि कलंकित होकर एकदम पीली होती है। और वह रोगी सर्व पदार्थोंको पीले ही रंग में देखता है इसे पित्तविदग्धदृष्टि रोग कहते हैं ॥ २२१ ॥

कफविदग्धदृष्टि लक्षण.

तथैव स श्लेष्मविदग्धदृष्टिर- । ष्यतीव शुक्लान्स्वयमग्रतः स्थितान् ॥
शशांकशंखस्फटिकागलत्प्रतान् । प्रपश्यति स्थावरजंगमान् भृशं ॥२२२॥

भावार्थः—श्लेष्म विकारसे पीडित नेत्ररोगी अग्रभागमें स्थित सर्व स्थावर जंगम पदार्थोंको चंद्रमा, शंख स्फटिक के समान सफेद रूपसे देखता है अर्थात् उसे वे सफेद ही दीखते हैं। इसे कफविदग्धदृष्टि कहते हैं ॥ २२२ ॥

धूमदर्शी लक्षण.

शिरोऽभितोष्मश्रमशोकवेदना । प्रपीडिता दृष्टिरिहाखिलान् भुवि ।
प्रपश्यतीह प्रबलातिधूमवान् । स धूमदर्शीति वदंति तं बुधाः ॥२२३॥

भावार्थः—शिरमें उष्णताका प्रवेश अत्यधिक श्रम, शोक व शिरदर्द इनसे पीडित दृष्टि लोकके समस्त पदार्थोंको धूंदला देखती है। इसे धूमदर्शी ऐसा विद्वानोंने कहा है ॥ २२३ ॥

ह्रस्वजाति लक्षण.

भवेद्यदा ह्रस्वयुता त्रिजातिको । गदो नृणां दृष्टिगतः सतेन ते ॥
भृशं प्रपश्यंति पुरो व्यवस्थितान् । तदोन्नतान्ह्रस्वनिभान्सदोषतः ॥२२४॥

भावार्थः—जब आंखोमें ह्रस्वजातिक नामक रोग होता है तब वह रोगी सामनेके २ बडे २ पदार्थोंको भी छोटे के समान देखता है अर्थात् उसे बडे पदार्थ छोटे दीखते हैं ॥ २२४ ॥

नकुलांध्य लक्षण.

यदा भुवि द्योतितदृष्टिरुज्वला । नरस्य रात्रौ नकुलस्य दृष्टिवत् ।
दिवा विचित्राणि स पश्यति ध्रुवं । भवेद्विकारो नकुलांध्यनामकम् ॥२२५

अर्थ—जब आंखें रात्रिमें नौलेके आंखके समान प्रकाशवान् व उज्वल होती हैं अर्थात् चमकती हैं जिन से दिनमें विचित्र रूप देखनेमें आता हो, उसे नकुलांध्यरोग कहते हैं ॥२२५॥

गम्भीरदृष्टिलक्षण.

प्रविष्टदृष्टिः पवनप्रपीडिता । रुजाभिभूतातिविकुंभिताकृतिः ।
भवेच्च गंभीरविशेषसंज्ञया । समन्विता दुष्टविशिष्टदृष्टिका ॥ २२६ ॥

भावार्थ—वातसे पीडित आंख, अन्दर घुसी हुई अधिक पीडायुक्त, कुंभके सदृश आकृतिवाली मालूम होती हो ऐसे दूषित विशिष्टदृष्टिको गम्भीरदृष्टि के नामसे कहते हैं ॥ २२६ ॥

निमित्तजलक्षण

तथैव बाह्यावपराविहाययो । निमित्ततोऽन्यो ह्यनिमित्ततश्च यः ।
निमित्ततस्तत्र महाभिघातजो । भवेदभिष्यंदविकल्पलक्षणः ॥२२७॥

भावार्थ—आगंतुक लिंगनाश दो प्रकारका है एक निमित्तजन्य, दूसरा अनिमित्त जन्य । इनमें महान् अभिघात [विषवृक्ष के फलसे स्पर्शित पवनके मस्तकमें स्पर्श होना, चोट लगना इत्यादि] से उत्पन्न सन्निपातिक अभिष्यंदके लक्षणसे संयुक्त लिंगनाश निमित्तजन्य कहलाता है ॥२२७॥

अनिमित्तजन्यलक्षण.

दिवाकरेंद्रोरगदीप्तिवन्मणि- । प्रभासमीक्षाहतनष्टदृष्टिजः ।
व्यपेतदोषः प्रकृतिस्वरूपवान् । विकार एषोऽप्यनिमित्तलक्षणः ॥२२८॥

भावार्थ—सूर्य, इंद्र, नागजातिके देव व विशेष प्रकाशयुक्त हीरा आदि रत्नों को टकटकी लगाकर देखनेसे आंखकी शक्ति (दर्शनशक्ति) नष्ट होकर जो लिंगनाश उत्पन्न होता है वह दोषोंसे संयुक्त नहीं होता है, और अपनी प्राकृतिक स्वरूपमें ही रहता है इसे अनिमित्तजन्य लिंगनाश कहते हैं ॥ २२८ ॥

नेत्ररोगोंका उपसंहार.

इत्येवं नयनगतास्समस्तरोगाः ।
प्रत्येकं प्रकटितलक्षणांक्षितास्ते ॥
संक्षेपादिह निखिलक्रियाविशेषै- ।
र्भैषज्यैरपि विधिनात्र साधयेत्तान् ॥ २२९ ॥

भावार्थः—इस प्रकार नेत्रगत समस्त रोगों को उन प्रत्येकों के लक्षण नाम आदि के साथ संक्षेपसे प्रकट कर चुके हैं । उनको उनकी सम्पूर्ण क्रिया (चिकित्साक्रम) विशेष व औषधियों से, विधिपूर्वक कुशल वैद्य साधे अर्थात् चिकित्सा करें ॥ २२९ ॥

छहत्तर नेत्ररोगों की गणना.

वाताद्यैर्दशदश संभवंति रोगा- ।
स्तत्रापि त्रय अधिकाः कफेन जाताः ॥
रक्तादप्यथ दशपट्कसर्वजास्ते ।
विंशत्या पुनरिह पंच बाह्यजौ द्वौ ॥ २३० ॥

भावार्थः—वात आदि प्रत्येक दोष से दस २ नेत्र रोग उत्पन्न होते हैं । इन में भी कफ से तीन अधिक होते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि वातसे दस, पित्तसे दस, कफसे तेरह रोग उत्पन्न होते हैं । रक्त से सोलह, सन्निपात से पच्चीस और आगंतुकसे दो रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २३० ॥

वातजअसाध्य रोग.

रोगास्ते षडधिकसप्ततिश्च सर्वे ।
तत्राद्या हतसहिताधिमंथरोगाः ॥
गंभीरा दृङ्निमिषाहतं च वर्त्मा-
साध्याः स्युः पवनकृताश्चतुर्विकल्पाः ॥ २३१ ॥

भावार्थः—उपरोक्त प्रकार वे सब अक्षिरोग मिलकर छहत्तर प्रकार से होते हैं । इन में वातसे उत्पन्न हताधिमंथ, गंभीरदृष्टि, निमिष, वातहत वर्त्म, ये चार प्रकार के रोग असाध्य होते हैं ॥ २३१

वातजयाप्य, साध्य रोग.

काचाख्योऽरुण इति मारुतात्स याप्यः ।
शुष्काक्षिप्रपचनवातपर्ययोऽस्मिं ॥
स्यंदश्चाप्यभिहिताधिमंथरोगः ।
साध्याः स्युः पवनकृतान्यतोतिवातः ॥ २३२ ॥

भावार्थः—वात से उत्पन्न, काचनामक जिसका अपर नाम अरुण रोग है वह याप्य है । एवं शुष्काक्षिपाक, वातपर्यय, वाताभिष्यंद, वाताधिमंथ और अन्यतोवात ये पांच साध्य हैं ॥ २३२ ॥

पित्तज, असाध्य, याप्यरोग.

ह्रस्वादिः पुनरपि जातिकोऽथवारि- ।
स्रावश्चेत्यभिहितपित्तजावसाध्यौ ॥

काचाख्योऽप्यधिकृतनीलिसंज्ञिको ।
यो म्लायी परिसहितश्च याप्यनीयः ॥२३३॥

भावार्थः—पित्त से उत्पन्न ह्रस्वजाति [जाड्य] और जलस्राव, ये दो रोग असाध्य होते हैं । नीलिकाकाच, परिम्लायी ये दो रोग याप्य होते हैं ॥ २३३ ॥

पित्तजसाध्य रोग.

स्यंदाख्योऽप्यभिहितस्तदाधिमंथः ।
शुक्त्यम्लाध्युषितविदग्धदृष्टिनाम्ना ॥
धूमादिप्रकटितदर्शिना च सार्धं ।
साध्यास्ते षडपि च पित्तजा विकाराः ॥२३४॥

भावार्थ—पैत्तिकाभिष्यंद, पैत्तिकाधिमंथ, शुक्ति, अम्लाध्युषित, धूमदर्शी, पित्तविदग्धदृष्टि ये छह पैत्तिक रोग साध्य होते हैं ॥२३४॥

कफज असाध्य, साध्यरोग

स्रावोऽयं कफजनितो ह्यसाध्यरूपो ।
याप्यः स्यात्कफकृत एव काचसंज्ञः ॥
स्यंदस्तद्विहितनिजाधिमंथः ।
श्लेष्मादिग्रथितविदग्धदृष्टिनामा ॥ २३५ ॥

पोथक्या लगणयुताः क्रिमिप्रधाना ।
ग्रंथिः स्यात् परियुतामवर्त्मपिष्टः ॥
शुक्रार्मप्रबलकफोपनाहयुक्ताः ।
श्लेष्मोत्था दश च तथैक एव साध्यः ॥२३६॥

भावार्थ—कफजस्राव असाध्य होता है । कफसे उत्पन्न काच रोग याप्य है । कफाभिष्यंद, कफजाधिमंथ, बलासग्रथित, श्लेष्मविदग्धदृष्टि, पोथकी लगण, क्रिमिग्रंथि, परिक्लिन्नवर्त्म, पिष्टक, शुक्रार्म, कफोपनाह, ये ग्यारह कफोत्पन्न रोग साध्य होते हैं ॥ २३५-२३६ ॥

रक्तज असाध्य, याप्य, साध्यरोगलक्षण.

रक्तार्शो व्रणयुतशुक्रमीरितोऽ ।
सृक्स्रावोऽजकजातमसाध्यरूपरोगाः ॥

याप्यस्स्यात्पुनरपि तज्जं एव काचः।
स्यंदाख्योप्यधियुतमन्थनामरोगः॥ २३७॥
क्लिष्टोऽयं निगदितवर्त्म लोहितार्म॥
प्रख्यातं क्षतवियुतशुक्लमर्जुनाख्यं।
पर्वण्यंजनकृतनामिका शिराणां॥
जालं यत्पुनरपि हर्षकोत्पातौ॥ २३८॥
साध्यास्ते रुधिरकृतामयादशान्येऽ।
प्येकश्च प्रकटितलक्षणाः प्रणीताः॥

भावार्थः—रक्तसे उत्पन्न रोगों में, अक्षिगत रक्तार्श, सव्रणशुक्र, रक्तस्राव अजकजात ये चार रोग असाध्य होते हैं। रक्तज काच यह एक याप्य है। रक्ताभिष्यंद, रक्तजाधिमंथ, क्लिष्टवर्त्म, लोहितार्म, अव्रणशुक्र [शुक्र] अर्जुन, पर्वणी, अंजननामिका, शिरा जाल, शिराहर्ष, शिरोत्पात, ये [रक्त से उत्पन्न] ग्यारह नेत्र रोग साध्य होते हैं जिन के लक्षण पहिले प्रतिपादन कर चुके हैं॥ २३७-२३८॥

सन्निपातज असाध्य व याप्य रोग.

आंध्यं यन्नकुलगतं च सर्वजेषु।
स्रावोऽपि प्रकटितपूयसंप्रयुक्तः॥ २३९॥
पाकोऽयं नयनगतोऽलजी स्वनाम्ना॥
चत्वारः परिगदिताश्च वर्जनीयाः।
काचश्च प्रकटितपक्ष्मजस्तु कोपो॥
वर्त्मस्थौ द्वितयमपीह यापनीयम्॥ २४०॥

भावार्थः—त्रिदोषज रोगों में नकुलांध्य, पूयस्राव, नेत्रपाक, अलजि ये चार प्रकार के रोग असाध्य हैं। एवं पक्ष्मकोप, काच नामक पक्ष्मज रोग एवं वर्त्मस्थ दोनों प्रकारके रोग भी याप्य होते हैं॥ २३९॥ २४०॥

सान्निपातज साध्यरोग.

वर्त्मावबद्धवर्त्मविबंधकश्च, वर्त्मा—।
प्रक्लिन्नं यदपि च (१) पिल्लिकाक्षि साक्षात्॥
या प्रोक्ता निजपिडिका सिरासु जाता।
स्साध्यगाप्यधियुतगासकार्म सम्यक्॥२४१॥

---

१ कृष्ण इति पाठांतरं।

प्रस्तादिप्रथितमथार्म पाकयुग्मः ।
श्यावाख्यं बहलसुकर्दमार्शसाम् ॥
यद्वात्मान्यद्बिससहितं च शर्कराख्यं ।
शुक्लार्शोऽर्बुदमलस स्त्रपूयपूर्वः ॥२४२॥

उत्संगिन्यथ पिटका च कुंभपूर्वा ।
साध्यास्तेषु विदितसर्वदोषजेषु ॥
बाह्यौ यौ प्रकटनिमित्तजानिमित्तजौ ।
साध्यौ वा भवत्यसाध्यलक्षणम् वा ॥ २४३ ॥

भावार्थः—सान्निपातिक नेत्र रोगों में वर्त्मावबंध, अक्लिन्नवर्त्म, शिराजपिडिका, स्नायुवर्म, अधिमांसार्म, प्रस्तार्यर्म, सशोथ अक्षिपाक, अशोथ अक्षिपाक, श्याववर्त्म, बहलवर्त्म, कर्दमवर्त्म, अर्शोवर्त्म, बिसवर्त्म, शर्करावर्त्म, शुक्रार्श, अर्बुद, पूयालस, उत्संगिनी और कुम्भिका, इतने [१९] रोग साध्य होते हैं । निमित्तजन्य व अनिमित्तजन्य ये आगंतुक रोग, कभी तो साध्य होते हैं और कभी असाध्य होते हैं ॥२४१-२४३॥

नेत्ररोगोंका उपसंहार.

षट्सप्ततिः सकलनेत्रगदान्विकारान् ।
ज्ञात्वात्र साध्यमथ याप्यमसाध्यमित्थं ॥
छेद्यादिभिः प्रबलभेषजसंनिधानैः ।
संयोजयेदुपशमक्रियया च सम्यक् ॥२४४॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकार से छाहत्तर प्रकारके नेत्र विकारोंके साध्य, असाध्य व याप्य स्वभावको अच्छीतरह जानकर छेदनादिक क्रियाओंसे व प्रबल औषधियोंके प्रयोगसे, उपशमन क्रिया से उनकी अच्छीतरह चिकित्सा करें ॥ २४४ ॥

चिकित्सा विभाग.

छेद्या भवंति दश चैक इहाक्षिरोगा ।
भेद्याश्च पंचनव चान्यगदास्तु लेख्याः ॥
व्यध्यास्तथैव दशपंच च शस्त्रवर्ज्या- ॥
स्ते द्वादश प्रकटिताः खलु सप्त याप्याः ॥ २४५ ॥

पंचादशैव भिषजा परिवर्जनीयाः ।
बाह्यौ कदाचिदिह याप्यतरावसाध्यौ ॥

भावार्थः—नेत्र रोगोंमें ग्यारह रोग छेद्य (छेदन कर्म करने योग्य) पांच रोग, भेद्य [भेदन योग्य] नौ रोग लेखन करने [खुरचने] योग्य, एवं पंद्रह रोग, व्यध्य [वेधन करने योग्य] होते हैं। बारह तो शस्त्र क्रियाके योग्य नहीं हैं अर्थात् औषधि से साधने योग्य हैं। सात रोग तो (स्नेहन आदि क्रियाओंसे) याप्य होते हैं। पंद्रह रोग तो छोडने योग्य हैं, चिकित्सा करने योग्य नहीं है। आगंतुक दो रोग कदाचित् याप्य कदाचित् असाध्य होते हैं ॥ २४५ ॥

छेद्य रोगोंके नाम.

अर्शांसि पंच पिटका च सिरासमुत्था ।
जालं शिराजमपि चार्बुदमन्यदर्शः ॥ २४६ ॥
शुष्कं स्ववर्त्म निजपर्वणिकामयेन ।
छेद्या भवंति भिषजा कथिता विकाराः ।

भावार्थः—पांच प्रकार के अर्म, शिराजपिडिका, शिराजाल, अर्बुद, शुष्कार्श, अर्शोवर्त्म, पर्वणी, ये ग्यारह रोग, शस्त्रद्वारा छेदने योग्य होते हैं अर्थात् छेदन करने से इनमें आराम होता है ॥ २४६ ॥

भेद्य रोगोंके नाम.

ग्रंथिःक्रिमिप्रभव एक कफोपनाहः ।
स्यादंजनाख्यलगणौ बिसवर्त्म भेद्याः ॥ २४७ ॥

भावार्थः—कृमिग्रंथि, कफोपनाह, अंजननामिका, लगण, बिसवर्त्म, ये पांच रोग भेदन करने योग्य होते हैं ॥ २४७ ॥

लेख्य रोगोंके नाम.

क्लिष्टावबंधबहलाधिककर्दमानि ।
श्यावादिवर्त्म सहशर्करया च कुंभी— ॥
न्युत्संगिनी कथितपोथकिका विकारा ।
लेख्या भवंति कथिता मुनिभिः पुराणैः ॥ २४८ ॥

भावार्थः—क्लिष्टवर्त्म, बद्धवर्त्म (वर्त्मावबंध) बहलवर्त्म, कर्दमवर्त्म, (वर्त्मकर्दम) श्याववर्त्म, शर्करावर्त्म, कुंभिका, उत्संगिनी, पोथकी, ये रोग लेखन क्रिया करने योग्य हैं अर्थात् लेखनक्रियासे साध्य होते हैं ऐसा प्राचीन महर्षियोंने प्रतिपादन किया है ॥ २४८ ॥

छेद्य रोगोंके नाम.

यौ वा शिरानिगदितावथपाकसंज्ञा- ।
वप्यन्यतश्च पवनोऽलस एव पूयः ।
वातादिपर्यय समंथविशेषिताभि- ।
ष्यंदाश्च साधुभिरिहाधिकृतास्तु वेध्याः ॥२४९॥

भावार्थः—शिरोत्पात, शिराहर्ष, सशोथ नेत्रपाक, अशोथ नेत्रपाक, अन्यतोवात पूयालस, वातपर्यय, चार प्रकारका अधिमंथ, चार प्रकारका अभिष्यंद, ये १५ रोग वेधन करनेसे साध्य होते हैं ऐसा महर्षियोंने कहा है ॥ २४९ ॥

शस्त्र कर्मसे वर्जित नेत्ररोगोंके नाम.

पिष्टार्जुनेयमपि धूमनिदर्शिशुक्ति- ।
मक्लिन्नवर्त्मकफपित्तविदग्धदृष्टि ॥
शुष्काक्षिपाकमपि शुक्रमथाम्लकादि ।
मक्लिन्नवर्त्मकफसग्रथितं च रोगः ॥ २५० ॥
तान् शस्त्रपातमपहृत्य विशोषितैश्च ।
सद्भेषजैरुपचरेद्विधिना विधिज्ञः ॥
आगंतुजावथ चयाविह दृष्टिरोगौ ।
तावप्यशस्त्रविधिना समुपक्रमेत ॥ २५१ ॥

भावार्थः—पिष्टक, अर्जुन, धूमदर्शी, अक्लिन्नवर्त्म, कफविदग्धदृष्टि, पित्त, विदग्धदृष्टि, शुष्काक्षि, पाक, शुक्र, अम्लाध्युषित, क्लिन्नवर्त्म, बलासग्रथित इन १२ रोगों में शस्त्रकर्मका प्रयोग न करके योग्य औषधियोंके विधिपूर्वक प्रयोगसे ही कुशल वैद्य चिकित्सा करें। आगंतुक दो रोगोंको भी शस्त्र प्रयोग न कर औषधियोंसे ही शमन करना चाहिए ॥ २५०-५१ ॥

याप्य रोगोंके नाम व असाध्य नेत्ररोगोंके नाम.

काचाः षडप्यधिकपक्ष्मगतप्रकोपाः ।
याप्या भवंत्यभिहिताः पुनरप्यसाध्याः ॥
तान्वर्जयेदनिलशोणितसन्निपातात् ।
प्रत्येकशोपि चतुरश्चतुरश्च जातान् ॥ २५२ ॥
श्लेष्मोत्थमेकमपि पित्तकृतौ तथा द्वौ ।
द्वावेव बाह्यजनितौ स विवर्जयेत्तान् ॥

भावार्थः—छह प्रकार के काच रोग (जिसके होते हुए भी, मनुष्यको थोडा बहुत दीखता हो) और एक पक्ष्मकोप इस प्रकार सात रोग याप्य होते हैं । वात उत्पन्न चार [हताधिमंथ, निमेष, गम्भीरिका और वातहतवर्त्म] रोग, रक्त से उत्पन्न चार [रक्तस्राव, अजकजात, शोणितार्श, सव्रणशुक्र] रोग, सन्निपातज चार (पूयस्राव, नकुलांध्य, अक्षिपाकात्यय, अलजी) रोग, कफसे उत्पन्न कफस्राव नामक एक रोग, पित्तज ह्रस्वजात्य, जलस्राव ये दो रोग इस प्रकार कुल १५ रोग असाध्य होते हैं, इसलिए कुशल वैद्य उन को छोड देवें । इसी प्रकार आगंतुक दो रोग भी कदाचित् असाध्य होते हैं । उस अवस्थामें इन को भी छोडें ॥ २५२ ॥

अभिन्ननेत्राभिघातचिकित्सा.

नेत्राभिघातजमभिन्नमिहावलंब-
मानं निवेश्य घृतलिप्तमतः प्रबंधैः ॥२५३॥

भावार्थ—नेत्रका अभिघात होकर उत्पन्न नेत्ररोगमें यदि नेत्र स्वस्थानसे भिन्न नहीं हुआ हो और उसीमें अवलंबित हो तो घृतलेपन कर पट्टी बांधकर उपचार करना चाहिये ॥ २५३ ॥

भिन्ननेत्राभिघातचिकित्सा.

भिन्नं व्यपोह्य नयनं प्रविलंबमानं ।
प्रागुक्तसद्व्रणविधानत एव साध्यम् ॥
संस्वेदनप्रवललेपनधूमनस्य-
संतर्पणैरभिहतोऽप्युपशांतिमेति ॥२५४॥

भावार्थ—यदि भिन्न होकर उसमें लगा हुआ हो तो उसको अलग कर पूर्वोक्त व्रणविधान से उसे साध्य करना चाहिये । साथमें स्वेदन, लेपन, धूमपान, नस्य व संतर्पण आदिके प्रयोगसे भी उपरोक्त रोग उपशांतिको प्राप्त होता है ॥२५४॥

वातजरोगचिकित्साधिकारः ।

वातादिदोषजनेत्ररोगोंकी चिकित्सावर्णनप्रतिज्ञा.

मारुतपर्यय, व अन्यतोवातचिकित्सा

वातादिदोषजनितानखिलाक्षिरोगान् ।
संक्षेपतः शमयितुं सुविधिं विधास्ये ॥

तत्रादितोऽनिलविपर्ययमन्यतश्च ।
वातं स वातविधिना समुपक्रमेत ॥ २५५ ॥

भावार्थः—वातादिक दोषोंसे उत्पन्न समस्त नेत्ररोगोंको शमन करनेके लिये योग्य औषधि विधि संक्षेपसे कहेंगे । पहिले, मारुतपर्यय, अन्यतोवात, इन दोनों रोगोंका वातज नेत्ररोगों [वातभिष्यंद आदि] में कहे गये चिकित्साविधिसे उपचार करें ॥ २५५ ॥

शुष्काक्षिपाकमें अंजनतर्पण.

स्तन्योदकेन घृततैलयुतेन शुंठी- ।
चूर्णं सपूरकरसेन ससैंधवेन ॥
घृष्टं तदंजनमतिप्रवरं विशुष्के ।
पाके हितं नयनतर्पणमाज्यतैलैः ॥ २५६ ॥

भावार्थः—स्तनदूध, घृत व तेल सेंधानमक, बिजौरा निंबूके रसमें सोंठके चूर्णको अच्छीतरह पीसकर अंजन तैयार करें । वह अंजन शुष्काक्षिपाकरोगके लिये अत्यंत हितकर है । एवं घृत, तैलसे नेत्र को तर्पण करना भी इस रोग में हितकर होता है ॥ २५६ ॥

शुष्काक्षिपाक में सेक.

सिंधूत्थचूर्णसहितेन हितं कदुष्ण- ।
तैलेन कोष्णपयसा परिषेचनं च ॥
वातोद्धतानखिलनेत्रगतान्विकारान् ।
यत्नादनेन विधिना समुपक्रमेत ॥ २५७ ॥

भावार्थः—शुष्काक्षिपाक रोगमें सेंधानमक को अल्प उष्ण तेलमें मिलाकर सेचन करना एवं थोडा गरम दूधसे सेचन करना हितकर है । इस प्रकारके उपायोंसे समस्त वातविकारसे उत्पन्न नेत्ररोगोंको बहुत प्रयत्नके साथ चिकित्सा करें ॥२५७॥

पित्तजनेत्ररोगचिकित्साधिकारः ।

सर्वपित्तजनेत्ररोगचिकित्सा.

पित्तोत्थितानखिलशीतलसंविधानैः ।
सर्वामयानुपचरेदुपचारवेदी ॥

१ भिषग् इति पाठांतरं

निर्यासमेव नरकिंशुकवृक्षजातं ।
क्षीरेण पिष्टमिह शर्करया विमिश्रम् ॥२५८॥

अम्लाध्युषित चिकित्सा.

आश्च्योतनं निखिलपित्तकृताक्षिरोगा- ।
म्लाधिकाध्युषितमप्युपहंति सद्यः ॥
तोयं तथा त्रिफलया श्रृतमाज्यमिश्रं ।
पेयं भवेद्धतमलं न तु शुक्तिकायां ॥२५९॥

भावार्थः—पित्तविकारसे उत्पन्न समस्त रोगोंको शीतल विधानोंके द्वारा नेत्ररोगकी चिकित्साको जाननेवाला वैद्य उपचार करें। ढाक की गोंदको दूधके साथ पीसकर शक्कर मिलाकर आश्च्योतन (आंखोमें डालनेकी विधि) करें। समस्त पित्तकृत नेत्ररोगोंको व अम्लाध्युषित आदि रोगोंको शीघ्र वह दूर करता है। इसी प्रकार त्रिफलाके काढेमें घी मिलाकर पीवें तो अम्लाध्युषित रोग को दूर करता है। यह योग शुक्तिरोगमें हितकारी नहीं है ॥ २५८-५९ ॥

शुक्तिरोग में अंजन.

शीतांजनान्यपि च शुक्तिनिवारणार्थं ।
मुक्ताफलस्फटिकविद्रुमशंखशुक्ति- ॥
सत्कांचनं रजतचंदनशर्कराढ्यं ।
संयोजयेदिदमजापयसा सुपिष्टम् ॥ २६० ॥

भावार्थः—अक्षिगत शुक्तिविकारको दूर करनेके लिए शीतगुणयुक्त अंजनों के प्रयोग करना चाहिए। एवं मोती, स्फटिकमणि, शंख, सीप, सुवर्ण, चांदी, चंदन, व शर्करा इनको बकरीके दूधमें अच्छीतरह पीसकर अंजन बनाकर आंखोंमें प्रयोग करें ॥ २६० ॥

कफजनेत्ररोगचिकित्साधिकारः ।

धूमदर्शी व सर्व श्लेष्मजनेत्ररोगोंकी चिकित्सा.

गव्यं घृतं सततमेव पिबेच्च नस्यं ।
तेनैव साधु विदधीत स धूमदर्शी ॥
श्लेष्मामयानपि च रूक्षकटुप्रयोगैः ।
शीघ्रं जयेदधिकतीक्ष्णशिरोविरेकैः ॥ २६१ ॥

भावार्थ—धूमदर्शी रोगके लिए सदा गायका घृत पिलाना व उसीसे नस्य प्रयोग करना हितकर है। कफविकारसे उत्पन्न नेत्ररोगोंको भी रूक्ष व कटु औषधियोंके प्रयोग से एवं तीक्ष्ण शिरोविरेचन से शीघ्र उपशम करना चाहिए॥ २६१ ॥

बलासग्रथितमें क्षारांजन.

धान्यांच्छलाकियवकृष्णतिलान्विशोष्य ।
छागेन साधुपयसा बहुशो विभाव्य ॥
क्षारप्रणीतविधिना परिदह्य पक्वं ।
नाड्यां स्थितं पृथुकफग्रथितेऽजनं स्यात् ॥ २६२ ॥

भावार्थ—शलाकसे युक्त यव, कृष्णतिल, इन धान्योंको अच्छीतरह सुखाकर फिर बकरीके दूधके साथ बार २ भावना देवें। बादमें क्षार बनाने की विधिके अनुसार उनको जलाकर उस भस्म को पानी से छानें और पकावें। इस क्षारको सलाई से बलासग्रथित रोगयुक्त आंख में अंजन करें॥ २६२ ॥

पिष्टकमें अंजन.

सपिप्पलीमरिचनागरशिग्रुबीज- ।
माम्लेन लुंगजनितेन सुपिष्टमिष्टं ॥
तत्पिष्टकं प्रतिनिहंत्यचिरादशेषान् ।
श्लेष्मामयानपि बहून् सततांजनेन ॥ २६३ ॥

भावार्थ—पीपल, मिरच, सोंठ, सेंजनका बीज इनको खट्टे माहुलुंगके रसके साथ अच्छीतरह पीसकर अंजन बनावें। इस अंजनको अक्षिगत पिटक रोगोंमें सतत आंजने से उन रोगोंको दूर करने के अलावा वह अनेक श्लेष्मरोगोंका भी शीघ्र नाश करता है॥ २६३ ॥

परिक्लिन्नवर्त्ममें अंजन.

कासीससिंधुलवणं जलधिप्रसूतिं ।
तालं फलाम्लपरिपिष्टमनेन मिश्रम् ॥
कांस्यं सुचूर्णमवदह्य पुटेन जाती- ।
क्षारेण कल्कितमिदं विनिहंति पिल्लं ॥ २६४ ॥

भावार्थः—कसीस, सेंधानमक समुद्रफेन हरताल इनको खट्टे फलोंके रसके साथ अच्छीतरह पीसें। उस में कांसेका भस्म जो पुटपाक व क्षारपाकसे तैयार किया हुआ

हो, उसमें जाती क्षारको मिलाकर अंजन बनावें । वह परिक्लिन्नवर्त्मको नाश करनेके लिए हितकर है ॥ २६४ ॥

कण्डूनाशकअंजन.

नादेयशुक्लमरिचानि मनःशिलानि ।
जातीप्रवालकुसुमानि फलाम्लपिष्टा- ॥
न्याशोष्य वर्तिमसकृन्नयनांजनेन ।
कंडूं निहंति कफजानखिलान्विकारान् ॥ २६५ ॥

भावार्थः—सेंधानमक, सफेद मिरच [छिलका निकाला हुआ काली मिर्च] मैनसिल, चमेलीका कोंपल और फूल, इन को अम्लफलों के रसमें पीसकर बत्ती बनाकर उसको सुखावें । इससे, बार २ अंजन करनेसे आंखोंकी खुजली और कफसे उत्पन्न अन्य समस्त विकारोंका नाश होता है ॥ २५५ ॥

रक्तजनेत्ररोगचिकित्साधिकारः ।

सर्वनेत्ररोगचिकित्सा.

रक्तोत्थितानखिलनेत्रगतान्विकारान् ।
ष्यंदाधिमंथबहुरक्तशिराप्रसूतान् ॥
सर्पिःप्रलेपनमृदून्सहसा शिराणां ।
मोक्षैर्जयेदपि च देहशिरोविरेकैः ॥ २६६ ॥

भावार्थ—रक्तके विकारसे उत्पन्न नेत्रगत समस्त रोगोंको एवं रक्ताभिष्यंद, रक्तजाधिमंथ, शिराहर्ष, शिरोत्पात इन रोगोंको भी घृतके लेपनसे मृदु बनाकर शिरामोक्षण व विरेचन और शिरोविरेचन से जीतना चाहिये ॥ २६६ ॥

पीडायुक्तरक्तजनेत्ररोगचिकित्सा.

आश्च्योतनांजनसनस्यपुटप्रपाक- ।
धूमाक्षितर्पणविलेपनतत्प्रदेहान् ॥
सुस्निग्धशीतलगणैः सुगुणैर्नियुक्तं ।
सोष्णैर्जयेद्यदि च तीव्ररुजासुतीव्रान् ॥ २६७ ॥

भावार्थः—रक्तज तीव्र नेत्ररोग यदि तीव्र पीडा से युक्त हो तो स्निग्ध शीतल

उष्ण औषधिसमूह व गुड इनके द्वारा, आश्च्योतन, अंजन, नस्य, पुटपाक, धूमपान, तर्पण, लेप और प्रलेह को नियोजन करें तो उपशम होता है ॥ २६७ ॥

शिरोत्पातशिराहर्षकी चिकित्सा.

सर्पिः पिबेदिह सिराप्रभवे जलूका- ।
स्संपातयन्नयनयोस्सहसा समंतात् ॥
आज्यं गुडांजनमपि प्रथितौ शिराजौ ।
रोगौ जयेदुदितदुग्धयुता सिता वा ॥ २६८ ॥

भावार्थः—शिरा समुत्पन्न नेत्ररोग [शिरोत्पात शिराहर्ष] में घृतका पीना हितकर है । एवं आंखोंके चारो तरफ शीघ्र ही जलौक लगवाकर रक्तमोक्षण करना, घृत व गुड के अंजन व दूधमें मिले हुए शक्कर के उपयोगसे शिरोत्पात, शिराहर्ष ये दोनों रोग दूर होते हैं ॥ २६८ ॥

अर्जुन व अव्रणशुक्र की चिकित्सा.

शंखो घृतेन सहितोप्यथवा समुद्र- ।
फेनो जयत्यखिलमर्जुनमंजितोऽयम् ।
तत्फाणितप्रतिनिघृष्टमिहापि हेम- ।
माक्षीकमर्जुनमपव्रणमक्षिशुक्लम् ॥ २६९ ॥

भावार्थः—घृतके साथ शंख भस्म या समुद्रफेनको मिलाकर अंजन करें तो अर्जुन रोग को जीतता है । सुवर्ण माक्षिक को फाणित [राब] के साथ घिस कर, अंजन करनेसे अर्जुन अव्रण शुक्र ठीक होते हैं ॥ २६९ ॥

लेख्यांजन.

सर्वैर्महोपरसरत्नसमस्तलोह- ।
चूर्णैरशेषलवणैर्लशुनैः करंजैः ॥
एलाकटुत्रिकफलत्रयतोयपिष्टै- ।
र्लेख्यांजनं नयनरोगविलेखनं स्यात् ॥२७०॥

भावार्थः—सम्पूर्ण महारस, उपरस, सम्पूर्ण रत्नोपरत्न, एवं सर्वधातु, उपधातुओंके चूर्ण [भस्म] सम्पूर्ण नमक, लहसन, करंज [कंजा] इनको इलायची सोंठ मिर्च, पीपल, हरड बहेडा, आंवला इनके कषाय से पीसकर अंजन तयार करें । (इसका नाम लेख्यांजन है । यह नेत्र रोगोंको लेखन [खुरच] कर निकालता है ॥ २७० ॥

नेत्रपाकचिकित्सा.

पाकं सशोफममपरं च शिरोविमोक्षैः ।
संशोधनैरपि जयेदिदमंजनं स्यात् ॥

महांजन.

सर्पिस्ससैंधवफलाम्लयुतं सुताम्र-।
पात्रे विघृष्टमुषितं दशरात्रमत्र ॥ २७१ ॥

जातिप्रतीतकुसुमानि विडंगसारं ।
शुंठी ससैंधवयुता सहपिप्पलीका ॥
तैलेन मर्दितमिदं महदंजनाख्यं ।
नेत्रप्रपाकमसकृच्छमयत्यशेषम् ॥ २७२ ॥

भावार्थः—शोफसहित अक्षिपाक व निःशोथ अक्षिपाक रोग को शिरामोक्षण व संशोधन से जीते। उस के लिए नीचे लिखे अंजन भी हितकर है। घृत, सेंधालोण अम्लफल के रस इन को ताम्बे के वर्तन में डालकर रगडें। और दस दिन इसी में पडे रहने दें। फिर उसमें जाईका फूल, वायविडंग का सार, शुंठी, सेंधालोण, पीपल मिलाकर तैलसे मर्दन करें तो वह उत्तम अंजन बनता है। इस अंजन का नाम महांजन है। इसे नेत्रपाक रोग में शीघ्र शमन करता है ॥ २७१ ॥ २७२ ॥

पूयालसप्रक्लिन्नवर्त्मचिकित्सा.

पूयालसे रुधिरमोक्षणमाशु कुर्यात् ।
पत्रोपनाहमपि चार्द्रकसद्रसेन ॥
कार्पाससैंधवकृतांजनकैर्जयेत्तान् ।
प्रक्लिन्नवर्त्मसहिताखिलनेत्ररोगान् ॥ २७३ ॥

भावार्थः—पूयालस रोगमें शीघ्र रक्तमोक्षण करना चाहिये और पत्तियोंसे उपनाह [पुल्टिश] भी करना उचित है। परिक्लिनवर्त्मादि समस्त नेत्र रोगोंको अद्रक के रस, कपास व सेंधालोणसे तैयार किये हुए अंजनसे उपशम करना चाहिये ॥२७३॥

अथ शस्त्रप्रयोगाधिकारः ।

नेत्ररोगों में शस्त्रप्रयोग.

शस्त्र प्रसाध्य बहुनेत्रगतामयान- ।
प्युष्णाम्बुवस्त्रसकलेन कृतप्रलिप्तान् ॥

संस्वेदिताग्निनिशितशस्त्रमुखेन यत्नात् ।
तान्साधयेदभिहिताखिलतत्प्रयोगैः ॥ २७४ ॥

भावार्थ— बहुतसे नेत्र रोग शस्त्रक्रियासे साध्य होनेवाले हैं। उनको आंख में घृत लेपन करके उष्ण जल व वस्त्रके टुकडे द्वारा स्वेदन करें। फिर प्रयत्नपूर्वक तीक्ष्ण शस्त्रप्रयोगसे पूर्वोक्त विधि प्रकार साधन करें ॥ २७४ ॥

लेखन आदिशस्त्रकर्म.

निर्भुज्य वर्त्म पिचुना परिमृज्य यत्नात् ।
लेख्यान्विलिख्य लवणैः प्रतिसारयेत्तत् ॥
भेद्यान्विभिद्य बलिशैः परिसंगृहीतान् ।
छेद्यानपांगमनुसंश्रितसर्वभावान् ॥ २७५ ॥

छिद्यात्सिराश्च परिवेध्य यथानुरूपं ।
वेध्यान् जयेद्विदितवेदविदां वरिष्ठः ॥
पश्चादपि प्रकटदोषविशेषयुक्त्या ।
सद्भेषजैरुपचरेदखिलांजनाद्यैः ॥ २७६ ॥

भावार्थः— आंखके पलकोंको अच्छीतरह खोलकर पिचु [पोया] से पहिले उसे साफकर लेवें। तदनंतर लेख्य रोगोंको लेखनकर लवणसे प्रतिसारण करना चाहिए। बडिश शस्त्रसे पकडकर भेद्य रोगोंको भेदन करना चाहिये व छेद्य रोगोंको व अपांग में आश्रित सर्व विकारोंको छेदन करना चाहिये। वेध्य रोगोंको यथायोग्य शिरावेध [फस्त खोल] करके आयुर्वेद जाननेवालोंमें वरिष्ट वैद्य जीतें। उपरोक्त प्रकार छेदन आदि करनेके बाद भी दोषानुरूप औषधि व अंजन इत्यादिके प्रयोगसे युक्तिपूर्वक उपचार करें ॥ २७५-२७६ ॥

पक्ष्मकोपचिकित्सा.

पक्ष्मप्रकोपमपि साधु निपीड्यनालै— ।
रुद्बंधयेत् ग्रथितचारुललाटपट्टं ॥
पक्ष्माभिवृद्धिमवलोक्य सुखाय धीमान् ।
आमोचयेदखिलनालकृतप्रबंधान् ॥ २७७ ॥

भावार्थ— पक्ष्मप्रकोपमें भी उसको अच्छी तरहसे दबाकर नालियोंसे ग्रथित ललाटपट्ट (माथे) को बांधना चाहिये। जब पक्ष्मवृद्धि होती हुई दिखे तो रोगीको कष्ट न हो इस इच्छासे उस बंधनको खोलना चाहिये ॥ २७७ ॥

पक्ष्मप्रकोप में लेखन आदिकर्म.

संलिख्य तापहरणं दहनेन दग्ध्वा ।
चोत्पाट्य वा प्रशमयेदिह पक्ष्मकोपम् ॥
दृष्टिप्रसादजनकैरपि दृष्टिरोगान् ।
साध्यान्विचार्य सततं समुपक्रमेत ॥ २७८ ॥

भावार्थः—उपरोक्तविधि से यदि पक्ष्मकोप शांत न हो तो उसको लेखनकर्म [खुरच] कर या अग्निसे जलाकर [अग्निकर्म कर] अथवा उत्पाटन कर उपशम करना चाहिये जिससे पक्ष्मकोप से उत्पन्न संताप दूर होता है । एवं साध्यदृष्टिरोगों को अर्थात् पक्ष्मकोपको नेत्रप्रसाद करनेवाले औषधियों से, हमेशा विचारपूर्वक चिकित्सा करें ॥ २७८॥

कफजलिंग नाशमें शस्त्रकर्म.

तल्लिंगनाशमपि तीव्रकफप्रजातं ।
ज्ञात्वा विमृद्य विलयं सहसा व्रजेत्तम् ॥
स्वां नासिकामभिनिरीक्षत एव पुंसः ।
शुक्लप्रदेशसुषिरं सुविचार्य यत्नात् ॥ २७९ ॥
छिद्रे स्वदैवकृतलक्षणलक्षितेऽस्मिन् ।
विध्येत् क्रमक्रमत एव शनैश्शनैश्च ॥
सुश्लक्ष्णताम्रयववक्त्रशलाकया तां ।
स्त्रोत्सिंहनादप्लुधुत्कफमुल्लिखेत्तम् ॥ २८०
दृष्टे पुरःस्थितसमस्तपदार्थजाते ।
तामाहरेत्क्रमत एव भिषक् शलाकां ॥
उत्तानतश्शयनमस्य हितं सदैव ।
नस्यं कफघ्नकटुरूक्षवरौषधैश्च ॥ २८१ ॥

भावार्थः—लिंगनाश रोग [तिमिर] को मर्दन करनेपर यदि वह शीघ्र ही विलय होवें तो, उसे तीव्र कफसे उत्पन्न लिंगनाश समझकर उस रोगीको, अपने नाक की तरफ देखने को कहें । जब वैसे ही देखते रहें तो, उसका आंखके शुक्लप्रदेश और छिद्र को प्रयत्न पूर्वक विचार करके, उस दैवकृत छिद्र में, अत्यंत चिकनी, ताम्र से बनायी हुई, यववक्त्रनामक शलाका से, क्रमशः धीरे २ वेधन करें । और छींक कराकर कफको निकालें । आंखके सामने समस्त पदार्थ स्थित होने पर अर्थात्

दीखने लगजाने पर, वैद्यको उस प्रवेश करायी गयी सलाई को, क्रमशः निकालना चाहिये। पश्चात् चित सुलाये हुए उस रोगीको कटुरूक्षगुणयुक्त, कफघ्न श्रेष्ठ औषधियोंसे सदैव नस्य देना हितकर है ॥ २७९ ॥ २८० ॥ २८१ ॥

छागांबुना कतककरंजफलद्वयं वा।
पिष्टं तदिष्टमिह दृष्टिकरांजनं स्यात् ॥
रक्ताख्यचंदनमपि क्रमतो निघृष्टं।
सौवीरवारिघृततैलफलाम्लतक्रैः ॥ २८२ ॥

भावार्थः—बकरेके मूत्रके साथ कतक फल, करंज फल, इस को पीसकर अंजन तयार करें। यह अंजन आंख को बनाने वाला है। कांजी, पानी, घृत, तेल अम्लफलोंके रस व तक्र के साथ रक्त चंदनको धीरे धीरे घिसकर अंजन करें तो आंखका अत्यंत हित होता है ॥ २८२ ॥

शलाका निर्माण.

सत्तारताम्रगजहेमवराः शलाकाः।
श्लक्ष्णा रसेंद्रबहुवारकृतप्रलेपाः ॥
सौवीरभावनीविशुद्धतरातिशीताः।
संघट्टनाद्विमलदृष्टिकरा नराणां ॥ २८३ ॥

भावार्थः—दृष्टि में रगडने व अंजन लगाने के लिये, चांदी, ताम्बा, सीसा, व सोने की चिकनी शलाका बनानी चाहिये। उस पर पारा बहुवार [लिसोडा] का लेपन करके गरम करें और उसे, कांजी में बुझावे। इस प्रकार विशुद्ध व शीत उस शलाका को मनुष्यों की आंख पर रगडने से आंखें निर्मल हो जाती हैं ॥ २८३ ॥

लिंगनाशमें त्रिफला चूर्ण.

चूर्णं यत्त्रिफलाकृतं तिलजसंमिश्रं च वातोद्भवे।
श्लेष्मोत्थे तिमिरे घृतेन सहितं पित्तात्मके रक्तजे ॥
खण्डेनातिसितेन पिण्डितमिदं संभक्षितं पण्डितै-।
र्दृष्टिं तुष्टिमतीव पुष्टिमधिकं वैशिष्ट्यमप्यावहेत् ॥ २८४ ॥

भावार्थः—वातिक लिंगनाशमें, त्रिफलाके चूर्णको तिलके तैल के साथ, कफज लिंगनाशमें घी के साथ, पित्त व रक्तज लिंगनाशमें सफेद खांड के साथ मिलाकर सेवन करने से नेत्रमें प्रसाद, पुष्टि व वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है ॥ २८४ ॥

पक्वैश्चामलकीफलैरपि शतावर्याश्च मूलैश्शुभैः ।
सम्यक्पायसमेव गव्यघृतसंयुक्तं सदा सेवितं ॥
साक्षी पक्षिपतेरिवाक्षियुगले दृष्टिं करोत्यायताम् ।
वृष्यायुष्यकरं फलत्रयरसः शीतांबुपानोत्तमम् ॥ २८५ ॥

भावार्थः—पके हुए आंवलेका फल, व शतावरीके जडसे अच्छा खीर बनाकर, उसमें गायका घी मिलाकर सदा सेवन करें तो दोनों आंखें गरुडपक्षी के आंख के समान तीव्र होती हैं। त्रिफले का रस व ठण्डा पानी पीना वृष्य व आयुर्वृद्धिकारक हैं एवं दृष्टि को विशाल बनाता है ॥ २८५॥

मौर्व्याद्यंजन.

मौर्वीभञ्जीकुमारीस्वरस-परिगतं सत्पुराणेष्टकानां ।
पिष्टं संघृष्टमिष्टं मलिनतरबृहत्कांस्यपात्रद्वयेऽस्मिन् ।
तैलाज्याभ्यां प्रयुक्तं पुनरपि बहुदीपांजनेनातिमिश्रं ॥
विश्वाभिष्यंदकोपान् शमयति सहसा नेत्रजान् सर्वरोगान् ॥२८६॥

भावार्थः—मेढासिंगी, हाडजोड, कुमारी इन के स्वरस से भावित पुराना इष्टक [एरण्डवृक्ष अथवा ईंट) की पिष्टीको मलिन कांसे के दो वर्तन में डालकर खूब घिसे और उस में तैल, घी, दीपांजन (काजल) मिलादेवें। इस अंजनको आंजनेसे वह सम्पूर्ण अभिष्यंदरोग एवं अन्य नेत्रज सर्व रोगोंको शीघ्र ही शमन करता है ॥ २८६ ॥

हिमशीतलांजन.

कर्पूरचंदनलतालवलीलवंग- । कक्कोलजातिफलकुंकुमयष्टिचूर्णैः ॥
वर्तीकृतैः सुरभिगव्यघृतप्रदीप्तं । शीतांजनं नयनयोर्हिमशीतलाख्यम् ॥२८७

भावार्थः—कर्पूर, चंदन, लता—कस्तूरी, हरपारेवडी, लवंग, कंकोल, जायफल, केसर व मुलहटी इनका चूर्णकर फिर बत्ती बनाना चाहिये। उस बत्तीको सुगंधित गायके घीसे जलाकर अंजन तैयार करें। वह हिमशीतल नामक अंजन नेत्रोंके लिये हितकर है और शीतगुणयुक्त है ॥ २८७ ॥

सौवर्णादिगुटिका.

सौवर्णं ताम्रचूर्णं रजतसमधृतं मौक्तिकं विद्रुमं वा ।

१ आंवला और शतावरी को महीन चूर्ण बनाकर दूध व शक्कर के साथ पकावें। अथवा आंवला और शतावरीके रस को दूध शक्कर के साथ पकाना चाहिये। यही पायस है॥

धात्र्याक्ष्याख्याभयानामुदधिकफनिशाशंखतुत्थामृतानाम् ॥
यष्ट्याह्वापिप्पलीनागरवरमरिचानां विचूर्णं समांशं ।
यष्टिक्वाथेन पिष्टं शमयति गुलिका नेत्ररोगानशेषान् ॥ २८८ ॥

भावार्थः—सुवर्णभस्म, ताम्रभस्म व रजतभस्मको समांश लेकर अथवा मोतीभस्म व प्रवालभस्म को समभाग लेकर उसमें आंवला, बहेडा, हरड, समुद्रफेन [समुद्रझाग] हलदी, शंख, तूतिया, गिलोय, मुलैठी, पीपल, सोंठ, कालीमिरच इनके समांश चूर्णको मिलावे। फिर मुलहटीके क्वाथसे अच्छीतरह पीसकर गोली बनावें। यह गोली (नेत्र में घिसकर लगानेसे) समस्त नेत्ररोगोंको नाश करती है ॥ २८८ ॥

तुत्थाद्यंजन.

तुत्थं चंदनरक्तचंदनयुतं काश्मीरकालागुरु- ।
मोचरसुतमालचंद्रभुजगास्सर्वं समं संमिताः ॥
नीलाख्यांजनमत्र तद्द्विगुणितं चूर्णीकृतं कालिका- ।
न्यस्तं नागशलाकयांजितमिदं सौभाग्यदृष्टिप्रदम् ॥ २८९ ॥

भावार्थः—तूतिया, चंदन, रक्तचंदन, केशर, कालागरु, पारा, तमालपत्र, कपूर, शीसा इनको समान अंशमें लेकर उसमें नीलांजनको द्विगुणरूपसे मिलावें। उन सबको चूर्ण कर काजल तैयार करें। उसे करण्ड व शीशीमें रखें और शीसेकी शलाकासे (आंखमें) लगावें तो नेत्र सौभाग्य से युक्त होता है ॥२८९॥

प्रसिद्ध योग.

पादाभ्यंगः पादपूज्यार्चितोयं । नस्यं शीतं चांजनं सिद्धसेनैः ॥
अक्ष्णोर्मूर्ध्नस्तर्पणं श्रीजटाग्र्यैः । विख्याता ये दृष्टिसंहारकाले ॥२९०॥

भावार्थः—दृष्टिनाशसे बचने के लिये श्री पूज्यपाद स्वामी के पादाभ्यंग द्वारा पूजित अर्थात् कथित, सिद्धसेन स्वामी द्वारा प्रतिपादित शीतनस्य व शीतांजन और जटाचार्य द्वारा कथित अक्षितर्पण, शिरोतर्पण, ये प्रयोग संसारमें प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं ॥ २९० ॥

सूक्ष्माक्षराभीक्ष्णनिरीक्षणाद्य- । दीपप्रभादर्शनतो निवृत्तिः ॥
शश्वद्विनश्यत्प्रवरात्मदृष्टे- । रिष्टातिरक्षेति समंतभद्रैः ॥ २९१ ॥

भावार्थः—सूक्ष्म अक्षर, और उज्वल दीपक आदिकी प्रभा को हमेशा देखनसे निवृत्त होना यही सदा विनाश स्वभाव को धारण करनेवाली, श्रेष्ठ अपनी दृष्टि

की रक्षा है अर्थात् आंखोंके रक्षणके लिए सूक्ष्म अक्षरोंका बांचना, तीव्र प्रकाशकी तरफ अधिक देखते रहना हितकर नहीं है, ऐसा समंतभद्राचार्यने कहा है ॥ २९१ ॥

अंतिम कथन ।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ २९२ ॥

भावार्थः— जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिए प्रयोजनभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है । साथमें जगत्का एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ २९२ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
क्षुद्ररोगचिकित्सितं नामादितः पंचदशः परिच्छेदः ।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित
भावार्थदीपिका टीका में क्षुद्ररोगाधिकार नामक
पंद्रहवां परिच्छेद समाप्त हुआ ।
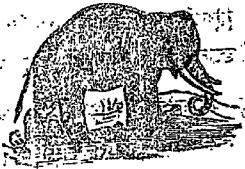
अथ षोडशः परिच्छेदः

मंगलाचरण.

सुंदरांगमभिवंद्य जिनेंद्रं । वंद्यमिंद्रमहितं प्रणिपत्य ॥
बंधुराननिबंधनरोगान् । सन्दधाम्यखिललक्षणयुक्तान् ॥ १ ॥

भावार्थः—परमौदारिक दिव्य देहको धारण करनेवाले, इंद्रसे पूजित श्री-जिनेंद्रकी वंदना कर ऐसे अनेक रोगोंको जिनके लिए मुख कारणीभूत है उनके सम्पूर्ण लक्षण व कारण के साथ वर्णन करेंगे ॥ १ ॥

प्रतिज्ञा.

श्वासकासविरसातिपिपासा । छर्द्यरोचकखरस्वरभेदो-॥
दावर्तनिजनिष्ठुरहिक्का- । पीनसाद्यतिविरूपविकारान् ॥ २ ॥

भावार्थः—श्वास, कास, विरस, छर्दि अरोचकता, कर्कश स्वरभेद उदावर्त, कठोर हिक्का व पीनस विरूप आदि रोगोंका वर्णन करेंगे ॥ २ ॥

लक्षितानखिललक्षणभेदैः । साधयेत्तदनुरूपविधानैः ।
साध्ययाप्यपरिवर्जयितव्यान् । योजयेदधिकृतक्रमवेदी ॥ ३ ॥

भावार्थः—अपने २ विविध प्रकार के लक्षणोंसे संयुक्त उपरोक्त रोगोंको उनके अनुकूल चिकित्सा क्रमको जाननेवाला वैद्य साध्य करें । लेकिन साध्य रोगोंको ही साध्य करें । याप्य को यापन करें । वर्जनीय को तो छोड देवें ॥ ३ ॥

अथ श्वासाधिकारः ।

श्वासलक्षण.

श्वास इत्यभिहितो विपरीतः । प्राणवायुरुपरि प्रतिपन्नः ॥
श्लेष्मणा सह निपीड्यतरं तं । श्वास इत्यपि स पंचविधोऽयम् ॥४॥

भावार्थः—प्राणवायु की गति विपरीत होकर जब वह केवल अथवा कफ के साथ पीडन करती हुई ऊपर जाता है इसे श्वास कहते हैं । यह श्वास पांचै प्रकार का होता है ॥ ४ ॥

१ महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास, तमकश्वास, क्षुद्रश्वास.

क्षुद्रतमकलक्षण.

क्षुद्रको भवति कर्मणि जातः। तन्निवृत्तिरपि तस्य निवृत्तौ ॥
घोषवान् स कफकासस मेतो। दुर्बलस्य तमकोऽन्नविरोधी ॥ ५ ॥

भावार्थः—कुछ परिश्रम करने पर जो श्वास उत्पन्न होता है विश्रांति लेने पर अपने आप ही शांत होता है उसे क्षुद्रश्वास कहते हैं। जो दुर्बल मनुष्य को शब्दयुक्त कफ व खांसी के साथ श्वास चढता है, और जो अन्न के खानेसे बढता है, उसे तमक-श्वास कहते हैं ॥५॥

छिन्न व महाश्वास लक्षण.

छिन्न इत्युदरपूरणयुक्तः। सोष्णबस्तिरखिलांगरुगुग्रः ॥
स्तब्धदृष्टिरिह शुष्कगलोऽति- । ध्वानशूलसहितस्तु महान्स्यात् ॥ ६ ॥

भावार्थः—जिस श्वास में पेट फूलता हो, बस्ति (मूत्राशय) में दाह होता हो, सम्पूर्ण अंगों में उग्र पीडा होती हो (जो ठहर ठहरकर होता हो) उसे छिन्न श्वास कहते हैं। जिस की मौजूदगी में दृष्टि स्तब्ध होती हो, गला सूख जाता हो, अत्यंत शब्द होता हो, शूल से संयुक्त हो ऐसे श्वास को महाश्वास कहते हैं ॥६॥

ऊर्ध्व श्वासलक्षण.

मर्मपीडितसमुद्भवदुःखो। वाढमुच्छ्वसिति नष्टनिनादः ॥
ऊर्ध्वदृष्टिरत एव महोर्ध्व- । श्वास इत्यभिहितो जिननाथैः ॥ ७ ॥

भावार्थः—जिस में अत्यधिक उर्ध्व श्वास चढता हो, साथ में मर्मभेदी दुःख होता हो, आवाजका नाश होगया हो, आंखे ऊपर चढ गई हो तो ऐसे महान् श्वासको जिनभगवानने ऊर्ध्वश्वास कहा है ॥ ७ ॥

साध्यासाध्य विचार.

क्षुद्रकस्तमक एव च साध्यो। दुर्बलस्य तमकोऽप्यतिकृच्छ्रः ॥
वर्जिता मुनिगणैरवशिष्टाः। श्वासिनामुपरि चारुचिकित्सा ॥ ८ ॥

भावार्थः—क्षुद्रक और तमकश्वास साध्य हैं। अत्याधिक दुर्बल मनुष्य हो तो तमक श्वास भी अत्यंत कठिनसाध्य है। बाकीके श्वासोंको मुनिगण त्यागने योग्य कहते हैं। यहां से आगे श्वास रोगियोंकी श्रेष्टचिकित्सा का वर्णन करेंगे ॥ ८ ॥

श्वासचिकित्सा.

छर्दनं प्रतिविधाय पुरस्तात्। स्नेहवस्तिविगतां च विशुद्धिं ॥
योजयेल्लवणताचवलानाम्। श्वासिनामुपशमौषधयोगान् ॥ ९ ॥

भावार्थः—बलवान् श्वासरोगीको पहिले वमन कराकर स्नेहबस्ति आदि अन्य शुद्धियोंकी योजना करनी चाहिए। निर्बल रोगी हो तो उपशम औषधियोंसे ही चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ९ ॥

पिप्पल्यादि घृत व भाङ्ग्यादि चूर्ण.

पिप्पलीलवणवर्गविपक्वं । सर्पिरेव शमयत्यतिजीर्णं ॥
शृंगवेरलवणान्वितभार्ङ्गी । चूर्णमप्यमलतैलविमिश्रम् ॥ १० ॥

भावार्थः—पीपल व लवण वर्गसे सिद्ध किया हुआ घी अत्यंत पुराने श्वासको शमन करता है। सोंठ लवण से युक्त भारंगी चूर्ण को निर्मल तेलमें मिलाकर उपयोग करें तो भी श्वासके लिए हितकर है ॥ १० ॥

भृंगराज तैल व त्रिफला योग.

भृंगराजरसविंशतिभागैः । पक्वतैलमथवा क्षतिवापम् ॥
श्वासकासमुपहंत्यतिशीघ्रं । त्रैफलाजलविपाज्यसमेतम् ॥ ११ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार हरड, बहेडा, आंवले के कषाय में घी मिलाकर सेवन करने से श्वास रोग शीघ्र नाश होता है, उसी प्रकार एक भाग तिल के तेलमें बीस भाग भांगरे का रस और हरड का वल्क डाल कर सिद्ध कर के सेवन करें तो, श्वास और कास को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ११ ॥

त्वगादि चूर्ण.

त्वक्त्रिकटुत्रिफलत्रयभार्ङ्गी । नृत्यकाण्डकफलानि विचूर्ण्य ॥
शर्कराज्यसहितान्यवलिह्य । श्वासमाशु जयतीद्धमपि प्राक् ॥ १२ ॥

भावार्थः—दालचिनी, सोंठ, मिरच, पीपल, हरड, बहेडा, आंवला व भारंगी नृत्यकांडक (?) का फल इनको अच्छीतरह चूर्णकर शक्कर और घी सहित चाटें तो बहुत दिनके पहिले खूब बढा हुआ भी श्वासरोग शीघ्र दूर होता है ॥ १२ ॥

तलपोटक योग.

पिप्पलीलवणतैलघृताक्तं । मूलमेव तलपोटकजातम् ॥
उत्तरीकृतमिदं क्षपयेत्तम् । श्वासमाश्वसुहरं क्षणमात्रात् ॥ १३ ॥

भावार्थः—पीपल, लवण, तैल व घृत से युक्त तलपोटकके (?) मूल को सेवन करें तो प्राणहर श्वासको भी क्षण भर में दूर करता है ॥ १३ ॥

१ ख पुस्तके पद्योऽयं नोपलभ्यते।

अथ कासाधिकारः ।

कास लक्षण.

प्राणमारुत उदानसमेतो । भिन्नकांस्यरवसंन्निभघोषः ॥
दुष्टतामुपगतः कुरुतेऽतः । कासरोगमपि पंचविकल्पम् ॥ १४ ॥

भावार्थः—दूषित प्राणवायु उदानवायु से मिलकर जब मुखसे बाहर आता है तो फूटे हुए कांसेके वर्तनके समान शब्द होता है । इसे कास [खांसी] कहते हैं । यह भी पांच प्रकार का होता है ॥ १४ ॥

कासका भेद व लक्षण.

दोषजक्षतहतक्षयकासा- । स्तेषु दोषजनिता निजलक्षाः ॥
दक्षसि प्रतिहतेऽध्ययनाद्यैः । सांद्ररक्तसहितः क्षतकासः ॥ १५ ॥

भावार्थः—वातज, पित्तज, कफज, क्षतज व धातुक्षयज इस प्रकार कास पांच प्रकार का है । दोषजकास तत्तद्दोषोंके लक्षणोंसे संयुक्त होते हैं । अध्ययनादिक श्रमसे हृदयमें क्षत (जखम) होनेपर जो कास उत्पन्न होता है जिसके साथ में गाढा स्राव (खून) आता है उसे क्षतज कास कहते हैं ॥ १५ ॥

दुर्बलो रुधिरछायमजस्रं । ष्ठीवति प्रबलकासविशिष्टः ।
सर्वदोषजनितः क्षयकासो । दुश्चिकित्स्य इति तं प्रवदंति ॥ १६ ॥

भावार्थः—धातुक्षय होनेके कारण से मनुष्य दुर्बल हो गया हो, अत एव प्रबल खांसी से युक्त हुआ हो, रक्तके सदृश लाल थूंक को थूंकता हो, उसे क्षयज कास समझना चाहिए । यह कास त्रिदोषजन्य है और दुश्चिकित्स्य होता है ॥१६॥

वातजकासचिकित्सा.

वातजं प्रशमयत्यतिकासं । छर्दनं घृतविरेचनमाशु ॥
स्नेहबस्तिरपि साधुविपक्वं । षट्पलं प्रथितसर्पिरुदारम् ॥१७॥

भावार्थः—तिवृद्ध वातज कासमें वमन, घृतसे विरेचन व स्नेहबस्तिके प्रयोग करें तो वातज कास शीघ्र ही उपशम होता है । एवं अच्छी तरह सिद्ध किये हुए षट्पल नामक प्रसिद्ध घृत के सेवन से भी वातज खांसी उपशमको प्राप्त होती है ॥१७॥

सैंधवं त्रिकटुहिंगुविडंगै- । श्चूर्णितैर्घृततिलोद्भवमिश्रैः ॥
स्नेहधूममपहंत्यनिलोत्थम् । कासमर्कपयसैव शिलालम् ॥१८॥

भावार्थः—सेंधालोण, त्रिकटु, हिंगु, वायविडंग इनको चूर्ण कर उसमें घृत व तिलका तेल मिलावे। इस से धूमपान करें। इस स्नैहिक धूमपान से वातज कास शीघ्र दूर होता है, जिस प्रकार कि अकौवे का दूध मनशिला, हरतालको नाश करता है ॥१८॥

वातजकासमें योगांतर.

कोष्णगव्यघृतमेव पिबेद्वा । तैलमेव लवणोषणमिश्रम् ॥
ऊषणत्रयकृताम्लयवागूं । क्षीरिकामपि पयोऽनिलकासी ॥१९॥

भावार्थः—वातज कास से पीडित मनुष्य सेंधानमक व मिरच के चूर्ण से मिश्रित कुछ गरम घी अथवा तैल पीवें एवं पीपल गजपीपल वनपीपल इनको डालकर की गई खट्टी यवागू, दूध आदि से बना हुआ खीर अथवा दूध ही पीना चाहिए ॥१९॥

वातजकासघ्न योगांतर.

व्याघ्रिकास्वरससिद्धघृतं वा । कासमर्दवृषभृंगरसैर्वा ॥
पक्वतैलमनिलोद्भवकासं । नाशयत्यभयया लवणं वा ॥ २० ॥

भावार्थः—कटेहरीके रस से सिद्ध घृत को पीने से अथवा कसोंदी, अडूसा व भृंगराजके पक्व तैल को अथवा हरड को नमक के साथ सेवन करनेसे वात से उत्पन्न खांसी नष्ट होती है ॥ २० ॥

पैत्तिककास चिकित्सा.

पुण्डरीककुमुदोत्पलयष्टी- । सारिवाकथिततोयविपक्वम् ॥
सर्पिरेव सितया शमयेत्तं । पित्तकासमसकृत्परिलीढम् ॥ २१ ॥

भावार्थः—कमल, श्वेतकमल, नीलकमल, मुलैठी सारिवा उनके काढे से सिद्ध किये हुए घृतको, शक्कर के साथ वार २ चाटे तो पित्तज कास शमन होता है ॥ ८१॥

पैत्तिककासघ्न योग.

पिप्पलीघृतगुडान्यपि पीत्वा । माहिषेण पयसा सहितानि ॥
पिष्टयष्टिमधुरेक्षुरसैर्वा । पित्तकासमपहंत्यतिशीघ्रं ॥ २२ ॥

भावार्थः—पीपल, घी व गुड इनको भैंस के दूधके साथ पीने से, अथवा मुलैठी को ईख के रस में पीसकर सेवन करने से, पित्तज कास शीघ्र नाश होता है ॥ २२ ॥

१ मष्टमधुरेक्षु इति पाठांतरं।

कफजकास चिकित्सा.

श्लेष्मकासरभयाघनशुण्ठी- । चूर्णमाशु विनिहंति गुडेन ॥
छर्दनं तनुशिरोऽतिविरेकाः । तीक्ष्णधूमकवलाः कटुलेहाः ॥ २३ ॥

भावार्थः—खस, मोथा, शुण्ठी, इनके चूर्णको गुडके साथ खावें तो श्लेष्मज कास दूर होता है । एवं वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, तीक्ष्ण धूमपान व कवल धारण कराना एवं कटुलेहोंका चटाना भी कफज कास में हितकर है ॥२३॥

क्षतज, क्षयजकासचिकित्सा.

यःक्षतक्षयकृतश्च भवेत्तं । कासमामलकगोक्षुरखर्जू- ॥
रप्रियाल्कमधुकोत्पलभार्ङी- । पिप्पलीकृतसमांशविचूर्णम् ॥२४॥

शर्करघृतसमेतमिदं यं- । स्त्वक्षमात्रमवभक्ष्य समक्षम् ॥
क्षीरभुक् क्षपयतीह समस्तं । दीक्षितो जिनमते दुरितं वा ॥२५॥

भावार्थः—आमला, गोखरू, खजूर, चिरौंजी मुलैठी, नीलकमल, भारंगी, पिप्पली इनको समान अंशमें लेकर चूर्ण बनावें । इससे, एक तोला चूर्ण को घी व शक्कर मिलाकर शीघ्र भक्षण करें और दूधके साथ भोजन करते रहें तो यह समस्त क्षत व क्षयसे उत्पन्न कासको नाश करता है, जैसा कि जैनमतमें दीक्षित व्यक्ति कर्मोंको नाश करता है ॥ २४॥२५ ॥

सक्तुपयोग.

शालिमापयवषष्टिकगोधू- । मप्रभृष्टवरपिष्टसमेतम् ॥
माहिषं पय इहाज्यगुडाभ्याम् । पाययेत् क्षयकृतक्षयकासे ॥ २६ ॥

भावार्थः—चावल, उडद, जौ, साठीधान्य, गेंहू इनको अच्छीतरह भूनकर पीसे, इस में घी गुड मिलाकर भैंसके दूध के साथ पिलानेसे क्षयज कास नाश होता है ॥ २६ ॥

अथ विरसरोगाधिकारः ।

विरसनिदान व चिकित्सा.

दोषभेदविरसं च मुखं प्र- । क्षालयेत्तदनुरूपकषायैः ॥
दंतकाष्टकवलग्रहगण्डू- । पौषधैरपि शिरोऽतिविरेकैः ॥२७॥

भावार्थः—(दोष भेदानुसार) वात आदि दोषों से, मुख का रस विपरीत (जायका खराब) हो जाता है, इसे विरस कहते हैं। इस रोग में तत्तद्दोषनाशक व मुख के रस[1] से विपरीतरससे युक्त औषधि से सिद्ध कषायों से मुखको धोना चाहिये। एवं अनुकूल दंतुन से दंतधावन योग्यऔषधिसे कवलधारण, गण्डूष व शिरोविरेचन कराना हितकर होता है ॥ २७ ॥

अथ तृष्णारोगाधिकारः।

तृष्णानिदान.

दोषदूषितयकृत्प्लिहया सं-। पीडितस्य गलताल्वविशोषात् ॥
जायते बलवती हृदि तृष्णा। सा च कास इव पंचविकल्पा ॥ २८ ॥

भावार्थः—जिसका यकृत् व प्लीहा (जिगर-तिल्ली) दोषोंसे दूषित होता जाता है, ऐसे पुरुष का गल व तालु प्रदेश सूख जानेसे हृदयमें बलवती तृष्णा (प्यास) उत्पन्न होती है। इसका नामक तृष्णा रोग है। खांसीके समान इसका भी भेद पांच[2] हैं ॥२८॥

दोषजतृष्णा लक्षण.

सर्वदोषनिजलक्षणवेदी। वेदनाभिरुपलक्षितरूपाम् ॥
साधयेदिह तृषामभिवृद्धां। त्रिप्रकारबहुभेषजपानैः ॥ २९ ॥

भावार्थः—सर्वदोषोंके लक्षण को जानने वाला वैद्य नाना प्रकार की वेदनाओंसे, जिसका लक्षण प्रकटित हैं ऐसी बढी हुई, तृष्णारोग को तीन प्रकारकी औषधियोंके पान से साधन करना चाहिए। सारांश यह है कि वातादि दोषजन्य तृष्णा को तत्तद्दोषोंके लक्षण से [यह वातज है पित्तज है आदि] जानकर, उन तीन दोषों को नाश करनेवाली तीन प्रकार की औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २९ ॥

क्षतजक्षयजतृष्णा लक्षण.

या क्षतात् क्षतजसंक्षयतो वा। वेदनाभिरथवापि तृषा स्यात् ॥
पंचमी हृदि रसक्षयजाता-। नैव शाम्यति दिवा च निशायाम् ॥३०॥

भावार्थः—शस्त्र आदि से शरीर जखम होने पर अधिक रक्तस्रावसे अथवा अत्यधिक पीडा के कारण से तृष्णा उत्पन्न होती है। इसे क्षतज तृष्णा कहते हैं। रक्त

१ जैसे कि कफोद्रेक से मुख नमकीन, पित्तोद्रेक से खट्टा कडुआ, वातोद्रेक से कषैला होता है ॥

२ वातज, पित्तज, कफज, क्षतज, क्षयज, इस प्रकार तृष्णाका पांच भेद हैं।

के क्षय होने से हृदय में जो तृष्णा उत्पन्न होती है जो [पानी पीते २ पेट भर जानेपर भी] रात्रि व दिन कभी बिलकुल शांत नहीं होता है उसे क्षयज तृष्णा कहते हैं ॥३०॥

तृष्णाचिकित्सा.

तृष्णकापि न विमुंचति कायं । वारिणोदरपुटे परिपूर्णे ॥
छर्दयेद्धिमजलेन विधिज्ञः । पिप्पलीमधुककल्कयुतेन ॥ ३१ ॥

भावार्थः--यदि पेटको पानीसे भर देनेपर भी प्यास बुजती नहीं, ऐसी अवस्थामें कुशल वैद्यको उचित है कि वह पीपल व ज्येष्टमधु के कल्कसे युक्त ठण्डे पानीसे छर्दन (वमन) करावें ॥ ३१ ॥

तृष्णानिवारणार्थ उपायांतर.

लेपयेदपि तथाम्लफलैर्वा । तप्तलोहसिकतादिविशुद्धम् ॥
पाययेन्मधुरशीतलवर्गैः । पक्वतोयमथवातिसुगंधम् ॥ ३२ ॥

भावार्थः--तृष्णा को रोकने के लिये, खट्टे फलों को पीसकर जिव्हापर लेप करना चाहिये । तथा लोह, बालू, चांदी, सोना आदि को तपाकर बुझाया हुआ, या मधुरवर्ग, शीतलवर्गोक्त औषधियों से सिद्ध, अथवा सुगंध औषधियो से मिश्रित या सिद्ध पानी को उसे पिलाना चाहिये ॥ ३२ ॥

वातादिजतृष्णाचिकित्सा.

वातिकीमहिमवारिभिरुष्ण- । पैत्तिकीमपि च शीतलतोयैः[1] ॥
श्लैष्मिकीं कटुकतिक्तकषायै- । र्वामयन्निह जयेदुरुतृष्णाम् ॥३३॥

भावार्थः—वातज तृष्णा में गरमपानीसे, पित्तज में ठण्डे पानी से, कफज में कटु, तिक्तकषायरस युक्त औषधियों से वमन कराता हुआ भयंकर तृष्णाको जीतनी चाहिए ॥ ३३ ॥

आमजतृष्णाचिकित्सा.

दोषभेदरहितामवितृष्णां । साधयेदखिलपित्तचिकित्सा- ॥
मार्गतो न हि भवंति यतस्ताः । पित्तदोषरहितास्तत एव ॥ ३४ ॥

भावार्थः—दोषज तृष्णा में जिसकी गणना की गई है ऐसी आमसे उत्पन्न[1]

1 रोचयेदिति पाठांतरं ॥

1 जो खाये हुए अन्नके अजीर्ण से उत्पन्न होती है, जिस में हृदयशूल, लार गिरना, ग्लानि आदि तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं उसे आमज तृष्णा कहते हैं । इस तृष्णाको दोषज तृष्णा में अंतर्भाव किया है। इसलिए पंच संख्याकी हानि नहीं होती है ।

तृष्णा को पैत्तिक तृष्णा में कही गई सम्पूर्ण चिकित्साक्रमके अनुसार साधन करें; क्यों कि पित्तदोष को छोडकर तृष्णा उत्पन्न हो ही नहीं सकती है ॥३४॥

तृष्णानाशकपान.

त्वक्कषायमथ शर्करया तं । क्षीरवृक्षकृतजातिरसं वा ।
सद्रसं बृहदुदुंवरजातम् । पाययेदिह तृषापरितप्तम् ॥३५॥

भावार्थः—दालचीनीके कषाय में शक्कर मिलाकर, क्षीरवृक्ष या जाई के रस अथवा बडे उदुंबर के रस को तृषासे परिपीडित रोगीको पिलाना चाहिए ॥३५॥

उत्पलादि कषाय.

उत्पलांबुजकशेरुकशृंगा- । टांघ्रिभिः कथितगालिततोयम् ॥
चंदनांबुघनवालकमिश्रं । स्थापयेन्निशि नभस्थलदेशे ॥३६॥

गंधतोयमतिशीतलमेव । द्राक्षया सह सितासहितं तत् ॥
पाययेदाधिकदाहतृषार्तं । मर्त्यमाशु सुखिनं विदधाति ॥ ३७ ॥

भावार्थः—नीलकमल, कमल, कसेरु, सिंघाडे, इनके जडसे सिद्ध किये हुए क्वाथ (काढा) में चंदन, खस, कपूर, नेत्रबालाको मिलाकर रात्रीमें चांदनीमें रखें। इस सुगंधित व शीतलजलको द्राक्षा व शक्कर के साथ अत्यधिक दाह व तृषा सहित रोगीको पिलावें। यह उसे सुखी बनायगा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

सारिवादि क्वाथ.

शारिवाकुशकशेरुककाशो- । शीरवारिदमधूकसपिष्टैः ॥
पक्वतोयमतिशीतसिताढ्यम् । पीतमेतदपहंत्यातितृष्णाम् ॥ ३८ ॥

भावार्थः—सारिवा, कुश, कसेरु, कासतृण, खस, नागरमोथा, महुआ इनको पीसकर काढा करें। जब वह ठण्डा होवें तब उसमें शक्कर मिलाकर पीवें तो यह भयंकर तृष्णाको दूर करता है ॥ ३८ ॥

अथ छर्दिरोगाधिकारः ।

छर्दि (वमन) निदान, व चिकित्सा.

छर्दिमप्यनिलपित्तकफोत्थं । साधयेदधिकृतौषधभेदैः ॥
सर्वदोषजनितामपि सर्वै- । र्भेषजैर्भिषगशेषविधिज्ञः ॥ ३९ ॥

भावार्थः—दोषोंके कुपित होने व अन्य कारणविशेषोंसे खाया हुआ जो कुछ भी पदार्थ मुखमार्गसे बाहर निकल आता है इसे छर्दि, वमन व उलटी कहते हैं। वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, आगंतुज, इस प्रकार छर्दिका भेद पांच है। इन वात आदिसे उत्पन्न छर्दि रोगोंमें तत्तद्दोषोंके लक्षण पाये जाते हैं। सन्निपातजमें तीनों दोषोंके लक्षण प्रकट होते हैं। जो मल, रक्त मांस आदि बीभत्स पदार्थोंको देखने आदिसे, गर्भोत्पत्तिके कारणसे, अजीर्ण व असात्म्य अन्नोंके सेवनसे और क्रिमिरोगसे जो छर्दि विकार (वमन) होता हैं, इसे आगंतुज छर्दि कहते है। उपरोक्त वातादिदोषजनित छर्दियोंको तत्तद्दोषनाशक औषधियोंके प्रयोगसे साध्य करना चाहिये। तीनों दोषोंसे उत्पन्न (सान्निपातज) छर्दिको तीनों दोषोंको नाश करनेवाली औषधियोंसे सम्पूर्ण चिकित्साविधिको जाननेवाला वैद्य, साधन (ठीक) करें ॥ ३८ ॥

आगंतुजछर्दिचिकित्सा.

दौहृदोत्कटमलक्रिमिभीभ- । त्सासात्म्यपथ्यतरभोजनजाताम् ॥
छर्दिमुद्धतनिजाखिलदोष । प्रक्रमैरुपचरेदुपगम्य ॥ ४० ॥

भावार्थः—गार्भिणी स्त्रियों की, मलकी उत्कटता, क्रिमिरोग बीभत्सपदार्थों को देखना, अपथ्य भोजन आदि से उत्पन्न आगंतुज छर्दि में, जिन २ दोषों के उद्रेक हो उन को जानकर तत्तद्दोषनाशक चिकित्सा विधि से, उपचार करें ॥ ४० ॥

छर्दिका असाध्यलक्षण.

सास्रपूयकफमिश्रितरूपो- । पद्रवाधिकनिरंतरसक्ताम् ॥
वर्जयेदिह भिषग्विदितार्थः । छर्दिमर्दिततनुं बहुमूर्च्छाम् ॥ ४१ ॥

भावार्थः—छर्दिसे पीडित रोगी, रक्त, पूय व कफसे मिश्रित वमन करता हो, अत्यधिक उपद्रवों से हमेशा युक्त रहता हो, वार २ मूर्छित होता हो तो ऐसे रोगी को अभिज्ञ वैद्य, असाध्य समझकर छोड देवें ॥ ४१ ॥

छर्दिमें ऊर्ध्वाधःशोधन.

छर्दिषु प्रबलदोषयुतासु । छर्दनं हितमधःपरिशुद्धिम् ॥
प्रोक्तदोषविहितौषधयुक्तम् । योजयेज्जिनमतक्रमवेदी ॥ ४२ ॥

भावार्थः—यदि छर्दि अत्यंत प्रबल दोषोंसे युक्त हो तो उस में पूर्वोक्त, तत्तद्दोषनाशक औषधियों से, वमन व विरेचन जिनमतके आयुर्वेदशास्त्र की चिकित्साक्रम को जाननेवाला वैद्य करावें ॥ ४२ ॥

छर्दिरोगीको पथ्यभोजन व वातजछर्दिचिकित्सा.

शुष्कसात्म्यलघुभोजनमिष्टम् । साम्लसैंधवयुता च यवागूः ॥
क्षीरतोयसहितं परिपीतं । छर्दिमाशु शमयत्यनिलोत्थम् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—इस में सूखा, शरीरको अनुकूल व लघु भोजन करना हितकर है। आम्ल सहित सेंधा लोण से युक्त यवागू तथा गरम दूध में पानी मिलाकर पीवे तो छर्दि रोग शीघ्र दूर होता है ॥ ४३ ॥

वातजछर्दिमें सिद्धदुग्धपान.

बिल्वसंधवबृहतीद्वयटंटू- । कांघ्रिपक्वजलसाधितदुग्धम् ॥
पाययेदहिममाज्यसमेतम् । छर्दिषु प्रबलवातयुतासु ॥४४॥

भावार्थः—बेल, अगेथु, छोटी बडी कटेहली, टेंटू इन के जड से पकाये हुए पानीसे सिद्ध गरम दूध में घी मिलाकर पिलावे तो वातकृत प्रबल छर्दिरोग दूर होता है ॥ ४४ ॥

पित्तजछर्दिचिकित्सा.

आज्यमिश्रममलामलकानां । क्वाथमिक्षुरसदुग्धसमेतम् ॥
पाययेदधिकशीतलवर्गैः । छर्दिषु प्रबलपित्तयुतासु ॥ ४५ ॥

भावार्थः—घृतसे मिश्रित निर्मल आमलेके क्वाथ में ईखका रस व दूधको एवं शीतल वर्गौषधियोंको मिलाकर पिलाने से पित्तकृत प्रबल छर्दिरोग दूर होता है ॥४५॥

कफजछर्दिचिकित्सा.

पाठया सह नृपांघ्रिपमुस्ता । निंबसिद्धमहिमं कटुकाढ्यम् ॥
पाययेत्सलिलमग्र वरास- । छर्दिमेतदपहंत्यचिरेण ॥ ४६ ॥

भावार्थः—पाठा, आरग्वध (अमलतासका गूदा) मोथा व निंबसे सिद्ध पानी में सोंठ मिरच, पीपल आदि कटुऔषधि मिलाकर पिलाने से कफकृत छर्दिरोग शीघ्र दूर होता है ॥ ४६ ॥

सन्निपातजछर्दिचिकित्सा.

सर्वदोषजनितामपि साक्षा- । च्छर्दिमाशुविहितामृतवल्ली ॥
क्वाथमेव शमयेच्च सिताढ्यं । पाययेत्समरं परमार्थम् ॥ ४७ ॥

भावार्थः—सन्निपातज छर्दिरोग में कांडे आदि से नष्ट नहीं हुआ है ऐसे गिलोयके क्वाथमें शक्कर मिलाकर पिलाने से अवश्य ही उपशम होता है ॥ ४७ ॥

वमन में सक्तुप्रयोग.

शर्करावहुलनागलवंगैः । संस्कृतं मगधजान्वितलाजा ॥
तर्पणं सततमेव यथान्नं । भक्षयेत्तृषि हितं वमनेषु ॥ ४८ ॥

भावार्थः—शक्कर, बडी इलायची, नागकेशर, लवंग इन से संस्कृत व पीपल के चूर्ण से युक्त, लाजा के (खील) तर्पण को, वमन में तृष्णा से पीडित रोगियों को खिलावें तो अत्यंत हितकर होता है ॥ ४८ ॥

कोलमज्जसहितामलकाना- । मस्थिचूर्णमथवा सितमिश्रम् ॥
भक्षयेत्सकलगंधसिताभिः । नस्यमप्यतिहितं वमनेषु ॥ ४९ ॥

भावार्थः—वेर की गिरी, और आंवले की गुठली की गिरी, इन के चूर्ण में शक्कर मिलाकर खिलाना, अथवा सम्पूर्ण सुगंध औषधि और शक्कर से नस्य देना वमन रोग में अत्यंत हितकर है ॥ ४९ ॥

छर्दि में पथ्यभोजन ।

भक्ष्यभोज्यबहुपानकलेह्यान् । स्वादुगंधपरिपाकविचित्रान् ॥
योजयेदिह भिषग्वमनार्ते- । ष्वातुरेषु विधिवद्विधियुक्तान् ॥५०॥

भावार्थः—वमन से पीडित रोगियों के लिये कुशल वैद्य स्वादिष्ट, सुगंध व अच्छीतरह से किये गये योग्य भक्ष्य, भोजनद्रव्य, पानक व लेहों की विधिपूर्वक योजना करें ॥ ५० ॥

अथारोचकरोगाधिकारः ।

अरोचक निदान ।

दोषवर्गबहुशोकनिमित्ता- । द्भोजनेष्वरुचिरप्रतिरूपा ।
प्राणिनामनलवैगुणतः स्यात् । जायते स्वगुणलक्षणलक्ष्या ॥ ५१ ॥

भावार्थः—वातपित्तादि दोषों के प्रकुपित होने से, शोक भय, क्रोध इत्यादि कारण से व जठराग्नि के वैगुण्य से, प्राणियों को भोजन में अप्रतिम अरुचि उत्पन्न होती है जो कि, अपने २ गुणोंके अनुसार तत्तल्लक्षणों से लक्षित देखे जाते हैं ।

१ खीलके चूर्ण (सत्तु) व अन्य किसीके सत्तुओंको फलरस, पानी, दूध आदि द्रव पदार्थ में भिगो दिया जाता है उसे तर्पण कहते हैं । यहां तो खील के चूर्ण को पानी में भिगो कर और उक्त शक्कर आदि को डालकर खावें ।

अर्थात् दोषादि के अनुसार उत्पन्न अन्यान्य लक्षणों से संयुक्त होती है इसे अरोचक रोग कहते हैं ॥ ५१ ॥

अरोचक चिकित्सा.

अरोचक चिकित्सा.

देशकालकुलजातिविशेषान् । सात्म्यभोजनरसानधिगम्या– ॥
रोचकेषु विदधीत विचित्रा– । नन्नपानबहुलक्षणलेहान् ॥ ५२ ॥

भावार्थः—अरुचिरोग से पीडित रोगीयों को उनके, देश, काल, कुल, व जाति के विशेष से, उन के अनुकूल, भोजन रस आदिकों को जानकर, अर्थात् किस देश कुल व जाति में उत्पन्नवाले को कौनसा भोजन व रस, सात्म्य व रुचिकारक होगा? इत्यादि जानकर उनको नानाप्रकार के विचित्र रुचिकारक से युक्त, अन्न, पान, अवलेह आदि को भक्षणार्थ देवें जिस से अरुचि मिट जाय ॥ ५२ ॥

वमन आदि प्रयोग.

छर्दनैरपि विरेकनिरूहै– । रग्निदीपनकरौषधयोगैः ॥
नस्यतीक्ष्णकबलग्रहगण्डू– । षैररोचकिनमाशु नियुंज्यात् ॥ ५३ ॥

भावार्थः—उस अरोचकी रोगीको वमन विरेचन, और निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । एवं अग्निदीपन करनेवाले औषधियोंके प्रयोग, नस्य, कवलग्रहण, गण्डूष आदिका भी प्रयोग शीघ्र करना चाहिये ॥ ५३ ॥

मातुलुंगरस प्रयोग.

यावशूकमणिमन्थजपथ्या– । त्र्यूषणामलकचूर्णविमिश्रम् ॥
मातुलुंगरसमत्र पिबेत्तै– । र्दंतकाष्ठमरुचिष्वपि दद्यात् ॥ ५४ ॥

भावार्थः—अरुचिरोग से पीडित रोगी को यवक्षार, सैंधानमक, हरड, सोंठ पीपल, आंवला, इन के चूर्ण को बिजौरे निंबू के रस में डाल कर पिलाना चाहिये । एवं इन ही चीजों से दांत साफ कराना चाहिये ॥ ५४ ॥

मुख प्रक्षालादि.

मूत्रवर्गरजनीत्रिफलाम्ल– । क्षारतिक्तकटुकोष्णकषायैः ॥
क्षालयेन्मुखमरोचकिनं तं– । दंतकाष्ठसहितैरवलेहैः ॥ ५५ ॥

---

१ इस का वातज, पित्तज कफज सन्निपातज आगंतुज (शोक क्रोध लोभ भय आदिसे उत्पन्न) प्रकार पांच भेद होता है ॥ ऊपर श्लोकस्थ, शोक शब्द को उपलक्षण जानाना चाहिये।

भावार्थः—सूत्रवर्ग व हलदी हरड़ बहेडा आंवला, खट्टी, क्षार, कडुआ, कटुक उष्ण व कषैली औषधियोंके कषाय से अरोचक रोगीके मुख को प्रक्षालन [कुल्ला] कराना चाहिये । एवं खट्टा कटु आदि रस युक्त दांतनों से दांतून कराना व योग्य अवलेहोंको भी चटाना हितकर है ॥ ५५ ॥

पथ्य भोजन.

आम्लतिक्तकटुसौरभशाकै– । र्मृष्टरूक्षलघुभोजनमिष्टम् ।
संततं स्वमनसोप्यनुकूलं । विध्दरोचकनिपीडितनृणाम् ॥ ५६ ॥

भावार्थः—जो अरोचक रोग से पीडित हैं उन रोगियों को सदा खट्टा, कडुवा कटुक (चरपरा) मनोहर शाक भाजियोंसे युक्त स्वादिष्ट रूक्ष व लघु भोजन कराना हितकर होता है । एवं यह भी ध्यान में रहे कि वह भोजन उस रोगीके मनके अनुकूल हो ॥ ५६ ॥

अथ स्वरभेदरोगाधिकारः ।

स्वरभेदनिदान व भेद.

स्वाध्यायशोकविषकंठविघातनोच्च– ।
भाषाद्यनेकविधकारणतः स्वरोप– ॥
घातो भविष्यति नृणामखिलैश्च दोषै– ।
र्मेदोविकाररुधिरादपि षड्विधस्सः ॥ ५७ ॥

भावार्थः—जोरसे स्वाध्याय [पढना] करना, अतिशोक, विषभक्षण, गले में लकडी आदि से चोट लगना, जोर से बोलना, भाषण देना आदि अनेक कारणों से मनुष्यों को स्वर का घात [नाश] होता है [गला बैठ जाता है] जिसे, स्वरभेद रोग कहते हैं । यह प्रकुपित वात, पित्त, कफ, त्रिदोष, मेद, व रक्त से उत्पन्न होता है । इसलिये उस का भेद छह हैं ॥५७॥

वातपित्तकफज स्वर भेदलक्षण.

वाताहतस्वरनिपीडितमानुषस्य ।
भिन्नोरुगर्दभखरस्वरतातिपित्तात् ॥
संतापितास्यगलशोषविदाहतृष्णा ।
कंठावरोधिकफयुक्कफतः स्वरः स्यात् ॥ ५८ ॥

भावार्थः—वातिक स्वर भेदसे पीडित मनुष्य का स्वर निकलते समय टूटासा मालूम होता है व गधे के सदृश कर्कश होता है । पित्तज रोग से पीडित को बोलते समय

गला सूखता है। गले में जलन होती है और अधिक प्यास लगता है। कफज स्वरभेद में, गला कफ से रुक् जाता है, स्वर भी कफ से युक्त होकर निकलता है ॥ ५८ ॥

त्रिदोषज, रक्तज स्वरभेद लक्षण.

प्रोक्ताखिलप्रकटदोषकृतस्त्रिदोष- ।
लिंगस्वरो भवति वर्जयितव्य एषः ॥
कृष्णाननोष्णसहितो रुधिरात्मकः स्या- ।
त्तं चाप्यसाध्यमृषयस्स्वरभेदमाहुः ॥ ५९ ॥

भावार्थः— उपर्युक्त प्रकार के सर्व लक्षण एक साथ प्रकट होजाय तो उसे त्रिदोषज स्वरभेद समझना चाहिए। यह असाध्य होता है। रक्त के प्रकोप से उत्पन्न स्वरभेदमें मुख काला हो जाता है और अधिक गर्मी के साथ स्वर निकलता है। इसे भी ऋषिगण असाध्य कहते हैं ॥५९॥

मेदजस्वरभेदलक्षण।

मेदोभिभूतगलतालुयुतो मनुष्यः ।
कृच्छ्राच्छनैर्वदति गद्गदगाढवाक्यं ॥
अव्यक्तवर्णमतएव यथा प्रयत्ना- ।
न्मेदःक्षयाद्भवति सुस्वरता नरस्य ॥ ६० ॥

भावार्थः—जब मेद दूषित होकर, गल व तालु प्रदेश में प्राप्त होता है तो मेदज स्वरभेद उत्पन्न होता है। इससे युक्त मनुष्य, बहुत कष्टसे धीरे २ गद्गद कंठसे कठिन वचन को बोलता है। वर्ण का भी स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकता है। इसलिये प्रयत्नसे मेदोविकारको दूर करना चाहिये। इससे उसे सुस्वर आता है ॥ ६० ॥

स्वरभेदचिकित्सा.

सर्वान्स्वरातुरनरानभिवीक्ष्य साक्षात् ।
स्नेहादिभिः समुचितौषधयोग्ययोगैः ॥
दोषक्रमादुपचरेदथ वात्र कास- ।
श्वासप्रशांतिकरभेषजमुख्यवर्गैः ॥ ६१ ॥

भावार्थः— सर्वप्रकार के स्वरोपघात से पीडित रोगियों को अच्छी तरह परीक्षा कर स्नेहनादि विधिके द्वारा एवं उस के योग्य औषधियोंके प्रयोगसे. अथवा श्वासकासके उपशामक औषधियों से दोषों के क्रमसे चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६१ ॥

वातपित्तकफज स्वरभेदचिकित्सा.

भुक्तोपरि प्रतिदिनं घृतपानमिष्टं ।
वाताहतस्वरविकारनरेषु पित्ते ॥
क्षीरं पिबेद्घृतगुडप्रबलं बलासे ।
क्षारोदकं त्रिकटुकत्रिफलाविमिश्रम् ॥ ६२ ॥

भावार्थ:—वातज स्वरभेदसे पीडित मनुष्योंको भोजनानंतर प्रतिदिन घीका पीना इष्ट होता है अर्थात् घृतपान करना चाहिये। पित्तज स्वरोपघातमें घी व गुडसे मिला हुआ दूध पीना चाहिये। कफसे उत्पन्न रोग में क्षारजलमें त्रिकटु व त्रिफला मिश्रितकर पीना चाहिये ॥ ६२ ॥

नस्य गण्डूष आदि के प्रयोग.

भृंगामलामलकसद्रससाधितं य- ।
त्तैलं स्वनस्यविधिना स्वरभेदवेदी ।
गण्डूषयूषकवलग्रहधूमपानै- ।
स्संयोजयेत्तदनुरूपगणैस्स्वरार्तम् ॥ ६३ ॥

भावार्थ:—स्वरभेदरोग के स्वरूप को जाननेवाला वैद्य स्वरभेद से पीडित रोगीको भांगरा व आंवले के रस से साधित तैलसे विधि के अनुसार नस्य देवें। एवं तदनुकूल योग्य औषधिसमूह से, गण्डूष (कुल्ला कराना) यूषप्रयोग, कवल धारण, धूमपान कराना चाहिये ॥ ६३ ॥

यष्टीकषायपरिमिश्रितदुग्धसिद्धं ।
मुद्गप्रभूतघृतपायसमेव भुक्त्वा ॥
सप्ताहमाशु वरकिन्नरसुस्वरोयं ।
साक्षाद्भवेत्स्वरविकारमपोह्य धीमान् ॥ ६४ ॥

भावार्थ:—मुलैठी के कषाय से मिश्रित दूधसे सिद्ध मूंगके पायस (खीर) में घी मिलाकर सात दिन खावें तो संपूर्ण प्रकार के स्वर विकार दूर होकर उसका स्वर सुंदर किन्नर के समान होजाता है ॥ ६४ ॥

मेदज सन्निपातज व रक्तज स्वरभेद चिकित्सा

मेदोविकारकृतदुस्स्वरभेदमत्र ।
विद्वान् जयेत्कफविधिं विधिवद्विधाय ॥

दोषत्रयात्क्षजनितं परिहृत्य तस्याऽ ।
साध्यत्वमप्यनुविचार्य भिषग्यतेत ॥ ६५ ॥

भावार्थः—मेदो विकार से उत्पन्न स्वरभेद में कफज स्वरभेद की जो चिकित्सा कही है, वही चिकित्सा करें । त्रिदोषज व रक्तज भेद को तो असाध्य कह कर, उस असाध्यता के विषय में अच्छीतरह विचार कर चिकित्सा के करने में प्रयत्न करें ॥ ६५ ॥

स्वरभेदनाशक योग.

भंगाख्यपल्लवयुतासितसत्तिलान्वा ।
संभक्षयेन्मरिचसच्चणकप्रभुंकम् ॥
क्षीरं पिबेत्तदनुगव्यघृतप्रगाढं ।
सोष्णं सशर्करमिह स्वरभेदवेदी ॥ ६६ ॥

भावार्थः—स्वरभेद से संयुक्त रोगी, भांगरे के पत्ते के साथ, काले तिलों को अथवा मिरच के साथ चने की डाली को खाकर ऊपर से गव्य घृत व शक्कर से मिला हुआ गरम दूध पीवे ॥ ६६ ॥

उदावर्त रोगाधिकारः

अत्रोदावर्तार्तमप्यातुरं ज्ञा- ।
त्वा यत्नात् कारणैर्लक्षणैश्च ।
सम्भेदैषज्यैस्साधयेत्साधु धीमान् ।
तस्योपेक्षा क्षिप्रमेव क्षिणोति ॥ ६७ ॥

भावार्थः—उदावर्त रोग को, उसके कारण व लक्षणों से परीक्षा कर अच्छी औषधियोंके प्रयोग से उस की चिकित्सा बुद्धिमान् वैद्य करें । यदि उपेक्षा की जाय तो वह शीघ्र ही प्राणघात करता है । ॥ ६७ ॥

उदावर्त संप्राप्ति.

वातादीनां वेगसंधारणाद्यः । सर्पेंद्राशन्यग्निशस्त्रोपमानः ॥
क्रुद्धोऽपानोप्यूर्ध्वमुत्पद्य तीव्रो- । दानव्याप्तः स्यादुदावर्तरोगः ॥ ६८ ॥

भावार्थः—जब यह मनुष्य वातादिकोंके वेग को रोकता है उस से कुपित अपानवायु ऊपर जाकर उदानवायु में व्याप्त होता है तब

उदावर्त नामक रोग उत्पन्न होता है। यह सर्प, बिजली, अग्नि व शस्त्रके समान भयंकर होता है ॥ ६८ ॥

अपानवातरोधज उदावर्त.

तस्माद्वेगो नैव संधारणीयो । दीर्घायुष्यं वांछतस्तत्तथैव ॥
शूलाध्मानश्वासहृद्रोगहिक्का । रूद्धोऽपानस्तत्क्षणादेव कुर्यात् ॥ ६९ ॥

भावार्थः—इसलिये जो लोग दीर्घायुष्य चाहते हैं वे कभी वेग संधारण न करें अर्थात् उपस्थित वेगोंको नहीं रोके। अपानवायु के रोधसे उसी समय शूल, आध्मान, श्वास हृदयरोग, हिचकी, आदि विकार होते हैं ॥ ६९ ॥

मूत्रावरोधज उदावर्त.

मार्गात् भ्रष्टोऽपानवायुः पुरीषं । गाढं रुध्वा वक्त्रतो निक्षिपेद्वा ॥
मूत्रे रुद्धे मूत्रमल्पं सृजेद्वा । ध्माता बस्तिस्तत्र शूला भवंति ॥ ७० ॥

भावार्थः—एवं वह अपानवायु स्वमार्ग से भ्रष्ट होकर मलको एकदम गाढा कर रोक देता है और मुखसे बाहर फेंकता है। मूत्र का रोध होने पर मूत्र बहुत थोडा २ निकलता है। साथ ही वस्ति में आध्मान (फूल जाना) व शूल होता है ॥७०॥

मलावरोधज उदावर्त.

शूलाटोपः श्वासवर्चो विबंधो । हिक्का वक्त्राद्वा पुरीषप्रवृत्तिः ॥
अज्ञानाद्रुद्धे पुरीषे नराणम् । जायेदुद्यत्कर्तिकावात् तीव्रा ॥ ७१ ॥

भावार्थः— अज्ञान से मल शूल के वेग को रोक देने से शूल, आटोप (गुडगुडाहट) श्वास, मल का विबंध, हिचकी, मुख से मल की प्रवृत्ति एवं कतरने जैसी तीव्र पीडा होती है ॥ ७१ ॥

शुक्रावरोधज उदावर्त.

मूत्रापानद्वारमुष्कातिशोफः । कृच्छाच्छुक्रस्यापमूत्रप्रवृत्तिः ।
शुक्राश्मर्यस्संभवंत्यत्र कृच्छाच्छुक्रस्यैवात्रापि वेगे निरुद्धे ॥ ७२ ॥

भावार्थः—वीर्य के वेग को निरोध करने पर मूत्रद्वार, अपानद्वार (गुदा) व अण्ड में शोफ होता है। और कठिनता से वीर्य से युक्त मूत्रकी प्रवृत्ति होती है। इस से भयंकर शुक्राश्मरी रोग भी होता है ॥ ७२ ॥

---

१ जिस में वात मलमूत्र आदिकोंके ऊर्ध्व भ्रमण होता है उसे [illegible] रोग कहते हैं।
ऊर्ध्वं वातविण्मूत्रादीनां आवर्तो भ्रमणं यस्मिन् स उदावर्तः ॥

वमनावरोधज अश्रुरोधज उदावर्त.

छर्द्या वेगे सन्निरुध्दे तु कुष्ठं । यैरेवान्नं दोषजालैर्विदग्धम् ।
शोकानंदाद्यश्रुपाते निरुद्धे । मूर्धाक्ष्णोर्वात्रामयाः संभवन्ति ॥ ७३ ॥

भावार्थः—वमनको रोकने पर जिन दोषोंसे वह रुद्ध अन्न दूषित होजाता है उन्हीं दोषों के आधिक्य से कुष्ठ उत्पन्न होता है। शोक व आनंद से उत्पन्न आंसुवोंके रोकनेसे शिर व नेत्र संबंधी रोग उत्पन्न होते हैं ॥७३॥

क्षुतनिरोधज उदावर्त.

नासा वक्त्राक्ष्युत्तमांगोद्भवास्ते । रोगास्स्युर्वेगं निरुद्धे क्षुतस्य ॥
सर्वोदावर्तेषु तेषु क्रिया विद्वान्वाताधेः सच्चिकित्सां प्रकुर्यात् ॥ ७४ ॥

भावार्थः—छींक का निरोध करने पर नाक, मुख, नेत्र व मस्तक संबंधी रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सात प्रकार के उदावर्त रोगोंमें वातव्याधिकी चिकित्साका प्रयोग कुशल वैद्य करें ॥ ७४ ॥

शुक्रोदावर्त व अन्योदावर्त की चिकित्सा.

शुक्रोदावर्तार्तमत्यंतरूपा । मर्त्यं स्पर्शैर्हर्षयेत् कामिनी प्राक् ॥
सर्वोदावर्तेषु यद्यच्च योग्यं । तत्तत्कुर्यादत्र तत्रौषधिज्ञः ॥ ७५ ॥

भावार्थः— शुक्रोदावर्त रोगसे पीडित मनुष्य को अधिकरूपवती स्त्री, अपने सुख स्पर्श आदिसे संतोषित करें । इसी प्रकार सर्व प्रकारके उदावर्त रोगोंमें भी कुशल वैद्य जिस को जो अनुकूल हो वैसी क्रिया करें ॥ ७५ ॥

अथ हिक्कारोगाधिकारः ।

हिक्कानिदान.

यदा तु पवनो मुहुर्मुहुरुपैति वक्त्रं भृशं ।
लिपहांत्रयकृदाननान्यधिकवेगतः पीडयन् ॥
हिनस्ति यतएव गाधोपशहितस्ततः प्राणिनां ।
वदंति जिनवल्लभा विषमरूपहिक्कामयं ॥ ७६ ॥

भावार्थ— जब प्रकुपित वायु प्लिहा (तिल्ली) अंत्र (आंतडी) यकृत (जिगर) इन को अत्यधिक वेग से पीडित करता हुआ और हिग हिग शब्द करता हुआ, ऊपर

१ विरुद्ध इति पाठांतरं [विदग्धं दूषितं]

(उदर से मुखकी तरफ) बार २ आता है इसे हिक्का (हिचकी) रोग कहते हैं। यह रोग प्राणियोंके दिव्य प्राणको नाश करता है। इसलिये इसका नाम हिक्का है ऐसा जिनेंद्र देवने कहा है ॥ ७६ ॥

हिक्काके पांच भेद.

कफेन सहितोतिकोपवशतो महाप्राणइ- ।
त्युदीरितमरुत्करोत्यखिलपंचहिक्कामयं ॥
अथान्नजनितां तथात्र यमिकां पुनः क्षुद्रिकां ।
महाप्रलयनामिकामधिकभूरिगंभीरिकां ॥ ७७ ॥

अर्थ—कफसे युक्त प्राण नामक महा-वायु कुपित होकर पांच प्रकार के हिक्का रोगको उत्पन्न करता है। उनका नाम क्रमसे अन्नजा, यमिका, क्षुद्रिका, महाप्रलया व गंभीरिका है ॥ ७७ ॥

अन्नजयमिका हिक्कालक्षण.

सुतीव्रकटुभोजनैर्मरुदधः स्वयं पातितः ।
तदोर्ध्वमत उत्पतन् हृदयपार्श्वपीडावहः ॥
करोत्यधिकृतान्नजां विदितनामहिक्कां पुन- ।
श्चिरेण यमिकां च वेगयुगलैः शिरः कंपयन् ॥ ७८ ॥

भावार्थः—तीक्ष्ण व कटुपदार्थों के अत्यधिक भोजनसे नीचे दबा हुवा वात एकदम ऊपर आकर हृदय व फसली में पीडा उत्पन्न करते हुए जो हिक्काको उत्पन्न करता है उसे अन्नजा हिक्का कहते हैं, और जो कंठ व सिरको कंपाते हुए ठहर ठहरकर एक २ दफे दो दो हिचकियोंको उत्पन्न करता है उसे यमिका हिक्का कहते हैं ॥ ७८ ॥

क्षुद्रिकाहिक्का लक्षण.

चिरेण बहुकालतो विदितमंदवेगः क्रम- ।
क्रमेण परिवर्द्धते प्रकटजत्रुमूलादतः ॥
नृणामनुगतान्ननामसहितात्र हिक्का स्वयं ।
भवेदियमिह प्रतीतनिजलक्षणैः क्षुद्रिका ॥ ७९ ॥

भावार्थः—जो बहुत देरसे, मंदवेग के साथ, क्रमक्रम से, जत्रुकास्थि (हंसली

१ असून् हिनस्तीति हिक्का ।

हड्डी) के मूलसे, अर्थात् कंठ और हृदय की संधिसे आता है और जिस का नाम भी सार्थक है ऐसे स्वलक्षण से लक्षित उसे क्षुद्रिका हिक्का कहते हैं ॥ ७९ ॥

महाप्रलय व गंभीरिका हिक्कालक्षण.

स्ववेगपरिपीडितात्मबहुमर्मनिर्मूलिका ।
महासहितनामिका भवति देहसंचालिनी ॥
स्वनाभिसमभिभूय हिक्कयति या च हिक्का नरा- ।
नुपद्रवति च प्रणादयुतघोरगंभीरिका ॥ ८० ॥

भावार्थः—जो मर्मस्थानों को अपने वेग के द्वारा अत्यंत पीडित करते हुए और समस्त शरीरको कम्पाते हुए हमेशा आता है उसे महाहिक्का कहते हैं । और जो नाभिस्थानको दबाकर उत्पन्न होता है व शरीरमें अनेक ज्वरादि उपद्रवोंको उत्पन्न करता है एवं गम्भीर शब्द से युक्त होकर आता है उसे गंभीरका हिक्का कहते हैं ॥८०॥

हिक्काके असाध्य लक्षण.

दीर्घीकरोति तनुमूर्ध्वगतां च दृष्टिं ।
हिक्का नरः क्षवथुना परिपीडितांगः ॥
क्षीणोऽत्यरोचकपरः परिभग्नपार्श्वो-
प्यत्यातुरश्च भिषजा परिवर्जनीयः ॥ ८१ ॥

भावार्थः—जो हिक्का रोगीके शरीरको लंबा बनाता है अर्थात् तनाव उत्पन्न करता है, जिसमें रोगी अत्यंत क्षीण है, दृष्टिको ऊपर करता है, और छींकसे युक्त है, अरोचकतासे सहित है एवं जिसका पार्श्व (पसली) टूटासा मालूम होता है ऐसे रोगी को वैद्य असाध्य समझकर छोडें ॥ ८१ ॥

हिक्का चिकित्सा.

हिक्कोद्गारस्थापनार्थं च वेगा- । न्रोद्धुं धीमान् योजयेद्योजनीयैः ॥
प्राणायामैस्तर्जनैस्ताडनैर्वा । मर्त्यं शीघ्रं त्रासयेद्वा जलाद्यैः ॥ ८२ ॥

भावार्थः—हिक्का के उद्गार को बैठालने एवं वेगों को रोकने के लिये, अर्थात् उस के प्रकोप को रोकने के लिये कुशल वैद्य योग्य योजनाओंको करें । इसके लिये प्राणायाम कराना, तर्जन [डराना] ताडन करना और जल आदि से कष्ट देना हितकर है ॥ ८२ ॥

हिक्कानाशक योग.

शर्करामधुकमागधिकानां । चूर्णमेव शमयत्यतिहिक्कां ॥
हैमगैरिकमथाज्यसमेतं । लेहयेन्मणिशिलामथवापि ॥ ८३ ॥

भावार्थः—शक्कर, मुलैठी, पीपल, इनके चूर्ण के भक्षणसे अत्यंत वेगसहित हिक्का भी उपशम होता है । एवं सोना व गेरू को घी में मिलाकर चाटना चाहिये अथवा मनःशिलाको घी में मिश्रकर चाटना चाहिये ॥ ८३ ॥

हिक्कानाश योगत्रय.

सैंधवाढ्यमहिमाम्लरसं वा । सोष्णदुग्धमथवा घृतमिश्रम् ॥
क्षारचूर्णपरिकीर्णमनल्पम् । प्रातरेव स पिबेदिह हिक्की ॥ ८४ ॥

भावार्थ—हिक्का रोगवालों को, प्रातःकाल खट्टे बिजोरे लिंबु आदि के खट्टे रस में सेंधालोण मिलाकर कुछ गरम करके पिलावें । अथवा गरमदूध मे घी व क्षारों के चूर्ण डालकर पिलावें तो शीघ्र ही हिक्का नाश होता है ॥ ८४ ॥

हिक्कान्त अन्यान्य योग.

अंजनामलककोलसलाजा— । तर्पणं घृतगुडप्लुतमिष्टं ॥
हिक्किनां कटुकरोहिणिको वा । पाटलीकुसुमतत्फलकल्कः ॥ ८५ ॥

भावार्थः—सुरमा, आंवला, बेर, खील इन को घी व गुडमें भिगोकर हिक्कियोंको खिलाना चाहिए । कटुक रोहिणी का प्रयोग भी उनके लिए उपयोगी है । एवं पाढल का पुष्प व फल का कल्क बनाकर प्रयोग करना भी हितकारक है ॥ ८५ ॥

अधिकऊर्ध्ववातयुक्त हिक्काचिकित्सा.

ऊर्ध्ववातबहुलास्त्वथ हिक्का— । स्वादिशेदधिकबस्तिविधानम् ॥
सैंधवाम्लसहितं च विरेकम् । योजयेदहिमभोजनवर्गम् ॥ ८६ ॥

भावार्थः—अत्यधिक ऊर्ध्ववात से युक्त हिक्का में विशेषतया बस्तिविधानक प्रयोग करना चाहिये । सेंधालोण व आम्ल से युक्त विरेचनकी भी योजना करें तथा उष्णभोजनवर्ग का भी प्रयोग करें ॥ ८६ ॥

अथ प्रतिश्यायरोगाधिकारः ।

प्रतिश्यायनिदान.

हिक्कासम्यग्विधिवदभिधाय प्रतिश्यायवर्गान् ।
वक्ष्ये साक्षाद्विहितसकलैः लक्षणैर्भेषजाद्यैः ॥

मूर्ध्नि व्याप्ताः पवनकफपित्तासृजस्ते पृथग्वा ।
क्रुद्धा कुर्युर्निजगुणयुतान् तान् प्रतिश्यायरोगान् ॥ ८७ ॥

भावार्थः— अभीतक हिक्का रोगके लक्षण, चिकित्सा आदि को विधिपूर्वक कहकर, अब प्रतिश्याय (जुखाम) रोग के समूह को उन के समस्त लक्षण व योग्य औषधियों के साथ वर्णन करेंगे । मस्तक में व्याप्त वात, कफ, पित्त व रक्त व्यस्त या समस्त जिस समय कुपित होजाते हैं वह अपने गुण से युक्त प्रतिश्याय नामक रोगोंको उत्पन्न करते हैं ॥ ८७ ॥

प्रतिश्याय का पूर्वरूप.

स्यादत्यंतं क्षवथुरखिलांगप्रमर्दो गुरुत्वं ।
मूर्ध्निस्तम्भः सततमनिमित्तैस्तथा रोमहर्षः ॥
तृष्णाद्यास्ते कतिपयमहोपद्रवास्संभवंति ।
प्राग्रूपाणि प्रभवति सतीह प्रतिश्यायरोगे ॥ ८८ ॥

भावार्थः— प्रतिश्याय रोग उत्पन्न होने की सम्भावना हो तो, [रोग होने के पहिले २] छींक आती है, संपूर्ण अंग टूटते हैं, शिर में भारीपना रहता है, अंग जकड जाते हैं, बिना विशेष कारण के ही हमेशा रोमांच होता रहता है, एवं प्यास आदि अनेक महान् उपद्रव होते हैं । ये सब प्रतिश्याय के पूर्वरूप हैं ॥ ८८ ॥

वातज प्रतिश्यायके लक्षण.

नासास्त्रच्छस्रुतिपिहितविरूपातिनद्धेव कण्ठे ॥
शोषस्तात्वधरपुटयोश्शंखयोश्चातितोदः ।
निद्राभंगः क्षवथुरतिकष्टस्वरातिप्रभेदो ॥
वातोद्भूते निजगुणगणः स्यात्प्रतिश्यायरोगे ॥ ८९ ॥

भावार्थः— नाक से स्वच्छ [पतली] स्राव होना, नाक आच्छादित, विरूप व बंदसा होना, गला, तालु व ओठ सूख जाना, कनपटियोमें सुई चुभने जैसी तीव्र पीडा होना, निद्रानाश, अधिक छींक आना, गला बैठ जाना एवं अन्य वातोद्रेक के लक्षण पाया जाना, ये वातज प्रतिश्याय के लक्षण हैं ॥ ८९ ॥

पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण.

पीतस्सोष्णस्स्रवति सहसा स्रावदुष्टोत्तमांगाद् ।
घ्राणाद्धूमज्वलनसदृशो याति निश्वासवर्गः ॥

१ उपरोक्त प्रकार वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज इस प्रकार जुखाम का पांच भेद हैं ।

तृष्णादाहप्रकटगुणयुक् सत्प्रतिश्यायमेनम् ।
पित्तोद्भूतं विदितनिजचिन्हैर्वदेद्वेदवेदी ॥ ९० ॥

भावार्थः— जिसमें मस्तकसे पीत व उष्ण दुष्टस्राव एकदम बहता हो, नाक से धूंआ व अग्नि के समान गरम निश्वास निकलता हो एवं तृष्णा, दाह व अन्य पित्तके लक्षण प्रकट होते हों, उसे शास्त्रज्ञ वैद्य पित्तके विकार से उत्पन्न प्रतिश्याय रोग कहें अर्थात् ये पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण हैं ॥ ९० ॥

कफजप्रतिश्याय के लक्षण.

उच्छूनाक्षो गुरुतरशिरः कंठताल्वोष्ठशीर्ष- ।
कंडूप्रायः शिशिरबहलश्वेतसंस्रावयुक्तः ॥
उष्णप्रार्थी घनतरकफोद्धंधनिश्वासमार्गो ।
श्लेष्मोत्थेऽस्मिन् भवति मनुजोऽयं प्रतिश्यायरोगे ॥ ९१ ॥

भावार्थः—जिसमें इस मनुष्य की आंख के ऊपर सूजन हो जाती है, शिर भारी होजाता है, कंठ, तालु, ओंठ व शिरमें खुजली चलती है, नाकसे ठण्डा गाढा व सफेद स्राव बहता है, उष्ण पदार्थों की इच्छा करता है। निश्वासमार्गमें अति घन [गाढा] कफ जम जाने के कारण, वह बंद रहता है, उसे कफ विकारसे उत्पन्न प्रतिश्याय रोग समझना चाहिये ॥ ९१ ॥

रक्तज प्रतिश्याय लक्षण.

रक्तस्रावो भवति सततघ्राणतस्ताम्रचक्षु- ।
र्वक्षोघातैः प्रतिदिनमतः पीडितस्स्यान्मनुष्यः ॥
सर्वं गंधं स्वयमिह महापूतिनिश्वासयुक्तो ॥
नैवं वेत्ति प्रबलरुधिरोत्थप्रतिश्यायरोगी ॥ ९२ ॥

भावार्थः—रक्त विकार से उत्पन्न प्रतिश्यायरोग में नाक से सदा, रक्तस्राव होता है। आंखे लाल हो जाती हैं। प्रतिदिन वह उरःक्षतके लक्षणोंसे युक्त होता है। स्वयं दुर्गंध निश्वास से युक्त रहनेसे और समस्त गंध को वह समझता ही नहीं ॥ ९२ ॥

सन्निपातज प्रतिश्याय लक्षण.

भूयो भूयस्स्वयमुपशमं यात्यकस्माच्च शीघ्रं ।
भूत्वा भूत्वा पुनरपि मुहुर्यः प्रतिश्यायनामा ॥
पक्वो वा स्यादथ च सहसापक्व एवात्र साक्षात् ।
सोयं रोगो भवति विषमस्सर्वजस्सर्वलिंगः ॥ ९३ ॥

भावार्थः—जो प्रतिश्याय बार २ होकर अकस्मात् शीघ्र पक कर अथवा विना पक्व के ही उपशम होता है, फिर बार २ होकर मिटता है एवं जिसमें सर्वदोषोंके चिन्ह प्रकट हो जाते हैं, इसे सन्निपातज प्रतिश्याय कहते हैं ॥ ९३ ॥

दुष्टप्रतिश्यायलक्षण.

शीघ्रं शुष्यत्यथ पुनरिह क्लिद्यते चापि नासा ।
स्रोतो रोधादतिबहुकफो नह्यते तत्क्षणेन ॥
वैकल्यं स्यात् व्रजति सहसा पूतिनिश्वासयोगा- ।
द्गंधं सर्वं स्वयमिह नवेत्त्येव दुष्टाख्यरोगी ॥ ९४ ॥

भावार्थ—जिस में नासारंध्र शीघ्र सूख जाता है पुनः गीला हो जाता है वृद्ध कफ स्रोतोंको रोक देता है, अतएव नाक रुक जाता है और कभी सहसा खुल जाता है । निश्वास दुर्गंध होने के कारण उसे किसी प्रकार का गंध का ज्ञान नहीं होता है । इसे दुष्टप्रतिश्याय रोग कहते हैं ॥ ९४ ॥

प्रतिश्यायकी उपेक्षा का दोष.

सर्वे चैते प्रकटितगुणा ये प्रतिश्यायरोगा ।
अज्ञैर्दोषप्रमथनगुणोपेक्षिताः सर्वदैव ॥
साक्षात्कालांतरमुपगता दुष्टतामेत्ति कृच्छ्राः ।
प्रत्याख्येया क्षयविषमरोगावहा वा भवंति ॥ ९५ ॥

भावार्थः—ये उपर्युक्त सर्व प्रकार के जिन के लक्षण आदि कहचुके हैं ऐसे प्रतिश्याय रोगों के अज्ञानसे दोष दूर नहीं किया जायगा अर्थात् सकाल में चिकित्सा न कर के उपेक्षा की जायगी तो कालांतरमें जाकर वे बहुत दूषित होकर कष्टसाध्य, वा प्रत्याख्येय [छोडने योग्य] हो जाते हैं अथवा क्षय आदि विषम रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ ९५ ॥

प्रतिश्यायचिकित्सा.

दोषापेक्षाविहितसकलैर्भेषजैस्संप्रयुक्तो ।
सर्पिःपानाच्छमयति नवोत्थं प्रतिश्यायरोगं ॥
स्वेदाभ्यंगत्रिकटुबहुगण्डूषणैः शोधनाद्यैः ।
पक्वं कालाद्घनतरकफं स्रावयेन्नस्यवर्गैः ॥ ९६ ॥

१ वैद्यं इति पाठांतरं ।

भावार्थः—दोषों की अपेक्षा से लिये गये (जिन की जहां जरूरत हो) सम्पूर्ण औषधियों से संयुक्त अथवा सिद्ध घृत के पीने से नवीन प्रतिश्याय रोग [अपक्व] शमन होता है, एवं इसपर [पाकार्थ] स्वेद, अभ्यंग [मालिश] सोंठ, मिरच, पीपल आदि से गण्डूष, वमन आदि शुद्धिविधान का प्रयोग करना चाहिये। कालांतर में जो पक्व होगया है जिसका कफ गाढा होगया है उसे नस्यप्रयोग करके बहाना चाहिये ॥ ९६ ॥

वात, पित्त, कफ, व रक्तज प्रतिश्यायचिकित्सा.

वाते पंचप्रकटलवणैर्युक्तसर्पिः प्रशस्तं ।
पित्ते तिक्तामलकमधुरैः पक्वमेतच्च रक्ते ।
श्लेष्मण्युष्णैरतिकटुकतिक्तातिरूक्षैः कषायैः ॥
पेयं विद्वद्विहितविधिना तत्प्रतिश्यायशांत्यै ॥ ९७ ॥

भावार्थः—यदि वह प्रतिश्याय वातज हो तो घृतमें पंचलवण मिलाकर पीना अच्छा है। पित्तज व रक्तज हो तो कडुआ आम्ल व मधुर रसयुक्त औषधियों से पकाया हुआ घृत पीना हितकर है। कफज प्रतिश्याय में उष्ण अतिकटुक तिक्त, रूक्ष और कषैली औषधियों से सिद्ध घृतको विधिपूर्वक पिलावे तो प्रतिश्याय की शांति होती है।

प्रतिश्यायपाचनके प्रयोग.

पाकं साक्षाद्व्रजति सहसा सोष्णशुंठीजलेन ।
क्षीरेणापि प्रवरमधुशिग्रुप्रयुक्तार्द्रकेण ॥
तीक्ष्णैर्भक्तैः कटुकलकलायाढकीमुद्गयूषैः ।
कौलत्थाम्लैर्मरिचसहितैस्तत्प्रतिश्यायरोगः ॥ ९८ ॥

भावार्थः—शुण्ठी से पकाये हुए गरम जलको पिलानेसे, लाल सेंजन व आद्रक से सिद्ध दूध के पीने से, तीक्ष्णभक्त राई, कल (बेर) मटर, अरहर व मूंग इनसे सिद्ध यूष [दाल] से और मिरच के चूर्ण से सहित कुलथी की कांजी के सेवन से प्रतिश्याय रोग शीघ्र ही पक जाता है ॥९८॥

सन्निपातज व दुष्ट प्रतिश्यायचिकित्सा.

सोष्णक्षारैः कटुगणविपक्वैर्घृतैः नावपीडै- ।
स्तीक्ष्णैर्नस्यैरहिमपरिषेकावगाहावलेहैः ॥
गण्डूषैर्वा कवलबहुधूमप्रयोगालुलेपैः ।
सद्यः शाम्यत्यखिलकृतदुष्टप्रतिश्यायरोगः ॥९९॥

भावार्थः—सर्वदोषों से दूषित दुष्ट प्रतिश्यायरोग उष्ण, क्षार, कटु औषधि वर्ग से पकाया हुआ घृत, अवपीडन, नस्य व अन्य तीक्ष्ण नस्य, उष्णसेक, उष्णकषाय जलादिक में अवगाहन, अवलेह, गण्डूष, कवलग्रहण, बहुधूम प्रयोग व लेप से शीघ्र उपशम होता है ॥ ९९ ॥

प्रतिश्याय का उपसंहार.

इति प्रतिश्यायमहाविकारान् ।
विचार्य दोषक्रमभेदभिन्नान् ॥
प्रसाधयेत्तत्प्रतिकारमार्गै- ।
रशेषभैषज्यविशेषवेदी ॥ १०० ॥

भावार्थः—इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से भिन्न २ दोषोंसे उत्पन्न प्रतिश्याय महारोगों को अच्छीतरह जानकर संपूर्ण औषधियों को जाननेवाला वैद्य उन दोषो-के नाश करने वाले प्रयोगों के द्वारा चिकित्सा करें ॥ १०० ॥

अंतिम कथन।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ १०१ ॥

भावार्थः— जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिए प्रयोजनभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथमें जगतका एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ १०१ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
क्षुद्ररोगचिकित्सितं नामादितः षोडशः परिच्छेदः ।

—:०:—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित
भावार्थदीपिका टीका में क्षुद्ररोगाधिकार नामक
सोलहवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

—०—

अथ सप्तदशः परिच्छेदः ।

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा.

जिनपतिं प्रणिपत्य जगत्रय- । प्रभुगणार्चितपादसरोरुहम् ॥
हृदयकोष्ठसमस्तशरीरजा- । मयचिकित्सितमत्र निरूप्यते ॥ १ ॥

अर्थः— जिन के चरणकमल को तीन लोकके इंद्र आकर पूजते हैं ऐसे श्री जिननाथ को नमस्कार कर हृदय, कोष्ठ व समस्त शरीर में उत्पन्न होनेवाले रोग व उनकी चिकित्सा अत्र कही जाती है ॥ १ ॥

सर्वरोगों की त्रिदोषों से उत्पत्ति.

निखिलदोषकृतामयलक्षण- । प्रतिविधानविशेषविचारणं ॥
क्रमयुतागमतत्वविदां पुनः । पुनरिह प्रसभं किमु वर्ण्यते ॥२॥

अर्थः—सर्व प्रकार के रोग वात पित्त कफ के विकार से हुआ करते हैं, कुशल वैद्य उन दोषों के क्रमको जानकर उनकी चिकित्सा करें। दोषों के सूक्ष्मतत्व को जानने वाले विद्वान् वैद्यों को इन बातों को वार २ कहने की जरूरत नहीं है ॥२॥

त्रिदोषोत्पन्न पृथक् २ विकार.

प्रवरवातकृतातिरुजा भवे- । दतिविदाहतृषाद्यपि पित्तजम् ।
उरुघनस्थिरकण्डुरता कफो- । द्भवगुणा इति तान् सततं वदेत् ॥३॥

भावार्थः—वातविकार से शरीर में अत्यधिक पीडा होती है । पित्तविकार से दाह तृषा आदि होती हैं । कफके विकारसे स्थूल, घन, स्थिर व खुजली होती है । ऐसा हमेशा जानना चाहिए ॥ ३ ॥

रोगपरीक्षाका सूत्र.

अकथिता अपि दोषविशेषजा । न हि भवंति विना निजकारणैः ।
अखिलरोगगणानवबुध्य तान् । प्रतिविधाय भिषक् समुपाचरेत् ॥ ४ ॥

भावार्थः—दोषविशेषों [वात पित्त, कफों] के विना रोगों की उत्पत्ति होती ही नहीं, इसलिये उन दोष रोगों के नाम, लक्षण, आदि विस्तार के साथ, वर्णन नहीं करने पर भी समस्त रोगों को, दोषों के लक्षणों से (वातज है या पित्तज ? इत्यादि) निश्चय कर उनके योग्य, चिकित्सा भिषक् करें ॥ ४ ॥

अथ हृद्रोगाधिकारः ।

वातज हृद्रोग चिकित्सा.

पवनदोषकृताधिकवेदना- । हृदयरोगनिपीडितमातुरम् ॥
मगधजान्वितसर्षपमिश्रितै- । रहिमवारिभिरेव च वामयेत् ॥ ५ ॥

भावार्थः—वातके विकार से जब हृदय में अत्यधिक वेदना होती है उस रोगी को अर्थात् वातज हृद्रोग से पीडित रोगी को पीपल सरसों से मिला हुआ गरम पानी पिलाकर वमन कराना चाहिये ॥ ५ ॥

वातज हृद्रोगनाशक योग.

लवणवर्गयवोद्भवमिश्रितं । घृतमतः प्रपिबेद्धृदयामयी ॥
त्रिकटुहिंग्वजमोदकसैंधवा- । नपि फलाम्लगणैः पयसाथवा ॥ ६ ॥

अर्थ—वातज हृदयरोगीको लवणवर्ग व यवक्षार से मिला हुआ घृत पिलावें। एवं त्रिकटु, हींग, अजवाईन व सेंधालोण इनको खट्टे फलसमूहके रसके साथ अथवा दूध के साथ पिलाना चाहिये ॥ ६ ॥

पित्तज हृद्रोगचिकित्सा.

अधिकपित्तकृते हृदयामये । घृतगुडाप्लुतदुग्धयुतौषधैः ॥
वमनमत्र हितं सविरेचनम् । कथितपित्तचिकित्सितमेव वा ॥ ७ ॥

अर्थ—यदि पित्त के विशेष उद्रेक से हृदय रोग होजाय तो उस में [पित्तज हृदय रोगमें] घृत, गुड व दूध से युक्त [पित्तनाशक] औषधियोंसे वमन कराना ठीक है एवं विरेचन भी कराना चाहिए । साथ ही पूर्वकथित पित्तहर चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

कफज हृद्रोगचिकित्सा.

कफकृतोग्रमहाहृदयामये । त्रिकटुकोष्णजलैरिह वामयेत् ।
अपि फलाम्लयुता त्रिवृता भृशं । लवणनागरकैस्स विरेचयेत् ॥ ८ ॥

अर्थ—कफविकारसे उत्पन्न हृदयगत महारोग में [कफज हृद्रोग में] त्रिकटु से युक्त उष्णजलसे वमन कराना चाहिये । एवं निशोथ, खट्टा फल, सेंधालोण व शुंठीसे विरेचन कराना चाहिए ॥८॥

हृद्रोग में बस्तिप्रयोग.

तदनुरूपविशेषगुणौषधै- । रखिलबस्तिविधानमपीष्यते ॥
हृदयरोगगणप्रशमाय तत् । क्रिमिकृतस्य विधिश्च विधीयते ॥९॥

भावार्थः—हृद्रोग के उपशमन करने के लिये तत्तद्दोषोंके उपशमने योग्य औषधियों से बस्ति का भी प्रयोग करना चाहिये । यहां से आगे कृमि रोगके निदान व चिकित्सा का वर्णन करेंगे ॥ ९ ॥

अथ क्रिमिरोगाधिकारः ।

कृमिरोग लक्षण.

शिरसि चापि रुजो हृदये भृशं । वमथुसक्षवथुज्वरसंभवैः ॥
क्रिमिकृताश्च मुहुर्मुहुरामयाः । प्रतिदिनं प्रभवंति तदुद्गमे ॥१०॥

भावार्थः—शरीर में कृमिरोगों की उत्पत्ति होनेपर शिर व हृदय में अत्यंत पीडा, वमन, छींक व ज्वर उत्पन्न होता है । एवं बार २ कृमियों से उत्पन्न अन्य अतिसार भ्रम, हृद्रोग आदि रोग भी प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं ॥१०॥

कफपुरीषरक्तज कृमियां.

असितरक्तसिताः क्रिमयस्सदा । कफपुरीषकृता बहुधा नृणां ॥
नखशिरोंगरुहक्षतदंतभ- । क्षकगणाः रुधिरप्रभवाः स्मृताः ॥११॥

भावार्थः—मनुष्योंके कफ व मल में काला, लाल, सफेद वर्ण की नाना प्रकार की क्रिमियां होती हैं । एवं नाखून, शिरका बाल, रोम, क्षत (जखम) व दंत को भक्षण करने वाली कृमियां रक्त में होती हैं ॥ ११ ॥

कृमिरोग चिकित्सा.

क्रिमिगणप्रशमाय चिकीर्षुणा । विविधभेषजचारुचिकित्सितं ॥
सुरसयुग्मवरार्जकफणिज्जक । स्वरससिद्धघृतं प्रतिपाययेत् ॥ १२ ॥

भावार्थः—क्रिमियोंके उद्रेकको शमन करने के लिए कुशल वैद्य योग्य विविध औषधियोंके प्रयोग से चिकित्सा करें । तथा काली तुलसी, पलाश, छोटी पत्ती की तुलसी, इन के रस से सिद्ध घृत का पिलाना हितकर है ॥ १२ ॥

कृमिरोग शमनार्थ शुद्धिविधान.

कटुकतिक्तकषायगणौषधैः- । रुभयतश्च विशुद्धिप्रशंस्यलम् ॥
लवणतीक्ष्णतरैश्च निरूहणं । क्रिमिकुलप्रशमार्थमुदाहृतम् ॥ १३ ॥

भावार्थः—कटुक, तिक्त व कषायवर्ग की औषधियोंसे वमन विरेचन कराना क्रिमिरोगके लिए हितकर है । सेंधानमक व तीक्ष्ण औषधियों से निरूहण बस्तिका प्रयोग करना भी क्रिमिसमूहके शमन के लिए हितकर है ॥ १३ ॥

क्रमिघ्न स्वरस.

अपि शिरीषरसं किणिहीरसं । प्रवरकेंबुककिंशुकसद्रसम् ॥
तिलजमिश्रितमेव पिबेन्नरः । क्रिमिकुलानि विनाशयितुं ध्रुवं ॥ १४ ॥

भावार्थः—सिरस, चिरचिरा, केमुक, पलाश, इनके रस को तिलके तेलमें मिलाकर पीनेसे क्रिमियोंका समूह अवश्य ही नष्ट होता है ॥ १४ ॥

विडंग चूर्ण.

कृतविडंगविचूर्णमनेकशः । पुनरिहाश्वशकृद्रसभावितम् ॥
तिलजशर्करया च विमिश्रितं । क्रिमिकुलप्रलयावहकारणम् ॥ १५ ॥

भावार्थ— वायविडंगके चूर्ण को अच्छी तरह कईबार घोडे की लीद के रस से भावना देकर फिर तिलका तेल व शक्कर के साथ मिलाकर उपयोग करने पर क्रिमिकुल अवश्य ही नष्ट होता है ॥ १५ ॥

मूषिककर्णादियोग.

अपि च मूषिककर्णरसेन वा । प्रवररालिविडंगविचूर्णितम् ।
परिविलोड्य घृतेन विपाचितं । भवति तत्क्रिमिनाशनभक्षणम् ॥१६॥

भावार्थ—रालि [?] वायुविडंग के चूर्ण को मूसाकानी के रस में घोलें । फिर उसे घृतके साथ पकाकर खानेपर क्रिमिनाश होता है ॥ १६ ॥

क्रिमिनाशक तैल.

वितुषसारविडंगकषायभावितितिलोद्भवमेव विरेचनौ- ॥
षधगणैः परिपक्वमिदं पिबन् । क्रिमिकुलक्षयमाशु करोत्यसौ ॥ १७ ॥

भावार्थ—तुषरहित वायुविडंग के कषाय से भावित तिल से निकाले हुए तैल को विरेचनौषधिगणोंके द्वारा पकाकर पीनेसे सर्व क्रिमिरोग शीघ्र ही दूर होते हैं ॥ १७ ॥

सुरसादि योग.

सुरसवंधुरकंदलकंदकैः । परिविपक्वसुतक्रमयाम्लिकाम् ॥
अतिशिरां सघृतां त्रिदिनं पिबे- । दुदरसर्पविनाशनकारिकाम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—तुलसी, वायविडंग, सफेदखैर कंदक (वनसूरण) इन से पकायी हुई छाछ से मिश्रित गरम कांजी में घी मिलाकर तीन दिन पीने से उदर में रहने वाली संपूर्ण क्रमि नष्ट हो जाती हैं ॥ १८ ॥

क्रिमिघ्न योग.

शपुपघृष्टमिहाष्टदिनांतरम्। दधिरसेन पिबेत्क्रिमिनाशनम् ॥
अथ कुलत्थरसं सतिलोद्भवं। त्रिकटुहिंगुविडंगाविमिश्रितम् ॥ १९ ॥

भावार्थः—दही के तोड के साथ इंद्रायण के कल्क को मिलाकर आठ दिन में एक दफे पीना चाहिये। उससे क्रिमिनाश हो जायगा। तथा कुलथीके रस या तिल के तेल में त्रिकटु, हिंग, वायविडंग को मिलाकर लेना भी हितकर है ॥ १९ ॥

पिप्पलीमूल कल्क.

सुरसजातिरसेन च पेशितं। प्रवरपिप्पलिमूलमजांबुना ॥
प्रतिदिनं प्रपिबेत्परिसर्पवान्। कटुकतिक्तगणैरशनं हितम् ॥ २० ॥

भावार्थः—क्रिमिरोग से पीडित रोगीको तुलसी व जाई के रस के साथ पिसा हुआ पीपली मूल को, बकरे के मूत्र के साथ प्रतिदिन पिलाना और कटुतिक्तगणोक्त द्रव्यों से भोजन देना अत्यंत हितकर होता है ॥ २० ॥

रक्तज क्रिमिरोग चिकित्सा.

कफपुरीषकृतानखिलान् जये—। द्बहुविधैः प्रकटीकृतभेषजैः ॥
रुधिरसंजनितान्क्रिमिसंचयान्। कथितकुष्ठचिकित्सितमार्गतः ॥२१॥

भावार्थः—कफज और मलज क्रिमियोंको पूर्वोक्त अनेक औषधियों के प्रयोगसे जीतना चाहिये। रक्तमें उत्पन्न क्रिमिसमूहोंको कुष्टरोगकी चिकित्साके अनुसार जीतना चाहिये ॥ २१ ॥

क्रिमिरोग में अपथ्य.

दधिगुडेक्षुरसाम्रफलान्यलं। पिशितदुग्धगणान्मधुरान्रसान्।
सकलशाकयुताशनपानकान्। परिहरेत्क्रिमिभिः परिपीडितः ॥२२॥

भावार्थः—क्रिमिरोगसे पीडित मनुष्य दही, गुड, ईखका रस, आम इत्यादि फल, सर्व प्रकार के दूध, मांस व मधुररस, सर्व प्रकारके शाक से युक्त भोजन पानको वर्जन करें ॥ २२ ॥

अथ अजीर्णरोगाधिकारः।

आम, विदग्ध, विष्टब्धाजीर्ण लक्षण.

पुनरजीर्णविकल्पमपीष्यते। मधुरमन्नमिहाममथाम्लताम् ॥
उपगतं तु विदग्धमतीव रुग्। मलनिरोधनमन्यदुदीरितम् ॥२३॥

भावार्थः—अब यहांसे आगे अजीर्ण रोग का लक्षण, भेद आदि के साथ वर्णन करेंगे। जो खाया हुआ आहार जीर्ण न हो [पचे नहीं] इसे अजीर्ण रोग कहते हैं। इस का आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण इस प्रकार तीन भेद हैं। खाया हुआ अन्न कच्चा और मधुर रहें, मीठा डकार आदि आवें इसे आमाजीर्ण कहते हैं। जब भक्षित आहार थोडा पच कर खट्टा हो जावें उसे विदग्धाजीर्ण कहते हैं। जिस से पेट में अत्यंत पीडा होती हो, और पेट फूल जावें और मल भी रुक गया हो उसे विष्टब्धाजीर्ण कहते हैं ॥ २३ ॥

अजीर्ण से अलसक विलम्बिका विशूचिका की उत्पत्ति.

अलसकं च विलंबिकया सह । प्रवरतीव्ररुजा तु विषूचिका ॥
भवति गौरिव योऽत्ति निरंतरं । बहुतरान्नमजीर्णमतोऽस्य तत् ॥ २४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य नानाप्रकार अन्नोंको गायके समान हमेशा खाता रहता है उसे अजीर्ण होकर भयंकर अलसक, विलम्बिका और अत्यंत तीव्र पीडा करनेवाली विशूचिका रोग उत्पन्न होता है ॥ २४ ॥

अलसक लक्षण.

उदरपूरणतातिनिरुत्सहो । वमथुतृड्मरुदुद्भ्रमकूजनम् ॥
मलनिरोधनतीव्ररुजारुचि- । स्त्वलसकस्य विशेषितलक्षणम् ॥ २५ ॥

भावार्थः—जिसमें पेट बिलकुल भरा हुआ मालुम हो रहा हो, अत्यंत निरुत्साह मालुम हो रहा हो, वमन होता हो, नीचे की तरफसे वात रुक् कर ऊपर कंठ आदि स्थानोंमें फिरता हो, मलमूत्र रुक जाता हो, तीव्र पीडा होती हो, और अरुचि हो उसे अलसक रोग जानना चाहिए। अर्थात् यह अलसक रोग का लक्षण है ॥२५॥

विलम्बिका लक्षण.

कफमरुत्प्रबलातिनिरोधतो । ह्युपगतं च निरुद्धमिहाशनं ॥
इह भवेदतिगाढविलंबिका । मनुजजन्मविनाशनकारिका ॥ २६ ॥

भावार्थ—कफ व वातके अत्यंत निरोधसे खाया हुआ आहार न नीचे जाता है न ऊपर (न विरेचन होता है न तो वमन ही) ही जाता है अर्थात् एकदम रुक जाता है उसे विलंबिका रोग कहते हैं। यह अत्यंत भयंकर है। वह मनुष्यजन्मको नाश करनेवाला है ॥ २६ ॥

१ आमाजीर्ण कफ से, विदग्धाजीर्ण पित्त से और विष्टब्धाजीर्ण वात से उत्पन्न होता है ॥

विषूचिका लक्षण.

वमथुतृड्भ्रमशूलविवेष्टनैः। परिविमूर्च्छनताद्यतिसारकैः।
चलनजृंभणदाहविवर्णकैर्हृदयवेदनया तु विषूचिका ॥ २७ ॥

भावार्थ—जिसमें वमन, तृषा, भ्रम, शूल, उद्वेष्ट [गीले कपडे से ढका हुआ जैसा अनुभव] मूर्छा, अतिसार, कम्प, जंभाई, दाह, विवर्ण, हृदयपीडा आदि विकार प्रकट होते हैं उसे विषूचिका (हैजा) रोग कहते हैं ॥ २७ ॥

अजीर्ण चिकित्सा.

वमनतापनवर्तियुताग्निदीपनकरौषधपानविधानतः ॥
प्रशमयेद्द्रुतमन्नमजीर्णतामनशनाहिमवार्युपयोगतः ॥ २८ ॥

भावार्थः—वमन, स्वेदन, वर्तिप्रयोग [औषध निर्मित बत्तीको गुदामें रखना] अग्निदीपन करनेवाली औषधियोंका सेवन, पान, लंघन (उपवास) और गरम पानी पीना, आदि क्रियाविशेषोंसे अजीर्ण रोगको उपशमन करना चाहिए ॥ २८ ॥

अजीर्ण में लंघन.

अनशनं त्विह कार्यमजीर्णजि- । त्तृषित एव पिबेदहिमोदकम् ॥
अशनभेषजदोषगणान्स्वयं । न सहते जठराग्निरभावतः ॥ २९ ॥

भावार्थः—अजीर्ण को जीतने के लिये लंघन अवश्यमेव करें अर्थात् अजीर्ण के लिये लंघन अत्यंत श्रेष्ठ है। प्यास लगने पर ही गरम पानी पीवें। क्यों कि अजीर्ण रोगी की जठराग्नि अतिक्षीण होने से वह भोजन, औषध और दोषों को पचाने में समर्थ नहीं होती है। ॥ २९ ॥

अजीर्ण नाशक योग.

सततमेव पिबेल्लवणोदकं । गुडयुतानपि सर्षपकानपि ॥
त्रिकटुसैंधवहिंगुविचूर्णमि- । श्रितफलाम्लमिहोष्णमजीर्णवान् ॥ ३० ॥

भावार्थः—अजीर्ण रोगी सदा सेंधानमक को गरमपानी में डाल कर पीवें। तथा सरसों और इन दोनों को गुड मिलाकर खावें। अथवा त्रिकटु सेंधालोण हींग इन के चूर्ण को खट्टे फलों के गरम रस में मिलाकर पीना चाहिये ॥ ३० ॥

अजीर्णहृद्रोगत्रय.

मगधजामहिमांबुयुतां पृथक् । प्रवरनागरकल्कमथाभया-
लवणचूर्णमिति त्रितयं पिबे- । दुदरवन्हिविवर्द्धन कारणम् ॥ ३१ ॥

भावार्थः—पीपल के चूर्ण को जठराग्नि के बढाने के लिये गरम पानीमें मिलाकर अथवा शुंठीके कल्कको गरम पानीमें मिलाकर या हरड और लवण इनके चूर्ण को गरम पानी में मिलाकर पीना चाहिये ॥ ३१ ॥

कुलत्थ क्काथ.

क्कथितमुष्ककभस्मविगालितो । दकविपककुलत्थरसं सदा ॥
लवणितं त्रिकटूत्कटमातुरः सततमग्निकरं प्रपिबेन्नरः ॥ ३२ ॥

भावार्थः—मोरवाके भस्म से क्काथ कर उस क्काथ को छानें फिर उस के द्वारा उस पकाये हुए कुलथी के रस में लवण व त्रिकटु मिलाकर सदा अजीर्ण से पीडित पीवें तो अग्निदीपन होता है ॥ ३२ ॥

विशूचिका चिकित्सा.

मधुकचंदनबालजलांबुदांबुरुहनिंबदलांघ्रिसुतण्डुला- ।
म्बुभिरशेषमिदं मृदितं पिबेत् प्रशमयंस्तृपयातिविपूचिकाम् ॥ ३३ ॥

भावार्थः—मुलैठी, चंदन, खस, नेत्रबाला नागरमोथा, कमल, नीमके पत्ती व उसके जड को चावल के धोवन में मर्दनकर पिलावे तो यह विपूचिका रोग को तृषासे प्रशमन करता है ॥ ३३ ॥

त्रिकटुकाद्यंजन.

त्रिकटुकत्रिफलारजनीद्वयोत्पलकरंजसुबीजगणं शुभम् ॥
फलरसेन विशोष्यकृतांजनं प्रशमयत्यधिकोग्रविपूचिकाम् ॥ ३४ ॥

भावार्थः—त्रिकटु, त्रिफला, हलदी, नीलकमल, करंज के बीज, इन को खट्टे फलोंके रसके साथ बारीक पीसकर सुखावें, इस प्रकार तैयार किये गये अंजन को आंजनेसे उग्र विषूचिका भी दूर होती है ॥ ३४ ॥

अलसकोऽप्यतिकृच्छ्र इतीरितः । परिहरेदविलंबविलंबिकां ॥
अपि विपूचिकया परिपीडिता- । निह जयेदतिसारचिकित्सितैः ॥३५॥

भावार्थः—अलसक रोग अत्यंत कष्ट साध्य है । विलम्बिका को भी शीघ्र छोड देना चाहिये । विशूचिकासे पीडित रोगीको अतिसारोक्त चिकित्सा के प्रयोग से ठीक करना चाहिये ॥ ३९ ॥

विशूचिकामें दहन व अन्य चिकित्सा.

दहनमत्र हितं निजपार्ष्णिषु । प्रबलदातयुतातिविषूचिका- ।
प्रशमनाय महोष्णगुणौषधानहिमतोययुतान्परिपानतः ॥ ३६ ॥

भावार्थः—प्रबल वातके वेगसे युक्त विकारसे उत्पन्न विषूचिका रोग को शमन करने के लिये, पार्ष्णि स्थान में जलाना चाहिये । एवं महान् उष्ण औषधियों को उष्णजल में मिलाकर पिलाना भी हितकर है ॥ ३६ ॥

अजीर्ण का असाध्य लक्षण.

रसनदंतनखाधरकृष्णता । वमनताक्षिनिजस्वरसंक्षयः ।
स्मृतिविनाशनता शिथिलांगता । मरणकारणमेतदजीर्णिनाम् ॥ ३७ ॥

भावार्थः—अजीर्ण रोग में जीभ, दांत नख, ओंठ का काला पड जाना, वमन विशेष होना, आंखे अंदर घुस जाना, स्वरनाश होना, स्मृतिक्षय होना व अंगशिथिल होना, यह सब मरण के कारण समझना चाहिये अर्थात् ये लक्षण प्रगट होवें तो रोगी शीघ्र मरता है ॥ ३७ ॥

मूत्र व योनिरोग वर्णन प्रतिज्ञा.

अथ च मूत्रविकारकृतामयानधिकयोनिगतान्निजलक्षणान् ।
प्रवरनामयुताखिलभेषजैः । प्रकथयामि कथां विततक्रमैः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—यहां से आगे मूत्रविकार से उत्पन्न रोग और योनि रोगों को, उन के लक्षण, उत्कृष्ट नामको धारण करनेवाले श्रेष्ठ सम्पूर्ण औषधियोंके साथ २ क्रम से वर्णन करेंगे इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ ३८ ॥

मूत्रघातादिकारः ।

वातकुण्डलिका लक्षण.

स्वजलवेगविघातविदूषितश्चिरविरूक्षवशादपि बस्तिज- ।
श्चरति मूत्रयुतो मरुदुत्कटः प्रबलवेदनया सह सर्वदा ॥ ३९ ॥
सृजति मूत्रमसौ सरुजं चिरान्नरवरोल्पमतोल्पमतिव्यथः ।
पवनकुण्डलिकाख्यमहामयो भवति घोरतरोऽनिलकोपतः ॥ ४० ॥

भावार्थः—मूत्र के वेग को धारण करने व रूक्ष पदार्थों के सेवन करने से, बस्तिगत प्रबल वात प्रकुपित होकर, मूत्र के साथ मिलकर बस्ति में पीडा करते हुए,

१ मूत्रावरोध.

गोलाकार के रूप में फिरता है तो रोगी मनुष्य, अत्यंत व्यथित हो कर, पीडा के साथ बहुत देर से थोडे २ मूत्र को विसर्जन करता है। इसे वातकुंडलिका रोग कहते हैं। यह भयंकर रोग वातोद्रेक से उत्पन्न होता है ॥ ३९ ॥ ४० ॥

मूत्राष्ठीलिका लक्षण.

कुपितवातविघातविशोषितः पृथुरिहोपलवद्घनतां गतः ।
भवति मूत्रकृताश्ममहामयो। मलजलानिलरोधकृदुद्धतः ॥ ४१ ॥

भावार्थः—वातके कुपित होनेसे वह मूत्र जब सूख जाता है वह बढकर पत्थर के समान घट्ट हो जाता है, जो कि मल मूत्र व वातको रोकता है। वह मूत्रसंबंधी अश्म रोग कहलाता है। इसे मूत्राष्ठीलिका के नाम से भी कहते हैं। वह मूत्र व वात विकारसे उत्पन्न होता है व अत्यंत भयंकर है ॥ ४१ ॥

वातवस्ति लक्षण.

जलगतेरिह वेगविघाततः प्रतिवृणोत्यथ वस्तिमुखं मरुत् ।
प्रचुरमूत्रविसंगतयातिरुक्पवनवस्तिरिति प्रतिपाद्यते ॥ ४२ ॥

भावार्थः—मूत्र के वेगको रोकने से बस्तिगत वायु प्रकुपित होकर बस्तिके मुखको एकदम रोक देता है। इससे मूत्र रुक जाता है। बस्ति व कुक्षि में पीडा होती है, उसे वातबस्ति रोग कहते हैं ॥ ४२ ॥

मूत्रातीत लक्षण.

अवधृतं स्वजलं मनुजो यदा । गमयितुं यदि वांछति चेत्पुनः ।
व्रजति नैव तदाल्पतरं च वा । तदिह मूत्रमतीतमुदाहृतम् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य, मूत्र के वेग को रोक कर, फिर उसे त्यागना चाहता है तो वह मूत्र उतरता ही नहीं, अथवा प्रवाहण करने पर पीडा के साथ थोडा २ उतरें इसे मूत्रातीत रोग कहते हैं ॥ ४३ ॥

मूत्रजठर लक्षण.

उदकवेगविघातत एव तत् । प्रकुरुते मरुदुत्परिवर्तते ।
उदरपूरणमुद्धतवेदनं । प्रकटमूत्रकृतं जठरं सदा ॥ ४४ ॥

भावार्थः—उस मूत्रके वेग को रोकनेसे, कुपित [अपान] वात जब ऊर्ध्वगामी होकर पेट में भर जाता है अर्थात् पेटको फुलाता है [नाभीसे नीचे अफरा] और उस समय पेट में अत्यंत वेदनाको उत्पन्न करता है। उसे मूत्रजठर रोग कहा है ॥४४॥

मूत्रोत्संग लक्षण.

अपि मनोहरमेहनमध्यमे । प्रवरवस्तिमुखेऽपि विषज्यते ।
सृजत एव बलात्प्रतिबाधतः । सरुज मूत्रमतोऽप्यपसंगरुक् ॥ ४५ ॥

भावार्थः—मनोहर शिश्नेंद्रिय के मध्यभाग वा बस्ति [मूत्राशय] के मुख में, प्रवृत्त हुआ मूत्र रुक् जाता है, बलात्कार से त्यागने की कोशिश करने पर, प्रतिबंधक कारण मौजूद होनेसे, पीडा के साथ धीरे २ थोडा २ निकलता है। कभी रक्त भी साथ आता है, इसे मूत्रोत्संग रोग कहते हैं ॥ ४५ ॥

मूत्रक्षयलक्षण.

द्रवविहीनविरूक्षशरीरिणः । प्रकटबस्तिगतानिलपित्तकौ ।
क्षपयतोऽस्य जलं बलतः स्वयं । भवति मूत्रगतक्षयनामकः ॥ ४६ ॥

भावार्थः—जिन के शरीर में द्रवभाग अत्यंत कम होकर रूक्षांश अधिक होगया हो उन की बस्ति में पित्त व वात प्रविष्ट होकर मूत्र को जबर्दस्ती नाश करते हैं। वह मूत्रक्षयनामक रोग है ॥ ४६ ॥

मूत्राश्मरी लक्षण.

अनिलपित्तवशादतिशोषितं । कठिनवृत्तमिहांबुनिवासितम् ।
मुखगतं निरुणद्धि जलं शिलोपममतोऽस्य च नाम तदेव वा ॥ ४७ ॥

भावार्थः—वात व पित्त के प्रकोप से, मूत्र सूखकर कठिन व गोल, अश्मरी के समान ग्रंथि बस्ति के मुख में उत्पन्न होता है जिस से मूत्र रुक् जाता है । यह अश्मरी तुल्य होने से, इस का नाम भी मूत्राश्मरी है ॥ ४७ ॥

मूत्रशुक्र लक्षण.

अभिमुखस्थितमूत्रनिपीडितः । प्रकुरुतेऽज्ञतयाधिकमैथुनम् ।
अपि पुरः पुरतस्सह रेतसा वहति मूत्रमिदं च तदाख्यया ॥ ४८ ॥

भावार्थः—जब मूत्र बाहर आनेके लिये उपस्थित हो और उसी समय कोई अज्ञानसे मैथुन सेवन कर लेवें तो मूत्र विसर्जन के पहिले [अथवा पश्चात्] वीर्यपात [जो भस्म मिला हुआ जल के समान] होता है इसे मूत्रशुक्ररोग कहते हैं ॥ ४८ ॥

---

१ इसे ग्रंथांतरो में मूत्रग्रंथि कहते हैं ॥

उष्णवात लक्षण.

श्रमयुतोष्णनिरूक्षनिषेवया । कुपितपित्तयुतो मरुदुद्धतः ।
प्रजननानिबस्तिगुदं दहन् । गमयतीह जलं मुहुरुष्णवत् ॥ ४९ ॥

भावार्थः—अधिक परिश्रम करने से, उष्ण व अत्यंत रूक्ष पदार्थों के सेवन से प्रकुपित पित्त [बस्ति को प्राप्त कर] वात से संयुक्त हो जाता है तो लिंग के अग्रभाग, बस्ति, गुदा, इन स्थानों में जलन उत्पन्न करता हुआ गरम [पीला लाल व रक्त सहित] मूत्र बार २ निकलता है । इसे उष्णवात रोग कहते हैं ॥ ४९ ॥

पित्तज मूत्रोपसाद लक्षण.

विविधपीतकरक्तमिहोष्णवद्बहुलशुष्कमथापि च रोचना- ।
सदृशमूत्रमिदं बहुपित्ततः स च भवेदुपसादगदो नृणाम् ॥ ५० ॥

भावार्थः—पित्त के अत्याधिक प्रकोपसे नाना प्रकार के वर्णयुक्त व पीला, लाल गरम पेशाब अधिक आता है । यदि वह सूख जावें तो, गोरोचना के सदृश माल्म होता है । इस रोग को मूत्रोपसाद कहते हैं ॥ ५० ॥

कफज मूत्रोपसाद लक्षण.

बहलपिच्छिलशीतलगौरवत् । स्रवति कृच्छ्रत एव जलं चिरात् ।
कुमुदशंखशशांकसमप्रभं कफकृतस्सभवेदुपसादकृत् ॥ ५१ ॥

भावार्थः—कफ के प्रकोप से, जिस में गाढा पिच्छिल (लिबलिबाहट) ,ठण्डा, सफेद वर्ण से युक्त पेशाब देर से व अत्यंत कष्ट से निकलता है और वह सूख जाने पर उस का वर्ण कमलपुष्प, शंख व चंद्रमा के सदृश हो जाता है, उसे कफज मूत्रोपसाद रोग कहते हैं ॥ ५१ ॥

मूत्ररोग निदानका उपसंहार.

इति यथाक्रमतो गुणसंख्यया, निगदिताः सजलोद्भवदुर्गदाः ॥
अथ तदौषधमार्गमतः परं, परहितार्थपरं रचयाम्यहम् ॥ ५२ ॥

भावार्थः—इस प्रकार मूत्र से उत्पन्न होनेवाले दुष्टरोगों को उन के भेद सहित यथाक्रम से वर्णन किया । अब दूसरों के हितकी दृष्टि से उन के योग्य औषधि व चिकित्साविधि को प्रतिपादन करेंगे ॥ ५२ ॥

अथ मूत्ररोगचिकित्सा.

विधिवदत्र विधाय विरेचनं, प्रकटितोत्तरबस्तिरपीष्यते ।
अधिकमैथुनतो रुधिरं स्रवेत्, यदि ततो विधिमस्य च बृंहणम् ॥५३॥

भावार्थः—उपरोक्त मूत्ररोग में विधि से विरेचन कराना चाहिये तथा पूर्व कथित उत्तरबस्ति का प्रयोग भी हितकर है। अधिकमैथुन से यदि रुधिरस्राव होता हो तो उसपर बृंहणविधि का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५३ ॥

कपिकच्छ्वादि चूर्ण.

कपिफलेक्षुरबीजकपिप्पली- । मधुकचूर्णमिहालुलितं शनैः ॥
घृतसितैः प्रविलिह्य पिबन्पय- । स्तदनु मूत्रगदानखिलान् जयेत् ॥५४॥

भावार्थः—तालमखाने का बीज, पीपल, कौंच के बीज, मुलैठी इनका अच्छी-तरह चूर्ण बनावें और उसमें घी व शक्कर मिलाकर चाटे, पीछेसे दूध पीवें। यह संपूर्ण मूत्र रोगोंको जीत लेता है ॥ ५४ ॥

मूत्रामयघ्न घृत.

कपिबलातिबला मधुकेक्षुर । प्रकटगोक्षुरभूरिशतावरी- ॥
प्रभुमृणालकशेरुकसोत्पलां- । बुजफलांशुमतीं सह विन्नया ॥ ५५ ॥
समधृतानि विचूर्ण्य विभावितां- । दकचतुष्कमिदं पयसा चतु- ॥
र्गुणयुतेन तुला गुडसाधितं । घृतव्राढकमुत्कटगंधवत् ॥ ५६ ॥
घृतमिदं सततं पिबतां नृणां । अधिकवृष्यबलायुररोगता ॥
भवति गर्भवती वनिता प्रजा । प्रतिदिनं पयसैव सुभोजनं ॥ ५७ ॥

भावार्थः—कौंच के बीज, खरेंटी, गंगेरन, मुलैठी, तालमखाना, गोखुर, शतावरी, प्रभु [?] कमलनाल, कसेरु, नीलोपल, कमल, जायफल, शालपर्णी, [सरिवन] पृश्नपर्णी [पिठवन] इन सब को समभाग लेकर, सूक्ष्म चूर्ण कर के इस में चतुर्गुण पानी मिलावें। इस प्रकार तैयार किए हुए यह कल्क[1], व चतुर्गुण गायके दूध, ५ सेर गुड के साथ चार सेर, (यहां ६४ तोले का एक सेर जानना) सुगंध घृत को सिद्ध करें। इस घृत को प्रतिदिन सेवन करने वाले मनुष्य को वृष्य (वीर्य वृद्धि होकर काम शक्ति बढना) होता है। बल, और आयु वृद्धिंगत होते हैं और वह निरोगी होता है। स्त्री गर्भवती होकर पुत्र प्रसूत होजाती है। इस घृत को सेवन करते समय प्रतिदिन केवल दूध के साथ भोजन करना चाहिये [मिरच, नमक, मसाला, खटाई आदि नहीं खाना चाहिये] ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

---

१ यह घृत से चतुर्थांश डाले।

अथ मूत्रकृच्छ्राधिकारः ।

इति च मूत्रकृतामयलक्षण प्रतिविधानमिह प्रतिपादितम् ।
अथ तदष्टविधाधिकघातलक्षणचिकित्सितमत्र निरूप्यते ॥ ५८ ॥

भावार्थः—इस प्रकार मूत्रसंबंधी [मूत्राघात] रोग के लक्षण व चिकित्सा का प्रतिपादन किया है । अब यहां से मूत्र रोगांतर्गत, अन्य आठ प्रकार के मूत्राघात [मूत्रकृच्छ्र] रोगों का लक्षण और चिकित्सा का वर्णन करेंगे ॥ ५९ ॥

आठ प्रकार मूत्रकृच्छ्र.

अनिलपित्तकफैरखिलैः पृथक् । तदभिघातवशाच्छकृताथवा ।
प्रबलशर्करयाप्यधिकाश्मरीगणनिपीडितमूत्रमिहाष्टधा ॥ ५९ ॥

भावार्थः—वात, पित्त, कफ व सन्निपात से, चोट आदि लगने से, मल के विकार से, शर्करा व अश्मरीसे [वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, अभिघातज, शकृज्ज, शर्कराज, अश्मरीज] इस प्रकार अष्टविध, मूत्रकृच्छ्र रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ५९ ॥

अष्टविध मूत्र कृच्छ्रोंके पृथक् लक्षण.

तदनु दोषगुणैरिह मेहन । प्रवरशल्यजकं पवनामयैः ॥
अधिकशूलयुतोदरपूरणैः । मलनिरोधजमश्मरिकोदिता ॥६०॥

कथितशर्करयाप्युदितक्रमात् । हृदयपीडनवेपथुशूलदु- ॥
र्बलतराग्निनिपातविमोहनैः । सृजति मूत्रमिहाहतमारुतात् ॥६१॥

भावार्थः—वातादि दोषज मूत्रकृच्छ्र में तत्तद्दोषों के लक्षण व सन्निपातज में तीनों दोषों के लक्षण प्रकट होते हैं । मूत्रवाहि स्रोतों पर शस्त्रसे घाव हो जाने से, अथवा अन्य किसी से चोट पहुंचने से जो मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न होता है उस में वातज

---

१ यहां घात शब्द का अर्थ आचार्यों ने कृच्छ्र [कष्ट से निकलना] किया है ॥

२ वातज मूत्रकृच्छ्र—जिसमें वंक्षण (राङ) मूत्राशय, लिंग स्थानों में तीव्र पीडा होकर वारंवार थोडा २ मूत्र उतरता है उसे वातज मूत्रकृच्छ्र कहते हैं ।

पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र—इस में पीडायुक्त जलन के साथ पीला, लाल मूत्र वारंवार कष्टसे उतरता है ।

कफज मूत्रकृच्छ्र—इस में लिंग और मूत्राशय भारी व सूजनयुक्त होते हैं और चिकना मूत्र आता है ।

मूत्र कृच्छ्र के सदृश लक्षण पाये जाते हैं। मल के अवरोध से वात कुपित होकर मूत्रकृच्छ्र को उत्पन्न करता है। उस में शूल व आध्मान [अफराना] होते हैं। अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र का लक्षण, अश्मरीरोग के प्रकरण में कह चुके हैं। शर्कराज मूत्रकृच्छ्र का अश्मरीज के सदृश लक्षण है। लेकिन् इतना विशेष है कि अश्मरी [पित्तसे पचकर] वायुके आघात से जब टुकडा २ रेतीला हो जाता है इसे शर्करा कहते हैं। जब यह मूत्र मार्ग से [मूत्रके साथ] बाहर आने लगता है मूत्र अत्यंत कष्ट से उतरता है तो हृदय में पीडा, कम्प [कांपना] शूल, अशक्ति, अग्निमांद्य और मूर्छा होती है ॥ ६०।६१ ॥

मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा.

कथितमूत्रविघातचिकित्सितं । प्रकथयाम्यधिकाखिलभेषजैः ।
प्रतिदिनं सुविशुद्धतनोः पुनः । कुरुत बस्तिमिहोत्तरसंज्ञितम् ॥ ६२ ॥

भावार्थः—उपरोक्त मूत्रकृच्छ्र रोगकी चिकित्सा का वर्णन, उनके योग्य समस्त औषधियों के साथ २ करेंगे। प्रतिदिन रोगीके शरीर को शोधनकर पुनः उत्तर बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ॥ ६२ ॥

मूत्रकृच्छ्रनाशक योग.

त्रपुसबीजककल्कमिहाक्षसम्मितमथाम्लसुकांजिकयान्वितं ।
लवणवर्गमपि प्रपिबेन्नरःसभयमूत्रविघातनिवारणम् ॥ ६३ ॥

भावार्थः—खीरे के बीज के एक तोले कल्क को श्रेष्ठ खट्टी कांजी के साथ एवं लवण वर्ग को कांजी के साथ पीनेसे, मनुष्य का भयंकर मूत्रकृच्छ्र भी शांत होता है ॥ ६३ ॥

मधुकादिकल्क.

मधुककुंकुमकल्कमिहांबुना । गुडयुतेन विलोड्य निशास्थितं ।
शिशिरमाशु पिबन् जयतीद्धमप्यखिलमूत्रविकारमरं नरः ॥ ६४ ॥

भावार्थः—ज्येष्टमधु व कुंकुम (केशर) के कल्क में गुड मिलाकर पानी के साथ विलोना चाहिये। फिर उसे रात्री में वैसा ही रखें। अच्छीतरह ठण्डा होने के बाद [प्रातःकाल] उसे पीनेसे समस्त मूत्रविकार दूर हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

दाडिमादि चूर्ण.

सरसदाडिमबीजसुजीरनागरकणं लवणेन सुचूर्णितं ॥
प्रतिदिनं बरकांजिकया पिबे— । दधिकमूत्रविकाररुजापहम् ॥ ६५ ॥

भावार्थ— रसयुक्त दाडिम (अनार) का बीज, जीरा, शुंठी, पीपल व लवण इन को अच्छीतरह चूर्ण कर, उसे प्रतिदिन कांजी में मिलाकर पीना चाहिये। यह अधिक मूत्रकृच्छ्र रोग को भी दूर करता है ॥ ६५ ॥

कपोतकादि योग.

अपि कपोतकमूलयुतत्रिकंटककसुगृध्रनखांघ्रिगणैः श्रितम् ॥
कुडवयुग्मपयोंबुचतर्गुणं प्रतिपिबेत्सपयः परिपेपितम् ॥ ६६ ॥

भावार्थः— कपोतक [सफेद सुर्मा] पीपलामूल, गोखरु, कंटकपाली वृक्ष का जड, इन से चतुर्गण पानी डालकर सिद्ध किये हुए दूध को अथवा उपरोक्त औषधियोंको दूधके साथ पीसकर (मूत्रकृच्छ्र रोग को नाश करने के लिए) पीना चाहिए ॥६६॥

तुरगादिस्वरस.

तुरगगर्दभगोरंटजं रसं कुडवमात्रमिह प्रपिबेन्नरः ॥
लवणवर्गयुतां त्रिफलां सदा । हिमजलेन च मूत्रकृतामयम् ॥ ६७ ॥

भावार्थः—अश्वगंध, सफेद कमल, दुर्गंध खेर, इनके रस को कुडव प्रमाण पीना चाहिये। तथा लवणवर्ग व त्रिफला के चूर्ण को. ठंडे जलके साथ मिलाकर पीना चाहिये, जिससे मूत्र रोग दूर होता है ॥ ६७ ॥

मधुकादि योग.

अथ पिबेन्मधुकं च तथा निशा- । ममरदारुनिदिग्धिकया सह ॥
त्रुटिघनामलकानि जलामयी । पृथगिहाम्लपयोऽक्षतधावनैः ॥ ६८ ॥

भावार्थ— मुलेंठी, हलदी, देवदारु, कटेली, छोटी इलायची, नागरमोथा, आंवला, इन के चूर्ण व कल्क को कांजी, दूध, चावल का धोवन, इन किसी एक के साथ पीना चाहिये ॥ ६८ ॥

स्वरसमामलकोद्भवमेव वा । कुडवसम्मितमिक्षुरसान्वितम् ॥
त्रुटिशिलाजतुमागधिकाधिकं गुडजलं प्रपिबेत्स जलामयी ॥ ६९ ॥

भावार्थ— मूत्रामयसे पीडित रोगी को १६ तोले आंवले का रस, अथवा उसमें ईख का रस मिलाकर पीना चाहिये। एवं छोटी इलायची शिलाजीत पीपल इन को गुडजल के साथ पीना चाहिये ॥ ६९ ॥

सत्रुटिरामठचूर्णयुतं पयो । घृतगुडान्वितमत्र पिबेन्नरः ॥
विविधमूत्रविघातकृतामया- । नधिकशुक्रमयानपि नाशयेत् ॥ ७० ॥

---

१ कुलं इति पाठांतरं।

भावार्थ— छोटी इलायची व हींग के चूर्ण में घी गुड मिलाकर, दूध के साथ पीने से नानाप्रकार के मूत्रकृच्छ्र रोगों को एवं शुक्रगत मूत्ररोगों को भी नाश करता है ॥ ७० ॥

क्षारोदक.

यवजपाटलबिल्वनिदिग्धिका । तिलजकिंशुकभद्रकभस्मनि– ।
स्रुतजलं सवरांगविलंगमूषकफलैः त्रुटिभिः परिमिश्रितं ॥ ७१ ॥
प्रसृतमेतदथार्धयुतं च वा । घृतगुडान्वितमेव पिबेन्नरः ।
सकलभक्षणभोजनपानकान्यनुदिनं विदधीत तथामुना ॥ ७२ ॥

भावार्थः—जौका पचांग, पाढल, बेल, कटेली, तिल का पचांग, ढाक, नागर मोथा इन को जलाकर भस्म करें। इसे पानी में घोलकर छान लेवें। इस क्षार जल में दाल-चीनी, विडंग, तरुमूषिक [वृक्ष जाति की मूसाकानी] के फल व छोटी इलायची के चूर्ण को मिलावें । फिर इसे घी गुड के साथ ८ तोला अथवा ४ तोला प्रमाण प्रमेहरोगी पीवें । एवं इसी क्षारसे संपूर्ण भक्ष्य, भोजन पानक आदिकोंको बनाकर प्रतिदिन खाने को देवें ॥ ७२ ॥

त्रुट्यादियोग.

त्रिविधमूत्ररुजामखिलाश्मरीमधिकशर्करया सह सर्वदा ।
शमयतीह निषेवितमंबुतस्त्रुटिशिलाजतुपिप्पलिकागुडैः ॥ ७३ ॥

भावार्थः—छोटी इलायची शिलाजित, पीपल व गुड इनको पानी के साथ सेवन करें तो नाना प्रकार के मूत्ररोग सर्वजाति के अश्मरी एवं शर्करा रोग भी शमन होते हैं ॥ ७३ ॥

अथ योनिरोगाधिकारः ।

योनिरोग चिकित्सा.

अथ च योनिगतानखिलामयान्निजगुणैरुपलक्षितलक्षणान् ।
प्रशमयेदिह दोषविशेषतः प्रतिविधाय भिषग्विविधौषधैः ॥ ७४ ॥

भावार्थः—सम्पूर्ण योनिरोग, जो उन के कारण भूत, तत्तद्दोषों के लक्षणों से संयुक्त हैं उन को, उन २ दोषानुसार, नानाप्रकार की औषधियोंसे चिकित्सा कर के वैद्य शमन करें ।

विशेष--मिथ्या आहार विहार दुष्टार्तव, शुक्रदोष, व दैववशात् योनि रोगकी उत्पत्ति होती है। इस के मुख्यतः वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, इस प्रकार ४ भेद हैं। लेकिन उन के एक २ से पांच २ प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। अर्थात् प्रत्येक के पांच २ भेद हैं। इस प्रकार योनिरोग के भेद २० होते हैं।

वातज योनिरोग.

१ जिस योनिसे झाग [फेन] मिला हुआ रज बहुत कष्ट से बहें उसे **उदावर्ता** योनि कहते हैं।

२ जिस योनि का आर्तव नष्ट होगया हो उसे **वंध्या** कहते हैं।

३ जिसको निरंतर पीडा होती हो उसे; **विप्लुता** कहते हैं।

४ मैथुन करने के समय में जिस में अत्यंत पीडा होती हो, उसे **विप्लुता** योनिरोग कहते हैं।

५ जो योनि कठोर व स्तब्ध होकर शूल तोद युक्त होवें उस को **वातला** कहते हैं। ये पांचों योनिरोग इन में वातोद्रेक के लक्षण पाये जाते हैं, लेकिन् वातला में अन्योंकी अपेक्षा अधिक लक्षण मिलते हैं।

पित्तजयोनि रोग।

१ जिस योनि से दाह के साथ रक्त बहे उसे **लोहितक्षया** कहते हैं।

२ जो योनि रज से संयुक्त शुक्रको वात के साथ, वमन करें (बहावें) उसे **वामिनी** कहते हैं।

३ जो स्वस्थान से भ्रष्ट हो उसे **प्रस्रंसिनी** कहते हैं।

४ जिस योनिमें रक्त के कम होनेके कारण, गर्भ ठहर २ कर गिर जाता है उसे **पुत्रघ्नी** कहते हैं।

५ जो दाह, पाक [पकना] से युक्त हो, साथ ज्वर भी हो इसे **पित्तला** कहते हैं।

उपरोक्त पांचों योनिरोग पित्त से उत्पन्न होते हैं अतएव उनमें पित्तोद्रेक के लक्षण पाये जाते हैं। लेकिन् पित्तला में पित्तके अत्यधिक लक्षण प्रकट होते हैं।

कफज योनिरोग।

१ जो योनि, अत्यधिक मैथुन करने पर भी, आनंद को प्राप्त न हो उसे **अत्यानंदा** कहते हैं।

२ जिस में कफ व रक्त के कारण से, कार्णिका [कमल के बीच में जो कार्णिका होती है वैसे ही मांसकंद] उत्पन्न हो उसे, **कर्णिनी** कहते हैं।

३ जो योनि मैथुन के समय में अच्छी तरह मैथुन होनेके पूर्व अर्थात् जरासी मैथुन से ही, पुरुष के पहिले ही द्रवित हो जावें और इसी कारण से बीज को ग्रहण नहीं करें उसे **अचरणा** कहते हैं।

४ जो बहुवार मैथुन करने पर भी, पुरुष के पीछे द्रवीभूत होवें अत एव गर्भधारण न करें उसे **अतिचरणा** कहते हैं।

५ जो पिच्छिल (लिबलिबाहट युक्त) खुजली युक्त व अत्यंत शीत होवें उसे **श्लेष्मला** योनि कहते हैं। उपरोक्त पांचो रोगों में श्लेष्मोद्रेक के लक्षण पाये जाते हैं। श्लेष्मला में अन्यों की अपेक्षा अधिक लक्षण प्रकट होते हैं।

सन्निपातज योनिरोग।

१ जो योनि रज से रहित है, मैथुन करने में कर्कश माळूम होती है, (जिस स्त्री के स्तन भी बहुत छोटें हो) उसे **षंण्डी** कहते हैं।

२ बडा लिंगयुक्त पुरुष के साथ मैथुन करने से जो अण्ड के समान बाहर निकल आती है, उसे **अण्डली** [अण्डिनी] योनि कहते हैं।

३ जिस का मुख अत्यधिक विवृत [खुला हुआ] है और योनि भी बहुत बडी है वह **विवृता** कहलाती है।

४ जिसके मुख सूई के नोक के सदृश, छोटी है उसे **सूचीवक्त्रा** योनि कहते हैं

५ जिस में तीनों दोषोंके लक्षण प्रकट होते हैं उसे, **सन्निपातिका** कह सकते हैं यद्यपि उपरोक्त पाचों रोगों में भी तीनों दोषोंके लक्षण मिलते है। सान्निपातिकामें उनका बाहुल्य होता है ॥ ७४ ॥

सर्वज योनिरोगचिकित्सा.

अखिलदोषकृतान्परिहृत्य तान् पृथगुदीरितदोषयुतामयान् ।
उपचरेद्घृपानविरेचनैर्विधिकृतोत्तरबस्तिभिरप्यलम् ॥ ७५ ॥

भावार्थः—सन्निपातज योनिरोगोंको असाध्य समझकर छोडें और पृथक् २ दोषों से उत्पन्न योनि को घृत पान, विरेचन व बस्ति आदि प्रयोगसे उपचार करना चाहिये ॥ ७५ ॥

वातलायोनिचिकित्सा.

परुषकर्कशशूलयुतासु योनिषु विशिपितवातहरौषधैः ।
परिविपक्कघटोद्भवबाष्पतापनमुशंति वशीकृतमानसाः ॥ ७६ ॥

भावार्थः—जिस योनिरोग में योनि कठिन, कर्कश व शूलयुक्त होती है उसे (वातला योनिको) वातहर विशिष्ट औषधियों से सिद्ध काढे को, एक घडे में भरकर उससे उत्पन्न, बाष्प [बांफ] से, (कुंभी स्वेद से) स्वेदन [सेकना] करना चाहिये । ऐसा मन को वशीभूत करनेवाले महापुरुषों (मुनियों) ने कहा है ॥७६॥

अन्य वातज योनिरोग चिकित्सा.

लवणवर्गयुतैर्मधुरौषधैः घृतपयोदधिभिः परिभावितैः ।
अनिलयोनिषु पूरणमिष्यते तिलजमिश्रितसत्पिचुनाथवा ॥ ७७ ॥

भावार्थ—वात विकारसे उत्पन्न [अन्य] योनिरोगों में लवणवर्ग और मधुरौषधियों को घृत, दूध व दही की भावना देकर चूर्ण करके योनि में भरना चाहिये अथवा तिल के तेल से भिगोया गया पिचु [पोया] को योनि में रखना चाहिए ॥७७॥

पित्तज योनिरोग चिकित्सा.

तदनुरूपगुणौषधिसाधितैरहिमवारिभिरेव च धावनम् ।
अधिकदाहयुतास्वपि योनिषु प्रथितशीतविधानमिहाचरेत् ॥ ७८ ॥

भावार्थ—वातज योनिरोग से पीडित योनि को उस के अनुकूल गुणयुक्त [वातनाशक] औषधियोंसे सिद्ध [पकाया हुआ] गरम पानी से ही धोना चाहिये । अत्यंत दाहयुक्त [पैत्तिक] योनिरोगों में शीतक्रिया करनी चाहिये ॥ ७८ ॥

कफज योनिरोगनाशक प्रयोग.

नृपतरुत्रिफलाधिकधातकीकुसुमचूर्णवरैरवचूर्ण्य धा-
वनमपीह कषायकषायितैः कुरु कफोत्थितपिच्छिलयोनिषु ॥ ७९ ॥

भावार्थ—जो योनि दुर्गंधयुक्त व पिच्छिल हो, उस पर अमलतास का गूदा त्रिफला, अधिक भाग (पूर्वोक्त औषधियों की अपेक्षा) धायके फूल, इन को अच्छीतरह चूर्ण कर के बुरखना चाहिए और [इन्हीं] कषैली औषधियों के काढे से धोना भी चाहिए ॥ ७९ ॥

---

१ घटोत्कट इति पाठांतरं २ परिपाचितैः इति पाठांतरं ।

कफजयोनिरोग चिकित्सा.

प्रचुरकण्डुरयोनिषु तीक्ष्णभे- । षजगणैर्बृहतीफलसैंधवैः ।
प्रतिदिनं परिपूरणमिष्टमि- । त्यहिममूत्रगणैरपि धावनम् ॥ ८० ॥

भावार्थ—जिस में अत्यधिक खुजली चल रही हो, ऐसे कफज योनिरोगों में तीक्ष्ण औषधियां तथा कटेहरी के फल, सेंधालोण, इन के चूर्ण को प्रतिदिन भरना चाहिए। तथा गरम किए हुए गोमूत्र, बकरी के मूत्र आदि मूत्रवर्ग से धोना भी चाहिये ॥ ८० ॥

कर्णिनी चिकित्सा.

प्रबलकर्णवतीष्वपि शोधनैः । कृतसुवर्तिमिहाधिकभेषजैः ।
इह विधाय विशोधनसर्पिषा, प्रशमयेदथवांकुरलेपनैः ॥ ८१ ॥

भावार्थः— कर्णिनी योनिरोग को शोधकविशिष्ट औषधियोंद्वारा निर्मित बत्ती (योनिपर) रखना उन्हीं औषधियों से सिद्ध घृत, पोया (पिचु) धारण कराना व पिलाना चाहिये एवं अर्शनाशक लेपों के लेपन से शमन करना चाहिये ॥ ८१ ॥

प्रस्रंसिनीयोनिरोग चिकित्सा.

अपि च योनिमिहात्यवलंबिनीं, घृतविलिप्ततनुं प्रविलेशितम् ।
तिलजजीरकया प्रपिधाय तामधिकबंधनमेवसमाहरेत् ॥ ८२ ॥

भावार्थः—नीचेकी ओर अत्यंत लटकती हुई (प्रस्रंसिनी) योनीको घृत का लेपन कर के फिर तिलके तेल व जीरे से उसे ढककर अर्थात् उनके कल्क को उस पर रख कर, उसे अच्छीतरह बांधना चाहिये ॥ ८२ ॥

योनिरोगचिकित्सा का उपसंहार.

इति जयेत्क्रमतो बहुयोनिजामयचयान्प्रतिदोषकृतौषधैः ।
निखिलधावनधूपनपूरणैः मृदुविलेपनतर्पणबंधनैः ॥८३॥

भावार्थः—इस प्रकार बहुत से प्रकारके योनिजरोगों को क्रम से तत्तद्दोष नाशक औषधियों से धावन, (धोना) धूपन, [धूप देना] पूरण, [भरना] लेपन तर्पण व बंधन विधि के प्रयोग कर जीतना चाहिये ॥ ८३ ॥

अथ गुल्मरोगाधिकारः ।

गुल्म निदान-

अथ पृथङ्निखिलैः पवनादिभिर्भवति गुल्मरुगुग्रतरा नृणाम् ।
रुधिरजो वनितासु च पंचमो विदितगर्भगताखिललक्षणः ॥ ८४ ॥

भावार्थः—वात, पित, कफ सन्निपात एवं स्त्रियोंके रज के विकार से, पांच प्रकार (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक सान्निपातिक, रक्तज) के भयंकर गुल्मरोग उत्पन्न होते हैं, जिनमें आदि के गुल्म स्त्री-पुरुष दोनों को ही होते हैं । लेकिन् रक्तज गुल्म स्त्रियोंमें होता है पुरुषोंमें नहीं । दोषज गुल्मों में तत्तदोषों के लक्षण पाये जाते हैं । सान्निपातिक में त्रिदोषों के लक्षण प्रकट होते हैं । रक्तजे गुल्म में पैत्तिक लक्षण मिलते हैं । औरोंकी अपेक्षा इसमें इतनी विशेषता होता है कि इसमें गर्भ के सभी लक्षण [जैसे मुंह से पानी छूटना, मुखमंडल पीला पड जाना, स्तन का अग्रभाग काला हो जाना आदि] प्रकट होते हैं । लेकिन गर्भ में तो, हाथ पैर आदि प्रत्येक अवयव शूलरहित फडकता है । यह पिंडरूप में दर्द के साथ फडकता है । गर्भ और गुल्म में इतना ही अंतर है ॥ ८४ ॥

गुल्म चिकित्सा.

अधिकृताखिलदोषनिवारणौ- । षधवरैः सुविरिक्तशरीरिणाम् ।
अपि निरूहगणैरनुवासनैः प्रशमयेद्रुधिरेऽपि च पित्तवत् ॥ ८५ ॥

भावार्थः—गुल्म रोगमें अच्छी तरह विरेचन कराकर वातादिक दोषोंके उद्रेकको पहिचानकर उन दोषोंके उपशामक औषधियोंका प्रयोग करना चाहिये तथा निरूहण बस्ति भी देनी चाहिये । रक्तविकारज गुल्म रोगमें पित्तज गुल्म के समान चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८५ ॥

गुल्म में भोजन भक्षणादि.

अखिलभोजनभक्षणपानका- । न्यनिलरोगिषु यानि हितानि च ।
अधिकगुल्मिषु तापनबंधना- । न्यनुदिनं विदधीत विधानवित् ॥८६॥

१ गुल्मका सामान्य लक्षण—हृदय व मूत्राशय के बीच के प्रदेश में चंचल (इधर उधर फिरनेवाला) वा निश्चल, कभी २ घटने बढने वाला गोलग्रंथि [गांठ] उत्पन्न होता है इसे गुल्म कहते हैं ॥

२ यह रोग पुराना होनेसे सुखसाध्य होता है इस की चिकित्सा दस महीने बीत जाने के बाद करनी चाहिये ॥

भावार्थः—जो भोजन, भक्षण पानक आदि वातिक रोगियों के लिये हितकर हैं उन सब को गुल्मरोग से पीडित रोगी को भोजनादि कार्यों में देना चाहिये एवं चिकित्सा विधान को जानने वाला वैद्य प्रतिदिन स्वेदन बंधन आदि प्रयोगों को प्रयुक्त करें ॥ ८६ ॥

गुल्मनाशक प्रयोग.

अनिलरोगहरैर्लवणैस्तथोदररिपु च प्रतिपादितसर्पिषा ।
उपचरेदिह गुल्मविकारिणां, मलविलोडनवर्तिभिरप्यलम् ॥ ८७ ॥

भावार्थः—गुल्मरोगमें वातविकारको दूर करने वाले लवणों से एवं उदर रोग में कहे हुए घृतसे चिकित्सा करनी चाहिये। तथा मलको नाश करनेवाली वर्ति [बत्ति] यों के प्रयोग से भी उपचार करना चाहिये ॥ ८७ ॥

गुल्मघ्नयोगांतर.

तिलजसर्षपतैलसुभृष्टप-, ल्लवगणान् नृपपूतिकरंजयोः ।
लवणकांजिकया सह भक्षयेदुदरगुल्मविलोडनसत्पटून् ॥८८॥

भावार्थः—आरग्वध व पूतिकरंजे के कोंपल पत्तों को तिलके तेल व सरसों के तेल के साथ भूजकर उसे नमकीन कांजी के साथ खिलाना चाहिये । वह गुल्मरोगको नाश करने के लिये समर्थ है ॥ ८८ ॥

विशिष्ट प्रयोग

मलनिरोधनतः पयसा यवोदनमथाप्यसकृद्बहु भोजयेत् ।
अतिविपक्वसुमाषचयानुलूखलविघृष्टविशिष्टघृताप्लुतान् ॥ ८९ ॥

भावार्थः—यदि इस रोग में मलनिरोध होजाय तो जौका अन्न दूध के साथ बार २ खिलाना चाहिये । अच्छी तरह पके हुए उडद को उलूखल [ओखली] में घर्षण [रगड] कर के उत्तम घी में भिगोकर खिलाना चाहिये ॥ ८९ ॥

गुल्म में अपथ्य.

बहुविधालुकमूलकमांसवैदलविशुष्कविरूक्षणशाकभो- ।
जनगणान् मधुराणि फलान्यलं परिहरेदिह गुल्मविकारवान् ॥ ९० ॥

भावार्थः—गुल्मरोग से पीडित मनुष्य बहुत प्रकार के रतालु, पिंडालु आदि आलु, मूली, द्विदल [मूंग मसूर आदि] धान्य, सूखा व रूक्ष शाक व इन से संयुक्त भोजन समूहों को एवं मीठे फलों (केला आदि) को नहीं खावें ॥ ९० ॥

अथ पांडुरोगाधिकारः

पांडुरोग निदान.

अथ च पाण्डुगदांश्चतुरो ब्रुवे पृथगशेषविशेषितदोषजान् ।
विदितपाण्डुगुणैर्विभावितान् अपि विभिन्नगुणान्गुणमुख्यतः ॥ ९१ ॥

भावार्थः—अब-वात, पित्त, कफ व सन्निपात से उत्पन्न, जिन के होने पर शरीर में पाण्डुता आती है, दोषों के गौण मुख्य भेद से विभिन्न प्रकार के गुणों से युक्त हैं (अर्थात् सभी प्रकार के पांडुरोगों में पांडुपना यह समानगुण [लक्षण] रहता है। लेकिन् वातज आदि में दोषों के अनुसार भिन्न २ लक्षण भी मिलते हैं) ऐसे चार प्रकार के पाण्डुरोगों को कहेंगे ॥ ९१ ॥

वातज पांडुरोग लक्षण.

असितमूत्रसिराननलोचनं । मलनखान्यसितानि च यस्य वै ॥
मरुदुपद्रवपीडितमातुरं । मरुदुदीरितपाण्डुगदं वदेत् ॥ ९२ ॥

भावार्थः—मूत्र, सिरा, मुख, नेत्र, मल, नख आदि जिसके काले हों, और वह वातज अन्य उपद्रवोंसे पीडित हो तो उसे वातविकारसे उत्पन्न पाण्डुरोग समझना चाहिये। अर्थात् यह वातिक पांडुरोग का लक्षण है ॥ ९२ ॥

पित्तज पांडुरोग लक्षण.

निखिलपीतयुतं निजपित्तजं धवलवर्णमपीह कफात्मजम् ।
सकलवर्णगुणत्रितयोत्थितं मतिवदेदथ कामललक्षणम् ॥ ९३ ॥

भावार्थ—उपर्युक्त अवयव जिसमें पीले हों [पित्त के अन्य उपद्रव भी होते हैं] उसे पित्तज पांडु समझें। और सफेद वर्ण हो (कफजन्य अन्य उपद्रवों संयुक्त हो) तो कफज पांडु कहें। और तीनों वर्ण एक साथ रहें तो सन्निपातज समझें। अब आगे कामला रोग के स्वरूप को कहेंगे ॥ ९३ ॥

कामलानिदान.

प्रशमितज्वरदाहनरोऽचिरादधिकमम्लमपथ्यमिहाचरेत् ॥
कुपितपित्तमतोऽस्य च कामला मधिकशोफयुतां कुरुते सितां ॥ ९४ ॥

---

१ कालिल्यान्यथा इति पाठांतरं ।

भावार्थः—जिसका ज्वर दाह पाण्डु आदि रोग शांत होगये हों, किंतु [शांत होते ही] शीघ्र अत्यधिक खटाई और अन्य [पित्तोद्रेक करने वाले] अपथ्य पदार्थों को खाता है व अपथ्याचरण को करता है तो उस का पित्त प्रकुपित होकर, शरीर को एकदम सफेद [या पीला] करता है, भयंकर सूजन उत्पन्न करता है, (तंद्रा निर्बलता आदिकों को पैदा करता है) जिसे कामला रोग कहते हैं ॥ ९४ ॥

पांडुरोग चिकित्सा.

अभिहितक्रमपाण्डुगदातुरो । विदितशुद्धतनुर्घृतशर्करा- ॥
विलुलितत्रिफलामथवा निशा- । द्वयमयस्त्रिकटुं सततं लिहेत् ॥ ९५ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकारके पाण्डुरोगोसे पीडित रोगीको सबसे पहिले वमन विरेचनादिसे शरीर शोधन करना चाहिये। हरड, बहेड, आंवला, सोंठ मिरच पीपल इन के चूर्णको अथवा हल्दी दारुहल्दी, सोंठ मिरच पीपल इनके चूर्ण को लोहभस्म के साथ घी शक्कर मिलाकर सतत चाटना चाहिये ॥९५॥

पाण्डुरोगघ्न योग.

अपि विडंगयुतत्रिफलांबुदान् । त्रिकटुचित्रकधान्यजमोदकान् ॥
अति विचूर्ण्य गुडान् सघृताप्लुतान् । निखिलसारतरूदकसाधितान् ॥९६॥
इति विपक्वमिदं वहलं लिहन् । जयति पाण्डुगदानथ कामलाम् ॥
अपि च शर्करया त्रिकटुं तथा । गुडयुतं च गवां पय एव वा ॥९७॥

कामलाकी चिकित्सा.

यदिह शोफचिकित्सितमीरितं तदपि कामलिनां सततं हितम् ।
गुडहरीतकमूत्रयुभस्मनिस्रुतजलं यवशालिगणौदनम् ॥ ९८ ॥

भावार्थः—वायविडंग, त्रिफला, (सोंठ मिरच, पीपल) नागरमोथा, त्रिकटु, चित्रक, आमला, अजवाईन इनको अच्छीतरह चूर्णकर-घी व गुड में भिगोवें। फिर इस में शालसारादि गणोक्त वृक्षों के क्वाथ डाल कर तब तक पकावें जब तक वह अवलेह के समान गाढा न हों। यह इस प्रकार सिद्ध औषध सर्व पाण्डुरोगोंको जीतता है। एवं कामला रोगको भी जीतता है तथा शक्कर के साथ त्रिकुटु अथवा गुड के साथ गायका दूध सेवन करना भी हितकर है। शोफ विकार के लिये जो चिकित्सा

---

१ इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि त्रिफला के चूर्ण, अथवा हलदी दारुहलदी के चूर्ण अथवा लोहभस्म, अथवा सोंठ मिरच पीपल के चूर्ण को घी शक्कर के साथ चाटना चाहिये।

कही गई है उसका उपयोग कामला में करना हितकर है। गुड, हरड गोमूत्र, लोह-भस्म इनको एकत्र डालकर पकावें। यह काढा देना और जौ आदि आदि भोजन के लिये उपयोग करना हितकारी होता है ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

पाण्डुरोग का उपसंहार.

एवं विद्वान् कथितगुणवान् अप्यशेषान् विकारान् ।
ज्ञात्वा दोषप्रशमनपरैरौषधैस्साधयेत्तान् ॥
कार्यं यस्मान्न भवति विना कारणैर्द्विप्रकारै- ।
र्भूयो भूयः तदनुकथनं पिष्टसंपेषणार्थम् ॥ ९९ ॥

भावार्थः—इस प्रकार उपर्युक्त रोगोंके व अन्य सर्वविकारोंके दोषक्रमको विद्वान् वैद्य जानकर उनको उपशमन करनेवाले योग्य औषधियोंसे उनकी चिकित्सा करें। यह निश्चित है कि विना अंतरंग व बहिरंग कारण के कार्य होना ही नहीं। इस लिये बार २ उसका कथन करना वह पिष्टपेषण के लिये होजायगा ॥ ९९ ॥

अथ मूर्च्छोन्मादापस्माराधिकारः ।

मूर्च्छोन्मादावपि पुनरपस्माररोगोऽपि दोषै- ।
रंतर्बाह्याखिलकरणसंछादकैर्गौणमुख्यैः ॥
उत्पन्नास्ते तदनुगुणरूपौषधैस्तान्विदित्वा ।
सर्वेष्वेषु प्रबलतरपित्तं सदोपक्रमेत ॥ १०० ॥

भावार्थः—मूर्च्छा [बेहोश होजाना] उन्माद (पागल होजाना) व अपस्मार (मिर्गी) रोग, बाह्यांभ्यंतर कारणोंसे कुपित होकर शरीर को आच्छादित करनेवाले और गौणमुख्य भेदोंसे युक्त वातादि दोषोंसे ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये उपरोक्त रोगो में दोषोंके बलाबल को अच्छी तरह जान कर उन के अनुकूल अर्थात् उनको उपशमन आदि करनेवाले औषधियोंसे चिकित्सा करनी चाहिये। लेकिन उन तीनो में पित्त की प्रबलता रहती है। इसलिये उन में हमेशा [विशेष कर] पित्तोपशमन क्रिया करें तो हितकर होता है ॥ १०० ॥

मूर्च्छानिदान ।

दोषव्याप्तस्मृतिपथयुतस्याशु मोहस्तमोरू-
पेण प्राप्नोत्यनिशमिह भूमौ पतत्येव तस्मात् ।
मूर्च्छामाहुः क्षतजविषमद्यैस्सदा षड्विधास्ताः ॥
षट्स्वप्येवं भिषगिह महान् पित्तशांतिं प्रकुर्यात् ॥ १०१ ॥

भावार्थः—संज्ञावाहक नाडियों में जब दोष व्याप्त हो जाते हैं तो आंखों के सामने अंधेरासा माऌम होकर रोगी भूमिपर पडता है । उस समय सर्वइंद्रिय दोषों के प्रबल विकार से आच्छादित रहने से रूपादिक ज्ञान नहीं करते । उसे मूर्च्छारोग कहते हैं। रक्तजे विपजे व वातज, पित्तज व कफज व मद्यज इस प्रकार यह रोग छह प्रकार का है। इन छहों प्रकारकी मूर्च्छाओंमे पित्तशांतिकी क्रिया को करनी चाहिये। क्यों कि सब में पित्तकी प्रबलता रहती है ॥ १०१ ॥

मूर्च्छा चिकित्सा.

स्नानालेपाशनवसनपानप्रदेहानिलाद्याः ।
शीतास्सर्वे सततमिह मूर्च्छासु सर्वासु योज्याः ॥
द्राक्षा यष्टीमधुककुसुमक्षीरसर्पिःप्रियालाः ।
सेक्षुक्षीरं चणकचणकाः शर्कराशालयश्च ॥ १०२ ॥

भावार्थः—इन सब मूर्च्छाओं में स्नान, लेपन, भोजन, वस्त्र, पान, वायु, आदि में सर्व शीतपदार्थोंका उपयोग करना चाहिये [अर्थात् ठण्डे पानी से स्नान कराना, ठण्डे औषधियों का लेप. ठण्डे पंखे की हवा आदि करना चाहिये।] मुलैठी, धाय के फूल, द्राक्षा, दूध, घी, चिरोंजी, गन्नेका रस, चना, अतसी [अलसी] शक्कर शाली, आदि का खाने में उपयोग करना हितकर है ॥ १०२ ॥

उन्मादनिदान.

उन्मार्गसंक्षुभितभूरिसमस्तदोषा।
उन्मादमाशु जनयंत्यखिलाः पृथक् च ॥
शोकेन चान्य इति पंचविधा विकारा ।
स्ते मानसाः कथितदोषगुणा भवंति ॥ १०३ ॥

भावार्थः—जिस समय वात पित्त कफ, तीनों एक साथ व अलग २ कुपित होकर अपने २ मार्ग को छोड कर उन्मार्गगामी (मनोवह धमनियो में व्याप्त) होते हैं तो उन्माद रोग उत्पन्न होता है अर्थात् वह व्यक्ति पागल हो जाता है। यह दोषों से चार [वातादिक से तीन सन्निपात से एक] शोकसे एक इस प्रकार पांच भेद से विभक्त है। ये पांचों प्रकार के उन्माद मानसिक रोग हैं। इन में पूर्वोक्त क्रमसे, दोषों के गुण [लक्षण] भी होते हैं ॥ १०३ ॥

---

१ रक्त के गंध को सूंघने से उत्पन्न. २ विषभक्षण से उत्पन्न. ३ मदिरा पीनेसे उत्पन्न.

वातिक उन्मादके लक्षण.

नृत्यत्यति प्रलपति भ्रमतीह गाय-।
त्याक्रोशति स्फुटमटत्यथ कंपमानः ॥
आस्फोटयत्यनिलकोपकृतोन्मदार्तो ।
मर्त्योऽतिमत्त इव विस्तृतचित्तवृत्तिः ॥ १०४ ॥

भावार्थः—वातप्रकोप से उत्पन्न उन्मादरोग में मनुष्य विशाल मनोव्यापार वाला होते हुए मदोन्मत्त की तरह कांपते हुए नाचता है, बहुत बडबड करता है। इधर उधर फिरता है। गाता है। किसी को गाली देता है। बाजार में आवारा फिरता है। ताल ठोंकता है ॥ १०४ ॥

पैत्तिकोन्माद का लक्षण.

शीतप्रियः शिथिलशीतलगात्रयष्टिः ।
तीक्ष्णातिरोषणपरोऽग्निशिखातिशंकी ॥
तारास्स पश्यति दिवाप्यतितीव्रदृष्टिः ।
उन्मादको भवति पित्तवशान्मनुष्यः ॥ १०५ ॥

भावार्थः—पित्तप्रकोपसे जो मनुष्य उन्मादी हो गया है उसे शीतपदार्थ प्रिय होते हैं। उसका शरीर गरम हो जाता है। वह तीक्ष्ण रहता है। उसे बहुत तीव्र क्रोध आता है। सर्वत्र उसे अग्निशिखा की शंका होती है। उसकी दृष्टि इतनी तीव्र रहती है कि दिन में भी वह तारावोंको देख लेता है ॥ १०५ ॥

श्लैष्मिकोन्माद.

स्थूलोऽल्परुग् बहुकफोऽल्पभुगुष्णसेवी ।
निद्रालुरल्पकथकः सभवेत्स्थिरात्मा ॥
रात्रावतिप्रबलमुग्धमतिर्मनुष्यः ।
श्लेष्मप्रकोपकृतदुर्मथनोन्मदार्तः ॥ १०६ ॥

भावार्थः—कफप्रकोपसे जो मनुष्य उन्मादसे पीडित होता है वह मनुष्य स्थूल, अल्पपीडावाला, बहुकफसे युक्त; अल्पभोजी, उष्णप्रिय, निद्रालु व बहुत कम बोलनेवाला, चंचलतासे रहित होता है। रात्रि में उसकी बुद्धि में अत्यधिक विभ्रम होता है अर्थात् रात्री में रोग बढ जाता है। यह कठिन रोग है ॥ १०६ ॥

सन्निपातज, शोकज उन्मादलक्षण.

स्यात्सन्निपातजनितस्त्रिविधैः त्रिदोष- ।
लिंगैः समीक्षितगुणो भवतीह कृच्छ्रः ॥
अर्थक्षयादधिकबंधुवियोगतो वा ।
कामाद्भयादपि तथा मनसो विकारः ॥ १०७ ॥

भावार्थः—सन्निपातज उन्मादरोग में तीनों दोषज उन्माद में कहे गये चिन्ह प्रकट होते हैं। यह भी कठिन साध्य होता है। तथा धननाश, निकटबंधुवियोग, काम व भय आदिसे (शोक उत्पन्न होकर) भी उन्माद रोग होता है ॥ १०७ ॥

उन्मादचिकित्सा.

उन्मादबाधिततनुं पुरुषं सदोषैः ।
स्निग्धं तथोभयविभागविशुद्धदेहं ॥
तीक्ष्णावपीडनशतैः शिरसो विरेकैः ।
धूपैस्सपूतिभिरतः समुपक्रमेत ॥ १०८ ॥

भावार्थः—उन्माद से पीडित मनुष्य को दोषों के अनुसार स्नेहन व स्वेदन करा कर वमन विरेचन से शरीर के ऊपर व नीचे के भागोंको शोधन करना चाहिये। फिर उसे अनेक प्रकार के तीक्ष्ण अवपीडननस्य, शिरोविरेचन, और दुर्गंधयुक्त धूप के प्रयोग से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १०८ ॥

नस्य व त्रासन.

नस्यानुलेपनमपीह हितं प्रयोज्यं ।
तैलेन तीक्ष्णतरसर्षपजेन युक्तम् ॥
सुत्रासयेद्विविधनागतृणाग्नितोयै- ।
श्चौरैर्गजैरपि सुशिक्षितसर्वकार्यैः ॥ १०९ ॥

भावार्थः—इस रोगमें हितकर नस्य व लेप को तीक्ष्ण सरसोंके तैल के साथ प्रयोग करना चाहिये। और अनेक प्रकार के निर्विषसर्प, घास, अग्नि, पानी, चोर, हाथी व अन्य शिक्षाप्रद अनेक कार्यों से उस उन्मादी को भय व त्रास पहुंचाना चाहिये ॥ १०९ ॥

उन्मादनाशक अन्यविधि.

कूपेऽतिपूतिबहुभीमशवाकुलेऽस्मिन् ।
तं शाययेदतिमहाबहुलांधकारे ॥
सम्यग्ललाटतटसर्वशिराश्च लिद्ध्वा ।
रक्तप्रमोक्षणमपीह भिषग्विदध्यात् ॥ ११० ॥

भावार्थः—अंधेरे कूए में और जहां अत्यंत भयंकर अनेक शव पडे हों और अत्याधिक दुर्गंध आरहा हो एवं अंधकार हो वहां उस उन्मादीको सुलाना चाहिये । तथा कुशल वैद्य रोगी के ललाट में रहनेवाले सर्व शिराओं को व्यधन कर के रक्तमोक्षण भी करें ॥ ११० ॥

उन्माद में पथ्य.

स्निग्धातिधौतमधुरातिगुरुप्रकारा ।
निद्राकराणि बहुभोजनपानकानि ॥
मेधावहान्यतिमदप्रशमैकहेतून् ।
संशोधनानि सततं विदधीत दोषान् ॥ १११ ॥

भावार्थः—उन्मादीकी बुद्धि को ठिकाने में लानेवाले और मदशमन के कारण भूत स्निग्ध, अतिशुद्ध, मधुर, गुरु, निद्राकारक ऐसे बहुत प्रकारके भोजनपानादि द्रव्योंको देवें । एवं हमेशा दोषों के शोधन भी करते रहें ॥ १११ ॥

अपस्मार निदान.

भयमिह भवत्यप्सु प्राणैर्यतः परिमुच्यते ।
स्मरणमपि तत्रैवावश्यं विनश्यति मूर्च्छया ॥
प्रबलमरुतापस्माराख्यास्त्रिदोषगुणोप्यसा- ।
वसितहरितश्वेतैर्भूतैः क्षणात्पतति क्षितौ ॥ ११२ ॥

भुवि निपतितो दंतान्खादन् वमन् कफमुच्छ्वसन् ।
बलिककरगात्रोद्वृत्ताक्षः स्वयं बहु कूजति ॥
मरणगुणयुक्तापस्मारोऽयमंतकसन्निभ- ।
स्तत इह नरो मृत्वा मृत्वात्र जीवति कृच्छ्रतः ॥ ११३ ॥

---

१ उपरोक्त कार्यों को करने से प्रायः उस का दिल ठिकाने में आजाया करता है ।

भावार्थः—जिस प्रकार पानी में गिर जाने पर एकदम ऐसा भय उत्पन्न होता है कि अभी प्राण निकल जाता है और मूर्च्छाके साथ ही साथ स्मरण [बुद्धि] शक्ति भी अवश्य नष्ट हो जाती है उसी प्रकार इस रोग में भी प्राणघातकभय एवं मूर्च्छा के साथ स्मरणशक्ति का भी नाश होता है। इसलिये इसे अपस्मार रोग कहते हैं। यद्यपि यह तीनों दोषों से उत्पन्न होता है फिर भी प्रत्येक में वायुका प्राबल्य रहता है। वात, पित्त, कफज अपस्मारों में यथाक्रमसे [वेग के आरम्भ में] वह रोगी काला; हरा (अथवा पीला) व सफेदवर्ण के प्राणि व रूपविशेषोंको देख कर क्षणमात्र से ही भूमि पर गिर जाता है। जमीन पर गिरा हुआ वह मनुष्य दांतोको खाते हुए कफ को वमन करते हुए, ऊर्ध्वश्वास व ऊर्ध्वदृष्टि होकर बहुत जोरसे चिल्लाता है।

यह अपस्मार यम के समान मरण के गुणोंसे संयुक्त है अर्थात् मरणप्रद है। इस में मनुष्य मर मरकर बहुत कष्ट में जीता है अर्थात् यह एक अत्यंत भयंकर रोग है ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

अपस्मार की उत्पत्ति में भ्रम.

व्रजति सहसा कस्माद्योऽयं स्वयं मुहुरागतः।
कथितगुणदोषैरुद्भूतोऽतिशीघ्रगतागतैः॥
त्वरितमिह सोपस्माराख्यः प्रशाम्यति दोषजो।
ग्रहकृत इति प्रायः केचित् ब्रुवंत्यबुधा जनाः॥ ११४ ॥

भावार्थः—शीघ्र गमन व आगमनशील व पूर्वोक्तगुणोंसे संयुक्त वातादि दोषों से उत्पन्न यह अपस्मार रोग अकस्मात् अपने आप ही आकर, शीघ्र चला जाता है। क्यों कि यह बिना कारण के ही शमन हो जाता है इसलिये कुछ मूर्ख मनुष्य इस को ग्रहों के उपद्रवसे उत्पन्न मानते हैं। लेकिन् ऐसी बात नहीं है। यह दोषज ही है॥ ११४ ॥

रोगोंकी विलंबाविलंब उत्पत्ति.

कतिचिदिह दोषैरेवाशूद्भवंत्यधिकामयाः।
पुनरतिचिरात्कालात्केचित्स्वभावत एव ते॥
सकलगुणसामग्र्या युक्तोऽपि बीजगणो यथा।
प्रभवति भुवि प्रत्यात्मानं चिराचिरभेदतः॥ ११५ ॥

---

१ इसका वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज इस प्रकार चार भेद है।

२ अपस्मार का सामान्य लक्षण है।

भावार्थः— कई महारोग अपने स्वभाव से ही वातादि दोषोंसे शीघ्र उत्पन्न होते हैं और बहुत से रोग उन्ही दोषोंसे देरी से उत्पन्न होते हैं। ऐसा होना उनका स्वभाव है। जैसे कि जमीन में बोये गये बीजोंको पानी, योग्यक्षेत्र आदि सम्पूर्ण गुणयुक्त सामग्रियोंके मिलने पर भी बहुत से तो शीघ्र उगते हैं और बहुत से तो देर में। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर में भी रोग चिर व [देर] अचिर [शीघ्र] भेद से उत्पन्न होते हैं॥ ११५॥

बहुविधकृतव्यापारात्मोरुकर्मवशान्मुहु- ।
र्मुहुरिह महादोषैः रोगा भवंत्यचिराच्चिरात् ॥
सति जलनिधावप्युत्तुंगास्तरंगगणास्स्वयं ।
पृथक् पृथगुत्पद्यंते कदाचिदनेकशः ॥ ११६ ॥

भावार्थः—शरीरमें रोगोत्पत्तिके कारणभूत प्रकुपितदोष मौजूद होनेपर भी कोई रोग देर से कोई शीघ्र क्यों उत्पन्न होते हैं। इस के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि पूर्व में किये गये नानाप्रकार के व्यापारों से अर्जित कर्म के वशीभूत होकर महान् दोषों से बहुत से रोग शीघ्र उत्पन्न होते हैं बहुत से देर से। जैसे कि समुद्रमें [तरंग के कारणभूत] अगाध जलराशी के रहने पर भी कभी २ बडे २ तरंग एक २ कर के [देर २ से] आते हैं। कभी तो अनेक एक साथ (शीघ्र २) आते हैं॥ ११६॥

अपस्मार चिकित्सा.

इह कथितसमस्तोन्मादभैषज्यवर्गैः ।
प्रशमयतु सदापस्माररोगं विधिज्ञः ॥
सरसमधुकसारोध्दृष्टनस्यैस्समूत्रैः ।—
प्रशमनविधियुक्तात्यंततीव्रौषधैश्च ॥ ११७ ॥

भावार्थः—चिकित्सा में कुशल वैद्य उन्माद रोग में जो औषधिवर्ग बतलाये गये हैं उन से इस अपस्मार रोगकी चिकित्सा कर उपशमन करें। सफेद निशोथ, मुलैठी, वज्रखार इनको गोमूत्र के साथ पीसकर नस्य देवें [सुंघावें] एवं अपस्मार रोग को दूर करनेवाले तीव्र औषधियों के विधि प्रकार नस्य आदि में प्रयोग से चिकित्सा करें॥ ११७॥

नस्यांजन आदि.

पुराणघृतमस्य नस्यनयनांजनालेपनै- ।
र्विधेयमधिकोन्मदादिबहुमानसव्याधिषु ॥

निरंतरमिहातितीव्रकटुभेषजैश्चूर्णितै- ।
स्सदा क्षवथुमत्र सूत्रविधिना समुत्पादयेत् ॥ ११८ ॥

भावार्थः—अपस्माररोग से पीडित मनुष्य को आंख में घी का अंजन और उसीका लेप भी करें। बढ़ा हुआ उन्माद अपस्मार आदि मानसिकरोगों से हमेशा अत्यंत तीक्ष्ण, कटु (चरपरा) औषधियोंके चूर्ण से, शास्त्रोक्तविधिके अनुसार छींक पैदा करना चाहिये ॥ ११८ ॥

भाङ्‍र्याद्यरिष्ट.

भाङ्‍र्गीकषाययुतमायसचूर्णभाग- ।
मिक्षोर्विकारकृतसन्मधुरं सुगंधि ॥
कुंभे निधाय निहितं बहुधान्यमध्ये ।
ऽपस्मारमाशु शमयत्यसकृन्निपीतम् ॥ ११९ ॥

भावार्थः—भारंगी के कषाय में लोहभस्म व गुड मिलाकर एक घडे में भर देवें। फिर उसे धान्यो की राशि में एक महीने तक रख कर निकाल लेवें। उसे कपूर आदि से सुगंधित करें। इस सुगंधित व मीठा भाङ्‍र्यादि अरिष्ट को बार २ पीवें तो अपस्मार रोग शीघ्र ही शमन होता है ॥ ११९ ॥

अंतिम कथन।

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ १२० ॥

भावार्थः— जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इहलोक और परलोकके लिए प्रयोजनभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथमें जगत्का एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ १२० ॥

**इत्युग्रादित्याचार्यविरचित कल्याणकारके चिकित्साधिकारे
क्षुद्ररोगचिकित्सितं नामादितः सप्तदशः परिच्छेदः ।**

—0—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित
भावार्थदीपिका टीका में क्षुद्ररोगाधिकार नामक
सत्रहवां परिच्छेद समाप्त हुआ ।

———

अथाष्टदशः परिच्छेदः

+ **मंगलाचरण.**

मम मनसि जिनेंद्र श्रीपदांभोजयुग्मं ।
भवतु विभवभव्याशेषमत्तालिवृंदै-॥
रनुदिनमनुरक्तैस्सेव्यमानं प्रतीत-।
त्रिभुवनसुखसंपत्प्राप्तिहेतुर्नराणाम् ॥ १ ॥

भावार्थः—श्री जिनेंद्र भगवान में आसक्त [अत्यंत श्रद्धा रखनेवाले] वैभवयुक्त सम्पूर्ण भव्यरूपी मदोन्मत्त भ्रमरसमूह जिसको प्रतिदिन सेवता है और जो तीनों लोक में स्थित, प्रसिद्ध सम्पूर्ण सुखसंपत्तिके प्राप्ति के कारण है ऐसे श्री जिनेंद्रभगवानके दिव्य चरणकमलयुगल मेरे मन [हृदय] में हमेशा विराजता रहें ॥ १ ॥

अथ राजयक्ष्माधिकारः ।

राजयक्ष्मवर्णनप्रतिज्ञा.

अखिलतनुगताशेषामयैकाधिवासं ।
प्रबलविषमशोषव्याधितत्वं ब्रवीमि ॥
निजगुणरचितैस्तैर्दोषभेदानुभेदैः ।
प्रथमतरसुरूपैरात्मरूपैस्सुरिष्टैः ॥ २ ॥

भावार्थः—जो सर्व शरीरगत रोगोंको आश्रय भूत है (अर्थात् जिसके होनेपर अनेक श्वास कास आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं) ऐसे प्रबल विषमशोष [क्षय] रोग के स्वरूप को उन के स्वभाव से उत्पन्न उन दोषों के भेदोपभेद, पूर्वरूप, लक्षण व अरिष्टोंके साथ २ कथन करेंगे ॥ २ ॥

+ गंभीरामलमूलसंघतिलके श्रीकुंदकुंदान्वये ।
गच्छे श्रीपनसोगवल्यनुगते देशीगणे पुस्तके ॥
विख्यातागमचक्षुषोल्लसितकीर्त्याचार्यवर्यस्य ते ।
कुर्वेहं परिचर्यकं चरणयोस्सिंहासनश्रीजुषो ॥

इति क. पुस्तके अधिकः पाठोपलभ्यते ।

शोषराज की सार्थकता.

विविधविषमरोगाशेषसामंतबद्धः ।
प्रकटितनिजरूपोध्दूतकेतुप्रतानः ॥
दुरधिगमविकारो दुर्निवार्योऽतिवीर्यो ।
जगदभिभवतीदं शोषराजो जिगीषुः ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो नाना प्रकार के विषम रोगसमूहरूपी सामंत राजाओं से युक्त है, प्रकट किये गये अपने लक्षणरूपी स्वरूप (पराक्रम) से अन्यरोग लक्षणरूपी राजाओंके ध्वजा को जिसने नष्ट कर दिया है, [शरीरराज्य में अपना प्रभुत्व जमा लिया है] जिस के वीर्य (शक्ति व पराक्रम) के सामने चिकित्सा रूपी शत्रुराजा का ठहरना अत्यंत दुष्कर है, ऐसा दुरधिगम [जानने के लिये कठिन] शोषराज सब को जीतने की इच्छा से जगत् को परास्त करता है ॥ ३ ॥

क्षयके नामांतरोंकी सार्थकता.

क्षयकरणविशेषात्संक्षयस्स्याद्रसादे- ।
रनुदिनमतितापैश्शोषणादेष शोषः ॥
नृपतिजनविनाशाद्राजयक्ष्मेति साक्षा- ।
दधिगतबहुनामा शोषभूपो विभाति ॥ ४ ॥

भावार्थः—रस रक्त आदि धातुओंको क्षय करने के कारण से "**क्षय,**" उन्हीं धातुओंको, अपने संताप [ज्वर] के द्वारा प्रतिदिन शोषण [सुखाना] करते रहनेसे "**शोष,**" राजा महाराजाओं को भी नाश कर देने के कारण "**राजयक्ष्मा**" [राजरोग] इत्यादि अनेक सार्थक नामों को धारण करते हुए यह क्षयराज संसार में शोभायमान होता है। अर्थात्, क्षय, शोष, राजयक्ष्मा इत्यादि तपेदिकरोगके अनेक सार्थक नाम हैं ॥ ४ ॥

शोषरोगकी भेदाभेदविवक्षा.

अधिकतरविशेषाद्गौणमुख्यप्रभेदात् ।
पृथगथ कथितोऽसौ शोषरोगः स्वदोषैः ॥
सकलगुणनिधानादेकरूपक्रियाया- ।
स्स भवति सविशेषस्संनिपातात्मकोऽयम् ॥ ५ ॥

१ राजा जैसा समर्थ पुरुष भी इस रोग से पीडित हो जावें तो रोगमुक्त नहीं होते हैं।

भावार्थः—इस रोग में दोषों का उद्रेक अल्पप्रमाण व अधिकप्रमाण में होने के कारण से गौण व मुख्य का व्यवहार होता है। इस गौणमुख्य अपेक्षाभेद के कारण यह शोषरोग पृथक् २ दोषज [वातज, पित्तज कफज] भी कहा गया है। लेकिन सभी दोषोंके लक्षण एक साथ पाया जाता है और इस की चिकित्साक्रम में भी कोई भेद नहीं है (एक ही प्रकार का चिकित्साक्रम है) इसलिये यह राजयक्ष्मा सन्निपातात्मक होता है ॥ ५ ॥

राजयक्ष्माकारण.

मलजलगतिरोधान्मैथुनाद्वा विघाता-।
दशनविरसभावाच्छ्लेष्मरोधात्सिरासु ॥
कुपितसकलदोषैर्व्याप्तदेहस्य जंतो- ।
र्भवति विषमशोषव्याधिरेषोऽतिकष्टः ॥ ६ ॥

भावार्थः—मलमूत्र के रोकनेसे, अतिमैथुन करनेसे, कोई घात [चोट आदि लगना] होनेसे, मधुरादि पौष्टिकरसरहित भोजन करते करनेसे, रसवाहिनी सिराओं में श्लेष्मका अवरोध होनेसे, प्राणियोंके शरीर में सर्व दोषोंका उद्रेक होनेपर यह विषम (भयंकर) शोषरोग उत्पन्न हो जाता है। यह अत्यंत कठिन रोग है ॥ ६ ॥

पूर्वरूप आस्तित्व.

अनल इव सधूमो लिंगलिंगीप्रभेदात् ।
कथितबहुविकाराः पूर्वरूपैरुपेताः ॥
हुतभुगिह स पश्चाद्व्यक्तसल्लक्षणात्मा ।
निजगुणगणयुक्ता व्याधयोप्यत्र तद्वत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थोंको जाननेके लिये लिंगलिंगी भेदको जानना आवश्यक है। जिस प्रकार धूम लिंग है। अग्नि लिंगी है। धूमको देखकर अग्निके अस्तित्व का ज्ञान होता है। इसी प्रकार उन शोष आदि अनेक रोगोंके लिये भी लिंगरूप अनेक पूर्वरूप विकार होते हैं। तदनंतर जिस प्रकार अग्नि अपने लक्षणके साथ व्यक्त होता है। उसी प्रकार व्याधियां भी पश्चात् अपने लक्षणोंके साथ २ व्यक्त होजाते हैं ॥ ७ ॥

क्षयका पूर्वरूप.

बहुबहलकफातिश्वासविश्वांगसादः ।
वमनगलविशोषात्यग्निमांद्योन्मदाश्च ।

धवलनयनता निद्राति तत्पीनसत्वं ।
भवति हि खलु शोषे पूर्वरूपाणि तानि ॥ ८ ॥

भावार्थ—गाढा कफ बहुत गिरना, श्वास होना, सर्वांग शिथिलता होजाना, वमन होना, गला सूखना, अग्निमांद्य होना, मद आना, आंखे सफेद हो जाना, अधिक नींद आना, पीनस होना ये राजयक्ष्माका पूर्वरूप हैं अर्थात् जिनको राजयक्ष्मा होनेवाला होता है उनको रोग होनेके पहिले २ उपर्युक्त लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ८ ॥

शुकशिखिशकुनैस्तैः कौशिकैः काकगृध्रैः ।
कपिगणकृकलासैर्नीयते स्वप्नकाले ॥
खरपरुषविशुष्कां वा नदीं यः प्रपश्येत् ।
दवदहनविपन्नान् रूक्षवृक्षान् सधूमान् ॥ ९ ॥

भावार्थः—जिस को राजयक्ष्मा होनेवाला होता है उसे स्वप्न में, तोते, मयूर [मोर] शकुन [पक्षिविशेष] नकुल, कौवा, गीध, बंदर, गिरगट ये उस को (पीठपर बिठालकर) ले जाते हुए अर्थात् उन के पीठ पर अपन सवारी करते हुए दीखाता है । खरदरा कठिन (पत्थर आदि से युक्त) जलरहित नदी और दावाग्निसे जलते हुए धूम से व्याप्त रूक्षवृक्ष भी दीखते हैं । उपरोक्त स्वप्नों को देखना यह भी राज यक्ष्मा का पूर्वरूप हैं ॥ ९ ॥

वात आदिके भेदसे राजयक्ष्माका लक्षण.

पवनकृतविकाराद्भ्रष्टभिन्नस्वरोन्त- ।
र्गतनिजकृशपार्श्वो वंससंकोचनं च ।
ज्वरयुतपरिदाहासृग्विकारोऽतिसाराः ।
क्षयगतनिजरूपाण्यत्र पित्तोद्भवानि ॥ १० ॥

अरुचिरपि च कासं कंठजातं क्षतं तत् ।
कफकृतबहुरूपाण्युत्तमांगे गुरुत्वम् ॥
इतिदशभिरथैकेनाधिकैर्वा क्षयार्तं ।
परिहरतु यशोऽर्थी पंचषड्भिः स्वरूपैः ॥ ११ ॥

भावार्थः—राजयक्ष्मारोग में वात के उद्रेक से १. स्वर नष्ट या भिन्न हो जाता है २. दोनों कृश पार्श्व (फंसली) अन्दर चले जाते हैं, ३. अंस (कंधा) का संकोच

[सिकुडन] होता है। पित्त के प्रकोप से ४. ज्वर, ५. दाह, ६. खून का आना और ७ अतिसार [दस्त का लगना] होता है। कफ के प्रकोप से ८. अरुचि ९. कास १०. गले में जखम और ११. शिर में भारीपना होता है। इन उपरोक्त ग्यारह लक्षणोंसे अथवा किसी पांच या छह लक्षणों से पीडित क्षयरोगी को यश को चाहने वाले वैद्य छोड देवें अर्थात् ऐसा होने पर रोग असाध्य हो जाता है ॥ १० ॥ ११ ॥

राजयक्ष्मका असाध्यलक्षण.

वहुतरमशनं यः क्षीयमाणोऽतिभुंक्ते ।
चरणजठरगुह्योद्भूतशोफोऽतिसारी ।
यमहृतवरनारीकौतुकासक्तचित्तो ।
व्रजति स निरपेक्षः क्षिप्रमेव क्षयार्तः ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो रोगी अत्यंत क्षीण होते जानेपर भी बहुतसा भोजन करता है (अथवा बहुत ज्यादा खानेपर भी, क्षीण ही होता जाता है) और पाद, जठर (पेट) व गुह्येंद्रियमें शोफ जिसे हुआ है, अतिसारसे पीडित है, समझना चाहिये वह यमके द्वारा अपहरण की हुई सुंदरस्त्रियोंमे आसक्त चित्तवाला और इस लोकसे निरपेक्ष होकर वहां जल्दी पहुंच जाता है ॥ १२ ॥

राजयक्ष्माकी चिकित्सा.

अभिहितसविशेषैर्बृंहणद्रव्यसिद्धैः ।
स्समुदितघृतवर्गैःस्निग्धदेहं क्षयार्तं ।
मृदुतरगुणयुक्तैः छर्दनैः सद्विरेकै- ।
रपि मृदुशिरसस्संशोधनैश्शोधयेत्तम् ॥ १३ ।

भावार्थ—पूर्वमें कथित बृंहण (बलदायक) द्रव्योंसे सिद्ध घृतसे क्षयरोगीके शरीर को स्निग्ध करना चाहिये। पश्चात् मृदुगुणयुक्त औषधियोंसे मृदुछर्दन, रोगीका शिर भारी हो तो मृदुशिरोविरेचन करना चाहिये व मृदुविरेचन भी करना चाहिये ॥ १३ ॥

राजयक्ष्मीको भोजन.

मधुरगुणविशेषाशेषशालीन्यवान्वा ।
बहुविधकृतभक्षालक्ष्यगोधूमसिद्धान् ।
घृतगुडबहुदुग्धैर्भोजयेन्मुद्गयूषैः ।
फलगणयुतमृष्टैरिष्टशाकैस्सुपुष्टैः ॥ १४

भावार्थः—मधुर गुणयुक्त सर्वप्रकार के चावल, जौ, एवं मधुर गेहुं आदि धान्य व ऐसे अन्य पदार्थों से बने हुए अनेक प्रकार के भक्ष्य, घी, गुड, दूध, मूंगकी दाल शक्तिकारक फलगण, इष्ट व पुष्टिकारक शाकोंके साथ २ क्षय रोगी को भोजन कराना चाहिये ॥ १४ ॥

क्षय नाशकयोग.

त्रिकटुकघनचव्यसद्विडंगप्रचूर्णं ।
घृतगुडलुलितं वा प्रातरुत्थाय लीढ्वा ॥
अथ घृतगुडयुक्तद्राक्षया पिप्पलीनां ।
सततमनुपयोशन् स क्षयस्य क्षयः स्यात् ॥ १५ ॥

भावार्थः—त्रिकटु, मोथा, चाव, वायविडंग इन के चूर्णको घी व गुड में अच्छीतरह मिलाकर प्रातःकाल उठकर चाटें अथवा द्राक्षा व पीपल को घी व गुड के साथ मिलाकर बाद में दूध पीवें तो उससे क्षयरोग का क्षय होता है ॥ १५ ॥

तिलादि योग.

तिलपललसमांशं माषचूर्णं तयोस्त- ।
त्समदशतुरगगंधाधूलिमाज्येन पीत्वा ॥
गुडयुतपयसा सद्वाजिगंधासुकल्कैः ।
प्रतिदिनमनुलिप्तः स्थूलतामेति मर्त्यः ॥ १६ ॥

भावार्थः—तिल का चूर्ण, उडद के चूर्ण उन दोनों को बराबर लेवें । इन दोनों चूर्णों के बराबर असगंध के चूर्ण मिलाकर घी और गुडमिश्रित दूध के साथ पीना चाहिये । एवं असगंध के कल्क को प्रतिदिन शरीर में लेपन करना चाहिये । उस से क्षयरोगपीडित मनुष्य स्थूल हो जाता है ॥ १६ ॥

क्षयनाशक योगांतर

वृषकुसुमसमूलैः पक्वसर्पिः पिबेद्वा ।
यवतिलगुडमाषैः शालिपिष्टैरपूपान् ॥
दहनतुरगगंधामाषवल्लीलतागो- ।
क्षुरयुतशतमूलैर्भक्षयेत्पक्वभक्षान् ॥ १७ ॥

---

१ जैसे तिलचूर्ण १० तोला, उडदका चूर्ण १० तोला, असगंधका चूर्ण, २० तोला.

भावार्थः—अडूसा के फल व जड से पकाये हुए घृत को क्षयरोगी पीवें। इसे 'वृषघृत' या 'वासाघृत' कहते हैं। तथा जौ, तिल, गुड, उडद, शाली इन के आटे का बनया हुआ पुआ भी खावें। एवं भिलावा, अश्वगंध, माष, गोखुर, सेहुण्ड शतावर इन से पक्व भक्ष्यों को भी खावें ॥ १७ ॥

क्षयनाशक घृत.

शकृत इह रसैर्वाजाश्वगोवृंदकाना- ।
ममृतखदिरमूर्वा तेजिनीक्वाथभागैः ॥
घृतयुतपयसा भागैर्नवैतान्सरास्ना- ।
त्रिकटुकमधुकैस्तैस्सार्धपक्वं लिहेद्वा ॥ १८ ॥

भावार्थः—बकरी, घोडा, गाय इनका मलरस एक २ भाग, गिलोय, खेर की छाल, मूर्वा, चव्य इन पृथक् २ औषधियों का कषाय एक २ भाग, एक भाग दूध, एक भाग घी, इन नौ भाग द्रव्यों को एकत्र डालकर पकावें। इस में रास्ना, सोंठ, मिरच, पीपल, मुलैठी इनके कल्क भी डालें। विधिप्रकार सिद्ध किये हुए इस घृतको चाटें तो राजयक्ष्मा रोग शांत होता है ॥ १८ ॥

क्षयरोगांतक घृत.

खदिरकुटजपाठापाटलीबिल्वभल्ला- ।
तकनृपवृहतीसैरण्डकारंजयुग्मैः ॥
यवबदरकुलत्थोग्राग्निमंदाग्निकैःस्वैः ।
क्वथितजलविभागैः षड्भिरेको घृतस्य ॥ १९ ॥
स्नुहिपयसि हरीतक्यासुराह्वै सचव्यैः ।
प्रशमयति विपक्वं शोषरोगं घृतं तत् ॥
जठरमखिलमेहान्वातरोगानशेषा- ।
नतिबहुविषमोग्रोपद्रवग्रंथिबंधान् ॥ २० ॥

भावार्थः—खैरकी छाल, कूडाकी छाल, पाठा, पाढल, बेल, भिलावा, अमलतास, बडी कटेली, एरण्ड, करंज, पूतिकरंज, जौ, बेर, कुलथी, बच, चित्रक, इनका मंदाग्नि से पकाया हुआ काढा छह भाग, एक भाग घी और थोहरका दूध, हरड सामुद्रनमक [अथवा देवदारु] चाव, इन के कल्क से सिद्ध किया गया घृत, राजायक्ष्मा उदर, सर्व प्रकार के प्रमेह, सर्वविध वातरोग और अतिउपद्रव युक्त विषमग्रंथि रोग को भी दूर करता है ॥ २० ॥

महाक्षयरोगांतक.

त्रिकटुकत्रुटिनिंबारग्वधग्रंथिभल्ला- ।
तकदहनसुराष्ट्रीभद्रूतपथ्याजमोदै- ॥
रसनखदिरधात्रीशालगायत्रिकाख्यैः ।
क्वथितजलविभागैः पक्वमाज्यं चतुर्भिः ॥ २१ ।

अथ कथितघृते त्रिंशात्सितायाः पलानि ।
प्रकटगुणतुगाक्षीर्याश्च षट्प्रस्थमाज्ये ॥
विषतरुसुविडंगक्वाथसमस्थयुग्मं ।
खजमथितमशेषं तं तु दत्वोक्तकुंभे ॥ २२ ॥

भुवि बहुतरधान्ये चानुविन्यस्तमेत- ।
द्रुतवति सति मासार्धे तदुध्दृत्य यत्नात् ॥
प्रतिदिनमिह लीढ्वा नित्यमेकैकमंशं ॥

पलमितमनुपानं क्षीरमस्य प्रकुर्यात् ॥ २३ ॥
घृतमिदमतिमेध्यं वृष्यमायुष्यहेतुः ।
प्रशमयति च यक्ष्माणं तथा पाण्डुरोगान् ॥
भवति न परिहारोस्त्येतदेवोपयुज्य ।
प्रतिदिनमथ मर्त्यः तीर्थकृद्वा वयस्थः ॥ २४ ॥

भावार्थः—सोंठ, मिरच, पीपल, छोटी इलायची, नींब, अमलतास, नागरमोथा, भिलावा, चित्रक, फिटकरी, हरड, अजवायन, विजयसार, खैर, आंवला, शाल, [सालवृक्ष] विट्खदिर [दुर्गंध खैर] इन के विधि प्रकार बने हुए चार[1] भाग काढे को एक भाग घी में डाल कर [विधि प्रकार] पकावें। इस प्रकार सिद्ध एक प्रस्थ (६४ तोले) घृत में तीस पल [१२० तोले] मिश्री, छह पल [२४ तोले] वंशलोचन, और दो प्रस्थ [१२८ तोले] वायविडंग के काढा मिलावें और अच्छीतरह मथनी से मथें। पश्चात् इस को पहिले कहे हुए, मिट्टी के घडे में डाल कर, मुंह बंद कर के धान्य की राशि के बीच में रखें। पंद्रह दिन वीत जानें के के बाद उसे वहां से यत्नपूर्वक निकाल कर इसे प्रतिदिन एक[2] पलप्रमाण (४ तोले) चाट कर ऊपर से गाय का दूध पीना चाहिये। यह घृत अत्यंत मेध्य [बुद्धि को बढानेवाला] वृष्य, आयु को बढानेवाला (रसायन) है। राजयक्ष्मा व पांडुरोग को शमन

१ चार प्रस्थ, २ एक प्रस्थ

करता है। इस को यदि मनुष्य प्रतिदिन सेवन करें तो, देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान् के समान [हमेशा] वय [जवानपने] को धारण करता है, अर्थात् जब तक वह जीता है तब तक जवानों के सदृश शक्तिशाली होकर जीता है। इस के सेवन करने के समय किसी प्रकार भी परहेज करने की जरूरत नहीं हैं॥ २१-२२-२३-२४॥

भल्लातकादिघृत.

घृतगुडसमभागैस्तुल्यमारुष्करीयं।
मृदुपचनविपक्वं स्नेहमाशूपयुज्य॥
वलिपलितविहीनो यक्ष्मराजं विजित्यो-
र्जितसुखसहितस्स्याद्द्रोणमात्रं मनुष्यः॥ २५॥

भावार्थः—समान भाग घी व गुड के साथ भिलावे के तैल को मंदाग्नि द्वारा अच्छी तरह पका कर, एक द्रोणप्रमाण [६४ तोले का १६ सेर] सेवन करें तो राजयक्ष्मा रोग दूर हो जाता है और वह मनुष्य वलि व पलित [बाल सफेद हो जाना] से रहित हो कर उत्कृष्ट सुखी होता है॥ २५॥

शवरादिघृत.

शवरतुरगगंधा वज्रवल्ली विदारी-
क्षुरकपिफलकूष्माण्डैर्विपक्वाज्यतैलं।
अनुदिनमनुलिप्यात्मांगसंमर्दनाद्यैः।
क्षयगदमपनीय स्थूलकायो नरः स्यात्॥ २६॥

भावार्थः—सफेद लोध, असगंध, अस्थिसंहारी [हाड संकरी] विदारीकंद, गोखुर, कौंच के बीज, जायफल, कूष्मांड [सफेद कद्दू] इन से पकाये हुए घी तैल को प्रतिदिन लगाकर मालिश वगैरह करें तो क्षयरोग दूर हो कर मनुष्य का शरीर पुष्ट बन जाता है॥ २६॥

क्षयरोगनाशक दधि.

अथ श्रृतपयसीक्षोः सद्विकारानुमिश्रे।
सुविमलतरवर्षाभ्वंघ्रिचूर्णप्रयुक्ते॥
समरिचवरहिंगुस्तोकतक्रान्वितेऽन्ये-
द्युरिह सुरभिदध्ना तेन भुंजीत शोषी॥ २७॥

भावार्थः—पकाये हुए दूध में शक्कर, पुनर्नवाके जड के चूर्ण, काली मिरच, हींग

और थोडा छाछ मिलाकर रखें। दूसरे दिन इस को सुगंध दही के साथ मिलाकर क्षय रोगी भोजन करें ॥ २७ ॥

क्षयरोगीको अन्नपान.

तदति लघुविपाकी द्रव्यमग्निप्रदं य- ।
द्रुचिकरमतिवृष्यं पुष्टिकृन्मृष्टमेतत् ॥
सततमिह नियोज्यं शोषिणामन्नपानं ।
बहुविधरसभेदैरिष्टशाकैर्विशिष्टैः ॥ २८ ॥

भावार्थः—जल्दी पकनेवाले, अग्नि को दीप्त करनेवाले, रुचिकारक, अत्यंत वृष्य, पुष्टिकारक, शक्तिवर्द्धक ऐसे द्रव्यों से तैयार किये हुए अन्नपानोंको, नानाप्रकार के रस व प्रिय अच्छे शाकों के साथ राजयक्ष्मा से पीडित मनुष्य को देना चाहिये ॥ २८ ॥

अथ मसूरिकारोगाधिकारः ।

मसूरिका निदान.

अथ ग्रहक्षोभवशाद्विषांघ्रिप-प्रभूतपुष्पोत्कटगंधवासनात् ।
विषप्रयोगाद्विषमाशनाशना-द्दतुप्रकोपादतिधर्मकर्मणः ॥ २९ ॥
प्रसिद्धमंत्राहुतिहोमतो वधान्महोपसर्गान्मुनिवृंदरोषतः ।
भवंति रक्तासितपीतपाण्डुरा बहुप्रकाराकृतयो मसूरिकाः ॥ ३० ॥

भावार्थः—कोई क्रूरग्रहों के कोप से, विषवृक्षों के विषैले फूलों के सूंघने से, विषप्रयोग से, विषम भोजन करने से, ऋतुप्रकोप से (ऋतुओंके स्वभाव बदलजाना) धार्मिक कार्यों को उल्लंघन करने से, हिंसामय यज्ञ करने से, हिंसा करने से, मुनि आदि सत्पुरुषों को महान् उपसर्ग करने से, मुनियों के रोष से शरीर में बहुत प्रकार के आकारवाले मसूर के समान लाल, काले, सफेद व पीले दाने शरीर में निकलते हैं, उसे मसूरिका रोग (देवि, माता चेचक) कहते हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

मसूरिकाकी आकृति.

स्वदोषभेदात्सिकता ससर्षपा मसूरसंस्थानयुता मसूरिकाः ।
समस्तधान्याखिलवैदलोपमाः सकालपीताः फलसन्निभास्तथा ॥ ३१ ॥

भावार्थः—वे मसूरिकायें अपने २ दोषोंके भेदसे बालू [रेत] सरसों, मसूर के

१ धर्म इति पाठांतरं. २ काले पीले फल के समान,

आकार में [दाल] होती हैं तथा सर्वधान्य व समस्त द्विदल के आकार में होकर फलके समान योग्य काल में पीले वर्णको धारण करती हैं ॥ ३१ ॥

विस्फोट लक्षण.

विशेषविस्फोटगणास्तथापरे भवंति नानाद्रुमसत्फलोपमाः ।
भयंकराः प्रणाभृतां स्वकर्मतो बहिर्मुखांतर्मुखभेदभेदिकाः ॥ ३२ ॥

भावार्थः—प्राणियोंके पूर्वोपार्जित कर्म के कारण से, मसूरिका रोग में फफोलें भी होते हैं, जो अनेक वृक्षोंके फलके आकार में रहते हैं। वे भयंकर होते हैं। उन में वहिर्मुख स्फोटक [इसकी मुंह बाहर की ओर होती है] व अंतर्मुख स्फोटक [शरीर के अंदर की ओर मुखवाली] इस प्रकार दो भेद है ॥ ३२ ॥

अरुंषिका.

सितातिरक्तारुणकृष्णमण्डलान्यणून्यरुंष्यत्र विभांत्यनंतरम् ।
निमग्नमध्यान्यसिताननानि तान्यसाध्यरूपाणि विवर्जयेद्भिषक् ॥३३॥

भावार्थः—सफेद, अत्यधिकलाल, अरुण [साधारण लाल] व काले वर्ण के चकत्तों से संयुक्त, छोटी पिटकायें पश्चात् दिखने लगती हैं। यदि पिटकाओंके मध्यभाग में गहराई हो और उनका मुख काला हो तो उन्हे असाध्य समझना चाहिये। इसलिये ऐसे पिटकाओंको वैद्य छोड देवें ॥ ३३ ॥

मसूरिकाके पूर्वरूप.

मसूरिकासंभवपूर्वलक्षणान्यतिज्वरारोचकरोमहर्षता ।
विदाहतृष्णातिशिरोंगहृद्रुजः ससंधिविश्लेषणगाढनिद्रता ॥ ३४ ॥
प्रलापमूर्च्छाभ्रमवक्त्रशोषणं स्वचित्तसम्मोहनशूलजृम्भणम् ।
सशोफकण्डूगुरुगात्रता भृशं विषातुरस्येव भवंति संततम् ॥ ३५ ॥

भावार्थः—अत्यधिक ज्वर, अरोचकता, रोमांच, अत्यंतदाह, तृषा, शिरशूल, अंगशूल व हृदयपीडा, संधियोंका टूटना, गाढनिद्रा, बडबडाना, मूर्च्छा, भ्रम, मुखका सूखना, चित्तविभ्रम, शूल, जंभाई, सूजन, खुजली, शरीर भारी हो जाना, और विष के विकार से पीडित जैसे होजाना यह सब मसूरिकारोग के पूर्वरूप हैं। अर्थात् मसूरिका रोग होने के पहिले ये लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

मसूरिका असाध्यलक्षण.

यदा तु शूलातिविमोहशोणितप्रवृत्तिदाहादिकशोफविभ्रमैः ।
अतिप्रलापातितृषातिमूर्च्छितैः समन्वितान्याशु विनाशयंत्यनून् ॥ ३६ ॥

भावार्थः—जब मसूरिका रोग में अत्यधिक शूल, बेहोशी, मुख नाक आदि से रक्तस्राव, दाह, सूजन और भ्रम, प्रलाप (बडबडाना) तृषा, गाढमूर्छा आदि उपद्रव प्रकट हों तो समझना चाहिये कि वह प्राण को जल्दी हर ले जाता है ॥३६॥

जिव्हादि स्थानों में मसूरिका की उत्पत्ति.

ततः स्वजिह्वाश्रवणाक्षिनासिकाभ्रुवौष्ठकंठांघ्रिकरेषु मूर्धनि ।
समस्तदेहेऽपि गदा भवंति ताः प्रकीर्णरूपाः बहुलाः मसूरिकाः ॥ ३७ ॥

भावार्थः—मसूरिका का अधिक प्रकोप होनेपर वह फैलकर जीभ, कान, नाक, आंख, भ्रू, ओंठ, कंठ, पाद, हाथ, शिर इस प्रकार समस्त देह में फैल जाते हैं ॥३७॥

मसूरिकामें पित्तकी प्रबलता और वातिक लक्षण.

भवेयुरेताः प्रबलातिपित्ततस्तथान्यदोषोल्वणलक्षणेक्षिताः ।
कपोतवर्णा विषमास्सवेदना मरुत्कृताः कृष्णमुखा मसूरिकाः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—यह मसूरिका रोग मुख्यतः पित्तके प्राबल्य से उत्पन्न होता है । फिर भी इस में प्रकुपित अन्य दोषों (वात कफों) के संसर्ग होने से उन के लक्षण भी पाये जाते हैं [अतएव वातज मसूरिका आदि कहलाते हैं] जिनका वर्ण कबूतर के समान रहता है और मुख काला रहता है, और जो विषम आकार (छोटे बडे गोल चपटा आदि) व पीडा से युक्त होते हैं उन्हे वातविकार से उत्पन्न (वातज मसूरिका) समझना चाहिये ॥ ३८ ॥

पित्तजमसूरिका लक्षण.

सपीतरक्तासितवर्णनिर्णया ज्वरातितृष्णापरितापतापिताः ।
सुशीघ्रपाकाबहुपित्तसंभवा भवंति मृद्व्यो बहुला मसूरिकाः ॥ ३९ ॥

भावार्थः—जो मसूरिका पीले लाल या काले वर्णकी होती हैं, अत्यंत ज्वर, तृष्णा व दाहसे युक्त हैं, एवं जल्दी पक जाती हैं और मृदु होती हैं उनको पित्तज मसूरिका समझें ॥ ३९ ॥

कफजरक्तजसन्निपातजमसूरिकालक्षण.

कफाद्घनस्थूलतरातिशीतलाश्चिरमपाकाः शिशिरज्वरान्विताः ।
प्रवालरक्ता बहुरक्तसंभवाः समस्तदोषैरखिलोग्रवेदनाः ॥ ४० ॥

भावार्थः—कफविकार से होनेवाली मसूरिका घट्ट (कडा), स्थूल, अतिशीतल, शीतपूर्वक ज्वर से युक्त व देरसे पकनेवाली होती है। रक्तविकार से उत्पन्न मसूरिका मूंगे के वर्ण के समान लाल होती है। सन्निपातज हो तो उस में तीनों दोषोंसे उत्पन्न उग्र लक्षण एक साथ पाये जाते हैं ॥ ४० ॥

मसूरिका के असाध्य लक्षण.

शराववन्निम्नमुखाः सकर्णिका विदग्धवन्मण्डलमण्डिताश्च याः ।
घनातिरक्तासितवक्त्रविस्तृताः ज्वरातिसारोद्धतशूलसंकुलाः ॥४१॥
विदाहकंपातिरुजातिसारकात्यरोचकाध्मानतृषातिहिक्कया ।
भवंत्यसाध्याः कथितैरुपद्रवैरुपद्रुताःश्वाससकासनिष्ठुरैः ॥ ४२ ॥

भावार्थः—जो मसूरिका सरावके समान नीचे की ओर मुखवाली हैं, (किनारे तो ऊंचे बीच में गहरा) कर्णिका सहित है, जलजानेसे उत्पन्न चकत्तों के सदृश चकत्तोंसे युक्त है, घट्ट (कडा) है, अत्यंत लाल व काली है, विस्तृत मुखवाली है, ज्वर अतिसार, शूल जिस में होते हैं, एवं दाह, कंप, अतिपीडा, अतिसार, अति अरोचकता, अफराना, अतितृषा, हिचकी, और प्रबलश्वास, कास आदि कथित उपद्रवों से संयुक्त होती है उस मसूरिका को असाध्य समझें ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

मसूरिका चिकित्सा.

विचार्य पूर्वोद्धतलक्षणेष्वलं विलंघनानंतरमेव वामयेत् ।
सनिंबयष्टीमधुकाम्बुभिर्वरं त्रिवृत्तथाद्यत्सितया विरेचयेत् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—मसूरिका के पूर्वरूप के प्रकट होने पर रोगी को अच्छी तरह लंघन कराकर नींब व ज्येष्ठमधु के कषाय से वमन कराना चाहिये। एवं निशोत व शक्कर से विरेचन भी कराना चाहिये ॥ ४३ ॥

पथ्यभोजन.

समुद्गयूषैरपि षष्टिकौदनं सतिक्तशाकैर्मधुरैश्च भोजयेत् ।
सुशीतलद्रव्यविपक्वशीतलां पिबेद्यवागूमथवा घृतप्लुताम् ॥ ४४ ॥

भावार्थः—उस रोगीको मीठे शाक व अन्य मीठे पदार्थ और मुद्गयूष [मूंग की दाल] के साथ साठी चावल के भात को खिलाना चाहिये अथवा शीतल द्रव्योंसे पकाई हुई घृत से युक्त शीतल यवागू खिलानी चाहिये ॥ ४४ ॥

तृष्णाचिकित्सा व शयनविधान.

सुशीतलं वा शृतशीतलं जलं पिबेत्तृषार्तो मनुजस्तदुद्गमे ।
तथोदकाचत्कदलीदलाश्रिते शयीत नित्यं शयने मसूरिकी ॥ ४५ ॥

भावार्थः—मसूरिका रोगसे पीडित रोगी को प्यास लगे तो वह बिलकुल ठंड या पकाकर ठंड किये हुए जल को पीवें । एवं मसूरिका निकलने पर पानी से भिगोये गये केलों के पत्ते जिसपर बिछाये हों ऐसे शयन [बिछौना] में वह हमेशा सोवें ॥ ४५ ॥

दाहनाशकोपचार.

तदुद्भवोद्भूतविदाहतापिते शिराश्च व्यध्वा रुधिरं प्रमोक्षयेत् ।
प्रलेपयेदुत्पलपद्मकेसरैः सचंदनैर्निंबपयोंघ्रिपांकुरैः ॥ ४६ ॥

भावार्थः—मसूरिका होने के कारण से उत्पन्न भयंकर दाह से यदि शरीर तप्तायमान हो रहा है तो शिरामोक्षण कर रक्त निकालना चाहिये और नीलकमल, कमल, नागकेसर व चन्दन से, अथवा नींब, क्षीरिवृक्षों के कोंपल से लेप करना चाहिये ॥ ४६ ॥

शर्करादि लेप.

सशर्करार्किंशुकशाल्मलिद्रुमप्रवालमूलैः पयसानुपेषितैः ।
प्रलेपयेदूष्मनिवारणाय तद्रुजाप्रशांत्यै मधुरैस्तथापरैः ॥ ४७ ॥

भावार्थ—इसी प्रकार ढाक सेमल इन वृक्षों के कोंपल व जडको दूध में पीसकर उस में शक्कर मिलाकर, गर्मी व पीडाके शमन करने के लिये लेप करें । इसी प्रकार अत्यंत मधुर औषधियों को भी लेप करना चाहिये ॥ ४७ ॥

शैवलादि लेप व मसूरिकाचिकित्सा.

सशैवलोशीरकशेरुकाशसत्कुशांघ्रिभिस्सेक्षुरसैश्च लेपयेत् ।
मसूरिकास्तैर्विषजाश्च या यथाविषघ्नभैषज्यगणैर्विशेषकृत् ॥ ४८ ॥

१ विद्वान् इति पाठांतरं

भावार्थः—शिवार, खस, कसेरु, कास, दर्भा इनके जडको ईखके रस के साथ पीस कर लगावें। और यदि विषज मसूरिका हो तो विषहर औषधियोंका लेपन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

मसूरिका नाशक क्वाथ.

सनिंबसारामृतचंदनांबुदैर्विपक्वतोयं प्रपिबेत्सशर्करम् ।
मसूरिको द्राक्षहरीतकामृतापटोलपाठाकटुरोहिणीघनैः ॥ ४९ ॥
अरुष्करांम्रांबुसधान्यरोहिणीघनैः श्रृतं शीतकषायमेव वा ।
पिबेत्सदा स्फोटमसूरिकापहं सशर्करं सेक्षुरसं विशेषवित् ॥ ५० ॥

भावार्थः—नींबकी गरी, गिलोय, लाल चंदन, नागरमोथा इन से पकाये हुए काढे में शक्कर मिलाकर मसूरिका से पीडित व्यक्ति पीवें। एवं द्राक्षा, हरड, गिलोय, पटोलपत्र, पाठा, कुटकी, नागरमोथा इनके क्वाथ अथवा भिलावा, आम, खश, धनिया, कुटकी, नागरमोथा इन के क्वाथ वा शीत कषाय को पीवें। ईख के रस में शक्कर मिलाकर पीनेसे स्फोटयुक्त मसूरिका रोग दूर हो जाता है ॥ ४९ ॥ ५० ॥

पच्यमान मसूरिकामें लेप.

विपच्यमानासु मसूरिकासु ताः प्रलेपयेद्वातकफोत्थिता भिषक् ।
समस्तगंधौषधसाधितेन सत्तिलोद्भवेनाज्यगणैस्तथापरः ॥ ५१ ॥

भावार्थः—वात व कफ के विकारसे उत्पन्न जो मसूरिका है यदि वह पक रही हो तो सर्व गंधौषधों से सिद्ध तिलका तैल लेपन करना चाहिये यदि पित्तज मसूरिका पक रही हो तो, सर्वगंधौषधसे सिद्ध घृतवर्ग का लेपन करना चाहिये ॥ ५१ ॥

पच्यमान व पक्वमसूरिकामें लेप.

विपाककाले लघु चाम्लभोजनं नियुज्य सम्यक्परिपाकमागताः ।
विभिद्य तीक्ष्णैरिह कंटकैश्शुभैः सुचक्रतैलेन निषेचयेद्भिषक् ॥ ५२ ॥

भावार्थः—मसूरिका के पकनेके समय में रोगी को हलका व खट्टा भोजन कराना चाहिये। जब वह पक जाय उस के बाद तीक्ष्ण व योग्य कांटे से उसे फोडकर उस पर चक्रतैल (चक्की से निकाला हुआ) नया (ताजे) डालना चाहिये ॥ ५२ ॥

व्रणावस्थापन्न मसूरिका चिकित्सा.

विपाकपाकव्रणपीडितास्वपि प्रसाधयेत्ताः क्षतवद्विसर्पवत् ।
अजस्रमास्रावयुताः प्रपीडयेन्मुहुर्मुहुर्माषयवप्रलेपनैः ॥ ५३ ॥

भावार्थः—मसूरिका पक जाने पर यदि व्रण हो जावें तो क्षत (जखम) व विसर्प रोग की चिकित्सा करें । यदि वह सदा स्रावसहित हो तो बार २, उड्द जौ का लेपन से पीडन करना चाहिये ॥ ५३ ॥

शोषणक्रिया व क्रिमिजन्यमसूरिकाचिकित्सा.

सुभस्मचूर्णेन विगालितेन वा विकीर्य सम्यक्परिशोषयेद्बुधः ।
कदाचिदुद्यत्क्रिमिभक्षिताश्च ताः क्रिमिघ्नभैषज्यगणैरुपाचरेत् ॥ ५४ ॥

भावार्थः—अच्छे भस्म को पुनः अच्छी तरह (छलनी आदिसे) छानकर उसे उन मसूरिकाव्रणोंपर डालें जिससे वह स्राव सूख जायगा । यदि कदाचित् उन मसूरिका व्रणों में क्रिमि उत्पन्न हो जाय तो क्रिमिनाशक औषधियों से उपचार करना चाहिये ॥५४॥

वीजन व धूप.

अशोकनिंबाम्रकदंबपल्लवैः समंततस्संततमेव वीजयेत् ।
सुधूपयेद्वा गुडसर्जसद्रसैः सगुग्गुलुध्यामककुष्ठचंदनैः ॥ ५५ ॥

भावार्थ—मसूरिका से पीडित रोगीको अशोक, नीम, कदम, इन वृक्षोंके पत्तोंसे सदा पंखा करना चाहिये । एवं गुड, राल, गुग्गुल कत्तृण नामक गंधद्रव्य (रोहिस सोधिया) चंदन इन से धूप करना चाहिये ॥ ५५ ॥

दुर्गंधितपिच्छिल मसूरिकोपचार.

स पूतिगंधानपि पिच्छिलव्रणान् वनस्पतिक्वाथसुखोष्णकांजिका-।
जलैरभिक्षाल्य तिलैस्सुपेशितै र्बृहत्तदूष्मप्रशमाय शास्त्रवित् ॥ ५६ ॥

भावार्थः—मसूरिकाजन्य व्रण दुर्गंधयुक्त व पिच्छिल [पिलपिली लिबलिबाहट] हो तो उसे नींब क्षीरीवृक्ष, आदि वनस्पतियोंके क्वाथ व साधारण गरम कांजीसे धोकर तो। उष्णता के शमनार्थ, तिल को अच्छी तरह पीस कर, वैद्य उस पर लगावें ॥ ६६ ॥

मसूरिकों को भोजन.

मसूरमुद्गप्रवराढकीगणैर्घृतान्वितैर्यूषखलैः फलाम्लकैः ।
स एकवारं लघुभोजनक्रमक्रमेण संभोजनमेव भोजयेत् ॥ ५७ ॥

भावार्थः—मसूर, मूंग, अरहर आदि धान्यों से बने हुए घृतमिश्रित यूषखल, खट्टे फल इनसे उस रोगी को दिन में एक बार लघुभोजन कराना चाहिये। फिर उस के बाद क्रम क्रम से उसकी वृद्धि करते हुए अंत में सभी भोजन खिलावें ॥ ५७ ॥

व्रणक्रियां साधु नियुज्य साधयेदुपद्रवानप्यनुरूपसाधनैः ।
घृतानुलिप्तं शयने च शाययेत् सुचर्मपद्मोत्पलपत्रसंवृते ॥ ५८ ॥

भावार्थः—मसूरिका रोग में, व्रणोक्त चिकित्सा को अच्छी तरह प्रयोग कर उसे साधना चाहिये। उस के साथ जो उपद्रव्य प्रकट हों तो उन को भी उन के योग्य चिकित्सा से शमन करना चाहिये। उसे, घृत लेपन कर, चर्म, कमल, नीलकमल के पत्ते जिस पर बिछाया हो ऐसे शयन [बिछौना] पर सुलाना चाहिये ॥ ५८ ॥

संधिशोथ चिकित्सा.

स्संधिशोफास्वपि शोफवद्विधिं विधाय पत्रैर्धमनैश्च बंधयेत् ।
विपक्वमप्याशु विदार्य साधयेद्यथोक्तनाडीव्रणवद्विचक्षणः ॥ ५९ ॥

भावार्थः—संधियोंमें यदि शोफ हो जाय तो शोफ [सूजन] की चिकित्साके प्रकरण में जो विधि बताई गई है उसी प्रकार की चिकित्सा इस में करनी चाहिये। और धमन (नरसल) वृक्षके पत्तों से बांधना चाहिये। अथवा नाडोंसे बांधना चाहिये। यदि वह पकजाय तो बुद्धिमान् वैद्य को उचित है कि वह शीघ्र पूर्वोक्त नाडीव्रणकी चिकित्सा के समान उसको विदारण (चीर) कर शोधन रोपण दि चिकित्सा करें ॥ ५९ ॥

सवर्णकरणोपाय.

व्रणेषु रूढेषु सवर्णकारणैर्हरिद्रया गैरिकयाथ लोहित—।
द्रुमैर्लताभिश्च सुशीतसौरभैस्सदा विलिम्पेत् सघृतैस्सशर्करैः ॥ ६० ॥

भावार्थः—व्रण भरजाने पर (त्वचाको) सवर्ण[2] करने के लिये तो उसमें हलदी अथवा गेरू अथवा शीत सुगंधि चंदन वा मंजीठ इन द्रव्योंको अच्छी तरह घिसकर घी व शक्कर मिलाकर उस में सदा लेपन करना चाहिये ॥ ६० ॥

कपित्थशाल्यक्षतबालकांबुभिः कलायकालेयकमल्लिकादलैः ।
पयोनिघृष्टैस्तिलचंदनैरपि प्रलेपयेद्द्रव्यघृतानुमिश्रितैः ॥ ६१ ॥

---

१ द्रव्य, उसका प्रमाण व बार.

२ अन्य जगहके त्वचाके सदृश वर्ण करना। अथवा व्रण होनेके पूर्व उस त्वचाका जो वर्ण था उस को वैसे के वैसे उत्पन्न करना ॥

भावार्थः—कैथ, शाली धान, चावल, खश, नेत्रवाला, इन को वा मरुर, कालेयक, (पीला वर्ण का सुगंधकाष्ट जिस को पीला चंदन भी कहते हैं) चमेली के पत्ते इन को वा तिल, कालाचंदन इनको, दूध के साथ पीसकर व गव्यघृत मिलाकर लेप करे तो त्वचा सवर्ण बन जाता है ॥ ६१ ॥

उपसर्गज मसूरिका चिकित्सा.

महोपसर्गप्रभवाखिलामयान्निवारयेन्मंत्रसुतंत्रमंत्रवित् ।
प्रधानरूपाक्षतपुष्पचंदनैस्समर्चयेज्जैनपदांबुजद्वयम् ॥ ६२ ॥

भावार्थः—महान् उपसर्ग से उत्पन्न मसूरिका आदि समस्त रोगों को योग्य मंत्र, यंत्र व तंत्रके प्रयोगसे निवारण करना चाहिये । एवं श्रेष्ठ अक्षत पुष्प चंदनादिक अष्टद्रव्योंसे बहुत भक्ति के साथ श्री जिनेंद्रभगवंतके चरणकमल की महापूजा करनी चाहिये ॥ ६२ ॥

मसूरिका आदि रोगोंका संक्रमण.

सशोफकुष्टज्वरलोचनामयास्तथोपसर्गप्रभवा मसूरिका ।
तदंगसंस्पर्शनिवासभोजनान्नराान्नरं क्षिप्रमिह व्रजंति ते ॥ ६३ ॥

भावार्थः—शोफ, (सूजन) कोढ, ज्वर, नेत्ररोग व उपसर्ग से उत्पन्न मसूरिका रोग से पीडित रोगीके स्पर्श करनेसे, उसके पास में रहनेसे एवं उसके छूया हुआ भोजन करनेसे, ये रोग शीघ्र एक दूसरे को बदल जाते हैं ॥ ६३ ॥

उपसर्गज मसूरिका में मंत्रप्रयोग.

ततः सुमंत्राक्षररक्षितस्स्वयं चिकित्सको मारिगणान्निवारयेत् ।
गुरून्नमस्कृत्य जिनेश्वरादिकान् प्रसाधयेन्मंत्रितमंत्रसाधनैः ॥ ६४ ॥

भावार्थः—इसलिये इन संक्रामक महारोगोंको जीतनेके पहिले वैद्यको उचित है कि वह पहिले शक्तिशाली बीजाक्षरों के द्वारा अपनी रक्षा करलेवें । बाद में जिनेंद्र भगवंत व सद्गुरुवों को नमस्कार कर मंत्रप्रयोगरूपी साधन द्वारा इस रोग को जीतें ॥ ६४ ॥

भूततंत्रविषतंत्रमंत्रविद्योजयेत् तदनुरूपभेषजैः ।
भूतपीडितनरान्विषातुरान् वेषलक्षणविशेषतो भिषक् ॥ ६५ ॥

भावार्थः—भूतों के पीडन [व्यंतर जाति के देव] व विषप्रयोग जन्य मसूरिका रोग को उन के आवेश व लक्षणों से पहिचान कर, भूतविद्या मंत्रविद्या व विषतंत्र को जाननेवाला वैद्य, उनके अनुकूल औषधि व मंत्रों से उन्हे जीतना चाहिये ॥ ६५ ॥

भूतादि देवतायें मनुष्योंको कष्ट देने का कारण.

व्यंतरा भुवि वसंति संततं पीडयंत्यपि नरान्समायया ।
पूर्वजन्मकृतशत्रुरोषतः क्रीडनार्थमथवा जिघांसया ॥ ६६ ॥

भावार्थः—भूत पिशाचादिक व्यंतरगण इस मध्यलोक में यत्र तत्र वास करते हैं । वे सदा पूर्वजन्मकी शत्रुतासे, विनोद के लिये अथवा मारने की इच्छा से पीडा देते रहते हैं ॥ ६६ ॥

ग्रहबाधायोग्य मनुष्य.

यत्र पंचविधसद्गुरून्सदा नार्चयंति कुसुमाक्षतादिभिः ।
पापिनः परधनांगनानुगा भुंजतेन्नमतिविन्न पूजयन् ॥ ६७ ॥
पात्रदानबलिभैक्षवर्जिता भिन्नशून्यगृहवासिनस्तु ये ।
मांसभक्षमधुमद्यपायिनः तान्विशंति कुपिता महाग्रहाः ॥ ६८ ॥

भावार्थः—जो प्रतिनित्य, पुष्प अक्षत आदि अष्टद्रव्यों[1] से पंचपरम गुरुओं (पंचपरमेष्ठी[2]) की पूजा नहीं करते हैं, हिंसा आदि पाप कार्यों को करते हैं, परधन व परस्त्रियों में प्रेम रखते हैं, अत्यंत विद्वान होने पर भी देवपूजा न कर के ही भोजन करते हैं, खराब शून्य गृह में वास करते हैं, मद्य[3], मांस, मधु खाते हैं, पीते हैं, ऐसे मनुष्यों को, कुपित महा गृह (देवता) प्रवेश करते हैं अर्थात् कष्ट पहुंचाते हैं ॥ ६७॥ ६८॥

बालग्रह के कारण.

बालकानिह बहुप्रकारतस्तर्जितानपि च ताडितान्मुहुः ।
त्रासितानशुचिशून्यगेहसंवर्धितानभिभवंति ते ग्रहाः ॥ ६९ ॥

---

१ जल, चंदन, अक्षत [चावल] पुष्प नैवेद्य, दीप, धूप, फल, ये देवपूजाप्रधान आठ द्रव्य हैं ।

२ अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, ये पांच जगत् के परमदेव व गुरु हैं ।

३ मद्य, मांस, मधु इन का त्याग, जैनों के मूलगुणमें समावेश होता है । इन चीजों को जो त्याग नहीं करता है, वह वास्तव में जैन कहलाने योग्य नहीं है ।

भावार्थः—जो लोग बालकों को अनेक प्रकार से [देखो भूत आगया ! चुप रहो इत्यादि रीति से] डराते हैं और वार २ मारते हैं व कष्ट देते हैं एवं उन बालकों को गंदा व सूने घरमें पालन पोषण करते हैं, ऐसे बालकों को वे ग्रह कष्ट पहुंचाते हैं ॥ ६९ ॥

शौचहीनचरितानमंगलान्मातृदोषपरिभूतपुत्रकान् ।
आश्रितानधिककिन्नरादिभिस्तान्ब्रवीमि निजलक्षणाकृतीन् ॥ ७० ॥

भावार्थः—जिनका आचरण शुद्ध नहीं है, जो अमंगल है, [मंगल द्रव्यके धारण आदि से रहित हैं,] माता के दोषसे दूषित है, ऐसे मनुष्य किन्नर आदि क्रूरग्रहों से पीडित होते हैं । अब उन के लक्षण व आकृति का वर्णन करेंगे ॥ ७० ॥

किन्नरग्रहग्रहीतलक्षण.

स्तब्धदृष्टिरसृजः सुगंधिको वक्रवक्त्रचलितैकपक्ष्मणः ।
स्तन्यरुट्सलिलचक्षुरल्पतो यः शिशुः कठिनमुष्टिवर्चसः ॥ ७१ ॥

भावार्थः—किंनर गृह से पीडित बालक की आंखे स्तब्ध होती हैं। शरीर रक्त के सदृश गंधवाला हो जाता है । मुंह टेढा होता है । एक पलक फडकता है, स्तन पीनेसे द्वेष करता है । आंखोंसे थोडा २ पानी निकलता है, मुट्ठी खूब कडा बांध लेता है मल भी कडा होता है । तात्पर्य यह कि उपरोक्त लक्षण जिस बालक में पाये जांय तो समझना चाहिये कि यह किंनरग्रहग्रहीत है ॥ ७१ ॥

किन्नरग्रहघ्न चिकित्सा.

सग्रहो बहुविधैः कुमारवत्सं कुमारचरितैरुपाचरेत् ।
किंन्नरार्दितशिशुं विशारदो रक्तमाल्यचरुकैरुपाचरेत् ॥ ७२ ॥

भावार्थः—बालग्रह से पीडित बालक की बालग्रहनाशक, अभ्यंग, स्नान, धूप आदि नाना प्रकार के उपायों से, चिकित्सा करनी चाहिये । खास कर किंनर ग्रहग्रहीत बालक को, लाल फूलमाला, लाल नैवेद्य समर्पण आदि से उपचार करना चाहिये ॥ ७२ ॥

किन्नग्रहघ्न अभ्यंगस्नान.

वातरोगशमनौषधैस्सुगंधैस्सुसिद्धतिलजैर्जलैस्तथा- ।
भ्यंगधावनमिह प्रशस्यते किन्नरग्रहग्रहीत पुत्रके ॥ ७३ ॥

भावार्थः—उस किन्नर ग्रह से पीडित बालक को वातशामक व सुगंधित औषधियों से सिद्ध तिलका तैल, मालिश व इन ही औषधियोंसे साधित जल से स्नान कराना चाहिये ॥ ७३ ॥

किन्नरग्रहघ्न धूप.

सर्षपैरखिलरोमसर्पनिर्मोकहिंगुवचया तथैव का— ।
कादनीघृतगुडैश्च धूपयेत्स्नापयेन्निशि दिवा च चत्वरे ॥ ७४ ॥

भावार्थः—उपरोक्त ग्रहबाधित बच्चे को सरसों, सर्व प्रकार (गाय, बकरा, मनुष्य आदि के) के बाल, सांपकी कांचली, हींग, बच काकाद्नी, इन में घी गुड मिलाकर (आग में डालकर) इस का धूप देवें एवं रात और दिन में, चौराह में [उपरोक्त जलसे] स्नान कराना चाहिये ॥ ७४ ॥

किन्नरगृहघ्न बलि व होम.

शालिषष्टिकयवैः पुरं समाकारयेन्मधुरकुष्ठगोघृतैः ।
होमयेन्निरवशेषतीर्थकृत् नामभिःप्रणमनैश्च पंचभिः ॥ ७५ ॥

भावार्थः—साठी धान, जौ इस से पिंड बनाकर बलि देना चाहिये । एवं शालिधान्य कूठ गाय का घी, इन से तीर्थंकरों के सम्पूर्ण [१००८] नाम व पंचपरमेष्ठियों के नाम के उच्चारण के साथ २ होम करना चाहिये । जिनसे किन्नरग्रह शांत हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

किन्नरगृहघ्न माल्यधारण.

भूधरश्रवणसोमवल्लिका बिल्वचंदनयुतेंद्रवल्लिका ।
शिग्रुमूलसहितां गवादनीं धारयेद्ग्रथितमालिकां शिशुं ॥ ७६ ॥

भावार्थः—भूधर, गोरखमुण्डी, गिलोय, बेले के कांटे, चंदन, इंद्रलता, सैंजनका जड, गवादनी [इंद्रायणका जड] इन से बनी हुई मालाको किन्नरग्रह से पीडित बालक को पहना देना चाहिये ॥ ७६ ॥

किंपुरुषग्रहगृहीतलक्षण.

वेदनाभिरिहमूर्छितश्शिशुः चेतयत्यपि मुहुः करांघ्रिभिः ।
नृत्यतीव विसृजत्यलं मलं मूत्रमप्यतिविनम्य जृंभयन् ॥ ७७ ॥

---

१ बिल्वकंटकान् इति ग्रन्थांतरे. २ गेल्याडक: गंडदूर्वा इति लोके.

फेनमुद्वमति भीषणोह्यपस्मारकिंपुरुषनामको ग्रहः ।
तं शिरीषसुरसैस्सुबिल्वकैः स्नापयेदिह विपक्ववारिभिः ॥ ७८ ॥

भावार्थः—नानाप्रकारकी वेदनाओं से बालक बेहोश हो जाता है, कभी होश में भी आता है, हाथ पैरों को इस प्रकार हिलाता है जिससे वह नाचता हो जैसा मालूम होता है। नमते व जंभाई लेते हुए अधिक मल मूत्रको त्याग करता है, फेन (झाग) को वमन करता है तो समझना चाहिये कि वह भयंकर किंपुरुषापस्मार नामक ग्रह से पीडित है। इसे शिरीष, तुलसी बेल इन से पकाये हुए जल में स्नान कराना चाहिये ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

किंपुरुषग्रहघ्न तैल व घृत.

सर्वगंधपरिपक्वतैलमभ्यंजने हितमिति प्रयुज्यते ।
क्षीरवृक्षमधुरैश्च साधितं पाययेद्घृतमिदं पयसा युतम् ॥ ७९ ॥

भावार्थः—इस में सम्पूर्ण गंधद्रव्यों से सिद्ध तैल का मालिश करना एवं क्षीरीवृक्ष, (गूलर आदि दूधवाले वृक्ष) व मधुर औषधियों से साधित घृत को दूध मिला कर पिलाना भी हितकारी है।

किंपुरुषग्रहघ्न धूप.

गोवृषस्य मनुजस्य लोमकेशैर्नखैः करिपतेर्धृतप्लुतैः ।
गृध्रकौशिकपुरीषमिश्रितैर्धूपयेदपि शिशुं ग्रहार्दितम् ॥ ८० ॥

भावार्थः—किंपुरुष ग्रह से पीडित बालक को, गाय, बैल मनुष्य इन के रोम, केश व नख, हाथी के दांत, गृध्रपक्षी व उल्लू के मल, इन सब को एकत्र मिलाकर और घी में भिगोकर धूप देना चाहिये ॥ ८० ॥

स्नान, बलि, धारण.

स्नापयेदथ चतुष्पथे शिशुं दापयेदिह वटांघ्रिपे बलिं ।
मर्कटीमपि सकुक्कुटीमनं तां च बिवलतया स धारयेत् ॥ ८१ ॥

भावार्थः—उपरोक्त ग्रह से पीडित बालक को चौराहेपर स्नान कराना चाहिये। एवं वटवृक्ष के समीप बलि चढाना चाहिये। कौंच कुक्कुटी (सेमल) अनंत [उत्पल सारिवा] कंदूरी [इन के जड] को हाथ वा गले में पहनावें ॥ ८१ ॥

१ सन्ये तु कुक्कुटीशरीरवत् कुसुम विशाखहीस्फारिकरवितकुक्कुटाण्डतुल्य कंदेति वदंति ।

गरुडग्रहगृहीत लक्षण.

पक्षिगंधसहितो बहुव्रणः स्फोटनिष्ठुरविपाकदाहवान् ।
स्रस्तगात्रशिशुरेष सर्वतः संबिभेति गरुडग्रहार्दितः ॥ ८२

भावार्थः—गरुडग्रहसे पीडित बालक के शरीर में बहुत से व्रण होते हैं और भयंकर पाक व दाह सहित फफोले होते हैं। वह पक्षिकी बास से संयुक्त होता है। और सर्व प्रकार से भयभीत रहता है ॥ ८२ ॥

गरुडग्रहघ्न, स्नान, तैल, लेप.

आम्रनिंबकदलीकपित्थजंबूद्रुमक्वथितशीतवारिभिः ।
स्नापयेदथ च तद्विपक्वतैलप्रलेपनमपि प्रशस्यते ॥ ८३ ॥

भावार्थः—अनेक औषधियों से सिद्ध तेल को लेपन कराकर आम, नीम, केला, कैथ, जंबू इन वृक्षों के द्वारा पकाये हुए पानीको ठण्डा करके उस गरुडग्रहसे पीड़ित बच्चे को स्नान कराना चाहिये, एवं उपरोक्त आम्रादिकों से साधित तैल का मालिश व उन्हीं का लेप करना भी हितकर है ॥ ८३ ॥

गरुडग्रहघ्न घृतधूपनादि.

यद्व्रणेषु कथितं चिकित्सितं यद्घृतं पुरुषनामकग्रहे ।
यच्च रक्षणसुधूपनादिकं तद्धितं शकुनिपीडिते शिशौ ॥ ८४ ॥

भावार्थः—इस गरुडग्रहके उपसर्ग से होनेवाले व्रणो में भी, पूर्व कथित व्रण चिकित्साका प्रयोग करना चाहिये। एवं किंपुरुष ग्रहपीडाके विकार में कहा हुआ घृत, मंत्र, रक्षण, धूपन आदि भी इसमें हित है ॥ ८४ ॥

गंधर्व (रेवती) ग्रहगृहीत लक्षण ।

पाण्डुरोगमथिलोहितानन पीतमूत्रमलमुत्कटज्वरम् ।
श्यामदेहमथवान्यरोगिणं घ्राणकर्णमसकृत्प्रमाथिनम् ॥ ८५ ॥

भावार्थः—गंधर्व जाति के भृकुटि, रेवती नामक ग्रहसे पीडित बालक का शरीर पाण्डुर (सेफेदी लिये पीला) अथवा श्याम वर्णयुक्त होता है । उसकी आंखें

१ तद्विपक्वच इति पाठांतरं।

२ खस, मुलैठी, नेत्रवाला, सारिवा, कमल, लोध, प्रियंगु, मंजीठ, गेरु इनका लेप करना भी हितकर है।

अत्यंत लाल होती हैं। मूत्र व मल एकदम पीला हो जाता है, तीव्र ज्वर आता है, अथवा कोई अन्य रोग होता है। वह बालक नाक व कान को बार २ विशेषतया रगडता है॥ ८५ ॥

रेवतीग्रहघ्न स्नान, अभ्यंग, घृत.

तं शिशुं भ्रुकुटिरेवतीसुगंधर्ववंशविषमग्रहार्दितं ।
सारिवाख्यसहिताश्वगंधशृंगीपुनर्नवसमूलसाधितैः ॥ ८६ ॥
मंत्रपूतसलिलैर्निषेचयेत्कुष्ठसर्जरससिद्धतैलम- ।
भ्यंजयेदखिलसारसद्रुमैः पक्कसर्पिरिति पाययेच्छिशुम् ॥ ८७ ॥

भावार्थः—ऐसे विषम ग्रह से पीडित बालक को सारिवा [अनंतमूल] अश्वगंध मेढासिंगी, पुनर्नवा इन के जड से सिद्ध व मंत्र से मंत्रित जल से स्नान कराना चाहिये। एवं कूठ व राल से सिद्ध तेल को लगाना चाहिये। सर्व प्रकार के सारस वृक्षों के साथ पकाये हुए घृतको उस बालक को पिलाना चाहिये ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

रेवतीग्रहघ्नधूप.

धूपयेदपि च संध्ययोस्सदा गृध्रकौशिकपुरीष सद्घृतैः ।
धारयेद्वरणनिंबजां त्वचां रेवतीग्रहनिवारणीं शिशुम् ॥ ८८ ॥

भावार्थः—रेवती ग्रहसे दूषित बालकको दोनों संध्या समय में गृध्र (गीध) व उलूक (उल्लू) के मल को घृत के साथ मिलाकर धूनी देना चाहिये। एवं उस बालक को वरना वृक्ष व नीमकी छाल को पहनाना चाहिये ॥ ८८ ॥

पूतना [भूत] ग्रहगृहीत लक्षण.

विड्विभिन्नमसकृद्विसर्जयन् छर्दयन् हृषितलोमकस्तृषा- ।
लुर्भवत्यधिककाकगंधवान् पूतनाग्रहगृहीतपुत्रकः ॥ ८९ ॥

भावार्थः—जो बालक वार २ फटे मल विसर्जन कर रहा है, वमन कर रहा है, जिसे रोमांच हो रहा है, तृषा लग रही है एवं जिसका शरीर कौवे के समान बासवाला हो जाता है उसे पूतना [भूतजाति के] ग्रहसे पीडित समझना चाहिये ॥८९॥

पूतनाग्रहघ्न स्नान.

स्नस्थ एव दिवसे स्नापयेत्यसौ नैव रात्रिषु तमिद्धभूतजित्-
पारिभद्रवरणार्कनीलिकास्फोतपक्वसलिलैर्निषेचयेत् ॥ ९० ॥

भावार्थः—पूतनागृहीत बालक का शरीर स्वस्थ होते हुए भी, दिन और रात में वह सुखपूर्वक नहीं सोता है (उसे नींद नहीं आती है) उसे भूत को जीतने वाले नीम, वरना, अकौवा, नील आस्फोता, [सारिवा] इन औषधियोंसे पकाये हुए पानीसे सेचन करना चाहिये ॥ ९० ॥

पूतनाग्रहघ्न तैल व धूप.

कुष्ठसर्ज्जरसतालकोग्रगंधादिपक्वतिलजं विलेपयेत् ।
अष्टमृष्टगणयष्टिकातुगासिद्धसर्पिरपि पाययेच्छिशुम् ॥ ९१ ॥

भावार्थः—कूठ, राल, हरताल, वचा [दूव गिलोय] आदि औषधियोंसे पक्व तिलके तेलको इसमें लेपन करना चाहिये। एवं च अष्टमधुरौषध [काकोल्यादि] मुलहटी व वंशलोचन से सिद्ध घृतको उस बालक को पिलावें ॥ ९१ ॥

पूतनाग्रहघ्न बलि स्नान.

स्नापयेदपि शिशुं सदैव सोच्छिष्टभोजनजलैर्विधानवित् ।
शून्यवेश्मनि रहस्यनावृते नित्कुरूटनिकटे (?) भिषग्वरः ॥ ९२ ॥

भावार्थः—बालग्रह के उपचार को जानने वाला वैद्यवर पूतनाविष्ट बालक को शून्य मकान अथवा किसी एकांत स्थान व खुले शून्य बगीचे के समीप में जूठे भोजन के जल से सदैव स्नान कराना चाहिये ॥ ९२ ॥

पूतनाग्रहघ्न धूप.

चंदनागुरुतमालपत्रतालीसकुष्ठखदिरैर्घृतान्वितैः ।
केशरोमनखमानुषास्थिभिः धूपयेदपि शिशुं द्विसंध्ययोः ॥ ९३ ॥

भावार्थः—चंदन, अगुरु, तम्बाखू, तालीसपत्र, कूठ, खदिर प्राणियों के केश, रोम, नख व मनुष्योंकी हड्डी इन को चूर्ण कर फिर इस में घी मिलाकर दोनों संध्याकालों में धूनी देना चाहिये ॥ ९३ ॥

पूतनाघ्न धारण व बलि.

चित्रबीजसितसर्षपंङ्गुर्दीं धारयेदपि च काकवल्लिकां ।
स्थापयेद्बलिमिहोत्कुरूटमध्ये सदा कृशरमर्चितं शिशोः ॥ ९४ ॥

१ अपरे गिरिकर्णीमाहुः

भावार्थः—पूतना पीडित बालक को लाल एरण्ड, सफेद सरसों, हिंगोट स्वर्णवल्ली इन को धारण कराना चाहिये। एवं शून्यग्रह के वीच में सदैव खिचडी से बलि प्रदान करना चाहिये ॥ ९४ ॥

अनुपूतना [यक्ष] ग्रहगृहीत लक्षण.

द्वेष्टि यस्तनमतिज्वरातिसारातिकासवमनप्रतीतहि-
क्काभिरर्दितशिशुर्वसाम्लगंधोत्कटो विगतवर्ण च स्वरः ॥ ९५ ॥

अनुपूतनाघ्न स्नान.

तं विचार्य कथितानुपूतनानामयक्षविषमग्रहार्दितम् ।
तिक्तवृक्षदलपक्ववारिभिः स्नापयेदधिकमंत्रमंत्रितैः ॥ ९६ ॥

भावार्थः—जो बालक माता के स्तनके दूध को पीता नहीं, अत्यंत ज्वर, अतिसार, खांसी, वमन और हिक्का से पीडित हो जिस का शरीर वसा या खट्टे गंध से युक्त हो और शरीरका वर्ण बदल गया हो एवं स्वर भी बैठ गया हो तो उसे यक्ष जाति के पूतना ग्रहसे पीडित समझना चाहिये। उसे कडुए वृक्षों के पत्तों से पकाये हुए पानी को मंत्रसे मंत्रित कर उससे स्नान कराना चाहिये ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

अनुपूतनाघ्न तैल व घृत.

कुष्ठसर्जरसतालकाश्मरसौवीरसिद्धतिलजं प्रलेपयेत् ।
पिप्पलीद्विकविशिष्टमृष्टवर्गैर्विपक्वघृतमेव पाययेत् ॥ ९७ ॥

भावार्थः—कूठ, राल, हरताल, मैनसिल, कांजी इन से सिद्ध तिलके तेलका उस बालक के शरीर में मालिश करना चाहिये। एवं पीपल, पीपलामूल और मधुरवर्ग [काकोल्यादिगण] के औषधियों से पकाये हुए घृत को पिलाना चाहिये ॥ ९७ ॥

अनुपूतनाघ्न धूप व धारण.

केशकुक्कुटपुरीषचर्मसर्पत्वचो घृतयुताः सुधूपयेत् ।
धारयेदपि सकुक्कुटीमनंतां च बिंबलतया शिशुं सदा ॥ ९८ ॥

भावार्थः—मुर्गे का रोम, मल व चर्म एवं सर्पका चर्म [कांचली] के साथ घी मिलाकर धूपन प्रयोग करना चाहिये। एवं कुक्कुटी सारिव कन्दूरी इन को धारण कराना चाहिये ॥ ९८ ॥

बलिदान.

पूर्तभक्ष्यबहुभोजनादिकान् सन्निवेश्य सततं सुपूजयेत् ।
स्नापयेदपि शिशुं गृहांतरे वर्णकैर्विरचितोज्वले पुरे ॥ ९९ ॥

भावार्थः—अनेक प्रकार के भक्ष्य भोजन आदि बनाकर, उन से ग्रहकी पूजा करनी चाहिजे । तथा सामने अनेक प्रकार के चित्र विचित्रित कर उस बालक को मकान के बीच में स्नान कराना चाहिये ॥ ९९ ॥

शीतपूतनाग्रहगृहीत लक्षण.

शीतवेपिततनुर्दिवानिशं रोदिति स्वपिति चातिकुंचितः ।
सांत्रकूजमतिसार्य विस्रगन्धिः शिशुर्भवतिशीतकार्दितः ॥ १०० ॥

भावार्थः—ठण्ड के द्वारा जिस बालक का शरीर कंपाय मान होता है, रात-दिन रोता रहता है एवं अत्यंत संकुचित होकर सोता है, आंतडी में गुडगुडाहट शद्ब होता है, दस्त लगता है, शरीर कचे किसी दुर्गंध से युक्त होता है तो समझना चाहिये कि वह शीतपूतना ग्रहसे पीडित है ॥ १०० ॥

शीतपूतनाघ्न स्नान व तैल.

तं कपित्थसुरसाम्रबिल्वभल्लातकैः क्वथितवारिभिस्सदा ।
मूत्रवर्गसुरदारुसर्वगंधैर्विपक्वतिलजं प्रलेपयेत् ॥ १०१ ॥

भावार्थः—उस बालक को कैथ, तुलसी, आम, बेल, भिलावा इन से पकाये हुए पानी से स्नान कराना चाहिये । मूत्रवर्ग [गाय आदि के आठ प्रकार के मूत्र] देवदारु, व सर्व सुगंधित औषधियोंसे सिद्ध तिल के तेल से लेपन करना चाहिये ॥ १०१ ॥

शीतपूतनाघ्न घृत.

रोहिणीखदिरसर्जनिंबभूर्जार्जुनांघ्रिपविपक्ववारिभिः ।
माहिषेण पयसा विपक्वसर्पिः शिशुं प्रतिदिनं प्रपाययेत् ॥ १०२ ॥

भावार्थः—कायफल, खेर का वृक्ष, रालवृक्ष, नीम, भोजपत्र, अर्जुन [कुहा] वृक्ष इन के छाल का कषाय, भैंस का दूध, इन से सिद्ध घृत को शीत पूतना से पीडित बालक को प्रतिदिन पिलाना चाहिये ॥ १०२ ॥

शीतपूतनाघ्न धूप व धारण.

निंबपत्रफणिचर्मसर्जनिर्यासभल्लुशशविट्सवाजिगं— ।
धैस्सुधूप्य शिशुमत्र बिंबगुंजासकाकलतया स धारयेत् ॥ १०३ ॥

भावार्थः—नीम का पत्ता, सांप की कांचली, राल, उल्लू व खरगोश के वीट अजगंधा, [अजवायन] इन औषधियों से धूप देना चाहिये। बिंबलता, घुंघची, काकादनी [काकतिंदुकी] इनको धारण कराना चाहिये ॥ १०३ ॥

शीतपूतनाघ्न बलि स्नानका स्थान.

मुद्गयूषयुतभोजनादिकैः अर्चयेदपि शिशुं जलाश्रये।
स्नापयेदधिकमंत्रमंत्रितैः मंत्रविद्विधिविपक्ववारिभिः ॥ १०४ ॥

भावार्थः—मुद्गयूष (मूंग की दाल) से युक्त भोजन भक्ष्य आदि से जलाशय के [तालाव नदी आदि] समीप, शीतपूतना का अर्चन करना चाहिये। एवं जलाशय के समीप ही उस बालक को मंत्रों से मंत्रित, विधि प्रकार [पूर्वोक्त औषधियों से] पकाये गये जल से मंत्रज्ञ वैद्य स्नान करावें ॥ १०४ ॥

पिशाचग्रहगृहीत लक्षण.

शोषवत्सुरुचिराननः शिशुः क्षीयतेऽतिबहुभुक्सिराततः।
कोमलांघ्रितलपाणिपल्लवो मूत्रगंध्यपि पिशाचपीडितः ॥ १०५ ॥

भावार्थः—जो बालक सूखता हो, जिसका मुख सुंदर दिखता हो, रोज क्षीण होता जाता हो, अधिक भोजन [या स्तन पान] करता हो, पेट नसों से व्याप्त हो [नसें पेट पर अच्छीतरह से चमकते हो] पादतल व हाथ कोमल हो, शरीर में गोमूत्र का गंध आता हो तो समझना चाहिये वह पिशाच ग्रह से पीडित है ॥ १०५॥

पिशाचग्रहघ्न स्नानौषधि व तैल.

तं कुबेरनयनार्कवंशगंधर्वहस्तनृपबिल्ववारिभिः।
सन्निषिच्य पवनघ्नभेषजैः पक्वतैलमनुलेपयेच्छिशुम् ॥ १०६ ॥

भावार्थः—उसे कुबेराक्षि [पाटल] अकौवा, वंशलोचन, अमलतास, बेल, इनके द्वारा पकाये हुए पानी से अच्छीतरह स्नान कराकर वातहर औषधियों के द्वारा पकाये हुए तेलको उस पिशाच पीडित बालक के शरीर पर लगाना चाहिये ॥ १०६ ॥

पिशाच ग्रहघ्न धूप व घृत.

अष्टमृष्टगणयष्टिकातुगाक्षीरदुग्धपरिपक्वसद्घृतम्।
पाययेदपि वचस्सकुष्ठसर्जैः शिशुं सततमेव धूपयेत् ॥ १०७ ॥

भावार्थः—अष्ट मधुरौषधि वर्ग [काकोल्यादि] मुलैठी वंशलोचन व दूधसे पकाये हुए अच्छे घृत को उस बालक को पिलावें। एवं वच, कूठ, राल, इन से उस बालक को सतत धूपन प्रयोग करना चाहिये ॥ १०७ ॥

पिशाचग्रहघ्न धारण बलि व स्नानस्थान.

चाषगृध्रसमयूरपक्षसर्पत्वचाविरचिताश्च धारयेत्।
वर्णपूरकबलं च गोष्ठमध्ये शिशो स्नपनमत्र दापयेत् ॥ १०८ ॥

भावार्थः-नीलकंठ (पक्षिविशेष) गृध्र, मयूर इन का पंखा, सांपकी कांचली, इन से बनी हुई माला व पोटली को पहनावें। वर्णपूर युक्त अन्न को अर्पण [बली] करें एवं उस बालक को गोठे में स्नान करावें ॥ १०८ ॥

राक्षसगृहीत लक्षण.

फेनमुद्वमति जृंभते च सोद्वेगमूर्ध्वमवलोकते रुदन्।
मांसगंध्यपि महाज्वरोऽतिरुद्राक्षसग्रहगृहीत पुत्रकः ॥ १०९ ॥

भावार्थः-राक्षस ग्रह से पीडित बालक फेन का वमन करता है, उसे जंभाई आती है, उद्वेग के साथ रोते हुए ऊपर देखता है। एवं उस के शरीर से मांसका गंध आता है। महाज्वर से वह पीडित रहता है एवं अति पीडा से युक्त होता है ॥ १०९ ॥

राक्षस ग्रहघ्नस्नान, तैल, घृत.

नक्तमालबृहतीद्वयाग्निमन्थास्युरेव परिषेचनाय धा- ।
न्याम्लमप्यहिममंबुदोग्रगंधाप्रियंगुसरलैः शताह्वकैः ॥ ११० ॥
कांजिकाम्लदधितक्रमिश्रितैः पक्वतैलमनुलेपनं शिशोः।
वातरोगहरभेषजैस्सुमृष्टैश्च दुग्धसहितैः घृतं पचेत् ॥ १११ ॥

भावार्थः—करंज, दोनों कटेहरी, अगेथु, इन से पकाये हुए जल से उस राक्षस ग्रह पीडित बालक को स्नान कराना चाहिये। एवं गरमकांजी को भी स्नान कार्य के उपयोग में ला सकते हैं। नागरमोथा, वच, प्रियंगु, सरलकाष्ट, शतावरी इनके क्वाथ व कल्क, कांजी, दही व छाछ इन से साधित तैल को मालिश करना चाहिये। एवं वातरोग नाशक औषधि व मधुरौषधि के क्वाथ कल्क व दूध से साधित घृत उसे पिलाना चाहिये ॥ ११० ॥ १११ ॥

राक्षसग्रहघ्न धारण व बलिदान.

धारयेदपि शिशुं हरीतकीगौरसर्षपवचा जटान्विता।
माल्यभक्ष्यतिलतण्डुलैश्शुभैरर्चयेदिह ।शिशुं वनस्पतौ ॥ ११२ ॥

भावार्थः—राक्षसग्रहपीडित बालक को हरड, सफेद सरसों, वच, जटामांसी इनकी पोटली आदि बनाकर पहनाना चाहिये। एवं पुष्पमाला, नाना प्रकार के भक्ष्य, तिल व चावल से ग्रहाविष्ट शिशु का पूजन वृक्ष के नीचे करना चाहिये ॥ ११२ ॥

राक्षसग्रहगृहीत का स्नानस्थान व मंत्र आदि.

स्नापयेदसुरपीडितं शिशुं क्षीरवृक्षनिकटे विचक्षणः ।
जैनशासनविशेषदेवतारक्षणैरपि च रक्षयेत्सदा ॥ ११३ ॥

भावार्थः—उस राक्षसग्रहपीडित बालक को बुद्धिमान् वैद्य दूधिया (वड पीपल आदि) वृक्ष के पास में ले जा कर स्नान करावें। एवं जैनशासन देवता सम्बन्धी मंत्र व यंत्र के द्वारा भी उस बालक की रक्षा करनी चाहिये ॥ ११३ ॥

देवताओं द्वारा बालकों की रक्षा.

व्यंतराश्च भवनाधिवासिनोऽष्टप्रकारविभवोपलक्षिताः ।
पांति बालमशुभग्रहार्दितं स्पष्टमृष्टबलितुष्टचेतसः ॥ ११४ ॥

भावार्थः—अष्ट प्रकार के विभवोंसे युक्त भवनवासी व्यंतरादिक सम्यग्दृष्टि देव यदि उन को अनेक प्रकार से मनोहर गंध पुष्प नैवेद्य आदि से आदर करें तो उस से प्रसन्न होकर अशुभग्रह से पीडित बालक की रक्षा करते हैं ॥ ११४ ॥

इति बालग्रहनिदान चिकित्सा.

अथ ग्रहरोगाधिकारः ।

ग्रहोपसर्गादि नाशक अमोघ उपाय.

यत्र पंचपरमेष्ठिमंत्रसन्मंत्रितात्मकवचान्नरोत्तमान् ।
पीडयंति न च तान् ग्रहोपसर्गामयाग्निविषशस्त्रसंभ्रमाः ॥ ११५ ॥

भावार्थः—जिन्होने सदा पंचपरमेष्ठियों का नामस्मरण से अपनी आत्मा को पवित्र बनालिया हैं, उनको ग्रहपीडा सम्बन्धी रोग, अग्नि विष, शस्त्र आदि से उत्पन्न दुःख नहीं होते हैं ॥ ११५ ॥

मनुष्योंके साथ देवताओं के निवास.

मानुषैस्सह वसंति संततं व्यंतरोरगगणा विकुर्वणैः ।
ते भवंति निजलक्षणेक्षिता अष्टभेददशभेदभेदिताः ॥ ११६ ॥

भावार्थः—आठ प्रकार के व्यंतर, दस प्रकार के भवनवासी देव, अपने वैक्रियक शक्तिसे मनुष्यों के साथ हमेशा निवास करते हैं जो अपने २ खास लक्षणों से देखे जाते हैं ॥ ११६ ॥

ग्रहपीडाके योग्य मनुष्य.

तत्प्रयुक्तपरिवारकिंनरा मानुषानभिविशंति मायया ।
भिन्नशून्यगृहवासिनोऽशुचीनक्षतान् क्षययुतानधर्मिणः ॥११७॥

भावार्थः—उन देवताओं परिवार रूपमें रहनेवाले किन्नर अपने स्वामी से प्रेरित होकर एकांत में, सूने घरमें रहनेवाले, अपवित्र, धर्मद्रोही, व धर्माचरण रहित मनुष्योंको मायाचारसे पीडा देते हैं ॥ ११७ ॥

देवताविष्टमनुष्य की चेष्टा.

स्वामिशीलचरितानुकारिणः किन्नराश्च बहवस्स्वचेष्टितैः ।
राश्रयंति मनुजानतो नरास्तत्स्वरूपकृतवेषभूषणाः ॥ ११८ ॥

भावार्थः—अपने स्वामी के स्वभाव व आचरण को अनुसरण करने वाले [स्वामी की आज्ञा पालन के लिये] बहुत से किन्नर अपनी २ चेष्टाओं के साथ मनुष्यों के पीछे लग जाते हैं जिससे मनुष्य भी उन्हीं के समान वेष व भूषा से युक्त होतें हैं ॥ ११८ ॥

देवपीडित का लक्षण.

पण्डितोऽति गुरुदेवभक्तिमान् गंधपुष्पनिरतस्सुपुष्टिमान् ।
भास्वरानिमिषलोचनो नरो न स्वपित्यपि च देवपीडितः ॥ ११९ ॥

भावार्थः—देवद्वारा पीडित मनुष्य का आचरण बुद्धिमानों के समान मालुम होता है। और वह देव गुरुओमें विशेष भक्तिको प्रकट करता है। सदा गंधपुष्पको धारण किया हुआ रहता है। उसका शरीर पुष्ट रहता है, उसकी आंखें तेज व खुली हुई रहती हैं। और वह सोता भी नहीं है ॥ ११९ ॥

असुरपीडित का लक्षण.

निंदतीह गुरुदेवताःस्वयं वक्रदृष्टिरभयोऽभिमानवान् ।
स्वेदनातिपरुषो न तृप्तिमानीदृगेष पुरुषोऽसुरार्दितः ॥ १२० ॥

भावार्थः—असुर के द्वारा पीडित मनुष्य देव गुरुवोंकी निंदा करता है, उसकी दृष्टि वक्र रहती है, वह किसी से भय नहीं खाता और अभिमानी होता है। उस के शरीर से पसीना बहता रहता है एवं कठोर रहता है, उसे कितना भी खावे तो तृप्ति नहीं होती ॥१२०॥

गंधर्वपीडित का लक्षण.

क्रीडतीह वनराजिरम्यहर्म्योच्चशैलपुलिनेषु हृष्टवान्।
गंधपुष्पपरिमालिकाश्च गंधर्वजुष्टपुरुषोभिऽवांछति ॥ १२१ ॥

भावार्थः—गंधर्व से पीडित मनुष्य जंगल, सुंदर महल, ऊंचे पहाड व नदीके किनारे आदि प्रदेश में बहुत हर्ष के साथ खेलता रहता है। एवं सदा गंध, पुष्पमाला आदिको चाहता रहता है ॥ १२१ ॥

यक्षपीडित का लक्षण.

ताम्रवक्त्रतनुपादलोचनो याति शीघ्रमतिधीरसत्ववान्।
प्रार्थितः स वरदो महाद्युतिर्यक्षपीडितनरस्सदा भवेत् ॥ १२२ ॥

भावार्थः—यक्ष से पीडित मनुष्य का मुख, शरीर, पाद, आखें लाल रहती हैं, वह शीघ्रगामी व अत्यंत धीर व शक्तिशाली (अथवा बुद्धिमान्) रहता है। प्रार्थना करनेपर वह वर देता है। और उस का शरीर महाकांतियुक्त रहता है ॥ १२२ ॥

भूतपितृपीडितका लक्षण.

तर्पयत्यपि पितॄन्निवापदानादिभिर्जलमपि प्रदास्यति।
पायसेक्षुगुडमांसलोलुपो दुष्टभूतपितृपीडितो नरः ॥ १२३ ॥

भावार्थः—दुष्ट भूतपितृ से पीडितमनुष्य पितरों के उद्देश्य से निवाप [तर्पण] दान आदि से उन का तर्पण करता है और जलका तर्पण भी देता है। एवं वह खीर ईख, गुड व मांस को खाने में लोलुपी रहता है ॥ १२३ ॥

राक्षस पीडित का लक्षण.

मांसमद्यरुधिरप्रियोऽतिशूरोऽतिनिष्ठुरतरः स्वलज्जया।
वर्जितोऽतिबलवान्निशाचरः शोफरूग्भवति राक्षसो नरः ॥१२४॥

भावार्थः—राक्षस से पीडित मनुष्य को मांस, मद्य व रक्त अत्यंतप्रिय होते हैं। वह अत्यंत शूर, क्रूर, लज्जारहित, बलशाली एवं रात्रि में गमन करने वाला होता है। उस के शरीर में सूजन व पीडा रहती है ॥ १२४ ॥

पिशाचपीडित का लक्षण.

धूसरोऽतिपरुषः खरस्वरः शौचहीनचरितः प्रलापवान् ॥
भिन्नशून्यगृहवासलोलुपः स्यात्पिशाचपरिवारितो नरः ॥ १२५ ॥

भावार्थः—पिशाच ग्रह से पीडित मनुष्य का शरीर धूसर (धुंदला) व अति कठिन होता है, स्वर गर्दभसदृश कर्कश होता है। एवं च उसका आचरण मलिन रहता है। सदा बडबड करता रहता है। एकांत व सूने घर में रहनेकी अधिक इच्छा करता है ॥ १२५ ॥

नागग्रहपीडित का लक्षण.

सर्पवत्सरति यो महीतले सृक्कणोष्ठमपि लेढि जिह्वया।
कुप्यतीह परिपीडितः पयःपायसेप्सुरुरगग्रहाकुलः ॥ १२६ ॥

भावार्थः—जो उरग ग्रहसे पीडित है वह सर्प के समान भूतलमें सरकता है। और मुख के दोनों ओरके कोनों को एवं ओष्ठ को जीभसे चाटता है। कोई उसे कुछ कष्ट देवें तो उनपर खूब क्रोधित होता है। दूध व खीर को खानेकी उसे बडी इच्छा रहती है ॥ १२६ ॥

ग्रहों के संचार व उपद्रव देने का काल.

देवास्ते पौर्णमास्यामसुरपरिचरास्संध्ययोस्संचरंति।
प्रायोऽष्टम्यां विशेषादभिहितगुणगंधर्वभृत्यानुभृत्याः ॥
यक्षा मंक्षु क्षिपंति प्रतिपाद पितृभूतानि कृष्णाख्यपक्षे।
रात्रौ रक्षांसि साक्षाद्व्ययकृतिदिनभूस्ते पिशाचा विशंति ॥१२७॥

पंचम्यामुरगाश्चरंति नितरां तानुक्तसल्लक्षणै-।
र्ज्ञात्वा सत्यदयादमादिकगुणः सर्वज्ञभक्तस्स्वयम् ॥
साध्यान्साधयतु स्वमंत्रबलवद्भैषजययोगैर्भिषक्।
क्रूराः कष्टतरा ग्रहा निगदिताः कृच्छ्रास्तु बालग्रहाः ॥ १२८ ॥

भावार्थः—देवगण प्रायः पौर्णमासी के रोज, असुर व उन के परिवार दोनों संध्या के समय में, गंधर्व व उन के परिवार अष्टमी के दिन, यक्षगण प्रतिपदा के रोज पितृभूत कृष्णपक्ष में, राक्षस रात्री में पिशाच भी रात्रि में एवं नागग्रह पंचमी के रोज भ्रमण करते हैं एवं मनुष्योंको कष्ट देते हैं। इन ग्रहों को पूर्वोक्त प्रकार के सर्व लक्षणों से अच्छीतरह जान कर सत्य, दया, दमादिगुणोंसे युक्त, सर्वज्ञ व उनके द्वारा प्रतिपादित धर्ममें अत्यधिक श्रद्धालु वैद्य, उनमें से साध्य ग्रहोंको उनके योग्य मंत्र या प्रभावशाली औषध आदिसे दूर करें, ये ग्रह अत्यंत क्रूर एवं कष्ट से जीते जाते हैं इसी प्रकार बालग्रह भी कष्ट साध्य कहा गया है ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

शरीर में ग्रहोंके प्रभुत्व.

ग्रहामयात्यद्भुतदिव्यरूपा नानाविशेषाकृतिवेषभूताः ।
मनुष्यदेहानिविशंत्यचिंत्याः कोपात्स्वशक्त्याप्यधिकुर्वते ते ॥ १२९ ॥

भावार्थः—ग्रहामय को उत्पन्न करने वाले ग्रह, आश्चर्यकारक दिव्यरूप को धारण करनेवाले अनेक प्रकार की विशिष्ट आकृति व वेप से संयुक्त एवं अचिंत्य होते हैं । अत एव ग्रहोत्पन्न रोग भी इसी प्रकार के होते हैं । ये क्रोध से मानव शरीर में प्रविष्ट होते हैं और आत्मशक्तिके बल से शरीर में अपना अधिकार जमा लेते है ॥ १२९ ॥

ग्रहामय चिकित्सा.

तान्साधयेदुग्रतपोविशेषैर्ध्यानैस्समंत्रौषधसिद्धयोगैः ।
तेषामसंख्यातमहाग्रहाणां शांत्यर्थमित्थं कथयंति संतः ॥ १३० ॥

भावार्थः—उन महाग्रहोंकी पीडा को उग्रतप, ध्यान, मंत्र, औषध या सिद्ध योग के द्वारा जीतनी चाहिये । असंख्यात प्रकार के महाग्रहों के उपद्रवों की शांति के लिये इसी प्रकारके उपायों को काम में लेना चाहिये ऐसा सज्जन पुरुष कहते हैं ॥ १३० ॥

ग्रहामय में मंत्रबलिदानादि.

यमनियमदमोद्यत्सत्यशौचाधिवासो ।
भिषगधिकसुमंत्रैर्मंत्रितात्मा स्वमंत्रैः ॥
अपि बहुविधभूषाशेषरत्नानुलेप- ।
सुगमलबलिधूपैः साधयेत्तान् ग्रहाख्यान् ॥ १३१ ॥

भावार्थः—अनेक प्रकार के यमव्रत, नियमव्रत, सत्य, शौच आदि गुणोंसे युक्त वैद्य स्वयं अनेक मंत्रोंसे मंत्रित होकर, उन ग्रहोंके योग्य मंत्रोंसे एवं अनेक प्रकार के आभूषण, रत्न, अनुलेपन, पुष्पमाला, पवित्र नैवेध धूप आदिसे उन ग्रहोंको जीतें ॥१२१॥

ग्रहामयघ्न घृततैल.

लशुनतगरहिंगुग्राजलोर्मीसगोलो-
ऽयमृतकटुकतुंबीविंबानिंबेंद्रपुष्पी ॥
त्रिकटुकपटुयुक्ताशेषगंधैलकाक्षी [?] ।
सितगिरिवरकर्णीभूतकेश्यर्कमूलैः ॥ १३२ ॥
तालीतमालदलसालपलाशपारी ।
भद्रेङ्गुदीमधुकसारकरंजयुग्मैः ॥
गंधाश्मतालकशिलासितसर्षपाद्यैः ।
र्व्याध्यर्कसिंहवृकशल्यविडालविड्भिः ॥ १३३ ॥
पश्वश्वसोष्ट्रखरकुक्कुररोमचर्म- ।
दंष्ट्राविषाणशकृतां समभागयुक्तैः ॥
अष्टप्रकारवरमूत्रसुपिष्टकल्कैः
क्वाथैर्विपक्वघृततैलमिह प्रयोज्यम् ॥ १३४ ॥

भावार्थः—लहसन, तगर, हींग, वच, समुद्रफेन, सफेद दूब [श्वेतदूर्वा] गिलोय कडवी तुंबी (कडवी लौकी) बिंबफल, नीम, कलिहारी, सोंठ, मिरच, पीपल, सेंधानमक, समस्त गंधद्रव्य, इलायची, श्वेतकिणिही वृक्ष, भूत केशतृण, अकौवा के जड, तालीस पत्र तमालपत्र, साल, पलाश, धूपसरल, इंगुली, मुलैठी, छोटी करंज, बडी करंज, गंधक, हरताल, मैनशिल, सफेद सरसों, कटेली, अकौवा, लाल सैंजन [रक्तशीग्रु] राल, मैनफल वृक्ष, बिल्ली का मल, गाय, घोडा, ऊंट, गधा, कुत्ता इनके रोम, चर्म, दांत, सींग व मल इन सब को समभाग लेकर आठ प्रकार के (गाय बकरा भेड भैंस घोडा गधा ऊंट हाथी इनके) मूत्र में अच्छी तरह पीसकर कल्क तैयार करे और उपरोक्त औषधियों के क्वाथ भी बनालेवें। इन कल्कक्वाथ से सिद्ध घृत तैल को इस गृहामय में पान अभ्यंजन नस्यादि कार्यों में उपयोग करना चाहिये ॥ १३२ ॥ १३३ ॥ १३४ ॥

---

१ व्रूप इति पाठांतर.
२ गोऽजाविमहिषाश्वानां खरोष्ट्रकरिणां तथा ।
मूत्राष्टकमिति ख्यातं सर्वशास्त्रेषु संमतम् ॥

ग्रहामयघ्न घृत, स्नान धूप, लेप.

अभ्यंजनस्यनयनांजनपानकेषु ।
सर्पिः पुराणमपि तत्परिपक्वमाहुः ॥
स्नानं च तत्कथितभेषजसिद्धतोयैः ।
धूपं विलेपनमथ कृतचूर्णकल्कैः ॥ १३५ ॥

भावार्थः—इस ग्रहामय में उन्ही औषधियोंसे पक्व पुराने घृत को अभ्यंग (मालिश) नस्य, नेत्रांजन, पानक आदि में उपयोग करना हितकर है। एवं उन ही औषधियोंसे सिद्ध पानीसे रोगीको स्नान करावें। उन्हीं औषधियों के चूर्णसे धूपन प्रयोग करना हितकर है ॥ १३५ ॥

उपसंहार

इति कथितविशेषाशेषसद्भेषजैस्तत् ।
सदृशविरसबीभत्सातिदुर्गंधजातैः ॥
विरचितबहुयोगैः धूपनस्यांजनाद्यै- ।
भिषगखिलविकारान्मानसानाशु जेयात् ॥१३६॥

भावार्थः—समस्त प्रकार के मानसिक (ग्रहगृहीत) विकारोंको आयुर्वेद शास्त्र में कुशल वैद्य उपर्युक्त प्रकार के विशिष्ट समस्त औषधियों के प्रयोग एवं तत्सदृश गुण रखनेवाले रसरहित, देखनेमें घृणा उत्पन्न करनेवाले, अत्यंत दुर्गंधयुक्त औषधियों से तैयार किये हुए धूप, नस्य व अंजनादि अनेक प्रकार के योगों के प्रयोग से चिकित्सा कर जीतें ॥ १३६ ॥

अंत मंगल.

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ १३७ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथमें जगतका एक मात्र हितसाधक है [इसलिये इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ १३७ ॥

———×———

इत्युग्रादित्याचार्यविरचित कल्याणकारके चिकित्साधिकारे क्षुद्ररोगचिकित्सितं बालग्रहभूततंत्राधिकारेऽ-ष्यष्टादशः परिच्छेदः ।

——0——

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में क्षुद्ररोगाधिकार में बालग्रहभूततंत्रप्रकरण नामक **अठारहवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

———

अथ एकोनविंशः परिच्छेदः

अथ विषरोगाधिकारः ।

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा.

त्रिभुवनसद्गुरुं गुरुगुणोन्नतचारुमुनि- ।
त्रिदशनरोरगार्चितपदांबुरुहं वरदं ॥
शशिधवलं जिनेशमभिवंद्य विषापहरं ।
विषमविषाधिकारविषयैककथा क्रियते ॥ १ ॥

भावार्थः—तीन लोकके हितैषी गुरु, उत्तमोत्तम गुणोंसे युक्त मुनिगण, देव, मनुष्य, धरणेंद्र आदिसे पूजित चरण कमल जिनका, जो भव्योंकी इच्छा को पूर्ति करनेवाले हैं, चंद्रके समान उज्वल हैं, और विषयविषको अपहरण करनेवाले हैं ऐसे श्री जिनेंद्र भगवंत को नमस्कार कर अब भयंकर विषसंबंधी प्रकरण का निरूपण किया जाता है ॥ १ ॥

राजा के रक्षणार्थ वैद्य.

नृपतिरशेषमंत्रविषतंत्रविदं भिषजं ।
कुलजमलोलुपं कुशलमुत्तमधर्मधनं ॥
चतुरुपधा विशुद्धमधिकं धनबंधुयुतं ।
विधिवदमुं विधाय परिरक्षितुमात्मतनुम् ॥ २ ॥

भावार्थः—जो राजा अपनी रक्षा करते हुए सुखसे जीना चाहता है वह अपने पास अपने शरीर के रक्षण करने के लिये समस्त मंत्र व विषतंत्रको जाननेवाले, कुलीन, निर्लोभी, समस्त कार्य में कुशल उत्तम धर्मरूपी धनसे संयुक्त, हरतरहसे उत्तम व्रत नियमादिकसे शुद्ध, अधिक धन व बंधुवोंसे युक्त वैद्य को योग्य रीतिसे रखें ॥ २ ॥

१ राजा के द्वारा पराजित शत्रुगण, अपने क्रूकृत्योंसे राजाद्वारा दंडित व अपमानित मनुष्य किसीपर किसी कारण विशेष से राजा रुष्ट हो जावे वे, अथवा ईर्षाद्वेषादिसे युक्त राजा के कुटुम्बी वर्ग, ऐसे ही अनेक प्रकार के मनुष्य अवसर पाकर राजाको विषप्रयोग से मार डालते हैं। कभी दुष्ट स्त्रियां अपने सौभाग्य की इच्छा से अर्थात् वशीकरण करनेके लिये नानाप्रकार के विषयुक्त दुर्योगों को प्रयुक्त करती हैं। इन विषबाधाओं से बचने के लिये विषतंत्रप्रवीणवैद्य को राजा को अपने पास रखना पडता है।

वैद्यको पास रखनेका फल.

स च कुरुते स्वराज्यमाधिकं सुखभाक्सुचिरं ।
सकलमहामहीवलयशत्रुनृपप्रलयः ॥
स्वपरसमस्तचक्रारिपुचक्रिकया जनितं ।
विविधविषोपसर्गमपहृत्य महात्मतया ॥ ३ ॥

भावार्थः—वह समस्त भूमण्डलके राजावों के लिये प्रलय के रूप में रहनेवाला राजा अपने शत्रुमण्डल के द्वारा प्रयुक्त समस्त विषोपसर्ग को परास्त कर अपने प्रभाव से चिरकाल तक अपने राज्य को सुखमय बना देता है ॥ ३ ॥

राजा के प्रति वैद्यका कर्तव्य.

भिषगपि बुद्धिमान् विशदतद्विषलक्षणवित् ।
सुकृतमहानसादिषु परीक्षितसर्वजनः ।
सततमिहाप्रमादचरितः स्वयमन्यमनो- ॥
वचनकृतेंगितैः समभिवीक्ष्य चरेदचिरात् ॥ ४ ॥

भावार्थः—विषप्रयोक्ता के लक्षण व विषलक्षण को विशद रूपसे जाननेवाले बुद्धिमान वैद्य को भी उचित है कि वह अच्छे दिग्देश आदि में शिल्प शास्त्रानुसार निर्मित, सर्वोपकरण सम्पन्न रसोई घर आदि में रसोईया व अन्य परिचारकजनोंको अच्छीतरह परीक्षा कर के रखें। स्वयं हमेशा प्रमादरहित होकर, विषप्रयोग करने वाले मनुष्य का मन, कार्योंकी चेष्टा व आकृति आदिकों से उस को पहिचानें और प्रयुक्त विष का शीघ्र ही प्रतीकार कर के राजा की रक्षा करें ॥ ४ ॥

विषप्रयोक्ताकी परीक्षा.

हसति स जल्पति क्षितिमिहालिखति प्रचुरं ।
विगतमनाश्छिनत्ति तृणकाष्ठमकारणतः ॥
भयचकितो विलोकयति पृष्ठमिहात्मगतं ।
न लपति चोत्तरं विरसवर्णविहीनमुखम् ॥ ५ ॥

इति विपरीतचेष्टितगणैरपरैश्च भिष- ।
ग्विषदमपोह्य सान्नमखिलं विषजुष्टमपि ॥

जिनमुखनिर्गतागमविचारपराभिहितै- ।
रवितथलक्षणैः समवबुध्य यतेत चिरम् ॥ ६ ॥

भावार्थः—विषप्रयोग करनेवाला मनुष्य हसता है, वडवड करता है, जमीन को व्यर्थ ही खुरचता है, अव्यवस्थितचित्त होकर कारण के विना ही तृण काष्ट आदिको तोडता रहता है । भयभीत होकर अपने पछि देखता है, कोई प्रश्न न करे तो भी उत्तर देता है । उसका मुख विरस व वर्णहीन हो जाता है, इन विपरीत व इसी प्रकार के अन्य विपरीतचेष्टासमूहों से विषप्रयोक्ता को पहिचानना चाहिये (अर्थात् उपरोक्त लक्षण विषप्रयोग करनेवालों में पाये जाते हैं) इसी प्रकार विषयुक्त अन्न (भात) आदि सभी पदार्थों को जिनेंद्र भगवान के मुखसे उत्पन्न हेत्वादि से अङ्कित परमागममें कहे गये अव्यभिचारी लक्षणों से [यह पदार्थ विषयुक्त है ऐसा] जानकर उस के प्रतीकार आदि में परिश्रम पूर्वक कार्य करें ॥ ५ ॥ ६ ॥

प्रतिज्ञा.

उपगतसद्विषेषु कथयामि यथाक्रमतो ।
विविधविशेषभोजनगणेष्वपरेषु भृतं ॥
विषकृतलक्षणानि तदनंतरमौषधम- ।
प्याखिलविषप्रभेदविषवेगविधिं च ततः ॥ ७ ॥

भावार्थः—आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं कि यहां से आगे क्रमशः नाना प्रकार के विशिष्ट भोजनद्रव्य व इतर आसन, वस्त्र पुष्पमाला आदि में विषप्रयोग करने पर उन द्रव्यों में जो विषजन्य लक्षण प्रकट होते हैं उन को, तत्पश्चात् उस के प्रतीकारार्थ औषध, तदनंतर सम्पूर्ण विषोंके भेद, इस के भी बाद विषजन्य वेगों के स्वरूप को प्रतिपादन करेंगे ॥ ७ ॥

विषयुक्तभोजनकी परीक्षा.

बलिकृतभोजनेन सह मक्षिकसंहतिभि- ।
र्मरणमिह प्रयांति बहुवायसपद्धतयः ॥
हुतभुजि तद्भृशं नटनटायति दत्तमरं ॥
शिखिगलनीलवर्णमतिदुस्सहधूमयुतं ॥ ८ ॥

---

१ दांतोन, स्नानजल, उवटन, क्वाथ, छिडकने के वस्तु, चंदन, कस्तूरी आदि लेपन द्रव्य, शय्या, कवच, आभूषण, खडाऊं, आसन, घोडे व हाथी के पीठ, नस्य, धूंवा (सिगरेट आदि) व अंजन द्रव्य में विषप्रयोग किया करते हैं ।

भावार्थः—भोजन द्रव्य प्रस्तुत होनेपर उस से एक दो ग्रास बलि के रूप में बाहर निकाल कर रख देना चाहिये। यदि वह विषसंयुक्त हो तो उस में मक्खियां आकर बैठ जावें, कौवा आदि प्राणि खाजावें तो वे शीघ्र मर जाते हैं। उस अन्न को अग्नि में डालनेपर यदि " नटनट " " चटचट " शब्द करे, उससे मोर के गले के समान नीलवर्ण, व दुःसह [सहने को अशक्य] धूंवां निकलें (धूंवा शीघ्र शांत नहीं होकर ज्योति भिन्न भिन्न होवें) तो समझना चाहिये कि वह अन्न विषयुक्त है। क्यों कि ये लक्षण विषयुक्त होने पर ही प्रकट होते हैं ॥ ८ ॥

परोसे हुए अन्न की परीक्षा व हातमुखगत विषयुक्त अन्न का लक्षण.

विनिहितभोजनोर्ध्वगतबाष्पयुताक्षियुगं- ।
भ्रमति स नासिकाहृदयपीडनमप्यधिकम् ॥
करधृतमन्नमाशु नखशातनदाहकरं ।
मुखगतमश्मवच्च कुरुते रसनां सरुजाम् ॥ ९ ॥

भावार्थः—विषयुक्त अन्न को थाली आदि में परोसा जावें उस से उठी हुई भाप यदि लग जायें तो आखों में भ्रांतता होती है। नाक व हृदय में अत्यधिक पीडा होती है। उस अन्न को [खानेको] हाथ से उठावें तो फौरन नाखून फटने अथवा गिरने जैसा माळूम होता है और हाथमें जलन पैदा होती है। विषयुक्त अन्न (प्रमाद आदिसे खाने में आजावें) मुंह पर पहुंचते ही जीभ पत्थर के समान कठोर व रसज्ञान शून्य हो जाता है। और उस में पीडा होती है॥ ९ ॥

आमाशय पक्वाशयगत विषयुक्त अन्नका लक्षण.

हृदयगतं तु प्रसेकबहुमोहनदाहरुजं ।
वमनमहातिसारजडताधिकपूरणताम् ॥
उदरगतं करोति विषमिंद्रियसंभ्रमतां ।
द्रवगतलक्षणानि कथयामि यथागमतः ॥ १० ॥

भावार्थः—वह विषयुक्त अन्न हृदय [आमाशय] में जावें तो अधिक लार टप-

१ आजकल भी बहुत से भोजनके पहिले एक ग्रास अन्न को अलग रखते हैं। बहुत से जगह जीमने को बैठने के पहिले बहुत से ग्रासोंको मैदान व ऊंचे स्थानों में रखते हैं। जबतक कौवा आदि नहीं खावे भोजन नहीं करते हैं। यदि पितरोंके उद्देश से ऐसा करें तो भले ही मिथ्यात्व मानें, लेकिन् विषपरीक्षाके उद्देश से करें तो वह मिथ्यात्व नहीं है। इसलिये जैन धर्मावलम्बियों को भी यह विधेय विधान है। हेय नहीं। इससे ऐसा सिद्ध होता है।

कता है । एवं मूर्च्छा, दाह, पीडा, वमन, अतिसार, जडता व आध्मान (अफराना) आदि विकार उत्पन्न होते हैं । यदि वह अन्न उदर [पक्काशय] में चला जावें तो इंद्रियों में अनेक प्रकार से भ्रम उत्पन्न होते हैं । इंद्रियों में विकृति होती है । वे अपने २ कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं। आगे क्रमशः द्रवपदार्थोंमें डाले हुए विष के लक्षणका कथन करेंगे ॥ १० ॥

द्रवपदार्थगतविषलक्षण.

विषयुतसद्रवेषु बहुवर्णविचित्रतरं ।
भवति सुलक्षणं विविधबुद्बुदफेनयुतम् ॥
यदपि च मुद्गमाषतुवरीगणपक्करसे ।
सुरुचिररेखया विरचितं बहुनीलिकया ११ ॥

भावार्थः—द्रवपदर्थों [दूध पानी आदि] में विषका संसर्ग हो तो उन में अनेक प्रकार के विचित्र वर्ण प्रकट होते हैं । तथा उस द्रव में बुलबुले व झाग पैदा होते हैं । मूंग, उडद, तुवर आदि धान्यके द्वारा पकाये हुए रस में यदि विष का संसर्ग हो जाय तो उस में बहुतसी नीलवर्णकी रेखायें दिखने लगती हैं ॥ ११ ॥

मद्य तोयदधितक्रदुग्धगतविशिष्टविषलक्षण.

विषमपि मद्यतोयमुद्गतकालिकया ।
विलुलितरेखया प्रकुरुते निजलक्षणतां ॥
दधिगतमल्पपीतसहितं प्रभया सितया ।
सुरुचिरताम्रया पयसि तक्रगतं च तथा ॥ १२ ॥

भावार्थः—मद्य या जल में यदि विषका संसर्ग हुआ तो उसमें काले वर्णकी रेखायें दिखने लगती हैं । दहीमें विष रहा तो वह दही सफेद वर्णके साथ जरा पीले वर्णसे भी युक्त हो जाती है। दूध और छाछ में यदि विषमिश्रित होवें तो उन में लाल रंग की रेखायें पैदा होती हैं ॥ १२ ॥

द्रवगत, व शाकादिगतविषलक्षण.

पुनरपि तद्द्रवेषु पतितं प्रतिबिंबमिह ।
द्वितयमथान्यदेव विकृतं न च पश्यति वा ॥
अशनविशेषशाकबहुसूपगणोऽत्र विषा– ।
द्विरसविकीर्णपर्युषितवच्च भवेदचिरात् ॥ १३ ॥

भावार्थः—विषयुक्त द्रवपदार्थों में पतित प्रतिविम्ब एक के बजाय दो दीखने लगता है या अन्य विकृतरूप से दिखता है अथवा बिलकुल दीखता ही नहीं। भोजन विशेष [भात, रोटी आदि] शाक, दाल वगैरे विषदूषित होनेसे शीघ्र ही विरस फैले हुए अथवा फटे जैसे व बासीके समान हो जाते हैं ॥ १३ ॥

दंतकाष्ठ, अवलेख, मुखवास व लेपगतविषलक्षण.

विषयुतदंतकाष्ठमविशीर्णविकूर्चयुतं ।
भवति ततो मुखश्वयथुरुग्रविपाकरुजः ॥
तदिव तदावलेखमुखवासगणेऽपि नृणां ।
स्फुटितमसूरिकाप्रभृतिरप्यनुलेपनतः ॥ १४ ॥

भावार्थः—दतोन में विषका संसर्ग हो तो वह फटी छिदी या बिखरी हुईसी व कूचीसे रहित हो जाती है। ऐसे विषयुक्त दतोन से दांतून करनेसे मुंह में सूजन भयंकर पाक, (पकना) व पीडा होती है। विषयुक्त अवलेख [जीभ आदिको खुरचने की सलाई] व मुखवास (मुंह को सुगंधित करने का द्रव्य, सुगंधित दंतमंजन आदि) के उपयोग से पूर्ववत् मुख में सूजन, पाक व पीडा होती है। विषयुक्त लेपनद्रव्य [स्नो सेंट, चंदन आदि] के प्रलेपन से मुख फट जाता है या स्फोट [फफोले] मसूरिका आदि पिडकायें उत्पन्न होती हैं ॥ १४ ॥

वस्त्रमाल्यादिगतविषलक्षण.

बहिरखिलांगयोग्यवरवस्तुषु तद्वदिह ।
प्रकटकषायतोयवसनादिषु शोफरुजः ॥
शिरसि सकेशशातबहुदुःखमिहास्रगति- ।
र्विवरमुखेषु संभवंति माल्यविषेण नृणाम् ॥ १५ ॥

भावार्थः—सर्व अंगोपांग के [श्रृंगार आदि] काम में आनेवाले, सुगंध कषाय जल, वस्त्र, आदि विषजुष्ट पदार्थों के व्यवहार से सर्वशरीर में सूजन व पीडा होती है। विषयुक्तमाला को शिर में धारण करने से, सिर के बाल गिर जाते हैं, सिर में अत्यंत पीडा होती है। रोमछिद्रों में से खून गिरने लगता है ॥ १५ ॥

मुकुटपादुकागतविषलक्षण.

मुकुटशिरोवलेखनगणेष्वपि माल्यमिव ।
प्रविदितलक्षणैः समुपलक्षयितव्यमिह ॥

अवदरणातिशोफबहुपादगुरुत्वरुजा ।
विषयुतपादुकाद्यपकृताश्च भवेयुः ॥ १६ ॥

भावार्थः-विषयुक्तमुकुट, शिरोऽवलेखन [कंघा आदि] आदि व्यवहार में आनेपर माला के विष के सदृश लक्षण प्रकट होते हैं । विषयुक्त पादुका [खडाऊ जूता आदि] के पहरने से पाद फट जाते हैं, सूजन हो जाती है, पाद भारी पीडा से संयुक्त व स्पर्शज्ञान शून्य हो जाते हैं ॥ १६ ॥

वाहननस्यधूपगतविषलक्षण.

गजतुरगोष्ट्रपृष्ठगतदुष्टविषेण तदा- ।
ननकफसंस्रवश्च निजधातुरिहोरुयुगे (?) ॥
गुदवृषणध्वजेषु पिटकाश्वयथुप्रभवो ।
विवरमुखेषु नस्यवरधूपविषेऽस्रगतिः ॥ १७ ॥

भावार्थः—हाथी, घोडा व ऊंठ के पीठपर विषप्रयोग करनेसे, उन सवारीयों के मुंह से कफ का स्राव होता है (आंखे लाल होती हैं) और धातु स्राव होता है । उन पर जो सवारी करते हैं उन के दोनों ऊरू में गुदा अण्डकोष में फुन्सी व सूजन हो जाती हैं । विषयुक्त नस्य व धूम के उपयोग से स्रोतों (मुख नाक आदि) से रक्त बहता है और इंद्रिय विकृत होते हैं ॥ १७ ॥

अंजनाभरणगतविषलक्षण.

विकृतिरथेंद्रियेषु परितापनमश्रुगति- ।
विषबहुलांजनेन भवति प्रबलांध्यमपि ॥
विषनिहतप्रभाणि न विभांत्यखिलाभरणा- ।
न्यतिविदहन्त्यरूंष्यपि भवंति तदाश्रयतः ॥ १८ ॥

भावार्थः—विषयुक्त अंजन के उपयोग से आंख में दाह, अश्रुपात, व अंधेपना भी आजाता है । विषसे दूषित आभरण उज्वल रूप से दिखते नहीं (जैसे पहिले चमकते थे सुंदर दिखते थे वैसे नहीं दिखते) और वैसे आभरणोंको धारण करनेसे उन अवयवोंमें जलन होती है और छोटी २ फुन्सी पैदा होती हैं ॥ १८ ॥

---

१ इंद्रियोंमें विकृति नस्य व धूमप्रयोग से होती है । क्यों कि अंजन के प्रयोगसे केवल आंखोंमें विकार उत्पन्न होता है अन्य इंद्रियो में नहीं । ग्रंथांतर में भी लिखा है ।
" नस्यधूमगते लिंगमिंद्रियाणां तु वैकृतम् । "

विषमभिवीक्ष्य तत्क्षणविरागविलोचनता ।
भवति चकोरनामविहगश्च तथा म्रियते ॥
पुनरपि जीवनिजीवक इति क्षितिमुल्लिखति ।
पृषतगणोऽति रौति सहसैव मयूरवरः ॥ १९ ॥

भावार्थः–विषयुक्त भोजन द्रव्य आदि को देखने से चकोर पक्षी के आंख का रंग बदल जाता है । जीवनजीवक पक्षी मर जाते हैं । पृषत् (सामर) भूमि को खुरचने लगता है । मोर अकस्मात् शब्द करने लगता है ॥ १९ ॥

विषचिकित्सा.

इति विषसंप्रयुक्तबहुवस्तुषु तद्विषतां ।
प्रबलविदाहदरणश्वयथुप्रकरैः ॥
विषमवगम्य नस्यनयनांजनपानयुतैः ।
विषमुपसंहरेद्वमनमत्र विरेकगणैः ॥ २० ॥

भावार्थः–प्रबल दाह, दरण [फटजाना] सूजन आदि उपद्रवों से उपरोक्त अनेक वस्तुवो में विषका संसर्ग था ऐसा जानकर उन पदार्थों के उपयोग से उत्पन्न विष विकारों को, उन के योग्य नस्य, नेत्रांजन, पानक, लेप आदिकों से एवं वमन व विरेचन से विष को बाहर निकाल कर उपशमन करना चाहिये ॥ २० ॥

क्षितिपतिरात्मदक्षिणकरे परिबंध्य विषं।
क्षपयति मूषिकांजरुहामपि चान्तगतं ॥
हृदयमिहाभिरक्षितुमनास्सपिबेत्प्रथमं ।
घृतगुडमिश्रितातिहिमशिंबरसं सततम् ॥ २१ ॥

---

१ मृग पक्षियोंसे भी विष की परीक्षा कीजाती है । इसलिये राजावों को ऐसे प्राणियों को रसोई घर के निकट रखना चाहिये ।

२ मुद्रिकामिति पाठांतरं । इस पाठके अनुसार अनेक औषधियोंसे संस्कृत व विघ्नविनाशक रत्नोपरत्नों से संयुक्त अंगूठी को पहिनना चाहिये । श्लोकमें " परिबंध्य " यह पद होनेसे एवं ग्रंथांतरों में भी " मूषिका का पाठ होने से उसी को रक्खा गया है ।

३ च्यांतगतमिति पाठांतरं ॥

भावार्थः—राजा अपने दाहिने हाथ में मूषिका और अजरुहा नामक औषध विशेष को बांधलेवें तो उस हाथ से अन्न आदि कोई भी विषयुक्त पदार्थ का स्पर्श करने पर वे निर्विष हो जाते हैं। विषसे हृदय को रक्षण करने की इच्छा रखनेवाला राजा प्रथम घी व गुडसे मिश्रित अत्यंत ठंडा शिम्बी धान्यका रस [यूष] हमेशा पीवें ॥२१॥

विषघ्न घृत.

समधुकशर्करातिविषसहितेंद्रलता।
त्रिकटुकचूर्णसंस्कृतघृतं प्रविलिह्य पुनः॥
नृपतिरशंकया स गरमप्यभिनीतमरं।
सरसरसान्नपानमवगृह्य सुखी भवति ॥ २२ ॥

भावार्थः—मुलैठी, शक्कर, अतीस, इंद्रलता, त्रिकटु इनके कषाय कल्क से संस्कृत घृत को विषपीडितको चटा देवें। उस के बाद अच्छे रससहित अन्नपानके साथ भोजन करावें जिससे विषकी पीडा दूर होती है ॥ २२ ॥

विषभेदलक्षणवर्णन प्रतिज्ञा

अथ विषभेदलक्षणचिकित्सितमप्यखिलं।
विविधविकल्पजालमुपसंहृतमागमतः॥
सुविदितवस्तुविस्तरमिहाल्पवचोविभवैः।
कतिपयसत्पथैर्निगदितं प्रवदामि विदाम् ॥ २३ ॥

भावार्थः—अत्र अनेक प्रकार के भेदोंसे युक्त सम्पूर्ण विष के भेद, लक्षण व चिकित्साको आगम से संग्रह करके, जिसका अत्यंत विस्तृत वर्णन होनेपर भी संक्षिप्त रूप से जैसे पूर्वाचार्योंनें अनेक शुभ मार्गोंसे कथन किया है उसी प्रकार हम भी कथन करेंगे ॥ २३ ॥

---

१ यह रोमवाली काली चूहेकी भांति होती है।

२ इस का कंद सफेद छोटी २ फुन्सी के सदृश उठावसे युक्त होता है। उस को भेद करने पर सुरमा के सदृश काला दिखता है।

ग्रंथांतर में कहा है।

कंदःश्वेतः सपिडको भेदे चांजनसन्निभः।
गंधलेपनपानैस्तु विषं जरयते नृणां।
दष्टानां विषपीतानां ये चान्ये विषमोहिताः।
विषं जरयते तेषां तस्मादजरुहा स्मृता।
मूषिका लोमशा कृष्णा भवेत् सापि च तद्गुणा।

त्रिविधपदार्थ व पोषकलक्षण.

त्रिविधमिहोदितं जगति वस्तुसमस्तमिदं ।
निजगुणयुक्तपोषकविघातक नोभयतः ॥
दधिघृतदुग्धतक्रयवशालिमसूरगुडा- ।
द्यखिलमपापहेतुरिति पोषकमात्महितम् ॥ २४ ॥

भावार्थः—इस लोकमें जितने भी वस्तु हैं वे सब तीन भेदसे विभक्त हैं। एक पोषक गुणसे युक्त, दूसरा विघातक गुणसे युक्त व तीसरा पोषक व विघातक दोनो गुणोंसे रहित। दही, घी, दूध, छाछ, जौ, शालि, मसूर, गुड आदि के सेवन पापके कारण नहीं है और आत्महित को पोषण करने वाला है। अतएव ऐसे पदार्थ पोषक कहालते हैं ॥ २ ॥

विघात व अनुभयलक्षण.

विषमधुमद्यमांसनिकराद्यतिपापकरं ।
भवभवघातको भवति तच्च विघातकरं ॥
तृणबहुवृक्षगुल्मचयवीरुध एव नृणा- ।
मनुभयकारिणो भुवि भवेयुरभक्षगणाः ॥ २५ ॥

भावार्थः—विष, मधु, मद्य, मांस आदि पदार्थ मनुष्यको अत्यंत पापार्जन करानेवाले हैं और भवभवको बिगाडनेवाले हैं। इसलिये उनको विघातक कहा है। घास, बहुतसे वृक्ष, गुल्म, वीरुध वगैरह मनुष्योंको न विघातक हैं न पोषक हैं। परंतु मनुष्योंके लिये लोकमें ये अभक्ष्य माने गये हैं ॥ २५ ॥

मद्यपान से अनर्थ.

नयविनयाद्युपेतचरितोऽपि विनष्टमना ।
विचरति सर्वमालपति कार्यमकार्यमपि ॥
स्वसृदुहितृषु मातृषु च कामवशाद्रमते ।
शुचिमशुचिं सदा हरति मद्यमदान्मनुजः ॥ २६ ॥

अथ इह मद्यपानमतिपापविकारकरं ।
परुषतरामयैकनिलयं नरलाघवकृत् ॥
परिहृतमुत्तमैरखिलधर्मधनैः पुरुषै- ।
रुभयभवार्थघातकमनर्थनिमित्तमिति ॥ २७ ॥

भावार्थः—मनुष्य नीति, विनय आदि सच्चरित्रोंसे युक्त होते हुए भी मद्य के मद से उसकी मानसिकविचारशक्ति नष्ट होकर वह इधर उधर [पागलों के सदृश] फिजूल घूमता है। हेयाऽहेय विचाररहित होकर सर्व प्रकार के वचनोंको बोलता है। बडबड करता है। यह कार्य है यह अकार्य है इत्यादि भेदज्ञान उसके हृदयमें न होनेसे अकार्यकार्य को भी कर डालता है। स्वसृ (मामी) पुत्री व माता के साथ में भी कामांध होकर भोगता है। पवित्र और अपवित्र पदार्थोंको विवेकशून्य होकर खा लेता है ॥ २६ ॥

अतएव यह मद्यपान अत्यंत पाप व विकारको उत्पन्न करनेवाला है। एवं अनेक भयंकर रोगोंके उत्पन्न होनेके लिये एक मुख्य आधारभूत है। एवं यह मनुष्यको हलका बना देता है। इसलिये उत्तम धर्मात्मा पुरुषोंने उस मद्यपानको दोनों भवके कल्याणकी सामग्रियोंको घातन करनेका निमित्त व अत्यंत अनर्थकारी समझकर उसे छोड दिया है। वह सर्वदा हेय है ॥ २७ ॥

विष का तीन भेद.

इति कथितेषु तेषु विषभेषु मयाऽऽगमतः।
पृथगवगृह्य लक्षणगुणैस्सह विधीयते ॥
त्रिविधविकल्पितं वनजजंगमकृत्रिमतः।
सकलमिहोपसंहृतवचोभिरशेषहितं ॥ २८ ॥

भावार्थः—इसप्रकार कथन किये हुए विषभविषों का आगम के अनुसार पृथक् पृथक् रूप से लक्षण व गुणों के कथनपूर्वक निरूपण किया जायगा। वह विष वनज (स्थावर) जंगम व कृत्रिम भेद से तीन प्रकार से विभक्त है। उन सब को बहुत संक्षेप के साथ सबके हितकी वांछा से कहेंगे ॥ २८ ॥

दशविधस्थावरविष.

स्थिरविषमत्र तद्दशविधं भवतीति मतं।
सुविमलमूलपल्लवसुपुष्पफलप्रकरैः ॥
त्वगपि च दुग्धनिर्यसनतद्रुमसारवरै-।
रधिकसुधातुभिर्बहुविधोक्तसुकंदगणैः ॥ २९ ॥

भावार्थः—वनज (स्थावर) विष दसप्रकार के होते हैं। मूलज [जड] विष, पत्रविष, पुष्पविष, फलविष, त्वग् [छाल] विष, दुग्धविष, वृक्षनिर्यास (गोंद) विष

रससारविष, धातुविष, कंदविष, इस प्रकार यह विष दस प्रकार का है, अर्थात् उपरोक्त मूल आदि [वनस्पति व पार्थिव,] दश प्रकार के अवयवो में विष रहता है ॥ २९ ॥

मूलपत्रफलपुष्पादिविषवर्णन.

अथ कृतकारकाश्वरमारकगुंजलता- ।
प्रभृतिविषं भवेदमलमूलत एव सदा ॥
विषदलिका करंभसहितानि च पत्रविषं ।
कनकसतुंबिकादिफलपत्रसुपुष्पविषं ॥ ३० ॥

भावार्थः—कृतक, अरक, अश्वमार [कनेर] गुंजा [घुंघची] आदि के जड में विष रहता है । अतः इसे मूलविष कहते हैं। विषदलिका (विषपत्रिका) करंभ आदि के पत्रोंमे विष रहता हैं । इसलिये वे पत्रविष कहलाते हैं । कनक (धत्तूर) तुम्बिका (कडवी लौकी) आदि के फल, पत्ते व फूल में विष रहता है । इसलिये फलविष आदि कहलाते हैं ॥ ३० ॥

सारनिर्यासत्वक्धातुविषवर्णन.

विषमिह सारनिर्यसनचर्म च चिल्लतरो-
र्दिनकरतिल्वकस्नुहिगणोऽधिकदुग्धविषं ॥
जलहरितालगंधकशिलाद्युरुधातुविषं ।
पृथगथ वक्ष्यते तदनु कंदविषं विषमम् ॥ ३१ ॥

भावार्थः—चिल्ल वृक्षके सारनिर्यास (गोंद) व छाल, सार, निर्यास, त्वग्विष कहलाते हैं। अकौवा, लोध, थूहरकी सब जाति ये दुग्धविष हैं, अर्थात् इनके दूधमें विष रहता है। जल, हरताल, गंधक, मैनसिल, संखिया आदि ये धातुविष हैं अर्थात् खानसे निकलनेवाले पार्थिव विष हैं । अब उपर्युक्त विषोंसे उत्पन्न पृथक् २ लक्षण कह कर पश्चात् कंदविष का वर्णन करेंगे ॥ ३१ ॥

---

१ कृतक आदि जिन के दूसरे पर्याय शब्द टीका में न लिख कर वैसे ही उध्दृत किये गये हैं ऐसे विषों के पर्याय आदि किसी कोष में भी नहीं मिलता । यह भी पता नहीं कि यह कहां मिल सकता है । इन्हे व्यवहार में क्या कहते हैं । इसीलिये बडे २ टीकाकारोंने भी यह लिखा है कि-

मूलादिविषाणां यत्नपरैरपि ज्ञातुमशक्यत्वात् तत्र तानि हिमवत्प्रदेशे किरातशबरादिभ्यो ज्ञेयानि

२ चिल्ह इति पाठांतरं

मूलादिविषजन्य लक्षण.

प्रलपनमोहवेष्टनमतीव च मूलविषा-
च्छ्वसनविजृंभवेष्टनगुणा अपि पत्रविषात् ॥

जठरगुरुत्वमोहवमनानि च पुष्पविषात् ।
फलविषतोऽरुचिर्वृपणशोफविदाहयुतम् ॥ ३२ ॥

भावार्थः--यदि मूलविष खाने में आ जाय तो प्रलाप (बडबडाना) मूर्छा, व उद्वेष्टन[1] हो जाता है । पत्रविषके उपयोगसे श्वास, जम्भाई उद्वेष्टन उत्पन्न होता है । पुष्पविषसे पेटमें भारीपन, मूर्छा, वमन हो जाता है । फलविपसे अरुचि, अंडकोष में सूजन व दाह उत्पन्न होता है ॥ ३२ ॥

त्वक्सारनिर्यसनविषजन्यलक्षण.

त्वगमलसारनिर्यसनवर्गविषैश्च तथा ।
शिरसि रुजाननातिपरुषांध्यकफोल्वणता ॥
गुरुरसनातिफेनवमनातिविरेकयुतम् ।
भवति विशेषलक्षणमिहाखिलदुग्धविषे ॥ ३३ ॥

भावार्थः—त्वक् (छाल) सारनिर्यास [गोंद] विष से शिरोपीडा, मुखकाठिन्य, अंधेपना, कफातिरेक होते हैं । सम्पूर्ण दूधसंबंधी विष से जीभ के भारी होना मुख से अत्यंत फेन का वमन व अत्यंत विरेचन आदि लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ३३ ॥

धातुविषजन्य लक्षण.

हृदयविदाहमोहमुखशोषणमत्र भवे- ।
दधिकृतधातुजेषु निखिलेषु विषेषु नृणां ॥
अथ कथितानि तानि विषमाणि विषाणि ।
पुरुषमकाल एव सहसा क्षपयंति भृशं ॥ ३४ ॥

भावार्थः—धातुज सर्वविष के उपयोग से मनुष्यों में हृदयदाह, मूर्च्छा, मुखशोषण होता है । इसप्रकार पूर्वकथित समस्त भयंकरविष प्राणियों को उन के आयुष्यकी पूर्ति हुए विना ही अकाल में नाश करते हैं ॥ ३४ ॥

---

१ गीले कपडे से शरीर को ढकने जैसे विकार मालूम होना ॥

त्रयोदशविधकंदजविष व कालकूटलक्षण.

कंदजानि विषमाणि विषाणि ज्ञापयामि निजलक्षणभेदैः ।
कालकूटविषकर्कटकोद्यत् कर्दमाख्यवरसर्षपकेन ॥ ३५ ॥
वत्सनाभनिजमूलकयुक्तं पुण्डरीकसुमहाविषसम्भा ।
मुस्तया सहितमप्यपरं स्यादन्य हालहलनामविषं च ॥ ३६ ॥
मृत्युरूपनिजलक्षणपालाकाख्यमन्यदपरं च तथा वै- ।
राटकोग्रविषमप्यतिघोरं वीरशासनवशादवगम्य ॥ ३७ ॥
तत्त्रयोदशविधं विषमुक्तलक्षणैस्समधिगम्य चिकित्सेत् ।
स्पर्शहानिरतिवेपथुरुद्यत् कालकूटविषलक्षणमेतत् ॥ ३८ ॥

भावार्थः—कंदज विष अत्यंत भयंकर होते हैं, अब उन का लक्षण, भेदसहित वर्णन करेंगे । कालकूट, कर्कटक, सर्षपक, कर्दमक, वत्सनाभ, मूलक, पुण्डरीक, महाविष संभाविष [श्रृंगीविष] मुस्तक, हालाहल, पालक, वैराटक इस प्रकार कंदज विष तेरहप्रकार के होते हैं । यह महावीर भगवान के शासन से जानकर कहा गया है । ये विष अत्यंत उग्र व घोर हैं और मनुष्यों को साक्षात् मृत्यु के समान भयंकर हैं । [ये विष किसी प्रकार से उपयोग में आजाय तो] इन विषों के पृथक् २ लक्षणों से विष का निर्णय कर उनकी चिकित्सा करनी चाहिये । कालकूट विष के संयोग से शरीर को स्पर्शज्ञानशक्ति का नाश व अत्यंत कम्प (काम्पना) ये लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

कर्कटक व कर्दमकविषजन्यलक्षण.

उत्पतत्यटति चातिहसत्यन्यानशत्यधिककर्कटकेन ।
कर्दमेन नयनद्वयपीत सातिसारपरितापनमुक्तम् ॥ ३९ ॥

भावार्थः—कर्कटक विषसे दूषित मनुष्य उछलता है । इधर उधर फिरता है । अत्यधिक हसता है । कर्दमक विषसे मनुष्यकी दोनों आंखे पीली होजाती हैं । और अतिसार व दाह होता हैं ॥ ३९ ॥

सर्षप वत्सनाभ विषजन्य लक्षण.

सर्षपेण बहुवातविकाराध्मानशूलपिटकाः प्रभवः स्यात् ॥
पीतनेत्रमलमूत्रकरं तद्वत्सनाभमतिनिश्चलकंठम् ॥ ४० ॥

---

१ मर्कटक—इति पाठांतरं

भावार्थः—सर्षपक विषसे अनेक प्रकारके वातविकार होते हैं। और पेटका अफराना, शूल व पिटक (फुन्सी) उत्पन्न होते हैं तथा आंख, मल, मूत्र पीले हो जाते हैं। गर्दनका बिलकुल स्तंभ होता है अर्थात् इधर उधर हिल नहीं सकता है॥४०॥

मूलकपुंडरीकविषजन्यलक्षण.

मूलकेन वमनाधिकहिक्का गात्रमोक्षविषमेक्षणता स्यात् ।
रक्तलोचनमहोदरता तत् पुण्डरीकविषमातिविषेण ॥ ४१ ॥

भावार्थः—मूलक विषसे अत्यंत वमन, हिचकी, शरीर की शिथिलता व आखों की विषमता होजाती है। पुंडरीक विषसे आंखे लाल होजाती हैं। और उदर फूल [आध्मान] जाता है ॥ ४१ ॥

महाविषसंभाविषजन्यलक्षण.

ग्रंथिजन्महृदयेप्यतिशूलं संभवेदिह महाविषदोषात् ।
संभयात्र बहुसादनजंघोरूदराद्यधिकशोफविवृद्धिः ॥ ४२ ॥

भावार्थः—महाविष के दोष से ग्रंथि [गांठ] व हृदय में अत्यंत शूल उत्पन्न होता है। संभा [श्रृंगी] नामक विष से शरीर ढीला पड जाता है और जंघा[जांघ] उरू, उदर, आदि स्थानो में अत्यधिक शोफ उत्पन्न होता है ॥ ४२ ॥

स्तंभितातिगुरुकंपितगात्रो मुस्तया हततनुर्मनुजस्स्यात् ।
भ्रामतः श्वसिति मुह्यति ना हालाहलेन विगताखिलचेष्टः ॥ ४३ ॥

भावार्थः—मुस्तकविषसे मनुष्यका शरीर स्तब्ध, भारी व कंप से युक्त होता है। हालाहल विषसे मनुष्य एकदम भ्रमयुक्त होते हुए व श्वाससे युक्त और मूर्च्छित होता है। उसकी सर्व चेष्टायें बंद होजाती हैं ॥ ४२-४३ ॥

पालकवैराटविषजन्यलक्षण.

दुर्बलात्मगलरुद्धमरुद्वाक्संगवानिह भवेदिति पाला-।
केन तद्वदतिदुःखतनुर्वैराटकेन हतविह्वलदृष्टिः ॥ ४४ ॥

भावार्थः—पालाक विषके योग से एकदम दुर्बल होजाता है। उस का गला, श्वास, व वचन सब के सब रुक जाते हैं। एवं च वैराटक नामक विष से रोगी के शरीर में अत्यंत पीडा होती है। एकदम उसकी दृष्टि विह्वल होजाती है ॥ ४४ ॥

कंदजविषकी विशेषता.

प्रोक्तलक्षणविषाण्यतितीव्राण्युग्रवीर्यसहितान्यहितानि ।
घ्नंति तानि दशभिस्स्वगुणैर्युक्तानि मर्त्यमचिरादधिकानि ॥ ४५ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकार के लक्षणों से वर्णन किये गये तेरह प्रकार के कंदजविप अत्यंत तीव्र व तीव्रवीर्ययुक्त होते हैं और मनुष्योंका अत्यंत अहित करते हैं। ये कंदजविष तेरह प्रकारके स्वगुणोंसे संयुक्त होते हैं। अतएव (अन्य विषोंकी अपेक्षा) मनुष्योंको शीघ्र मार डालते हैं ॥ ४५ ॥

विषके दशगुण.

रूक्षमुष्णमतितीक्ष्णमथाशुव्याप्यपाकिलघु चोग्रविकार्षि ।
सूक्ष्ममेव विशदं विषमेतन्मारयेद्दशगुणान्वितमाशु ॥ ४६ ॥

भावार्थः—रूक्ष (रूखा) उष्ण [गरम] तीक्ष्ण (मिर्च आदि के सदृश) आशु (शीघ्र फैलाने वाला) व्यापक (व्यवायि) (पहले सब शरीरमें व्याप्त होकर पश्चात् पकें) अपाकि [जठराग्निसे आहार के सदृश पकने में अशक्य] लघु [हलका] विकर्षि [विकाशि] (संधिबंधनो को ढीला करने के स्वभाव) सूक्ष्म [बारीक से बारीक छिद्रोमें प्रवेश करनेवाला गुण] विशद [पिच्छिलता से रहित] ये विषके दश-गुण हैं। इन दश ही गुणोंसे संयुक्त जो भी विष मनुष्य को शीघ्र मार डालते हैं॥४६॥

दशगुणोंके कार्य.

रूक्षतोऽनिलमिहोष्णतया तत् कोपयत्यपि च पित्तमथास्रम् ।
सूक्ष्मतः सरति सर्वशरीरं तीक्ष्णतोऽवयवमर्मविभेदी ॥ ४७ ॥

भावार्थः—विषके रूक्षगुण से वातोद्रेक होता है उष्ण गुणसे पित्त व रक्तका उद्रेक होता है। सूक्ष्मगुणयुक्त विष सर्वशरीर में सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवो में जल्दी पसरता है। तीक्ष्णगुण से अवयव व मर्मका भेद होता है ॥ ४७ ॥

व्यापकादखिलदेहमिहाप्नोत्याशु कारकतयाशु निहंति ।
तद्विकार्षिगुणतोऽधिकधातून् क्षोभयन्त्यपि विशोद्विशदत्वात् ॥४८॥

भावार्थः—व्यापक (व्यवायि) गुण से वह सर्वदेह को शीघ्र व्याप्त होता है। आशु गुण से जल्दी मनुष्य का नाश होता है। विकार्षि (विकाशि) गुण से सर्व धातु क्षुभित होते हैं और विशद से सर्व धातुवो में वह प्रवेश करता है ॥ ४८ ॥

लंघनादिह निवर्तयितुं तन्नैव शक्यमतिपाकिगुणत्वात् ।
क्लेशयत्यपि न शोधितमेतद्विश्वमाशु शमयेद्विषमुग्रम् ॥ ४९ ॥

भावार्थः—वह विष लघुगुण के कारण उसे शरीर से निकालने के लिये कोई चिकित्सा समर्थ नहीं होता है। अविपाकि गुण से युक्त होने से यदि उसका शोधन शीघ्र न करे तो वह अत्यधिक दुःख उत्पन्न करता है। यह सब तरह के विष अत्यंत भयंकर है। इसलिये इन को योग्य उपायों के द्वारा उपशमन करना चाहिये ॥४९॥

दूषीविषलक्षण.

शीर्णजीर्णमनलाशनिपातात्यातपातिहिमवृष्टिविघृष्टम् ।
तद्विषं तरुणमुग्रविषघ्नैराहतं भवति दूषिविषाख्यम् ॥ ५० ॥

भावार्थः—शीर्ण व जीर्ण [अत्यंत पुराना] होने से, आग से जल जाने से बिजली गिरजाने से, अत्यधिक धूपमें सूख जानेसे, अतिहिम [बरफ] व वर्षा पडने से, व विषनाशक औषधियोके संयोग से जिस विषका गुण नष्टप्राय हो चुका हो अथवा (उपरोक्त कारण से दशगुणों में से कुछ गुण नाश हो चुका हो अथवा दशोंगुण रहते हुए भी उनके शक्ति अत्यंत मंद हो गया हो) जो तरुण [परिपक्व] हो उस विष को दूषीविष कहते हैं ॥ ५० ॥

दूषीविषजन्यलक्षण.

छर्द्यरोचकतृषाज्वरदाहश्वासकासविषमज्वर शोफो– ।
न्मादमन्यदतिसारमिदं दूषीविषं प्रकुरुते जठरंच ॥ ५१ ॥
कार्श्यमन्यदथशोषमिहान्यद्वृद्धिमन्यदधिकोद्धतनिद्रा–।
ध्मानमन्यदपि तत्कुरुते शुक्लक्षयं बहुविधोग्रविकारान् ॥ ५२ ॥

भावार्थः—दूषीविष के उपयोग होकर जब वह प्रकोपावस्था को प्राप्त होता है तब वमन, अरोचकता, प्यास, ज्वर, दाह, श्वास, कास, विषमज्वर, सूजन, उन्माद (पागलपना) अतिसार व उदररोग [जलोदर आदि] को उत्पन्न करता है। अर्थात् दूषीविष के प्रकुपित होनेपर ये लक्षण (उपद्रव) प्रकट होते हैं। प्रकुपित कोई दूषी

---

१ शरीर में रहा हुआ यह (कम शक्तिवाला) विष विपरीत देशकाल व अन्नपानोंके संयोग से व दिन में सोना आदि विरुद्ध आचरणों से, प्रथम स्वयं वार २ होकर पश्चात् धातुओं को दूषित करता है (अपने आप स्वतंत्ररूपसे धातुओं को दूषण करनेकी शक्ति इस के अंदर नहीं रहता है) अत इसे " दूषीविष " कहा है।

विष शरीर को कृश कर देता है, कोई सुखा देता है, कोई अंत्रवृद्धि या अंडवृद्धि आदिको को पैदा कर देता है। कोई तो अधिक निद्रा करता है। कोई पेटको फुला देता है, कोई शुक्रधातु का नाश करता है। यह दूषीविष इसी प्रकार के अनेक प्रकार के भयंकर रोगों को उत्पन्न करता है ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

स्थावरविष के सप्तवेग.

प्रथमवेग लक्षण.

स्थावरोग्रविषवेग इदानीमुच्यते प्रथमवेगविशेषे।
स्तब्धकृष्णरसना सभयं मूर्च्छा भवेध्दृदयरुग्भ्रमणं च ॥ ५३ ॥

भावार्थः—स्थावर विष के सात वेग होते हैं। अब उन वेगों के वर्णन करेंगे। विष के प्रथमवेगमें मनुष्यकी जीभ स्तब्ध [जकडजाना] व काली पड जाती है। भय के साथ मूर्च्छा हो जाती है। हृदय में पीडा व चक्कर आता है ॥ ५३ ॥

द्वितीयवेगलक्षण.

वेपथुर्गलरुजातिविदाहस्वेदजृंभणतृषोदरशूलाः।
ते द्वितीयविषवेगकृतास्स्युः सांत्रकूजनमपि प्रबलं च ॥ ५४ ॥

भावार्थः—विषके द्वितीयवेग में शरीर में कंप, गलपीडा, अतिदाह, पसीना, जंभाई, तृषा, उदरशूल आदि विकार उत्पन्न होते हैं एवं अंत्र में प्रबल शब्द [गुड-गुडाहट) भी होने लगता है ॥ ५४ ॥

तृतीयवेगलक्षण.

आमशूलगलतालुविशोषोच्छूनपीततिमिराक्षियुगं च।
ते तृतीयविषवेगविशेषात् संभवंत्यखिलकंदविषेषु ॥ ५५ ॥

भावार्थः—समस्त कंदज [स्थावर] विषोंके तीसरे वेग में आमाशय में अत्यंत शूल होता है [इस वेग में विष आमाशयमें पहुंच जाता है] गला और तालु सूख जाते हैं। आखें सूज जाती है और पीली या काली हो जाती हैं ॥ ५५ ॥

चतुर्थवेगलक्षण.

सांत्रकूजनमथोदरशूला हिक्कया च शिरसोऽतिगुरुत्वम्।
तच्चतुर्थविषवेगविकाराः प्राणिनामतिविषप्रभवास्ते ॥ ५६ ॥

भावार्थः—उग्र विषोंके भक्षण से जो चौथा वेग उत्पन्न होता है उस में प्राणियों के अंत्रमें गुडगुडाहट शब्द, उदरशूल, हिचकी और शिर अत्यंत भारी हो जाता है ॥ ५६ ॥

पंचम व षष्ठवेगलक्षण.

पर्वभेदकफसंस्रववैवर्ण्यं भवेदधिकपंचमवेगे।
सर्वदोषविषयोप्यतिसारः शूलमोहसहितः खलु षष्ठे ॥ ५७ ॥

भावार्थः—विषके पांचवें वेग में संधियो में भिदने जैसी पीडा होती है, कफ का स्राव [गिरना] होता है। शरीर का वर्ण बदल जाता है और सर्व दोषों [वात पित्त कफों] का प्रकोप होता है। विष के छटे वेग में बहुत दस्त लगते हैं। शूल होता है व वह मूर्च्छित हो जाता है ॥ ५७ ॥

सप्तमवेगलक्षण.

स्कंधपृष्ठचलनाधिकभंगाश्वासरोध इति सप्तमवेगे।
तं निरीक्ष्य विषवेगविधिज्ञः शीघ्रमेव शमयेद्विषमुग्रम् ॥ ५८ ॥

भावार्थः—सातवें वेग में कंधे, पीठ, कमर टूटते हैं और श्वास रुक जाता है। उन सब विषवेगों को जाननेवाला वैद्य, उपरोक्त लक्षणो से विष का निर्णय कर के शीघ्र ही भयंकर विष का शमन करें ॥ ५८ ॥

विषचिकित्सा.

प्रथमद्वितीयवेगचिकित्सा.

वामयेत्प्रथमवेगविषार्तं शीततोयपरिषिक्तशरीरम्।
पाययेद्घृतयुतागदमेव शोधयेदुभयतो द्वितये च ॥ ५९ ॥

भावार्थः—विषके प्रथमवेग में विषदूषित रोगी को वमन कराकर शरीर पर ठंडा जल छिडकना अथवा ठंडा पानी पिलाना चाहिये। पश्चात् घृत से युक्त अगद [विषनाशक औषधि] पिलावें। द्वितीयवेग में वमन कराकर विरेचन कराना चाहिये ॥ ५९ ॥

तृतीयचतुर्थवेगचिकित्सा.

नस्यमंजनमथागदपानं तत्तृतीयविषवेगविशेषे।
सर्वमुक्तमगदं घृतहीनं योजयेत्कथितवेगचतुर्थे ॥ ६० ॥

भावार्थः—विष के तृतीय वेग में नस्य, अंजन व अगद का पान कराना चाहिये। चतुर्थ विषवेग में समस्त अगद घृतहीन करके प्रयोग करना चाहिये ॥ ६० ॥

पंचमषष्ठवेगचिकित्सा.

पंचमे मधुरभेषजनिर्यूषान्वितागदमथापि च षष्ठे ।
योजयेत्तदतिसारचिकित्सां नस्यमंजनमतिप्रबलं च ॥ ६१ ॥

भावार्थः—विषके पंचमवेग में मधुर औषधियोंसे बने हुए क्वाथ के साथ अगद प्रयोग करना चाहिये। और छठे विषवेग में अतिसाररोगकी चिकित्सा के सदृश चिकित्सा करें और प्रबल नस्य अंजन आदि का प्रयोग करें ॥ ६१ ॥

सप्तमवेगचिकित्सा.

तीक्ष्णमंजनमथाप्यवपीडं कारयेच्छिरसि काकपदं वा ।
सप्तमे विषकृताधिकवेगे निर्विषीकरणमन्यदशेषम् ॥ ६२ ॥

भावार्थः—विष के सप्तमवेग में तीक्ष्ण अंजन व अवपीडननस्य का प्रयोग करना चाहिये। एवं शिर में काकपद (कौवेके पादके समान शस्त्र से चीरना चाहिये) का प्रयोग और भी विष दूर करनेवाले समस्त प्रयोगों को करना चाहिये ॥ ६२ ॥

गरहारी घृत.

सारिवाग्निककटुत्रिकपाठापाटलीककिणिहीसहरिद्रा-।
पीलुकामृतलतासशिरीषैः पाचितं घृतमरं गरहारी ॥ ६३ ॥

भावार्थः—सारिवा, चित्रक, त्रिकटु, (सोंठ मिर्च पीपल) पाठा, पाढल, चिरचिरा, हलदी, पीलुवृक्ष, अमृतवेल, शिरीष इनके द्वारा पकाया हुआ घृत समस्त प्रकार के विषोंको नाश करता है ॥ ६३ ॥

उग्रविषारीघृत.

कुष्ठचंदनहरेणुहरिद्रादेवदारुबृहतीद्वयमंजि- ।
ष्ठाप्रियंगुसविडंगसुनीलीसारिवातगरपूतिकरंजैः ॥ ६४ ॥

पक्वसर्पिरखिलोग्रविषारि तं निषेव्य जयतीह विषाणि ।
पाननस्यनयनांजनलेपान्योजयेद्घृतवरेण नराणाम् ॥ ६५ ॥

भावार्थः—कूठ, चंदन, रेणुका हलदी, देवदारु, छोटी बडी कटेहरी, मंजीठ, फूलप्रियंगु, वायविडंग, नीलीवृक्ष, सारिवा, तगर, दुर्गंधकरंज, इनसे पका हुआ घृत समस्त उग्र विषोंको नाश करनेके लिये समर्थ है। [इसलिये इसका नाम उग्रविषारि रखा है] इसे सेवन करनेवाला समस्त विषोंको जीतता है। एवं विषपीडित मनुष्योंको इस उत्तम घृत से पान, नस्य, अंजन लेपनादिकी योजना करनी चाहिये ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

दूषीविषारिअगद.

पिप्पलीमधुककुंकुमकुष्ठध्यामकस्तगरलोध्रसमांसी- ।
चंदनोरुरुचकामृतवल्येलास्सुचूर्ण्य सितगव्यघृताभ्याम् ॥ ६६ ॥
मिश्रितौषधसमूहमिमं संभक्ष्य मंक्षु शमयत्यतिदूषी- ।
दुर्विषं विषमदाहतृपातीव्रज्वरप्रभृतिसर्वविकारान् ॥ ६७ ॥

भावार्थः—पीपल, मुलैठी, कुंकुम [केशर] कूठ, ध्यामक [गंधद्रव्य विशेष] तगर, लोध, जटामांसी, चंदन, सज्जीखार, गिलोय, छोटी इलायची, इनको अच्छीतरह चूर्णकर शक्कर व गाय के घृतके साथ मिलावें, उसे यदि खावे तो दूषीविष, विषमदाह, तृषा, तीव्रज्वर आदि समस्त दूषीविषजन्य विकार शांत होते हैं ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

इति स्थावरविषवर्णन.

अथ जंगमविषवर्णन.

जंगमविष के षोडशभेद.

जंगमाख्यविषमप्यतिघोरं प्रोच्यते तदनु षोडशभेदम् ।
दृष्टिनिश्वसिततीक्ष्णसुदंष्ट्रालालमूत्रमलशुक्रनखानि ॥ ६८ ॥

वातपित्तगुदभागनिजास्थिस्पर्शदंशमुखशूकशवानि ।
षोडशप्रकटितानि विषाणि प्राणिनामसुहराण्यशुभानि ॥ ६९ ॥

भावार्थः—अत्र अत्यंत भयंकर जंगम (प्राणिसम्बन्धी) विष का वर्णन करेंगे। इस विष के (प्राणियों के शरीर में) सोलह अधिष्ठान [आधारस्थान] हैं। इसलिये इसका भेद भी सोलह हैं। दृष्टि [आंख] निश्वास, डाढ, लाल [लार] मूत्र, मल

---

१ सित इति पाठांतरं।

(विष्टा) शुक्र [धातु] नख (नाखून) वात, पित्त, गुदाप्रदेश, अस्थि (हड्डी) स्पर्श, मुखसंदंश [मुख के पकड] शूक [डंक या कांटे] शव [मृत शरीर] ये स्थावर विष के सोलह अधिष्ठान (आधार) हैं। अर्थात् उपरोक्त आधार में विष रहता है, वे विष प्राणियों के प्राणघात करनेवाले हैं, अतएव अशुभ स्वरूप हैं ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

दृष्टिनिश्वासदंष्ट्रविष.

दृष्टिनिश्वसिततीव्रविषास्ते दिव्यरूपभुजगा भुवि जाता।
दंष्ट्रिणोऽश्वखरवानरदुष्टश्वानदाश्व [?] दशनोग्रविषाढ्याः ॥ ७० ॥

भावार्थः—जो दिव्य[1] सर्प होते हैं उन के दृष्टि व निश्वास में तीव्रविष रहता है। जो भूमि में उत्पन्न होनेवाले सामान्य सर्प हैं उन के दंष्ट्रा (डाढ) में विष होता है। घोडा, गधा, बंदर, दुष्ट (पागल) कुत्ता, बिल्ली आदि के दांतों में उग्रविष होता है ॥७०॥

दंष्ट्रनख विष.

शिशुमारमकरादिचतुष्पादप्रतीतबहुदेहिगणास्ते ।
दंतपंक्तिनखतीव्रविषोग्रा भेकवर्गगृहकोकिलकाश्च ॥ ७१ ॥

भावार्थः—शिशुमार (प्राणिविशेष) मगर आदि चार पैरवाले जानवर व कई जाति के मेंडक (विषैली) व छिपकली दांत व नाखूनमें विषसंयुक्त होते हैं ॥ ७१ ॥

मलमूत्रदंष्ट्रशुक्रलालविष.

ये सरीसृपगणागणितास्ते मूत्रविड्दशनतीव्रविषाढ्याः।
मूषका बहुविधा विषशुक्रा वृश्चिकाश्च विषलालमलोग्राः ॥ ७२ ॥

भावार्थः—जो रेंगनेवाले जीव हैं उनके मूत्र, मल व दांतमें तीव्रविष रहता है। बहुतसे प्रकार के चूहों को शुक्र [धातु] में विष रहता है। बिच्छुवों के लार व मल में विष रहता है ॥ ७२ ॥

स्पर्शमुखसंदंशवातगुदविष.

ये विचित्रतनवो बहुपादाः स्पर्शदंशपवनात्मगुदोग्राः ।
दंशतः कुणभवर्गजलूका मारयंति मुखतीव्रविषेण ॥ ७३ ॥

---

[1] ये सर्प देवलोक में होते हैं। ऐसे सर्प केवल अच्छीतरह देखने व श्वास छोडने मात्र से विष फैल कर बहुत दूर तक उस का प्रभाव होता है।

भावार्थः—जो प्राणी बहुत विचित्र शरीरवाले हैं जिनको बहुतसे पाद हैं वे स्पर्श मुखसंदंश, वायु व गुदस्थान में विषसहित हैं। कणभ [प्राणिविशेष] जलौंक के मुखसंदंश में तीव्रविष रहता है ७३ ॥

अस्थिपित्तविष.

कंटका बहुविषाहतदुष्टसर्पजाश्च वरकीबहुमत्स्या- ।
स्थीनि तानि कथितानि विषाण्येषां च पित्तमपि तीव्रविषं स्यात् ॥ ७४ ॥

भावार्थः—कंटक [कांटे] विष से मरे हुए की हड्डी, दुष्टसर्प, वरकी आदि अनेक प्रकार की मछली, इन की हड्डी में विष होता है। अर्थात् ये अस्थिविष हैं। वरकी आदि मत्स्यों के पित्त भी तीव्र विषसंयुक्त है ॥ ७४ ॥

शूकशवविष.

मक्षिकास्समशका भ्रमराद्याः शूकसंनिहिततीव्रविषास्ते ।
यान्यचिंत्यबहुकीटशरीराण्येव तानि शवरूपविषाणि ॥ ७५ ॥

भावार्थः—मक्खी, मच्छर, भ्रमर आदि शूक [कांटा विषैला बाल] विषसे युक्त रहते हैं। और भी बहुतसे प्रकार के अचिंत्य सूक्ष्म विषैले कीडे रहते हैं [जो अनेक प्रकार के होते हैं] उनका मृत शरीर विषमय रहता है। उसे शवविष कहते हैं ॥ ७५ ॥

जंगमविषमें दशगुण.

जंगमेष्वपि विषेषु विशेषप्रोक्तलक्षणगुणा दशभेदाः ।
संत्यथोऽखिलशरीरजदोषान् कोपयंत्यधिकसर्वविषाणि ॥ ७६ ॥

भावार्थः—स्थावर विषोंके सदृश जंगम विषमें भी, ये दस गुण होते हैं। जिन के लक्षण व गुण आदिका [स्थावर विषप्रकरण में] वर्णन कर चुके हैं। इसलिये सर्व जंगमविष शरीरस्थ सर्वदोष व धातुओंको प्रकुपित करता है ॥ ७६ ॥

पांच प्रकार के सर्प.

तत्र जंगमविषेष्वतितीव्रा सर्पजातिरिह पंचविधोऽसौ ।
भोगिनोऽथ बहुमण्डलिनो राजीविराजितशरीरयुताश्च ॥ ७७ ॥

तत्र ये व्यतिकरप्रभवास्ते वैकरंजनिजनामविशेषाः ।
निर्विषाः शुकशशिप्रतिमाभास्तोयतत्समयजाजगराद्याः ॥ ७८ ॥

भावार्थः—उन जंगम विषो में सर्पजाति का विष अत्यंत भयंकर होता है। वह सर्प दर्वीकर, मंडली, राजीमंत, वैकरंज, निर्विष, इस प्रकार पांच भेदसे विभक्त है। जो फणवाले सर्प हैं उन्हे दर्वीकर कहते हैं। जिस के शरीर पर अनेक प्रकार के मंडल [चकत्ते] होते हैं वे मंडलीसर्प कहलाते हैं। जिनपर रेखायें (लकीर) रहती हैं वे राजीमंत कहलाते हैं। अन्यजाति की सर्पिणी से किसी अन्य जाति के सर्प के संयोग से जो उत्पन्न होता है उसे वैकरंज कहते हैं। जो विष से रहित व न्यूनविष संयुक्त हैं पानी व पानीके समय (वर्षात्) में उत्पन्न होते हैं या रहते हैं, जिनके शरीर का वर्ण तोते के समान हरा व चंद्रमा के समान सफेद है ऐसे सर्प व अजगर (जो अत्यधिक लम्बा चौडा होता है मनुष्य आदिकोंको निगल जाता हैं) आदि सर्प निर्विष कहलाते हैं ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

सर्पविषचिकित्सा.

दृष्टिनिश्वसिततीव्रविषाणां तत्प्रसाधनकरौषधवर्गैः ।
का कथा विषमतीक्ष्णसुदंष्ट्राभिर्दशंति मनुजानुरगा ये ॥ ७९ ॥
तेषु दंशविषवेगविशेषात्मीयदोषकृतलक्षणलक्ष्यान् ।
सच्चिकित्सितमिह प्रविधास्ये साध्यसाध्यविधिना प्रतिबद्धम् ॥ ८० ॥

भावार्थः—दृष्टिविष व निश्वास विषवाले दिव्यसर्पों के विषशामनकारक औषधियों के सम्बन्ध में क्या चर्चा की जाय। (अर्थात् उनके विषशमन करनेवाले कोई औषध नहीं हैं और ऐसे सर्पों के प्रकोप उसी हालत में होती हैं जब अधर्म की पराकाष्ठा आदिसे दुनिया में भयंकर आपत्तिका सान्निध्य हो) जो भौमसर्प अपने विषम व तीक्ष्ण दाढों से मनुष्यों को काट खाते हैं, उस से उत्पन्न विषवेग का स्वरूप व विकृत दोषजन्य लक्षण, उसके [विषके] योग्य चिकित्सा, व साध्यासाध्यविचार, इन सब बातों को आगे वर्णन करेंगे ॥ ७९ ॥ ८० ॥

सर्पदंश के कारण.

पुत्ररक्षणपरा मदमत्ता ग्रासलोभवशतः पदघातात् ।
स्पर्शतोऽपि भयतोऽपि च सर्पास्ते दशंति बहुधाधिकरोषात् ॥ ८१ ॥

भावार्थः—वे सर्प अपने पुत्रोंके रक्षण करनेकी इच्छासे, मदोन्मत्त होकर, आहार के लोभ से [अथवा काटने की इच्छासे] अधिक धक्का लगनेसे, स्पर्शसे, क्रोधसे, प्रायः मनुष्योंको काटते (डसते) हैं ॥ ८१ ॥

१ भयभीतविसर्पा इति पाठांतरं ।

त्रिविधदंश व स्वार्पितलक्षण.

दंशमत्र फणिनां त्रिविधं स्यात् स्वर्पितं रदितमुद्विहितं च ।
स्वर्पितं सविषदंतपदैरेकद्विकत्रिकचतुर्भिरिह स्यात् ॥ ८२ ॥

तन्निमग्नदशनक्षतयुक्तं शोफवद्विषमतीव्रविषं स्यात् ।
तद्विषं विषहरैरतिशीघ्रं नाशयेद्दशनकल्पमशेषम् ॥ ८३ ॥

भावार्थः—सर्पोंका दंश तीन प्रकार का होता है । एक स्वर्पित, दूसरा रचित व तीसरा उद्विहित । सर्प जब अपने एक, दो, तीन या चार विषैले दांतों को लगाकर काट खाता है उसे स्वर्पित कहते हैं । वह दांतोंकी घाव से युक्त वेदना शोफ के समान ही अत्यंत तीव्र विषयुक्त होती है । उसे विषनाशक क्रियाको जाननेवाले वैद्य शीघ्र दूर करें । दान्तों के घावको भी दूर करें ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

रचित [रदित] लक्षण.

लोहितासितसितद्युतिराजीराजितं श्वयथुमच्च यदन्यत् ।
तद्भवेद्रचितमल्पविषं ज्ञात्वा नरं विविषमाश्विह कुर्यात् ॥ ८४ ॥

भावार्थः—जो दंश लाल, काले व सफेद वर्ण युक्त लकीर [रेखा] से युक्त हो (जखम न हो) साथ में शोथ (सूजन) भी हो उसे राचित (रदित) नामक सर्प दंश समझना चाहिये । वह अल्पविष से युक्त होता है । उसे जानकर शीघ्र उस विष को दूर करना चाहिये ॥ ८४ ॥

उद्विहित (निर्विष) लक्षण.

स्वस्थ एव मनुजोप्यहिदष्टः स्वच्छशोणितयुतक्षतयुक्तः ।
यत्क्षतं श्वयथुना परिहीनं निर्विषं भवति तद्विहिताख्यम् ॥ ८५ ॥

भावार्थः—सर्पसे डसा हुआ मनुष्य स्वस्थ ही हो [शरीर वचन आदि में किसी प्रकार की विकृति न आई हो] उस का रक्त भी दूषित न हो, कटा हुआ स्थानपर जखम (दांतों के चिन्ह) मालूम हो, लेकिन् उस जगहमें सूजन न हो ऐसे सर्पदंश [सर्प का काटना] दांतों के चिन्हों (क्षत) से युक्त होते हुए भी निर्विष होता है । उसे उद्विहित (निर्विष) कहते हैं ॥ ८५ ॥

सर्पांगाभिहतलक्षण.

भीरुकस्य मनुजस्य कदाचिज्जायते श्वयथुरप्यहिदेह-।
स्पर्शनात्तदभिघातनिमित्तात् क्षोभितानिलकृतो विविषोऽयम् ॥ ८६ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य अत्यंत डरपोक हो उसे कदाचित् सर्प के शरीर के स्पर्शसे [उसी के घबराहट से] कुछ चोट भी लग जाय तो इस भय के कारण से [या उसे यह भ्रम होजावें कि मुझे सर्प डसा है] शरीर में वात प्रकुपित होकर सूजन उत्पन्न हो जाती है उसे सर्पांगाभिहत कहते हैं। यह निर्विष होता है ॥ ८६ ॥

दर्वीकरसर्पलक्षण.

छत्रलांगलशशांकसुचक्रस्वस्तिकांकुशधराः फणिनस्ते।
यांति शीघ्रमचिरात्कुपिता दर्वीकराः सपवनाः प्रभवंति ॥ ८७ ॥

भावार्थः—जिन के शिरपर छत्र, हल, चंद्र, चक्र (पहिये) स्वस्तिक व अंकुश का चिन्ह हो, फण हो, जो शीघ्र चलनेवाले व शीघ्र कुपित होते हों, जिन के शरीर व विष में वात का आधिक्य हो उन्हे दर्वीकर सर्प कहते हैं ॥ ८७ ॥

मंडलीसर्पलक्षण.

मण्डलैर्बहुविधैर्बहुवर्णैश्चित्रिता इव विभांत्यतिदीर्घाः।
मंदगामिन इहाग्निविषाढ्याः संभवंति भुवि मण्डलिनस्ते ॥ ८८ ॥

भावार्थः—अनेक प्रकार के वर्ण के मंडलों (चकत्तों) से जिनका शरीर चित्रित के सदृश मालूम होता हो एवं धीरे २ चलने वाले हों, अत्यंत उष्णविषसे संयुक्त हों, अत्यधिक लम्बें [व मोठे] हों ऐसे सर्प जो भूमि में होते हैं उन्हे मंडलीसर्प कहते हैं ॥ ८८ ॥

राजीमंतसर्पलक्षण.

चित्रिता इव सुचित्रविराजीराजिता निजरुचे स्फुरिताभा।
वारुणाः कफकृता वरराजीमंत इत्यभिहिताः भुवि सर्पाः ॥ ८९ ॥

भावार्थः—जो चित्रविचित्र (रंगबिरंगे) तिरछी, सीधी, रेखावों [लकीरों] से चित्रित से प्रतीत होते हों, जिनका शरीर चमकता हो, कोई २ लालवर्णवाले हों जिनके शरीर व विषमें कफकी अधिकता हो उन्हे राजीमंत सर्प कहते हैं ॥ ८९ ॥

सर्पजविषोंसे दोषों का प्रकोप.

भोगिनः पवनकोपकरास्ते पित्तमुक्तबहुमण्डलिनस्ते ।
जीवराजितशरीरयुताश्लेष्माणमुग्रमधिकं जनयंति ॥ ९० ॥

भावार्थः—दर्वीकर सर्प का विष वात प्रकोपकारक है। मंडली सर्प का विष पित्त को कुपित करनेवाला है तो राजीमंतसर्प का विष कफ को क्षुभित करता है ॥९०॥

वैकरंज के विष से दोषप्रकोप व दर्वीकर दष्टलक्षण.

यद्द्वयव्यतिकरोद्भवसर्पास्ते द्विदोषगणकोपकरास्ते ।
वातकोपजनिताखिलचिन्हास्संभवंति फणिदष्टविषेऽस्मिन् ॥ ९१ ॥

भावार्थः—दो जाति के सर्प के सम्बंध से उत्पन्न होनेवाले वैकरंजनाम के सर्प का विष दो दोषों का प्रकोप करनेवाला है। दर्वीकर सर्प से डसे हुए मनुष्य के शरीर में वातप्रकोप से होनेवाले सभी लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ९१ ॥

मंडलीराजीमंतदष्टलक्षण.

पित्तजानि बहुमण्डलिदष्टे लक्षणानि कफजान्यपि राजी-।
मद्विषप्रकटितानि विदित्वा शोधयेत्तदुचितौषधमंत्रैः ॥ ९२ ॥

भावार्थः—मंडली सर्प के काटनेपर पित्तप्रकोप से उत्पन्न दाह आदि सभी लक्षण प्रकट होते हैं। राजीमंत सर्प के काटने पर कफप्रकोप के लक्षण प्रकट होते हैं। उपरोक्त लक्षणों से यह जानकर कि इसे कौनसे सर्प ने काट खाया है, उन के उचित औषध व मंत्रों से उस विष को दूर करें ॥ ९२ ॥

दर्वीकरविषज सप्तवेग का लक्षण.

दर्वीकरोग्रविषवेगकृतान्विकारान् वक्ष्यामहे प्रवरलक्षणलक्षितास्तान् ।
आदौ विषं रुधिरमाशु विदूष्य रक्तं कृष्णं करोति पिशितं च तथा द्वितीये ९३
चक्षुर्गुरुत्वमधिकं शिरसो रुजा च तद्वत्तृतीयविषवेगकृतो विकारः ।
कोष्ठं प्रपन्न विषमाशु कफप्रसेकं कुर्याच्चतुर्थविषवेगविशेषितस्तु ॥ ९४ ॥
स्रोतः पिधाय कफ एव च पंचमेऽस्मिन् वेगे करोति कुपितः स्वयमुग्रहिक्का ।
षष्ठे विदाहहृदयग्रहमूर्च्छनानि प्राणैर्विमोक्षयति सप्तमवेगजातः ॥ ९५ ॥

भावार्थः—दर्वीकर सर्प के उग्रविष से जो विकार उत्पन्न होते हैं उन का उन के विशिष्ट लक्षणों के साथ वर्णन करेंगे। दर्वीकर [फणवाला] सर्प के काटने पर सब

से पहिले विष (प्रथम वेग में) रक्त को दूषित कर रक्त को काला कर देता है [जिस से शरीर काला पड जाता है और शरीर में चींटियों के चलने जैसा माळूम होता है] द्वितीयवेग में विष मांस को दूषित करता है [जिस से शरीर अत्यधिक काला पड जाता है शरीर पर सूजन गांठें हो जाती हैं] तीसरे वेग में (विष मेद को दूषित करता है जिस से) आंखों में अत्यधिक भारीपना व शिर में दर्द होता है। चौथे वेग में विष कोष्ठ [उदर] को प्राप्त हो कर कफ को गिराता है अर्थात् मुंहसे कफ निकलने लगता है (और संधियों में पीडा होती है) पांचवें वेग में विष के प्रभाव से प्रकुपित कफ स्रोतों को अवरोध कर के भयंकर हिचकी को उत्पन्न करता है। छठे वेग में अत्यंत दाह (जलन) हृदयपीडा होती हैं और वह व्यक्ति मूर्छित हो जाता है। सातवें वेग में विष प्राण का नाश करता है अर्थात् उसे मार डालता है ॥ ९३ ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

मंडलीसर्पविषजन्य सप्तवेगों के लक्षण.

तद्वच्च मण्डलिविषेऽपि विषप्रदुष्टं रक्तं भवेत्प्रथमवेगत एव पीतम् ।
मांसं सपीतनयनाननपाण्डुरत्वमापादयेत्कटुकवक्त्रमपि द्वितीये ॥ ९६ ॥

तृष्णा तृतीयविषवेगकृता चतुर्थे तीव्रज्वरो विदितपंचमतो विदाहः ।
स्यात्षष्ठसप्तमविषाधिकवेगयोरप्युक्तक्रमात्स्मृतिविनाशयुतासुमोक्षः ॥९७॥

भावार्थः—मंडली सर्प के डसने पर, उस विष के प्रथमवेग में विष के द्वारा रक्त दूषित होकर पीला पड जाता है। द्वितीयवेग में विष मांस को दूषित करता है जिससे आंख, मुख आदि सर्व शरीर पांडुर या अत्यधिक काला हो जाता है। मुंह कडवा भी होता है। तृतीयवेग में अधिक प्यास, चतुर्थवेग में तीव्रज्वर व पांचवें वेग में अत्यंत दाह होता है। षष्ठ वेग में हृदयपीडा व मूर्च्छा होती है। सप्तमवेग में प्राण का मोक्षण होता है ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

राजीमंतसर्पविषजन्य सप्तवेगोंका लक्षण.

राजीमतामपि विषं प्रथमोरुवेगे ।
रक्तं प्रदूष्य कुरुतेऽरुणपिच्छिलाभं ॥
मांसं द्वितीयविषवेगत एव पाण्डु- ।
लालास्रुतिं सुबहुलामपि तत्तृतीये ॥ ९८ ॥

मन्यास्थिरत्वशिरसोतिरुजां चतुर्थे ।
वाक्संगमाशु कुरुतेऽधिकपंचमेऽस्मिन् ॥

वेगे विषं गलनिपातमपीह षष्ठे ।
प्राणक्षयं बहुकफादपि सप्तमे तत् ॥ ९९ ॥

भावार्थः—राजीमंत सर्प के काटने पर उत्पन्न विषके प्रथमवेग में रक्त दूषित होकर वह लाल पिलपिले के समान हो जाता है । द्वितीयवेग में मांसको दूषित करता है और अत्यंत सफेद हो जाता है । तृतीयविषवेग में लार अधिक रूप से बहने लगती है। चतुर्थवेग में मन्यास्तम्भ व शिर में अत्यधिक पीडा होती है। पंचमवेग में वचन बंद [बोलती बंद] हो जाता है । छठे वेग में उसका कंठ रुक जाता है । सातवें वेग में अत्यधिक कफ बढनेसे प्राणक्षय हो जाता है ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

दंशमें विष रहनेका काल व सप्तवेगकारण.

पंचाशदुत्तरचतुश्शतसंख्ययात्तमात्रास्थितं विषमिहोग्रतयात्मदंशे ।
धात्वंतरेष्वपि तथैव मरुद्विनीतं वेगांतराणि कुरुते स्वयमेव सप्त ॥१००॥

भावार्थः—विष अपने दंश [दंशस्थान—काटा हुआ जगह] में (ज्यादा से ज्यादा) चारसौ पचास ४५० मात्रा[1] कालतक रहता है । शरीरगत रस रक्त आदि धातुओं को भेदन करते हुए, वायुकी सहायतासे जब वह विष एक धातुसे दूसरे धातु तक पहुंचता है तब एक वेग होता है । इसीतरह[2] सात धातुओं में पहुंचने के कारण सात ही वेग होते हैं [आठ या छह नहीं] ॥ १०० ॥

शस्त्राशनिप्रतिममारकगुणोपपन्नं ।
वेगांतरेष्वनुपसंहृतमौषधाद्यैः ॥
शीघ्रेव नाशयति विश्वजनं विषं तत् ।
तस्माद्ब्रवीम्यगदतंत्रमथात्मशक्त्या ॥ १०१ ॥

भावार्थः—सर्पों के विष भी शस्त्र व बिजली के सदृश शीघ्र मारक गुण से संयुक्त है । ऐसे विष को उस के वेगों के मध्य २ में ही यदि औषधि मंत्र आदि से शीघ्र दूर नहीं किया जावें अथवा शरीर से नहीं निकाला जावें तो वह प्राणियों को शीघ्र मार डालता है । इसलिये अपनी शक्तिके अनुसार (इस विष के निवारणार्थ) अगदतंत्र (विष नाशक उपाय) का वर्णन करेंगे ॥ १०१ ॥

---

१ हाथ को घुटने के ऊपर से एकवार गोल घुमाकर एक चुटकी मारने तक जो समय लगता है उसे एक मात्रा काल कहते हैं ।

२ जैसे विष जब रस धातुमें पहुंचता है तब प्रथमवेग, रस से रक्त को पहुंचाता है तो दूसरे वेग होता है इत्यादि ।

सर्पदष्टचिकित्सा.

सर्वैस्सर्पैरेव दष्टस्य शाखामूर्ध्वं बध्वा चांगुलीनां चतुष्के ।
उत्कृत्यासृन्मोक्षयेद्दंशतोन्यत्रोत्कृत्याग्नौ संदहेच्चूषयेद्वा ॥ १०२ ॥

भावार्थः—सर्व प्रकार के सर्पो में से कोई भी सर्प हाथ या पांव में काटा हो तो उस काटे हुए जगह से चार अंगुल के ऊपर [कपडा, डोरी, वृक्ष के छाल आदि जो वखत में मिल जाय उन से] कसकर बांधे लेना चाहिये । पश्चात् काटे हुए जगह को किसी शस्त्र से उखेर कर (मांस को उखाड कर) रक्त निकालना चाहिये [जिस से वह विष रक्त के साथ निकल जाता है] । यदि (हाथ पैर को छोड कर) किसी स्थान में अन्यत्र काटा हो, जहां बांध नहीं सकें वहां उखेर कर अग्निसे जला देवें अथवा मुख में मिट्टी आदि भर कर उस विष को चूस के निकाल देवें ॥ १०२ ॥

सर्पविषमें मंत्रकी प्रधानता.

मंत्रैस्सर्वं निर्विषं स्याद्विषं तद्यद्वत्तद्भेषजैर्नैव साध्यम् ।
शीघ्रं मंत्रैर्जीवरक्षां विधाय प्राज्ञः पश्चाद्योजयेद्भेषजानि ॥ १०३ ॥

भावार्थः— जो विष औषधियों से साध्य नहीं होता है (नहीं उतरता है) ऐसे भी सर्व प्रकार के विष मंत्रों से साध्य होते हैं । इसलिये शीघ्र मंत्रों के प्रयोग से पहिले जीवरक्षा कर तदनंतर बुद्धिमान् वैद्य औषधियोजना करें ॥ १०३ ॥

विषापकर्षणार्थ रक्तमोक्षण.

दंशादूर्ध्वाधस्समस्ताः शिरास्ता विद्वानस्त्राद्बंधनाद्रक्तमोक्षम् ।
कुर्यात्सर्वांगाश्रितोग्रे विषेऽस्मिन् तद्वद्धीमान् पंचपंचांगसंस्थाः ॥ १०४॥

भावार्थः—जहां सर्पने काटा हो उस के नीचे व ऊपर [आसपास में] जितने शिरायें हैं उन में किसी एक को अच्छीतरह बांधकर एवं अस्त्रसे छेद कर रक्तमोक्षण करना चाहिये । (अर्थात् फस्त खोलना चाहिये ।) यदि वह विष सर्वांगमें व्याप्त हो तो पंचांग में रहनेवाली अर्थात् हाथ पैर के अग्रभाग में रहनेवाली या ललाट प्रदेश में रहनेवाली शिराओं में से किसी को व्यध कर रक्तमोक्षण करें ॥ १०४ ॥

---

१ इस प्रकार बांधनेसे रक्तवाहिनियां संकुचित होकर नीचे का रक्त नीचे, ऊपर का ऊपर ही रह जाता है, जिससे विष सर्व शरीर में नहीं फैल पाता है, क्यों कि रक्तके द्वारा ही विष फैलता है ।

२ दो हाथ, दो पैर, एक शिर, इन्हे पंचांग कहते हैं ।

रक्तमोक्षण का फल.

दुष्टे रक्ते निहृते तद्विषाख्यं शीघ्रं सर्वं निर्विषत्वं प्रयाति ।
पश्चाच्छीतांभोभिषिक्तो विषार्तो दध्याज्यक्षीरैः पिबेदौषधानि ॥१०५॥

भावार्थः—दुष्टरक्त को निकालने पर वह सम्पूर्ण विष शीघ्र दूर होजाता है। तदनंतर उस सर्पविषदूषित को ठण्डे पानी से स्नान कराना चाहिये । बाद में दही, घी व दूध के साथ औषधियोंको पिलावें ॥ १०५ ॥

दर्वीकर सर्पोके सप्तवेगों में पृथक् २ चिकित्सा.

शस्त्रं प्राक् दर्वीकराणां तु वेगे रक्तस्रावस्तद्वितीयेऽगदानाम् ।
पानं नस्यं तत्तृतीयेंऽजनं स्यात् सम्यग्वाम्यस्तच्चतुर्थेऽगदोपि ॥ १०६ ॥

प्रोक्ते वेगे पंचमे वापि षष्ठे शीतैस्तोयैर्ध्वस्तगात्रं विषार्तम् ।
शीतद्रव्यालेपनैः संविलिप्तम् तीक्ष्णैरूर्ध्वं शोधयेत्तं च धीमान् ॥ १०७ ॥

वेगेप्यस्मिन्सप्तमे चापि धीमान् तीक्ष्णं नस्यं चांजनं चोपयुज्य ।
कुर्यान्मूर्ध्नाशुक्षतं काकपादाकारं सांद्रं चर्म तत्र प्रदध्यात् ॥ १०८ ॥

भावार्थः—दर्वीकर सर्पों के प्रथमवेग में शस्त्रप्रयोग कर रक्त निकालना चाहिये । द्वितीयवेग में अगदपान कराना चाहिये । तृतीय वेग में विषनाश, नस्य व अंजन का प्रयोग करना चाहिये । चतुर्थवेग में अच्छीतरह वमन कराना चाहिये । पूर्व कथित पंचम व षष्ठ वेग में शीतल जलसे स्नान [वा धारा छोडना] व शीतल औषधियों का लेप कर के बुद्धिमान् वैद्य तीक्ष्ण ऊर्ध्वशोधन (वमन) करावें । सातवें वेग में तीक्ष्ण नस्य व अंजन प्रयोग कर मस्तक के मध्यभाग में कौवे के पैर के आकार के शस्त्र से क्षत (जखम) कर के मोठे चर्म को उस के ऊपर रख देवें ॥ १०६ ॥ ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

मंडली व राजीमंतसर्पों के सप्तवेगोंकी पृथक् २ चिकित्सा.

प्राग्वेगेऽस्मिन् मण्डलैर्मण्डितानां अस्त्राण्येवं नातिगाढं विदध्यात् ।
सर्पिर्मिश्रं पाययित्वागदं तं शीघ्रं सम्यग्वामयेत्तद्वितीये ॥ १०९ ॥

तद्वद्वाम्यस्तत्तृतीये तु वेगे शेषेष्वन्यत्पूर्ववत्सर्वमेव ।
राजीमद्भिर्दष्टवेगेऽपि पूर्वे सम्यक्शस्त्रेणातिगाढं विदार्य ॥११०॥

सांतर्दीपालाबुना तत्र दुष्टं रक्तं संशोध्यं भवेन्निर्विषार्थम् ।
छर्दिं कृत्वा तद्द्वितीयेऽगदं वा तत्सिद्धं वा पाययेत्सद्यवागूम् ॥ १११ ॥

शेषान् वेगानाशु दर्वीकराणां वेगेषूक्तैरौषधैस्साधयेत्तान् ।
ऊर्ध्वाधस्संशोधनैस्तीव्रनस्यैः साक्षात्तीक्ष्णैरंजनाद्यैरशेषैः ॥ ११२ ॥

भावार्थः—मंडली सर्प के दंश से उत्पन्न विष के प्रथमवेग में अधिक गहरा शस्त्र का प्रयोग न करते हुए साधारणरूप से छेद कर रक्तमोक्षण करना चाहिये । द्वितीयवेग में घृतमिश्रित अगद पिलाकर पश्चात् शीघ्र ही वमन कराना चाहिये । तीसरे वेग में भी उसी प्रकार वमन कराना चाहिये । बाकी के चतुर्थ पंचम षष्ठ व सप्तम वेग में दर्वीकर सर्प के वेगों में कथित सर्वचिकित्सा करनी चाहिये । राजीमंत सर्प के विष के प्रथमवेग में शस्त्र द्वारा अधिक गहरा दंश को विदारण (चीर) कर जिस के अंदर दीपक रखा हो ऐसी तुम्बी से विषदूषित रक्त को निकालना चाहिये जिससे वह निर्विष हो जाय । द्वितीयवेग में वमन कराकर अगदपान करावें अथवा उस अगद से सिद्ध श्रेष्ठ यवागू पिलावें । इस के बाकी के तृतीय आदि वेगों में दर्वीकर सर्पके विष के उन वेगोमें कथित औषध, वमन, विरेचन, तीव्रनस्य व तीक्ष्णअंजनप्रयोग आदि सम्पूर्ण चिकित्साविधि द्वारा चिकित्सा कर इस विष को जीतें ॥ १०९ ॥ ११० ॥ १११ ॥ ११२ ॥

दिग्धविद्धलक्षण.

कृष्णास्रावं कृष्णवर्णं क्षतं यद् दाहोपेतं पूतिमांसं विशीर्णं ।
जानीयात्तद्दिग्धविद्धं शराद्यैः क्रूरैर्दत्तं यद्विषं सव्रणेस्मिन् (?) ॥ ११३ ॥

भावार्थः—[शरादिक से वेधन करते ही] जब घावसे कृष्णरक्त का स्राव होता हैं, घाव भी कृष्णवर्ण का है, दाहसहित है, दुर्गंध युक्त मांस टुकडे २ होकर गिरते हैं, ऐसे लक्षणोंके पाये जानेपर समझना चाहिये कि यह दिग्धविद्ध [विषयुक्त शस्त्र से उत्पन्न] व्रण है ॥ ११३ ॥

विषयुक्तव्रणलक्षण.

कृष्णोपेतं मूर्छया चाभिभूतं मर्त्यं संतापज्वरोत्पीडितांगम् ।
तं दृष्ट्वा विद्याद्विषं तत्र दत्तं कृष्णं मांसं शीर्यते यद्व्रणेऽस्मिन् ॥ ११४ ॥

भावार्थः—जो व्रणपीडित मनुष्य काला होगया हो, मूर्छासे संयुक्त हो संताप व ज्वर से पीडित हो, जिस व्रण से काला मांस टुकडा होकर गिरता जाता हो

तो समझना चाहिये उस व्रण में किसीने विष का प्रयोग किया है। अर्थात् विषयुक्त व्रण के ये लक्षण हैं ॥ ११४ ॥

विषसंयुक्तव्रणचिकित्सा.

उत्क्लिन्नं तत्पूतिमांसं व्यपोह्य रक्तं संस्राव्यं जलूकाप्रपातैः ।
शोध्यश्चायं स्याद्विषाढ्यव्रणार्तः शीतक्वाथैः क्षीरिणां सेचयेत्तम् ॥११५॥

शीतद्रव्यैस्सद्विषघ्नैस्सुपिष्टैर्वस्त्रं सांतर्दाय दिह्याद्व्रणं तत् ।
कुर्यादेवं कंटकोत्तीक्ष्णतो वा पित्तोद्भूते चापि साक्षाद्विषेऽस्मिन् ॥११६॥

भावार्थः—विषयुक्त व्रणके क्लेदयुक्त [सडा हुआ] व दुर्गंधसंयुक्त मांस को अलग कर, उस में जौंक लगाकर दुष्टरक्त को निकालना चाहिये। एवं विषले व्रणपीडित मनुष्य का शोधन कर के उसे शीतऔषधोंसे सिद्ध या क्षीरीवृक्षोंसे साधित काढे से सेचन करना चाहिये ॥ ११५ ॥

विषनाशक शीतद्रव्योंको [उन्हीं के कषाय व रस से] अच्छी तरह पीस कर उस पिष्ठीको वस्त्रके साथ व्रणपर लेप करना चाहिये अर्थात् लेप लगाकर वस्त्र बांधे अथवा कपडेमें लगाकर उसे बांधे। तीक्ष्ण कंटकसे उत्पन्न व्रण व जिसमें पित्त की प्रबलता हो ऐसे विष में भी उसी प्रकार की [उपरोक्त] चिकित्सा करें ॥ ११६ ॥

सर्पविषारिअगद.

मंजिष्ठामधुकात्रिवृत्सुरतरुद्राक्षाहरिद्राद्वयं ।
भार्ङ्गीव्योषविडंगहिंगुलवणैःसर्वं समं चूर्णितम् ॥
आज्येनालुलितं विषाणनिहितं नस्यांजनालेपनै-।
र्हन्यात्सर्वविषाणि सर्परिपुवत्स्येषोऽगदःप्रस्तुतः ॥ ११७ ॥

भावार्थः—मजीठ, मुलैठी, निसोत, देवदारु, द्राक्षा, भारंगी, दारुहलदी, त्रिकटु, (सोंठ,मिर्च,पीपल) वायविडंग, हिंगु, सेंधालोण, इन सबको समभागमें लेकर चूर्ण करें। तदनंतर उस चूर्ण को घृत के साथ अच्छी तरह मिलावें, फिर किसी सींग में रखें। इस का उपयोग नस्य, अंजन व लेपन में किया जाय तो सर्व सर्पविषका नाश होता है ॥ ११७ ॥

सर्वविषारि अगद.

पाठाहिंगुफलत्रयं त्रिकटुकं वक्राजमोदाग्निकं ।
सिंधूत्थं सविडं विडंगसहितं सौवर्चलं चूर्णितम् ॥
सर्वं गव्यघृतेन मिश्रितमिदं श्रृंगे निधाय स्थितं ।
सर्वाण्येव विषाणि नाशयति तत् सर्वात्मना योजितम् ॥ ११८ ॥

भावार्थः—पाढ, हींग, त्रिफला, त्रिकुटु, पित्त पापडा, अजवाईन, चित्रक, सेंधालोण, विडनमक, वायाविडंग व कालानोन इन सब को अच्छीतरह चूर्ण कर गाय के घृतके साथ मिलावें एवं सींग में रखें। तदनंतर इसका उपयोग नस्य, अंजन, लेपन आदि सर्व कार्यों में करने से सर्वप्रकार के विष नाश को प्राप्त होते हैं ॥ ११८ ॥

द्वितीय सर्वविषारि अगद.

स्थौणेयं सुरदारुचंदनयुगं शिग्रुद्वयं गुग्गुलुं ।
तालीसं सकुटं नरं कुटजमुग्राकाग्निसौवर्चलं ॥
कुष्ठं सत्कटुरोहिणीत्रिकटुकं संचूर्ण्य संस्थापितम् ।
गोश्रृंगे समपंचगव्यसहितं सर्वं विषं साधयेत् ॥ ११९ ॥

भावार्थः—थुनियार, देवदारु, रक्तचंदन, श्वेतचंदन, लाल सेंजिन, सफेद सेंजन, गुग्गुल, तालीस पत्र, आलुवृक्ष, कुडा, अजवायन, अकौवा, चित्रक, कालानोन, कूठ, कुटकी, त्रिकटुक, इन सब को अच्छीतरह चूर्ण कर पंचगव्यके साथ मिलाकर गाय के सींग में रखें। फिर इसका उपयोग करने पर सर्व प्रकार के विष दूर होते हैं ॥११९

तृतीयसर्वविषारि अगद.

तालीसं बहुलं विडंगसहितं कुष्ठं विडं सैंधवं ।
भार्ङ्गीं हिंगुमृगादनीसकिणिहिं पाठां पटोलां वचां ॥
पुष्पाण्यर्ककरंजवज्रसुरसा भल्लातकांकोलजा-।
न्याचूर्ण्याजपयोघृतांबुसहितान्येतद्वरं निग्रहेत् ॥ १२० ॥

भावार्थः—तालीस पत्र, बडी इलायची, वायविडंग, कूठ, विडनोन, सेंधालोण, भारंगी, हींग, इंद्रायण, चिरचिरा, पाढ, पटोलपत्र, बचा, अर्कपुष्प, भिलावेका फूल, एवं अंकोलपुष्प इन सब को अच्छी तरह चूर्ण कर बकरी के दूध, घृत व मूत्र के साथ मिलाकर पूर्वोक्त प्रकार से उपयोग करें तो यह विष को नाश करता है ॥ १२० ॥

संजीवन अगद.

मंजिष्ठामधुशिग्रुशिग्रुरजनीलाक्षाशिलालेंगुदी ।
पृथ्वीकांसहरेणुकां समधृतां संचूर्ण्य सम्मिश्रितम् ॥
सर्वैर्मूत्रगणैस्समस्तलवणैरालोड्य संस्थापितं ।
श्रृंगे तन्मृतमप्यलं नरवरं संजीवनो जीवयेत् ॥ १२१ ॥

भावार्थः—मजीठ, मुलैठी, लाल सेंजिन, सफेद सेंजिन, हल्दी, लाख, मैनसिल हरताल, इंगुल, इलायची, रेणुका इन सब औषधियोंको समभागमें लेकर अच्छी तरह चूर्ण करें। उस चूर्ण में आठ प्रकार के मूत्र व पांच प्रकार के लवण को मिलाकर अच्छी तरह आलोडन [मिलाना] कर श्रृंग में रखें। यदि इसका उपयोग करें तो बिलकुल मरणोन्मुखसा हुआ मनुष्य को भी जिलाता है। इसलिये इस का नाम संजीवन अगद है ॥ १२१ ॥

श्वेतादि अगद.

श्वेतां बृधरकर्णिकां सकिणिहीं श्लेष्मातकं कट्फलं ।
व्याघ्रीमेघनिनादिकां बृहतिकामंकोलनीलीमपि ॥
तिक्तालाबुसचालिनीफलरसेनालोड्य श्रृंग स्थितं ।
यस्मिन्वेश्मनि तत्र नैव फणिनः कीटाः कुतो वा ग्रहाः ॥ १२२ ॥

भावार्थः—अपराजिता, बृधरकर्णिका, चिरचिरा, लिसोडा, कायफल, छोटी कटेहरी, पलाश, बडी कटेहरी, अंकोल, नील, इनको चूर्ण कर के कडवी तुम्बी व चालिनी के फल के रस में अच्छी तरह मिलाकर सींग में रखें। जिस घर में यह औषधि रहे, वहां सर्प कीट आदि विषजंतु कभी प्रवेश नहीं करते हैं। यहां तक कि कोई भी ग्रह भी प्रवेश नहीं कर पाते हैं ॥ १२२ ॥

मंडलिविषनाशक अगद.

प्रोक्ता वातकफोत्थिताखिलविषप्रध्वंसिनः सर्वथा ।
योगाः पित्तसमुद्भवेष्वपि विषेष्वत्यंतशीतान्विताः ॥
वक्ष्यंतेऽपि सुगंधिकायवफलद्राक्षालवंगत्वचः ।
श्यामासोमरसादवाकुरवका बिल्वाम्लिका दाडिमाः ॥ १२३ ॥
श्वेताश्मंतकतालपत्रमधुकं सरकुंडलीचंदनं ।
कुंदेंदीवरसिंधुवारककपित्थेंद्राह्वपुष्पीयुतां ॥

क. पुस्तके पाठोऽयं नोपलभ्यते ।

सर्वक्षीरघृतप्लुताः समसिताः सर्वात्मना योजिताः ।
क्षिप्रं ते शमयंति मण्डलविषं कर्मेव धर्मा दश ॥ १२४ ॥

भावार्थः—इस प्रकार वात व कफोद्रेक करनेवाले समस्त विषों को नाश करने में सर्वथा समर्थ अनेक योग कहे गये हैं। अब पित्तोद्रेक करनेवाले विषों के नाशक शीतगुणवीर्ययुक्त औषधियों के योग कहेंगे। सफेद सारिवा, जटामांसी, मुनक्का, लवंग दालचीनी, श्यामलता, [कालीसर] सोमलता, शल्लकी (शालईवृक्ष) दवा, लाल कटसरैया बेलफल, तिंतिडीक, अनार, अपराजिता, लिसोडा, मेथी, मुलैठी, गिलोय, चंदन, कुंदपुष्प, नलिकमल, संभालू, कैथ, कलिहारी, इन सब को चूर्ण कर सर्वप्रकार (आठ प्रकार) के दूध व घी में भिगो के रखें। उस में सब औषधियों के बराबर शक्कर मिला कर उपयोग में लावें तो मंडलिसर्पोंके विष शीघ्र ही शमन होते हैं जिस प्रकार कि उत्तमक्षमा आदि दश धर्मों के धारण से कर्मों का उपशम होता है ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

वाद्यादिसे निर्विषीकरण.

प्रोक्तैः ख्यातप्रयोगैरसदृशविषवेगप्रणाशैरकार्यै-।
र्लिप्तान् वंशशंखप्रकटपटहभेरीमृदंगान् स्वनाद्यैः ॥
कुर्युस्ते निर्विषत्वं विषयुतमनुजानामृतानाशु दिग्धान् ।
दृष्ट्वास्यं तारणान्यप्यनुदिन (?) मचिरस्पर्शनात्स्तंभवृक्षाः ॥१२५॥

भावार्थः—भयंकर से भयंकर विषों को नाश करने में सर्वथा समर्थ, जो ऊपर औषधों के योग कहे गये हैं, उनको बांसुरी, शंख, पटह, भेरी, मृदंग आदि वाद्य विशेषों पर लेपन कर के उन के शब्द से विषपीडित मनुष्यों के जो कि मृतप्रायः हो चुके हैं, विष को दूर करें अर्थात् निर्विष करें ॥ १२५ ॥

सर्पके काटे विना विषकी अप्रवृत्ति.

सर्पाणामंगसंस्थं विषमधिकुरुते शीघ्रमागम्य दंष्ट्रा-।
ग्रेषु व्याप्तस्थितं स्यात् सुजनमिव सुखस्पर्शतःशुक्रवद्वा ॥

---

१ जब तमाम वायुमंडल विषदूषित हो जाता है इसी कारण से तमाम मनुष्य विषग्रसित होकर अत्यंत दुःख से संयुक्त हैं और प्रत्येक मनुष्य के पास जाकर औषध प्रयोग करने के लिये शक्य नहीं है, ऐसी हालत में दिव्य विषनाशक प्रयोगोंको भेरी आदि वाद्यों में लेपकर जोर से बजाना चाहिये। तब उन वाद्यों के शब्द जहां तक सुनाई देता है तहां तक के सर्व विष एकदम दूर हो जाते हैं।

तेषां दंष्ट्रा यतस्तावडिशवदतिवक्रास्ततस्ते भुजंगाः ।
मुंचत्युध्दृत्य ताभ्यो विषमतिविषमं विश्वदोषप्रकोपम् ॥१२६॥

भावार्थः—जिस प्रकार प्रियतमा के दर्शन स्पर्शनादिक से अथवा जिस के स्पर्श से सुख मालूम होता हो ऐसे पदार्थों के स्पर्श से, सर्वांग में व्याप्त होकर रहनेवाला शुक्र, शुक्रवाहिनी शिराओं को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार सर्प के सर्वांग में संस्थित विष, क्रोधायमान होने के समय शरीर से शीघ्र आकर डाढों के अग्रभाग को प्राप्त हो जाता है। उन सर्पों के डाढ वडिश अर्थात् मछली पकडने के कांटे के समान अत्यंत वक्र होते हैं। इसलिये वे सर्प उन डाढोंसे काटकर समस्तदोषप्रकोपक व अत्यंत विषम विषको, उस घाव में छोडते हैं अर्थात् काटे विना सर्प विष नहीं छोडते हैं ॥ १२६ ॥

विषगुण.

अत्युष्णं तीक्ष्णमुक्तं विषमतिविषतंत्रप्रवीणैः समस्तं ।
तस्माच्छीतांबुभिस्तं विषयुतमनुजं सेचयेच्चाद्विदित्वा ॥
कीटानां शीतमेतत्कफवमनकृतं चाग्निसंस्वेदधूपै- ।
रुष्णालेपोपनाहैरधिकविषहरैःसाधयेदाशु धीमान् ॥ १२७ ॥

भावार्थः—विष अत्यंत उष्ण एवं तीक्ष्ण है ऐसा विषतंत्रमें प्रवीण योगियोंने कहा है। इसलिये इन विषों से पीडित मनुष्य को ठण्डे पानीसे स्नान कराना आदि शीतोपचार करना हितकर है। कीटोंका विष शीत रहता है। इसलिये वह कफवृद्धि व वमन करनेवाला है। उस में अग्निस्वेद, धूप, लेप, उपनाह आदि विषहरप्रयोगों से शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १२७ ॥

विषपीतलक्षण.

मांसार्द्रं तालकाभं सृजति मलमिहाध्माननिष्पीडितांगः ।
फेनं वक्त्रादजस्रं न दहति हृदयं चाग्निरप्यातुरस्य ॥
तं दृष्ट्वा तेन पीतं विषमतिविषमं ज्ञेयमेभिः स्वरूपै- ।
र्दष्टस्यासाध्यतां तां पृथगथ कथयाम्यर्जितासोपदेशात् ॥ १२८ ॥

भावार्थः—जो आध्मान (पेट का फूलना) से युक्त होते हुए, कच्चा मांस व हरताल के सदृश वर्णवाले मल को बार २ विसर्जन करता है, मुंह से हमेशा फेन [झाग] टपकता है, उसके (मरे हुए रोगी के) हृदय को अग्नि भी ठीक २ जला नहीं पाता है[1]

१ क्यों कि अंत समय में विषसर्वांग से आकर हृदय में स्थित हो जाता है।

इन लक्षणों से समझना चाहिये कि उस रोगीने अत्यंत विषम विषको पीया है। अब आप्तोपदेश के अनुसार सर्प के काटे हुए रोगीके पृथक् २ असाध्य लक्षणों को कहेंगे ॥ १२८ ॥

सर्पदष्टके असाध्यलक्षण.

वल्मीकप्रदेशायतनपितृवनक्षीरवृक्षेषु संध्या-।
काले सच्चत्वरेषु प्रकटकुलिकवेलासु तद्दारुणोग्र- ॥
ख्यातेष्वर्क्षेषु दष्टा श्वयथुरपि सुकृष्णातिरक्तश्च दंशे।
दंष्ट्राणां वापदानि स्वासितरुधिरयुक्तानि चत्वारि यस्मिन् ॥१२९॥
क्षुत्तृड्पीडाभिभूताः स्थविरतरनराः क्षीणगात्राश्च बालाः।
पित्तात्यंतातपाग्निप्रहततनुयुता येऽत्यजीर्णामयार्ताः ॥
येषां नासावसादो मुखमतिकुटिलं संधिभंगाश्च तीव्रो।
वाक्संगोऽतिस्थिरत्वं हनुगतमपि तान् वर्जयेत्सर्पदष्टान् ॥ १३० ॥

भावार्थः—वामी, देवस्थान, स्मशान, क्षीरवृक्षों [पीपल वड आदि] के नीचे, इन स्थानों में, संध्या के समय में, चौराहे में (अथवा यज्ञार्थ संस्कृतभूप्रदेश) कुलिकोदयकाल में, दारुण व खराब ऐसे प्रसिद्ध भरणी, मघा आदि नक्षत्रों के उदय में, जिन्हें सर्प काटा हो जिन के दंश (कटा हुए जगह) में काला व अत्यंत लाल सूजन हो, जिनके दंश में कुछ सफेद व रुधिरयुक्त चीर दंष्ट्रपद [दांत गढे के चिन्ह] हो, भूख प्यास की पीडा से संयुक्त, अधिक वृद्ध, क्षीणशरीवाले व बालक इन को काटा हो, जिनके शरीर में पित्त व उष्णताकी अत्यंत अधिकता हो, जो अजीर्ण रोगसे पीडित हों, जिनके नाक मुडगया हो, मुख टेढा होगया हो, संधिबंधन [हड्डियों के जोड] एकदम शिथिल होगया हो, रुक् रुक् कर बोलता हो, जावडा स्थिर होगया हो [हिले नहीं] ऐसे सर्प से काटे हुए मनुष्यों को असाध्य समझ कर छोड देवें ॥ १३० ॥

सर्पदष्ट के असाध्यलक्षण.

राज्यो नैवाहतेषु प्रकटतरलताभिः क्षतेनैव रक्तं।
शीतांभोभिर्निषिक्ते न भवति सततं रोमहर्षो नरस्य ॥
वर्तिर्वक्त्रादजस्रं प्रसरति कफजा रक्तमूर्ध्वं तथाधः ॥
सुप्तिर्मुक्तं विदार्य प्रविदितविधिना वर्जयेत् सर्पदष्टान् ॥ १३१ ॥

भावार्थः—लता (कोडा, बेंत आदि) आदि से मारने पर जिनके शरीर में रेखा (मार का निशान) प्रकट न हो और शस्त्र आदि से जखम करने पर उस से

रक्त नहीं निकलें, ठंडे पानी (शरीरपर) छिडकने पर भी रोमांच [रोंगटे खडे] न हो, कफ से उत्पन्न बत्ती मुंह से हमेशा निकलें, ऊपर [मुंह नाक, कान आदि] व नीचे (गुदा शिश्न) के मार्गसे रक्त निकलता रहे, और निद्रा का नाश हो, ऐसे सर्पदष्ट रोगी को एक दफे विविधप्रकार विदारण करके पश्चात् छोड देवें अर्थात् चिकित्सा न करें ॥ १३१ ॥

अस्मादूर्ध्वं द्विपादप्रबलतरचतुःपादषट्पादपाद— ।
व्याकीर्णापादकीटप्रभवबहुविषध्वंसनार्थौषधानि ॥
दोषत्रैविध्यमार्गप्रविदितविधिनासाध्यसाध्यक्रमेण ।
प्रव्यक्तं प्रोक्तमेतत्पुरुजिनमतमाश्रित्य वक्ष्यामि साक्षात् ॥ १३२ ॥

भावार्थः—अब यहां से आगे द्विपाद, चतुष्पाद, पट्पाद व अनेक पाद [पैर] वाले प्राणि व कीटों से उत्पन्न अनेक प्रकार के विषों को नाश करने के लिये तीन दोषों के अनुसार योग्य औषध का प्रतिपादन भगवान् आदिनाथ के मतानुसार आचार्योंने स्पष्टरूप से किया है उसी के अनुसार हम (उग्रादित्याचार्य) भी वर्णन करेंगे ॥ १३२ ॥

मर्त्याश्च श्वापदानां दशननखमुखैर्दारितोग्रक्षतेषु ।
प्रोद्यत्तृष्णासृगुद्यच्छ्वयथुयुतमहावेदनाव्याकुलेषु ॥
वातश्लेष्मोत्थतीव्रप्रबलविषयुतेषूद्धतोन्मादयुक्तान् ।
मर्त्यानन्यानथान्ये परुषतररुषामानुषांस्ते दशंति ॥ १३३ ॥

भावार्थः—जिन मनुष्यों को किसी जंगली क्रूर जानवरने काट खाया या नख-प्रहार किया जिस से बडे भारी घाव होगया हो, जिसे तृष्णा का उद्रेक, तीव्र रक्तस्राव, शोफ आदिक महापीडायें होती हो, वात व कफ से उत्पन्न तीव्र विषवेदना हो रही हो ऐसे मनुष्य दूसरे उन्माद से युक्त मनुष्योंको बहुत भयंकर क्रोध के साथ काट खाते हैं ॥ १३३ ॥

हिंसकप्राणिजन्य विषका असाध्यलक्षण.

व्यालैर्दष्टाःकदाचित्तदनुगुणयुताश्चारुचेष्टा यदि स्युः ।
तानेवादर्शदीपातपजलगतबिंबान्प्रपश्यंति ये च ॥
शब्दस्पर्शावलोकादधिकतरजलत्रासतो निश्वसंति ।
प्रस्पष्टादष्टदेहानपि परिहरतां दृष्टरिष्टान्विशिष्टान् ॥ १३४ ॥

भावार्थः—हिंसक प्राणियोंसे काटे हुए मनुष्यों की चेष्टा काटे हुए प्राणि के समान यदि होवें, दर्पण, दीप, धूप व जल में उन्ही का रूप देखें अर्थात् दंष्ट्र प्राणियों के रूप दीखने लग जावें, एवं जलत्रास रोग से पीडित होवें तो समझना चाहिये कि उन के ये अरिष्ट लक्षण हैं। इसलिये उन की चिकित्सा न करें। यदि किसी को किसी भी प्राणिने नहीं भी काटा हो, लेकिन् जलत्रास से पीडित हो तो भी वह अरिष्ट समझना चाहिये। जल के शब्द स्पर्श दर्शन आदिक से जो डरने लगे उसे जलत्रास रोग जानना चाहिये ॥ १३४ ॥

मूषिकाविषलक्षण.

> शुक्रोग्रा मूषिकाख्या प्रकटबहुविधा यत्र तेषां तु शुक्रां ।
> स्पृष्टैर्दंतैर्नखैर्वाप्युपहतमनुजानां क्षते दुष्टरक्तम् ॥
> कुर्यादुत्कर्णिकातिश्वयथुपिटकिकामण्डलग्रंथिमूर्च्छा ।
> तृष्णा तीव्रज्वरादीन् त्रिविधविषमदोषोद्भवान्वेदनाढ्यान् ॥१३५॥

भावार्थः—मूषिकाशुक्र[1] में उग्र विष रहता है अर्थात् मूषिक शुक्रविषवाले हैं। ऐसे मूषिकों के बहुभेद हैं। जहां इन के शुक्र गिरे, शुक्रसंयुक्त पदार्थ का स्पर्श होवें, दांत नख के प्रहारसे क्षत होवें तो उस स्थान का रक्त दूषित होकर उसी स्थान में कर्णिका[2] [किनारे दार चिन्ह] भयंकर सूजन, फुन्सी, मंडल [चकत्ते] ग्रंथि [गांठ] एवं मूर्च्छा, अधिक प्यास, तीव्रज्वर आदि तीनों विषमदोषों से उत्पन्न होनेवाली वेदनाओं को उत्पन्न करता है ॥ १३५ ॥

मूषिकविषचिकित्सा.

> ये दष्टामूषकाख्यैर्नृपतरुमदनांकोलकोशातकीभिः ।
> सम्यग्वाम्या विरेच्या अपि बहुनिजदोषक्रमात्कुष्ठनीली ॥
> व्याघ्रीश्वेतापुनर्भूस्त्रिकटुकबृहतीसिंधुवारार्कचूर्णं ।
> पेयं स्यात्तैःशिरीषांबुदरवकिणिही किंशुकक्षारतोयैः ॥ १३६ ॥

---

१ इस से यह नहीं समझना चाहिये कि मूषिकों के शुक्र को छोडकर किसी भी अन्य अवयव में विष नहीं रहता है। क्यों कि आचार्यने स्वयं " दंतैर्नखैः " इन शब्दों से व्यक्त किया है कि नख दंतादिक में भी विष रहता है। तंत्रांतर में भी लिखा है—

शुक्रेणाथ पुरीषेण मूत्रेण च नखैस्तथा। दंष्ट्राभिर्वा मूषिकाणां विषं पंचविधं स्मृतं॥

इस से यह तात्पर्य निकला कि मूषिकों के शुक्र में, अन्य अवयवों की अपेक्षा विष की प्रधानता है।

२ कर्णिका—कमलमध्यबीजकोशाकृति ।

भावार्थः—जिनको मूषिकने काटा है उन को दोषों के उद्रेक को देख कर अमलतास, मैनफल, अंकोल, कडवी तोरई, इन औषधियोंसे अच्छीतरह वमन व विरेचन कराना चाहिये। पश्चात् कूठ, नीली, छोटी कटेहरी, सफेद पुनर्नवा, (सभालू) त्रिकटुक, बडी कटेली, निर्गुण्डी, अकौवा इन के चूर्ण को शिरीष, मेथा, रव, चिरचिरा, किंशुक (पलाश) इन के क्षारजल के साथ मिलाकर पिलाना चाहिये ॥ १३६ ॥

मूषिकविषघ्नघृत.

प्रत्येकं प्रस्थभागैःदधिघृतपयसां क्राथभागैश्चतुर्भिः।
वज्रार्कालर्कगोजीनृपतरुकुटजव्याघ्रिकानक्तमालैः ॥
कल्कैः कापित्थनीलीत्रिकटुकरजनीरोहिणीनां समांशैः।
पक्वं सर्पिर्विषघ्नं शमयति सहसा मूषकाणां विषं च ॥ १३७ ॥

भावार्थः—एक प्रस्थ (६४ तोले) दही, एक प्रस्थ दूध, सेहुंड, अकौवा, सफेद आक, गोजिव्हा, अमलतास, कूडा, कटैली, करंज इन औषधियों से सिद्ध काथ चार भाग अर्थात् चार प्रस्थ, कैथ, नील, सोंठ, मिरच, पीपल, हलदी, कुटकी इन समभाग औषधियों से निर्मित कल्क, इन से सब एक प्रस्थ घृत को यथाविधि सिद्ध करें। इस घृत को पीने से शीघ्र ही मूषिकविष [चूहे के विष] शमन होता है ॥ १३७ ॥

कीटविषवर्णन.

सर्पाणां मूत्ररेतः शवमलरुधिरांडास्रवोत्थंतकीटा-।
श्चान्ये संमूर्छिताद्या अनलपवनतोयोद्भवास्ते त्रिधोक्ता ॥
तेषां दोषानुरूपैरुपशमनविधिः प्रोच्यतेऽसाध्यसाध्य।
व्याधीन्मत्यौषधाद्यैरखिलविषहरैरद्वितीयैरमोघैः ॥ १३८ ॥

भावार्थः—सर्पों के मल मूत्र शव शुक्र व अंड से उत्पन्न होनेवाले, अत्यंत विषैले कीडे संसार में बहुत प्रकारके होते हैं। इस के अतिरिक्त स्थावर विषवृक्ष व तीक्ष्ण वस्तु समुदाय में संमूर्छन से उत्पन्न होनेवाले भी अनेक विषैले कीडे होते हैं। ये सभी प्रकार के कीट अग्निज, वायुज, जलज [पित्त, वायु, कफप्रकृतिवाले] इस प्रकार तीन भेदों से विभक्त हैं। उन सब के संबंधसे होनेवाले विषविकार की उपशमनविधि को अब दोषों के अनुक्रम से अनेकविषहर अमोघऔषधियों का योग व साध्यासाध्यविचार पूर्वक कहा जायगा ॥ १३८ ॥

कीटदष्टलक्षण.

लूताशेषोग्रकीटप्रभृतिभिरिह दष्टप्रदेशेषु तेषां ।
नृणां तन्मंदमध्यादिकविषहतरक्तेषु तत्प्रोक्तदोषैः ॥
जायंते मण्डलानि श्वयथुपिटकिका ग्रंथयस्तीव्रशोफाः ।
दद्रुश्वित्राश्च कण्डूकिटिभकठिनसत्कर्णिकाद्युग्ररोगाः ॥ १३९ ॥

भावार्थः—मकडी आदि सम्पूर्ण विषैले कीडों द्वारा काटे हुए प्रदेशों में, उन विषों के मंद, मध्यम आदि प्रभाव से रक्त विकृत होने से दोषों का प्रकोप होता है जिससे अनेक प्रकार के मंडल [चकत्ते] शोथयुक्त फुन्सी, ग्रंथि (गांठ) तीव्रसूजन, दाद, श्वित्रकुष्ठ, खुजली, किटिभ कुष्ट, कठिन कर्णिका आदि भयंकर रोग उत्पन्न होते हैं १३९ ॥

कीटभक्षणजन्य विषचिकित्सा.

अज्ञानात्कीटदेहानशनगणयुतान् भक्षयित्वा मनुष्याः ।
नानारोगाननेकप्रकटतरमहोपद्रवानाप्नुवंति ॥
तेषां दूषीविषघ्नैरभिहितवरभैषज्ययोगैः प्रशांतिं ।
कुर्यादन्यान्यथार्थं निखिलविषहराण्यौषधानि ब्रवीमि ॥ १४० ॥

भावार्थः—जो मनुष्य भोजन करते समय अज्ञान से भोजन में मिले हुए कीडे के शरीर को खा जाते हैं, उस से अनेक प्रकार के घोर उपद्रवों से संयुक्त रोग उत्पन्न होते हैं। इसमें दूषीविष नाशार्थ जिन औषधियों का प्रयोग बतलाया है उन से चिकित्सा करनी चाहिये। आगे और भी समस्तविषों को नाश करनेवाले औषधियों को कहेंगे ॥ १४० ॥

क्षारागद.

अर्कांकोलाग्निकाश्वांतकघननिचुलप्रग्रहारमंतकानां ।
श्लेष्मातक्यामलक्यार्जुननृपकटुकश्रीकपित्थस्नुहीनाम् ॥
घोंटागोपापमार्गामृतसितबृहती कंटकारी शमीना- ।
मास्फोतापाटलीसिंधुकतरुचिरिबिल्वारिमेदद्रुमाणाम् ॥ १४१ ॥
गोजीसर्जोरुभूर्जासनतरुतिलकप्लक्षसोमाग्निकाणां ।
टुंटूकाशोककाश्मर्यमरतरुशिरीषोग्रशिग्रुद्वयानाम् ॥
उष्णीकारंजकारुष्करखरसरलोद्यत्पलाशद्वयानाम् ।
नक्ताह्वानां च भस्माखिलमिह विपचेत् षड्गुणैर्मूत्रभागैः ॥ १४२ ॥

तन्मूत्राशुद्धशुक्लाम्बरपरिगलितं क्षारकल्पेन पक्त्वा ।
तस्मिन् दद्यादिमानि त्रिकटुकरजनीकुष्ठमंजिष्ठकोग्रा- ॥
वेगागारोत्थधूमं तगररुचकहिंगूनि संचूर्ण्य वस्त्रैः ।
श्लक्ष्णं चूर्णं च साक्षान्निखिलविषहरं सर्वथैतत्प्रयुक्तम् ॥ १४३ ॥

भावार्थः—आक, अंकोल, चित्रक, सफेद कनेर, [श्वेतकरवीर] नागरमोथा, हिज्जलवृक्ष, [समुद्रफल] प्रग्रह (किरमाला) अश्मंतक, लिसोडा, आंवला, अर्जुनवृक्ष, (कुहा) अमलतास, सोंठ, मिरच, पीपल, कैथ, थूहर, वोंटा, [श्रृगालकोलि-एक प्रकार का बेर] बोल, चिरचिरा, गिलोय, चंदन, बडी कटेली, छोटी कटेली, शमीवृक्ष अपराजिता [कोयल] पाढल, सम्हालु, करंज, अरिमेद (दुर्गंधयुक्त खैर) गोजिव्हा, सर्जवृक्ष, (रालका वृक्ष) भोजपत्र वृक्ष, विजयसार, तिलकवृक्ष, [पुष्पवृक्षविशेष] अश्वत्थवृक्ष, सोनलता, आम्रिकवृक्ष, टुंटुक, अशोक, कंभारी, देवदारु, सिरस, बच, शिग्रु, [सेंजन] मधुशिग्रु, उष्णीकरंज, भिलावा, सरलवृक्ष, (धूपसरल) दोनों प्रकार के पलाश, [सफेद लाल] कलिहारी, इन औषधों के मूल छाल पत्रादिक को जलाकर भस्म करें। इस भस्म को छहगुना गोमूत्र में अच्छीतरह मिलाकर साफ सफेद वस्त्र से छानकर क्षारविधि के अनुसार पकावें। पकते समय उस में सोंठ, मिरच, पीपल, हलदी, कूट, मंजीठ, बच, वेग, गृहधूम, तगर, कालानमक, हींग इन को वस्त्रगालित चूर्ण कर के मिलावें। इस प्रकार सिद्ध क्षारागद को नस्य, अंजन, आलेपन आदि कार्यों में प्रयोग करने पर सर्वप्रकार के विषोंको नाश करता है ॥ १४१ ॥ १४२ ॥ १४३ ॥

सर्वविषनाशक अगद.

प्रोक्तेऽस्मिन् क्षारमूत्रं लवणकटुकगंधाखिलद्रव्यपुष्पा- ।
ण्याशोष्याचूर्ण्य दत्वा घृतगुडसहितं स्थापितं गोविषाणे ॥
तत्साक्षात्स्थावरं जंगमविषमधिकं कृत्रिमं चापि सर्वं ।
हन्यान्नस्यांजनालेपनबहुविधपानप्रयोगैः प्रयुक्तम् ॥ १४४ ॥

भावार्थः—अन्य अनेक प्रकार के क्षार, गोमूत्र, लवण, त्रिकटु सम्पूर्ण गंध द्रव्य, व सर्व प्रकार के पुष्पों को सुखाकर चूर्ण कर के घी गुड के साथ उपर्युक्त योग में मिलावें। पश्चात् उसे गाय के सींग में रखें। उस औषधि के नस्य अंजन, लेपन व पान आदि अनेक प्रकार से उपयोग करें तो स्थावर, जंगम व कृत्रिम समस्त विष दूर होते हैं ॥ १४४ ॥

विषरहितका लक्षण व उपचार.

प्रोक्तैस्तीव्रविषापहैरतितरां सद्भेषजैर्निर्विषी- ।
भूतं मर्त्यमवेक्ष्य शांततनुसंतापप्रसन्नेंद्रियम् ॥
कांक्षामप्यशनं प्रतिस्रुतिमलं सत्स्याद्यनीली गुरू- ।
न्यन्मूलैश्च ततोऽप्यपक्वमखिलं [?] दद्यात्स पेयादिकं ॥ १४५ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त तीव्र विषनाशक औषधियों के प्रयोग से जिसका विष उतर गया हो इसी कारण से शरीर का संताप शांत होगया हो, इंद्रिय प्रसन्न हो, भोजन की इच्छा होती हो, मल मूत्रादिक का विसर्जन बराबर होता हो [ये विषरहित का लक्षण है] ऐसे मनुष्य को योग्य पेयादिक देवें ॥ १४५ ॥

विष में पथ्यापथ्य आहारविहार.

निद्रां चापि दिवाप्यवायमधिकं व्यायाममत्यातपं ।
क्रोधं तैलकुलुत्थसत्तिलसुरासौवीरतक्राम्लिकम् ॥
त्यक्त्वा तीव्रविषेषु सर्वमशनं शीतक्रियासंयुतं ।
योज्यं कीटविषेष्वशेषमहिमं संस्वेदनालेपनम् ॥ १४६ ॥

भावार्थः—सर्व प्रकार के विष से पीडित मनुष्य को दिन में निद्रा, मैथुन, अधिक व्यायाम, अधिक धूप का सेवन व क्रोध करना भी वर्ज्य है। एवं तैल, कुलथी, तिल, शराब, कांजी, छांछ, आम्लिका आदि [उष्ण] पदार्थों को छोडकर तीव्रविष में समस्त शीतक्रियाओं से युक्त भोजन होना चाहिये अर्थात् उसे सभी शीतोपचार करें। परंतु यदि कीट का विष हो तो उस में सर्व उष्ण भोजन व स्वेदन, लेपन आदि करना चाहिये। (क्यों कि कीटविष शीतोपचार से बढता है) ॥ १४६ ॥

दुःसाध्य विषचिकित्सा.

बहुविधविषकीटाशेषलूतादिवर्गै- ।
रुपहततनुमर्त्येषूग्रवेगेषु तेषाम् ॥
क्षपयति निशितोद्यच्छस्त्रपातैर्विदार्य ।
स्त्रहिविषमिव साध्यस्स्यान्महामंत्रतंत्रैः ॥ १४७ ॥

भावार्थः—अनेक प्रकार के विषैले कीडे, मकडी आदि के काटनेपर विष का वेग यदि भयंकर होजाय तो वह मनुष्य को मार देता है। इसलिये उस को (विष

जन्यव्रण को) शस्त्र से विदारण कर सर्पके विष के समान महामंत्र व तंत्रप्रयोग से साधन करना चाहिये ॥ १४७ ॥

अंतिम कथन.

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ १४८ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथमें जगतका एक मात्र हितसाधक है [इसलिये इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ १४८ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यविरचिते कल्याणकारके चिकित्साधिकारे सर्वविषचिकित्सितं नाम एकोनविंशः परिच्छेदः ।

—o—

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में समस्त विषचिकित्सा नामक **उन्नीसवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

———
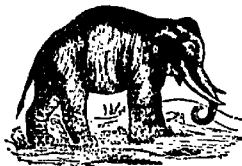
अथ विंशः परिच्छेदः

मंगलाचरण.

वीरजिनावसानवृषभादिजिनानभिवंद्य ।
घोरसंसारमहार्णवोत्तरणकारणधर्मपथोपदेशकान् ॥
सारतरान् समस्तविषमामयकारणलक्षणाश्रयैं- ।
र्भूरिचिकित्सितानि सहकर्मगणैः कथयाम्यशेषतः ॥ १ ॥

भावार्थः—घोर संसाररूपी महान् समुद्र को तारने के लिये कारणभूत, धर्म मार्गका उपदेश देनेवाले, श्रेष्ठ व पूज्य वृषभादि महावीर पर्यंत तीर्थंकरों की वंदना कर समस्त विषम रोगों के कारण, लक्षण, अधिष्ठान व [रोगों को जीतने के लिये] अनेक प्रकार के सम्पूर्ण चिकित्साविधानों को, उन के सहायभूत छेदन भेदन आदि कर्मों (क्रिया) के साथ २ इस प्रकरण में वर्णन करेंगे, ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

सप्त धातुओंकी उत्पत्ति.

आहृतसान्नपानरसतो रुधिरं, रुधिराच्च मांसम- ।
स्मादपि मांसतो भवति मेद, इतोऽस्थि ततोऽपि ॥
मज्जातः शुभशुक्रमित्यभिहिता, इह सप्तविधाश्चधातवः ।
सोष्णसुशीतभूतवशतश्च विशेषितदोषसंभवाः ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्य जो अन्नपानादिक का ग्रहण करता है वह (पचकर) रस रूप में परिणत होता है। उस रससे रुधिर, रुधिर [रक्त] से मांस, मांस से मेद, मेदसे अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से वीर्य [शुक्र] इस प्रकार सप्त धातुवों की उत्पत्ति होती है। और वे सात धातु उष्ण व शीत स्वभाव वाले भूतों की सहायता से विशिष्ट वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले होते हैं। अर्थात् धातुओं की निष्पत्तिमें भूत व दोष भी मुख्य सहायककारण हैं ॥ २ ॥

रोग के कारण लक्षणाधिष्ठान.

षड्विधकारणान्यनिलपित्तकफासृगशेषतोभिघा- ।
तक्रमतोऽभिघातरहितानि पंच सुलक्षणान्यपि ॥

त्वक्छिरोऽस्थिसंधिधमनीजठरादिकर्मनिर्मल- ।
स्नायुयुताष्टभेदनिजवासगणाः कथिता रुजामिह ॥ ३ ॥

भावार्थः—रोगों के उत्पत्ति के लिये वात, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात [त्रिदोष] व अभिघात इस तरह छह प्रकार के कारण हैं। अभिघातजन्य रोग को छोड कर बाकी के रोगों के पांच प्रकार के (वात पित्त कफ रूप सन्निपातजन्य) लक्षण होते हैं। त्वक् [त्वचा] शिरा अस्थि [हड्डि] संधि (जोड) धमनी, जठरादिक (आमाशय, पक्वाशय, यकृत्, प्लीहा आदि) मर्म व स्नायु ये आठ प्रकार के रोगोंके अधिष्ठान हैं, ऐसा महर्षियोंने कहा है ॥ ३ ॥

साठप्रकार के उपक्रम व चतुर्विधकर्म.

सर्वचिकित्सितान्यपि च षष्टिविकल्पविकल्पिता- ।
नि क्रमतो ब्रवीमि तनुशोपणलेपनतन्निषेचना- ॥
भ्यंगशरीरतापननिबंधनलेखनदारणांग वि- ।
म्लापननस्यपानकवलग्रहवेधनसीवनान्यपि ॥ ४ ॥

स्नेहनभेदनैषणपदाहरणास्रविमोक्षणांगसं- ।
पीडनशोणितस्थितकषायसुकल्कघृतादितैलनि- ॥
र्वापणमंत्रवर्तिवमनातिविरेचनचूर्णसव्रणो ।
ध्दूपरसक्रियासमवसादनसोद्धतसादनादपि ॥ ५ ॥

छेदनसोपनाहमिथुनाज्यविषघ्नशिरोविरेचनो- ।
त्पत्रसुदानदारुणमृदूकरणाग्नियुतातिकृष्णक- ॥
र्मोत्तरबस्तिविषघ्नसुबृंहणोग्रसक्षाररसित ।
क्रिमिघ्नकरणान्नयुताधिकरक्षाणान्यपि ॥ ६ ॥

तेषु कषायवर्तिघृततैलसुकल्करसक्रियाविचू- ।
र्णनान्यपि सप्तधैव बहुशोधनरोपणतश्चतुर्दश- ॥
षष्टिरुपक्रमास्तदिह कर्म चतुर्विधमग्निशस्त्रस- ।
क्षारमहौषधैरखिलरोगगणप्रशमाय भाषितं ॥ ७ ॥

भावार्थः—उन रोगों का समस्त चिकित्साक्रम साठ प्रकार से विभक्त है जिन

१ "रोग" यह सामान्य शद्ब लिखने पर भी, समझना चाहिये कि ये साठ उपक्रम व्रण रोगों को जीतने के लिये हैं। क्यों कि तंत्रांतर में "व्रणस्य षष्टिरुपक्रमा भवंति" ऐसा उल्लेख किया है।

को अब क्रमशः कहेंगे । १. शोषण (सुखना) २. लेपन (लेप करना) ३. सेचन (तरडे देना) ४. अभ्यंग, [मलना] ५. तापन [तपाना=स्वेद] ६. बंधन [बांधना] ७. लेखन [खुरचना] ८ दारण [फाडदेना] ९. विम्लापन [विलयन करना] १०. नस्य, ११, पान, १२. कवलग्रहण [मुख में औषध धारण करना] १३. व्यधन [वींधना] १४. सीवन [सीना] १५. स्नेहन [चिकना करना] १६. भेदन [चिरना] १७. एषण [ढूंढना] १८. आहारण [निकालना] १९ रक्तमोक्षण [खून निकालना] २०. पीडन. (दवाना सूतना) २१. शोणितास्थापन [खून को रोकना] २२. कषाय [काढा] २३. कल्क [लुगदी] २४. घृत २५. तैल, २६. निर्वापण [शांति करना] २७. यंत्र २८. वर्ति, २९. वमन ३०. विरेचन, ३१. चूर्णन [अवचूर्णन बुरखना] ३२. धूपन (धूप देना) ३३. रसक्रिया ३४. अवसादन [नीचे को बिठाना] ३५. उत्सादन (ऊपर को उकसाना) ३६. छेदन [फोड़ना] ३७. उपनाह [पुलिटिश] ३८. मिथुन [संधान=जोडना] ३९. घृत. [घी का उपयोग] ४०. शिरोविरेचन, ४१. पत्रादान (पत्ते लगाना, पत्ते बांधना) ४२. दारुण कर्म [कठोर करना] ४३. मृदु कर्म [मृदु करना] ४४. अग्निकर्म (दाग देना) ४५. कृष्णकर्म (काला करना) उत्तर बस्ति ४७. विषघ्न ४८. बृंहण कर्म [मांसादि बढाना] ४९ क्षारकर्म, ५०. सितकर्म [सफेद करना] ५१. कृमिघ्न [कृमिनाशक–विधान] ५२. आहार (आहारनियंत्रण) ५३. रक्षाविधान, ये त्रेपन उपक्रम हुए । उपरोक्त कषाय, वर्ति, घृत, तैल, कल्क, रसक्रिया अवचूर्णन इन सात उपक्रमों के शोधन, रोपण, कार्यद्वय के भेदसे [प्रत्येक के] दो भेद होते हैं अर्थात् एक २ उपक्रम दो २ कार्य करते हैं । इसलिये इन सात उपक्रमों के चौदह भेद होवे हैं । ऊपर के ५३ उपक्रमों में कषायादि अंतर्गत होने के कारण अथवा उन के उल्लेख उस में हो जाने के कारण द्विविध [शोधन रोपण] १४ अपेक्षाकृत भेद में से एकविध के उपक्रमोंका उल्लेख अपने आप हो जाता है । और अपेक्षाकृत जो सात भेद अवशेष रह जाते हैं उन को ५३ उपक्रमों में मिलाने से ६० उपक्रम हो जाते हैं । सम्पूर्ण रोगों को प्रशमन करने के लिये अग्निकर्म, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म, औषधकर्म, इस प्रकार चतुर्विध कर्म कहा गया है ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

स्नेहनादिकर्मकृतमर्त्योंको पथ्यापथ्य.

स्नेहनतापनोक्तवमनातिविरेचनसानुवासना– ।
स्थापनरक्तमोक्षणशिरःपरिशुद्धिकृतां नृणामयो– ॥
व्यायामातिरोषमैथुनचिरासनचंक्रमणस्थितिप्रया ।
सोच्चवचःसशोकगुरुभोजनभक्षणवाहनान्यपि ॥ ८ ॥

आतपशीततोयबहुवातनिषेवणतादिवातिनि- ।
द्राद्यखिलान्यसात्म्यबहुदोषकराण्यपहृत्यमा ॥
समेकं निजदोषसंशमनभेषजसिद्धजलाद्यशेषमा ।
हारमुदाहराम्यनुपयागमचोदितमग्निवृद्धये ॥ ९ ॥

भावार्थः—जिस रोगी को स्नेहन, तापन, स्वेदन विरेचन, अनुवासन, आस्थापन, रक्तमोक्षण, शिरोविरेचन का प्रयोग किया है उसे उचित है कि वह अतिरोष [क्रोध] मैथुन बहुत समय तक बैठा रहना, अधिक चलना फिरना, अधिक समय खडे ही रहना, अत्यंत श्रम करना, उच्च स्वर से बोलना, शोक करना, गुरु भोजन, वाहनारोहण, धूप, ठण्डा पानी व अधिक हवा खाना, दिन में सोना, आदि ऐसे कार्यों को जो असात्म्य, व अधिक दोषोत्पादक हैं, एक मास तक छोड कर, अपने दोष के उपशमन के योग्य औषधसिद्ध जल अदि समस्त आहार को, अग्निवृद्ध्यर्थ ग्रहण करना चाहिये जिसे आगम के अनुकूल वर्णन करेंगे ॥ ८ ॥ ९ ॥

अग्निवृद्धिकारक उपाय.

अष्टमहाक्रियाभिरुदराग्निरिहाल्पतरो भवे- ।
न्नृणामनलवर्धनकरैरमृतादिभिरावहेन्नरः ॥
यत्नपरोऽग्निमणुभिस्तृणकाष्ठचयैःक्रमक्रमा ।
दत्र यथा विरूक्षगणैः परिवृद्धितरं करिष्यति ॥ १० ॥

भावार्थः—आठ प्रकार के महाक्रियावों [स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, अनुवासनबस्ति, आस्थापन बस्ति, रक्तमोक्षण, शिरोविरेचन] से मनुष्योंकी उदराग्नि मंद हो जाती है । उसे अग्निवृद्धिकारक जलादि के प्रयोगों से वृद्धि करनी चाहिये । जिस प्रकर जरासे अग्निकण को भी प्रयत्न करनेवाला सूक्ष्म व रूक्ष, घास, काष्ठ, फूंकनी आदि के सहायता से क्रमशः बढा देता है ॥ १० ॥

अग्निवर्द्धनार्थ जलादि सेवा.

उष्णजलं तथैव शृतशीतलमप्यनुरूपतो ।
यवागूं सविलेप्यदूषवरधूष्यखलानकृतान्कृतानपि ॥
स्वल्पघृतं घृताधिकसुभोजनमित्यथाखिलं ।
नियोजयेत्त्रिद्वियुतैकभेदगणनादिवसेष्वनलत्रिकक्रमात् ॥ ११ ॥

भावार्थः—स्नेहनादि प्रयोग से जिन का अग्निमंद हो गया हो, उन के तीन प्रकार के अग्नि (मंदतर, मंदतम, मंद) के अनुसार क्रमशः तीन २ दिन, दो २ दिन एक २ दिन तक गरम जल, गरम कर के ठंडा किया हुआ जल, यवागू, विलेपी, यूष, घूष्य, [?] घी हींग आदि से असंस्कृतखल व संस्कृतखल, अल्पघृतयुक्तभोजन, अधिकघृतयुक्तभोजन को एक के बाद एक इस प्रकार अग्निवृद्धि करने के लिये देते जावें ॥ ११ ॥

भोजन के बारह भेद.

शीत व उष्णलक्षण.

दाहतृषातिसोष्णमदमद्यहताननतिरक्तपित्तिनः ।
स्त्र्यव्यसनातिमूर्च्छनपरानपि शीतलभोजनैर्भृशम् ॥
पीतघृतान्विरेचिततनूननिलातिबलासरोगिणः ।
क्लिन्नमलान्नरानधिकमुष्णतरैः समुपाचरेत्सदा ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो रोगी दाह, तृषा, गरमी, मद, मद्य, रक्तपित्त, स्त्रीव्यसन (मैथुन) व मूर्च्छा से पीडित हैं, उन्हे शीतल भोजन के द्वारा उपचार करना चाहिये। जिन्होंने घृत [स्नेह] पीया हो, जिन को विरेचन दिया हो, जो वात व कफ के विकार से पीडित हों, एवं जिनका मल क्लेदयुक्त हो रहा हो, उन को अत्यंत उष्णभोजनों से उपचार करना चाहिये ॥ १२ ॥

स्निग्ध, रूक्ष, भोजन.

वातकृतामयानतिविरूक्षतनूनधिकव्यवायिनः ।
क्लेशपरान्विशेषबहुभक्षणभोजनपानकादिभिः ॥
स्नेहयुतैः कफःप्रबलतुंदिलमेहिमहातिमेदसो ।
रूक्षतरैर्निरंतरमरं पुरुषानशनैः समाचरेत् ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो वातव्याधिसे ग्रस्त है जिनका शरीर रूक्ष है, जो अधिक मैथुन सेवन करते हैं व अधिक परिश्रम करते हैं उन को अधिक स्नेह (घी, तैल आदि) संयुक्त अनेक प्रकार के भक्ष्य भोज्य पानक आदियों से उपचार करना चाहिये। कफाधिक्य से युक्त हो, तुंदिल हो [पेट बढ गया हो,] विशिष्ट प्रमेही हो, मेदोवृद्धि से युक्त हो, उन्हे रूक्ष व कर्कश [कठिन] आहारोंसे उपचार करना चाहिये ॥ १३ ॥

द्रव, शुष्क, एककाल, द्विकाल भोजन.

तीव्रतृषातिशोषणविशुष्कतनूनपि दुर्बलान्द्रवै- ।
र्मेहिमहोदराक्षिनिजकुक्षिविकारयुतक्षताकुलो- ॥
द्वारिनरान्नयेदिह विशुष्कतरैरनलाभिवृद्धये ।
मंदसमाग्निकाल्लघुभिरेकतरद्विकभोजनैः क्रमात् ॥ १४ ॥

भावार्थः—जो रोगी तीव्रतृषा से युक्त हो, जिसका मुख अत्यधिक सूख गया हो, जिसका शरीर शुष्क हो, दुर्बल हो, उन को द्रवपदार्थों से उपचार करना चाहिये। प्रमेही, महोदर, अक्षिरोग, कुक्षिरोग, क्षत व डकार से पीडित रोगी को शुष्क पदार्थोंसे उपचार करना चाहिये। मंदाग्नि में अग्निवृद्धि करने के लिये एक दफे लघुभोजन कराना चाहिये। समाग्नि में दो दफे भोजन कराना चाहिये ॥ १४ ॥

औषधरोषिणामशनमौषधसाधितमेव दापये- ।
दग्निविहीनरोगिषु च हीनतरं षड्ऋतुप्रचोदितं ॥
दोषशमनार्थमुक्तमतिपुष्टिकरं बलवृष्यकारणं ।
स्वस्थजनोचितं भवति वृत्तिकरं प्रतिपादितं जिनैः ॥ १५ ॥

भावार्थः—जो औषधद्वेषी है [औषध खाने में हिचकिचाते हैं] उन्हे औषधियों से सिद्ध (या मिश्रित) भोजन देना चाहिये। जिन की अग्नि एकदम कम हो गयी हो उन्हे मात्राहीन [प्रमाण से कम] भोजन देना चाहिये। दोषों के शमन करने के लिये छहों ऋतुओं के योग्य (जिस ऋतु में जो २ भोजन कहा है) भोजन देना चाहिये। [यही दोषशमन भोजन है] स्वास्थपुरुषों के शरीर के रक्षणार्थ, पुष्टि, बल, वृष्य कारक (व समसर्वरसयुक्त) आहार देना चाहिये ऐसा भगवान् जिनेंद्र देवने कहा है ॥ १५ ॥

भैषजकर्मादिवर्णनप्रतिज्ञा.

द्वादशभोजनक्रमविधिर्विहितो दशपंच चैवस- ।
द्भेषजकर्मनिर्मितगुणान्दशभेषजकालसंख्यया ॥
सर्वमिहाज्यतैलपरिपाकविकल्परसत्रिषष्टिभे- ।
दानपि रिष्टमर्मसहितानुपसंहरणैर्ब्रवीम्यहम् ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस प्रकार बारह प्रकार के भोजन [शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, द्रव, शुष्क, एककाल, द्विकाल, औषधयुक्त, मात्राहीन दोषशमन और वृष्यभोजन] व उसका

विधान भी किया गया है । अब पंद्रह प्रकार के औषधकर्म व उन के गुण, दश औषध-काल, सम्पूर्ण घृततैलों के पाक का विकल्प (भेद) रस के त्रेसठ भेद, अरिष्टलक्षण, मर्मस्थान, इन को संक्षेप से आगे आगमानुसार कहेंगे ॥ १६ ॥

दशऔषधकाल.

संशमनाग्निदीपनरसायनबृंहणलेखनोक्तसां- ।
ग्राहिकवृष्यशोपकरणान्विततद्विलयमधोर्ध्वभा ॥
गोभयभागशुद्धिसविरेकविषाणि विषौषधान्यपि ।
प्राहुरशेषभेषजकृताखिलकर्मसमस्तवेदिनः ॥ १७ ॥

भावार्थः—१ संशमन, २ अग्निदीपन, ३ रसायन, ४ बृंहण, ५ लेखन, ६ संग्रहण, ७ वृष्य, ८ शोपकरण, ९ विलयन, १० अधःशोधव, ११ ऊर्ध्वशोधन, १२ उभयभागशोधन, १३ विरेचन, १४ विष, १५ विषौषध, ये सम्पूर्ण औषधियों के पंद्रह कर्म हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है ॥ १७ ॥

दशऔषधकाल.

निर्भक्त, प्रागूभक्त, ऊर्ध्वभक्त व मध्यभक्तलक्षण.

प्रातरिहौषधं बलवतामखिलामयनाशकारणं ।
प्रागपि भक्ततो भवति शीघ्रविपाककरं सुखावहम् ॥
ऊर्ध्वमथाशनादुपरि रोगगणानपि मध्यगं ।
स्वमध्यगान्विनाशयति दत्तमिदं भिषजाधिजानता ॥ १८ ॥

भावार्थः—१ निर्भक्त, २ प्राग्भक्त, ३ ऊर्ध्वभक्त ४ मध्यभक्त, ५ अंतरा-भक्त, ६ सभक्त, ७ सामुद्र, ८ मुहुर्मुहु, ९ ग्रास, १० ग्रासांतर ये दस औषधकाल [औषध सेवन का समय] है। यहां से इसी का वर्णन आचार्य करते हैं । अन्नादिक का बिल्कुल सेवन न कर के केवल औषधका ही उपयोग प्रातःकाल, बलवान् मनुष्यों के लिये ही किया जाता है उसे **निर्भक्त** कहते हैं । इस प्रकार सेवन करने से औषध अत्यंत वीर्यवान् होता है । अतएव सर्वरोगों को नाश करने में समर्थ होता है । जो औषध भोजन के पहिले उपयोग किया जावे उसे **प्राग्भक्त** कहते हैं । यह काल शीघ्र

१ इस प्रकार के औषध सेवन को बलवान् मनुष्य ही सहन कर सकते हैं । बालक, बूढे, स्त्री कोमल स्वभाव के मनुष्य ग्लानि को प्राप्त करते हैं ।

२ " तत्र निर्भक्तं केवलमेवौषधमुपयुज्यते " इति ग्रंथांतरे ।

ही पचानेवाला व सुखकारक होता है। **ऊर्ध्वभक्त** उसे कहते हैं जो भोजन के पश्चात् खाया पीया जावे, यह भोजन कर के पीछे खाया पीया हुआ औषध, शरीर के ऊर्ध्व भाग स्थित सर्वरोगों को दूर करता है। **मध्यभक्त** उसे कहते हैं जो भोजन के बीच में सेवन किया जावे। यह भोजन के मध्य में दिया हुआ औषध, शरीर के मध्यगत समस्त रोगों को नाश करता है। विज्ञ वैद्य को उचित है उपरोक्त प्रकार व्याधि आदि को विचार करते हुए औषधप्रयोग करें ॥ १८ ॥

अंतरभक्तसभक्तलक्षण.

अंतरभक्तमौषधमथाग्निकरं परिपीयते तथा।
मध्यगते दिनस्य नियतोभयकालसुभोजनांतरे ॥
औषधरोषिबालकृशवृद्धजने सहसिद्धमौषधै- ।
देयमिहाशनं तदुदितं स्वगुणैश्च सभक्तनामकं ॥ १९ ॥

भावार्थः—**अंतरभक्त** उसे कहते हैं जो सुबह शाम के नियत भोजन के वीच ऐसे दिन के मध्यसमय में सेवन किया जाता है। यह अंतराभक्त अग्नि को अत्यंत दीपन करनेवाला, [हृदय मनको शक्ति देनेवाला पथ्य] होता है। जो औषधों से साधित [क्वाथ अदि से तैयार किया गया या भोजन के साथ पकाया हुआ] आहार का उपयोग किया जाता है उसे **सभक्त** कहते हैं। इसे औषधद्वेषियोंको [दवा से नफरत करनेवालों को] व बालक, कृश, वृद्ध, स्त्रीजनों को देना चाहिये ॥ १९ ॥

सामुद्गमुहुर्मुहुलक्षण.

ऊर्ध्वमधःस्वदोषगणकोपवशादुपयुज्यते स्वसा-।
मुद्गविशेषभेषजमिहाशनतः प्रथमावसानयोः ॥
श्वासविशेषवहुहिक्किषु तीव्रतरप्रतीतसो- ।
द्गारिषु भेषजान्यसकृदत्र मुहुर्मुहुरित्युदीरितं ॥ २० ॥

भावार्थः—जो औषध भोजन के पहले व पीछे सेवन किया जावे उसे **सामुद्ग** कहते हैं। यह ऊपर व नीचे के भाग में प्रकुपित दोषों को शांत करता है। श्वास, तीव्रहिक्का, [हिचकी] तीव्र उद्गार (ढकार) आदि रोगों में जो औषध [भोजन कर के या न करके] वार वार उपयोग किया जाता है उसे **मुहुर्मुहु** कहते हैं ॥ २० ॥

---

१ इसे ग्रंथांतरो में "अधोभक्त" के नामसे कहा है। लेकिन् दोनों का अभिप्राय एक ही है।

ग्रासग्रासांतर लक्षण.

ग्रासगतं विचूर्णमबलाग्निषु दीपनबृंहणादिकं ।
ग्रासगणांतरेषु वमनौषधधूमगणान् सकासनि-॥
श्वासिषु तत्प्रशांतिकरभेषजसाधितसिद्धयोगले-।
हानपि योजयेदिति दशौषधकालविचारणक्रमात् ॥ २१ ॥

भावार्थः—**ग्रास** उसे कहते हैं जो कवल के साथ, मिलाकर उपयोग करें। जिन के अग्नि दुर्बल हो जो क्षीणशुक्र व दुर्बल हो उन्हे दीपन, बृंहण, वाजीकरण औषधिसिद्ध चूर्ण को ग्रास के साथ उपयोग करना चाहिये। **ग्रासांतर** उसे कहते हैं जो ग्रासों [कवल] के बीच (दोनों ग्रासो के मध्य) में सेवन किया जावे। ग्रास श्वासपीडितों को, वमनौषध सिद्ध वमनकारक धूम व कालादिकों को शांत करनेवाले औषधियों से अवलेहों को ग्रासांतर में प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार क्रमशः दस औषध काल का वर्णन हुआ ॥ २१ ॥

स्नेहपाकादिवर्णनप्रतिज्ञा.

स्नेहविपाकलक्षणमतः परमूर्जितमुच्यतेऽधुना- ।
चार्यमतैः प्रमाणमपि कल्ककषायविचूर्णतैलस ॥
र्पिःप्रकरावलेहनगणेष्वतियोगमयोगसाधुयो- ।
गानिजलक्षणैरखिलशास्त्रफलं सकलं ब्रवीम्यहं ॥ २२ ॥

भावार्थः—यहां से आगे स्नेहपाक (तैल पकाने) का लक्षण, कल्क, कषाय, चूर्ण, तैल, घृत, अवलेह इन के प्रमाण, अतियोग, अयोग व साधुयोग के लक्षण, सम्पूर्ण शास्त्रके फल आदि सभी विषय को पूर्वाचार्यों के मतानुसार इस प्रकरण में वर्णन करेंगे ॥ २२ ॥

क्वाथपाकविधि.

द्रव्यगुणाच्चतुर्गुणजलं परिषिच्य विपक- ।
मष्टभागमवशिष्टमपरैः श्रुतकीर्तिकुमारनंदिभिः ॥
षोडशभागशोषितमनुक्तघृतादिषु वीरसेनसू- ।
रिप्रमुखैः कषायपरिपाकविधिर्विहितःपुरातनैः ॥ २३ ॥

भावार्थः—जहां घृत आदि के पाक में कषाय पाक का विधान नहीं लिखा हो, ऐसे स्थानो में औषध द्रव्य से चतुर्गुण [चौगुना] जल डाल कर पकावें। आठवां

भाग शेष रहने पर उतार कर छान लेवे ऐसा श्रुतकीर्ति व कुमारनंदि मुनि कहते हैं। लेकिन् पुरातन वीरसेन आदि मुनिपुंगव द्रव्य से चतुर्गुण जल डालकर, सोलहवां भाग शेष रखना चाहिये ऐसा कहते हैं ॥ २३ ॥

स्नेहपाकविधि·

द्रव्याच्चतुर्गुणांभसि विपक्ककषायविशेष- ।
पादशेषितवदर्धदुग्धसहिते च तदर्धघृते घृतस्य ॥
पादौषधकल्कयुक्तमखिलं परिपाच्य घृतावशेषितं ।
तद्बरपूज्यपादकथितं तिलजादिविपाकलक्षणम् ॥ २४ ॥

भावार्थः—औषधद्रव्य को चतुर्गुण जल में पकावें। उस कषाय को चौथाई हिस्से में ठहरावें, उस से अर्धभाग दूध, अर्धभाग घी (स्नेह) दूध व घी से [स्नेह] चौथाई भाग औषधकल्क। इन सब को एकत्र पकाकर घृत के अंश अवशेष रहने पर उतारलें। यह पूज्यपाद आचार्य के द्वारा कहा हुआ स्नेहपाक का लक्षण व विधान है ॥ २४ ॥

स्नेहपाकका त्रिविधभेद·

प्रोक्तघृतादिषु प्रविहिताखिलपाकविधिविंशेषिते- ।
ष्वेषु समस्तसूरिमतभेदविकल्पकृतः प्रशस्यते ॥
पाकमिह त्रिधा प्रकटयंति मृदुं वरचिक्कणं खरा- ।
च्चुज्वलचिक्कणं च निजनामगुणैरपि शास्त्रवेदिनः ॥ २५ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकार घृत आदि के पाक के विषय में जो आचार्यों के परस्पर मतभेद पाया जाता है, वे सर्व प्रकार के विभिन्न मत भी हमें मान्य है। स्नेह पाक तीनप्रकार से विभक्त है। एक मृदुपाक, दूसरा चिक्कणपाक, तीसरा खरचिक्कण पाक, इस प्रकार अपने नाम के अनुसार गुण रखनेवाले तीन पाकों को शास्त्रज्ञोंनें कहा है ॥ २५ ॥

मृदुचिक्कणखरचिक्कणपाकलक्षण.

स्नेहवरौषधाधिकविवेकगुणं मृदुपाकमादिशेत् ।
स्नेहविविक्तकल्कबहुपिच्छिलतो भवतीह चिक्कणं ॥
कल्कमिहांगुलिद्वय विमर्दनतः सहसैव वर्तुली- ।
भूतमवेक्ष्य तं खरसुचिक्कणमाहुरतोतिदग्धता ॥ २६ ॥

भावार्थः—स्नेह पकाते २ जब तैल व उस में डाला हुआ औषध अलग २ [तैल अलग, औषध अलग, तैल औषध घुले नहीं] हो जावे इसे मृदुपाक कहते हैं। जिस कल्क में तैल का अंश बिलकुल न हो, लेकिन वह लिबलिबाहट से युक्त हो, ऐसे पाक को चिक्कण अर्थात् मध्यपाक कहते हैं। जिस कल्क की दोनों अंगुलियों से मर्दन [मसलने] करने पर शीघ्र ही गोल वा बत्तीसा बन जावे तो इस पाक को खरचिक्कण पाक कहते हैं, [दग्ध पाक निर्गुण होता है] ॥ २६ ॥

स्नेह आदिकों के सेवन का प्रमाण.

स्नेहपरिप्रमाणं षोडशिकाकुडवं द्रवस्य चूर्णं ।
बिडालपादसदृशं वरकल्कमिहाक्षमात्रकं ॥
सत्यमिदं वयोबलशरीरविकारविशेषतोतिही- ।
नाधिकतां वदंति वहुसंशमनौषधसंग्रहे नृणाम् ॥ २७ ॥

भावार्थः—जो रोगशमनार्थ संशमन औषधप्रयोग किया जाता है, उस में स्नेह [घृततैल] चूर्ण व कल्क के सेवन का प्रमाण एक १ तोला है। द्रव पदार्थ (काथादि) का प्रमाण एक कुडव (१६ तोला) है। लेकिन रोगी के वय, शक्ति, शरीर, विकार [रोग] की प्रबलता अप्रबलता, आदि के विशेषता से अर्थात् उस के अनुसार उक्त मात्रा से कमती या बढती भी सेवन करा सकते हैं। ऐसा संशमन औषध संग्रह में मनुष्यों के लिये आचार्यप्रवरोनें कहा है ॥ २७ ॥

रसोंके त्रेसठ भेद.

एकवरद्विकत्रिकचतुष्कसपंचषट्कभेदभं- ।
गैरखिलै रसास्त्रिकयुताधिकषष्टिविकल्पकाल्पिता ॥
तानधिगम्य दोषरसभेदविदूर्जितपूर्वमध्यप- ।
श्चादपि कर्मनिर्मलगुणो भिषगत्र नियुज्य साधयेत् ॥ २८ ॥

भावार्थः—[अब रसों के त्रेसठ भेद कहते हैं] एक २ रस, दो २ रसों के संयोग, तीन २ रसों के संयोग, चार २ रसों के संयोग, पांच २ रसों के संयोग व छहों रसों के संयोग से कुल रसोंके त्रेसठ भेद होते हैं। दोषभेद रसभेद, पूर्वकर्म मध्यकर्म व पश्चात्कर्म को जाननेवाला निर्मलगुणयुक्त वैद्य, रसभेदों को अच्छी तरह जान कर, उन्हें दोषों के अनुसार प्रयोग कर के, रोगों को साधन करें।

रसभेदों का खुलासा इस प्रकार हैं—एक २ रस की अपेक्षा छह भेद होते

हैं [क्यों कि रस छह ही हैं] जैसे १ मधुर रस (मीठा) २ अम्ल [खट्टा] रस, ३ लवण [नमकीन] रस, ४ कटुक [चरपरा] रस, ५ तिक्त (कडवा) रस, ६ कषाय (कषैला) रस. दो २ रसों के संयोग से १५ भेद होते हैं । १ मधुराम्ल, २ मधुरलवण, ३ मधुर तिक्त, ४ मधुरकटुक, ५ मधुरकषाय. इस प्रकार मधुर रस को अन्य रसों में मिलाने से ५ भेद हुए । १ अम्ललवण, २ अम्लकटुक, ३ अम्लतिक्त, ४ अम्लकषाय, इस प्रकार अम्लरस को अन्य रसों के साथ मिलाने से ४ भेद हुए । १ लवणतिक्त, २ लवणकटुक, ३ लवणकषाय. इस तरह लवणरस अन्य रसों के साथ मिलाने से ३ भेद हुए । १ कटुकातिक्त, २ कटुककषाय, इस प्रकार कटुक को तिक्त से मिलाने से २ भेद हुए । तिक्तकषाय इन दोनों के संयोगसे एक भेद हुआ । इस प्रकार १५ भेद हुए । तीन २ रसों के संयोग से २० भेद होते हैं । वह इस प्रकार है । मधुर के साथ दो २ रसोंके संयोग करने से उत्पन्न दश भेद. १ मधुराम्ललवण, २ मधुराम्लकटुक, ३ मधुराम्लतिक्त, ४ मधुराम्लकषाय, ५ मधुरलवण कटुक, ६ मधुरलवणतिक्त, ७ मधुरलवणकषाय, ८ मधुरकटुकातिक्त, ९ मधुरकटुककषाय, १० मधुरतिक्त कषाय । अम्लरस के साथ मधुर व्यतिरिक्त अन्य रसों के संसर्ग से जन्य छह भेद । १ अम्ललवण कटुक, २ अम्ललवणतिक्त. ३ अम्ललवण कषाय, ४ अम्लकटुकषाय, ५ अम्लकटुतिक्त, ६ अम्लतिक्तकषाय । लवण रस के साथ संयोगजन्य तीन भेद । १ लवणकटुकतिक्त, २ लवणकटुकषाय, ३ लवणतिक्तकषाय । कटुकरस के साथ संयोगजन्य एक भेद १ कटुतिक्तकषाय । इस प्रकार २० भेद हुए । चार चार रसों के संयोग से १५ भेद होते हैं । इस में मधुर के साथ संयोगजन्य दश भेद, अम्लरस के साथ संयोग से उत्पन्न भेद चार, लवण के साथ संसर्गजन्य भेद एक होता है । इस प्रकार पंद्रह हुए । इस का विवरण इस प्रकार है ॥

१ मधुराम्ललवणकटुक, २ मधुराम्ललवणतिक्त, ३ मधुराम्ललवणकषाय, ४ मधुराम्लकटुककषाय, ५ मधुराम्लकटुकातिक्त, ६ मधुरलवणतिक्तकटुक, ७ मधुराम्लतिक्तकषाय, ८ मधुरलवणकटुककषाय, ९ मधुरकटुतिक्तकषाय, १० मधुरलवण तिक्तकषाय.

१ अम्ललवणकटुतिक्त, २ अम्ललवणकटुकषाय, ३ अम्ललवणतिक्तकषाय, ४ अम्लकटुतिक्तकषाय । १ लवणकटुतिक्तकषाय ॥

पांच रसों के संयोग से ६ भेद होते हैं । वह निम्नलिखितानुसार है ।

१ मधुराम्ललवणकटुतिक्त २ मधुराम्ललवणकटुकषाय ३ मधुराम्ललवणतिक्त कषाय, मधुराम्लकटुतिक्तकषाय, मधुरलवणकटुतिक्तकषाय ।

इस प्रकार मधुरादि रस के संयोग से ५ भेद हुए। १ अम्ललवणकटुतिक्तकषाय अम्लादिरसों के संयोग से, यह एक भेद हुआ।

छहों रसों को एक साथ मिलाने से एक भेद होता है यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्त कषाय। इस प्रकार कुल रसों के त्रेसठ भेद का विवरण समझना चाहिये ॥ २८ ॥

अयोगातियोगसुयोगलक्षण.

सर्वमिहाखिलामयविरुद्धमयोगमतिप्रयोगमु- ।
द्यद्गरभेषजैरतिनियुक्तमशेषविकारविग्रहं ॥
सम्यगितःप्रयोगमुपदिष्टमुपक्रमभेदसाधने- ।
रायुररं विचार्य बहुरिष्टगणैरवबुध्य साधयेत् ॥ २९ ॥

भावार्थः—जो औषधप्रयोग रोग के लिये हरतरह से विरुद्ध है उसे **अयोग** कहते हैं। जो रोग के शक्ति की अपेक्षा [अविरुद्ध होते हुए भी] अधिकमात्रा से प्रयुक्त है उसे **अतियोग** कहते हैं। जो योग रोग को नाश करने के लिये सर्व प्रकार से अनुकूल है अतएव रोग को पूर्णरूपेण नाश करने में समर्थ है उसे **सम्यग्योग** कहते हैं। वैद्य को उचित है कि अरिष्ट समूहों से रोगी के आयु को विचार कर, अर्थात् आयुका प्रमाण कितना है, इस बातको जानकर, अनेक भेदसे विभक्त उपक्रम (प्रतीकार) रूपी साधनों से रोग को साधना चाहिये, [चिकित्सा करनी चाहिये] ॥ २९ ॥

रिष्टवर्णनप्रतिज्ञा.

स्वस्थजनोद्भवान्यधिकृतातुरजीवितनाशहेतुरि- ।
ष्टान्यपि चारुवीरजिनवचोदितलक्षणलक्षितानि ता- ॥
न्यत्र निरूपयाम्यखिलकर्मरिपूनपहंतुमिच्छतां ।
तत्वविदां नृणाममलमुक्तिवधूनिहिताभिकांक्षिणाम् ॥ ३० ॥

भावार्थः—अब आचार्य कहते हैं कि जो भव्य तत्ववेत्ता संपूर्ण कर्मशत्रुओंको नाश कर मुक्तिलक्ष्मी को वरना चाहते हैं, उन के लिये हम स्वस्थ मनुष्य में भी उत्पन्न रोगी के प्राण को नाश करने के लिये कारणभूत रिष्ट [मरणचिन्हों] का निरूपण श्री महावीरभगवंत के वचनानुसार लक्षणसहित करेंगे ॥ ३० ॥

रिष्टसे मरणका निर्णय.

मेघसमुन्नतैरधिकवृष्टिरिवेष्टविशिष्टरिष्टस- ।
न्दर्शनतो नृणां मरणमप्यचिराद्भवतीति तान्यशे- ॥

घागमपारगस्वमनसैव विचार्य निश्चितं वदेत् ।
स्वप्नविकारचेष्टितविरुद्धविलक्षणतो विचक्षणः ॥ ३१ ॥

भावार्थः—समस्तशास्त्रों में प्रवीण वैद्य जैसे अत्यधिक बादलों के होनेपर बर्सात होना अनिवार्य कह सकते हैं, उसी प्रकार विशिष्ट मरणचिन्होंके प्रकट होने से मरण भी शीघ्र अवश्य होता है, ऐसा अपने मन में निश्चय कर कहें। विकृतस्वप्न, विरुद्धचेष्टा, व विरुद्धलक्षण, इनसे आयु का निर्णय कर सकता हैं एवं मरण का ज्ञान कर सकता है ॥ ३१ ॥

मरणसूचकस्वप्न.

स्वप्नगतोऽतिकंटकतरूनाधिरोहति चेद्भयाकुलो ।
भीमगुहांतरेऽपि गिरिकूटतटात्पतति ह्यधोमुखः ॥
यस्य शिरोगलोरसि तथोच्छ्रितवेणुगणप्रकार- ।
तालादिसमुद्भवो भवति तज्जनमारणकारणात्रहम् ॥ ३२ ॥

भावार्थः—यदि रोगी स्वप्न में व्याकुल होकर अपने को तीव्रकंटकवृक्ष पर चढते हुए देखता हो, कोई भयंकर गुफा में प्रवेश कर रहा हो, कोई पर्वत वगैरह से नीचे मुखकर गिरता हो एवं यदि रोगी के शिर, गल व हृदय में ऊंचे बांस व उसी प्रकार के ऊंचे ताल [ताड] आदि वृक्षों की उत्पत्ति मालूम पडती हो तो यह सब उसके मरणचिन्ह हैं ऐसा समझना चाहिये अर्थात् ये लक्षण उस के होनेवाले मरण को बतलाते हैं ॥ ३२ ॥

यानखरोष्ट्रगर्दभवराहमहामहिषोग्ररूपस- ।
व्यालमृगान् व्रजेत् समधिरुह्य दिशं त्वरितं च दक्षिणं ॥
तैलविलिप्तदेहमसिता वनिता ह्यथवातिरक्तमा- ।
ल्यांबरधारिणी परिहसन्त्यसकृत्परिनृत्यतीव सन् ॥ ३३ ॥

प्रेतगणैस्सशस्त्रबहुभस्मधरैरथवात्मभृत्यव- ।
गैरतिरक्तकृष्णवसनावृतलिंगिभिरंगनाभिर- ॥
त्यंतविरूपिणीभिरवगृह्य नरो यदि नीयतेऽत्र ।
कार्पासतिलोत्थकल्कखललोहचयानपि यः प्रपश्यति ॥ ३४ ॥

भावार्थः—जो स्वप्नमें खच्चर, ऊंट, गधा, सूअर, भैंस व भयंकर व्याघ्र (शेर) आदि क्रूर मृगोंपर चढकर शीघ्र ही दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए दृश्य को देख रहा हो, शरीर पर तेल लगाये हुए स्वयंको लालवस्त्र व माला को धारण करनेवाली काली स्त्री बार २ परिहास करती हुई, नाचती हुई बांधकर लेजा रही हो, शल्य (कांटे) व भस्म को धारण करनेवाले प्रेतसमूह, अथवा अपने नौकर या अत्यंत लाल वा काले कपडे पहने हुए साधु, अत्यंत विकृत रूपवाली स्त्री, यदि रोगी को पकडकर कहीं ले जाते हुए दृश्य को देख रहा हो, जो रूई, तिल के कल्क, खल, लोहसमूहों को स्वप्न में देखता हो तो समझना चाहिये यह सब उस रोगी के मरण के चिन्ह हैं। ऐसे रोगीकी चिकित्सा न करनी चाहिये ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

विशिष्ट रोगों में विशिष्टस्वप्न व निष्फलस्वप्न.

शोणितपित्तपाण्डुकफमारुतरोगिषु रक्तपीतपा- ।
ण्डुमकरारुणाभवहुवस्तुनिदर्शनतो मृतिस्तु ते- ॥
षां क्षयरोगिणामपि च वानरबंधुतया यथाप्रकृ- ।
त्यात्मविचिंतितान्यखिलदर्शनकान्यफलानि वर्जयेत् ॥ ३५ ॥

भावार्थः—रक्तपित्तसे पीडित लाल, पांडुरोगी पीला, कफरोगी सफेद व वातरोग से पीडित लाल वर्ण के बहुत से पदार्थोंको देखें और क्षयरोग से पीडित मनुष्य बंदर को मित्र के सदृश अथवा उस के साथ मित्रता करते हुए देखें तो इन का जरूर मरण होता है। जो स्वप्न रोगी के प्रकृति के अनुकूल हो, अभिन्न स्वभाववाला हो एवं संस्कार गत हो [जो विषय व वस्तु बार बार चिंतवना किया हुआ हो वही स्वप्न में नजर आवें] ऐसे स्वप्न फलरहित होते हैं ॥ ३५ ॥

दुष्ट स्वप्नों के फल.

स्वस्थजनोऽचिरादधिकरोगचयं समुपैति चातुरो ।
मृत्युमुखं विशत्यसदृशासुरनिष्ठुररूपदुष्टदु- ॥
स्वप्ननिदर्शनादरललामसुखाभ्युदयैकहेतुसु- ।
स्वप्नगणान्ब्रवीम्युरुतरामयसंहतिभेदवेदिनम् ॥ ३६ ॥

भावार्थः—पूर्वोक्त प्रकार के असदृश व राक्षस जैसे भयंकर, दुष्ट स्वप्नों को यदि स्वस्थ मनुष्य देखें तो शीघ्र ही अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त होता है। रोगी

देखें तो शीघ्र मृत्युमुखपर जाता है। अब विस्तृत रोगसमूहों के भेद को जाननेवालों के लिये अत्युत्कृष्ट सुख व अभ्युदय के हेतुभूत शुभस्वप्नों को कहेंगे ॥ ३६ ॥

शुभस्वप्न.

पंचगुरून्गुरूत्रृपतीन्वरषोडशजैनसंभव- ।
स्वप्नगणान्जिनेंद्रभवनानि मनोहरमित्रबांधवान् ॥
नदीसमुद्रजलसंतरणोन्नतशैलवाजिसद्वारणा-।
रोहणान्यपि च सौख्यकराण्यधिपश्यतां नृणाम् ॥ ३७ ॥

भावार्थः—जोग रोगी स्वप्न में पंचपरमेष्ठी, अपने गुरु, राजा, जिनेंद्रशासन में बतलाये हुए सोलह स्वप्न, जिनेंद्रमंदिर, सुंदर मित्र बांधव आदि को देखता हो एवं अपनेको नदी समुद्र को पार करते हुए, उन्नत पर्वत, सुंदर घोडा व हाथीपर चढते हुए देखता हो यह सब शुभ चिन्ह हैं। रोगीके लिये सुखकर हैं ॥ ३७ ॥

अन्य प्रकार के अरिष्टलक्षण.

मर्म उपद्रवान्वितमहामयपीडितमुग्रमर्मरो- ।
गव्यथितांगयष्टिमथवा तमतीतसमस्तवेदनम् ॥
त्यक्तनिजस्वभावमसितद्विजतद्रसनोष्ठनिष्ठुरं ।
स्तब्धनिमग्नरक्तविषमेक्षणमुद्गतलोचनं त्यजेत् ॥ ३८ ॥

भावार्थः—जो मर्म के उपद्रव से संयुक्त महामय पीडित है, भयंकर मर्मरोगसे व्याकुलित है, जिस की समस्तवेदनायें अपने आप अकस्मात् चिकित्साके विना शांत होगयी हों, शरीरका वास्तविकस्वभाव एकदम बदल गया हो, दांत काले पडगये हों, जीभ व ओंठ काली व कठिन होगयी हों, आंखें स्तब्ध [जकडजाना] निमग्न (अंदर की ओर घुसजाना) लाल व विषम होगई हों अथवा आंखे उभरी हुई हो, ऐसे रोगीकी चिकित्सा न कर के छोड देना चाहिये। अर्थात् ये उस रोगी के मरण चिन्ह हैं। इन चिन्हों के प्रकट होनेपर रोगी का मरण अवश्य होता है ॥ ३८॥

पश्यति सर्वमेव विकृताकृतिमार्तविशेषशब्दजातिं।
विकृतिं शृणोति विकृतिं परिजिघ्रति गंधमन्यतः ॥
सर्वरसानपि स्वयमपेतरसो विरसान्ब्रवीति यः।
स्पर्शमरं न वेत्ति विलपत्यबलस्तमपि त्यजेद्भिषक् ॥ ३९ ॥

भावार्थः—जो रोगी सर्वरूप को विकृतरूप से देखता है, आर्तनाद जैसे विकृत शब्द को सुनता है, गंध को भी विकृतरूप से सूंघता है, अपनी जिव्हा के रस रहित, विकारस्वाद (निस्वाद) अथवा विकृत रसवाली होनेसे सम्पूर्ण रसों को विरस कहता है, स्पर्शको भी नहीं जानता एवं प्रलाप करता है, निर्बल है, ऐसे रोगी को वैद्य असाध्य समझकर छोड देवें ॥ ३९ ॥

आननसंभृतश्वयथुरंघ्रिगतः पुरुषं- ।
हंति तदंघ्रिजोप्यनुतदाननगः प्रमदां- ॥
गगुह्यगतस्तयोर्मृतिकरोर्धशरीरगतो- ।
प्यर्धतनोर्विशोषणकरः कुरुते मरणं ॥ ४० ॥

भावार्थः—पुरुष के मुख में शोथ उत्पन्न होकर क्रमशः पाद में चला जावे तो और स्त्री के प्रथम पाद में उत्पन्न होकर मुख में आजावें तो, मारक होता है। गुह्य भाग में उत्पन्न शोथ, एवं शरीर के अर्धभाग में स्थित होकर अर्धशरीर को सुखानेवाला शोथ स्त्रीपुरुष दोनों को मारक होता है ॥ ४० ॥

यो विपरीतरूपरसगंधविवर्णमुखो ।
नेत्ररुजां विना सृजति शीतलनेत्रजलम् ॥
दाहनखद्विजाननसमुद्गतपुष्पसुग- ।
भीतिसितासितैररुणितैरनिमित्तकृतैः ॥ ४१ ॥

भावार्थः—जो रोगी विपरीत रूप रस गंधादिकों का अनुभव करता हो, जिसका मुख विवर्ण (विपरीत वर्णयुक्त) होगया हो, जिस के नेत्र से कोई नेत्ररोग के न होनेपर भी शीतल पानी बहरहा हो, जिस के शरीर में अकस्मात् दाह और नाखून, दंत व मुखमण्डल में आकस्मात् सफेद, काले व लाल पुष्प (गोलबिंदु) उत्पन्न होगये हों, तो समझना चाहिये कि उस रोगी का मरण अत्यंत सन्निकट है ॥ ४१ ॥

अन्यरिष्ट.

यश्च दिवानिशं स्वपिति यश्च न च स्वपिति ।
स्पृष्टललाटकूटघटितोच्छ्रितभूरिशिरः ॥
यश्च मलं बृहत्सृजति भुक्तिविहीनतनु- ।
र्य प्रलपनात्पतत्यपि सचेतन एव नरः ॥ ४२ ॥

यश्च समस्तलोकमपि धूमहिमांबुवृतं ।
यश्च धरातलं लिखति तद्विवराकलितं ॥
यश्च रजोविकीर्णरवि पश्यति चात्मवपुः ।
यश्च रुजं न वेत्ति दहनादिकृतां मनुजः ॥ ४३ ॥
यश्च न पश्यति प्रविदितप्रतिबिंबमरं ।
यश्च निषेव्यते कनकमाक्षिकपद्धतिभिः ॥
यश्च दिवाकरं निशिशशिद्युतिवन्ह्यनिलं ।
यश्च शरीरिणं समुपलक्षयति प्रकटम् ॥ ४४ ॥
यस्य ललाटपट्टमुपयांति च यूकगणा ।
यस्य शिरस्यकारणविकीर्णरजोनिचयः ॥
यस्य निमग्नमेव हनुविलंबवृहद्वृषणं ॥
यस्य विनष्टहीनविकृतस्वरता च भवेत् ॥ ४५ ॥
यस्य सितं तदप्यसितवच्छुषिरं घनव-।
यस्य दिवा निशेव वृहदप्यतिसूक्ष्मतरं ॥
यस्य मृदुस्तथा कठिनवद्धिममप्यहिमं ।
यस्य समस्तवस्तु विपरीतगुणं तु भवेत् ॥ ४६ ॥
तान्परिहृत्य दुष्टवहुरिष्टगणान् मनुजान् ।
साधु विचार्य चेष्टितनिजस्वभावगुणैः ॥
व्याधिविशेषविद्भिषगशेषभिषक्प्रवरः ।
साध्यतमामयान्सततमेव स साधयतु ॥ ४७ ॥

भावार्थः—जो रोगी दिन रात सोता हो, जो बिलकुल नहीं सोता हो, जिस के ललाट प्रदेश में स्थित शिरायें उठी हुई नजर आती हों, जो भोजन न करने पर भी बहुत मल विसर्जन करता हो, मूर्छित न होने पर भी वडवड करते हुए गिर पडता हो, सम्पूर्ण लोक को, धूवां, ओस, व पानीसे व्याप्त देखता हो, महीतल को रेखा व रंध्रों [छिद्र सूराक] से व्याप्त देखता हो, अपने शरीर पर धूल बिखेर लेता हो, (अथवा अपने शरीर को धूलि से व्याप्त देखता हो,) अग्नि से जलने व शस्त्रादिक से भिद ने छिद ने आदि से उत्पन्न वेदनाओंको बिलकुल नहीं जानता हो, दर्पणादिक में अपने प्रतिबिम्ब को नहीं देखता हो, जिस पर [स्नान से शरीर साफ होने के पश्चात् भी] कनकमाक्षिक (सुनैरी रंगवाली मक्खियां) समूह आ बैठता हो, रात्रि में सूर्य को, दिन में चंद्र के सदृश कांतियुक्त सूर्य को व न रहते हुए भी अग्नि व वायु को देखता

हो, जो प्रेत राक्षस आदि प्राणियों को अच्छी तरह देखता हो, जिस के ललाट पर यूक [जूं] समूह आकर बैठ जाता हो, शिर बिना कारण रज से [धूल आदि] व्याप्त हो जाता हो, हनु गहरी मालूम पडती हो, नाक अल्प अथवा विकृत होगयी हो, जिसको सफेद वस्तु भी काले दिखते हों, छिद्रसहित भी छिद्ररहित [ठोस] दिखते हों, दिन, रात्रि के समान दिखता हो, बडा भी सूक्ष्मरूप से दिखता हो, मृदु भी कठिन मालूम होता हो, ठण्डा भी गरम मालूम होता हो, अर्थात् जिसे समस्त पदार्थ विपरीत गुण से दिखते हों ऐसे मरणचिन्होंसे युक्त मनुष्योंको उनके स्वभाव, चेष्टा, गुण आदि-योंको से अच्छी तरह विचार कर के, उस रोगीको चिकित्सा में प्रवीण कुशल वैद्य साध्य रोगों को बहुत प्रयत्न के साथ साधन करें अर्थात् चिकित्सा करें॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

रिष्टलक्षणका उपसंहार और मर्मवर्णन प्रतिज्ञा.

प्रोक्तानेतानिष्टरिष्टान्मनुष्यान् ।
त्यक्त्वा धीमान् मर्मसंपीडितांश्च ॥
ज्ञात्वा वैद्यः प्रारभेत्तच्चिकित्सां ।
यत्नाद्वक्ष्ये मर्मणां लक्षणानि ॥ ४८ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकार के मरणचिन्हों से युक्त रोगियोंको एवं मर्म पीडासे व्याप्त रोगियोंको बुद्धिमान् वैद्य छोडकर बाकीके रोगियोंकी चिकित्सा करें। अब बहुत यत्नके साथ मर्मों का लक्षण कहेंगे ॥ ४८ ॥

शाखागत मर्मवर्णन.

क्षिप्र व तलहृदय मर्म.

पादांगुल्यंगुष्ठमध्ये तु मर्म ।
क्षिप्रं नाम्नाक्षेपकेनात्र मृत्युः ॥
तन्मध्यांगुल्यामानुपूर्व्यं तलस्य ।
प्राहुर्मध्ये दुःखमृत्युं हृदाख्यम् ॥ ४९ ॥

भावार्थः—पाद की अंगुली व अंगूठे के बीच में "क्षिप्र" नाम का मर्मस्थान है। वहां भिदने से आक्षेपक वातव्याधि होकर मृत्यु होती है। मध्यमांगुली को लेकर पादतल के बीच में "तलहृदय" नाम का मर्म स्थान है। वहां भिदने से पीडा होकर मृत्यु होती है ॥ ४९ ॥

कूर्चकूर्च शिरगुल्फ मर्म.

मध्यात्पादस्योभयत्रोपरिष्टात् ।
कूर्चो नाम्नात्र क्षते तद्भ्रमः स्यात् ॥
गुल्फाधस्तात्कूर्चशीर्षोऽतिदुःखं ।
शोफो गुल्फे स्तब्धसुप्तिस्वरुक्च ॥ ५० ॥

भावार्थः—पादतल के मध्य [क्षिप्रमर्म] से ऊपर की ओर [पंजेकी तरफ] दोनोंतरफ " कूर्च " नाम का मर्म है । वहां जखम होने पर पाद में भ्रमण वा कम्पन होता है । गुल्फ की संधि से नीचे [दोनों बाजू] " कूर्चशिर " नाम का मर्म है । वहां बिधने से सूजन और पीडा होती है । पाद और जंघा की संधि में " गुल्फ " नाम का मर्म है । वहां चोट लगने से, स्तब्धता [जकड जाना] सुप्ति (स्पर्श ज्ञान का नाश) और पीडा होती है ॥ ५० ॥

इंद्रवस्ति जानुमर्म.

पार्ष्णिप्रत्यूर्ध्वस्वजंघार्धभागे ।
रक्तस्रावादिंद्रवस्तौ मृतिस्स्यात् ॥
जंघोर्वोः संधौ तु जानुन्यमोघं ।
खंजत्वं तत्र क्षते वेदना च ॥ ५१ ॥

भावार्थः—एडी को लेकर (एडी के बराबर) ऊपर की ओर पिंडली के मध्य भाग में " इंद्रवस्ति " नाम का मर्म है । वहां चोट लगने वा बिधनेसे, रक्तस्राव होकर मरण होता है । पिंडली और उस की जोड में " जानु " [घुटना] नामका मर्म स्थान है । वहां क्षत होने पर लंगडापन, और पीडा होती है ॥ ५१ ॥

आणि व उर्वीमर्म.

जानुन्यूर्ध्वे त्र्यंगुलादाणिरुक्च ।
स्थाब्ध्यं सक्थ्नः शोफवृद्धिः क्षतेऽस्मिन् ॥
ऊर्वोर्मध्ये स्यादिहोर्वीति मर्म ।
रक्तस्रावात्सक्थ्निशोफक्षयश्च ॥ ५२ ॥

भावार्थः—जानु के ऊपर (दोनों तरफ) तीन अंगुल में आणि नामक मर्म है, जिस के क्षत होनेपर पीडा साथल की स्तब्धता व शोफकी वृद्धि होती है । ऊरु [साथल] के बीच में ऊर्वी नामका मर्म है । वहां बिंधने से रक्त स्राव होने के कारण, साथल

में सूजन होती है ॥ ५२ ॥

रोहिताक्ष मर्म.

ऊर्व्योस्तूर्ध्वं वंक्षणस्याप्यधस्तादूरोर्मूले रोहिताक्षेऽपि तद्वत् ।
पक्षाघातःसक्थिशोफोऽस्रपातो मृत्युर्वा स्यात्प्राणिनां वेदनाभिः ॥ ५३ ॥

भावार्थः—उर्वी मर्म के ऊपर वंक्षणसंधि के नीचे उस (साथल) के मूल में " रोहिताक्ष " नाम का मर्म है । वहां क्षत होनेपर रक्तस्राव होने से पक्षाघात, (लकुआ) व पैर में सूजन होती है । कभी २ अत्यंत पीडा के साथ प्राणियों का मरण भी होजाता है ॥ ५३ ॥

विटपमर्म.

अण्डस्याधो वंक्षणस्यांतराले शुक्रध्वंसी स्याद्विटीपाख्यमर्म ।
सक्थ्न्येकस्मिन् तान्यथैकादशैव सक्थ्यन्यस्मिन् बाहुयुग्मेऽपि तद्वत् ॥५४॥

भावार्थः—अण्ड व वंक्षण संधि के बीच में " विटप " नाम का मर्म है । वहां क्षत होनेपर शुक्रधातु का नाश होता है [इसीलिये नपुंसकत्व भी होता है] इस प्रकार एक टांग में ग्यारह मर्म स्थान हुए । इसी प्रकार दूसरी टांगमें दोनों हाथोमें ग्यारह २ मर्म स्थान जानना चाहिये ॥ ५४ ॥

पादे गुल्फसुजानुसद्विटपनामान्यत्र वैशेषतो ।
बाहौ तन्मणिबंधकूर्परलसत् कक्षाक्षसंधारणा– ॥
ख्यानि स्युः कथिता उपद्रवगणाश्चात्रापि सर्वे चतु– ।
श्चत्वारिंशदिहाखिलानि नियतं मर्माणि शाखास्वलं ॥ ५५ ॥

भावार्थः—ऊपर कहा गया है कि जो पात्रों के मर्म होते हैं वे ही हाथ में होते हैं । लेकिन् इन दोनों में परस्पर इतना विशेष है कि जो पैर में गुल्फ, जानु विटप मर्म हैं हाथो में उन के जगह क्रमशः मणिबंध, कूर्पर, कक्षधर नाम का मर्म जानना । अर्थात् गुल्फ के स्थान में " मणिबंध " जानु के स्थान में " कूर्पर " विटप के स्थान में " कक्षधर " समझना चाहिये । इन मर्मों के बिधने से, वे लक्षण प्रकट होते हैं जो गुल्फादिक में होते हैं । इस प्रकार शाखाओं [हाथ पैर] में ४४ चवालीस निश्चित मर्मों का वर्णन हुआ ॥ ५५ ॥

गुदबस्तिनाभिमर्मवर्णन.

अथ प्रवक्ष्याम्युदरोरसास्थितानशेषमर्माणि विशेषलक्षणैः ।
गुदे च बस्तौ वरनाभिमण्डले क्षते च सद्यो मरणं भवेन्नृणाम् ॥ ५६ ॥

भावार्थः—अब पेट व हृदय में रहनवाले सम्पूर्ण मर्मों को उन के विशेष लक्षण कथन पूर्वक कहेंगे ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं। अपानवायु व मलके निकलनेके द्वारभूत बृहदंत्र से मिला हुआ जो गुद है वही " गुद मर्म " है। कमर के भीतर जो मूत्राशय [मूत्र ठहरने स्थान] है वही " वस्ति मर्म " कहलाता है। आमाशय व पक्वाशय के बीच में शिराओं से उत्पन्न जो नाभिस्थान है, वह "नाभिमर्म" कहलाता है। इन तीनों मर्म स्थानों के क्षत होनेपर मनुष्यों का सद्य [उसी वखत] ही मरण होता है ॥ ५६ ॥

हृदय, स्तनमूल, स्तनरोहितमर्मलक्षण.

उरस्यथामाशयमार्गसंस्थितं स्तनांतरे तद्धृदयं हतः पुनः ।
करोति सद्यो मरणं तथांगुलद्वयेप्यधस्तात्स्तनयोरिहापरे ॥ ५७ ॥
कफाधिकेन स्तनमूलमर्मणि कफःप्रकोपान्मरणं भवेन्नृणाम् ।
स्तनोपरि ह्यंगुलतस्तु मर्मणी सरक्तकोपात्स्तनरोहितौ तथा ॥ ५८ ॥

भावार्थः—छाती में दोनों स्तनों के बीच, आमाशय के ऊपर के द्वार में स्थित, जो हृदय है (जो रक्त संचालन के लिये मुख्यसाधनभूत है) वह "हृदय मर्म" कहलाता है। वहां क्षत होनेपर उसी वखत मरण होता है। दोनों स्तनों [चूचियों] के नीचे दो अंगुलप्रदेश में " स्तनमूल " नाम का मर्मस्थान है। यहां क्षत होवे तो कफप्रकोप से, अर्थात् प्रकुपितकोष्ठ में कफ भरजाने से मृत्यु होती है। दोनों चूचियों के ऊपर दो अंगुल प्रदेश में " स्तनरोहित " नामक दो मर्म रहते हैं। वहां क्षत होवें तो रक्त प्रकुपित होकर [रक्त कोष्ठ में भरजाने से] मरण होता है ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

कपाल, अपस्तम्भमर्मलक्षण.

अथांसकूटादुपरि स्वपार्श्वयोः कपालकाख्ये भवतस्तु मर्मणी ।
तयोश्च मृत्यू रुधिरेऽतिपूयतां गते पुनर्वातवहे तथापरे ॥ ५९ ॥
प्रधाननाड्यावुभयत्र वक्षसो मतेस्त्वपस्तंभविशेषमर्मणी ।
ततश्च मृत्युर्भवतीह देहिनां स्ववातपूर्णोदरकासनिस्वनैः ॥ ६० ॥

भावार्थः—अंसकूटों (कंधों के नीचे, पार्श्वों पंसवाडों) के ऊपर " कपाल " नाम के दो मर्म हैं। यहां क्षत होनेपर, रक्त का पीप होकर मृत्यु होती है। छाती के दोनों तरफ वात वहनेवाली दो नाडियां रहती हैं। उन में " अपस्तम्भ "[1] नाम के दो मर्म रहते हैं। इस में क्षत होनेपर उदर में वात भरजाता है व कासश्वास से मृत्यु होती है ॥ ५९ ॥ ६० ॥

---

१ इसे ग्रंथांतरों में " अपलाप " भी कहते हैं।

कटीकतरुण.

प्रोक्ता द्वादशमर्मलक्षणगुणाः कुक्षौ तथा वक्षसि ।
प्रायः पृष्ठगतान्यपि प्रतिपदं वक्ष्यामि मर्माण्यहम् ।
वंशस्योभयतः कटीकतरुणे पृष्ठस्य मूले प्रति ॥
श्रोण्यस्थ्याश्रितमर्मणीह कुरुतः शुक्रक्षयः क्लीवताम् ॥ ६१ ॥

भावार्थः—इस प्रकार कुक्षि व वक्षस्थान में बारह प्रकार के मर्मस्थान कहे गये हैं। और पीठमें रहनेवाले मर्मस्थानों को भी कहेंगे। पीठ के वंशास्थि के दोनों तरफ, पीठ के मूल में कमर के दोनों हड्डियो में "कटीकतरुण" नामक दो मर्म रहते हैं। वहां क्षत होवें तो शुक्र का नाश व नपुंसकता होती है ॥ ६१ ॥

कुकुंदर, नितम्ब, पार्श्वसंधिमर्मलक्षण.

पृष्ठस्योभयपार्श्वयोर्घनबहिर्भागे तथा मर्मणि ।
वंशस्योभयतः कुकुंदर इति प्रख्यातसन्नामनि ॥
तत्र स्यात्सततं नृणां क्षतमधः काये च शोफावहम् ।
चेष्टाध्वंसपरं स्वकाशयनिजप्रच्छादने मर्मणी ॥ ६२ ॥
श्रोणीकांडयुगोपरीह नियतं बद्धौ नितंबौ ततः ।
शोषःकार्श्यमधःशरीरनिहितावन्ये च मर्माण्यतः ॥
श्रोणी पार्श्वयुगस्य मध्यनिलयौ संधी च पार्श्वादिका— ।
वस्रापूर्णमहोदरेण मरणं प्राप्नोति मर्त्यः क्षते ॥ ६३ ॥

भावार्थः—पीठ के दोनो पार्श्वों (पंसवाडो) के बाहर के भाग में, वंशास्थि (पीठ के बांस की हड्डी) के दोनों बाजू "कुकुंदर" नाम के दो मर्मस्थान हैं। उन में चोट लग जाय तो शरीर के निचले भाग [कमर से नीचे] में सूजन अथवा चेष्टा नष्ट होकर मरण होता है। दोनों श्रोणीकांड (पूर्वोक्त कटीकतरुण) से ऊपर के आशय [स्थान] को ढकनेवाले पंसवाडे से बंधे हुए "नितम्ब" नामक दो मर्म हैं। इन में चोट लगने से, शरीर का निचला भाग सूख जाता है और दुर्बल होकर मरण होता है। श्रोणी व दोनों पसलीयोंके बीच में "पार्श्वसंधि" नामक दो मर्म स्थान हैं। उन में चोट लगने से, उदर (कोठा) में रक्त भरकर मृत्यु होती है ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

बृहती, असंफलक मर्म लक्षण.

वंशस्योभयभागतस्तनयुगस्यामूलतोप्यार्जवं ।
पृष्ठेऽस्मिन् बृहतीद्वयाभिहितमर्मण्यत्र रक्तस्रुते ॥

मृत्युः पृष्ठतलोपरि त्रिकगते मर्मण्यथासाटकं [?]
स्यातां तत्फलके क्षतेऽपि करयोः स्वापातिशोषो नृणाम् ॥ ६४ ॥

भावार्थः—दोनों स्तनों के मूलभाग से लेकर सीधा, पीठ में पृष्ठवंश [पीठ के बांस] के दोनों भागतक, " बृहती " नाम के दो मर्मस्थान हैं। वहां अभिघात होने से रक्तस्राव होकर मृत्यु होती है। पीठ के ऊपर के भाग में [पीठ के बांस के दोनों तरफ] त्रिकस्थान से बंधे हुए " अंसफलक " नाम के दो मर्म हैं। वहां जखम होनेपर हाथ सूख जाते हैं अथवा सुन्न पड जाते हैं ॥ ६४ ॥

कृकन्या अंसमर्मलक्षण.

ग्रीवांसद्वयमध्यभागनियतौ स्यातां कृकन्यांसकौ।
तत्र स्तब्धशिरोंसबाहुनिजपृष्ठ स्यान्नरो वीक्षते ॥
तान्येतानि चतुर्दश प्रतिपदं पृष्ठे च मर्माण्यनु–॥
व्याख्यातान्यत ऊर्ध्वजत्रु विहिताशेषाणि वक्ष्यामहे ॥ ६५ ॥

भावार्थः—ग्रीवा व अंस [कांधे] के बीच में " कृकन्यांसक " नाम के दो मर्मस्थान होते हैं। जिन में आघात होने से शिर, अंस, बाहु व पीठ के स्थान स्तब्ध (जकड जाना) होते हैं। इस प्रकार पीठ में रहने वाले चौदह प्रकार के मर्म स्थान कहे गये हैं। अब हंसली की हड्डी के ऊपर रहनेवाले सर्व मर्मस्थानोंको कहेंगे ॥ ६५॥

ऊर्ध्वजत्रुगत मर्म वर्णन.

कंठे नाडीमुभयत इतो व्यत्ययान्नीलमन्ये।
द्वे द्वे स्यातामधिकतरमर्मण्यमी मूकतो वा॥
वैस्वर्यं वा विरस रसनाभावतो मृत्युरन्या।
श्चाष्टौ ग्रीवाशिरामातृका मृत्युरूपाः ॥ ६६ ॥

भावार्थः—कंठ नाडी के दोनों पार्श्वो में चार धमनी रहती हैं। उन में एक बाजू में एक " नीला " एक " मन्या " इसी तरह दूसरी बाजू में भी एक " नीला, एक " मन्या " नाम के चार मर्म स्थान हैं। उन में चोट लगने से गूंगापना, स्वर विकार, जीभ विकृतरसवाली (रस ज्ञानकी शून्यता) होकर मृत्यु होती है। ग्रीवा (गला) के दोनों तरफ, चार चार शिरायें रहती हैं। उन में 'मातृका' नामक आठ मर्म रहते हैं। उन में चोट लगने से उसी समय मरण होता है ॥ ६६ ॥

कृकाटिका विधुर मर्मलक्षण.

ग्रीवासंधावपि च शीर्षत्वकृन्मर्मणी द्वे ।
स्यातां मृत्योर्निलयनिजरूपे कृकाटाभिधाने ॥
कर्णस्याधो विधुर इति मर्मण्यथा कर्णसंधौ ।
बाधिर्यं स्यादुपहतवती प्रोक्त तत्पृष्ठभागे ॥ ६७ ॥

भावार्थः—कंठ और शिर की संधिमें मस्तक के बराबर रहनेवाले दो मर्म स्थान होते हैं जो साक्षात् मृत्यु के समान होते हैं । उनका नाम " कृकाटिका " हैं । [इन में चोट लगने से शिरकम्पने लगता है] कान के नीचे पीछे के भाग में कान की संधि में " विधुर " नाम के दो मर्म हैं । वहां चोट लगने से बहरापन हो जाता है ॥ ६७ ॥

फण अपांगमर्मलक्षण.

घ्राणस्यांतर्गतमुभयतः स्रोतसो मार्गसंस्थे ।
मर्मण्येतेऽप्यभिहतफणे तत्र गंधप्रणाशः ॥
अक्ष्णोर्बाह्ये प्रतिदिनकटाक्षेऽप्यपांगाभिधाने ।
मर्मण्यांध्यं जनयत इतस्तत्र घातान्नराणां ॥ ६८ ॥

भावार्थः—नाक के अंदर दोनों बाजू, छिद्र के [सूराक] मार्ग में रहनेवाले अर्थात् छिद्रमार्ग से प्रतिबद्ध, "फण" नामक दो मर्म रहते हैं । वहां आघात पहुंचनेसे गंधग्रहण शक्ति का नाश होता है । आंखों के बाहर के भाग में (भ्रुकुटी पुच्छ से नीचे को) " अपांग " नाम के दो मर्म हैं । वहां चोट लगने से अंधापन हो जाता है ॥ ६८ ॥

शंख, आवर्त, उत्क्षेपक, स्थपनी सीमंतमर्मलक्षण.

भ्रूपुच्छोपर्यनुगतललाटानुकर्णे तु शंखौ- ।
ताभ्यां सद्यो मरणमथ मर्मभ्रुवोरूर्ध्वभागे ॥
आवर्ताख्यावमलनयनध्वंसिनौ दृष्टयुपघ्ना- ।
व्युत्क्षेपावप्युपरि च तयोरेव केशांतजातौ ॥ ६९ ॥
जीवेत्तत्र क्षतवति सशल्येऽथवा पाकपाता- ।
द्भ्रूमध्ये तत्तादिव विदितं स्यात् स्थपन्येकमर्म ॥
पंचान्ये च प्रविदितमहासंधयश्चोत्तमांगे ।
सीमंताख्यो मरणमपि दुश्चित्तनाशोन्मदैश्च ॥ ७० ॥

भावार्थः—भ्रू पुच्छ के ऊपर ललाट व कर्ण के बीच में शंखनामक दो मर्म स्थान हैं। जिनपर आघात होने से सद्य ही मरण होता है। भ्रू के ऊपर के भाग में आवर्त नामक दो मर्मस्थान हैं। जिनपर आघात होने से दोनों आंखे नष्ट ही जाती हैं। शंखमर्मों के ऊपर की सीमा में " उत्क्षेपक " नामक दो मर्मस्थान हैं। इन में शल्य (तीर) आदि लगे तो जबतक उन में शल्य घुसा रहें तबतक मनुष्य जीता है। अथवा स्वयं पक कर वह शल्य अपने आप ही गिरजावे तो भी जीता है। लेकिन वह शल्य खींच कर निकाल दिया जावें तो उसी समय मृत्यु होती है। दोनों भ्रुओं के बीच में " स्थपनी " नाम का मर्म है। उस में आघात होने से, उत्क्षेपकमर्म जैसी घटना होती है। शिर में पांच महासंधियां [जोड] हैं। वे पांच ही संधि " सीमंत " नाम से ५ मर्म कहलाते हैं। वहां आघात पहुंचने से चित्तविभ्रम व पागलपना होकर, मृत्यु भी होजाती है॥ ६९ ॥ ७० ॥

शृंगाटक अधिपमर्मलक्षण.

> जिह्वाघ्राणश्रवणनयनं स्वस्वसंतर्पणीनां ।
> मध्ये चत्वार्यमलिनशिराणां च श्रृंगाटकानि ॥
> सद्यो मृत्यून्यधिकृतशिरासंधिबंधैकसंधौ ।
> केशावर्ताबाधिपतिरिति क्षिप्रमृत्युः प्रादिष्टः ॥ ७१ ॥

भावार्थः—जीभ, नाक, कान, आंख इन को तर्पण [तृप्त] करनेवाली चार प्रकार की निर्मल शिराओं के चार सन्निपात (मिलाप) रहते हैं। वे शिरासन्निपात " श्रृंगाटक " नाम के मर्म हैं। वे चार हैं। इन में आघात पहुंचने से उसी समय मृत्यु होती है। मस्तक में [मस्तक के अंदर ऊपर के भाग में] जो शिरा और संधि का मिलाप है और जहां केशों के आवर्त [भंवर] है। वहीं " अधिपति " नामक मर्मस्थान है। वहां अभिघात होने से शीघ्र ही मरण होता है ॥ ७१ ॥

सम्पूर्ण मर्मोंके पांच भेद.

> सप्ताधिकत्रिंशदिहोत्तमांगे मर्माणि कंठप्रभृतीन्यशेषा-।
> ण्युक्तानि पंच प्रकराण्यथास्थिस्नायूरु संध्युग्रशिरास्त्वमांसैः ॥७२॥

भावार्थः—इस प्रकार कंठ को आदि लेकर मस्तक पर्यंत सैंतीस मर्मस्थान कहे गये हैं। एवं वे मर्मस्थान, अस्थि, स्नायु, संधि, शिरा व मांस के भेदसे पांच प्रकार से यथा=अस्थिमर्म, स्नायुमर्म, संधिमर्म, शिरामर्म व मांसमर्म विभक्त हैं ॥ ७२ ॥

कटीकतरुणान्वितांसफलके तथा शंखका ।
नितंबसहितानि तान्यमलिनास्थिमर्माण्यलं ॥
सकक्षधरकूर्चकूर्चशिरसाककन्यांसका- ।
सबस्तिविधुरैरपि सुविटपं तथोत्क्षेपकाः ॥ ७३ ॥
क्षिप्रेऽऽण्यपि स्नायुमर्माण्यशेषाण्युक्तान्यूर्ध्वं संधिमर्माणि वक्ष्ये ।
जानुन्येवं कूर्परे गुल्फसीमंतावर्ताख्याश्चाधिपेनाप्यथान्ये ॥ ७४ ॥
कृकाटिकाभ्यां मणिबंधकौ तथा कुकुंदुरे मर्ममयोरुसंधयः ।
अपालकाख्यस्थपनीफणस्तनप्रधानमूलान्यपि नीलमन्यका ॥७५॥
शृंगाटकापांगसिराधिमातृकाश्चोर्वी बृहत्यूर्जितपार्श्वसंधयः ।
हृन्नाभ्यपस्तंभकलोहिताक्षकाः प्राहुश्शिरामर्मविशेषवेदिनः ॥७६॥
तलहृदयेंद्रबस्तिगुदनामयुतस्तनरोहितान्यपि ।
प्रकटितमांसमर्मगण इत्यखिलं प्रतिपादितं जिनैः ॥
बहुविधमर्मवेदिभिषगशेषविपक्षगरोगलक्षणैः ।
समुचितमाचरेत्तदपि पंचविधं फलमत्र मर्मणाम् ॥ ७७ ॥

भावार्थः—कटीकतरुण, अंसफलक, शंख, नितम्ब नाम के जो मर्मस्थान हैं वे अस्थिगत मर्मस्थान हैं अर्थात् अस्थिमर्म है। कक्षधर, कूर्च, कूर्चशिर, कृकन्यांसक, बस्ति, विधुर, विटप, उत्क्षेपक, क्षिप्र व आणि नाम के जो मर्म कहे गये हैं वे स्नायुमर्म कहलाते हैं। जानु, कूर्प, गुल्फ, सीमंत, आवर्त, अधिपति, कृकाटिका, मणिबंध, कुकुंदर इतने मर्म संधिमर्म कहलाते हैं। अपालक (अपलाप) स्थपनी, फण, स्तनमूल, नीला, मन्या, शृंगाटक, अपांग, मातृका, उर्वी, बृहती, पार्श्वसंधि, हृदय, नाभि, अपस्तम्भक, लोहिताक्ष ये शिरामर्म हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है। तलहृदय, इंद्रबस्ति, गुदा, स्तनरोहित ये मांसमर्म हैं अनेक प्रकार के मर्मों के मर्म जाननेवाला वैद्य, सम्पूर्ण विपरीत व अविप- रीतगत लक्षणोंसे रोग को निश्चय कर उचित चिकित्सा करें। इन मर्मों के फल भी पांच प्रकार के हैं। अतएव फिर (द्वितीय प्रकार) से इन सभी मर्मों के १ सद्यप्राणहर, २ कालांतर प्राणहर, ३ विशल्यघ्न, (शल्य निकलते ही प्राणघात करनेवाले) ४ वैकल्य- कर, रुजाकर इस तरह, पांच भेद होते हैं ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

सद्यप्राणहर व कालांतरप्राणहरमर्म.

मोत्रत्कंठशिरागुदोहृदयबस्त्युक्तोरुनाभ्यां सदा ।
सद्यः प्राणहराणि तान्यधिपतिः शंखौ च शृंगाटकैः ॥

वक्षो मर्मतलेंद्रबस्तिसहितं क्षिप्राणि सीमंतकैः ।
पार्श्वे संधियुगं बृहत्यपि तथा घ्नंत्येव कालांतरात् ॥ ७८ ॥

भावार्थः—८कंठ की शिरा, १ गुदा, १हृदय, १ बस्ति, १ नाभि, १ अधिपति, २ शंख, ४ शृंगाटक, ये १९ मर्म सद्यः प्राणहर हैं। अर्थात् इन में आघात पहुंचनेपर, तत्काल मृत्यु होती है। ८ वक्षस्थल [छाती] के मर्म, ४ तलहृदय, ४ इंद्रबस्ति, ४ क्षिप्र, ५ सीमंत, २ पार्श्वसंधि, २ बृहती, ये २९ मर्म कालांतर प्राणघातक है [इन में आघात पहुंचने से, कुछ समय के बाद मरण होता है] ॥ ७८ ॥

विशल्यघ्न वैकल्यकर व रुजाकरमर्म.

उत्क्षेपः स्थपनी च मर्म सुविशल्यघ्नान्यतः प्राणिनां ।
जानूर्वी विटपोक्तकक्षधरकूर्चापांगनीला क्रक- ॥
न्यांसावर्त कुकुंदुरांसफलकोद्यल्लोहिताक्षाणिभि- ।
र्मन्याभ्यां सफणे नितंबविधुरं तत्कूर्पराभ्यां सह ॥ ७९ ॥
कृकाटिकाभ्यां तरुणे च मर्मणी भवंति वैकल्यकराणि कारणैः ।
सकूर्चशीर्षामणिबंधगुल्फकौ रुजाकराण्यष्टविधानि देहिनाम् ॥८०॥

भावार्थः—१ उत्क्षेपक १ स्थपनी, ये मर्म विशल्यघ्न हैं। अर्थात् घुसा हुआ शल्य निकलते ही प्राण का घात कर देते हैं। २ जानु, ४ उर्वी, २ विटप, २ कक्षधर ४ कूर्च, २ अपांग, २ नीला, २ क्रकन्यांसक (अंस) २ आवर्त, २ कुकुंदर, २ अंसफलक, ४ लोहिताक्ष, ४ आणि, २ मन्या, २ फण, २ नितम्ब, २ विधुर, २ कूर्पर, २ कृकाटिक, २ कटीकतरुण, ये ४८ मर्म, वैकल्यकर हैं। अर्थात् इन में चोट लगनेसे अंगों की विकलता होती है। ४ हाथ पैरों के कूर्चशिर, २ मणिबंध, २ गुल्फ ये आठ मर्म रुजाकर हैं अर्थात् इन में आघात पहुंचने से मनुष्योंको अत्यंत पीडा अथवा कष्ट होता है ॥ ७९ ॥ ८० ॥

मर्मोंकी संख्या.

सद्यः प्राणहराणि तान्यसुभृतामेकोनसद्विंशतिः ।
कालात्त्रिंशदिहैकहीनविधिना घ्नंत्येव शल्योद्गमात् ॥
चत्वारिंशदिहाष्टकोत्तरयुतं वैकल्यमस्यावहे- ।
दष्टावेव रुजाकराणि सततं मर्माणि संख्यानतः ॥ ८१ ॥

भावार्थः—इस प्रकार उन्नीस मर्म सद्यः प्राणहरनेवाले हैं। उनतीस मर्म,

कालांतरमें प्राणघात करनेवाले हैं । तीन मर्म विशल्यघ्न हैं । अडतालीस मर्म वैकल्यकारक हैं । आठ मर्म रुजाकर हैं । इस प्रकार कुल १०७ मर्म स्थानोंका कथन किया गया है ॥ ८१ ॥

पक्षान्मर्माभिघातक्षतयुतमनुजा वेदनाभिर्म्रियंते ।
सद्वैद्यप्रोक्तयुक्ताचरणविविधभैषज्यवर्गैः कदाचित् ॥
जीवंतोप्यंगहीना बधिरचलशिरस्कन्धमूकोन्मदभ्रा- ।
न्तोर्ध्वाक्षा भवंति स्वरविकलतया मन्मना गद्गदाश्च ॥ ८२ ॥

भावार्थः—मर्मस्थानों में आघात पहुंचने से उत्पन्न जख्मसे पीडित मनुष्य, उस की प्रबल वेदना से, प्रायः एक पक्ष [पंद्रह दिन] के अंदर मर जाते हैं । कदाचित् उत्तम वैद्य के द्वारा कहे गये, योग्य आचरणों को बराबर पालन करने से व नाना-प्रकार के औषधों के प्रयोग से बच भी जाय, तो भी वह, अंगहीन, बहरा, कांपते हुए शिर व कंधों से युक्त, मूक, पागल, भ्रांत, ऊर्ध्वनेत्रवाला, स्वरहीन अथवा मनमन, गद्गद स्वरवाला होकर जीता है ॥ ८२ ॥

मर्मवर्णन के उपसंहार.

मर्माण्यङ्गुष्ठसमप्रमाणमखिलैरुग्रामयैर्वा क्षतै- ।
रन्ते विद्धमिहापि मध्यमहतं पार्श्वाभिसंघट्टितम् ॥
तत्तत्स्थानविशेषतः प्रकुरुते स्वात्मानुरूपं फलं ।
तद्ब्रूयाद्द्विपगत्र मोहमपनीयाप्तोपदिष्टागमात् ॥ ८३ ॥

भावार्थः—मर्मों के प्रमाण अंगुष्ठ [अंगुल] के बराबर है अर्थात् कुछ मर्म एक अंगुल प्रमाण हैं कुछ दो, कुछ तीन । सम्पूर्ण भयंकर रोग व कोई चोट से, मर्मोंका अंत प्रदेश मध्यप्रदेश या पार्श्वप्रदेश पीडित हो, तो उन उन विशिष्ट स्थानों के अनुकूल फल (परिणाम) भी होता है । जैसे सद्यःप्राणहर मर्म के अंत प्रदेश विंधजाय, तो वह [तत्काल प्राणनाश करनेवाला भी] कालांतर में मारता है । कालांतर में मारक मर्म का

१ ऊर्वी, कूर्चशिर, विटप और कक्षधर ये मर्म एक एक अंगुल प्रमाणके हैं । स्तनमूल, मणिबंध गुल्फ ये मर्म दो अंगुल प्रमाणवाले हैं । जानु और कूर्पर तीन २ अंगुल प्रमाणवाले हैं । हृदय बस्ति, कूर्च, गुदा, नाभि और शिर के चार मर्म, शृंगाटक और कपाल के पांच मर्म, एवं गले के दश मर्म, ८ मातृका, दो नीला, दो मन्या ये सब चार चार अंगुल प्रमाण के हैं । इनको छोडकरके जो मर्मस्थान बच जाते हैं वे सब अर्द्धांगुल प्रमाण के हैं ।

अंतप्रदेश विंध जाय तो विकलताकारक हो जाता है। सद्वैद्य को उचित है कि आप्त के द्वारा उपदिष्ट आगमों के आधार से अज्ञान को दूर कर विद्ध मर्मो के स्थानानुकूल जो फल है उन को देखकर कह दें ॥ ८३ ॥

उग्रादित्याचार्य का गुरुपरिचय.

श्रीनंद्याचार्यादशेषागमज्ञाद्ज्ञात्वा दोषान् दोषजानुग्ररोगान् ।
तद्भैषज्यप्रक्रमं चापि सर्वं प्राणावादादेतदुध्दृत्य नीतम् ॥ ८४ ॥

भावार्थः—सम्पूर्ण आयुर्वेदशास्त्र को जाननेवाले, श्रीनंदि आचार्य की कृपासे प्राणावादपूर्व[1] शास्त्र से, उध्दृत किये गये इस अष्टांग संयुक्त आयुर्वेद शास्त्र को, और उस में कथन किये गये त्रिदोष स्वरूप, त्रिदोषजन्य भयंकर रोग व उन को नाश करनेवाले औषध व प्रतीकारविधि इत्यादि सर्वविषयों को [सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र को जाननेवाले श्रीनंदि नामक आचार्यकी कृपा से] जानकर प्रतिपादन किया है। मुख्याभिप्राय इतना है कि उग्रादित्याचार्य के गुरु श्रीनंद्याचार्य थे ॥ ८४ ॥

अष्टांगोंके प्रतिपादक पृथक् २ आचार्यों के शुभनाम.

शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्र– ।
स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः[2] प्रसिद्धैः ॥
काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां ।
वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनींद्रैः ॥ ८५ ॥

भावार्थः—श्री पूज्यपाद आचार्यने शालाक्यतंत्र, पात्रकेसरी स्वामी ने शल्यतंत्र, प्रसिद्ध आचार्य सिद्धसेन भगवान् ने अगदतंत्र व भूतविद्या [ग्रहरोगशमनविधान] दशरथ मुनीश्वर ने कायचिकित्सा, मेघनादाचार्यने कौमारभृत्य और सिंहनाद मुनींद्रने वाजीकरणतंत्र व दिव्यरसायनतंत्र को बडे विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। १ शल्यतंत्र. २ शालाक्यतंत्र. ३ अगदतंत्र. ४ भूतविद्या. ५ कायचिकित्सा. ६ कौमा-

---

१ द्वादशांग शास्त्र में जो दृष्टिवाद नाम का जो बारहवां अंग है उसके पांच भेदों में से एक भेद पूर्व (पूर्वगत) है। उसका भी चौदह भेद है। इन भेदों में जो प्राणावाद पूर्वशास्त्र है उसमें विस्तारके साथ अष्टांगायुर्वे॰ का कथन किया है। यही आयुर्वेद शास्त्रका मूलशास्त्र अथवा मूलवेद है। उसी वेद के अनुसार ही सभी आचार्योंने आयुर्वेद शास्त्र का निर्माण किया है।

२ सिंहसेनै इति क. पुस्तके।

रभृत्य. ७ वाजीकरणतंत्र व ८ रसायनतंत्र. ये आयुर्वेद के आठ अंग हैं । इन आठों अंगों को उपरोक्त आचार्यों ने अपने २ ग्रंथो में विशेषरीति से वर्णन किया है यह पिंडार्थ है ॥ ८५ ॥

अष्टांग के प्रतिपादक स्वामी समंतभद्र.

अष्टांगमप्यखिलमत्र समंतभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात् ।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ॥

भावार्थः—प्रातःस्मरणीय भगवान् समंतभद्राचार्यने तो, पूर्वोक्त आठों अंगों को पूर्ण रूप से, बडे विस्तार के प्रतिपादन किया है अर्थात् आठों अंगो को विस्तार के साथ प्रतिपादनकरनेवाले एक महान् ग्रंथ की रचना की है । उन आठों अंगों को इस कल्याणकारक नामके ग्रंथमें अपने शक्तिके अनुसार, संक्षेपसे हम [उग्रादित्याचार्य] ने प्रतिपादन किया है ॥ ८६ ॥

ग्रंथनिर्माणका स्थान.

वेंगीशत्रिकलिंगदेशजननप्रस्तुत्य सानूत्कट ।
प्रोद्यद्वृक्षलतावितानिरते सिद्धैस्सविद्याधरैः ॥
सर्वैर्मंदरकन्दरोपमगुहाचैत्यालयालंकृते ।
रम्ये रामगिरौ मया विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम् ॥ ८७ ॥

भावार्थः—कलिंग देशमें उत्पन्न सुंदर सानु (पर्वतके एक सम भूभाग प्रदेश) मनोहर वृक्ष व लतवितान से सुशोभित, विद्याओंसे सिद्ध विद्याधरोंसे संयुक्त, मंदराचल [मेरु पर्वत] के सुंदर गुफाओं के समान रहनेवाले, मनोहर गुफा व चैत्यालयों (मंदिर) से अलकृंत, रमणीक रामगिरि में प्राणियों के हितकारक, इस शास्त्र की हमने (उग्रादित्याचार्य) रचना की है ॥ ८७ ॥

ग्रंथकर्ताका उद्देश.

न चात्मयशसे विनोदननिमित्ततो वापि स– ।
त्कवित्वनिजगर्वतो न च जनानुरागाशया– ॥
त्कृतं प्रथितशास्त्रमेतदुरुजैनसिद्धांतमि– ।
त्यहर्निशमनुस्मराम्यखिलकर्मनिर्मूलनम् ॥ ८८ ॥

भावार्थः—हमने कीर्ति की लोलुपता से वा विनोद के लिये अथवा अपने

कवित्व के गर्व से, या हमारे ऊपर मनुष्यों के प्रेम हो, इस आशय से, इस प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना नहीं की है। लेकिन् यह समस्तकर्मोंको नाश करनेवाला महान् जैनसिद्धांत है, ऐसा स्मरण करते हुए इस की रचना की है ॥ ८८ ॥

मुनियों को आयुर्वेद शास्त्र की आवश्यकता.

आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित् ।
स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम् ॥
अन्यस्स्वदोषकृतरोगनिपीडितांगो ।
वध्नाति कर्म निजदुष्परिणामभेदात् ॥ ८९ ॥

भावार्थः—जो विद्वान् मुनि आरोग्यशास्त्र को अच्छीतरह जानकर उसी प्रकार आहार विहार रखते हुए स्वास्थ्य रक्षा कर लेता है, वह सिद्धसुखके मार्गको प्राप्त कर लेता है। जो स्वास्थ्यरक्षाविधान को न जानकर, अपने आरोग्य की रक्षा नहीं कर पाता है वह अनेक दोषों से उत्पन्न रोगों से पीडित होकर अनेक प्रकार के दुष्परिणामों से कर्मबंध कर लेता है ॥ ८९ ॥

आरोग्य की आवश्यकता.

न धर्मस्य कर्ता न चार्थस्य हर्ता न कामस्य भोक्ता न मोक्षस्य पाता ।
नरो बुद्धिमान् धीरसत्त्वोऽपि रोगी यतस्तद्विनाशाद्भवेन्नैव मर्त्यः ॥९०॥

भावार्थः—मनुष्य बुद्धिमान्, दृढमनस्क होनेपर भी यदि रोगी हो तो वह न धर्म कर सकता है न धन कमा सकता है और न मोक्षसाधन कर सकता है। अर्थात् रोगी धर्मार्थकाममोक्षरूपी चतुःपुरुषार्थ को साधन नहीं कर सकता। जो पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर पाता है वह मनुष्यभव में जन्म लेने पर भी, मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। क्यों कि मनुष्य भव की सफलता, पुरुषार्थ प्राप्त करने से ही होती है ॥९०॥

इत्युग्रादित्याचार्यवर्यप्रणीतं शास्त्रं शस्त्रं कर्मणां मर्मभेदी ।
ज्ञात्वा मर्त्यैस्सर्वकर्मप्रवीणैः लभ्यंतेके धर्मकामार्थमोक्षाः ॥ ९१ ॥

भावार्थः—इस प्रकार उग्रादित्याचार्यवर्यके द्वारा प्रतिपादित यह शास्त्र जो कर्मों के मर्मभेदन करनेके लिये शस्त्रके समान है। इसे सर्वकर्मों में प्रवीण कोई २ मनुष्य जानकर, धर्म, अर्थ, काम मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् इस शास्त्र में प्रवीण होकर इस के अनुसार अपने आरोग्य को रक्षण करके, पुरुषार्थों को प्राप्त करना चाहिये ॥९१॥

शुभकामना.

सद्द्रव्योद्भासमानस्फुटतरमहितस्सेव्यमानो विशिष्टैः ।
वीर्यैरारार्जितैरूर्जितनिजचरितो जैनमार्गोपमानः ॥
आयुर्वेदस्सलोकव्रतविधिरखिलप्राणिनिःश्रेयसार्थं ।
स्थेयादाचंद्रतारं जिनपतिविहिताशेषतत्वार्थसारम् ॥ ९२ ॥

भावार्थः—जो द्रव्यों के स्वरूप को स्पष्टरूप से बतलानेवाला है, भले प्रकार से पूजनीय है, उज्वल वीर्यवान् महापुरुष भी जिसको सेवन (मनन अभ्यास धारण आदि रूप से) करते हैं जिस का चरित [कथन] जैन धर्म के अनुसार निर्मल है, दोषरहित है, ऐसे आयुर्वेद नामक व्रतविधान लोक के समस्तप्राणियों के अभ्युदय के लिये जबतक इस पृथ्वी में सूर्य, चंद्र व तारा रहे तबतक स्थिर रहें । यह साक्षात् जिनेंद्र भगवंत के द्वारा कथित समस्त तत्वार्थ का सार है ॥ ९२ ॥

शुभकामना.

भूयाद्धात्री समस्ता चिरतरमतुलात्युत्सवोद्भासमाना ।
जीयाद्धर्मो जिनस्य प्रविमलविलसद्भव्यसत्वैकधाम ॥
पायाद्राजाधिराजस्सकलवसुमतीं जैनमार्गानुरक्तः ।
स्थेयाज्जैनेंद्रवैद्यं शुभकरमखिलप्राणिनां मान्यमेतत् ॥ ९३ ॥

भावार्थः—आचार्य शुभकामना करते हैं कि यह भूमण्डल चिरकालतक अतुल आनंद व उत्सव मनाते रहें । भव्य प्राणियोंके आश्रयभूत श्री पवित्र प्रकाशमान जिन धर्म जयशील होकर जीते रहे । राजा अधिराजा लोग इस पृथ्वी को जैनमार्ग में अनुरागी होकर पालन करते रहें । इसी प्रकार समस्त प्राणियोंको हितकरनेवाला मान्य यह जैन वैद्यक ग्रंथ इस भूमण्डल में स्थिर रहें ॥ ९३ ॥

अंतिम कथन.

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ९४ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे

उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है । साथमें जगतका एक मात्र हितसाधक है [इसलिये इसका नाम कल्याणकारक हैं] ॥ १४ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यविरचिते कल्याणकारके चिकित्साधिकारे शास्त्रसंग्रहतंत्रयुक्तिरिति नाम विंशः परिच्छेदः ।

——0——

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में शास्त्रसंग्रहतंत्रयुक्ति नामक **बीसवां परिच्छेद** समाप्त हुआ ।

———

अथैकविंशः परिच्छेदः

उत्तरतंत्र.

मंगलाचरण.

श्रीमद्वीरजिनेंद्रमिंद्रमहितं वंद्यं मुनींद्रैस्सदा ।
नत्वा तत्त्वविदां मनोहरतरं सारं परं प्राणिनां ॥
प्राणायुर्बलवीर्यविक्रमकरं कल्याणसत्कारकं ।
स्यात्तंत्रोत्तरमुत्तमं प्रतिपदं वक्ष्ये निरुद्धोत्तरम् ॥ १ ॥

भावार्थः—इंद्रोंसे पूजित व मुनींद्रों से वंदित श्रीवीर जिनेंद्र को नमस्कार कर तत्वज्ञानियोंके लिये मनोहर व सर्वप्राणियों के सार स्वरूप, व उन के प्राण, आयु, बल व वीर्य को बढानेवाले (कल्याणकारक) सब को कल्याण करनेवाले उत्तम उत्तरतंत्र का प्रतिपादन करेंगे ॥ १ ॥

लघुताप्रदर्शन.

उक्तानुक्तपदार्थशेषमखिलं संगृह्य सर्वात्मना ।
वक्तुं सर्वविदा प्रणीतमधिकं को वा समर्थः पुमान् ॥
इत्येवं सुविचार्य वर्जितमपि प्रारब्धशास्त्रं बुधैः ।
पारं सत्पुरुषः प्रयात्यरमतो वक्ष्यामि संक्षेपतः ॥ २ ॥

भावार्थः—सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित लोक के उक्त व अनुक्त समस्तपदार्थोंको सर्वतोभावसे संग्रह कर प्रतिपादन करने के लिये, कौन मनुष्य समर्थ है ? इस प्रकार अच्छीतरह विचार कर छोडे हुए शास्त्र को भी पुनः प्रारंभ कर विद्वानोंकी सहायता से सत्पुरुष पार हो जाते हैं । इसलिये यहां भी हम विद्वानों की सहायता [अन्य आचार्य प्रतिपादित शास्त्रके आधार] से उस को संक्षेप से निरूपण करेंगे ॥ २ ॥

शास्त्र की परंपरा.

स्थानं रामगिरिर्गिरींद्रसदृशः सर्वार्थसिद्धिप्रदं ।
श्रीनंदिप्रभवोऽखिलागमविधिः शिक्षाप्रदः सर्वदा ॥
प्राणावायनिरूपितार्थमखिलं सर्वज्ञसंभाषितं ।
सामग्रीगुणता हि सिद्धिमधुना शास्त्रं स्वयं नान्यथा ॥ ३ ॥

भावार्थः—आचार्य कहते हैं कि इस ग्रंथ की हमने मंदराचल के समान समस्त प्रयोजनकी सिद्धि कर देने में समर्थ रामगिरि पर बैठकर रचना की है और यह श्रीनंदि आचार्यजी के सदा शिक्षाप्रद उपदेशों से उत्पन्न है । एवं सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित प्राणावाय नामक शास्त्र में निरूपित सर्वतत्व है । इन सब सामग्रियों की सहायता से इस कार्य में हमें सफलता हुई । अन्यथा नहीं होसकती थी । इस श्लोक का सार यह है कि प्रथमतः सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित इस आयुर्वेदशास्त्र को गणधरोंने द्वादशांग शास्त्र के अंगभूत प्राणावाय पूर्वगतशास्त्र में ग्रथित किया है अर्थात् इस का वर्णन किया । आचार्य परंपरागत इस प्राणावाय वेद के मर्मज्ञ श्री श्रीनंदि आचार्य से हमने अध्ययन किया । उस को इस ग्रंथरूपमें निर्माण करने के लिये मनोहर रामगिरि नामक पर्वत भी मिल गया । इन्ही की सहायता से हमें ग्रंथ बनाने में सफलता मिली । ये सामग्री न होती तो उस में हम सफल नहीं हो सकते थे । अर्थात् इस को पूर्व आचार्य परम्परा के अनुसार ही निर्माण किया है अपने स्वकपोलकल्पनासे नहीं ॥ ३ ॥

शास्त्रेऽस्मिन्पदशास्त्रवस्तुविषया ये ते गृहीतं तत- ।
स्तेषां तेषु विशेषतोऽर्थकथनं श्रोतव्यमेवान्यथा ॥
शास्त्रस्यातिमहत्वमर्थवशतः श्रोतुर्मनोमोहनं ॥
व्याख्यातुं च भवेदशेषवचनस्यादर्थतः संकरः ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस शास्त्र में वस्तुओं के विवेचन करने के लिये पदशास्त्र का प्रयोग किया है । उन्ही के अनुसार उन का यथार्थ व विशेष अर्थ करना चाहिये । क्यों कि शास्त्र का महत्व उस के अर्थ से है जो श्रोताओं के मन को मोहित करता हो । और वह व्याख्या करने योग्य होता है । अन्यतः अर्थ में संकर हो जायगा ॥ ४ ॥

तस्माद्वैद्यमुदाहरामि नियतं वद्धर्ममर्थावहं ।
वैद्यं नाम चिकित्सितं न तु पुनः विद्योद्भवार्थांतरम् ॥
व्याख्यानादवगम्यतेऽर्थकथनं संदेहवद्वस्तु तत् ।
सामान्येषु विशेषितास्स्थितमतः पद्मं यथा पंकजम् ॥ ५ ॥

भावार्थः—इसलिये बहुत अर्थों को जाननेवाला वैद्य ही इस कार्य के लिये नियत है ऐसा महर्षिगण कहते हैं। विद्या के बल से चिकित्सा करनेवालेका ही नाम वैद्य है। विद्या के बल से और कुछ काम करनेवालों को वैद्य नहीं कहते हैं। अपितु विद्याके बलसे रोगमुक्त करनेवाला वैद्य कहलाता है । अर्थकथन व्याख्यान से ही जाना जाता है। सामान्य में विशेष रहता है जैसे पद्म कहने से उस में पंकज आदि समस्त विशेष अंतर्भूत होजाते हैं ॥ ५ ॥

चतुर्विधकर्म

वैद्यं कर्म चतुर्विधं व्यभिहितं क्षाराग्निशस्त्रौषधै- ।
स्तत्रैकेन सुकर्मणा सुविहितेनाप्यामयस्साध्यते ॥
द्वाभ्यां कश्चिदिह त्रिभिर्गुरुतरः कश्चिच्चतुर्भिस्सदा ।
साध्यासाध्यविदत्र साधनतमं ज्ञात्वा भिषक्साधयेत् ॥ ६ ॥

भावार्थः—चिकित्साप्रयोग, क्षारकर्म, अग्निकर्म, शस्त्रकर्म व औषधकर्म इस प्रकार चार भेद से विभक्त है । यदि उन में किसी एक क्रिया का भी प्रयोग अच्छी तरह किया जाय तो भी रोग साध्य होता है अर्थात् ठीक होता है। किसी२ रोग के लिये दो क्रियावोंको उपयोग करना पडता है । किन्ही २ कठिन रोगोंके लिये तीन व और भी कठिन हो तो चारों कर्मोंके प्रयोग की आवश्यकता होती है । रोग की साध्य असाध्य आदि दशावोंको जानने वाला वैद्य, साध्यरोगों का चिकित्सा से साधन करें ॥ ६ ॥

चतुर्विधकर्मजन्यआपत्ति.

तेषामेव सुकर्मणां सुविहितानामप्युपेक्षा क्रिया ।
स्वज्ञानादथवातुरस्य विषमाचाराद्भिषग्मोहतः ॥
योगायोगगुणातियोगविषमव्यापारनैपुण्यवै- ।
कल्यादत्र भवंति संततमहासंतापकृद्व्यापदः ॥ ७ ॥

भावार्थः—उपरोक्त चतुर्विध कर्मोंके प्रयोग अच्छी तरह से करने पर भी यदि पश्चात् कर्म अथवा पथ्य आहार विहार सेवन आदि कराने में अज्ञान (प्रमाद) से उपेक्षा करें व रोगीके विषम आचरण से, वैद्य के अज्ञान से, योग, अयोग, अतियोगोंके लक्षण न जानने से व अतियोग जैसे विषम कार्य अर्थात् अवस्था उपस्थित हो जावें तो उस हालत में प्रतीकार करने की निपुणता न रहने से, हमेशा महान् संताप को उत्पन्न करनेवाली अनेक आपत्तियां उपस्थित हो जाती हैं ॥ ७ ॥

प्रतिज्ञा.

तासां चारुचिकित्सितं विविधसूत्कृष्टप्रयोगात्रसा- ।
च्छिष्टान् शिष्टजनप्रियान् रसमहाबंधप्रबंधानतः ॥
कल्पान्कल्पकुलोपमानपि मनस्संकल्पसिद्धिप्रदा- ।
नल्पैः श्लोकगणैर्ब्रवीमि नितरामायुष्करान् शंप्रदान् ॥ ८ ॥

भावार्थः—अब यहांसे आगे, उन आपत्तियों (रोगों) की श्रेष्ठचिकित्सा व शिष्टजनों को प्रियभूत, रसों के महान् बंधन (संग्रह) से संयुक्त, सरस नाना प्रकार के उत्कृष्ट प्रयोग, और कल्पकुल के समान रहनेवाले, इष्टार्थ को साधन करनेवाले, आयुष्य को स्थिर रखने व बढानेवाले सुखदायक अनेक औषधकल्पोंको थोडे श्लोकों द्वारा वर्णन करेंगे ॥ ८ ॥

अथ क्षाराधिकारः ।

क्षारका प्रधानत्व व निरुक्ति.

याथासंख्यविधानतः कृतमहाकर्मोद्भवव्यापदं ।
वक्ष्ये चारु चिकित्सितं प्रथमतः क्षाराधिकारः स्मृतः ॥
शस्त्रोग्रमहोपशस्त्रनिचये क्षारप्रधानं तथा ।
दत्तस्तत्क्षणनात्ततः क्षरणतः क्षारोऽयमित्यादृतः ॥ ९ ॥

भावार्थः—पूर्वोक्त क्षार आदि चार महान् कर्मों के प्रयोग बराबर न होनेके कारण, जो महान् व्याधियां उत्पन्न होती हैं, उनको और उनकी योग्यचिकित्सा को भी क्रमशः वर्णन करेंगे । सब से पहिले क्षारकर्म का वर्णन किया जायगा । भयंकर शस्त्र व उपशस्त्रकर्मोंसे भी क्षारकर्म प्रधान है । प्रयुक्त क्षार, त्वक् मांस आदिकों को हिंसा करता है अर्थात् नष्टभ्रष्ट करता है, इसलिये अथवा दुष्ट मांस आदिकों को अलग कर देता है अर्थात् गिराता है। इसलिये भी इसे क्षार कहा है अर्थात् यह क्षार शब्द की निरुक्ति है ॥ ९ ॥

क्षार का भेद.

क्षारोयं प्रतिसारणात्मविषयः पानीय इत्येव वा ।
क्षारस्य द्विविधो विपाकवशतः स्वल्पद्रवोऽतिद्रवः ॥

१ कुजोपमानपि इति पाठांतरं ।
२ क्षणनात्क्षारः क्षरणाद्वा क्षारः ॥ क्षणनात् त्वक्मांसादिहिंसनात् ॥ क्षरणात् दुष्टत्वङ्मांसादिचालनात् शातनादित्यर्थः ॥

क्षारस्यापि विनष्टवीर्यसमये क्षारोदकैरप्यति– ।
क्षारद्रव्यगणैश्च तद्दहनतः शक्तिः समाप्याययेत् ॥ १० ॥

भावार्थः—क्षार का प्रतिसारणीय क्षार (शरीर के बाह्य प्रदेशों में लगाने वा टपकाने योग्य) पानीय क्षार (पीने योग्य) इस प्रकार दो भेद है। क्षारके पाक की अपेक्षा से, स्वल्पद्रव, अतिद्रव इस प्रकार पुनः दो भेद होते हैं। अल्प शक्तिवाले औषधियों से साधित हो जाने से, क्षार की शक्ति जब नष्ट (कम) हो जाती है तो उसे क्षारजल में डालकर पकाने से, अथवा क्षारऔषध समूहों के साथ जलाने से वह वीर्यवान् होता है। इसलिये हीनशक्तिवाले क्षार को,उक्त क्रिया से वीर्य का आधान करना चाहिये ॥ १० ॥

क्षारका सम्यग्दग्धलक्षण व पश्चात्क्रिया.

व्याधौ क्षारनिपातने क्षणमतः कृष्णत्वमालोक्य तत् ।
क्षारं क्षीरघृताम्लयष्टिमधुकैः सौवीरकैः क्षालयेत् ॥
पश्चात्क्षारनिवर्तनादनुदिनं शीतान्नपानादिभिः ।
शीतैरप्यनुलेपनैः प्रशमयेत्तं क्षारसाध्यातुरम् ॥ ११ ॥

भावार्थः—त्वक् मांसादिगत वातरोगमें क्षार के पातन करनेपर उसी क्षणमें यदि वह काला पड गया (क्षार पातन करने पर काला पड़जाना यह सम्यग्दग्ध का लक्षण है) तो उस क्षारको दूध, घी, अम्ल, मुलैठी इनसे संयुक्त कांजी से धोना चाहिये। इस प्रकार क्षार को धोकर निकालने के पश्चात् हमेशा क्षारसाध्यरोगीको शीत अन्नपानादिकों से व शीतद्रव्योंके लेपन से उपचार करना चाहिये ॥ ११ ॥

क्षारगुण व क्षारवर्ज्यरोगी.

श्लक्ष्णः शुक्लतरातिपिच्छिलसुखग्राह्योऽल्परुग्व्यापकः ।
क्षारस्स्याद्गुणवाननेन सततं क्षारेण वर्ज्या इमे ॥
क्षीणोरःक्षतरक्तपित्तबहुमूर्च्छासक्ततीव्रज्वरा– ।
न्तश्शल्योष्मनिपीडिता शिशुमदक्रांतातिवृद्धा अपि ॥ १२ ॥
गर्भिण्योप्यतिभिन्नकोष्ठविकटक्लीबस्तृषादुर्भया– ।
क्रांताप्युद्धतसाश्मरीपदगणश्वासातिशोषः पुमान् ॥
मर्मस्नायुसिरातिकोमलनखास्थ्यक्ष्यल्पमांसमंदः ।
सस्रोतस्स्वपि मर्मरोगसहितेष्वाहारविद्वेषिषु ॥ १३ ॥

सेविन्यामुदरेषु संधिषु गले नाभौ तथा मेहने ।
हृच्छूले च विवर्जयेन्निशितसक्षारं महाक्षारवित् ॥
क्षारोऽयं विषशस्त्रसर्पदहनज्वालाशनिप्रख्यया ।
स्यादज्ञानिनियोजितः सुभिषजा हन्यान्नियुक्तो गदान् ॥ १४ ॥

भावार्थः—यह क्षार, चिकना, साधारण सफेद, पिच्छिल (पिलपिला) सुख से ग्रहण योग्य, थोडीसी पीडा करनेवाला, व्यापक आदि सभी गुणोंसे संयुक्त है । दुर्बल उरःक्षत, रक्तपित्त, अधिकमूर्च्छा, तीव्रज्वरसे पीडित, अंतःशल्य से युक्त, अत्यंत उष्ण से पीडित, बालक, मदसे संयुक्त, अतिवृद्ध, गर्भिणी, अतिसारपीडित, नपुंसक, अधिक प्यास व दुष्टभय से आक्रांत, अश्मरी, श्वास, क्षय से पीडित, ऐसे मनुष्योंपर क्षारकर्म नहीं करना चाहिये अर्थात् ये क्षारकर्म के अयोग्य हैं । मर्म, स्नायु, शिरा, नख, तरुणास्थि, आंख, अल्प मांसयुक्त प्रदेश, स्रोत, इन स्थानोंमें, मर्मरोग से संयुक्त व आहार से द्वेष करनेवाले में, सेवनी, उदर, संधि [हड्डियों की जोड] गल, नाभि, शिश्नेंद्रिय, इन स्थानोंमें व हृदयशूलसे पीडितो में भी क्षारकर्मको जाननेवाला वैद्य, तीक्ष्ण क्षारकर्म नहीं करें । अज्ञानी वैद्य के द्वारा प्रयुक्त क्षार, विष शस्त्र, सर्प, अग्नि, बिजली के समान शीघ्र प्राणों का घात करता है । विवेकी वैद्य द्वारा प्रयुक्त क्षारकर्म, अनेक रोगों को नाश करता है ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

क्षारका श्रेष्ठत्व, प्रतिसारणीय व पानीयक्षारप्रयोग.

क्षारः छेद्यविभेद्यलेख्यकरणाद्दोषत्रयघ्नौषध—।
व्यापारादधिकं प्रयोगवशतः शस्त्रानुशस्त्रेष्वपि ॥
तत्र स्यात्प्रतिसारणीय विहितः कुष्ठेऽखिलानर्बुदे—।
नाड्यां न्यच्छभगंदरक्रिमिविषे बाह्ये तु योज्यात्सदा ॥ १५ ॥

सप्तस्वप्यधिजिह्विकोपयुतजिह्वायां च दंतोद्भवे ।
वैदर्भे बहुमेदसाप्युपहते ओष्ठप्रकोपे तथा ॥
योज्यस्स्यादिह रोहिणीषु तिसृषु क्षारो गरैर्वर्जितः ।
पानीयोप्युदरेषु गुल्मनिचये स्यादग्निसंद्वेष्वपि ॥ १६ ॥

अश्मर्यामपि शर्करासु विविधग्रंथिष्वथार्शस्स्वपि ।
स्वांतस्तीव्रविषक्रिमिष्वपि तथा श्वासेषु कासेष्वपि ॥
प्रोद्यद्दासिषु चाप्यजीर्णिषु मतः क्षारोयमस्मादपि ।
क्षाराद्ग्निरतीव तीक्ष्णगुणवद्दग्धनिर्मूलनात् ॥ १७ ॥

भावार्थः—क्षार, छेदन, भेदन, लेखनकर्म करता है। त्रिदोषघ्न औषधियों से, साधित होने से तीनों दोषों को नाश करता है। जिस में शस्त्रादिक का प्रयोग नहीं होता है ऐसी विशिष्टव्याधि में क्षारकर्म प्रयुक्त होता है [जैसे क्षार पानकर्म में प्रयुक्त होता है लेकिन शस्त्र नहीं] इसलिये शस्त्र, अनुशस्त्रों से, क्षार श्रेष्ठ है। प्रतिसारणीयक्षार (जो पहिले कहा गया है) को, कुष्ट, सम्पूर्ण अर्बुद, नाडीव्रण, न्यच्छ, भगंदर, बाह्यक्रिमि व बाह्यविष, सात प्रकार के मुखरोग, अधिजिव्हा, उपजिव्हा, दंत, वैदर्भ, मेदोरोग, ओष्ठप्रकोप, तीन प्रकार के रोहिणी, इन रोगों में प्रयोग करना चाहिये। गर (कृत्रिमविष) उदररोग, गुल्मरोग, अग्निमांद्य, अश्मरी, शर्करा, नानाप्रकारके ग्रंथिरोग, अर्श, अंतर्गत तीव्र विषरोग व क्रिमिरोग, श्वासकास, भयंकर अजीर्ण, इन रोगों में, पानीय क्षार [पीने योग्य क्षार] प्रयुक्त होता है॥ १५॥ १६॥ १७॥

अथाग्निकर्मवर्णन.

क्षारकर्म से अग्निकर्म का श्रेष्ठत्व, अग्निकर्म से वर्ज्यस्थान व दहनोपकरण.

क्षारैरप्यतिभेषजैर्निशितसच्छस्त्रैरशक्यास्तु ये।
रोगास्तानपि साधयेदथ सिरास्नाय्वस्थिसंधिष्वपि॥
नैवाग्निः प्रतिसेव्यते दहनसत्कर्मोपयोग्यानपि।
द्रव्याण्यस्थिसमस्तलोहशरकांडस्नेहपिण्डादयः॥ १८॥

भावार्थः—पूर्वोक्त क्षार से अग्नि अत्यधिक तीक्ष्णगुणसंयुक्त है। अग्नि से जलाये हुए कोई भी रोग समूल नाश होते हैं [पुनः उगते भी नहीं है] और जो रोग क्षार, औषधि व शस्त्रकर्म से भी साध्य नहीं होते हैं वे भी अग्निकर्म से साध्य होते हैं। इसलिये क्षारकर्म से अग्निकर्म श्रेष्ठ हैं। स्नायू, अस्थि व संधि में अग्निकर्म का प्रयोग नहीं करना चाहिये। चाहे वह रोगी भले ही अग्निकर्मके योग्य हो। हड्डी, संपूर्ण

---

१ क्षारादग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः। तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भावाद्भैषज्य शस्त्रक्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च॥ इति ग्रन्थांतरं॥

२ ग्रंथांतरोंमें " इह तु सिरास्नायुसंध्यस्थिष्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्निः " यह कथन होनेसे शंका हो सकती है कि यहां आचार्यने कैसा विपरीत प्रतिपादन किया। इसका उत्तर इतना ही है कि, वह ग्रंथान्तर का कथन भी, एक विशेषापेक्षा को लिया हुआ है। जो रोग अग्निकर्म को छोडकर साध्य हो ही नहीं सकता यदि अग्नि कर्म न करें तो रोगी का प्राण नाश होता है। केवल ऐसी हालत में अग्निकर्म करना चाहिये, यह उसका मतलब है। इससे अपने आप सिद्ध होता है सर्व साधारण तौरपर स्नाय्वादिस्थानों में अग्निकर्म का निषेध है। इसी अभिप्राय से यहां भी निषेध किया है।

अथवा ग्रंथांतर में उन्होने अपना मत व्यक्त किया है। सम्भव है उनसे उग्रादित्याचार्यका मत भिन्न हो।

लोह, शर, शलाका, घृत, तैल, गुड, गोमय आदि दहन के उपकरण हैं ॥ १८ ॥

अग्निकर्मवर्ज्यकाल व उनका भेद.

ग्रीष्मे सच्छरदि त्यजेद्दहनसत्कर्मात्र तत्प्रत्यनी– ।
कं कृत्वात्ययिकामयेति विधिवच्छीतद्रवाहारिणः ॥
सर्वेष्वप्यृतुषु प्रयोगवशतः कुर्वीत दाहक्रियां ।
तद्दग्धं द्विविधं भिषग्विनिहितं त्वङ्मांसदग्धक्रमात् ॥ १९ ॥

भावार्थः—ग्रीष्म व शरदृतुमें अग्निकर्म नहीं करना चाहिये । यदि व्याधि आत्ययिक (आशु प्राणनाश करने वाला)हो, और अग्निकर्म से ही साध्य होनेवाला हो तो, ऋतुओं में के विपरीत विधान (शीताच्छादन, शीतभोजन शीतस्थान, शीतद्रव पान आदि विधान) करके, अग्निकर्म करे, अतः यह मथितार्थ निकला कि प्रसंगवश सभी ऋतुओं अग्निकर्म करना चाहिये । वह दग्धकर्म, त्वग्दग्ध मांसदग्ध इस प्रकार दो भेद से विभक्त है ॥ १९ ॥

त्वग्दग्ध, मांसदग्धलक्षण.

त्वग्दग्धेषु विवर्णतातिविविधस्फोटोद्भवश्चर्मसं– ।
कोचश्चातिविदाहता प्रचुरदुर्गंधातितीव्रोष्मता ॥
मांसेप्यल्परुगल्पशोफसहितश्यामत्वसंकोचता ।
शुष्कत्वव्रणता भवेदिति मतं संक्षेपसल्लक्षणैः ॥ २० ॥

भावार्थः—त्वचामें अग्निकर्मका प्रयोग करनेपर उसमें विवर्णता, अनेक प्रकार फफोले उठना, चर्मका सिकुडना, अतिदाह, अत्यधिक दुर्गंध, अति तीव्र उष्णता ये लक्षण प्रकट होते हैं अर्थात् यह त्वग्दग्ध का लक्षण है । मांसमें दग्धक्रिया करनेपर अल्पशोफ और व्रणका काळापना, सिकुडना, सूखजाना, ये लक्षण प्रकट होते हैं । अर्थात् यह मांसदग्ध का लक्षण है ॥ २० ॥

दहनयोग्यस्थान, दहनसाध्यरोग व दहनपश्चात् कर्म.

भ्रूशंखेषु दहेच्छिरोरुजि तथाधीमंथके वर्त्मरो– ।
गेष्वप्यार्द्रदुकूलसंवृतमथाह्यारोमकूपाद्भृशम् ॥
वायावुग्रतरं व्रणेषु कठिनप्रोद्भूतमांसेषु च ।
ग्रंथार्बुदचर्मकीलतिलकालाख्यापचेष्वप्यलं ॥ २१ ॥

नाड्यच्छिन्नसिरासु संधिषु तथा छिन्नेषु रक्तप्रवृ- ।
त्तौ सत्यां दहनक्रिया प्रकटिता नष्टाष्टकर्मारिभिः ।
सम्यग्दग्धमवेक्ष्य साधुनिपुणः कुर्याद्घृताभ्यंजनं ।
शीताहारविहारभेषजविधिं विद्वान् विदध्यात्सदा ॥ २२ ॥

भावार्थः—शिरोरोग व अधिमंथ रोगमें भ्रूप्रदेश व शंखप्रदेशमें जलाना चाहिये । वर्त्मरोगमें गीले कपडेसे आंख को ढककर वर्त्मस्थ रोमकूपोंसे लेकर दहन करें । अर्थात् रोमकूपों को जलाना चाहिये । त्वचा, मांस, सिरा आदि स्थानों में वात प्रकुपित होनेपर भयंकर, कठोर, व जिसमें मांस बढ गया हो ऐसे व्रण में, ग्रंथि, अर्बुद, चर्मकील, तिल कालक, अपची, नाडीव्रण इन रोगों में छेदित सिरा, संधि में, रक्तप्रवृत्ति में, अग्निकर्म का प्रयोग करना चाहिये ऐसा आठकर्मरूपी शत्रुवों को नाश करनेवाले भगवान् जिनेंद्र देवने कहा है । सम्यग्दग्ध के लक्षण को देखकर, विद्वान् चतुर वैद्य, दग्धव्रण में घी लगावें और रोगी को शीत आहार, शीतविहार व शीत औषधि का प्रयोग करें ॥२१॥ ॥ २२ ॥

अग्निकर्म के अयोग्य मनुष्य.

वर्ज्या वन्हिविधानतः प्रकृतिपित्तश्चातिभिन्नोदरः ।
क्षीणोंतःपरिपूर्णशोणितयुतः श्रांतस्सशल्यश्च यः ॥
अस्वेद्याश्च नरा बहुव्रणगणैः संपीडिताश्चान्यथा ।
दग्धस्यापि चिकित्सतं प्रतिपदं वक्ष्यामि सल्लक्षणैः ॥ २३ ॥

भावार्थः—पित्तप्रकृतिवाले, भिन्नकोष्ठ, कृश, अंतःशोणितयुक्त, थके हुए, शल्य युक्त, अनेक व्रणसमूहों से पीडित और जो स्वेदन कर्म के लिये अयोग्य हैं ऐसे मनुष्य भी अग्निकर्म करने योग्य नहीं हैं । इसलिये उनपर अग्निकर्म का प्रयोग नहीं करना चाहिये । यहां से आगे वैद्य के न रहते हुए, प्रमाद से अकस्मात् जले हुए के लक्षण व चिकित्सा को प्रतिपादन करेंगे ॥ २३ ॥

अन्यथा दग्धका चतुर्भेद.

स्पृष्टं चैव समं च दग्धमथवा दुर्दग्धमत्यंतद- ।
ग्धं चेत्तत्र चतुर्विधं ह्यभिहितं तेषां यथानुक्रमात् ॥
वक्ष्ये लक्षणमप्यनूनवरभैषज्यक्रियां चातुर ।
स्याहारादिविधानमप्यनुमतं मान्यैर्जिनेंद्रैस्सदा ॥ २४ ॥

१. अन्यथ्या इति पाठांतरं ।

भावार्थः—उस अन्यथा दग्ध के स्पृष्ट, सम्यग्दग्ध, दुर्दग्ध व अत्यंतदग्ध इस प्रकार चार भेद कहे गये हैं। इन के क्रमशः लक्षण, श्रेष्ठचिकित्सा व रोगी के आहार आदि विधान को भी मान्य जिनेंद्र के मतानुसार कहेंगे ॥ २४ ॥

स्पृष्ट[१], सम्यग्दग्ध, दुर्दग्ध, अतिदग्धका लक्षण.

यच्चात्यंतविवर्णमूष्मबहुलं तच्चाग्निसंस्पृष्टमि- ।
त्यन्यत्तिलवर्णमुष्णमधिकं नवातिगाढं स्थितं ॥
तत्सम्यक्समदग्धमप्यभिहितं स्फोटोद्भवस्तीव्रसं- ।
तापाद्दुःखतरं चिरप्रशमनं दुर्दग्धतालक्षणम् ॥२५॥

मूर्च्छा वातितृपा च संधिविगुरुत्वं चांगसंशोषणं ।
मांसानामवलंबनं निजासिरास्नाय्वस्थिसंपीडनं ॥
कालात्सक्रिमिरेव रोहति चिरारूढोऽतिदुर्वर्णता ।
स्यादत्यंतविदग्धलक्षणमिदं वक्ष्ये चिकित्सामपि ॥ २६ ॥

भावार्थः—जो अत्यंत विवर्ण युक्त हो, अधिक उष्णतासे युक्त हो, उसे **स्पृष्टदग्ध** कहते हैं। जो दग्ध तिलके वर्णके समान काला हो, अधिक उष्णतासे युक्त हो एवं अतिगाढ (अधिक गहराई) रूपसे जला नहीं हो, वह **समदग्ध** है। वह ठीक है। जिसमे अनेक फफोले उत्पन्न होगये हों, जो तीव्रसंताप को उत्पन्न करता हो, दुःखको देनेवाला हो, और बहुत देरसे उपशम होनेवाला हो उसे **दुर्दग्ध** कहते हैं। जिसमें मूर्छा, अतितृषा, संधिगुरुत्व, अंगशोषण, मांसावलंबन [उस व्रण में मांस का लटकना] सिरा स्नायु व अस्थि में पीडा व कुछ समय के बाद (व्रण में) कृमियों की उत्पत्ति हो, दग्धव्रण चिरकाल से भरता हो, भरजानेपर भी दुर्वर्ण (विपरीतवर्ण) रहे, उसे **अतिदग्ध** कहते हैं। अब इन दग्धव्रणोंकी चिकित्सा का वर्णन करेंगे ॥ २६ ॥

दग्धव्रणचिकित्सा

स्निग्धं रूक्षमपि प्रपद्य दहनश्शीघ्रं दहत्यद्भुतं ।
तत्रैवाधिकवेदनाविविधविस्फोटादयः स्युस्सदा ॥
ज्ञात्वा स्पृष्टमिहाग्निना तु सहसा तत्रैव संतापनं ।
सोष्णैरुष्णगुणौषधैरिह मुहुः सम्यक्प्रदेहः शुभः ॥ २७ ॥

१ इसे ग्रंथांतर में "प्लुष्ट" शब्द से उल्लेख किया है।

भावार्थः—अग्नि, स्निग्ध [घृततैलादि] रूक्ष, (काष्ठ पाषाण, लोह आदि) द्रव्यों को प्रासकर, शीघ्र ही भयंकर रूपसे जलाता है, और उस दग्धस्थान में अत्यधिक वेदना व नाना प्रकार के स्फोट (फफोले) आदि उत्पन्न होते हैं । अग्नि के द्वारा जो स्पृष्टदग्ध कहा है, उसे जानकर शीघ्र ही उसी अग्नि से तपाना चाहिये अर्थात् स्वेदन करना चाहिये । एवं उष्ण व उष्णगुणयुक्त औषधियोंसे बार २ लेप करना हितकर है ॥ २७ ॥

सम्यग्दग्धचिकित्सा.

सम्यग्दग्धमिहाज्यलिप्तमसकृत् सचंदनैः क्षीरवृ– ।
क्षत्वग्भिः सतिलैः सयष्टिमधुकैः शाल्यक्षतैः क्षीरसं– ॥
पिष्टैरिक्षुरसेन वा घृतयुतैः छिन्नोद्भवांभोजव– ।
र्गैः वा गैरिकया तुगासहितया वा लेपयेदादरात् ॥ २८ ॥

भावार्थः—सम्यग्दग्ध में बार २ घी लेपन करके चंदन, अश्वत्थादि दूधिया वृक्षों के छाल, तिल, मुलैठी, धान, चावल इनको, दूध या ईख के रस के साथ पीसकर, अथवा घी मिलाकर, लेपन करना चाहिये । अथवा गिलोय, कमल–पुष्पवर्ग (सफेद कमल, नीलकमल, लालकमल आदि) इनको अथवा गेरु, वंशलोचन इनको, उपरोक्त द्रवोंसे पीसकर आदरपूर्वक लेप लगावें ॥ २८ ॥

दुर्दग्धचिकित्सा.

दुर्दग्धेपि सुखोष्णदुग्धपरिषेकैराज्यसंम्रक्षणैः ।
शीतैरप्यनुलेपनैरुपचरेत् स्फोटानपि स्फोटयेत् ॥
स्फोटान्सस्फुटितानतो घृतयुतैः शीतौषधैः शीतलैः ।
पत्रैर्वा परिसंवृतानपि भिषक्कुर्यात्सुशीतादतिम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—दुर्दग्धमें भी मंदोष्ण दूधके सेचन से, घृत के लेपन से एवं शीतद्रव्यों के लेपन से उपचार करना चाहिये । फफोलों को भी फोडना चाहिये । फूटे हुए फोडोंपर शीतलऔषधियों के साथ घी मिलाकर लगावें और शीतलगुणयुक्त वृक्ष के शीतल पत्तोंसे उनको ढकें । साथमें रोगीको शीतल अन्नपानादि देवें ॥ २९ ॥

अतिदग्धचिकित्सा.

ज्ञात्वा शीतलसंविधानमधिकं कृत्वातिदग्धे भिषक् ।
ग्मांसान्यप्यवलंबितान्यपहरेत्स्नाय्वादिकान्यप्यलम् ॥

दुष्टादुष्टमपोह्यमेवमखिलं क्षीरेण वा क्षालयेत् ।
पत्रैर्वा वृणुयाद्व्रणं वनरुहैः कुर्याद्व्रणोक्तक्रियाम् ॥ ३० ॥

भावार्थः—अतिदग्धको भी कुशल वैद्य जानकर अधिक शीतलचिकित्सा करें । एवं नीचे झूमते हुए मांसोंको, स्नायु आदिकोंको भी दूर करें। दुष्ट अदुष्ट सर्व स्नायु आदिकोंको अलग निकालकर अर्थात् साफ कर के उस व्रणको दूधसे धोना चाहिये । बाद उस व्रण को वृक्ष के पत्तों से ढकना चाहिये एवं उसपर व्रणोक्त सर्व चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३० ॥

रोपणक्रिया.

तद्दग्धव्रणरोपणेऽपि सुकृते चूर्णप्रयोगार्हके ।
काले क्षामपपेयुषैरमलिनैः शाल्यक्षतैर्लाक्षया ॥
क्षीरक्षारसतिंदुकाम्रबकुलप्रोत्तुंगजंबूकदं– ।
बत्वग्भिश्च सुचूर्णिताभिरसकृत् संचूर्णयेन्निर्णयम् ॥ ३१ ॥

भावार्थः—उस दग्धव्रण के रोपणक्रिया करने पर चूर्णप्रयोग करने के योग्य काल जब आवें, क्षामरहित निर्मल चावल, लाख, क्षीरीवृक्ष, व क्षारवृक्ष की छाल और तेंदू, आम्र, वकुल, जंबू, कदंब, इन वृक्षोंकी छाल को अच्छी तरह चूर्ण कर बुरखना चाहिये ॥ ३१ ॥

सवर्णकरणविधान.

श्वित्रेषूक्तविचित्रवर्णकरणानेकौषधालेपनं ।
कुर्यात्स्निग्धमनोज्ञशीतलतरस्त्राहारमाहारयेत् ॥
प्रोक्तं चाग्निविधानमेतदखिलं वक्ष्यामि शस्त्रक्रियां ।
शस्त्राणामनुशस्त्रशस्त्रविधिना शस्त्रं द्विधा चोदितम् ॥ ३२ ॥

भावार्थः—इस दग्धव्रण के भर जानेपर उसे श्वित्रकुष्ठ (सफेद कोढ) में कहे गये सवर्ण करनेवाले अनेक प्रयोगों से सवर्ण करना चाहिये अर्थात् त्वचाके विकृत वर्ण को दूर करना चाहिये । उस रोगी को स्निग्ध, मनोहर व शीतल आहार को खिलाना चाहिये । अभी तक अग्निकर्मका वर्णन किया । आगे शस्त्रकर्म का वर्णन शास्त्रानुसार करेंगे । वह शस्त्रकर्म अनुशस्त्र व शस्त्रके भेदसे दो प्रकार से विभक्त है ॥ ३२ ॥

अनुशस्त्रवर्णन.

तत्रादावनुशस्त्रभेदमखिलं वक्ष्यामि संक्षेपतः ।
क्षाराग्निस्फटिकोरसारनखकाचत्वरजलूकादिभिः ॥

तेष्वप्यौषधभीरुराजवनिताबालातिवृद्धादिकान् ।
द्रव्यमायगुणा महासुखकरी प्रोक्ता जलूकाक्रिया ॥ ३३ ॥

भावार्थः—सबसे पहिले अनुशस्त्रके समस्त भेदोंको संक्षेपसे कहेंगे । क्षार, अग्नि, स्फटिक, त्वक्सार (वांस) नख, काच, त्वचा व जलौंक (जौंक) ये सब अनुशस्त्र हैं । जो शस्त्रकर्मसे डरते हैं ऐसे राजा, स्त्री, अतिबाल व वृद्धों के प्रति इनका उपयोग करना चाहिये । इनमें जलौंकका प्रयोग जो शस्त्रसदृश गुण को रखता है महासुखकारी है ॥ ३३ ॥

रक्तस्रावके उपाय.

वातेनाप्यतिपित्तदुष्टमथवा सश्लेष्मणा शोणितं ।
शृंगेणात्र जलौकसा सदहनेनालाबुना निर्हरेत् ॥
इत्येवं क्रमतो ब्रुवंति नितरां सर्वाणि सर्वैरतः ।
केचित्तत्र जलौकसां विधिमहं वक्ष्यामि सल्लक्षणैः ॥ ३४ ॥

भावार्थः—वात, पित्त व कफ से रक्तदूषित होनेपर क्रमशः शृंग (सींग लगाकर) जलौका (जोंक) व अग्नियुक्त तुम्बी से रक्त निकालना चाहिये ऐसा कोई कहते हैं । अर्थात् वातदूषितरक्त को सींग से, पित्तदूषित को जोंक लगाकर, कफदूषित को तुम्बी लगाकर निकालना चाहिये । कोई तो ऐसा कहते हैं ऐसे क्रम की कोई आवश्यकता नहीं है । लेकिन् किसी भी दोष से दूषित हो तो किसी उपयुक्त शृंग आदि से निकालना चाहिये अर्थात सब में सब का उपयोग करें । अब जौंक से रक्त निकालने की विधिको व उसके लक्षण को प्रतिपादन करेंगे ॥ ३४ ॥

जलौकसशब्दनिरुक्ति व उसके भेद.

तासामेव जलौकसां जलमलं [?] स्यादायुरित्येव वा ।
प्रोक्ता तत्र जलायुका इति तथा सम्यग्जलूका अपि ॥
शब्दज्ञैस्तु पृषोदरादिविधिना तद्द्वादशैवात्र षट्— ।
कष्टा दुष्टविषाः स्वदेहविविपास्तल्लक्षणं लक्ष्यताम् ॥ ३५ ॥

---

१ इसका यह मतलब है कि तुम्बी से रक्त निकालने के लिये तुम्बी के अंदर दीपक रखना पडता है, अन्यथा उससे रक्त नहीं निकल पाता ।

२ जलमासामोक इति जलौकसः ।

३ जलमासामायुरिति जलायुकाः ।

भावार्थः—जिन का जल ही ओक (घर) है। इसलिये जोंकों को "जलौकस" कहते हैं। जिन का जल ही आयु है इसलिये "जलायुका" कहते हैं। एवं इन्हें जलूका भी कहते हैं। ये जोंकवाचक शब्द पृषोदरादि गण से साधित होते हैं ऐसा व्याकरणशास्त्रज्ञोंका मत है। जोंक बारह प्रकार के होते हैं। उन में छह तो सविष होते हैं। ये अत्यंत कष्ट देनेवाले होते हैं; बाकी के छह निर्विष होते हैं। कृष्णा, कर्बुरा अलगर्दा, इंद्रायु, सामुद्रिका, गोचंदना ये छह विषयुक्त जोंको के भेद हैं। कपिला पिङ्गला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुंडरीकमुखी, सावरिका ये छह निर्विष जोंकों के भेद हैं। आगे इन का लक्षणकथन किया जायगा, जिसपर पाठक दृष्टिपात करें ॥ ३५ ॥

सविषजलौकोंके लक्षण.

कृष्णाकर्बुरलक्षण.

या तत्रांजनपुंजमेचकनिभा स्थूलोत्तमांगान्विता ।
कृष्णाख्या तु जलायुका च सविषा वर्ज्या जलूकार्तिभिः ॥
निम्नोत्तुंगनिजायतोदरयुता वर्म्याख्यमत्स्योपमा ।
श्यामा कर्बुरनामिका विषमयी निंद्या मुनींद्रैस्सदा ॥ ३६ ॥

भावार्थः—जो जलूका अंजन (काजल) के पुंज के समान काले वर्णकी हो, जिसका मस्तक स्थूल हो, उसे "कृष्णा" नामक जलूका कहते हैं। जो निम्नोन्नत लंबे पेटसे युक्त हो और वर्मि[1] नामक मछली के समान हो, श्यामवर्णसे युक्त हो उसे "कर्बुर" नामक जलौक कहते हैं। ये दोनों जौंक विषयुक्त हैं। इसलिये ये जौंक लगाकर रक्त निकालने के कार्य में वर्जित हैं व निंद्य हैं ऐसा मुनींद्रो का मत है ॥३६॥

अलगर्दा, इंद्रायुधा, सामुद्रिकालक्षण.

रोमव्याप्तमहातिकृष्णवदना नाम्नालगर्दापि सा ।
सांध्या शक्रधनुःप्रभेव रचिता रेखाभिरिंद्रायुधा ॥
वर्ज्या तीव्रविषापरेषदसिता पीता च भासा तथा ।
पुष्पैश्चित्रविधैर्विचित्रितवपुः कष्टा हि सामुद्रिका ॥ ३७ ॥

भावार्थः—जिसके शरीरमें रोम भरा हुआ है व जिसका मुख बडा व अत्यंत काला है, उसे "अलगर्दा" नामक जलूक कहते हैं। जो संध्या समय के इंद्रधनुष्य के समान

१ यह मछली सर्प के आकारवाली है।

अनेक वर्णकी रेखावोंसे युक्त शरीरवाला है वह " इंद्रायुधा " नामक जलूक है। जो किंचित् काले व पीले वर्णसे संयुक्त है; जिसके शरीर नाना प्रकार के पुष्पों के समान चित्रों से विचित्रित है वह " सामुद्रिका " नामक जौंक है। ये दोनों जौंक तीव्रविषसंयुक्त होने से प्राणियोंको कष्टदायक होते हैं। इसलिये, ये भी जलौंकाप्रयोग में त्याज्य हैं ॥ ३७ ॥

गोचंदनालक्षण व सविषजूलूकादष्टलक्षण.

गोशृंगद्वयवत्तथा वृषणवद्द्वार्याप्यधोभागतः ।
स्विन्ना स्थूलमुखी विषेण विषमा गोचंदनानामिका ॥
ताभिर्दष्टपदातिशोफसहिताः स्फोटास्सदाहज्वर- ।
च्छर्दिर्मूर्च्छनमंगसादनमदा लक्ष्माणि लक्ष्याण्यलं ॥ ३८ ॥

भावार्थः—जिस के अधोभाग में गायके सींगके समान व वृषण के समान दो प्रकार की आकृति है अर्थात् दो भाग मालूम होते हैं, जो सदा गीली रहती है, और सूक्ष्म मुखवाली है एवं भयंकर विष से युक्त है, उसे " गोचंदना " कहते हैं। इन विषमय जलूकावोंके काटनेपर, मनुष्य के शरीर में अत्यंत सूजन, फफोले, दाह, ज्वर, वमन, मूर्च्छा, अंगसाद व मद ये लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ३८ ॥

सविषजलौकदष्टचिकित्सा.

तासां सर्पविषोपमं विषमिति ज्ञात्वा भिषग्भेषजं ।
प्रोक्तं यद्विषतंत्रमंत्रविषये तद्योजयेदूर्जितम् ॥
पानाहारविधावशेषमगदं प्रख्यातकीटोत्कट- ।
प्रोद्दुष्टोग्रविषघ्नमन्यदखिलं नस्यप्रलेपादिषु ॥ ३९ ॥

भावार्थः—उन विषमय जलौकोंका विष सर्पके समान ही भयंकर है, ऐसा समझकर कुशल वैद्य विषमंत्रतंत्राधिकार में बतलाये गये विषघ्न, अगद, मंत्र, आदि विषनाशक उपायोंको उपयोग करें। पान व आहार में भी सम्पूर्ण अगद का प्रयोग करें। एवं प्रसिद्धकीटों के भयंकर विष को नाश करनेवाले जो कुछ भी प्रयोग बतलाये गये हैं उन सब को नस्य, आलेप, अंजन आदि कार्यों में उपयोग करें ॥३९॥,

निर्विषजलौकोंके लक्षण.

कपिला लक्षण.

इत्येवं सविषा मया निगदिता सम्यग्जलूकास्ततः ।
संक्षेपादविषाश्च षट्स्वपि तथा वक्ष्यामि सल्लक्षणैः ॥

लाक्षारसद्रसपिष्टहिंगुलविलिप्तेवात्मपार्श्वोदरैः ।
वक्त्रे या कपिला स्वयं च कपिला नाम्ना तु मुद्गोपमा ॥ ४० ॥

भावार्थः—इस प्रकार विषमय जलूकावोंका वर्णन किया गया। अब निर्विष जलूकावोंके जो छह भेद हैं उन को उन के लक्षणकथनपूर्वक कहेंगे । जिसके दोनों पार्श्व व उदर लाखके रस से पिसे हुए हिंगुल से लिप्त जैसे लाल मालूम होते हैं, जिस का मुख भूरे [कपिल] वर्णका है, और मूंगके वर्ण के समान जिसके पीठ का वर्ण है वह " **कपिला** " नामक जलूक है ॥ ४० ॥

पिंगलामूषिकाशंकुमुखीलक्षण.

आरक्तातिसुवृत्तपिंगलतनुः पिंगानना पिंगला ।
या घंटाकृतिमूषिकाप्रभवपुर्गंधा च सा मूषिका ॥
या शीघ्रं पिबतीह शीघ्रगमना दीर्घातितीक्ष्णानना ।
सा स्याच्छंकुमुखी यकृन्निभतनुर्वर्णेन गंधेन च ॥ ४१ ॥

भावार्थः—जो गोल आकार से युक्त होकर लाल व पिंगल वर्णके शरीर व भूरे [पिङ्गल] वर्णके मुखको धारण करता है उसे " **पिंगला** " नामक जलौक कहते हैं। जो घंटाके आकार में रहता है और जिसके शरीरका वर्ण व गंध चूहेके समान है, उसे " **मूषिका** " नामक जलौक कहा है। जो रक्त वगैरह को जल्दी २ पीता है व जल्दी ही चलता है जिसका मुख दीर्घ व तीक्ष्ण है उसे " **शंकुमुखी** " जलौक कहते हैं। इसके शरीर का वर्ण व गंध, यकृत् [जिगर] के गंधवर्ण के समान है ॥ ४१ ॥

पुंडरीकमुखीसावरिकालक्षण.

या रक्तांबुजसन्निभोदरमुखी मुद्गोपमा पृष्ठतः ।
सैव स्यादिह पुण्डरीकवदना नाम्ना स्वरूपेण च ॥
या अष्टादशभिस्तथांगुलिभिरित्येवायता संमिता ।
श्यामा सावरिकेति विश्रुतगुणा सा स्यात्तिरश्चामिह ॥ ४२ ॥

भावार्थः— जिसका उदर व मुख लाल कमल के समान है, पीठ मूंगके समान वर्णयुक्त है, उसे नाम व स्वरूप से " **पुण्डरीकमुखी** " कहा है। जो अठारह अंगुलप्रमाण लम्बी है, काली है, जिसके गुण विश्व में प्रसिद्ध हैं, ऐसी जलूका को

---

१ पृष्ठे स्निग्धमुद्गवर्णा कपिला (ग्रंथांतरे)

" सावरिका " कहते हैं । इसका उपयोग, हाथी घोडा आदि तिर्यंच प्राणियों के रक्त निकालने में किया जाता है । ये मनुष्यों के उपयोग में नहीं आते ॥ ४२ ॥

जौकोंके रहने का स्थान.

तासां सन्मलये सपाण्डुविषये सह्याचलादित्यके ।
कावेरीतरलांतरालनिचये वेंगीकलिंगत्रये ॥
पौंड्रेंद्रेऽपि विशेषतः प्रचुरता तत्रातिकायाशनाः ।
पायिन्यस्त्वरितेन निर्विषजलूकास्स्युः ततस्ताः हरेत् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—मलय देश, पांड्यदेश, सह्याचल, आदित्याचल के तट, कावेरी नदी के बीच, वंग देश, त्रिकलिंग देश अथवा तीन प्रकार के कलिंग देश, पुंड्रदेश और इंद्रदेश में विशेषकर ये जोंक अधिप्रमाण में रहते हैं । वहां के जोंक स्थूल शरीरवाले, अधिकखानेवाले व शीघ्र ही पीनेवाले, और निर्विष होते हैं । इसलिये इन देशों से उन को संग्रह करना चाहिये ॥ ४३ ॥

जौंक पालनविधि.

हृत्वा ताः परिपोषयेन्नवघटे न्यस्य प्रशस्तोदकै- ।
रापूर्णे तु सशैवले सरसिजव्यामिश्रपंकांकिते ॥
शीते शीतलकामृणालसहिते दत्वा जलाद्याहृतिं ।
नित्यं सप्तदिनांतरं घटमतस्संक्रामयन् संततम् ॥ ४४ ॥

भावार्थः—उन जलौकों को यत्नपूर्वक पकड कर एक नये घडे में सरोवर के स्वच्छपानी, शीतल सेवाळ, कमल, कमलपत्र, उसी तलाब के कीचड, व कमलनाल को डाल कर उस में उन जोंकों को डाल दें । प्रतिदिन पानी व आहार देवें, एवं सात सात दिन में एक दफे उस घडे को बदलते रहना चाहिये । इस प्रकार उन जोंकोंका पोषण करना चाहिये ॥ ४४ ॥

जलौकप्रयोग.

यस्स्यादस्रविमोक्षसाध्यविविधव्याध्यातुरस्तं भिषक् ।
संवीक्ष्योपनिवेश्य शीतसमये शीतद्रवाहारिणः ॥

---

१ यह उन को खाने के लिये. २-३ ये उन को रहने के लिये ।

तस्यांगं परिरूक्ष्य यत्र च रुजा मृद्गोमयैश्चूर्णितैः ।
पिष्टैर्वातिहिमांबुधौ तमसकृत् पश्चाज्जलूका अपि ॥ ४५ ॥

वाम्या सद्रजनीसुसर्षपवचाकल्कैः क्रमात्सांबुभिः ।
धौताः शुद्धजलैश्च मुद्गकृतकल्कांबुभतिक्रीडिताः ॥
पश्चादार्द्रसुसूक्ष्मवस्त्रशकलेनागृह्य संग्राहये- ।
द्रोगास्त्रन्नवनीतलेपितपदे शस्त्रक्षते वा पुनः ॥ ४६ ॥

भावार्थः—जो रोगी रक्तमोक्षण से साध्य होनेवाले विविधरोगसे पीडित हो उसे अच्छी तरह देखकर शीतकाल [हिमंत व शरद्‌ऋतु] में शीतगुणयुक्त आहार को खिलाकर बैठाल देवें । जहां से रक्त निकालना हो उस जगह में यदि व्रण न हो तो, मिट्टी व गोबर के चूर्ण, अथवा किसी रूक्ष पिट्ठीसे, उस स्थान को रगडकर रूक्षण (खरदरा) करके ठंडे पानी से वार २ धोवें । उन जोंकों के मुख में हलदी, वच, इनके कल्क लगाकर, वमन कराकर पानी से अच्छी तरह धोवें। पश्चात् एक वर्तन में, जिस में मूंगकी पिट्ठीसे मिला हुआ शुद्ध पानी भरा हो, उसमें क्रीडनार्थ छोड देवें । जब वे फुर्ती के साथ इधर उधर दौडने लगे तो उन के श्रम दूर होगया है ऐसा जानकर, उन्हें गीले बारीक कपडे के टुकडे से पकडकर, रोगयुक्त स्थान को पकडवा देवें। यदि वे न पकडे तो उस स्थानमें मक्खन लगाकर, अथवा किसी शस्त्र से क्षतकर पुनः पकडवा देवें ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

रक्तचूसने के बाद करने की क्रिया.

विस्रावैर्विहरेदसृक्प्रदहनैः तुंबीफलैः सद्विषा- ।
णैर्वा चूषणको विदावरजलूका स्यात्स्वयंग्राहिका ॥
पीत्वा तां पतितां च शोणितमतः संकुंडिकेना[?]शुसं- ।
लिप्तां सैंधवतैललेपितमुखीमापीडयेद्वामयेत् ॥ ४७ ॥

भावार्थः—दुष्ट रक्त को, अग्नियुक्त तुम्बीफल व श्रृंग से निकालना चाहिये । रक्त को चूसने में समर्थ जोंक को लगाने से वे स्वयं रक्त को चूस लेते हैं [इन को लगाकर भी रक्त स्रावण करना चाहिये]। जब वे खून पीकर, नीचे गिर जाते हैं, तब उनके शरीरको चावल के चूर्ण से, लेपन करें और सैंधानमक व तैल को मिलाकर, उन के मुख में लगाकर, पूंछ की तरफ से मुख की ओर धीरे २ दबाते हुए वमन करावें ॥ ४७ ॥

क्षुद्ररक्ताहरण में प्रतिक्रिया.

वांतां तां कथितांबुपूरितघटे विन्यस्य संपोषयेत् ।
ज्ञात्वा शोणितभेदमप्यतिगतिं संस्थापयेदौषधैः ।
दंशे यत्र रुजा भवेदतितरां कण्डूश्च शुद्धप्रदे- ।
ऽस्या स्यादिति तां विचार्य लवणैरामोक्षयेत्तत्क्षणात् ॥ ४८ ॥

भावार्थः—वमन कराने के बाद उस को पूर्वकथित जल से भरे हुए घडे में रख कर पोषण करना चाहिये । एवं इधर रक्तभेद को जान कर यदि तीव्रवेग से उस का स्राव हो रहा हो तो उसे औषधियों से बंद कर देना चाहिए। जोंकके रक्त पीते समय दंश (कटा हुआ स्थान) में यदि अत्यंत पीडा व खुजली चलें तो समझना चाहिए कि ये शुद्धरक्त को खींच रहे हैं । जब यह निश्चय हो तो उसी समय उस के मुंह में सेंधानमक लगा कर उन को छुडाना चाहिए ॥ ४८ ॥

शोणितस्तम्भनविधि.

पश्चाच्छीतजलैर्मुहुर्मुहुरिह प्रक्षाल्य रोगं क्षरेत् ।
क्षीरेणैव घृतेन वा चिरतरं सम्यङ्निषिच्य क्रमात् ॥
रक्तस्यातिमहाप्रवृत्तिविषये लाक्षाक्षमाषाढकैः ।
श्चूर्णैः क्षौममयीभिरप्यतितरं शुष्कैस्तु संस्तंभयेत् ॥ ४९ ॥

भावार्थः—तदनंतर उस पीडा के स्थान को ठण्डे जल से बार २ धोना चाहिए जिस से रोगक्षरण हो जावे। एवं क्रमशः चिरकाल तक अच्छी तरह उस पर दूध घृत का सेचन करना चाहिये । रक्त का स्राव अधिक होता हो तो लाख बहेडा, उडद, व अरहर इनके अतिशुष्कचूर्ण को जिस में रेशमीवस्त्र का भस्म अधिकप्रमाण में मिला है उसपर डालकर रक्तस्तंभन करना चाहिये ॥ ४९ ॥

शोणितस्तम्भनापरविधि.

लोध्रैश्शुद्धतरैस्सुगोमयमयैर्गोधूमधात्रीफलैः ।
शंखैः शुक्तिगणारिमेदतरुसंपूतैस्तथा ग्रंथिभिः ॥
सर्जैरर्जुनभूर्जपादपदवत्वाग्भिश्च चूर्णीकृतैः ।
राचूर्ण्य व्रणमाशु बंधनबलैस्संस्तंभयेच्छोणितं ॥ ५० ॥

अर्थ—लोध्र, शुद्धगोमय, गेहूं, आमला, शंख, शुक्ति, अरिमेद (दुर्गंध युक्त खेर)इन वृक्षोंकी ग्रंथि, सर्ज्ज वृक्ष, अर्जुन वृक्ष, भूर्जवृक्ष व उनकी छाल, इन सबको चूर्ण करें। उस व्रण पर उक्त चूर्ण को डालकर और व्रण को बांधकर रक्त का स्तम्भन करें ॥ ५० ॥

अयोग्यजलायुकालक्षण.

याः स्थूलाः शिशवः कृशाः क्षतहताः क्लिष्टा कनिष्ठात्मिका।
याश्चाल्पाशनतत्पराः परवशा याश्चातिनिद्रालसाः।
याश्चाक्षेत्रसमुद्भवा विषयुता याश्चातिदुर्ग्राहिका-।
स्तास्सर्वाश्च जलायुका न च भिषक् संपोषयेत्पोषणैः॥ ५१॥

भावार्थः—जो जळूका अत्यंत कृश हैं, अत्यंत स्थूल हैं, बिलकुल बाल हैं, आघात से युक्त हैं, क्लिष्ट हैं, नीचजात्युत्पन्न हैं, अत्यंत कम आहार लेती हैं, परवश हैं, अत्यंत निद्रा व आलस्य से युक्त हैं, जो नीचक्षेत्र में उत्पन्न हैं, विषयुक्त हैं, जिन को पकडने में अत्यंत कष्ट होता है, ऐसे लक्षणों से युक्त जलूकावोंको वैद्य लाकर पालन पोषण न करें अर्थात् जळूकाप्रयोग के लिये ये अयोग्य हैं॥ ५१॥

शस्त्रकर्मवर्णन.

इत्येवं ह्यनुशस्त्रशास्त्रमधिकं सम्यग्विनिर्देशतः।
शस्त्राणामपि शास्त्रसंग्रहमतो वक्ष्यामि संक्षेपतः॥
शस्त्राण्यत्र विचित्रचित्रितगुणान्यस्त्रायसां शास्त्रवित्।
कर्मज्ञः कथितोरुकर्मकुशलैः कर्मारकैः कारयेत्॥ ५२॥

भावार्थः—इस प्रकार अभी तक अनुशस्त्र के शास्त्र को कथन कर अब शस्त्रों के शास्त्र को संक्षेप से कहेंगे। शस्त्रों में विचित्र अनेक प्रकार के गुण होते हैं। उन शस्त्र व लोह के शास्त्रज्ञ व शस्त्रकर्मज्ञ वैद्य को उचित है कि शस्त्रों को बनाने में कुशल कारीगरों से, शस्त्रकर्मोचित शस्त्रों को निर्माण करावें॥ ५२॥

अष्टविधशस्त्रकर्मोमें आनेवाले शस्त्रविभाग.

छेद्यं स्यादतिवृद्धिपत्रमुदितं लेख्यं च संयोजयेत्।
भेद्यं चोत्पलपत्रमत्र विदितं वेध्यो कुठार्यस्थिषु॥
मांसे व्रीहिमुखेन वेधनमतो विस्रावणे पत्रिका-।
शस्त्रं शस्तमथैषणी च सततं शल्यैषणी भाषितम्॥ ५३॥

भावार्थ—छेदन व लेखनक्रिया में वृद्धिपत्र नाम का शस्त्र, भेदनकर्म में उत्पलपत्र शस्त्र, हड्डी में वेधनार्थ कुठारिकाशस्त्र, मांस में वेधन करने के लिये व्रीहि-मुखनामक शस्त्र, विस्रावणकर्म में पत्रिकाशस्त्र एवं शल्य को ढूंढने [एषणीकर्म] में एषणीशस्त्र का उपयोग प्रशस्त कहा है॥ ५३॥

शल्याहरणविधि.

आहार्येषु विचार्य यंत्रितनरस्याहारयेच्छल्यमा- ।
लोक्यं कंकमुखादिभिस्त्वविदितं शल्यं समाज्ञापय ॥
हस्त्यश्वोष्ट्ररथादिवाहनगणानारोप्य संवाहये- ।
च्छीघ्रं यत्र रुजा भवेदतितरां तत्रैव शल्यं हरेत् ॥ ५४ ॥

भावार्थ—आहरण योग्य अवस्था में, मनुष्य को यंत्रित करते हुए देख कर, कंकमुखादि शस्त्रों से शल्य आदि का आहरण करना चाहिये । अविदित शल्य को (शल्य किस जगह है यह मालूम न हो) इस प्रकार जानना चाहिये । उस मनुष्य को हाथी, घोडा, ऊंठ, रथ आदि, वाहनों पर बैठाल कर शीघ्र सवारी कराना चाहिये। चलते समय जहां अत्यंत पीडा हो, वहीं पर शल्य है ऐसा समझना चाहिये । बादमें उसे निकालना चाहिये ॥ ५४ ॥

सीवन, संधान, उत्पीडन, रोपण.

सूची वा सुविचार्य सीवनविधौ ऋज्वीं सवक्रां तया ।
सीवेदूरुशिरः प्रतीतजठरे संभूय भूरिव्रणे ।
संधानौषधसाधितैर्घृतवरैस्संलिप्य सन्धाय सं- ।
पीड्योत्पीडनभेषजैरपि बहिः संरोपणैः रोपयेत् ॥ ५५ ॥

भावार्थ—सीवनकर्म उपस्थित होने पर सीधी वा टेढी सुई से सीना चाहिये । ऊरुशिर व जठर में बहुत व्रण हो जाने पर, संधानकारक (जोडनेवाले) औषधियों से, साधित श्रेष्ठघृत से लेपन कर, संधान (जोडना) कर के, एवं पीडन औषधियों से पीडन कर के और रोपण औषधियों से रोपण [भरना] करना चाहिये ॥ ५५ ॥

शस्त्रकर्मविधि.

छेद्यादिष्वपि चाष्टकर्मसु यदा यत्कर्मकर्तुर्भिषक् ।
वांछन् भेषजयंत्रशस्त्रगृहशीतोष्णोदकाग्न्यादिकान् ॥
स्निग्धान्सत्परिचारकानपि तदा संयोज्य संपूर्णतां ।
ज्ञात्वा योग्यमपीह भोजनमपि प्राग्भोजयेदातुरम् ॥ ५६ ॥

भावार्थः— छेद्य भेद्य आदि अष्ट प्रकार के शस्त्रकर्मों में कोई भी कर्म करने के लिए, जब वैद्य को मौका आवे सबसे पहिले उस के योग्य औषधि, शस्त्र, यंत्र, गृह

[Operation Room] ठण्डा व गरम पानी, अग्नि आदि सामग्री व प्रेमस्नेहसहित मृदुस्वभावी परिचारकों को सब एकत्रित कर लेना चाहिए । एवं सर्व सामग्री पूर्णरूपेण एकत्रित होने पर, रोगी को योग्य भोजन करा लेना चाहिए ॥ ५६ ॥

अर्शोविदारण.

तत्राभुक्तवतां मुखामयगणैर्मूढोरुगर्भोदरे-।
श्मर्यामप्यतियत्नतो भिषगिह प्रख्यातशस्त्रक्रियां ॥
कुर्यादाशु तथाश्मरीमिहगुदद्वाराद्बहिर्वामतः ।
छित्वार्शं विधियंत्रितस्य शस्त्रैः संहारयेद्वारिभिः ॥ ५७ ॥

भावार्थ-मुखरोग, मूढगर्भ, उदररोग व अश्मरी रोगसे पीडित रोगीपर शस्त्रकर्म करना हो तो उसे भोजन खिलाये बिना ही बहुत यत्न के साथ करना चाहिये । अश्मरीपर शस्त्रक्रिया जल्दी करें । अर्शरोग में रोगी को विधिप्रकार यंत्रित कर के गुदद्वार के बाहर बायें तरफ शस्त्र से विदारण कर अर्श का नाश करें । एवं उसपर जलका सेचन करें ॥५७॥

शिराव्यधविधि.

स्निग्धस्विन्नमिहातुरं सुविहितं योग्यक्रियायंत्रितम् ।
ज्ञात्वा तस्य सिरां तदा तदुचितं शस्त्रं गृहीत्वा स्फुटम् ॥
विध्वासृक्परिमोक्षयेदतितरां धारानिपातक्रमात् ।
अल्पं यत्रमपोह्य बंधनबलात्संस्तंभयेच्छोणितम् ॥ ५८ ॥

भावार्थ—पहिले शिराव्यध से रक्त निकालने योग्य रोगी को, अच्छी तरह स्नेहन, स्वेदन कराकर, योग्यरीति से यंत्रित कर [बांधकर] उस की व्यधन योग्य शिरा का ज्ञान कर, अर्थात् शिरा को अच्छी तरह देख कर व हाथ से पकड कर, पश्चात् उचित शस्त्र को लेकर स्फुटरूप से व्यधन करके दुष्टरक्त को अच्छी तरह निकालना चाहिये । अच्छीतरह व्यधन होने से, रक्त धारापूर्वक बहता है । रक्त निकलते २ जब शरीर में दुष्टरक्त थोडा अवशेष रह जाय तो यंत्रणको हटाकर, शिरा को बांध कर, रक्त को रोक देवें ॥ ५८ ॥

अधिक रक्तस्रावसे हानि.

दोषैर्दुष्टमपीह शोणितमलं नैवातिसंशोधये-[1] ।
च्छेषं संशमनैः जयेदतितरां रक्तं सिरानिर्गतम् ॥

---

१ याप येत् इति पाठांतरं

कुर्याद्वातरुजं क्षयश्वसनसत्कासाद्यहिकादिकान् ।
पाण्ड्वन्मादशिरोभितापमचिरान्मृत्युं समापादयेत् ॥ ५९ ॥

भावार्थ—दोषों से दूषितरक्त को भी अत्यधिकप्रमाण में नहीं निकालना चाहिये। क्यों कि यदि शिरा द्वारा अत्यधिक रक्त निकाल दिया जाय तो वात व्याधि, क्षय, श्वास, खांसी, हिचकी, पांडुरोग, उन्माद (पागलपना) शिर में संताप आदि रोग उत्पन्न होते हैं एवं उस से शीघ्र मरण भी हो जाता है । शरीरस्थ शेष दूषित रक्त को संशमन औषधियों द्वारा शमन करना चाहिये ॥ ५९ ॥

रक्तकी अतिप्रवृत्ति होनेपर उपाय.

रक्तेऽतिप्रसृतक्षणे ह्युपशमं कृत्वा तु गव्यं तदा ।
क्षीरं तच्छृतशीतलं प्रतिदिनं तत्पाययेदातुरम् ॥
ज्ञात्वोपद्रवकानपि प्रशमयन्नल्पं हि तं शीतल- ।
द्रव्यैस्सिद्धमिहोष्णशीतशमनं संदीपनं भोजयेत् ॥ ६० ॥

भावार्थ—रक्त का अधिक स्राव होने पर शीघ्र ही उपशमनविधि (रक्तको रोक) करके उस रोगीको, उस समय व प्रतिदिन, गरम करके ठंडे किये हुये गाय के दूध को पिलाना चाहिये । यदि कोई उपद्रव [पूर्वोक्त रोगसे कोई रोग] उपस्थित हों तो, उसका निश्चय कर, उपशमन विधान से शमन करते हुए, उसे अल्प शीतल द्रव्यों से सिद्ध, उष्ण व शीत को शमन करनेवाले, और अग्निदीपक, आहार को खिलाना चाहिये ॥ ६० ॥

शुद्धरक्तका लक्षण व अशुद्धरक्त के निकालने का फल.

रक्तं जीव इति प्रसन्नमुदितं देहस्य मूलं सदा- ।
धारं सोज्वलवर्णपुष्टिजननं शिष्टो भिषग्रक्षयेत् ॥
दुष्टं सत्क्रमवेदिनात्त्वपहृतं कुर्यात्प्रशांतिं रुजा- ।
मारोग्यं लघुतां तनोश्च मनसः सौम्यं दृढारमेंद्रियम् ॥ ६१ ॥

भावार्थः—शुद्धरक्त शरीर का जीव ही है ऐसा तज्ञ ऋषियोंने कहा है । वह शरीरस्थिती का मूल है । उसका सदा आधारभूत है । एवं उज्वलवर्ण व पुष्टिकारक है। सज्जन वैद्य, ऐसे रक्त की हमेशा रक्षा करें । शिराव्यध आदि से, रक्त निकालनेके विधान को जाननेवाला विज्ञ वैद्य द्वारा, दूषित रक्त ठीक तरह से निकाला जाय तो रोग की शांति होती है । शरीर में आरोग्य, लघुता [हलकापन] उत्पन्न होती है । मन में

शांति का संचार होता है। आत्मा और इंद्रिय मजबूत होते हैं ॥ ६१ ॥

वातादिसे दुष्ट व शुद्धशोणितका लक्षण.

वातेनात्यसितं सफेनमरुणं स्वच्छं सुशीघ्रागमं ।
दुष्टं स्याद्रुधिरं स्वपित्तकुपितं नीलातिपीतासितम् ।
विस्रं नेष्टमशेषकीटमशकैस्तन्मक्षिकाभिस्सदा ।
श्लेष्मोद्रेककलंकितं तु बहलं चात्यंतमापिच्छिलम् ॥ ६२ ॥

मांसाभासमपि क्षणादतिचिरादागच्छति श्लेष्मणा ।
शीतं गैरिकसप्रभं च सहजं स्यादिंद्रगोपोपमम् ॥
तच्चात्यंतमसंहतं ह्यविरलं वैवर्णहीनं सदा ।
दृष्ट्वा जीवमयं च शोणितमलं संरक्षयेदक्षयम् ॥ ६३ ॥

भावार्थः—वात से दूषित रक्त अतिकृष्ण, फेन [झाग] युक्त, स्वच्छ, शीघ्र बाहर आनेवाला [शीघ्र बहनेवाला] होता है। पित्त से दूषित रक्त, नीला, अत्यंत पीला, अथवा काला, दुर्गंधयुक्त, [आमगंधि] होता है। एवं, वह सर्वप्रकार के कीट, मशक व मक्खियों के लिये अनिष्ट होता है (जिससे कीट आदि, उस रक्त पर बैठते नहीं, पीते नहीं) कफ से दूषित शोणित, गाढा, पिच्छिल, मांसपेशी के सदृश वर्णवाला बहुत देरसे स्राव होनेवाला शीत और गेरु [गेरु के पानी] के सदृश वर्णवाला अर्थात् सफेद मिला हुआ लाल वर्णका होता है। प्रकृतिस्थ रक्त, इंद्रगोप के समान लाल, न अधिक गाढा न पतला व विवर्णरहित होता है। ऐसे जीवमय रक्त (जीवशोणित) को हमेशा रक्षण करना चाहिये अर्थात् क्षय नहीं होने देना चाहिये॥ ६२ ॥ ६३ ॥

शिराव्यधका अवस्थाविशेष.

विस्राव्यं नैव शीते न च चटुलकठोरातपे नातितप्ते ।
नास्विन्ने स्निग्धरूक्षे न च बहुविरसाहारमाहारिते वा ॥
नाभुक्ते भुक्तमंतं द्रवतरमशनं स्वल्पमत्यंतशीतं ।
शीतं तोयं च पीतं रुधिरमपहरेत्तस्य तं तद्विदित्वा ॥ ६४ ॥

भावार्थः—अत्यधिक शीत व उष्ण काल में, रोगी भयंकर धूप से तप्तायमान हो रहा हो, जिस पर स्वेदनकर्म नहीं किया हो अथवा अधिक पसीना निकाला गया हो जो अधिक स्निग्ध व अधिक रूक्ष से युक्त हो, जिसने बहुत विरस आहार को भोजन कर लिया हो एवं जिसने बिलकुल भोजन ही नहीं किया हो ऐसी हालतोंमें शिराव्यध कर के

रक्तस्रावण नहीं कराना चाहिये। जिसने द्रवतर पदार्थोंको भोजन कर लिया हो, एवं अत्यंत शीत व थोडा भोजन किया हो, साथ हीठण्डे जल को पीया हो, ऐसे मनुष्य को जानकर रक्तस्रावण कराना चाहिये, अर्थात् शिराव्यध करना चाहिये ॥ ६४ ॥

शिराव्यध के अयोग्य व्यक्ति.

वर्ज्यास्तेऽसृक्प्रमोक्षैः श्वसनकसनशोषज्वराध्वश्रमार्ताः ।
क्षीणाः रूक्षाः क्षतांगाः स्थविरशिशुक्षयव्याकुलाः शुद्धदेहाः ॥
स्त्रीव्यापारोपवासैः क्षपिततनुलताक्षेपकैः पक्षघातैः ।
गर्भिण्यः क्षीणरेतो गरयुतमनुजा अत्यये स्रावयेत्तान् ॥ ६५ ॥

भावार्थः— जो मनुष्य श्वास, कास, शोप, ज्वर, और मार्गश्रम से युक्त हैं एवं शरीरसे क्षीण हैं, रूक्ष हैं, जखम से युक्त अंगवाले है, अत्यंत बूढे हैं, बालक हैं, व क्षय रोग से पीडित हैं, वमन विरेचनादि से जिनके शरीर को शुद्ध किया गया है, अति मैथुन व उपवास से जिन का शरीर क्षीण वा खराब हो गया है, आक्षेपक व पक्षाघात व्याधिसे पीडित हैं, गर्भिणी हैं, जिनके शुक्रधातु क्षीण होगया है जो कृत्रिम विषसे पीडित हैं ऐसे मनुष्योंको शिराव्यध कर के रक्त नहीं निकालना चाहिये। अर्थात् उपरोक्त मनुष्य शिराव्यध के अयोग्य हैं। उपरोक्त शिराव्यधन के आयोग्य मनुष्य भी यदि शिराव्यध से साध्य होनेवाले कोई प्राणनाशक व्याधि से पीडित हों, तो उन का उस अवस्थामें रक्त निकालना चाहिये ॥ ६५ ॥

अंतिम कथन.

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ६६ ॥

भावार्थः—जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोकके लिये प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिसके दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रके मुखसे

उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथमें जगतका एक मात्र हितसाधक है [इसलिये इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ ६६ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यविरचिते कल्याणकारके उत्तरतंत्राधिकारे कर्मचिकित्सितं नाम प्रथम आदित एकविंशोऽध्यायः ।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में कर्मचिकित्साधिकार नामक उत्तरतंत्र में प्रथम व आदिसे **एकीसवां परिच्छेद** समाप्त हुआ ।

अथ द्वाविंशः परिच्छेदः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा.

जिनेश्वरं विश्वजनार्चितं विभुं प्रणम्य सर्वौषधकर्मनिर्मित—।
प्रतीतदुर्व्यापदभेदभेषजप्रधानसिद्धांतविधिर्विधास्यते ॥ १ ॥

भावार्थः—लोकके समस्त जनों के द्वारा पूजित विभु, ऐसे श्री जिनेंद्र भगवान् को नमस्कार कर, स्नेहन स्वेदन वमनादि कर्मोंके प्रयोग ठीक २ यथावत् न होने से जो प्रसिद्ध व दुष्ट आपत्तियां (रोग) उत्पन्न होती हैं, उनको उनके भेद और प्रतीकार विधान के साथ शास्त्रोक्तमार्गसे इस प्रकरण में प्रतिपादन करेंगे ॥ १ ॥

स्नेहनादिकर्म यथावत् न होनेसे रोगोंकी उत्पत्ति.

अथाज्यपानाद्यखिलौषधक्रियाक्रमेषु रोगाः प्रभवंति देहिनाम् ।
भिषग्विशेषाहितमोहतोऽपि वा तथातुरानात्मतयापचारतः ॥ २ ॥

भावार्थः—स्नेहनस्वेदनादि सम्पूर्ण कर्मोंके प्रयोगकाल में वैद्य के अज्ञान से प्रयुक्तक्रिया के प्रयोग यथावत् न होने के कारण, अथवा अक्रम प्रवृत्त होने के कारण अथवा रोगीके असंयम व अपथ्य आहारविहार के कारण मनुष्यों के शरीरमें अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

घृतपानका योग, अयोगादि के फल.

घृतस्य पानं पुरुषस्य सर्वदा रसायनं साधुनियोजितं भवेत् ।
तदेव दोषावहकारणं नृणामयोगतो वाप्यथवातियोगतः ॥ ३ ॥

भावार्थः—यदि घृत पानका योग सम्यक् हो जाय तो वह रसायन हो जाता है । लेकिन उसका अयोग वा अतियोग होवें तो वही, मनुष्यों के शरीर में अनेक दोषों (रोग) की उत्पत्ति में कारण बन जाता है ॥ ३ ॥

---

१ ग्रंथमें यहांपर "अनात्मतया" यही पाठ है, उसके अनुसार ही अनात्मव्यवहार अर्थात् असंयम यह अर्थ लिखा गया है । परंतु यहांपर "आतुराज्ञानतया" यह पाठ अधिक अच्छा मालुम होता है अर्थात् रोगीको औषधसेवन पथ्यप्रयोगादिकमें अज्ञान (प्रमाद) होनेसे भी अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ।

घृतके अजीर्णजन्यरोग व उसकी चिकित्सा.

घृतेप्यजीर्णे प्रभवंत्यरोचकज्वरप्रमेहोन्मदकुष्ठमूर्च्छनाः ।
अतः पिबेदुष्णजलं ससैंधवं सुखांभसा वाप्यथ वामयेद्भिषक् ॥ ४ ॥

भावार्थः—पिया हुआ घृत यदि जीर्ण न हुआ तो वह अरोचक, ज्वर, प्रमेह, उन्माद, कुष्ठ और मूर्च्छा को उत्पन्न करता है । उस अवस्थामें उष्णजल में सेंधालोण मिलाकर उसे पिलाना चाहिये या सुखोष्णजल से उस रोगीको वमन कराना चाहिये ॥ ४ ॥

जीर्णघृतका लक्षण.

यदा शरीरं लघुचान्नकांक्षिणं मनोवचो मूत्रपुरीषमारुतः ।
प्रवृत्तिरुद्गारविशुद्धिरिंद्रियप्रसन्नता ह्युज्वलजीर्णलक्षणम् ॥ ५ ॥

भावार्थः—घृत पान करनेपर जब शरीर हलका हो, अन्न की इच्छा उत्पन्न हो, मन प्रसन्न हो, वचन, मूत्र, मल, वायु की प्रवृत्ति ठीक तरह से हो, डकार में अजीर्णांश व्यक्त न हो [साफ डकार आती हो] इंद्रियो में प्रसन्नता व्यक्त हो, तब वह घृत जीर्ण हुआ ऐसा समझना चाहिये ॥ ५ ॥

घृत जीर्ण होने पर आहार.

ततश्च कुस्तुंबुरुनिंबसाधितं पिबेद्यवागूमथवानुदोषतः ।
कुलत्थमुद्गाढकयूषसत्खलैर्लघूष्णमन्नं वितरेद्यथोचितम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—पिया हुआ घृत पच जाने पर धनिया व निंब से सिद्ध यवागू पिलाना चाहिए । अथवा दोष के अनुसार औषधसाधित यवागू अथवा कुलथी, मूंग, अरहर का यूष व योग्य खल के साथ लघु व उष्ण अन्न को यथा योग्य खिलाना चाहिए ॥ ६ ॥

स्नेहपानविधि व मर्यादा.

स्वयं नरस्नेहनतत्परो घृतं तिलोद्भवं वा क्रमवर्द्धितं पिबेत् ॥
त्रिपंचसप्ताहमिह प्रयत्नतः ततस्तु सात्म्यं प्रभवेन्निषेवितम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—स्नेहनक्रिया में तत्पर मनुष्य अपने शरीर को स्निग्ध [चिकना] बनाने के लिए घी अथवा तिल के तेल को क्रमशः प्रमाण बढाते हुए, तीन दिन, पांच दिन या सात दिन तक पीवें । इस के बाद सेवन करें तो वह सात्म्य [प्रकृति के अनुकूल] हो जाता है । इसलिए सात दिन के बाद न पीवे ॥ ७ ॥

वातादिदोषों में घृत पानविधि.

पिबेद्घृतं शर्करया च पैत्तिके ससैंधवं सोष्णजलं च वातिके ॥
कटुत्रिकक्षारयुतं कफात्मिके क्रमेण रोगे प्रभवंति तद्विदः ॥ ८ ॥

भावार्थः—पित्त दोषोत्पन्न रोगों में घृत को शक्कर के साथ मिला कर पीना चाहिए। वातज रोगों में सैंधालोण व गरम पानी के साथ पीना चाहिए। कफज रोगों में त्रिकटु व क्षार मिला कर पीना चाहिए ऐसा तज्ज्ञ लोगों का मत है ॥ ८ ॥

अच्छपान के योग्य रोगी व गुण.

नरो यदि क्लेशपरो बलाधिकः स्थिरस्स्वयं स्नेहपरोऽतिशीतले ॥
पिबेदतो केवलमेव तद्घृतं सदाच्छपानं हि हितं हितैषिणाम् ॥ ९ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य बलवान् है, स्थिर है, परंतु दुःख से युक्त है, यदि वह स्नेहनक्रिया करना चाहता है तो शीत ऋतु (हिमवंत शिशिर) में वह केवल [अकेला] घृत को ही पीवें। यह बात ध्यान में रहे कि अच्छ [अकेला ही शक्कर आदि न मिला कर] घृत के पीने में ही उस को हित है अर्थात् वह विशेष गुणदायक होता है ॥ ९ ॥

घृतपान की मात्रा.

कियत्प्रमाणं परिमाणमेति तद्घृतं तु पीतं दिवसस्य मध्यतः ॥
मदक्लमग्लानिविदाहमूर्च्छनात्यरोचकाभावत एव शोभनम् ॥ १० ॥

भावार्थः—पीये हुए घृत की जितनी मात्रा (प्रमाण) मध्यान्हकाल (दोपहर) तक मद, क्लम, ग्लानि, दाह मूर्छा व अरुचि को उत्पन्न न करते हुए अच्छी तरह पच जावे, उतना ही घृत पीने का प्रशस्तप्रमाण समझना चाहिये। (यह प्रमाण मध्यम दोषवालों को श्रेष्ठ माना है) ॥ १० ॥

सभक्तघृतपान.

मृदुं शिशुं स्थूलमतीवदुर्बलं पिपासुमाज्यद्विषमत्यरोचकम् ॥
सुदाहदेहं सुविधानतादृशं सभक्तमेवात्र घृतं प्रपाययेत् ॥ ११ ॥

भावार्थः– बालक, मृदु प्रकृतिवाले, स्थूल, अत्यंत दुर्बल, प्यासे घी पीने में नफरत करनेवाले, अरोचकता से युक्त, दाहसहित देहवाले एवं इन सदृश रोगियों को भोजन के साथ ही घृत पिलाना चाहिये अर्थात् अकेला घी न पिलाकर, भोजन (भात रोटी आदि) में मिलाकर देना चाहिये ॥ ११ ॥

सद्यस्नेहनप्रयोग.

सपिप्पलीसैंधवमस्तुकान्वितं घृतं पिबेद्रौक्ष्यनिवारणं परम् ॥
सशर्कराढ्यं पयसैव वा सुखम् पयो यवागूमथवाल्पतण्डुलाम् ॥ १२ ॥
सितासिताज्यैः परिदुह्य दोहनं प्रपाय रौक्ष्यात्परिमुच्यते नरः ॥
कुलत्थकोलाम्लपयोदधिद्रवैः विपक्वमप्याशु घृतं घृतोत्तमम् ॥ १३ ॥

भावार्थः—पीपल, सेंधानमक, दही का तोड, इन को एक साथ घृत में मिलाकर पीने से शीघ्र ही रूक्ष का नाश होता है। अर्थात् सद्य ही स्नेहन होता है। शक्कर मिले हुए घी को दूध के साथ पीने से एवं दूध से साधित यवागू जिस में थोडा चावल पडा है, उस घृत में मिलाकर पान करने पर सद्य ही स्नेहन होता है। शक्कर मिले हुए घृत को एक दोहनी में डाल कर, उस में उस समय दुहे (निकाला) हुए गाय के दूध [धारोष्ण गोदुग्ध] को मिलाकर रूक्ष मनुष्य पीवें तो तत्काल ही उस का रूक्षत्व नष्ट होकर स्नेहन हो जाता है। इसी प्रकार कुलथी बेर इन के क्वाथ व दूध दही, इन से साधित उत्तमघृत को पीने से भी शीघ्र स्नेहन होता है ॥१२॥१३॥

स्नेहनयोग्यरोगी.

नृपेषु[1] वृद्धेष्वबलाबलेषु च प्रभूततापाग्निषु चाल्पदोषिषु ॥
भिषग्विदध्यादिह संप्रकीर्तितान् क्षणादपि स्नेहनयोगसत्तमान् ॥१४॥

भावार्थः—जो राजा हैं, वृद्ध हैं, स्त्री है, दुर्बल हैं, अधिकसंताप, मृदु अग्नि व अल्पदोषों से संयुक्त हैं, उन के प्रति, पूर्वोक्त स्नेहन करनेवाले उत्तमयोगों को वैद्य (स्नेहन करने के लिये) उपयोग में लावें ॥ १४ ॥

रूक्षमनुष्यका लक्षण.

पुरीषमत्यंतनिरूक्षितं घनं निरेति कृच्छ्रान्न च भुक्तमप्यलम् ॥
विपाकमायाति विदह्यते युरो विवर्णगात्रोऽनिलपूरितोदरः ॥ १५ ॥
सुदुर्बलस्स्यादतिदुर्बलाग्निमान्विरूक्षितांगो भवतीह मानवः ॥
ततः परं स्निग्धतनोस्सुलक्षणम् ब्रवीमि संक्षेपत एव तच्छृणु ॥ १६ ॥

भावार्थः—रूक्ष मनुष्य का मल अत्यंत रूक्षित व घन (घट्ट) हो कर बहुत मुश्किल से बाहर आता है। खाये हुए आहार अच्छी तरह नहीं पचता है। छाती

१ वृषेषु इति पाठांतरम्। इसका अर्थ जो धर्मात्मा हैं अर्थात् शांतस्वभाववाले हैं ऐसा होगा परंतु प्रकरणमें नृपेषु यह पाठ संगत मालुम होता है। सं.

में दाह होता है । शरीर विकृतवर्णयुक्त होता है, उदर में पवन भरा रहता है । वह दुर्बल होता है, उसकी अग्नि अत्यंत मंद होती है । अर्थात् ये रूक्ष शरीरवाले के लक्षण हैं । इस के अनंतर सम्यक् स्निग्ध (चिकना) शरीर के लक्षणों को संक्षेप में कहेंगे । उस को सुनो ॥ १५ ॥ १६ ॥

सम्यक्स्निग्ध के लक्षण.

अवश्यसस्नेहमलप्रवर्तनं घृतेतिविद्वेष इहांगसादनम् ॥
भवेच्च सुस्निग्धविशेषलक्षणम् तथाधिकस्नेहनलक्षणं ब्रुवे ॥ १७ ॥

भावार्थः—अवश्य ही स्नेहयुक्त मल का विसर्जन होना, घृतपान व खाने में द्वेष व अंगों में ग्लानि होना, यह सम्यक् स्निग्ध के लक्षण हैं । अब अधिक स्निग्ध का लक्षण कहेंगे ॥ १७ ॥

अतिस्निग्ध के लक्षण.

गुदे विदाहोऽतिमलप्रवृत्तिरप्यरोचकैर्ह्याननतः कफोद्गमः ॥
प्रवाहिकात्यंगविदाहमोहनं भवेदतिस्निग्धनरस्य लक्षणम् ॥१८॥

भावार्थः—गुद स्थान में दाह, अत्यधिक मल विसर्जन, [अतिसार] अरोचकता, मुख से कफ का निकलना, प्रवाहिका, अंगदाह व मूर्च्छा होना, यह अतिस्निग्ध के लक्षण हैं ॥ १८ ॥

अतिस्निग्धकी चिकित्सा.

सनागरं सोष्णजलं पिबेदसौ समुद्गयूषौदनमाशु दापयेत् ॥
सहाजमोदाग्निकसैंधवान्वितामलां यवागूमथवा प्रयोजयेत् ॥ १९ ॥

भावार्थः—उस अतिस्निग्ध शरीरवाले रोगी को उस से उत्पन्न कष्ट को निवारण करने के लिए, सुंठी को गरम पानी में मिला कर पिलावे । एवं मूंग के यूष [दाल] के साथ शीघ्र भात खिलाना चाहिए । अथवा अजमोद, चित्रक व सैंधालोण से मिश्रित यवागू देनी चाहिए ॥ १९ ॥

घृत (स्नेह) पान में पथ्य.

घृतं मनोहारि रसायनं नृणामिति प्रयत्नादिह तत्पिबंति ये ॥
सदैव तेषामहिमोदकं हितम् हिता यवागूरहिमाल्पतण्डुला ॥ २० ॥

भावार्थः—मनुष्यों के लिये घृत रसायन है । ऐसे मनोहर घृत को जो लोग प्रयत्नपूर्वक पीते हैं, उन को हमेशा गरम पानी का पीना हितकर होता है । एवं थोडे

चावलों से बनाई हुई, गरम [उष्ण] यवागू भी हितकर है अर्थात् ये दोनों उन के लिये पथ्य हैं ॥ २० ॥

स्वेदविधिवर्णनप्रतिज्ञा.

स्नेहोद्भवामयगणाननुपशम्य यत्नात्,
स्वेदोद्भवामययुतं विधिरुच्यतेऽतः ॥
स्वेदो नृणां हिततमो भुवि सर्वथेति,
संयोजयत्यपि च तत्र भवंति रोगाः ॥ २१ ॥

भावार्थः—स्नेह के अतियोग आदि से उत्पन्न रोगों को उपशमन करनेवाली चिकित्सा को प्रयत्न पूर्वक कह कर, यहां से आगे स्वेदविधि व उस के बराबर प्रयुक्त न होने से उत्पन्न रोग व उन की चिकित्सा का वर्णन करेंगे। लोकमें रोगाक्रान्त मानवों के लिए, स्वेद प्रायः सर्वथा हितकर है। परन्तु उस की योजना यदि यथावत् न हो सकी तो उस से भी बहुत से रोग उत्पन्न होते हैं ॥२१॥

स्वेदका योग व अतियोगका फल.

सम्यक्प्रयोगवशतो बहवो हि रोगाः शाम्यंति योग इह चाप्यतियोगतो वा।
नानाविधामयगणा प्रभवंति तस्मात् स्वेदावधारणमरं प्रतिवेद्यतेऽत्र॥२२॥

भावार्थः—स्वेदनप्रयोग को यदि ठीक तरह से उपयोग किया जाय तो अनेक रोग उससे नष्ट होते हैं या शमन होते हैं। इसे ही योग कहते हैं। यदि उसका अतियोग हो जाय तो अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये स्वेदन योग की योग्य विधिको अब कहेंगे ॥ २२ ॥

स्वेदका भेद व ताप, उष्मस्वेदलक्षण

तापोष्मबंधनमहाद्रवभेदतस्तु स्वेदश्चतुर्विध इति प्रतिपादितोऽसौ ।
वस्त्राग्निपाणितलतापनमेव तापः सोष्णेष्टकोपलकुधान्यगणैस्तथोष्मा॥२३॥

भावार्थः—वह स्वेद, तापस्वेद १ उष्मस्वेद २ बंधनस्वेद (उपनाहस्वेद) ३ द्रवस्वेद ४ इस प्रकार चार भेद से विभक्त है। वस्त्र हथेली इत्यादि को गरम कर (लेटे हुए मनुष्य के अंग को) सेकने को या अंगार से सेकने को " **तापस्वेद** " कहते हैं। ईंट पत्थर कुधान्य इत्यादि को गरम करके उसपर कांजी आदि द्रव छिडककर, गीले कपडे से ढके हुए रोगी के शरीर को सेकने को **उष्मस्वेद** कहते हैं ॥ २३ ॥

१ दूध, दही, कांजी या वायुनाशक औषधों के क्वाथ को घडे में भरकर, उसे गरम कर के उसकी बाफ से जो सेका जाता है इसे भी उष्मस्वेद कहते हैं ।

बंधन, द्रव, स्वेदलक्षण.

उष्णौषधैरपि विपाचितपायसाद्यैः पत्रांबरावरणकैरिह बंधनाख्यः ।
सौवीरकांबुघृततैलपयोभिरुष्णैः स्वेदो भवेदतितरां द्रवनामधेयः ॥२४॥

भावार्थः—उष्ण औषधियों के द्वारा पकाये हुए पायस (पुल्टिश बांधनेयोग्य) को पत्तों, कपडे आदिसे ढककर बांधने को बंधन (उपनहन) स्वेद कहते हैं । कांजी, पानी, घृत, तैल व दूध को गरम कर कडाही आदि बडे पात्र में भरकर उस में रोगी को बिठाल स्नान कराकर स्वेद लाने की विधि को " द्रवस्वेद " कहते हैं ॥ २४ ॥

चतुर्विधस्वेद का उपयोग.

आद्यौ कफप्रशमनावनिलप्रणाशौ बंधद्रवप्रतपनं बहुरक्तपित्त- ।
व्यामिश्रिते मरुति चापि कफे हितं तत् सस्नेहदेहहितकृद्दहतीह रूक्षम् ॥ २५

भावार्थः—आदि के ताप व उष्म नाम के दो स्वेद विशेषतः कफ को नाश वा उपशम करनेवाले हैं । बंधन स्वेद (उपनाह स्वेद) वातनाशक है । द्रवस्वेद, रक्तपित्त मिश्रित, वात वा कफ में हित है । स्नेहाभ्यक्त शरीर में ही यह स्वेद हितकर होता है, अर्थात् तैल आदि चिकने पदार्थोंसे मालिश कर के ही स्वेदन क्रिया करनी चाहिये । वहीं हितकर भी है । यदि रूक्षशरीरपर स्वेदकर्म प्रयुक्त करें तो वह शरीर को जलाता है ॥ २५ ॥

स्वेदका गुण व सुस्वेदका लक्षण.

वातादयस्सततमेव हि धातुसंस्थाः स्नेहप्रयोगवशतः स्वत एव लीनाः ।
स्वेदैर्द्रवत्वमुपगम्य यथाक्रमेण स्वस्था भवंत्युदरगास्स्वनिवासनिष्ठाः॥२६

भावार्थः—जो सतत ही धातुओं में रहते हैं, एवं स्नेहन प्रयोगद्वारा अपने आप ही स्वस्थान से ऊर्ध्व, अध व तिर्यग्गामी होकर मार्गों में लीन हो गये हैं, वे वातादि दोष योग्य स्वेदन क्रिया द्वारा द्रवता को प्राप्त कर, क्रमशः उदर में पहुंच जाते हैं । (और वमन विरेचन आदि के द्वारा उदर से बाहर निकल कर) स्वस्थ हो जाते हैं और यथास्थान को प्राप्त करते हैं ॥ २६ ॥

स्वेद गुण.

स्वेदैरिहाग्निरभिवृद्धिमुपैति नित्यं स्वेदः कफानिलमहामयनाशहेतुः ।
प्रस्वेदमाशु जनयत्यतिरूक्षदेहे शीतार्थितामपि च साधुनियोजितोऽसौ ॥

भावार्थः—स्वेदनप्रयोग से शरीरमें सदा अग्निकी वृद्धि होती है। स्वेदन योग कफ व वातजन्य महारोगोंको नाश करने के लिये कारण है। अर्थात् नाश करता है। योग्य प्रकार से प्रयुक्त यह स्वेदन योग से(स्वेदकर्म का सुयोग होनेपर) शीघ्र ही शरीरमें अच्छी तरह पसीना आता है और रोगीको शीत पदार्थोंके सेवन आदि की इच्छा उत्पन्न होती है ॥ २७ ॥

स्वेद के अतियोग का लक्षण.

स्वेदः प्रकोपयति पित्तमसृक्च साक्षाद्विस्फोटनभ्रममदज्वरदाहमूर्च्छाः ।
क्षिप्रं समावहति तीव्रतरः प्रयुक्तः तत्रातिशीतलविधिं विदधीत धीमान् ॥

भावार्थः—स्वेदन प्रयोग तीव्र हो जाय [अधिक पसीना निकाल दिया जाय] तो वह पित्त व रक्त का प्रकोप करता है। एवं शरीर में शीघ्र स्फोट [फफोले] भ्रम, मद, ज्वर, दाह, व मूर्च्छा उत्पन्न करता है। उस में कुशल वैद्य अत्यंत शीतक्रिया का प्रयोग करें ॥ २८ ॥

स्वेदका गुण.

पे[1]नातिपातमददाहपरीतदेहं शीतांबुबिंदुभिरजस्रमिहार्दितांगम् ॥
उष्णांबुना स्नापितमुज्वलितोदराग्निम् संभोजयेदगुरुमग्निकरं द्रवान्नम्॥२९

भावार्थः—जो मद्य के अधिक पानसे व्याकुलित हैं, मद व दाह से व्याप्त हैं, शीत जलबिंदुओं से हमेशा जिस का शरीर पीडित है, ऐसे रोगी को गरम पानी से स्नान करा कर, उस की बढी हुई अग्नि को देख कर, लघु, अग्निदीपक व द्रवप्राय अन्न को खिलाना चाहिए ॥ २९ ॥

वमनविरेचनविधिवर्णनप्रतिज्ञा.

स्वेदक्रियामभिविधाय यथाक्रमेण संशोधनाद्भवमहामयसच्चिकित्सा ॥
सम्यग्विधानविधिनात्र विधास्यते तत्संबंधिभेषजनिबंधनसिद्धयोगैः ॥

भावार्थः—स्वेदनक्रिया को यथाक्रम से कह कर अब संशोधन (वमन, विरेचन) के अतियोग व मिथ्यायोग से उत्पन्न महान् रोग, उन की चिकित्सा और

---

१ दो तीन प्रतियोंमें भी यही पाठ मिलता है। परंतु यह प्रकरण से कुछ विसंगत मालुम होता है। यहांपर स्वेदकर्मका प्रकरण है, इसलिये यहांपर प्राणातिपात यह पाठ अधिक संगत मालूम होता है। अर्थात् स्वेदकर्ममें अतियोगसे उत्पन्न ऊपर के श्लोकमें कथित रोगोंकी प्राणातिपात अवस्थामें क्या करें इसका इस श्लोकमें विधान किया होगा। संभव है कि लेखक के हस्तदोषसे यह पाठभेद हो गया हो। —संपादक.

वमन विरेचन के सम्यग्योग की विधि को इन में प्रयुक्त होने वाले औषधियों के सिद्ध योगों के साथ निरूपण करेंगे ॥ ॥ ३० ॥

दोषों के बृंहण आदि चिकित्सा.

क्षीणास्तु दोषाः परिबृंहणीयाः सम्यक्प्रशम्याश्चलिताश्च सर्वे ॥
स्वस्थाः सुरक्ष्याः सततं प्रवृद्धाः सद्यो विशोध्या इति सिद्धसेनैः ॥३१॥

भावार्थः—क्षीण (घटे हुए) वातादि दोषों को बढाना चाहिए । कुपित दोषों को शमन करना चाहिए । स्वस्थ [यथावत स्थित] दोषों को अच्छी तरह से रक्षण करना चाहिए । अतिवृद्ध (बढे हुए) दोषों को तत्काल ही शोधनकर शरीर से निकाल देना चाहिए, ऐसा श्री सिद्धसेन यति का मत है ॥ ३१ ॥

संशोधन में वमन व विरेचन की प्रधानता.

संशोधने तद्वमनं विरेकः सम्यक्प्रसिद्धाविति साधुसिद्धैः ॥
सिद्धांतमार्गेभिहितौ तयोस्तद्वक्ष्यामहे यद्वमनं विशेषात् ॥ ३२ ॥

भावार्थः—दोषों के संशोधन कार्य में वमन और विरेचन अत्यंत प्रसिद्ध हैं । अर्थात् दोषों को शरीर से निकाल ने के लिए वमन विरेचन बहुत ही अच्छे उपाय वा साधन हैं ऐसा सिद्धांतशास्त्र में महर्षियों ने कहा है । इन दोनों में प्रथमतः वमन विधि को विशेषरूप से प्रतिपादन करेंगे ॥ ३२ ॥

वमन में भोजनविधि.

श्वोऽहं यथावद्वमनं करिष्यामीत्थं विचिंत्यैव तथापराण्हे ।
संभोजयेदातुरमाशु धीमान् संभोजनीयानपि संप्रवक्ष्ये ॥ ३३ ॥

भावार्थः—कुशल वैद्य को उचित है कि यदि उसने दूसरे दिन रोगी के लिये वमन प्रयोग करने का निश्चय किया हो तो पहिले दिन शामको रोगीको अच्छीतरह (अभिष्यंदी व द्रवप्राय आहार से) शीघ्र भोजन कराना चाहिये । किनको अच्छीतरह भोजन कराना चाहिये यह भी आगे कहेंगे ॥ ३३ ॥

संभोजनीय अथवा वाम्यरोगी.

ये तूत्कटोद्यद्बहुदोषदुष्टास्तीक्ष्णाग्नयः सत्वबलप्रधानाः ।
ये ते महाव्याधिगृहीतदेहाः संभोजनीया भुवनप्रवीणैः ॥ ३४ ॥

भावार्थः—जो रोगी अत्यंत उद्रिक्त बहुत दोषोंसे दूषित हों, जो तीक्ष्ण अग्नि से युक्त हों, जो बलवान् हों, जो महाव्याधि से पीडित हों, ऐसे रोगियोंको कुशल वैद्य अच्छी तरह भोजन करावें अर्थात् ऐसे रोगी वमन कराने योग्य होते हैं ॥ ३४ ॥

वमन का काल व औषध.

तत्रापरेद्युः प्रविभज्यकाले साधारणे प्रातरवेक्ष्य मात्राम् ।
कल्कैः कषायैरपि चूर्णयोगैः स्नेहादिभिर्वा खलु वामयेत्तान् ॥३५॥

भावार्थः—वैद्य साधारण काल [अधिक शीत व उष्णता से रहित ऐसे प्रावृट् शरद् व वसंतऋतु) में, [वमनार्थ दिये हुए भोजन को] दूसरे दिन प्रातः काल में, वमन कारक औषधियोंके कल्क, कषाय, चूर्ण, स्नेह, इत्यादिकों को योग्य प्रमाण में सेवन कराकर वमन योग्य रोगीयोंको वमन कराना चाहिये ॥ ३५ ॥

वमनविरेचन के औषधका स्वरूप.

दुर्गंधदुर्दर्शनदुस्स्वरूपैर्बीभत्ससात्म्येतरभेषजैश्च ।
संयुक्तयोगान्वमने प्रयुक्तो वैरेचनानत्र मनोहरैस्तु ॥ ३६ ॥

भावार्थः—वमन कर्म में दुर्गंध,देखने में असह्य, दुःस्वरूप, बीभत्स (ग्लानिकारक) व अननुकूल (प्रकृति के विरुद्ध) ऐसे स्वरूप युक्त औषधियोंको प्रयोग करना चाहिये । विरेचन में तो, वमनौषध के विपरीतस्वरूपयुक्त मनोहर सुंदर औषधियों का ही प्रयोग करना चाहिये ॥ ३६ ॥

बालकादिक के लिए वमन प्रयोग.

बालातिवृद्धौषधभीरुनारी दौर्बल्ययुक्तानपि सद्द्रवैस्तैः ।
क्षीरादिभिर्भेषजमंगलाढ्यम् तान्पाययित्वा परितापयेत्तान् ॥ ३७ ॥

भावार्थः—जो बालक हैं, अतिवृद्ध हैं, औषध लेने में डरनेवाले हैं, स्त्रियां हैं एवं अत्यंत दुर्बल हैं, उनको दूध, यवागू, छाछ आदि योग्य द्रवद्रव्यों के साथ मंगल मय, औषधं को मिला कर पिलाना चाहिये, पश्चात् (अग्निसे हाथ को तपाकर) उन के शरीर को सेंकना चाहिये [और वमन की राह देखनी चाहिये] ॥ ३७ ॥

---

१ यह काल ही वमन के योग्य है । २ वामयेदिति पाठांतरं ।

वमन विधि.

हृल्लासलालास्रुतिमाशु धीमानालोक्य पीठोपरि सन्निविष्टः ।
गन्धर्वहस्तोत्पलपत्रवृन्तैर्वेगोद्भवार्थं ममृशेत्स्वकण्ठम् ॥ ३८ ॥

भावार्थः—जब उस रोगी को [जिस ने वमनार्थ औषध पीया है] उबकाई आने लगे, मुंह से लार गिरने लगे, उसे बुद्धिमान् वैद्य देख कर, शीघ्र ही [घुटने के बराबर ऊंचा] एक आसन पर बैठाल देवे । और वमन के वेग उत्पन्न होने के लिये, एरंडी के पत्ते की डंडी, कमलनाल इन में से किसी एक से रोगी के कंठ को स्पर्श करना चाहिये अर्थात् गले के अंदर डाल कर गुदगुदी करना चाहिये ॥ ३८ ॥

सम्यग्वमन के लक्षण.

सोऽथ प्रवृत्तौषधसद्बलासे पित्तेऽनुयाते हृदयोरुकोष्ठे ।
शुद्धे लघौ कायमनोविकारे सम्यक्स्थिते श्लेष्मणि सुष्टुवांतः ॥ ३९ ॥

भावार्थः—पूर्वोक्त प्रकार वमन के औषधि का प्रयोग करने पर, यदि वमन के साथ क्रमशः पिया हुआ औषध, कफ व पित्त निकलें, हृदय व कोष्ठ शुद्ध हो जावे शरीर व मनोविकार लघु होवें एवं कफ का निकलना अच्छीतरह बंद हो जावें तो समझना चाहिये कि अच्छी तरह से वमन होगया है ॥ ३९ ॥

वमन पश्चात् कर्म.

सनस्यगण्डूषविलोचनांजनद्रवैर्विशोध्याशु शिरोबलासम् ।
उष्णांबुभिर्धौतमिहापराण्हे तं भोजयेद्यूषगणैर्यथावत् ॥ ४० ॥

भावार्थः—इस प्रकार वमन होनेपर शीघ्र ही, नस्य, गंडूष, नेत्रांजन [सुरमा] व द्रव आदि के द्वारा शिरोगत कफका विशोधन करके, उसे गरम पानीसे स्नान कराकर, सायंकाल में योग्य यूषों (दाल) से भोजन कराना चाहिये ॥ ४० ॥

वमनका गुण.

एवं संशमने कृते कफकृता रोगा विनश्यंति ते ।
तन्मूलेऽपहृते कफे जलजसंघाता यथा ह्यंभसि ॥
याते सेतुविभेदनेन नियतं तद्योगविद्वामये— ।
द्वाम्यमाप्तिनिषेधशास्त्रमखिलं ज्ञात्वा भिषग्भेषजैः ॥ ४१ ॥

भावार्थः—इस प्रकार वमनविधि के द्वारा कफका नाश होनेपर कफकृत अनेक रोग नष्ट होते हैं। जिस प्रकार जल के बंध वगैरह टूटनेपर जलका नाश होता है। जलके नाश से वहांपर रहनेवाला कमल भी नष्ट होता है। क्यों कि वह जलके आधार-पर रहता है, मूल आधारका नाश होनेपर वह उत्तर आधेय नहीं रह सकता है। इसी-प्रकार मूल कफ के नाश होनेपर तज्जनित रोग भी नष्ट होते हैं। इसलिये योग को जाननेवाला विद्वान् वैद्य को उचित है कि वह वमन के योग्य व अयोग्य इत्यादि वमन के समस्त शास्त्रों को जानकर और तत्संबंधी योग्य औषधियोंसे रोगी को वमन कराना चाहिये ॥ ४१ ॥

वमन के बाद विरेचनविधान.

वांतस्यैव विरेचनं गुणकरं ज्ञात्वेति संशोधये- ।
दूर्ध्वं शुद्धतरस्य शोधनमधः कुर्यान्द्रिषग्नान्यथा ।
श्लेष्माधः परिगम्य कुक्षिमखिलं व्याप्याग्निमाच्छादये- ।
च्छन्नाग्निं सहसैव रोगनिचयः प्राप्नोति मर्त्यं सदा ॥ ४२ ॥

भावार्थः—जिस को वमन कराया गया है उसी को विरेचन देना विशेष गुण-कारी होता है, ऐसा जानकर प्रथमतः ऊर्ध्व संशोधन (वमन) कराना चाहिये। जब इस से शरीर शुद्ध हो जाय, तब अधःशोधन [विरेचन] का प्रयोग करना चाहिये। यदि वमन न कराकर विरेचन दे देवें तो कफ नीचे जाकर सर्व कुक्षिप्रदेश में व्याप्त होकर अग्नि को अच्छादित करता है [ढकता है]। जिस का अग्नि इस प्रकार कफसे आच्छादित होता है, उस मनुष्य को शीघ्र ही अनेक प्रकार से रोगसमूह आ घेर लेते हैं ॥ ४२ ॥

विरेचन के प्रथम दिन भोजन पान.

स्निग्धस्विन्नसुवांतमातुरमरं श्वोऽहं विरेकौषधैः ।
सम्यक् सुविरेचयाम्यलमिति प्रागेव पूर्वाण्हतः ॥
सस्नेहं लघुचोष्णमल्पमशनं संभोजयेदाम्लसं- ।
सिद्धोष्णोदकपानमप्यनुगतं दद्यान्मलद्रावकम् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—जिस को अच्छी तरह से स्नेहन, स्वेदन, व वमन कराया हो ऐसे रोगी को दूसरे दिन यदि वैद्य विरेचन के द्वारा अधःशोधन करना चाहता हो तो पहिले दिन प्रातः काल रोगी को स्निग्ध, लघु, उष्ण व अल्पभोजन द्रव्य के द्वारा

भोजन कराना चाहिये, एवं पीछे आम्ल औषधियोंसे सिद्ध मलद्रावक गरम पानीको पिलाना चाहिये अर्थात् अनुपान देना चाहिये ॥ ४३ ॥

विरेचक औषधदानविधि.

अन्येद्युस्सुविचार्य जीर्णमशनं सूर्ये च निर्लोहिते ।
दद्यादौषधमग्निमल्पपरुषव्याधिक्रमालोचनैः ॥
कोष्ठः स्यात्त्रिविधो मृदुः कठिन इत्यन्योपि मध्यस्तथा ।
पित्तेनातिमरुत्कफेन निखिलैर्दोषैः समैर्मध्यमः ॥ ४४ ॥

भावार्थः— दूसरे दिन सूर्योदय के पहिले, पहिले दिन का अन्न जीर्ण हुआ या नहीं इत्यादि बातों को अच्छीतरह विचार कर साथ में रोगी के अग्निबल व मृदु कठिन आदि कोष्ट, व्याधिबल आदि बातों को विचार कर विरेचनकी औषधि देवें । कोष्ठ मृदु, कठिन (क्रूर) व मध्यम के भेद से तीन प्रकार का है । पित्त की अधिकता से मृदु कोष्ठ होता है । वातकफ की अधिकता से कठिन कोष्ठ होता है । तीनों दोषों के सम रहने से मध्यम कोष्ठ होता है ॥ ४४ ॥

विविध कोष्ठो में औषधयोजना.

मृद्वी स्यादिह सन्मृदावतितरां क्रूरे च तीक्ष्णा मता ।
मध्याख्येऽपि तथैव साधुनिपुणैर्मध्या तु मात्रा कृता ॥
अप्राप्तं चलतो मलं गमयुतं नेच्छेत्सपित्तौषधम् ॥
प्राप्तं वापि न चारयेदतितरां वेगं विघातावहम् ॥ ४५ ॥

भावार्थ—मृदु कोष्ठवाले को मृदु मात्रा देनी चाहिए । क्रूर कोष्ठवाले को तीक्ष्ण (तेज) मात्रा देनी चाहिए । मध्यम कोष्ठ वाले को मध्यम मात्रा देनी चाहिए, ऐसा आयुर्वेद शास्त्र में निपुणपुरुषोंने मात्रा की कल्पना की है । विरेचन के लिए औषध लिये हुए रोगी को दस्त उपस्थित होवे तो उसे नहीं रोकना चाहिए। यदि वेग नहीं भी आवे तो भी प्रवाहण नहीं करना चाहिए ॥ ४५ ॥

सम्यग्विरिक्त के लक्षण व पेयपान.

यास्यंति क्रमतो मरुज्जलमला पित्तौषधोद्यत्कफाः ।
यातेष्वेषु ततोऽनिलानुगमने सम्यग्विरिक्तो भवेत् ॥
सोयं शुद्धतनुः श्रमक्लमयुतो लघ्वी तनुं चोद्वहन् ।
संतुष्टोऽतिपिपासुरग्निबलवान् क्षीणो यवागूं पिबेत् ॥ ४६ ॥

भावार्थः—विरेचक औषधि का सेवन करने पर क्रमशः वात, जल (मूत्र) मल, पित्त, औषध और कफ निकलते हैं। इस प्रकार शरीरस्थ दोष निकल जावे, वायु का अनुलोमन हो जावे तो समझना चाहिये कि अच्छी तरह से विरेचन होगया है। इस प्रकार जिस का शरीर अच्छी तरह से शुद्ध होगया है वह श्रम व ग्लानि से युक्त होता है। उस का शरीर हल्का हो जाता है। मन संतुष्ट होता है। प्यास लगती है। अत्यंत कृश होता है। उस की अग्निवृद्धि होती है। ये लक्षण प्रकट होवे तो उसे उसी दिन यवागू पिलानी चाहिये ॥ ४६ ॥

यवागू पान का निषेध.

मंदाग्निर्बलवान्तृषाविरहितो दोषाधिको दुर्विरि- ।
क्तो वा तद्दिवसे न चैव निपुणः शक्त्या च युक्त्या पिबेत् ॥
वांतस्यापि विरेचितस्य च गुणाः प्रागेव संकीर्तिता ।
स्तेषां दोषगुणान्निषेधविधिना बुध्वा विदध्याद्बुधः ॥ ४७ ॥

भावार्थः—यदि विरिक्त रोगी को अग्निमंद होगया हो, बलवान् हो, तृषा-रहित हो, अधिक दोषों से युक्त हो, अच्छीतरह विरेचन न हुआ हो तो ऐसी अवस्था में उसे उस दिन यवागू वगैरह पेय पीने को नहीं देना चाहिये। अच्छीतरह वमन हुए मनुष्य व विरेचित मनुष्य का गुण पहिले ही कहचुके हैं। विरेचन के सब दोषों का निषेध व गुणों की विधि अच्छीतरह जानकर विद्वान् वैद्य रोगी के लिये उपचार करें ॥ ४७ ॥

संशोधनभेषज के गुण.

यत्संशोधनभेषजं तदधिकं तैक्ष्ण्योष्णसौक्ष्म्यात्मकं ।
साक्षात्सारतमं विकाशिगुणयुक्तश्चोर्ध्वं ह्यधश्शोधय- ॥
त्यूर्ध्वं यात्यविपक्वमेव वमनं सम्यग्गुणोद्रेकतः ॥
पीतं तच्च विपच्यमानमसकृद्यायादधोभागितम् ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जो संशोधन [वमन संशोधन] करने वाला औषध है, वह अत्यंत तीक्ष्ण, उष्ण, सूक्ष्म, सार (सर) व विकासी गुण युक्त होता है। वे अपने विशिष्ट स्वभाव व गुणों के द्वारा ऊर्ध्व शोधन (वमन) व अधःशोधन [विरेचन] करते हैं। [वमनौषध व विरेचनौषध ये दोनों गुणों में सम होते हुए परस्परविरुद्ध दो कामों को किस प्रकार करते हैं ? इस का इतना ही उत्तर है कि, विरेचनौषध तीक्ष्ण आदि गुणों

के द्वारा ही विरेचन करता है। वमन का औषध तो अपने प्रभावके द्वारा वमन करता है] वमनौषध अपने गुणों के उत्कर्षसे अविपक्क [कच्चा] दोषों को लेकर ऊपर जाता है। विरेचन का औषध पक्क दोषों को लेकर नीचे के भाग (गुदा) मे जाता है ॥ ४८ ॥

विरेचन के प्रकीर्ण विषय.

मंदाग्नेरतितीक्ष्णभेषजमिति स्निग्धस्य कोष्ठे मृदौ।
दत्तं शीघ्रमिति प्रयातमखिलान् दोषान्न संशोधयेत् ॥
प्रातः पीतमिहौषधं परिणतं मध्यान्हतः शोधनं।
निश्शेषानतिशोधयेदिति मतं जैनागमे शास्वते ॥ ४९ ॥

भावार्थः—जिस का अग्निमंद हो (क्रूर कोष्ठ भी हो) स्नेहन कर के उसे तीक्ष्ण औषध का प्रयोग करना चाहिये। जिसका कोष्ट मृदु हो, [अग्नि भी दीप्त हो] उसे यदि तीक्ष्ण विरेचन देवे तो वह शीघ्र दस्त लाकर सम्पूर्ण दोषों को शोधन नहीं कर पाता है। प्रातःकाल पीया हुआ औषध, मध्यान्ह काल (दोपहर) तक पच कर सम्पूर्ण दोषों को शोधन कर दें (निकाल दें) तो वह उत्तम माना जाता है। ऐसा शाश्वत जिनागम का मत है ॥ ४९ ॥

दुर्बल आदिकोंके विरेचन विधान.

अत्यंतोच्छ्रितसंचलानतिमहादोषान् हरेदल्पशः।
क्षीणस्यापि पुनः पुनः प्रचलितानल्पान्प्रशम्याचरेत् ॥
दोषान् पक्कतरं चलानिह हरेत् सर्वस्य सर्वात्मना।
ते चाशु क्षपयंति दोषनिचयान्निशेषतोऽनिर्हृताः ॥ ५० ॥

भावार्थः—क्षीण मानव के शरीर में दोष अत्यंत उद्रिक्त हो व चलित हों तो उन को थोडा२ व बार२ निकालना चाहिये। यदि चलित दोष अल्प हों तो उन्हे शमन करना चाहिये। दोष पक्व हों, चलित भी हों, तो उन सम्पूर्ण दोषोंको सर्वतोभावसे निकाल देना चाहिये (चाहे वह रोगी दुर्बल हो या सबल हो)। यदि ऐसे दोषोंको पूर्णरूपेण नहीं निकाला जावें तो वे शीघ्र ही; शरीर को नष्ट करते हैं ॥ ५० ॥

अतिस्निग्धको स्निग्धरेचनका निषेध.

यःस्निग्धोऽतिपिबेद्विरेचनघृतं स्थानच्युताःसंचलाः।
दोषाःस्नेहवशात्पुनर्नियमिताः स्वस्था भवंति स्थिराः ॥

तस्मात्स्निग्धतरं विरूक्ष्य नितरां सुस्नेहतः शोधये- ।
दुध्दूतस्वनिबंधनाच्छिथिलिताः सर्वेऽपि सौख्यावहाः ॥ ५१ ॥

भावार्थः—जो अधिक स्नेह पीया हुआ हो वह यदि विरेचन घृत[स्निग्धविरेचन] पीवें तो उस का [अति स्नेहनके द्वारा] स्वस्थान से च्युत व चलायमान हुए दोष इस स्नेह के कारण फिर नियमित, स्वस्थ व स्थिर हो जाते हैं । इसलिये जो अधिक स्नेह (घृत तैलादि चिकना पदार्थ) पीया हो उसे अच्छीतरह रूक्षित कर के, स्नेहन से विरेचन करा देना चाहिये (?) क्यों कि दोषोद्रेक के कारणोंको ही शिथिल करना अधिक सुखकारी होता है ॥ ५१ ॥

संशोधनसम्बन्धी ज्ञातव्य बातें.

एवं कोष्ठविशेषविद्विदितसत्कोष्ठस्य संशोधनं ।
दद्याद्दोषहरं तथाह्यविदितस्यालोक्य सौम्यं मृदु ॥
यद्यद्दृष्टगुणं यदेव सुखकृद्यच्चाल्पमात्रं महा- ।
वीर्यं यच्च मनोहरं यदपि निर्व्यापच्च तद्भेषजम् ॥ ५२ ॥

भावार्थः—इस प्रकार कोष्ठविशेषों के स्वरूप को जानने वाला वैद्य जिस के कोष्ठ को अच्छी तरह जान लिया है उसे दोषों को हरण करने वाले संशोधन का प्रयोग करें । एवं जिसके कोष्ठ का स्वभाव मालूम नहीं है तो उसे सौम्य व मृदु संशोधन औषधि का प्रयोग करें । जिस संशोधन औषधि का गुण (अनेकबार प्रयोग करके) प्रत्यक्ष देखा गया हो, [अजमाया हुआ हो] जो सुखकारक हो (जिस को सुखपूर्वक खा, पीसके-खाने पीने में तकलीफ न हो) जिस की मात्रा-प्रमाण अल्प हो, जो महान् वीर्यवान व मनोहर हो, जिस के सेवन से आपत्ति व कष्ट कम होते हों ऐसे औषध अत्यंत श्रेष्ठ हैं (ऐसे ही औषधों को राजा व तत्समपुरुषों पर प्रयोग करना चाहिए) अर्थात् ऐसे औषध राजाओं के लिए योग्य होते हैं ॥ ५२ ॥

संशोधन में पंद्रहप्रकार की व्यापत्ति.

प्रोक्ते सद्वमने विरेचनविधौ पंचादशः व्यापदः ।
स्युस्तासामिह लक्षणं प्रतिविधानं च प्रवक्ष्यामहे ॥
ऊर्ध्वाधोगमनं विरेकवमनव्यापच्च शेषौषधे- ।
स्तज्जीर्णौषधतोऽल्पदोषहरणं वातातिशूलोद्भवः ॥ ५३ ॥
जीवादानमयोगमित्यतितरां योगः परिस्राव इ- ।
त्यन्या या परिवर्तिका हृदयसंचारो विबंधस्तथा ॥

यच्चाध्मानमतिप्रवाहणमिति व्यापच्च तासां यथा- ।
संख्यं लक्षणतच्चिकित्सितमतो वक्ष्यामि संक्षेपतः ॥५४॥

भावार्थः—वमन, विरेचन के वर्णनप्रकरण में पहिले [वैद्य रोगी व परिचारक के प्रमाद अज्ञान आदि के कारण वमन विरेचन के प्रयोगमें किसी प्रकार की त्रुटि होने पर] पंद्रह प्रकार की व्यापत्तियां उत्पन्न होती हैं ऐसा कहा है । अब उन के प्रत्येक के लक्षण व चिकित्सा को कहेंगे । उनमें मुख्यतया पहिली व्यापत्ति वमन का नीचे चला जाना, विरेचन का ऊपर आ जाना है। यह इन दोनों की पृथक् २व्यापत्ति है। [आगेकी व्यापत्तियां वमन विरेचन इन दोनों के सामान्य हैं अर्थात् जो व्यापत्ति वमन की है वही विरेचन की भी है] दूसरी व्यापत्ति औषधोंका शेष रह जाना ३ औषधका पच जाना, ४ अल्पप्रमाणमें दोषों का निकलना ५ अधिक प्रमाण में दोषों का निकल जाना. ६ वातजशूल उत्पन्न होना, ७ जीवादान [जीवनीय रक्त आदि निकलना], ८ अयोग ९ अतियोग, १० परिस्राव, ११ परिवर्तिका, १२ हृदय संचरर [हृदयोपसरण] १३ विबंध, १४ आध्मान, १५अतिप्रवाह (प्रवाहिका) ये पंद्रह व्यापत्तियां है। यहांसे आगे इन व्यापत्तियोंके, क्रमशः पृथक् २ लक्षण व चिकित्सा को संक्षेपसे कहेंगे ॥५३॥५४॥

विरेचनका ऊर्ध्वगमन व उसकी चिकित्सा.

यस्यावांतनरस्य चोल्वणकफस्यामांतकस्यातिदु-
र्गंधाहृद्यमतिप्रभूतमथवा दत्तं विरेकौषधम् ॥
ऊर्ध्वं गच्छति दोषवृद्धिरथवाप्यत्युग्ररोगोद्धतिं ।
तं वांतं परिशोधयेदतितरां तीक्ष्णैर्विरेकौषधैः ॥ ५५ ॥

भावार्थ—जिन को वमन नहीं कराया हो, कफ का उद्रेक व आम से संयुक्त हो तो ऐसे मनुष्यों को विरेचन औषधप्रयोग किया जाय तो वह ऊपर जाता है अर्थात् वमन हो जाता है । अथवा विरेचनौषध, अत्यंत दुर्गंधयुक्त व अहृद्य [हृदय को अप्रिय] हो, अथवा औषध, प्रमाण में अधिक पिलाया गया हो तो भी वमन होजाता है । वह ऊपर गया हुआ विरेचन, शरीर में दोषों की वृद्धि करता है, अथवा भयंकर रोगों को उत्पन्न करता है । ऐसा होने पर उसे वमन कराकर अत्यंत तीक्ष्ण विरेचन औषधियों से फिर से विरेचन कराना चाहिये ॥ ५५ ॥

वमनका अधोगमन व उसकी चिकित्सा.

यस्यात्यंतबुभुक्षितस्य मृदुकोष्ठस्यातितीक्ष्णानल-
स्यात्यंतं वमनौषधं स्थितिमतोपेतं ह्यधो गच्छति ॥

तत्रानिष्टफलप्रसिद्धमधिकं दोषोत्वणं तं पुनः ।
सुस्नेहोग्रतरौषधैरतितरां भूयस्तथा वामयेत् ॥ ५६ ॥

भावार्थः—अधिक क्षुधा से पीडित मृदुकोष्ट व तीक्ष्णाग्निवाले मनुष्य को खिलाया हुआ वमनौषध पेट में रह कर अर्थात् पचकर नीचे की ओर चला जाता है। इस का अनिष्टफल प्रसिद्ध है अर्थात् इच्छित कार्य नहीं होता है एवं अधिक दोषों का उद्रेक होता है। ऐसे मनुष्य को अच्छी तरह से स्नेहन कर अत्यंत उग्र वमनौषधियों से वमन कराना चाहिए ॥ ५६ ॥

आमदोषसे अर्धपीत औषधपर योजना.

आमांशस्य तथामवद्विरसबीभत्सप्रभूतं तथा ।
कृत्वा तत्प्रतिपक्षभेषजमलं संशोधयेदादरात् ॥
एवं चार्धमुपैति चेदतितरां मृष्टेष्टसद्गंधजै- ।
रिष्टैरिक्षुरसान्वितैः सुरभिभिः भक्ष्यैस्तु संयोजयेत् ॥ ५७ ॥

भावार्थः—आमदोष, अमवत् औषध की विरसता, बीभत्सदर्शन, रुचि आदि कारणोंसे पूर्ण औषध न पिया जासके तो उसपर यह योजना करनी चाहिये। सब से पहिले उस रोगीको आमदोष नाशक प्रयोग कर चिकित्सा करें। एवं बादमें संशोधन (वमन व विरेचन) प्रयोग करें। साथ ही रुचिकर, इष्ट व सुगंधि भक्ष्य पदार्थों के साथ अथवा ईखके रस के साथ औषध की योजना कर उसकी बीभत्सता नष्ट करें ॥ ५७ ॥

विषमऔषध प्रतीकार.

ऊर्ध्वाधो विषमौषधं परिगतं किंचिन्नवस्थापयन् ।
शेषान्दोषगणान्विनेतुमसमर्थस्सन्महादोषकृत् ॥
मूर्च्छां छर्दिमरोचकं तृषमथोद्गाराविशुद्धिं रुजां ।
हृल्लासं कुरुते ततोऽहिमजलैरुग्रान्वितैर्वामयेत् ॥ ५८ ॥

भावार्थः—ऊर्ध्व शोधन व अधो शोधन के लिये प्रयुक्त विषमऔषधि यदि सर्व दोषों को अपहरण कर गुणोंकी व्यवस्थापन करने के लिये असमर्थ हो जाय तो वह अनेक महादोषों को उत्पन्न करती है। मूर्च्छा, वमन, अरोचक, तृषा, उद्गार, अशुद्धिता पीडा, उपस्थित वमनत्व (वमन होनेकी तैयारी, जी मचलना) आदि रोग उत्पन्न होते हैं। उनको उग्रा [वचा] से युक्त गरमजल से वमन कराना चाहिये ॥ ५८ ॥

सावशेषऔषध, व जीर्णऔषध का लक्षण व उसकी चिकित्सा.

यत्स्यादौषधशेषमप्यतितरां तत्पाचनैः पाचये-।
दल्पं चाल्पबलस्य च प्रचलिताशेषोरुदोषस्य च ॥
तत्रासम्यगधोविरेचितनरस्योष्णैर्जलैर्वामयेत् ।
तीक्ष्णाग्नेरपि भक्तवत्परिणतं तच्चाशु संशोधयेत् ॥ ५९॥

भावार्थः—पेट में औषध शेष रह जावे, दोष भी अल्प हो, रोगी अल्पबल वाला हो तो उसे पाचनक्रिया द्वारा पचाना चाहिये। यदि अवशेष औषधवाले का दोष अधिक हो, प्रचलित (प्रधावित) हो, [रोगी भी बलवान हो] विरेचन भी बराबर न हुआ हो तो उसे गरम पानी से वमन कराना चाहिये। तीक्ष्ण अग्निवाले मनुष्य के [थोडा, व स्वल्प गुण करनेवाला औषध भोजन के सदृश पच जाता है, इस से उद्रिक्त दोषों को समय पर नहीं निकाले तो अनेक रोगों को उत्पन्न करता है व बल का नाश करता है] ऐसे जीर्णऔषध को, शीघ्र ही शोधन करना चाहिये ॥ ५९ ॥

अल्पदोषहरण, वातजशूलका लक्षण, उसकी चिकित्सा.

अल्पं चाल्पगुणं च भेषजमरं पीतं न निश्शेषतो ।
दोषं तद्वमनं हरेच्छिरसि रुग्व्याधिप्रवृद्धिस्ततः ॥
हृल्लासश्च भवेदिहातिबलिनं तं वामयेदप्यधः ।
शुद्धादुद्धतगौरवं मरुदुरोरोगाद्गुदे वेदना ॥ ६० ॥
तं चाप्याशु विरेचयेन्मृदुतरं तीव्रौषधिश्शोधनैः ।
स्नेहादिक्रियया विहीनमनुजस्यात्यंतरूक्षौषधम् ॥
स्त्रीव्यापररतस्य शीतलमरं दत्तं मरुत्कोपनं ।
कुर्यात्तत्कुरुतेऽतिशूलमथवा विभ्रांतमूर्च्छादिकम् ॥ ६१ ॥

भावार्थः— अल्पगुणवाले औषधको थोडे प्रमाण में पीने से जो वमन होता है वह संपूर्ण दोषों को नहीं निकाल पाता है। जिस से शिर में पीडा व व्याधि की वृद्धि होती है। फिर जी मचल आती है। ऐसा होने पर बलवान् रोगी को अच्छी तरह वमन कराना चाहिए। इसी प्रकार विरेचन भी संपूर्ण दोषों को निकालने में समर्थ न हुआ तो उस से दोषों का उद्रेक हो कर शिर में भारीपन, वातजरोग, उरोरोग व गुदा में वेदना (कर्तनवत् पीडा) उत्पन्न होती है। ऐसी हालत में यदि रोगी मृदुशरीरवाला हो तो तीक्ष्णशोधन औषधियों द्वारा विरेचन कराना चाहिए।

स्नेहन, स्वेदन से रहित व मैथुन में आसक्त मनुष्य को (वमन विरेचन कारक) रूक्ष व शीतल औषध दे दें तो वह वायुको प्रकुपित करता है। वह कुपित वात (पसवाडे पीठ कमर ग्रीवा मर्मस्थान आदि स्थानो में) तीव्रशूल एवं भ्रम मूर्च्छा आदि उपद्रवों को उत्पन्न करता है। ऐसी हालत में उसे शीघ्र ही तैलाभ्यंग (तैलका मालिश) कर के [धान्यसे] स्वेदन करें एवं मुलैठी के कषाय (काढा) व कल्कसे सिद्ध तैलसे अनुवासन बस्ति देनी चाहिये ॥ ६० ॥ ६१ ॥

अयोग का लक्षण व उसकी चिकित्सा.

तैलाभ्यक्तशरीरमाशु तमपि प्रस्विद्य यष्टीकषा- ।
यैः कल्कैश्च विपक्वतैलमनुवासस्य प्रयुक्तं भिषक् ॥
स्नेहस्वेदविहीनरूक्षिततनो रूक्षौषधं वाल्पवी- ।
र्यं वात्यल्पमथापि वाभ्यवहृतं नोर्ध्वं तथाधो व्रजेत् ॥ ६२ ॥

तच्च क्लिश्य इहोग्रदोषनिचयांस्तैस्साधमापादये- ।
दाध्मानं हृदयग्रहं तृषमथो दाहं च सन्मूर्च्छतां ॥
तं संस्नेह्य च वामयेदपि तथाधस्स्नेह्य संशोधयेत् ।
दुर्वांतस्य समुद्धताखिलमहादोषाः शरीरोद्गताः ॥ ६३ ॥

कुर्वंति श्वयथुं ज्वरं पिटकिकां कण्डूसकुष्ठाग्निमां- ।
द्यं यत्ताडनभेदनानि च ततो निश्शेषतः शोधयेत् ॥
दुश्शुद्धेऽतिविरेचने स्थितिमति भागप्रवृत्ते तथा ।
चोष्णं चाशु पिबेज्जलं सुविहितं संशोधनार्थं परम् ॥ ६४ ॥

पीत्वोष्णोदकमाशु पाणितलतापैःपृष्ठपार्श्वोदर- ।
स्विन्ने सद्रवतां प्रपद्य नितरां धावन्ति दोषाःक्षणात् ।
याते स्वल्पतरेऽपि दोषनिचये जीर्णे च सद्भेषजे ।
तत्रायोगविशेषनिष्प्रतिपदं (?) कुर्याच्च तद्भेषजम् ॥ ६५ ॥

ज्ञात्वाल्पं गतदोषमातुरबलं शेषं तथान्हस्तदा ।
मात्रां तत्र यथाक्रमादवितथां दद्यात्पुनःशोधने ॥
एवं चेन्न च गच्छति प्रतिदिनं संस्कृत्य देहक्रिया- ।
मास्थाप्याप्यनुवास्य वाप्यतिहितं कुर्याद्विरेकक्रियाम् ॥ ६६ ॥

---

१ वियोग इति पाठांतरं ।

भावार्थः—जिस का शरीर स्नेहन व स्वेदन से संस्कृत न हो, रूक्ष भी हो, उसे रूक्ष, अल्पवीर्यवाले, अत्यल्प (प्रमाण में बहुत ही कम) औषधि का सेवन करावें तो वह न ऊपर ही जाता है न नीचे ही । अर्थात् उस से न वमन होता है न विरेचन । (इसे अयोग कहते हैं) । और वह दोषों के समूह को उत्क्लेशित कर के, साथ में आघ्मान (अफराना) हृदयग्रह, प्यास, दाह व मूर्च्छा को उत्पन्न करता है । ऐसा होनेपर [उग्र औषधियोंसे] फिर पूर्णरीतीसे वमन कराना चाहिये । विरेचनौषधि का सेवन करनेपर, दस्त बराबर न लगे, अथवा दस्त बिलकुल ही न लगे, औषध पेट में रह जावे तो शीघ्र ही, विरेचन होने के लिये गरम पानी पिलाना चाहिये । गरम पानी पिलाकर शीघ्र ही हथेली तपाकर उस से पीठ, दोनो पार्श्व [पंसवाडे] उदर को सेकना चाहिये । इस प्रकार स्वेदन करने पर क्षणकाल में दोष, द्रवता को प्राप्त होकर बाहर दौडते हैं [निकलते हैं] अर्थात् दस्त लगता है । यदि स्वल्प ही दोष बाहर निकलकर [थोडे ही दस्त होकर] [बीचमें] औषध पच जावे तो इस अयोग विशेष के प्रतीकार भूत [निम्नलिखित क्रमसे] औषध की योजना करें । पहिले यह जानकर कि शरीरसे दोष थोडा गया हुआ है (दोष बहुत बाकी रह गया है) रोगी सबल है, और दिन भी बहुत बाकी है [सूर्यास्तमान होने को बहुत देर है] ऐसी हालत में, अव्यर्थ औषधकी मात्रा को खिलाकर विरेचन करावें । इतने करनेपर भी जिनको विरेचन न होता हो, तो स्नेहन स्वेदन से शरीर को प्रतिदिन संस्कृत कर, और आस्थापन व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करके, अत्यंत हितभूत विरेचन देना चाहिये ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

दुर्विरेच्य मनुष्य.

> वेगाघातपराः क्षितीश्वरनरा भृत्यांगना लज्जया ।
> लोभाच्चापि वणिग्जनाः विषयिणश्चान्येपि नात्मार्थिनः ॥
> ये चात्यंतविरूक्षितास्सततविष्टंभास्तथाप्यामयाः ।
> दुश्शोध्यास्तु भवेयुरेत इति तान् सुस्नेह्य संशोधयेत् ॥ ६७ ॥

भावार्थः—राजा के पास में रहनेवाले मनुष्य, सेवक वर्ग, (ये लोग भय से) स्त्रियां लज्जासे, वैश्य [वनिया] लोभ से, विषय लोलुपी मनुष्य, (विषय सेवन की आसक्तिसे) उसी प्रकार अपने आत्महित को नहीं चाहनेवाले लोग, मल के वेग को रोका करते हैं । ऐसे मनुष्य, तथा जो अत्यंत रूक्षतासे (रूखापने से) संयुक्त हैं, हमेशा विबंध [दस्त का साफ न होना] से पीडित हैं, एवं उसी प्रकार के अन्य रोगों से व्याप्त हैं वे भी दुर्विरेच्य होते हैं अर्थात् इन को विरेचक औषधि देनेपर बहुत ही

मुश्किल से जुलाब होता है (क्यों कि इन के शरीर में वात बहुत बढा हुआ होता है) ऐसे मनुष्यों को अच्छी तरह स्नेहन व स्वेदन कर के विरेचन कराना चाहिये ॥ ६७ ॥

अतियोगका लक्षण व उसकी चिकित्सा.

स्निग्धस्विन्ननरस्य चातिमृदुकोष्ठस्यातितीक्ष्णौषधं ।
दत्तं स्यादतियोगकृद्वमनतः पित्तातिवृत्तिर्भवेत् ॥
विस्रंभेतिबलक्षयोप्यनिलसंक्षोभश्च तत्कारणा-।
त्तं शीतांबुनिषिक्तमिक्षुरससंशीतौषधैश्शोधतेत् ॥ ६८ ॥
स्यादत्यंतविरेचनातिविधिना श्लेष्मप्रवृत्तिस्ततो ।
रक्तस्यापि बलक्षयो ह्यनिलसंक्षोभश्च संजायते ॥
तं चाप्याशु निषिच्य शीतलजलैश्शीतैश्च यष्टीकषा-।
यैस्संछर्दनमाचरेदतिहिमक्षीराज्यकास्थापनम् ॥ ६९ ॥
क्षीराज्येन तथानुवासनमिह प्रख्यातमायोजये-।
दन्यच्चाप्यतिसारवद्विधियुतं सद्भेषजाहारकम् ॥
तस्यास्मिन्वमनातियोगविषयेऽसृक्ष्ठीवतिछर्दय-।
त्यौद्धत्याक्षियुगस्य चापि रसनानाशोऽपि निस्सर्पणम् ॥ ७० ॥
हिक्कोद्गारतृषाविसंज्ञहनुसंस्तंभं तथोपद्रवा-।
स्तेषां चापि चिकित्सितं प्रतिविधास्येहं यथानुक्रमात् ॥
तत्रासृग्गमनेऽतिशोणितविधिं कुर्याच्च जिह्वाद्गमे ।
जिह्वां सैंधवसत्कटुत्रिकरजैर्घृष्टां तु संपीडयेत् ॥ ७१ ॥
अंतश्चेद्रसना प्रविश्यति तथा चाम्लान्यथान्ये पुरः ।
खादेयुः स्वयमाम्लवर्गमसकृत् संभक्षयेदक्षयम् ॥
व्यावृत्ते नयने घृतेन ललिते संपीडयेल्लीलया ।
सुस्तब्धे च हनावनूनकफवातघ्नौषधैस्स्वेदयेत् ॥ ७२ ॥
हिक्कोद्गारतृषादिषु प्रतिविधिं कुर्याद्विसंज्ञेपि तत् ।
कर्णे वेणुनिनादमाशुमधुरं संश्रावयेत्संश्रुतिम् ॥
वैरेकातिविधौ सचंद्रकमतिस्वच्छं जलं संस्रवे-।
त्संसान् धौतजलोपमं तदनु तत् पश्चाच्च सच्छोणितं ॥ ७३ ॥

१ इंदुकरसंशीतौषधैः इति पाठांतरं. इस पाठसे चांदनी [चंद्रकिरण] में उस रोगीको बैठालना व शीतौषध प्रयोग करना यह अर्थ होगा । —संपादक ।

पश्चात्तद्गुदसर्पणांगचलनप्रच्छर्दनोपद्रवा- ।
स्तेषां चाभिहितक्रमात्प्रतिविधिं कुर्याद्भिषग्भेषजैः ॥
तन्निस्सर्पितमुष्णतैलपरिषिक्तं तद्गुदं पीडयेत् ।
वातव्याधिचिकित्सितं च सततं कृत्वाचरेद्भेषजम् ॥ ७४ ॥

जीवशोणित लक्षण.

जिह्वालंबनिकामुपद्रवगणं सम्यक्चिकित्सा मया ।
संप्रोक्ता खलु जीवशोणितमतः संलक्ष्यतां लक्षणैः ॥
यच्चोष्णोदकधौतमप्यतितरां नैवापसंसज्यते ।
स्वापभ्दक्षयतीह शोणितमिदं चान्यत्र पित्तान्वितं ॥ ७५ ॥

भावार्थः—अत्यंत स्नेहन स्वेदन किये हुए, अत्यंत मृदुकोष्ठवाले मनुष्य को, (वमन विरेचनार्थ) अत्यंत तीक्ष्ण औषधि का सेवन करावे तो उस का अतियोग होता है [अत्यधिक वमन विरेचन होता है] वमन के अतियोग से पित्त अधिक निकलता है। थकावट आती है व बलका नाश होता है एवं वातका प्रकोपन होता है। इसलिये उस मनुष्य को शीत जलसे स्नान कराकर, इक्षुरस व [चंद्रकिरण के समान] शीतगुण संयुक्त औषधियोंसे विरेचन कराना चाहिये। प्रमाणसे अत्यधिक विरेचन होनेपर अर्थात् विरेचन का अतियोग होने से अधिक कफ निकलता है, पश्चात् रक्त भी निकलने लगता है, बल का नाश व वातका प्रकोप होता है। ऐसे मनुष्य को शीघ्र ही शीतल जलसे स्नान कराकर, अथवा तरेडा देकर, ठंडे दूध व घी से आस्थापन बस्ति और इन्हीसे प्रसिद्ध अनुवासन बस्ति भी देवें। इसी प्रकार इसे अतिसार के चिकित्सा में कहे गये, औषध व आहार के विधान से उपचार करें। पूर्वकथित वमन के अतियोग और भी उग्ररूप धारण करने पर, थूक में रक्त आने लगता है। रक्त का वमन होता है। दोनों आखें बाहर आती हैं। (उभरी हुई होती हैं) जीभ के रसग्रहणशक्ति का विनाश होता है और वह बाहर निकल आती है। एवं हिचकी, डकार, प्यास, मूर्छा, हनुस्तम्भ, (ठोडी अकडना) आदि उपद्रव होते हैं। इनकी योग्य चिकित्सा को अब क्रमशः कहेंगे। रक्त-ष्ठीवन व वमन होनेपर रक्त की अतिप्रवृत्ति में जो चिकित्सा कही गई है उसीके अनुसार चिकित्सा करें। जीभ के बाहर निकल आनेपर; सेंधानमक, सोंठ, मिरच, पीपल इन के चूर्णसे जीभ को घिस=रगडकर (मलकर) उसे पीडन करें=अंदर प्रवेश कर दें। जीभ के अंदर प्रवेश होनेपर, अन्य मनुष्य उस के सामने, दिखा २ कर खट्टे निंबू

आदि चीजों को खावें एवं उसे भी अम्लवर्ग में कहे हुए खट्टे पदार्थों को खिलावें। इस प्रकार की चिकित्सासे जीभ ठीक होती है। आंखें बाहर आनेपर, उन्हे घी लगाकर, बडी कुशलता के साथ पीडन करें=मल दे। हनुस्तम्भ होनेपर कफवातनाशक, श्रेष्ठ औषधियों से ठोडी स्वेदन करें=सेके। हिचकी, डकार, प्यास आदि उपद्रवो में, उन २ की जो चिकित्सा विधि कही है उन्हीं को करें। बेहोशी होनेपर, बांसुरी आदि के मनोहर शद्व (संगीत) को कान से सुनावें।

विरेचन का अतियोग अत्यधिक बढ जानेपर, चंद्रिका से [मोर के पंख के समान सुनहरी नील आदि वर्ण] संयुक्त स्वच्छ जल निकलता है। तदनंतर मांस को धोये हुए पानी के सदृश स्वरूपवाला पानी, तत्पश्चात् जीवशोणित (जीवनदायक) रक्त निकलता है। इसके भी अनंतर गुदभ्रंश (गुदाका बाहर निकल आना) अंगों में कम्प [अंगोपांग के काम्पना] होता है। इसी प्रकार वमन के अतियोग में कहे हुए उपद्रव भी इस में होते हैं। ऐसा होनेपर बुद्धिमान् वैद्य पूर्वकथित चिकित्साविधि [अधिक रक्तस्राव होनेपर जो चिकित्सा कही है उसी चिकित्सा विधि] से योग्य औषधों द्वारा प्रतीकार करें। बाहर आये हुए गुदा को, गरम तेल लगाकर [अथवा तेल लगाकर सेक करके] अंदर प्रवेश करा दें (क्षुद्ररोग में कहे हुए गुदभ्रंश की चिकित्सा को यहां प्रयोग करें) शरीर काम्पने पर हमेशा वातव्याधि में कथित चिकित्साविधि का प्रयोग करें। जीभ बाहर निकल आना आदि उपद्रवो में अच्छी प्रकार की चिकित्सा करें [पहिले वमनातियोग चिकित्सा प्रकरण में कह चुके हैं]। अब जीवशोणित का लक्षण कहेंगे।

जीवशोणित लक्षण–जिस रक्त को कपडे के टुकडेपर लगाकर फिर गरम पानी से अच्छीतरह से धो डाले, तो यदि उसका रंग कपडे से नहीं छूटे और उसे सत्तू आदि में मिलाकर खाने के लिये कुत्ते को डालनेपर यदि कुत्ता खावे तो समझना चाहिये कि वह जीवशोणित है। इससे विपरीत लक्षण दिखनेपर समझना चाहिये कि वह जीवशोणित नहीं है बल्कि वह रक्तपित्त है ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

जीवादान, आध्मान, परिकर्तिका लक्षण व उनकी चिकित्सा.

जीवादानमसृक्प्रवृत्तिरिति तं ज्ञात्वातिशीतक्रियां।
शीतान्येव च भेषजानि सततं संधानकान्याचरेत् ॥
यच्चाजीर्णवशान्मरुत्प्रचलतो रौक्ष्यं च पीतौषधं।
तच्चाध्मापयतीह वातमलमूत्रात्यंतसंरोधकृत् ॥ ७६ ॥

यस्मिन्बस्तिगुदेऽतितोदमपि तं स्नेह्यातिसंस्वेदयन् ।
नाना ह्यौषधवर्तिमग्निकरसद्बस्तिं च संयोजयेत् ॥
क्षीणेनाल्पतराग्निनातिमृदुकोष्ठेनातिरूक्षौषधं ।
पीतं पित्तयुतानिलं च सहसा सन्दूष्य संपादयेत् ॥ ७७ ॥

अत्युग्रां परिकर्तिकामपि ततः संतापसंवर्तनं ।
कुक्षौ मूत्रपुरीषरोधनमतो भक्तारुचिर्जायते ॥
तं तैलाज्ययुतेन यष्टिमधुकक्षीरेण चास्थापयेत् ।
क्षीराज्यैरनुवासयेदनुदिनं क्षीरेण संभोजयेत् ॥ ७८ ॥

भावार्थः—संशोधनऔषधि को सेवन कराने पर यदि जीवनदायक रक्त निकल आवें तो उसे जीवादान कहते हैं। ऐसा होनेपर उसे शीतचिकित्सा करें, एवं रक्त को स्तम्भन करनेवाले शीतऔषधोंका प्रयोग करे। **आध्मान**— जिस को अजीर्ण होगया हो (खाया हुआ भोजन नहीं पचा हो) और कोष्ठ में वायु अधिक हो उस हालत में यदि संशोधनार्थ रूक्ष औषध पीवे तो वह आध्मान (पेट अफरा जाना) को उत्पन्न उत्पन्न करता है, जिस से अधोवायु, मल, मूत्र रुक जाते हैं। बस्ति [मूत्राशय] व गुदाभाग में सुई चुभने जैसी भयंकर पीडा होती है। ऐसा होनेपर उसे स्नेहन, स्वेदन करके नानाप्रकार के औषधियों से निर्मित वर्ति [बत्ति] और अग्निवृद्धिकारक श्रेष्ठ बस्तिकी योजना करें। **परिकर्तिका**—दुर्बल मनुष्य, जिस का अग्नि मंद हो और कोष्ठ भी मृदु हो, शोधनार्थ रूक्ष औषध पीवे तो वह पित्त से संयुक्त वात [पित्त वात] को शीघ्र ही दूषित कर के अत्यंत भयंकर परिकर्तिका [कैंची से कतरने जैसी पीडा] को उत्पन्न करता है, जिससे कुक्षि में [पीडा के कारण] संताप होता है। मल मूत्र रुक जाते हैं एवं भोजन में अरुचि होती है। ऐसा होने पर उसे तैल, घी, मुलैठी इन से मिश्रित दूध से आस्थापन बस्ति देवे, घी दूधसे अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें एवं दूध के साथ भोजन करावें ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

परिस्रावलक्षण

रूक्षक्रूरतरोदरस्य बहुदोषस्याल्पमंदौषधं ।
दत्तं दोषहराय नालमतएवोत्क्लिश्य दोषास्ततः ॥
दौर्बल्यारुचिगात्रसादनमहाविष्टंभमापाद्य सं- ।
स्रावं पित्तकफौ च संततमरं संस्रावयेन्नरुजः ॥ ७९ ॥

भावार्थः—जिस का उदर रूक्ष व क्रूर [क्रूर कोष्ठ] हो और वह अधिक दोषों से व्याप्त हो, ऐसे मनुष्य को (प्रमाण में) अल्प व मृदु औषध का प्रयोग करदें तो, वह सम्पूर्ण दोषों को निकाल ने के लिये समर्थ नहीं होता है। अत एव वह दोषों को उत्क्लेशित करके, दुर्बलता, अरुचि, शरीर में थकावट व विष्टम्भ (साफ दस्त न आना) को उत्पन्न करते हुए, वेदना के साथ हमेशा (बहुदिन तक) पित्तकफ को स्रावण कराता (बाहर निकालता) रहता है अर्थात् कफ पित्त मिश्रित थोडे २ बहुत दिन तक दस्त लाता है। इसे संस्राव अथवा परिस्राव कहते हैं॥ ७९॥

परिस्रावव्यापत्तिचिकित्सा.

तं च स्रावविकारमत्र शमयेत्सांग्राहिकैर्भेषजैः।
प्रोक्तैरप्यथ वक्ष्यमाणविपयैस्संस्थापनास्थापनैः॥
क्षीरेण प्रचुराजमोदशतपुष्पाचूर्णितेनाज्यसं- ।
मिश्रेणोष्णविशेषशाल्यशनमत्यल्पं समास्वादयेत्॥ ८०॥

भावार्थ—इस परिस्राव रोग को, पूर्वोक्त सांग्राहिक औषधोंसे (दस्त को बंद करनेवाले औषध जायफल आदि) एवं आगे कहे जानेवाले, दस्तको बंद करनेवाले आस्थापन बस्तियोंसे उपचार करें। तथा अजवायन, सोंफके चूर्ण व घृतमिश्रित व उष्णगुणयुक्त चावल के भात को दूध के साथ थोडा खिलावें॥ ८०॥

प्रवाहिका लक्षण.

स्निग्धो वातिनिरूक्षितश्च पुरुषः पीत्वात्र संशोधनं।
योऽप्राप्तं तु मलं बलाद्गमयति प्राप्तं च संधारयेत्॥
तस्यांतस्सुविदाहशूलबहुलश्वेतातिरक्तासिता।
श्लेष्मा गच्छति सा प्रकारसहिता साक्षाद्भवेद्वाहिका॥८१॥

भावार्थः—अत्यंत स्निग्ध, अथवा रूक्षित (रूखापने से युक्त) मनुष्य, विरेचन का औषध पीकर, मल बाहर न आते हुए देख उसे बाहर लाने के लिये बलात्कार पूर्वक कोशिश करता है अर्थात् प्रवाहण करता है, अथवा बाहर निकलते हुए मल के वेग को रोक लेता है तो, उस के पेट से, दाह व शूलसंयुक्त, सफेद, लाल वा काले रंग का कफ बाहर [बार २] निकल ने लगता है। इसे प्र से युक्त वाहिका, अर्थात् प्रवाहिका कहते हैं॥ ८१॥

१ सांग्राहिक—कफ पित्तस्रावस्तंभक, ऐसा भी अर्थ होता है।

प्रवाहिका, हृदयोपसरण, व विबंध की चिकित्सा.

तामास्रावविकारभेषजगणैरास्थाप्य संशोध्य त- ।
त्पश्चादग्निकरौषधैरहिमपानीयं तु संपाययेत् ॥
ऊर्ध्वाधश्च प्रवृत्तभेषजगतिं यो वात्र संस्तंभये- ।
दज्ञानाद्हृदयोपसंसरणतां कृत्वात्र दोषास्तथा ॥ ८२ ॥

हृत्पीडां जनयन्त्यतश्च मनुजो जिह्वां सदंतामरं ।
खादंस्ताम्यति चोर्ध्वदृष्टिरथवा मूर्च्छत्यतिक्षामतः ॥
तं चाभ्यज्य सुखोष्णधान्यशयने संस्वेद्य यष्टीकषा- ।
यैः संसिद्धतिलोभ्दवेन नितरामत्रानुसंवासयेत् ॥ ८३ ॥

तं तीक्ष्णातिशिरोविरेचनगणैस्संशोध्य यष्टीकषा- ।
योन्मिश्रैरपि तण्डुलांबुभिररं तं छर्दयेदातुरम् ॥
ज्ञात्वा दोषसमुच्छ्रयं तदनु तं सद्वस्तिभिः साधये- ।
द्यः संशुद्धतनुः सुशीतलतरं पानादिकं सेवते ॥ ८४ ॥

स्रोतस्वस्य विलीनदोषनिकरः संघातमापद्यते ।
वर्चो मूत्रमरुन्निरोधनकरो बध्नात्यथाग्निस्वयं ॥
आटोपज्वरदाहशूलबहुमूर्च्छाद्यामयास्स्युस्तत- ।
स्तं छर्द्यां सनिरूहयेदपि तथा तं चानुसंवासयेत् ॥ ८५ ॥

भावार्थः—उस प्रवाहिका से पीडित मनुष्य को, परिस्राव व्यापत्ति में कथित औषधसमूह से आस्थापन बस्ति देवें और संशोधन [विरेचन] करें । उस के बाद अग्निवर्धक औषधियों के साथ गरमपानी को पिलाना चाहिये अथवा अग्निकारक औषधि-सिद्धजल को पिलावें । **हृदयोपसरण लक्षण**=जो मनुष्य वमन विरेचन के औषध को सेवन कर उस से आते हुए वेग=वमन या विरेचन को अज्ञान से रोक लेता है, तो उन के दोष, हृदय के तरफ गमन कर, हृदय में पीडाको उत्पन्न करते हैं, और जिससे मनुष्य जीभ को काटता है, दांतोंको किट किटाता है, संताप युक्त होता हुआ ऊपर की ओर आंखे फाड देता है । अत्यंत कृश होकर मूर्च्छित होजाता है । इसे हृदयोपसरण व्यापत्ति कहते हैं । **इस की चिकित्सा**= ऐसा होनेपर उसे धान्यसे स्वेदित कर के मुलैठी के क्वाथ (काढे)से साधित तिल के तैल से अनुवासनबस्ति देनी चाहिये । तथा शिरोविरेचन गणोक्त तीक्ष्ण औषधियों से शिरोविरेचन करा कर, मुलैठी के क्वाथ (काढे) से मिश्रित चावल के धोवन से वमन कराना चाहिये । इतना करने पर भी यदि उस रोगी में दोषोंक

उद्रेक (उठाव) मालूम पडे तो तत्पश्चात् श्रेष्ठ वस्तियोंके प्रयोग से उपचार कर दोषों-को जीतें। **विबंधका लक्षण**=वमन विरेचनकारक औषधिके सेवन से, शरीर संशुद्ध (वमन अथवा विरेचन) हो रहा हो, उस हालत में, अत्यंत शीतलपान, हवा आदि को सेवन करता हो तो, उस के स्रोतों में दोषसमूह विलीन होकर संघात (गाढापने) को प्राप्त होता है और वह मल मूत्र, वात को निरोधन करते (रोकते) हुए, वमन विरेचन की प्रवृत्ति को रोक देता है। तथा अग्नि भी स्वयं मंद हो जाती है। इस से पेट में गुडगुडाहट, ज्वर, दाह शूल मूर्च्छा आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं [इसे विबंध कहते हैं]। **विबंध की चिकित्सा**= ऐसा होनेपर, उस रोगी को,वमन कराकर निरूहवस्ति [आस्थापन वस्ति] देनी चाहिये एवं अनुवासनवस्ति भी देनी चाहिये ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

कुछ व्यापत्तियोंका नामांतर.

विरेचने या परिकर्तिरुक्ता गलाक्षतिः सा वमने प्रदिष्टा।
अधः परिस्रावणमूर्ध्वभागे कफप्रसेको भवतीति दृष्टः ॥ ८६ ॥
प्रवाहिकाधः स्वयमेव चोर्ध्वे भवेत्तथोद्गार इतीह शुष्कः।
इति क्रमात्पंचदश प्रणीताः सहौषधैर्व्यापद एव साक्षात् ॥ ८७ ॥

भावार्थः—विरेचन की व्यापत्ति में जो गुदा में परिकर्तिका कही है उसी के स्थान में, वमन में गलक्षति[कंठ मे छीलने जैसी पीडा होना] होती है। विरेचन में जो अधःपरिस्राव होता है उस के जगह वमन में कफप्रसेक (कफ का चूना) होता है। इसीप्रकार विरेचन की प्रवाहिका के जगह वमन में शुष्कउद्गार होता है। इस प्रकार क्रमशः वमन विरेचन के पंद्रह प्रकार की व्यापत्तियों का वर्णन उन के योग्य औषध व चिकित्सा के साथ २ कर दिया गया है॥ ८६ ॥ ॥८७॥

---

१ यस्तूर्ध्वमधो वा प्रवृत्तदोषः शीतागारमुदकमनिलमन्यद्वा सेवेत। इति ग्रंथांतर कथितत्वात्.

२ विबध्यते वमनविरेचनयोः प्रवृत्तिं निवारयंतीत्यर्थः (सुश्रुत)

३ इस का तात्पर्य यह है कि वमन और विरेचन के अतियोग के कारण, एक २ के पंद्रह २ प्रकार की व्यापत्ति होती हैं ऐसा पहले कहा है। लेकिन् परिकर्तिका नामक जो व्यापत्ति विरेचन के ठीक २ न होने पर ही होती है, वह वमन में नहीं हो सकती है। इसी प्रकार परिस्राव आदि भी वमन में नहीं हो सकती। यदि उन को वमनव्यापत्ति में से हटा देते तो वमन की पंद्रह व्यापत्तियों की पूर्ति नहीं होती। इसलिये इन के अतिरिक्त वमन में कोई विशिष्ट व्यापत्ति जो कि विरेचन में नहीं होती हो होनी चाहिये। इसी को आचार्य ने इस श्लोकसे स्पष्ट किया है कि परिकर्तिका के स्थान में गलक्षति होती है आदि ॥

बस्तिके गुण और दोष.

अथात्र सद्बस्तिविधानसद्विधौ भवंत्यचिंत्या बहवो महागुणाः ।
तथैव दुर्वैद्यकृते तु दुर्विधौ भवंत्यचिंत्या बहवोऽपि दुर्गुणाः ॥ ८८ ॥

भावार्थः—बस्तिप्रयोग को यदि शास्त्रोक्त विधिपूर्वक यथावत् किया जाय तो अचिंत्य व बहुतसे उत्तमगुण होते हैं । यदि अज्ञानी वैद्य ने विधिको न जानकर यद्वा तद्वा किया तो उस से अनेक अचिंत्य दोष भी उपस्थित होते हैं ॥ ८८ ॥

बस्तिव्यापच्चिकित्सावर्णनप्रतिज्ञा.

विधिर्निषेधश्च पुरैव भाषितावतःपरं बस्तिविपच्चिकित्सितम् ।
प्रवक्ष्यते दक्षमनोहरौषधैः स्वनेत्रबस्तिप्रणिधान भेदतः ॥ ८९ ॥

भावार्थः—किस रोग के लिये बस्तिकर्म हितकर है, और किस में उस का प्रयोग नहीं करना चाहिये इत्यादि प्रकार से बस्तिकर्म का विधिनिषेध पहिले से कहा जा चुका है । अब यहां से आगे नेत्र (पिचकारी) दोष, बस्तिदोष, प्रणिधान [पिचकारी के अंदर प्रवेश करने का] दोष, इत्यादि दोषों से उत्पन्न, बस्तिक्रिया की व्यापत्ति, और उन व्यापत्तियों की योग्यचिकित्सा का वर्णन, उन व्यापत्तियों को जीतने में समर्थ व मनोहर औषधों के साथ २ किया जायगा ॥ ८९ ॥

बस्तिप्रणिधान में चलितादिव्यापच्चिकित्सा.

अथेह नेत्रं चलितं विवर्तितस्तथैव तिर्यग्विहितं गुदक्षतम् ।
करोति तत्र व्रणवच्चिकित्सितं विधाय संस्वेदनमाचरेद्भिषक् ॥९०॥

भावार्थः—बस्ति [पिचकारी] को अंदर प्रवेश करते समय वह हिल जावे व विवर्तित हो जावे (मुड जावे) अथवा तिरछा चला जावे तो वह गुदा में जखम करती है । ऐसा होने पर व्रणोक्तचिकित्सविधान से चिकित्सा करके वैद्य स्वेदन करें अर्थात् गुदभाग को सेकें ॥ ९० ॥

ऊर्ध्वोत्क्षिप्त व्यापच्चिकित्सा.

तथोर्ध्वमुत्क्षिप्त इहानिलान्वितं सफेनिलं चौषधमुद्वमत्क्षणात् ।
भिनत्ति तद्वंक्षणमाशु तापितं, निरूहयेदप्यनुवासयेत्ततः ॥ ९१ ॥

भावार्थः—यदि पिचकारी, ऊपर की ओर झुक जावे तो, वह वात व फेन (झाग) युक्त औषध को क्षणकाल से ऊपर की ओर वमन करते हुए, वंक्षण [राङ]

को भेदन करता है। ऐसा होनेपर शीघ्र ही तपाकर(स्वेदन कर) निरूह [आस्थापन] बस्ति और अनुवासन बस्तिका प्रयोग क्रमशः करें ॥ ९१ ॥

अवसन्नव्यापच्चिकित्सा.

इहावसन्ने त्वधिकं ह्यधोमुखं । पतद्द्रवं चाशु दहत्यथाशयम् ।
पयः पयोवृक्षकषायषष्टिकै-। र्निरूहयेदप्यनुवासयेद्घृतम् ॥ ९२ ॥

भावार्थः—नेत्र प्रयोग करते समय नीचे की ओर झुक जावे तो द्रवपदार्थ अधिक अधोमुख (नीचे ओर झुककर) होकर गिरते हुए शीघ्र ही आशय को जलाता है। ऐसा होनेपर, दूध, दूधिया वृक्षों के काढा व मुलैठी से आस्थापन बस्ति देवें और घी से अनुवासन बस्ति भी देवें ॥ ९२ ॥

नेत्रदोषजव्यापत्ति व उसकी चिकित्सा.

तथैव तिर्यक्प्रणिधानदोषतो । द्रवं न गच्छेदृजुसंप्रयोजयेत् ॥
अतीव च स्थूलमिहातिकर्कशं । रुजाकरं स्यादभिघातकृत्ततः ॥ ९३ ॥
सुभिन्ननेत्रेऽप्यनुसंन्नकर्णिके । द्रवं स्रवेत्तच्च विवर्जयेद्भिषक् ॥
प्रवेशनाद्यत्यतिदीर्घिका सती । गुदे क्षते स्रावयतीह शोणितम् ॥ ९४ ॥
अतिप्रवृत्तेऽसृजि शोणिताधिका-। प्रवृत्तिनिर्वृत्तिविधिर्विधीयते ॥
सुसूक्ष्मदुश्छिद्रयुतेन पीडितं । द्रवं न गच्छेदपि तद्विवर्जयेत् ॥ ९५ ॥

भावार्थः—इसी प्रकार पिचकारी को तिरछा प्रयोग करने के दोषसे द्रव अंदर नहीं जाता है। उस अवस्थामें उसे सीधाकर प्रयोग करना चाहिये। यदि नेत्र (पिचकारी) बहुत मोटा हो, कर्कश [खरदरा] हो [और टेढा हो] तो उस के प्रयोग से गुदा में चोट लगकर जखम व पीडा होती है। पिचकारी फटी हुई हो जिस की कर्णिका पास में हो [और नली बहुत पतली हो] तो पिचकारी में रहनेवाला द्रव अंदर प्रवेश न कर के बाहर वापिस आ जाता है। इसलिये ऐसी पिचकारीयों को बस्तिकर्म में वैद्य छोड देवें। जिस पिचकारी में कर्णिका बहुत दूर हो, उस के प्रवेश कराने पर वह दूर तक जाकर गुदा (मर्म) में जखम कर के रक्त का स्राव करती है। इसप्रकार रक्त की अतिप्रवृत्ति होनेपर, रक्त की अतिप्रवृत्ति में उस को रोकने के लिये जो चिकित्सा बतलायी गई उससे उपचार करना चाहिये। अत्यंत सूक्ष्म (बारीक) छिद्र (सूराक) अथवा खराब छिद्र से संयुक्त पिचकारी अंदर प्रवेश कराने पर उस के द्रव बराबर अंदर नहीं जाता है। इसलिये ऐसी पिचकारी को भी छोड दे ॥९३॥९४॥९५॥

अतीव दैर्घ्यप्यतिदीर्घदोषत--। स्तथाल्पके चाल्पनिपीडितोपमः ।
अतः परं वस्तिविकारलक्षणं । मवक्ष्यते तत्परिवर्जयेदपि ॥ ९६ ॥

भावार्थ—पिचकारी बहुत लम्बी होने पर बस्ति की कर्णिका दूर होनेसे जो व्यापत्ति होती है वही इस में भी होती है। नेत्र [पिचकारी] छोटा होवे तो धीरे दबानेसे जो दोष होता है वही इस में भी होता है। इस के बाद बस्ति के विकार का स्वरूप कहेंगे। ऐसी बस्तियों को बस्तिकर्म में प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ९६ ॥

वस्तिदोषजव्यापत्ति व उसकी चिकित्सा.

तथैव वस्तौ बहलेऽतरंगिके । दृढेन चौषधो भवतीति वर्जयेत् (?) ।
मृदुर्बलः पीडित एव भिद्यते । प्रवृत्यतिछिद्रयुते द्रवं द्रुतम् ॥ ९७ ॥
अथाल्पवस्तावतिहीनत द्रवं । भवत्यतस्तान्परिवर्जयेद्भिषक् ।

पीडनदोषजन्य व्यापत्ति व उसकी चिकित्सा

तथातिनिष्पीडनतो द्रवद्रुतं । मुखे च नासापुटयोः प्रवर्तते ॥ ९८ ॥
तथा गृहीत्वाशु विधिर्विधीयतां । विरेचयत्तीक्ष्णतरैर्विरेचनैः ।
सुशीतलाम्भः परिषेचयेत्तथा । ततोऽतियत्नाद्द्रवमानयेदधः ॥ ९९ ॥
अथाल्पपीडादप्रवर्तते द्रवं । पुनः पुनः पीडनतोऽनिलान्वितम् ।
करोति चाध्मानमतीववेदनां । ततोऽनिलघ्नं कुरु बस्तिमुत्तमम् ॥१००॥
चिरेण निष्पीडितमामयौद्यं । करोति तत्क्लेशमथातुरं द्रवम् ।
यथोक्तसद्दोषजसिद्धसाधनै- । रुपाचरेदाशु सुशांतये सदा ॥१०१॥

भावार्थः—बस्ति बहुत मोटी हो और बहुत फैली हुई हो तो दुर्बद्ध के समान दोष होता है [औषध ठीक २ नहीं पहुंचता] यदि बस्ति दुर्बल हो तो दबाते ही फट जाती है। बस्ति छिद्रयुक्त हो, द्रव जहां पहुंचना चाहिये वहां न पहुंच कर शीघ्र बाहर आजाता है। बस्ति अल्प (छोटी) होवे तो उसके अंदर द्रव कम समानेसे, वह अल्पगुणकारक होता है। इसलिये ऐसी बस्तियों को बस्तिकर्म में छोड देना चाहिये।

पीडनदोषजन्य व्यापत्ति व उसकी चिकित्सा—नेत्रबस्ति [पिचकारी] को जोरसे दबानेसे द्रव [शीघ्र अमाशय में पहुंच कर] मुख, व नाक के मार्ग से निकलने (बाहर आने) लगता है। ऐसा होने पर शीघ्र ही उसे रोकने के लिये(गले को मलना,और हिलाना आदि) योग्य चिकित्सा करे। एवं तीक्ष्ण विरेचन औषधियों से शिरोविरेचन व कायाविरेचन करावे। शीतल पानी से तरेडा देवें। इत्यादि उपायों से प्रयत्नपूर्वक ऊर्ध्व

प्रवृत्तद्रव को नीचे ले आवें। बस्ति को बहुत ही धीरे दबानेसे द्रव अंदर (पक्वाशय में) न जाकर बाहर आजाता है। बार २ दबाने से पेट में वायु जाकर अफरा और अत्यंत पीडा [दर्द] को उत्पन्न करती है। ऐसा होने पर वातनाशक उत्तमबस्ति का प्रयोग करना चाहिये। बहुत देर करके दबाने से अर्थात् ठहर २ करके दबानेसे रोगों की उत्पत्ति अथवा वृद्धि होती है और रोगी को वह द्रव कष्ट पहुंचाता है। इसलिये रोग-शांति के लिये हमेशा शास्त्र में कथित योग्य औषध, और सिद्ध साधनों द्वारा उपचार करना चाहिये ॥९७॥ ॥९८॥ ॥९९॥ ॥१००॥ ॥१०१॥

औषधदोषजव्यापत्ति और उसकी चिकित्सा.

प्रयोजितस्नेहगणोऽल्पमात्रिका। भवेदकिंचित्करं एव संततम्।
तथैव मात्राधिकतामुपागता। प्रवाहिकामावहतीति तत्क्षणात् ॥ १०२ ॥
प्रवाहिकायामपि तत्क्रियाक्रमः। सुशीतलं चोष्णतरं च भेषजम्।
करोति वातप्रबलं च पैत्तिकं। गुदोपतापं लवणाधिकं द्रवम् ॥ १०३ ॥
अथात्र संशोधनबस्तिरुत्तमं विरेचनं च क्रियतेऽत्र निश्चितैः।

भावार्थ—जिस बस्ति में अल्पप्रमाण में तैलादिकका प्रयोग किया हो उससे कोई उपयोग नहीं होता है। इसी प्रकार औषध जरूरत से ज्यादा प्रमाण में प्रयुक्त हो तो वह भी शीघ्र प्रवाहिकारोग को उत्पन्न करता है। प्रवाहिका उत्पन्न होनेपर उसकी जो चिकित्सा कही गई है उसी का प्रयोग करें। यदि बस्ति में अतिशीतल औषधि का प्रयोग करे तो वात उद्रेक होकर उदर में वातज व्याधियों (विबंध आध्मान आदि) को उत्पन्न करता है। यदि अत्यंत उष्ण औषधि का प्रयोग किया जाय तो पैत्तिक व्याधि (दाह अति-सार आदि) यों को उत्पन्न करता है। अधिक नमक मिले हुए द्रव की बस्ति देवे तो गुदा में जलन पैदा करता है। ऐसा हो जाने पर तो अर्थात् वातज रोगों की उत्पत्ति हो तो उत्तम संशोधन बस्तिका प्रयोग करें। पित्तजव्याधि में विरेचन का प्रयोग करें ॥ १०२ ॥ ॥ १०३ ॥

शय्यादोषजन्य व्यापत्ति व उसकी चिकित्सा.

अथोऽवशीर्षेप्यतिपीडिते क्रिया प्यथोत्तरस्यादपि वर्णितं बुधैः(?)॥१०४॥
अथोच्छ्रिते चापि शिरस्यतद्विवः[?] करोति बस्तिं घृततैलपूरितम्।
पीतश्च सस्नेहमिहास्तिमेहय--त्यतश्च तत्रोत्तरबस्तिरौषधम् ॥ १०५ ॥

भावार्थः—बस्तिकर्म के समय नीचा शिर करके सोने से अति पीडित के समान दोष होते हैं और उसी के समान इसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥१०४॥

भावार्थः—शिर ऊंचा करके सोने से घी और तैल से बस्ति भर जाती है और जिस से पीला व स्निग्ध मूत्र आता है । ऐसा होनेपर उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिये ॥ १०५ ॥

इहाधिकान्कुब्जशरीरयोजितान् ।
विशल्यतो वंक्षणमेव वान्यतः ॥
तथैव संकुचितदेहसक्थिके-
ष्वतोर्ध्वमुत्क्रम्य न चागमिष्यति ॥१०६॥
तयोश्च बस्तिं विदधीत यत्नतो ।
विनिर्गमायागमतत्त्वविद्भिषक् ॥
तले च तद्दक्षिणपार्श्वशायिनः ।
कृतोप्यकिंचित्कर एव सांप्रतम् ॥ १०७ ॥

भावार्थः—शरीर और दोनों साथल को संकुचित (सिकुड) कर बस्ति देने से औषध ऊपर जाता है और इसलिये वह बराबर वापिस नहीं आता है । इन दोनों व्यापत्तियो में द्रव को बाहर निकालने के लिये, आगम के तत्व को जाननेवाला वैद्य, प्रयत्नपूर्वक फिर बस्तिका प्रयोग करें । समतल में, दाहिने करवट से लेटे हुए मनुष्य को बस्ति देने से वह कुछ भी कार्यकारी नहीं होता है ॥१०६॥१०७॥

अयोगादिवर्णनप्रतिज्ञा.

अथाप्ययोगादिविधिमतिक्रिया प्रवक्ष्यते लक्षणतश्चिकित्सितैः ।
इहोत्तरे चोत्तरसंकथाकथेत्यथ ब्रवीम्युक्तमनुक्तमप्यलम् ॥ १०८ ॥

भावार्थ—अब अयोगादिकों के विधि, [कारण] उन के लक्षण व चिकित्सा का वर्णन करेंगे । इस उत्तरतंत्र में उत्तर के (बाकी के) सभी बातों के कथन करने की जरूरत है जिनक कि कथन पूर्व में नहीं किया हो या अस्पष्टरूप से किया हो । अतएव अयोगादि की विधि इत्यादिकों के कथन के पश्चात् उक्त [कहा हुआ] व अनुक्त [नहीं कहा हुआ] विषय को भी स्पष्टतया कथन करेंगे ॥ १०८ ॥

अयोग, आध्मानलक्षण व चिकित्सा.

सुशीतलो वाल्पतरौषधोपि वा तथाल्पमात्रापि करोत्ययोगताम् ।
तथा नभो गच्छति बस्तिरुद्धतं भवत्यथाध्मानमतीववेदना ॥ १०९ ॥

सुतीक्ष्णबस्तिं वितरेद्यथोचितं विरेचनं चात्र विधीयते बुधैः ।
अजीर्णकालेऽत्यशने मलाधिके प्रभूतबस्तिर्हिमशीतलोपि वा ॥ ११० ॥
अथेह दत्तं च करोति वेदनामतीव चाध्मानमतोऽत्र दीयते ।
तथानिलघ्नोऽग्निकरोतिऽतिशोधनो । प्रधानबस्तिर्वरबस्तिशास्त्रतः ॥ १११ ॥

भावार्थः—अत्यंत शीतल अथवा अल्पगुणशक्तियुक्त व कम प्रमाणके औषधियोंसे प्रयुक्त बस्तिसे अयोग होता है, अर्थात् शीतल आदि औषधोंको बस्तिमें प्रयोग किया जाय तो वह ऊपर चला जाता है (बाहर नहीं आता है) जिससे भयंकर आध्मान (अफरा) व अत्यंत वेदना होती है । इसे अयोग कहते हैं । यह अयोग होने पर तीक्ष्ण बस्तिका प्रयोग करें एवं यथोचित [जैसा उचित हो वैसा] विरेचन भी देवें । **आध्मान का कारण लक्षण व चिकित्सा**—अजीर्ण होने पर, अत्यधिक भोजन करने पर एवं शरीर में दोष बहुत होने पर, अधिकप्रमाण में बस्ति का प्रयोग करें, अथवा शीतल बस्ति का प्रयोग करे तो [हृदय, पसवाडा, पीठ आदि स्थानों में] भयंकर शूल व आध्मान (अफरा) उत्पन्न होता है । इसे आध्मान कहते हैं । ऐसी अवस्था में बस्तिशास्त्र में कथित वातनाशक, अग्निदीपक और संशोधन प्रधानबस्ति [निरूह] का प्रयोग करें ॥ १०९ ॥ ११० ॥ १११ ॥

परिकर्तिकालक्षण व चिकित्सा.

अतीव रूक्षेप्यतितीक्ष्णभेषजे- ।
ष्यतीव चोष्णे लवणेऽधिकेऽपि वा ॥
करोति बस्तिः पवनं सपित्तकं ।
ततोऽस्य गात्रे परिकर्तिका भवेत् ॥ ११२ ॥

यतस्समग्रं गुदनाभिबस्तिकं ।
विकृष्यते तत्परिकर्तिका मता ॥
ततोऽत्र यष्टीमधुपिच्छिलौषधै- ।
र्निरूहयेदप्यनुवासयेदतः ॥ ११३ ॥

भावार्थः—अत्यंत रूक्ष, तीक्ष्ण, अत्यंत उष्ण व अत्यधिक लवण से युक्त औषधियों द्वारा किया हुआ बस्तिप्रयोग उष्णपित्त से युक्त वायु को प्रकुपित करके परिकर्तिका को उत्पन्न करता है । जिसमें संपूर्ण गुदा, नाभि, बस्ति (मूत्राशय) प्रदेशों को खींचने या काटने जैसी पीडा होती है । उसे

परिकर्तिका कहते हैं । ऐसी अवस्था में मुलैठी व अधिक पिच्छिल औषधियों द्वारा, आस्थापन व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

परिस्रावका लक्षण.

तथातितीक्ष्णाम्लपटुप्रयोगतो । भवेत्परिस्रावमहामयो नृणाम् ॥
स चापि दौर्बल्यमिहांगसादनं । विधाय संस्रावयतीह पैत्तिकम् ॥ ११४ ॥

भावार्थः—अत्यंत तीक्ष्ण व आम्ल औषधियों के द्वारा प्रयुक्त बस्ति से मनुष्यों को परिस्राव नामक महारोग उत्पन्न होता है। जिस में शरीर में अत्यंत अशक्तपना, व थकावट होकर पित्तस्राव होने लगता है ॥ ११४ ॥

प्रवाहिका लक्षण.

सुतीक्ष्णवस्तेरनुवासतोपि वा । प्रवाहिका स्यादतियोगमापदः ॥
प्रवाहमाणस्य विदाहशूलवत् । सरक्तकृष्णातिकफागमो भवेत् ॥ ११५ ॥

भावार्थः—अत्यंत तीक्ष्ण आस्थापनबस्ति वा अनुवासनबस्ति के प्रयोग से उन का अतियोग होकर, प्रवाहिका उत्पन्न होती है जिस में प्रवाहण (दस्त लाने के लिए जोर लगाना) करते हुए मनुष्य के गुदामार्ग से दाह व शूल के साथ २ लाल [अथवा रक्तमिश्रित] व काले रंग से युक्त अधिक कफ निकलता है ॥ ११५ ॥

इन दोनोंकी चिकित्सा.

ततस्तु सर्पिर्मधुरौषधद्रवै- । र्निरूहयेदप्यनुवासयेत्ततः ॥
सुपिच्छिलैः शीतलभेषजान्वितैः । घृतैः सुतैलैः पयसैव भोजयेत् ॥ ११६ ॥

भावार्थः—इन दोनों रोगोंके उत्पन्न होने पर, पहले घी व मधुर औषधियोंके काढे से, निरूहबस्तिका प्रयोग करके पश्चात् पिच्छिल व शीतल औषधियोंसे संयुक्त घी या तैल से अनुवासनबस्ति देवें । एवं उसे दूध ही के साथ भोजन करावें ॥ ११६ ॥

हृदयोपसरणलक्षण.

समारुते तीक्ष्णतरातिपीडितः । करोति बस्तिर्हृदयोपसर्पणम् ।
तदेव मूर्च्छोन्मददाहगौरवप्रसेकनानाविधवेदनावहम् ॥ ११७ ॥

भावार्थः—वातोद्रेक से युक्त रोगी को अत्यंततीक्ष्ण औषधियों से संयुक्त बस्ति को ज़ोर से दबाकर अंदर प्रवेश करादे तो उस से हृदयोपसरण (हृदयोपसर्पण)

---

१ इस विषय को ग्रंथांतर में इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि, तीक्ष्णनिरूहबस्ति देनेसे तथा वातयुक्त में अनुवासनबस्ति देने से हृदयोपसरण होता है ॥

होता है. अर्थात् बस्ति के द्वारा प्रकुपितदोष हृदय के तरफ आकर उसे आक्रमण करते हैं। (इसे हृदयोपसर्पण कहते हैं) जिस से, उसी समय मूर्च्छा, उन्माद (पागलपना) दाह, शरीर का भारीपन, लार गिरना आदि नाना प्रकार के उपद्रव होते हैं ॥११७॥

हृदयोपसरण चिकित्सा.

त्रिदोषभैषज्यगणैर्विशोधनैर्निरूहयेच्चाप्यनुवासयेत्ततः ।

अंगग्रहअतियोगलक्षण व चिकित्सा.

अथानिलात्मा प्रकृतेर्विरूक्षितः मुदुःखशय्याधिगतस्य वा पुनः ॥११८॥
कृताल्पवीर्यौषधबस्तिरुद्धतः करोति चांगग्रहणं सुदुर्ग्रहम् ।
तथांगसादांगविजृंभवेपथु– प्रतीतवाताधिकवेदनाश्रयान् ॥ ११९ ॥
अतोऽत्र वातामयसच्चिकित्सितं विधेयमत्युद्धतवातभेषजैः ।
अथाल्पदोषस्य मृदूदरस्य वा तथैव सुस्विन्नतनोश्च देहिनः ॥ १२० ॥
सुतीक्ष्णबस्तिस्सहसा नियोजितः करोति साक्षादतियोगमद्भुतम् ।
तमत्र यष्टीमधुकैः पयोघृतैः विधाय बस्तिं शमयेद्यथासुखम् ॥ १२१ ॥

भावार्थः—**हृदयोपसरणचिकित्सा**—हृदयोपसर्पण के उपस्थित होनेपर, त्रिदोषनाशक व शोधन औषधियों द्वारा निरूहबस्ति देकर पश्चात् अनुवासन बस्तिका प्रयोग कर देना चाहिये। **अंगग्रहण लक्षण**—जिन का शरीर अधिक वात से व्याप्त हो, तथा रूक्षप्रकृतिका हो, [शरीर अधिक रूक्ष हो] एवं बस्तिकर्म के लिये जैसा सोना चाहिये वैसा न सोकर यद्वा तद्वा सोये हों, ऐसे मनुष्यों के लिये यदि अल्पवीर्य वाले औषधियों से संयुक्त बस्ति का प्रयोग किया जाय तो वह दुःसाध्य अंगग्रह (अंगो का अकडना) को उत्पन्न करता है, जिसमें अंगो में थकाव, जंभाई, कम्प [अंगो के कांपना] एवं वात के उद्रेक होने पर जो लक्षण प्रकट होते हैं वे भी लक्षण प्रकट होते हैं। **उसकी चिकित्सा**—ऐसा होने पर, वात को नाश करने वाले विशिष्ट औषधों द्वारा, वातव्याधि में कथित चिकित्साक्रमानुसार चिकित्सा करें। **अतियोग का लक्षण**—जिस के शरीर में दोष अल्प हो, उदर [कोष्ट] भी मृदु हो, एवं जिस के शरीर से अच्छीतरह से पसीना निकाला गया हो अर्थात् अधिक स्वेदन किया गया हो ऐसे मनुष्यों को यदि सहसा अत्यंत तीक्ष्ण, व अधिकप्रमाण में बस्ति का

प्रयोग करें तो वह भयंकर अतियोग को उत्पन्न करता है । ऐसी अवस्थामें मुलैठी, दूध, घी इन से यथासुख (जैसे सुख हो) बस्ति देकर अतियोग को शमन करें ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥ १२१ ॥

जीवादान व उस की चिकित्सा.

इहातियोगेऽप्यतिजीवशोणितं । प्रवर्तते यत्खलु जीवपूर्वकम् ॥
तदेवमादानमुदाहृतं जिनै- । र्विरेचनोक्तं सचिकित्सितं भवेत् ॥१२२॥

भावार्थः—पूर्वोक्त अतियोग के बढ जाने पर जीवशोणित [जीवन के प्राणभूत रक्त] की अधिक प्रवृत्ति होती है। इसे ही जिनेंद्र भगवान् ने जीवादान कहा है। इस अवस्था में विरेचन के अतियोग में प्रतिपादित चिकित्साविधि के अनुसार चिकित्सा करें ॥ १२२ ॥

बस्तिव्यापद्वर्णनका उपसंहार.

इत्येवं विविधविकल्पबस्तिकार्य- ।
व्यापत्सु प्रतिपदमादराच्चिकित्सा ।
व्याख्याता तदनु यथाक्रमेण ।
बस्तिव्यापारं कथितमपीह संविधास्ये ॥१२३॥

भावार्थः—इस प्रकार अनेक प्रकार के भेदों से विभक्त बस्तिकर्म में होने वाली व्यापत्तियों को एवं उनकी चिकित्साओं को भी आदरपूर्वक निरूपण किया है। इस के अनन्तर बस्तिविधि का वर्णन पहिले कर चुकने पर भी फिर से इसी विषय का [कुछ विशेषरूप से] क्रमशः प्रतिपादन किया जायगा ॥ १२३ ॥

अनुबस्तिविधि.

शास्त्रज्ञः कृतवति सद्विरेचनेऽस्मिन् ।
सप्ताहर्जनितबलाय चाहृताय ॥
स्नेहाख्यं कथितसमस्तबस्तिकार्यं ।
तं कुर्यात्पुरुषवयो बलानुरूपम् ॥ १२४ ॥

भावार्थ—जब श्रेष्ठ विरेचन देकर सात दिन बीत जावे, रोगी के शरीर में बल भी आजावे तो उसे पथ्यभोजन कराकर अनुवासन के योग्य रोगी के आयु, बल

इत्यादि के अनुसार पूर्वकथित स्नेहनामक बस्ति [अनुवासन बस्ति] का प्रयोग पूर्णरूप से आयुर्वेदशास्त्रज्ञ वैद्य करें ॥ १२४ ॥

अनुवासनबस्तिकी मात्रा व खालीपेट में बस्तिका निषेध.

या मात्रा प्रथितनिरूहसद्द्रवेषु ।
स्नेहानामपि च तदर्धमुक्तमार्यैः ॥
नाभुक्तं नरमनुवासयेच्च रिक्ते ।
कोष्ठे तदुपरि निपात्य दोषकृत्स्यात् ॥ १२५ ॥

तस्मात्तं तदुचितमाशु भोजयित्वा ।
सार्द्रोद्यत्करमनुवासयेद्यथावत् ॥
अज्ञानादधिकविदग्धभक्तयुक्तं ।
साक्षात्तज्ज्वरयति तत्तदेव योज्यम् ॥ १२६ ॥

भावार्थः—निरूहबस्ति के लिये द्रव का जो प्रमाण बतलाया गया है उस से अर्धप्रमाण स्नेह बस्ति [अनुवासन] की मात्रा है। जिसने भोजन नहीं किया हो उसे कभी भी (खाली पेट में) अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिये। यदि खाली पेट में बस्ति का प्रयोग कर देवे तो वह ऊपर की तरफ जाकर दोष उत्पन्न करता है। इसलिये, रोगी को शीघ्र योग्य पथ्यभोजन करा कर, जब हाथ गीला ही होवे तभी अनुवासनबस्ति का यथावत प्रयोग करना चाहिये। यदि अज्ञान से विदग्ध आहार खाये हुए रोगी को बस्तिका प्रयोग कर दे तो वह ज्वर को उत्पन्न करता है। इसलिए योग्य आहार खिलाकर बस्ति का प्रयोग करें ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

स्निग्धाहारी को अनुवासनबस्तिका निषेध.

सुस्निग्धं बहुतरमन्नमाहृतस्य ।
प्रख्यातं भिषगनुवासयेन्न चैव ॥
मूर्च्छा तृड्मदपरितापहेतुरुक्तः ।
स्नेहोयं द्विविधानतो नियुक्तः ॥ १२७ ॥

भावार्थः—जिसने अतिस्निग्ध अन्न को खालिया हो उसे वैद्य अनुवासन बस्तिका प्रयोग कभी न करें। क्यों कि दोनों तरफ (मुख, गुदामार्ग से) से प्रयोग किया हुआ स्नेह, मूर्च्छा, प्यास, मद व संताप के लिए कारण होता है अर्थात् उससे मूर्च्छा आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं ॥ १२७ ॥

भोजन विधि.

आहारक्रममवलोक्य रोगमत्वा । क्षीरेणाप्यधिकखलैस्सुयोगवर्गैः ॥
पादोनं विदितयथोचितान्नतस्तं । संभोज्यातुरमनुवासयेद्यथावत् ॥१२८॥

भावार्थ—रोगी के आहारक्रम को देख कर, दूध, खल व उसी प्रकार के योग्य खाद्य पदार्थोंसे, जितना वह हमेशा भोजन करता है उससे, [उचित मात्रा से,] चौथाई हिस्सा कम, भोजन कराकर शास्त्रोक्तविधिसे अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ॥ १२८ ॥

अशुद्धशरीर को अनुवासन का निषेध.

देयं स्यान्न तदनुवासनं नरस्या- । शुद्धस्य प्रबलमलैर्निरुद्धमार्गे- ।
ण व्याप्नोत्यधिगततैलवीर्यमूर्ध्वे । तस्मात्तत्प्रथमतरं विशोधयेत्तम् ॥१२९॥

भावार्थ—अशुद्ध शरीरवाले मनुष्यको अनुवासन बस्तिका प्रयोग नहीं करना चाहिये । यदि उसे प्रयोग कर दे तो प्रबल मलोंसे मार्ग अवरुद्ध (रुकजाना) होजानेके कारण, प्रयुक्त तैलका वीर्य ऊपर फैल जाता है । इसलिये अनुवासनबस्ति देनेके पहिले उसके शरीरको अवश्य शुद्ध कर लेना चाहिये ॥१२९॥

अनुवासनकी संख्या.

रूक्षं तं प्रबलमहोद्धतोरुदोषं ।
द्विस्त्रिर्वाप्यधिकमथानुवास्य मर्त्यम् ॥
स्निग्धांगः स्वयमपि चिंत्य दोषमार्गात् ।
पश्चात्तं तदनु निरूहयेद्यथावत् ॥ १३० ॥

भावार्थः—जिसका शरीर रूक्ष हो, शरीरमें दोष प्रबलतासे कुपित हो रहे हों ऐसे मनुष्यको, उसके दोषोंपर ध्यान देते हुए दो तीन अथवा इससे अधिक अनुवासन बस्ति देना चाहिये । जब शरीर (अनुवासनसे) स्निग्ध हो जावे तो, अपने आप बलाबल को विचार कर पश्चात् शास्त्रोक्त विधिके अनुसार निरूहबस्तिका प्रयोग करना चाहिये ॥ १३० ॥

रात्रिंदिन बस्ति का प्रयोग.

तं चाति प्रबलमलैरशुद्धदेहं । ज्ञात्वेह प्रकटमरुत्प्रपीडितांगम् ॥
रात्रावप्यहनि सदानुवासयेद्य- । द्दोषाणां प्रशमनमेव सर्वथेष्टम् ॥१३१॥

भावार्थ:—जिसका शरीर प्रबल मल से अशुद्ध हो, और प्रबल वातसे पीडित हो तो उसे दोषोंको शमन करनेमें सर्वथा उपयुक्त ऐसे अनुवासन बस्तिका प्रयोग रात दिन हमेशा करना चाहिये ॥ १३१ ॥

अनुवासनवस्ति की विधि.

स्वभ्यक्तं सुखसलिलैरिहाभिषिक्तं ।
शास्त्रोक्तक्रमविहितं तु भोजयित्वा ॥
सिंधूत्थोज्वलशतपुष्पचूर्णयुक्तम् ।
संयुक्त्या विधिविहितानुवासनं तत् ॥ १३२ ॥
स्नेहोद्यत्प्रणिहितबस्तियुक्तमर्त्यं ।
सुत्तानोच्चलितसुखप्रसारितांगम् ॥
वीर्यातिप्रसरणकारणं करांघ्रि—
स्फिग्देशान्करतलताडनानि युक्तान् ॥ १३३ ॥
त्रीन्वारं शयनमिहोत्क्षिपेत्क्षिपेच्च ।
स्नेहस्य प्रसरणसंचलार्थमित्थम् ॥
ब्रूयाच्च क्षणशतमात्रकं तु पश्चात् ।
तिष्ठेति त्वमिह सुदक्षिणोरुपार्श्वे ॥ १३४ ॥
इत्येवं सुविहितसत्क्रियानियुक्तः ।
न्यस्तांगस्त्वमिह सुखं मलप्रवृत्त्यै ॥
तिष्ठेति प्रतिपदमातुरं यथावत् ।
तं ब्रूयान्मलगमने यथा कथंचित् ॥ १३५ ॥

भावार्थ:—अनुवासन करने योग्य मनुष्य को सबसे पहिले ठीक २ स्नेहाभ्यंग करा के गरम पानी से स्नान कराना चाहिये [जिस से पसीना निकल आवें] पश्चात् शास्त्रोक्त क्रम से भोजन कराकर, सेंधानमक व सोंफके चूर्ण से युक्त, अनुवासनबस्ति का प्रयोग विधिप्रकार, युक्ति से करना चाहिये। स्नेहबस्ति के प्रयोग करने के पश्चात् उस मनुष्य को (जिस को स्नेहबस्ति=अनुवासनबस्तिका प्रयोग किया है) [जितने समय में सौ गिने उतने समय तक] सुखपूर्वक अंगोंको पसार कर चित सुलावें। ऐसा करने से बस्तिगत स्नेह का प्रभाव सब शरीर में पहुंच जाता है। इस के पश्चात् हाथ व पैर के तलवे और स्फिग (चूतड) प्रदेश में (धीरे २) हाथ से

थप्पडे मारे । शय्या (पलंग, बेंच आदि) को तीन बार ऊपर की ओर उठावें । स्नेह के प्रसरण व चलन के लिये, तुम सौ क्षण तक दक्षिणपार्श्व के बल से रहो ऐसा रोगी से कहना चाहिये । इस प्रकार जिस को अच्छीतरह से अनुवासनबस्तिका प्रयोग किया गया है उस से कहना चाहिये कि, सुखपूर्वक मल की प्रवृत्ति [बाहर आना] के लिये तुम पग के बल से, जैसा मल बाहर आने में सुभीता हो बैठो । अर्थात् उसे उकरू बैठालना चाहिये ॥ १३२ ॥ १३३ ॥ १३४ ॥ १३५॥

बस्तिके गुण.

एवं दत्तः सुबस्तिः प्रथमतरमिह स्नेहयेद्वंक्षणे त-।
द्वस्तिः सम्यग्द्वितीयः सकलतनुगतं वातमुध्दूय तिष्ठेत् ॥
तेजोवर्णं बलं चावहति विधियुतं सत्तृतीयश्चतुर्थः ।
साक्षात्सम्यग्रसं तं रुधिरमिह महापंचमोऽयं प्रयुक्तः ॥ १३६ ॥
षष्ठस्तु स्नेहबस्तिर्पिशितमिहरसान् स्नेहयेत्सप्तमोऽसौ ।
साक्षादित्यष्टमोऽयं नवम इह महानास्थिमज्जानमुद्य- ॥
च्छुक्रोद्भूतान्विकारान् शमयति दशमो ह्येवमेव प्रकरा- ।
द्द्याद्दत्तं निरूहं तदनु नवदशाष्टौ तथा स्नेहबस्तिः ॥ १३७ ॥

भावार्थः—विधिप्रकार प्रयुक्त प्रथमबस्ति वंक्षण (राङ) को स्निग्ध करती है । द्वितीयबस्ति सर्वशरीरगत वातरोग को नाश करती है । तीसरी बस्ति शरीरमें तेज, वर्ण व बल को उत्पन्न करती है । चौथी बस्ति रस को स्निग्ध करती है । पांचवी, रक्त को स्निग्ध करती है । छठवी बस्ति मांस को स्निग्ध करती है । सातवीं बस्ति रसों [मेद] को स्निग्ध करती है । आठवीं व नवमीं बस्ति, अस्थि [हड्डि] व मज्जा में स्नेहन करती है । दशवीं बस्ति, शुक्र में उत्पन्न विकारों को शमन करती है । इसी प्रकार से, निरूह बस्तिप्रयुक्त मनुष्य को, नौ अथवा अठारह अनुवासनबस्तियों का प्रयोग कर देना चाहिये ॥ १३६ ॥ १३७ ॥

तीन सौ चोवीस बस्ती के गुण.

एवं सुस्नेहबस्तित्रिशतमपि चतुर्विंशतिं चोपयुक्तान् ।
मर्त्योऽमर्त्यस्वरूपो भवति निजगुणैस्तु द्वितीयोऽद्वितीयः ॥

१ यह इसलिये किया जाता है कि प्रयुक्त स्नेह शीघ्र बाहर नहीं आने पावें ।

कामस्साक्षादपूर्वः सकलतनुभृतां हृन्मनोनेत्रहारी ।
जीवेद्दिव्यात्मदेहः प्रबलबलयुतो वत्सराणां सहस्रम् ॥१३८॥

भावार्थः—इस प्रकार शास्त्रोक्तविधि से तीन सौ चोवीस स्नेहन बस्तियों के प्रयोग करने से वह मनुष्य अपने गुणों से साक्षात् द्वितीय देव के समान बन जाता है। संपूर्ण प्राणियों के हृदय, मन व नेत्र को आकर्षित करनेवाले देह को धारणकर वह साक्षात् अपूर्व कामदेव के समान होता है । इतना ही नहीं वह दिव्य देह, व विशिष्ट बल से युक्त होकर हजारों वर्ष जीयेगा अर्थात् दीर्घायुषी होगा ॥१३८॥

सम्यगनुवासित के लक्षण व स्नेहवस्ति के उपद्रव.

स्नेहं प्रत्येति यश्च प्रबलमरुदुपेतः पुरीषान्वितः सन् ।
सोऽयं सम्यग्विशेषाद्विधिविहितमहास्नेहबस्तिप्रयुक्तः ॥
स्नेहः स्वल्पः स्वयं हि प्रकटबलमहादोषवर्गाभिभूतो ।
नैवागच्छन्स्थितोऽसौ भवति विविधदोषावहद्दोषभेदात् ॥१३९॥

भावार्थः—शास्त्रोक्त विधि के अनुसार, सम्यक् प्रकार से स्नेहबस्ति [अनुवासनबस्ति] प्रयुक्त होवे तो स्नेह, प्रबलवात व मल से युक्त होकर बाहर आजाता है। (यदि कोष्ठ में वातादि दोष प्रबल हो ऐसे मनुष्य को) अल्पशक्ति के स्नेह को अल्पप्रमाण में प्रयोग किया जाय तो वह प्रबलवातादिदोषों से तिरस्कृत (व्याप्त) होते हुए, बाहर न आकर अंदर ही ठहर जाता है । इस प्रकार रहा हुआ स्नेह नाना प्रकार के दोषों को उत्पन्न करता है ॥१३९॥

वातादिदोषों से अभिभूत स्नेह के उपद्रव.

वाते वक्त्रं कषायं भवति विषमरूक्षज्वरो वेदनाढ्यः ।
पित्तेनास्यं कटुः स्यात्तदपि च बहुपित्तज्वरः पीतभावः ॥
श्लेष्मण्येवं मुखं संभवति मधुरमुत्क्लेदशीतज्वरोऽपि ।
श्लेष्मःछर्दिप्रसेकस्तत इह हितकृद्दोषभेदान्निरूहः ॥१४०॥

भावार्थः—अनुवासन बस्ति के द्वारा प्रयुक्त स्नेह यदि वात से अभिभूत(पराजित)(वायु के अधीन) होवे तो मुख कषैला होता है। शरीर रूक्ष होता है। विषमज्वर उत्पन्न होता है एवं वातोद्रेक की अन्य वेदनायें भी प्रकट होती हैं । पित्त से अभिभूत होवे तो, मुख कडुआ, पित्तज्वर की उत्पत्ति व शरीर, मलमूत्रादिक पीले हो जाते हैं। स्नेह, कफ से अभिभूत होने पर मुख मीठा, उत्क्लेद, शीतज्वर, कफ का वमन, व

प्रसेक [लार टपकना] होता है। ऐसा हो जानेपर दोषों के अनुसार (तत्तद्दोषनाशक) हितकारक निरूहबस्ति का प्रयोग करें ॥१४०॥

अन्नाभिभूतस्नेह के उपद्रव.

संपूर्णाहारयुक्ते सुविहितहितकृत् स्नेहबस्तिप्रयुक्तो।
प्रत्येत्यन्नातिमिश्रस्तत इह हृदयोत्पीडनं श्वासकासौ ॥
वैस्वर्यारोचकावप्यनिलगतिनिरोधो गुरुत्वं च कुक्षौ।
भूयात् कृत्वोपवासं तदनुविधियुतं दीपनं च प्रकुर्यात् ॥१४१॥

भावार्थः—भर पेट भोजन किये हुए रोगी को हितकारक स्नेहबस्ति को शास्त्रोक्त विधि से प्रयोग करने पर भी, वह अन्न से अभिभूत (अन्न के आधीन) हो कर बाहर नहीं आता है जिससे हृदय में पीडा, श्वासकास, वैस्वर्य (स्वर का विकृत हो जाना , अरुचि, वायु का अवरोध, व उदर में भारीपना उत्पन्न होता है । यह उपद्रव उपस्थित होने पर, रोगी को लंघन कराकर पश्चात् विधिप्रकार दीपन का प्रयोग करना चाहिये ॥ १४१ ॥

अशुद्धकोष्ठके मलमिश्रितस्नेह के उपद्रव.

अत्यंताशुद्धकोष्ठे विधिविहितकृतः स्नेहःबस्तिः पुरीषो-।
न्मिश्रो नैवागमिष्यन्मलनिलयगुरुत्वातिशूलांगसादा- ॥
ध्मानं कृत्वातिदुःखं जनयति नितरां तत्र तीक्ष्णौषधैर्वा-।
स्थाप्युग्रं चानुवासं वितरतु विधिवत्तत्सुखार्थं हितार्थम् ॥१४२॥

भावार्थः—जिस के कोष्ट अत्यंत अशुद्ध है [विरेचन व निरूहबस्तिद्वारा कोष्ट का शोधन नहीं किया गया हो] ऐसे मनुष्य को शास्त्रोक्तविधि से प्रयुक्त हित-कारक भी स्नेहबस्ति मल से मिश्रित होकर, बाहर न निकलती है और वह पक्वाशय में गुरुत्व (भारीपन) व शूल अंगों में थकावट व अफरा को उत्पन्न करके अत्यंत दुःख देती है। ऐसा होनेपर रोगी के सुख, व हित के लिये विधि प्रकार तीक्ष्णऔषधियों से, तीक्ष्णआस्थापन व अनुवासनबस्ति का प्रयोग करें ॥ १४२ ॥

ऊर्ध्वगतस्नेह के उपद्रव.

वेगेनोत्पीडितासावधिकतरमिह स्नेह उत्पद्यतोर्ध्वं।
स्यात्सं श्वासोरुकासारुचिवमथुशिरोगौरवात्यंतनिद्राः ॥

संपाद्य स्नेहगंधं मुखमखिलतनोश्चेंद्रियाणां प्रलेपं ।
कुर्यादार्योऽतिपीडाक्रममिह विधिनास्थापयेत्तं विदित्वा ॥ १४३॥

भावार्थः—स्नेह बस्ति के प्रयोग करते समय, अधिक वेग से पिचकारी को दबावें तो, स्नेह अधिक ऊपर चला जाता है जिस से श्वास, कास, अरुचि, अधिक थूंक आना, शिरोगौरव [शिरका भारीपना] और अधिकनिद्रा से विकार, उत्पन्न होते हैं । मुख, स्नेह के गंध से युक्त होता है (मुख की तरफ से स्नेह की वास आने लगती है ।) शरीर, और इंद्रियों में उपलेप होता है । ऐसा होनेपर, जो पीडा [रोग] उत्पन्न हुई है, उसे जानकर, उस के अनुकूल आस्थापनबस्ति का प्रयोग विधि प्रकार करें ॥ १४३ ॥

असंस्कृतशरीरीको प्रयुक्तस्नेहका उपद्रव.

निर्वीर्यो वाल्पमात्रेऽप्यतिमृदुरिह संयोजितः स्नेहबस्ति- ।
र्न प्रत्यागच्छतीह प्रकटविदितसंस्कारहीनात्मदेहे ॥
स्नेहः स्थित्वोदरे गौरवमुखविरसाध्मानशूलावहः स्यात् ।
तत्राप्यास्थापनं तद्धिततनुमनुवासस्य वासावसाने ॥ १४४ ॥

भावार्थः—स्वेदन विरेचनादिक से जिस के शरीर का संस्कार नहीं किया गया हो, उसे शक्तिरहित, अल्पमात्र व मृदु, स्नेहबस्तिका प्रयोग करें तो वह फिर बाहर नहीं आता है । तेल पेट में ही रह कर पेट में भारीपना, मुख में विरसता, पेट का अफराना, शूल आदि इन विकारों को उत्पन्न करता है । ऐसी अवस्थामें अनुवासन बस्तिका प्रयोग कर के पश्चात् आस्थापन बस्ति देवें ॥ १४४ ॥

अल्पाहारीको प्रयुक्तस्नेहका उपद्रव.

स्वल्पाहारेऽल्पमात्रः सुविहितहितवत् स्नेहबस्तिर्न चैवं ।
तत्कालादागमिष्यत्क्लमविरसशिरोगौरवात्यंगसादान् ॥
कृत्वा दुःखप्रदः स्यादिति भिषगधिकास्थापनं तत्र कुर्या- ।
दार्यो वीर्योरुवीर्यौषधकृतमखिलाकार्यकार्यैकवेदी ॥ १४५ ॥

भावार्थः—स्वल्प भोजन किये हुए रोगी को, अल्पमात्रा में स्नेहबस्ति का प्रयोग करें, चाहे वह हितकारक हो, व विधिप्रकार भी प्रयुक्त हो तो भी वह तत्काल बाहर न आकर ग्लानि, मुख में विरसता, शिरका भारीपना, अंगों में अधिक थकावट आदि विकारों को उत्पन्न कर के अत्यंत दुःख देता है । ऐसी अवस्था में कार्य

कार्यको जाननेवाला बुद्धिमान् वैद्य,अत्यंत वीर्यवान् औषधियोंसे संयुक्त आस्थापनबस्तिका प्रयोग करें ॥ १४५ ॥

स्नेहका शीघ्र आना और न आना.

अत्युष्णो वातितीक्ष्णस्सजलमरुदुपेतः प्रयुक्तोऽतिमात्रो ।
स्नेहस्सद्योऽतिवेगं स्रवति फलमतो नास्ति चेति प्रकुर्यात् ॥
सम्यग्भूयोऽनुवासं तदनुगतमहोरात्रतस्सन्निवृत्तो ।
बस्तिर्विस्तारकं वा अशनमिव भवेज्जीर्णवानल्पवीर्यः ॥१४६॥

भावार्थः—अत्यंत उष्ण व तीक्ष्ण, जलवात से युक्त स्नेहन बस्ति को अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाय तो बहुत जल्दी द्रव बाहर आ जाता है। उस से कोई प्रयोजन नहीं होता है । उस अवस्था में बार २ अच्छी तरहसे अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । बस्ति के द्वारा प्रयुक्त स्नेह यदि एक दिन रात में भी [२४ घंटे में] बाहर आजावे तो भी वह दोषकारक नहीं होता है। बल्कि बस्ति के गुणकों करता है। लेकिन वह पेट में ही भोजन के सदृश पच जावे तो अल्पगुण को करता है [उस से अधिक फायदा नही होता है] ॥१४६॥

स्नेहबस्ति का उपसंहार.

इत्यनेकविधदोषगणाढ्यस्सच्चिकित्सितयुतः कथितोऽयम् ।
स्नेहबस्तिरत ऊर्ध्वमुदारो वक्ष्यते निगदितोऽपि निरूहः ॥ १४७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार स्नेहबस्ति (अनुवासनबस्ति) के अनेक प्रकार के उपद्रव ओर उन की चिकित्साओं का निरूपण किया गया । इस के आगे, जिसका कि कथन पहिले किया गया है, ऐसे निरूहबस्ति के विषय में फिर भी विस्तृतरूपसे प्रतिपादन करेंगे ॥ १४७ ॥

निरूहबस्तिप्रयोगविधि.

स्नेहबस्तिमथवापि निरूहं कर्तुमुद्यतमनाः सहसैवा— ।
भ्यक्ततप्ततनुमातुरमुत्सृष्टात्ममूत्रमलमाशु विधाय ॥ १४८ ॥
प्रोक्तलक्षणनिवातगृहे मध्येऽच्छभूमिशयने त्वथ मध्या— ।
न्हे यथोक्तविधिनात्र निरूहं योजयेदधिकृतक्रमवेदी ॥ १४९ ॥

भावार्थः—स्नेहबस्ति अथवा निरूहनबस्तिका प्रयोग जिस समय करने के लिये वैद्य उद्यत हो उस समय शीघ्र ही रोगी को अभ्यंग (तैल आदि स्नेहका मालिश)

व स्वेदन करा कर, मल मूत्र का विसर्जन करावें। पश्चात् इस रोगी को वातरहित मकान के बीच जिस के सुलक्षणों को पहिले कह चुके हैं, स्वच्छभूमि के तलपर शयन कराकर मध्यान्ह के समय विधिपूर्वक निरूहवस्ति का प्रयोग, बस्तिविधान को जाननेवाला वैद्य करें ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

सुनिरूढलक्षण.

यस्य च द्रवपुरीषसुपित्तश्लेष्मवायुगतिरत्र सुदृष्टा ।
वेदनाप्रशमनं लघुता चेत्स्येष एव हि भवेत्सुनिरूहे ॥ १५० ॥

भावार्थः—निरूहबस्ति का प्रयोग करनेपर जिस के प्रयोग किया हुआ द्रव, मल, पित्त, कफ व वायु क्रमशः बाहर निकल आवे, रोग की उपशांति हो, शरीर भी हल्का हो तो समझना चाहिये कि निरूहबस्ति का प्रयोग ठीक २ होगया है। अर्थात् ये सुनिरूढ के लक्षण हैं ॥ १५० ॥

सम्यगनुवासन व निरूहके लक्षण.

व्याधिनिग्रहमलातिविशुद्धिं स्वेंद्रियात्ममनसामपि तुष्टिम् ।
स्नेहबस्तिषु निरूहगणेष्वप्येतदेव हि सुलक्षणमुक्तम् ॥ १५१ ॥

भावार्थः—जिस व्याधि के नाशार्थ बस्ति का प्रयोग किया है उस व्याधि का नाश व मलका शोधन, इंद्रिय, आत्मा व मन में प्रसन्नता का अविर्भाव, ये सम्यगनुवासन व सम्यग्निरूह के लक्षण हैं ॥ १५१ ॥

वातघ्ननिरूहबस्ति.

तत्र वातहरभेषजकल्ककाथतैलघृतसैंधवयुक्ताः ।
साम्लिकाः प्रकुपितानिलकार्ये बस्तयस्सुखकरास्तु सुखोष्णाः॥१५२॥

भावार्थः—यदि रोगी को वात का उद्रेक होकर उस से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जांय तो उस अवस्था में वातहर औषधियों के कल्क काथ, तैल, घृत व सेंधालोण व आम्लवर्गऔषधि, इन से युक्त, सुखोष्ण [कुछ गरम] [निरूह बस्ति का प्रयोग करना सुखकारक होता है। [इसलिये वातोद्रेकजन्य रोगों में ऐसे बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ॥ १५२ ॥

---

१ 'व्याधितानिह' इति पाठांतरम्.

पित्तघ्ननिरूहबस्ति.

क्षीरवृक्षकमलोत्पलकाकोल्यादिनिकाथिततोयसुशीताः ।
वस्तयः कुपितपित्तहितास्ते शर्कराघृतपयःपरिमिश्राः ॥ १५३ ॥

भावार्थः—पित्तप्रकोपसे उत्पन्न विकारो में दूधियावृक्ष, कमल, नीलकमल एवं काकोल्यादिगण से तैयार किये हुए काथ में शक्कर, घी व दूध को मिलाकर बस्ति देवे तो हितकर होता है ॥ १५३ ॥

कफघ्ननिरूहबस्ति.

राजवृक्षकुटजत्रिकटोग्राक्षारतोयसहितास्तु समूत्राः ।
वस्तयः प्रकुपितोरुकफघ्ना स्सैंधवादिलवणास्तु सुखोष्णाः॥१५४

भावार्थः—अमलतास, कूडा, सोंठ, मिरच, पीपल, वच, इन के काथ व कल्क में क्षारजल, गोमूत्र व सेंधवादि लवणगण को मिलाकर कुछ गरम २ बस्ति देवें तो यह प्रकुपितभयंकरकफ को नाश करती है ॥ १५४ ॥

शोधन वस्ति.

शोधनद्रवसुशोधनकल्कस्नेहसैंधवयुतापि च ताः स्युः ।
वस्तयः प्रथितशोधनसंज्ञाश्शोधनार्थमधिकं विहितास्ते ॥१५५॥

भावार्थः—शोधन औषधियों से निर्मित द्रव, एवं शोधन औषधियोंसे तैयार किया गया कल्क, तैल, सेंधालोंण, इन सब को मिलाकर तैयार की गयी बस्तियोंको शोधनबस्ति कहते हैं। ये वस्तियां शरीर का शोधन (शुद्धि) करने के लिये उपयुक्त हैं ॥ १५५ ॥

लेखन वस्ति.

क्षारमूत्रसहिताः त्रिफलाकाथोत्कटाः कटुकभेषजमिश्राः ।
ऊषकादिलवणैरपि युक्ता वस्तयस्तनुविलेखनकाः स्युः ॥१५६॥

भावार्थः—त्रिफलाके काथ में कटु औषधि व क्षारगोमूत्र उषकादिगणोक्त औषधियों के कल्क, लवणवर्ग इन को डालकर जो वस्ति तैयार की जाती है उसे लेखनवस्ति कहते हैं। क्यों कि यह वस्ति शरीर के दोषों को खरोचकर निकालती है॥

---

१ काकोल्यादिगण—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि, वृद्धि, मेदा, गिलोय मुगवन, मषवन, पद्माख, वंशलोचन, काकडाशिंगी, पुंडरियां, जीवंती, मुलहठी, दाख ।

बृंहण वस्ति.

अश्वगंधवरवज्रलतामाषाद्य शेषमधुरौषधयुक्ताः ।
वस्तयः प्रकटबृंहणसंज्ञाः माहिषोरुदधिदुग्धघृताढ्याः ॥ १५७ ॥

भावार्थः—असगंध, [शतवरी] वज्रलता आदि बृंहण औषधियों के क्वाथ में मधुर औषधियों के कल्क को मिलाकर भैंस की दही दूध व घीसहित जो वस्ति दी जाती है उन्हे बृंहणवस्ति कहते हैं जिन से शरीर के धातु व उपधातुवों की वृद्धि होती है॥१५७॥

शमनवस्ति.

क्षीरवृक्षमधुरौषधशीतद्रव्यतोयवरकल्कसमेताः ।
वस्तयः प्रशमनैकविशेषाः शर्करेक्षुरसदुग्धघृताक्ताः ॥१५८॥

भावार्थः—दूधियावृक्ष, मधुर औषध वर्ग, व शीतल गुणयुक्त औषध, इन के क्वाथ में इन ही औषधियों के कल्क, व शक्कर, ईख का रस, दूध, घी मिलाकर तैयार की हुई बस्ति प्रशमनवस्ति कहलाती है, जो शरीरगत दोषों को उपशम करती है ॥ १५८ ॥

वाजीकरण वस्ति.

उच्चटेक्षुरकगोक्षुरयष्टीमाषगुप्तफलकल्ककषायैः ।
संयुता घृतसिताधिकदुग्धैर्वस्तयः प्रवरवृष्यकरास्ते ॥ १५९ ॥

भावार्थः—उटंगन के बीज, तालमखाना, गोखरू, ज्येष्टमध, माष (उडद) कौंच के बीज इन के कषाय में इन ही के कल्क, घी, शक्कर व दूध को मिलाकर तैयार की हुई बस्ति वृष्यवस्ति कहलाती है जो पुरुषोंको परमबलदायक (वाजीकरणकर्ता) है ॥१५९॥

पिच्छिल वस्ति.

शेलुशाल्मलिविदारिबदर्यैरावतीप्रभृतिपिच्छिलवर्गैः ।
पक्वतोयघृतदुग्धसुकल्कैर्वस्तयो विहितपिच्छिलसंज्ञाः ॥ १६० ॥

भावार्थः—लिसोडा, सेमल, विदारीकंद, बेर, नागबला आदिक पिच्छिल औषधि वर्ग, इनसे पकायी हुआ जल [क्वाथ] घी, दूध व कल्कों से तैयार की हुई बस्तियोंको पिच्छिलवस्ति कहते हैं ॥ १६० ॥

संग्रहण वस्ति.

सप्रियंगुघनवारिसमंगापिष्टकाकृतकषायसुकल्कैः ।
छागदुग्धयुतवस्तिगणास्सांग्राहिकास्सततमेव निरुक्ताः ॥ १६१ ॥

भावार्थः—प्रियंगु, मोथा, सुगंधवाला, मंजीठ, पिष्टका इन के कषाय व कल्क के साथ बकरी के दूध को मिलाकर तैयार किया हुआ बस्ति सांग्राहिक बस्ति कहलाता है जो कि मल को रोकता है ॥ १६१ ॥

वंध्यात्वनाशक बस्ति.

यद्बलाशतविपक्कसुतैलस्नेहबस्तिरनपत्यनराणाम् ।
योषितां च विहितस्तु सुपुत्रानुत्तमानतितरां विदधाति ॥१६२॥

भावार्थः—खरैटी के क्वाथ, कल्क से सौ बार (शतपाकविधान से) पकाये हुए तैलसे [बला तैल से] संतानरहित स्त्री पुरुषों को (जिनको कि स्नेहन स्वेदन, वमन विरेचन से संस्कृत किया है) स्नेह बस्ति का प्रयोग करें तो, उन को अत्यंत उत्तम, अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ १६२ ॥

गुडतैलिकबस्ति.

भूपतिप्रवरभूपसमान—द्रव्यतरस्थविरबालमृदूनाम् ।
योषितां विषमदोषहरार्थं वक्ष्यतेऽत्र गुडतैलविधानम् ॥ १६३ ॥

भावार्थः—राजा, राजा के समान रहनेवाले बडे आदमी, अत्यंत वृद्ध, बालक सुकुमार व स्त्रियां जिनको कि अपने स्वभाव से उपरोक्त बस्तिकर्म सहन नहीं हो सकता है, उन के अत्यंत भयंकर दोषों को निकालने के लिये अब गुड तैलका विधान कहेंगे, जिस से सरलतया उपरोक्त बस्तिकर्म सदृश ही चिकित्सा होगी ॥१६३॥

गुडतैलिकबस्तिमें विशेषता.

अन्नपानशयनासनभोगे नास्ति तस्य परिहारविधानम् ।
यत्र चेच्छति तदैव विधेयम् गौडतैलिकमिदं फलवच्च ॥१६४॥

भावार्थः—इस गुडतैलिक बस्ति के प्रयोग काल में अन्न, पान, शयन, आसन मैथुन इत्यादिक के बारे में किसी प्रकार की परहेज करने की जरूरत नहीं है अर्थात् सब तरह के आहार, विहार को सेवन करते हुए भी बस्तिग्रहण कर सकता है । उसी प्रकार इसे जिस देश में, जब चाहे प्रयोग कर सकते हैं (इसे किसी भी देशकाल में भी प्रयोग कर सकते हैं) । एवं इस का फल भी अधिक है ॥ १६४ ॥

गुडतैलिकबस्ति.

गौडतैलिकमितीह गुडं तैलं समं भवति यत्र निरूहे ।
चित्रबीजतरुमूलकषायैः संयुतो विषमदोषहरस्स्यात् ॥१६५॥

१ इस का विधान पहिले कह चुके हैं ।

भावार्थः—जिस निरूह बस्ति में गुड, और तैल समान प्रमाण में डाला जाता है उसे गुडतैलिक बस्ति कहते हैं। इस को [गुड तैल को] एरंडी के जड के कषाय के साथ मिलाकर प्रयोग करने से सर्व विषम दोष दूर हो जाते हैं ॥ १६५॥

युक्तरथ बस्ति.

तद्गुडं तिलजमेव समानं तत्कषायसहितं जटिला च ।
पिप्पलीमदनसैंधवयुक्तं बस्तिरेष वसुयुक्तरथाख्यः ॥ १६६ ॥

भावार्थः—गुड, तिल का तैल समान भाग लेकर इस में एरंडी के जड का काढा मिलावें। इस में वच, पीपल, मेनफल, व सेंधानमक इन के कल्क मिलाकर बस्ति देवें इस बस्ति को वसुयुक्तरथ (युक्तरथ) बस्ति कहते हैं ॥ १६६ ॥

शूलघ्नबस्ति.

देवदारुशतपुष्पसुरास्ना हिंगुसैंधवगुडं तिलजं च ।
चित्रबीजतरुमूलकषायैर्बस्तिरुग्रतरशूलकुलघ्नम् ॥ १६७ ॥

भावार्थः—देवदारु, सौंफ, रास्ना, हींग, सेंधानमक, इन के कल्क, गुड, तिल व एरंडी के जड का काढा, इन सब को मिलाकर बस्ति देने से भयंकर शूल नाश होता है। इसे शूलघ्न बस्ति कहते हैं ॥ १६७ ॥

सिद्धबस्ति.

कोलसयवकुलत्थरसाढ्यः पिप्पलीमधुकसैंधवयुक्तः ।
जीर्णसद्गुडतिलोद्भवमिश्रः सिद्धबस्तिरिति सिद्धफलोऽयम् ॥ १६८ ॥

भावार्थः—बेर, जौ, कुलथी इन के काढे में पीपल, मुलैठी व सेंधानमक के कल्क, और पुरानी गुड व तिली का तैल मिलाकर बस्ति देवें। इसे सिद्धबस्ति कहते हैं। यह बस्ति अन्वर्थ फलदायक है ॥ १६८ ॥

गुडतैलिक बस्ति के उपसंहार.

इति पुराणगुडैस्सतिलोद्भवैस्समधृतैः कथितद्रवसंयुतैः ।
सुविहितं कुरु बस्तिमनेकदा विविधदोषहरं विविधौषधैः ॥ १६९ ॥

भावार्थः—समान भाग में लिये गये, गुड व तैल, पूर्वोक्त द्रव [एरंडी का काढा] व नानाप्रकार के औषध [गुड तैलिक] इन से मिला हुआ [अथवा इन से सिद्ध]

---

१ गुड और तैल इन दोनों के बराबर कषाय लेना चाहिये। २ "तिलजं" इतिपाठांतरं
३ इसे अन्य ग्रंथो में " दोषहरबस्ति " कहा है।

बस्ति को जो कि, नानाप्रकार के दोषों को नाश करने वाला है, विधि प्रकार अनेक बार देना चाहिये ॥ १६९ ॥

कथितबस्तिगणानिह बस्तिषु प्रवरयानगणेष्वपि केषुचित् ।
कुरुत निष्परिहारतया नरा। नरवरेषु निरंतरमादरात् ॥ १७० ॥

भावार्थः—इस प्रकार कहे हुए उन गुडतैलिक बस्तियों को, बस्ति के योग्य, कोई २ वाहन, व नरपुंगवों के प्रति, विना परिहार के हमेशा आदरपूर्वक वैद्य-प्रयोग करें ॥ १०७ ॥

इत्येवं गुडतिलसंभवाख्ययोगः स्निग्धांगेष्वतिमृदुकोष्ठसुप्रधाने-।
ष्वत्यंतं मृदुषु तथाल्पदोषवर्गेष्वत्यर्थं सुखिषु च सर्वथा नियोज्यः।१७१।

भावार्थः—इस प्रकार गुड तैलिक नामक बस्ति उन्हीं रोगियों के प्रति प्रयोग करें जिनका शरीर स्निग्ध हो, जो मृदु कोष्ठवाले हों, राजा हों, अत्यंत कोमल हों, अल्पदोष से युक्त हों एवं अधिक सुखी हों ऐसे लोगों के लिये यह गुड तैल योग अत्यंत उपयोगी है ॥ १७१ ॥

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकारनिभं जगदेकहितम् ॥ १७२॥

इत्युग्रादित्याचार्यविरचिते कल्याणकारके भेषजकर्मोपद्रवनाम द्वितीयोऽध्यायः आदितो द्वाविंशः परिच्छेदः ।

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में भेषजकर्मोपवद्रचिकित्साधिकार नामक उत्तरतंत्र में द्वितीय व आदिसे **बाईसवां परिच्छेद** समाप्त हुआ।

---

१ पहिले गुडतैलिकबस्ति से लेकर जो भी बस्ति के प्रयोग का वर्णन है वे सभी गुडतैलिक के ही भेद हैं। क्यों कि उन सब में गुड तैल पडते हैं॥

अथ त्रयोविंशः परिच्छेदः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा.

श्रीमज्जिनेंद्रमभिवंद्य सुरेंद्रवंद्यं वक्ष्यामहे कथितमुत्तरबस्तिमुद्यत् ।
तल्लक्षणप्रतिविधानविशेषमानाच्छुक्रार्तवं प्रकटदोषनिवर्हणार्थम् ॥१॥

भावार्थः—देवेंद्र के द्वारा वंदनीय श्री भगवज्जिनेंद्र देव की वंदना कर शुक्र और आर्तव के दोषों को दूर करने के लिये, उत्तर वस्ति का वर्णन, उस के (नेत्रवस्ति) लक्षण, प्रयोग, विधि व प्रयोग करने योग्य द्रव का परिमाण के साथ २ कथन करेंगे ॥ १ ॥

नेत्रवस्ति का स्वरूप.

यन्मालतीकुसुमवृंतनिदर्शनेन प्रोक्तं सुनेत्रमथ बस्तिरपि प्रणीतः ॥
संक्षेपतः पुरुषयोषिदशेषदोषशुक्रार्तवप्रतिविधानविधिं प्रवक्ष्ये ॥ २ ॥

भावार्थः—चमेली पुष्प की डंठल के समान नेत्रवस्ति [पिचकारी] की आकृति बताई गई है । उस के द्वारा स्त्री पुरुषों के शुक्र [वीर्य] रज संबंधी दोषों की चिकित्सा की विधि को संक्षेप से कहेंगे ॥ २ ॥

उत्तरबस्तिप्रयोगविधि

सुस्निग्धमातुरमिहोष्णजलाभिषिक्त- ।
मुत्सृष्टमूत्रमलमुत्कटिकासनस्थम् ॥
स्वाजानुदघ्नफलकोपरि सोपधाने ।
पीत्वा घृतेन पयसा सहितां यवागूम् ॥ ३ ॥
कृत्वोष्णतैलपरिलिप्तसुबस्तिदेश- ।
माकृष्य मेहनमपीह समं च तस्य ॥
नेत्रं प्रवेश्य शनकैर्घृतलिप्तमुद्य- ।
द्बस्तिं प्रपीडय सुखं क्रमतो विदित्वा ॥ ४ ॥

---

१ पुरुषों के इंद्रिय व स्त्रियों के मूत्रमार्ग, व गर्भाशय में जो बस्ति का प्रयोग किया जाता है उसे उत्तरबस्ति कहते हैं । यह निरूहबस्ति के उत्तर = अनंतर प्रयुक्त होता है इसलिये इसे "उत्तर बस्ति" यह नाम पड़ा है । कहा भी है "निरूहादुत्तरो यस्मात् तस्मादुत्तरसंज्ञकः"

भावार्थः—उत्तरबस्ति देने योग्य रोगी को स्नेहन व गरम पानी से स्नान [स्वेदन] करा कर घी दूध से युक्त यवागू को पिला कर मल मूत्र का त्याग कराना चाहिये । पश्चात् घुटने के बराबर ऊंचे आसन पर जिस पर तकिया भी रखखा गया है उखरू बैठाल कर, बस्ति [मूत्राशय] के ऊपर के प्रदेश को गरम तैल से मालिश करे। एवं शिश्नेंद्रिय को खींचकर घी से लिप्त पिचकारी को, शिश्न के अंदर प्रवेश करावे और धीरे २ क्रमशः सुखपूर्वक (रोगी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो वैसा) पिचकारी को दबावे ॥ ३ ॥ ४ ॥

उत्तरवस्तिके द्रवका प्रमाण.

स्नेहप्रकुंचमित एव भवेन्नृणां च ।
स्त्रीणां तदर्धमथमस्य तदर्धमुक्तम् ॥
कन्याजनस्य परिमाणमिह द्वयोस्या- ।
दन्य द्रवं प्रसृततद्विगुणप्रमाणम् ॥ ५ ॥

भावार्थः—उत्तर बस्ति का स्नैहिक और नैरूहिक इस प्रकार दो भेद है । स्नैहिक उत्तर बस्ति के स्नेह का प्रमाण पुरुषों के लिये एक पल (चार तोले) स्त्रियों के लिये, आधा पल [दो तोले] कन्या (जिन को बारह वर्ष की उमर न हुई हो) ओं के लिये चौथाई पल (एक तोला) जानना चाहिये । नैरूहिक उत्तरबस्ति के द्रव [क्वाथ—काढा] का प्रमाण, स्त्री पुरुष, व कन्याओं के लिये एक प्रसृत है । यदि स्त्रियों के गर्भाशय के विशुद्धि के लिये (गर्भाशय में) उत्तर बस्ति का प्रयोग करना हो उसका स्नेह और क्वाथ का प्रमाण लेना चाहिये प्रमाण पूर्वोक्तप्रमाण से द्विगुण जानना चाहिये । अर्थात् स्नेह एक पल, क्वाथ का दो प्रसृत ॥ ५ ॥

उत्तरवस्ति प्रयोग क प्रश्चात् क्रिया.

एवं प्रमाणविहितद्रवसंप्रवेशं ज्ञात्वा शनैरपहरेदथ नेत्रनालीम् ।
प्रत्यागतं च सुनिरीक्ष्य तथापराण्हे तंभोजयेत्पयसि यूषगणैरिहान्नम् ॥ ६ ॥

---

१ यद्यपि, प्रसृतका अर्थ दो पल है[पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेयः प्रसृतश्च निगद्यते]लेकिन यहां इस अर्थ का ग्रहण न करना चाहिये । परंतु इतना ही समझ लेना चाहिये कि रोगियों के हाथ वा अंगुलियों मूल से लेकर, हथेली भर में जितना द्रव समावे वह प्रसृत है । ग्रंथांतरों में कहा भी है। स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वांगुलीमूलसम्मितं ”

भावार्थः—इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणसे द्रवका प्रदेश करा कर धीरेसे पिचकारी की नली को बाहर निकालना चाहिये । तदनंतर द्रव के बाहर आने के बाद सायंकाल में [शाम] उसे दूध व यूष गणों के साथ अन्नका भोजन कराना चाहिये ॥ ६ ॥

वस्ति का माण.

इत्युक्तसद्रवयुतोत्तरबस्तिसंज्ञान्बस्तित्रिकानपि तथा चतुरोपि दद्यात् ।
शुक्रार्तवप्रवरभूरिविकारशांत्यै बीजद्वयप्रवररोगगणान्ब्रवीमि ॥७॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रमाण के द्रवों से युक्त उत्तरवस्ति को रजो वीर्य संबंधी प्रबल–विकारों की शांतिके लिये तीन या चार दफे प्रयोग करें जैसे रोगका बलाबल हो । अब रजोवीर्य सम्बंधी रोगोंका प्रतिपादन करेंगे ॥ ७ ॥

वातादि दोषदूषित रजोवीर्य के (रोग) लक्षण.

वातादिदोषनिहतं खलु शुक्ररक्तं ।
ज्ञेयं स्वदोषकृतलक्षणवेदनाभिः ॥
गंधस्वरूपकुणपं बहुरक्तदोषात् ।
ग्रंथिप्रभूतबहुलं कफवातजातम् ॥ ८ ॥
पूयो भवत्यतितरां बहलं सपूति ।
प्रोत्पित्तशोणितविकारकृतं तु बीजम् ॥
स्यात्सन्निपातजनितं तु पुरीषगंधं ।
क्षीणं क्षयादथ भवेद्बहुमैथुनाच्च ॥ ९ ॥

भावार्थः—वातादि दोषों से दूषित वीर्य व रज में उन्ही वातादि दोषों के लक्षण व वेदना प्रकट होते हैं । इसलिये वातादिक से दूषित रजोवीर्य को वातादि दोषों के लक्षण व वेदनाओं से पहिचानना चाहिये कि यह वातदूषित है या पित्तदूषित है आदि । रक्त से दूषित रजो वीर्य कुणप गंध [मुर्दे के सी वास] से युक्त होते हैं । कफवात से दूषित रजोवीर्य में बहुतसी गांठे हो जाती हैं । पित्तरक्त के विकार से, रजोवीर्य दुर्गंध व [देखने में] पीप के सदृश हो जाते हैं । सन्निपात से रजोवीर्य मल के गंध के तुल्य, गंध से युक्त होते ह । अतिमैथुन से रजोवीर्य का क्षय होता है जिस से रजोवीर्य क्षीण जो कहलाते हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

साध्यासाध्य विचार और वातादिदोषजन्य वीर्यरोग की चिकित्सा.

तेषु त्रिदोषजनिताः खलु बीजरोगाः ।
साध्यास्तथा कुणपपूयसमस्तकृच्छ्राः ॥

साक्षादसाध्यतर एव पुरीषगंधः ।
स्नेहादिभिस्त्रिविधदोषकृतास्सुसाध्याः ॥ १० ॥

भावार्थः—उपर्युक्त रजोवीर्यगत रोगो में पृथक २ वात, पित्त व कफ से उत्पन्न विकार (रोग) साध्य होते हैं । कुणपगंधि, पूयतुल्य, पूति, ग्रंथिभूत ये सब कष्ट साध्य हैं । पुरीषगंधि रजोवीर्यविकार असाध्य हैं । वातादि पृथक् २ दोषजन्य रजोवीर्य विकार को स्नेहन स्वेदन आदि कर्मों द्वारा जीतना चाहिये ॥ १० ॥

रजोवीर्य के विकार में उत्तरबस्तिका प्रधानत्व व कुणपगंधिवीर्यचिकित्सा.

अत्रोत्तरप्रकटबस्तिविधानमेव शुक्रार्तवप्रवरदोषनिवारणं स्यात् ।
सर्पिः पिबेत् प्रवरसारतरं प्रसिद्धं शुद्धस्स्वयं कुणपविग्रथिते तु शुक्रे ॥११॥

भावार्थः—वीर्य व रजसंबंधी दोषों के निवारण के लिये उत्तरबस्ति का ही प्रयोग करना उचित है । क्यों कि उन रोगों को दूर करने में यह विशेषतया समर्थ है । कुणपगंध से युक्त शुक्र में वमन विरेचनादिक से विशुद्ध होकर, इस रोग को जीतनेवाला सारभूत प्रसिद्ध घृत [शाल सारादि साधित व इसी प्रकार के अन्य घृत) को पीना चाहिये ॥ ११ ॥

ग्रंथिभूत व पूयनिभवीर्यचिकित्सा.

ग्रंथिप्रभूतघनपिच्छिलपाण्डुराभे शुक्रे पलाशखदिरार्जुनभस्मसिद्धम् ।
सर्पिःपिबेदधिकपूयनिभस्ववीजे हिंतालतालवटपाटलसाधितं यत् ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो वीर्य, बहुतसी ग्रंथि [गांठ] योंसे युक्त हो, व घट्ट पिच्छिल (पिलपिले) पांडुवर्ण से युक्त हो, उस में पलाश [ढाक] खैर, व अर्जुन (कोह) इन के भस्म से सिद्ध घृत को पीना चाहिये । पूयनिभ(पीप के समान रहनेवाले) वीर्य रोग में हिंताल (ताड भेद) ताड, बड व पाडल, इन से सिद्ध घृत को पीना चाहिये ॥१२॥

विड्गंधि व क्षीणशुक्रकी चिकित्सा.

विड्गन्धिनि त्रिकटुकत्रिफलाग्निमंथाम्भोजांबुदप्रवरसिद्धघृतं तु पेयम् ।
रेतः क्षये कथितवृष्यमहाप्रयोगैः संवर्द्धयेद्रसरसायनसंविधानैः ॥ १३ ॥

भावार्थः—पुरीषगंध से संयुक्त वीर्य रोग में त्रिकटु, त्रिफला, अगेथु, कमल पुष्प, नागरमोथा, इन औषधियों से सिद्ध उत्तम घृत को पिलाना चाहिये । क्षीण शुक्र में पूर्व कथित महान् वृष्यप्रयोग और रसायन के सेवन से शुक्र को बढाना चाहिये॥१३

शुक्र व आर्तव विकार की चिकित्सा.

एतेषु पंचसु च शुक्रमयामयेषु स्नेहादिकं विधिमिहोत्तरबस्तियुक्तम् ।
कुर्यात्तथार्तवविकारगणेषु चैव तच्छुद्धये विविधशोधनसत्कषायान् ॥१४॥
कल्कान् पिबेच्च तिलतैल युतान्यथावत् पथ्यान्यथाचमनधूपनलेपनानि ।
संशोधनानि विदधीत विधानमार्गाद्योन्यामथार्तवविकारविनाशकानि॥१५॥

भावार्थः—शुक्र के इन पांचो महान् रोगों को जीतने के लिये स्नेहन वमन विरेचन, निरूहबस्ति, व अनुवासन का प्रयोग करके उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिये। इसी प्रकार रजो संबंधी रोगो में भी उस की शुद्धि करने लिये स्नेहन आदि लेकर उत्तरबस्ति तक की विधियों का उपयोग करें एवं नाना प्रकार के शोधन औषधियों के कषाय व तिल के तैल से युक्त योग्य औषधियों के कल्क को विधि प्रकार पीवे । तथा रजोविकारनाशक व पथ्यभूत आचमन [औषधियों के कषाय से योनि को धोना] धूप, लेप, शोधनक्रिया का शास्त्रोक्त विधि से प्रयोग योनिप्रदेश में करें ॥१४॥१५॥

पित्तादिदोषजन्यार्तवरोगचिकित्सा.

दुर्गंधपूयनिभमज्जसमार्तवेषु देवद्रुमाम्रसरलागरुचंदनानाम् ।
काथं पिबेत्कफमरुद्ग्रथिताप्रभूतग्रंथ्यार्तवे कुटजसत्कटुकत्रयाणाम् ॥१६॥

भावार्थः—दुर्गंधयुक्त, व पीप व मज्जा के सदृश आर्तव में देवदारु वृक्ष, आम्र सरलवृक्ष, अगरु, चंदन इन के क्वाथ को पीवें। कफ व वात विकार से उत्पन्न ग्रंथिभूत [गांठ से युक्त] रजो रोग मे कुडा व त्रिकटु के क्वाथ को पीवें ॥१६॥

शुद्धशुक्र का लक्षण.

एवं भवेदतितरामिह बीजशुद्धिस्निग्धं सुगंधि मधुरं स्फटिकोपलाभं ।
क्षौद्रोपमं तिलजसन्निभमेव शुक्रं शुद्धं भवत्यधिकमग्र्यसुपुत्रहेतुः ॥ १७ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त विधि से वीर्य का शोधन करें तो वीर्यशुद्धि हो जाती है। जो वीर्य अत्यंत स्निग्ध, सुगंध, मधुर, स्फटिक शिलाके समान, मधु व सफेदतिल के तैल के समान हैं, उसे शुद्ध शुक्र समझना चाहिये अर्थात् शुद्ध शुक्र के ये लक्षण हैं। ऐसे शुद्धवीर्य से ही उत्तम संतान की उत्पत्ति होती है ॥१७॥

शुद्धार्तव का लक्षण.

शुद्धार्तवं मणिशिलाद्रवहंसपादिपंक्तोपमं शशशरीरजरक्तवच्च ।
लाक्षारसप्रतिममुज्वलकुंकुमाभं प्रक्षालितं न च विरज्यत तत्सुबीजम् ॥

भावार्थः—जो रज (आर्तव) मैनशिलाका द्रव, हंसपादि के पंक, खरगोश के रक्त, लाखका रस व श्रेष्ठ कुंकुमके समान (लाल) होता है एवं वस्त्र पर लगे हुए को धोने पर छूट जावें, कपडे को न रंगे उसे शुद्ध आर्तव समझना चाहिये अर्थात् ये शुद्ध आर्तव के लक्षण हैं [ऐसे ही आर्तव से संतान की उत्पत्ति होती है) ॥ १८ ॥

स्त्री पुरुष व नपुंसक की उत्पत्ति.

शुद्धार्तवप्रबलतः कुरुतेऽत्र कन्यां शुक्रस्य चाप्यधिकतो विदधाति पुत्रम् ।
तत्साम्यमाशु जनयेद्धि नपुंसकत्वं कर्मप्रधानपरिणामविशेषतस्तत् ॥१९॥

भावार्थः—शुद्ध रजकी अधिकता से शुद्धार्तव से युक्त स्त्री के शुद्धशुक्रयुक्त पुरुष के संयोग से गर्भाशय में गर्भ ठहर जाय तो कन्या की उत्पत्ति होती है । यदि वीर्य का आधिक्य हो तो पुत्र की उत्पत्ति होती है। दोनोंकी समानता हो नपुंसक का जन्म होता है। लेकिन ये सब, अपने २ पूर्वोपार्जित प्रधानभूत कर्मफल के अनुसार होते हैं अर्थात् स्त्री पुं-नपुंसक होने में मुख्यकारण कर्म है ॥ १९ ॥

गर्भादानविधि.

शुद्धार्तवामधिकशुद्धतरात्मशुक्र ब्रह्मव्रतस्स्वयमिहाधिकमासमात्रम् ।
स्नातश्चतुर्थदिवसप्रभृति प्रयत्नाद्यायान्नरः स्वकथितेषु हि पुत्रकामः ॥२०॥

भावार्थः—जिस का शुक्र शुद्ध है जिस ने स्वयं एक महिनेपर्यंत ब्रह्मचर्य धारण किया है ऐसे पुरुष शुद्धार्तववाली स्त्री के साथ [जिस ने एक मास तक ब्रह्मचर्य धारण कर रक्खा हो] चतुर्थ स्नान से लेकर [रजस्वला के आदि के तीन दिन छोडकर, और आदिसे दस या बारह दिन तक संतानोत्पादन के निमित्त] प्रयत्नपूर्वक (स्त्री को प्रेमभरी वचनों से संतुष्ट करना आदि काम शास्त्रानुसार) संगम करें । यदि वह पुत्रोत्पादन की इच्छा रखता हो तो, जिन दिनों मे गमन करने से पुत्र की उत्पत्ति कहा है ऐसी युग्म रात्रियों [चौथी, छठवी आठवी दसवी रात्रि] में स्त्रीसेवन करे । पुत्री [लडकी] उत्पन्न करना चाहता हो अयुग्म रात्रियों (पांचवी, सातवीं, नौवीं रात्रि) में स्त्री सेवन करें ॥ २० ॥

ऋतुकाल व सद्योगृहीतगर्भलक्षण.

दृष्टार्तवं दशदिनं प्रवदंति तदज्ञाः साक्षाददृष्टमपि षोडशरात्रमाहुः ।
सद्यो गृहीतवरगर्भसुलक्षणत्वं ग्लानिश्रमक्रमतृषोदरसंचलस्स्यात् ॥२१॥

१ मयि (मथि) तेषु इति पाठांतरं ।

भावार्थः—आर्तव (रज) दर्शन से लेकर गर्भादान विषय के विशेष जानकारों ने दस दिनपर्यंत के [रात्रि] काल को ऋतुकाल कहा है । किसी का मत है [रात्रि] कि रजो दर्शन न होनेपर भी ऋतुकाल हो सकता है । कोई तो रजोदर्शन से लेकर सोलह रात्रि के काल को ऋतुकाल कहते हैं । जिस स्त्री को जिस समय गर्भ ठहर गया हो उसी समय उस में ग्लानि, थकावट, क्लेश, प्यास, उदरचलन, ये लक्षण प्रकट होते हैं । (जिस से यह जाना जा सकता है कि अभी गर्भ ठहर गया) ॥२१॥

गर्भिणी चर्या.

गर्भान्वितां मधुरशीतलभेषजाढ्यम् मासद्वयं प्रतिदिनं नवनीतयुक्तम् ।
शाल्योदनं सततमभ्यवहारयेत्तां गव्येन साधुपयसाथ तृतीयमासे ॥२२॥

दध्नैव सम्यगसकृच्च चतुर्थमासे पूज्येन गव्यपयसा खलु पंचमेऽस्मिन् ।
षष्ठे चतुर्थ इव मास्यथ सप्तमासे केशोद्भवश्च परिभोजय तां पयोन्नम् ॥२३॥

यष्ट्यंबुजांबुवरनिंबकदंबजंबूरंभाकषायदधिदुग्धविपक्वसर्पिः ।
मात्रां पिबेत्प्रतिदिनं तनुतापशांत्यै मासेऽष्टमे प्रतिविधानमिहोच्यतेऽतः ॥२४

भावार्थः—गर्भिणी को प्रथम द्वितीय मास में मधुर और शीतल औषधि (शाक फल, धान्य, दूध आदि) व मक्खन से युक्त भात को प्रतिदिन खिलाना चाहिये । एवं तीसरे मास में उत्तम गाय के दूध के साथ चावल का भोजन कराना चाहिये । चौथे महीने में दही के साथ कई दफे भोजन कराना चाहिये । एवं पांचवें महीने में उत्तम गाय के दूध के साथ भोजन कराना चाहिये । छठे महीने में चौथे महीने के समान दही के साथ भोजन कराना चाहिये। सातवें महीने में गर्भस्थ बालक को केशकी उत्पत्ति होती है । गर्भिणी को दूध के साथ अन्नका भोजन कराना चाहिये । एवं मुलेठी कमलपुष्प, नेत्रवाला, नीम, केला, कदंववृक्ष की छाल, जामुन, इन के कषाय व दही, दूध से पके हुए घृतकी मात्रा (खुराक) को प्रतिदिन शरीर के ताप को शांत होने के लिये पिलाना चाहिये । आठवें महीने में करने योग्य क्रियायोंको अब कहेंगे ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

आस्थापयेदथ बलाविहितेन तैलेनाज्यान्वितेन दधिदुग्धविमिश्रितेन ।
तैलेन चाष्टमधुरौषधसाधितेन [पक्वं] दत्तं हितं भवति चाप्यनुवासनं तु॥२५॥

---

१ गर्भग्रहण, या उसके योग्य काल को ऋतुकाल कहते हैं ।

जबतक ऋतुमती, यह संज्ञा है तब तक ही स्त्रीसेवन करे आगे नहीं । आगे के मैथुन से गर्भधारण नहीं होता है इसलिये उसे निंद्य कहा गया है ।

तेनैव बस्तिमथ चोत्तरबस्तिमुद्यत्तैलेन संप्रति कुरु प्रमदाहिताय ।
निश्शेषदोषशमनं नवमेऽपि मासेऽप्येवं कृते विधिवदत्र सुखं प्रसूते ॥२६॥

भावार्थः—आठवें महिने में खरैटी से साधित तैल [बला तैल] में घी दही व दूध को मिलाकर आस्थापन बस्तिका प्रयोग करना चाहिये । एवं आठ प्रकार के मधुर औषधियों से सिद्ध तैल से आस्थापन अनुवासन प्रयोग करना हितकर है । आस्थापन बस्ति देकर अनुवासन बस्ति देना चाहिये, एवं उसी तैल से उत्तरबस्तिका प्रयोग करना चाहिये, जिस से गर्भिणी को हित होता है । इसी प्रकार नव में महिने में भी समस्त दोषों के शमनकारक आहार औषधादिकों का उपयोग करना चाहिये । इस प्रकार विधि पूर्वक नौ महीने तक गर्भिणीका उपचार करनेपर वह सुखपूर्वक प्रसव करती है ॥ २५ ॥ २६ ॥

निकटप्रसवा के लक्षण और प्रसवविधि.

कट्यां स्वपृष्ठनिलयेऽप्यतिवेदना स्याच्छ्लेष्मा च मूत्रसहितः प्रसरत्यतीव ।
सद्यःप्रसूत इति तैरवगम्य तैलेनाभ्यज्य सोष्णजलसंपरिषेचितां ताम् ॥२७॥
स्वप्यात्तथा समुपसृत्य निरूप्य चाली धात्रीं प्रवाहनपरां प्रमदां प्रकुर्यात् ।
यत्नाच्छनैः क्रमत एव ततश्च गाढं साक्षादपायमपहृत्य सुखं प्रसूते ॥२८॥

भावार्थः—जब स्त्रीके प्रसव के लिये अत्यंत निकट समय आगया हो उस समय उस के कटिप्रदेश में व पीठपर अत्यंत वेदना होती है और मूत्रके साथ अत्यधिक कफका (कफ और मूत्र दोनों अधिक निकलते हैं) निर्गमन होता है । इन लक्षणोंसे शीघ्र ही वह प्रसव करेगी, ऐसा समझकर उसे तैल से अभ्यंग कर उष्ण जल से स्नान करावें । तदनंतर उस स्त्रीको सुख शय्या [बिछौना] पर दोनों पैरों को सिकुडाते हुए चित सुलावें और शीघ्र ही ज्यादा उमरवाली [बुड्ढी] व बच्चा जनवाने में कुशल दाई को खबर देकर बुलाकर प्रसूतिकार्य में लगाना चाहिये । दाई भी जब प्रसव निकट हो तो पहिले धीरे २ एकदम समय निकट आनेपर [पतनोन्मुख होनेपर] जोर से प्रवाहण कराते हुए, बहुत ही यत्न के साथ प्रसूति करावे । ऐसा करने से वह सम्पूर्ण अपायों से रहित होकर सुखपूर्वक प्रसव करती है ॥ २७ ॥ २८ ॥

जन्मोत्तर विधि.

जातस्य चांबुकसुसैंधवसर्पिषा तां संशोध्य नाभिनियतामपि शुद्धितांगां ।
अष्टांगुलीमृदुतरायतसूत्रबद्धां छित्वा गले नियमितां कुरु तैलसिक्तां ॥२९॥

नालि इति पाठांतरम्.

भावार्थः—बच्चा जन्म लेते ही उस के शरीर पर लगी हुई जरायु को साफ करे तथा सेंधानमक, और घीसे मुख को शुद्ध करे (थोडा घी और सेंधानमक को मिलाकर अंगुलिसे चटा देवे जिस से गले में रहा हुआ कफ साफ होता है) पश्चात् नाभि में लगे हुए नाल [नाभिनाडी] को साफ कर, और आठ अंगुल प्रमाण छोडकर वहां [जहां आठ अंगुल पूरा होते हैं] मुलायम डोरी से बांधे और, वहीं से काट देवें। अनंतर नालपर तैल (कूठ के तैल) लगा कर उसे बच्चे के गले में बांधे ॥ २९ ॥

अनंतर विधि.

पश्चाद्यथा विहितमत्र सुसंहितायां तत्सर्वमेव कुरु बालकपोषणार्थम् ।
तां पाययेत्प्रसविनीमतितैललिप्तां स्नेहान्विताम्लवरसोष्णतरां यवागूम् ॥ ३० ॥

भावार्थः—तदनंतर इसी संहिता में बालक के पोषण के लिये जो २ विधि बतलाई गयी है उन सब को करें एवं प्रसूता माता को तेलका मालिश कर स्नेह व आम्लसे युक्त उष्ण यवागू पिलाना चाहिये ॥ ३० ॥

अपरापतन के उपाय.

हस्तेन तामपहरेदपरां च सक्ताम् तां पाययेदधिकलांगलकीसुकल्कैः ।
संलिप्य पादतलनाभ्युदरप्रदेशं संधूप्य योनिमथवा फणिचर्मतैलैः ॥ ३१ ॥

भावार्थः—यदि अपरा [झोल नाल] नहीं गिरे तो उसे हाथ से निकाल लेवे अथवा उसे कलिहारी के कल्क को पिलाना चाहिये। अथवा कलिहारी के कल्क को पादतल [पैर के तलवे] नभि उदर इन स्थानों में लेप करें। अथवा सर्पकी कांचली व तैल मिलाकर इस से योनिमुख को धूप देवे। [इस प्रकार के प्रयोग करने से शीघ्र ही अपरा गिर जाती है] ॥ ३१ ॥

सूतिकोपचार.

एवं कृता सुखवती सुखसंप्रसूता स्यात्सूतिकेति परिणेति ततः प्रयत्नात् ।
अभ्यंगयोनिबहुतर्पणपानकादीन् मासं कुरु प्रबलवातनिवारणार्थम् ॥ ३२ ॥

भावार्थः—इस प्रकार की विधियों के करने पर सुखपूर्वक अपरा गिर जाती है। बच्चा और अपरा बाहर आने पर उस स्त्रीको सूतिका यह संज्ञा हो जाती है। तदनंतर उस सूतिका स्त्री के प्रबल वातदोष के निवारण के लिये तेल का मालिश, योनितर्पण, पानक आदि वातनाशक प्रयोग एक महीने तक करें ॥ ३२ ॥

१ यदि अपरा नहीं गिर तो पेट में अफरा, और आनाह (पेट फूलना) उत्पन्न होता है ॥

मार्कल (मक्कल) शूल और उसकी चिकित्सा.

तद्दुष्टशोणितनिमित्तमपीह शूलं सम्यग्जयेदधिकमार्कलसंज्ञितं तु ।
तद्वस्तिभिर्विधिवदुत्तरबस्तिना च प्रख्यातभेषजगणैरनिलापहृद्भिः ॥३३॥

भावार्थः—प्रसूता स्त्री के दूषित रक्त का स्राव बराबर न होने पर भयंकर शूल उत्पन्न होता है जिसे मार्कल [मक्कल] शूल कहते हैं । उसे पूर्वोक्त श्रेष्ठ आस्थापन, अनुवासन बस्ति के या उत्तरबस्ति के प्रयोग से एवं वातहर प्रसिद्ध औषधिवर्ग से चिकित्सा कर के जीतना चाहिये ॥ ३३ ॥

उत्तरबस्तिका विशेषगुण.

तद्दुष्टशोणितमसृग्दरमुग्रमूत्र-।
कृच्छ्राभिघातबहुदोषसुबस्तिरोगान् ॥
योन्यामयानखिलशुक्रगतान्विकारान् ।
मर्मोद्रितान् जयति बस्तिरिहोत्तराख्यः ॥ ३४ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त दूषितरक्तजन्य रोग, रक्तप्रदर, भयंकर मूत्रकृच्छ्र, और मूत्राघात, बहुदोषों से उत्पन्न होनेवाले बस्तिगत रोग, योनिरोग, शुक्रगत सम्पूर्ण रोग मर्मरोग, इन सब को उत्तरबस्ति जीतता है । अर्थात् उत्तरबस्ति के प्रयोग से ये सब रोग ठीक या शांत हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

धूम, कवलग्रह, नस्यविधिवर्णनप्रतिज्ञा और धूम भेद.

अत्रैव धूमकवलामलनस्ययोगव्यापच्चिकित्सितमलं प्रविधास्यते तत् ।
धूमो भवेदतितरामिह पंचभेदः स्नेहप्रयोगवमनातिविरेककासैः ॥३५॥

भावार्थः—अब यहां से आगे, धूमपान, कवलग्रह, नस्य इन की विधि व इन का प्रयोग यथावत् न होनेसे उत्पन्न आपत्तियां और उन की चिकित्साविधि का वर्णन करेंगे । धूम, स्नेहन, प्रायोगिक, वमन, विरेचन व कासघ्न के भेद से पांच प्रकार का है ॥ ३५ ॥

स्नेहनधूमलक्षण.

अष्टांगुलायतशरं परिवेष्ट्य वस्त्रेणालेपयेदमलगुग्गुलसर्जनाम्ना ।
स्नेहान्वितेन बहुसूक्ष्मतरः शरीरे स स्नेहिको भवति धूम इति प्रयुक्तः ॥३६॥

---

१ नस्यैरिति पाठांतरं. २ सूत्रेण इति पाठांतरं.

भावार्थः—आठ अंगुल लम्बी शर [तुली] लेकर उसपर [क्षौम सण या रेशमी] वस्त्र लपेटे । उस के ऊपर निर्मल गुग्गुल, राल, स्नेह, [घृत या तैल] इन को अच्छी तरह मिलाकर लेप कर दे (पीछे इसे अच्छी तरह सुखाकर अंदर से शर निकाल लेवे तो धूमपान की बत्ती तैयार हो जाती हैं इस बत्ती को धूमपान की नली में रख कर, उस पर आग लगा कर) जिन के शरीर रूक्ष हो इन के इस धूम का सेवन करावे इसे स्नैहिक या स्नेहनधूम कहते हैं ॥ ३६ ॥

प्रायोगिकवैरेचनिक कासघ्नधूमलक्षण.

एलालवंगगजपुष्पतमालपत्रैः प्रायोगिके वमनकैरपि वामननीये ।
वैरेचने तु बहुधोक्तशिरोविरेकैः कासघ्नके प्रकटकासहरौषधैस्तु ॥३७॥

भावार्थः—इसी प्रकार इलायची, लवंग, नागकेशर, तमालपत्र, इन प्रायोगिक औषधियों से पूर्वोक्त क्रम से बत्ती तैयार कर इस से धूम सेवन करावें इसे प्रायोगिक धूम कहते है । वामक औषधि यों से सिद्ध बत्ती के द्वारा जो धूम सेवन किया जाता है उसे वामक धूम कहते हैं । विरेचन द्रव्यों से बत्ती बनाकर जो धूम सेवन कराया जाता है उसे विरेचनधूम कहते हैं ॥ कासनाशक औषधियों से बत्ती तैयार कर जो धूम सेवन कराया जाता है उसे कासघ्न धूम कहते हैं ॥ ३७ ॥

धूमपान की नली की लम्बाई.

प्रायोगिके भवति नेत्रमिहाष्टचत्वारिंशत्तथांगुलमितं घृततैलमिश्रे ।
द्वात्रिंशदेव जिननाथसुसंख्यया तं वैरेचनेन्यतरयोः खलु षोडशैव ॥३८॥

भावार्थः—प्रायोगिक धूम के लिये, धूमपान की नली [1]४८ अडतालीस अंगुल लम्बी, स्नेहन धूम के लिये नली ३२ बत्तीस अंगुल लम्बी, और विरेचन व कासघ्न धूम के लिये १६ सोलह अंगुल लम्बी होनी चाहिये ऐसा जिनेंद्रशासन में निश्चित संख्या बतलायी गयी है ॥ ३८ ॥

धूमनली के छिद्रप्रमाण व धूमपानविधि.

छिद्रं भवेदधिकमाषनिपाति तेषां स्नेहान्वितं हर मुखेन च नासिकायाम् ।
प्रायोगिकं तमिव नासिकया विरेकमन्यं तथा मुखत एव हरेद्यथावत् ॥३९॥

भावार्थः—उपरोक्त धूमपान की नलियों का छिद्र (सूराक) उडद के दाने के बराबर होना चाहिये ॥ स्नेहनधूम को मुख [मुंह] और नाक से खींचना

१ यह प्रमाण आगे के भाग का है ॥ जड में छिद्र अंगूठे जितना मोटा होना चाहिये ॥

चाहिये अर्थात् पीना चाहिये । प्रायोगिक धूम को मुख व नाक से खींचना चाहिये । विरेचन धूम को नाक से, व वामक व कासघ्न धूम को मुख से ही खींचना चाहिये ॥ ३९ ॥

धूम निर्गमन विधि.

यो नासिकापुटगृहीतमहातिधूमस्तं छर्दयेन्मुखत एव मुखाद्गृहीतं ।
अप्याननेन विसृजेद्विपरीततस्तु नेच्छंति जैनमतशास्त्रविशेषणज्ञाः ॥४०॥

भावार्थः—जिस धूम को नासिका द्वारा ग्रहण किया हो उसे मुख से बाहर उगलना चाहिये और जिसे मुख से ग्रहण किया है उसे मुख से उगलना चाहिये । इस से विपरीत विधि को जैनशास्त्र के जानकार महर्षिगण स्वीकार नहीं करते ॥४०॥

धूमपान के अयोग्य मनुष्य.

मूर्छामदभ्रमविदाहतृषोष्णरक्तपित्तश्रमोग्रविषशोकभयप्रतप्ताः ।
पाण्डुप्रमेहतिमिरोर्ध्वमरुन्महोदरार्तपीडिताः स्थविरबालविरिक्तदेहाः॥४१॥
आस्थापिताः क्षतयुता ह्युरसि क्षता ये गर्भान्विताश्च सहसा द्रवपानयुक्ताः ।
रूक्षास्तथा पिशितभोजनभाजना ये ये श्लेष्महीनमनुजाः खलु धूमवर्ज्याः ॥४२॥

भावार्थः—जो मूर्छा, मद भ्रम, दाह, तृषा, उष्णता, रक्तपित्त, श्रम, भयंकर विषबाधा, शोक और भय से संतप्त [युक्त] हों, पाण्डु, प्रमेह, तिमिर, ऊर्ध्ववात, व महोदर से पीडित हों, जो अत्यंत वृद्ध या बालक हों, जिसने विरेचन लिया हो, जिसे आस्थापन प्रयोग किया हो, क्षत [जखम] से युक्त हों, उरःक्षत युक्त हों, गर्भिणी हों, एकदम द्रवपान किया हुआ हों, मांस भोजन किया हो, एवं कफरहित हो, ऐसे मनुष्योंके प्रति धूमप्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

धूमसेवन का काल.

स्नातेन चान्नमपि भुक्तवतातिसुप्तोत्थितेन मैथुनगतेन मलं विसृज्य ।
क्षुत्वाथ वांतमनुजेन च दंतशुद्धौ प्रायोगिकः प्रतिदिनं मनुजैर्नियोज्यः॥४३॥

भावार्थः—जिसने स्नान किया हो, अन्न का भोजन किया हो, सोकर उठा हो, मैथुन सेवन किया हो, मल विसर्जन किया हो, छींका हो, वमन किया हो, और जो

---

१ किसी का मत है कि इस धूम को नाक से ही खींचना चाहिये ॥

दंतशुद्धि क्रिया हो ऐसे, समय में मनुष्य को प्रतिदिन प्रायोगिक धूमका सेवन करना चाहिये ॥ ४३ ॥

अष्टासु चाप्यवसरेषु हि दोषकोपः साक्षाद्भवेदिति च तत्प्रशमैकहेतुः।
धूमो निषेव्य इति जैनमते निरुक्तो वाक्यश्च तेन विषदाहरुजाप्रशांतिः॥४४

भावार्थः—उपर्युक्त आठ अवसरों में दोषों का प्रकोप हुआ करता है। इस लिये उन दोषों को शांत करने के लिये धूम का सेवन करना चाहिये इस प्रकार जैन मत में कहा है ॥ ४४ ॥

धूमसेवन का गुण.

तेनेंद्रियाणि विमलानि मनःप्रसादो।
दार्ढ्यं सदा दशनकेशचयेषु च स्यात् ॥
श्वासातिकासवमथुस्वरभेदनिद्रा-।
काचप्रलापकफसंस्रवनाशनं स्यात् ॥ ४५ ॥

भावार्थः—उस धूपन प्रयोग से इंद्रियोंमें निर्मलता आती है, मन में प्रसन्नता होती है, दंत व केशसमूह में दृढता आती है। श्वास, कास, छींक, वमन, स्वरभंग, निद्रा रोग, काच [?] प्रलाप, कफस्राव ये रोग दूर होते हैं ॥ ४५ ॥

तंद्रा प्रतिश्यायमत्र शिरोगुरुत्वं।
दुर्गंधमाननगतं मुखजातरोगान् ॥
धूमो विनाशयति सम्यगिह प्रयुक्तो।
योगातियोगविपरीतविधिप्रवीणैः ॥ ४६ ॥

भावार्थः—आलस्य, जुखाम, शिरके भारीपना, मुखदुर्गंध व मुखगत अनेक रोगों को योग अतियोग व अयोग को जाननेवाले वैद्यों के द्वारा विधिपूर्वक प्रयुक्त धूम अवश्य नाश करता है ॥ ४६ ॥

योगायोगातियोग.

योगो भवत्यधिकरोगविनाशहेतुः।
साक्षादयोग इति रोगसमृद्धिकृत्स्यात् ॥
योग्यौषधैरतिविधानमिहातियोगः।
सर्वौषधप्रकटकर्मसु संविचिंत्यः ॥ ४७ ॥

भावार्थः—जो धूम प्रबल रोग की शांति के लिये कारणभूत है अर्थात् जिस के सेवन से रोग की ठीक २ शांति हो जाती है, उसे योग या सम्यग्योग कहते हैं। जिस के प्रयोग से रोग बढ जाता है उसे अयोग[1] और योग्य औषधियों से अधिक प्रमाण में धूम का प्रयोग करना उसे अतियोग कहते हैं। इन योग, अयोग, अतियोगों को प्रत्येक औषधिकर्म में विचार करना चाहिये ॥ ४७ ॥

धूम के अतियोगजन्य उपद्रव.

धूमे भवत्यतितरामतियोगकाले कर्णध्वनिः शिरसि दुःखमिहाक्ष्यदृष्टे।
दौर्बल्यमप्युरुचितं च विदाहतृष्णा संतर्पयेच्छिरसि नस्यघृतैर्जयेत्तम् ॥४८॥

भावार्थः—धूम के अत्यधिक अयोग होने पर कर्ण में शब्द का श्रवण होते हुए रटना, शिरोवेदना, दृष्टिदुर्बलता, अरुचि, दाह व तृषा उत्पन्न होती है। उसे शिरोतर्पण, नस्य व घृतों के प्रयोग से जीतना चाहिये ॥ ४८ ॥

धूमपान के काल.

प्रायोगिकस्य परिमाणमिहास्रपातः शेषेषु दोषनिसृतेरवधिर्विधेयः।
पीत्वागदं तिलयुतण्डुलजां यवागूं धूमं पिबेद्वमनभेषजसंप्रसिद्धम् ॥४९॥

भावार्थः— आंखो में आंसू आने तक प्रायोगिक धूमका प्रयोग करना चाहिये यही उस का प्रमाण है। बाकी के धूमों का प्रयोग दोषों के निकलनेतक करना चाहिये। वमन औषधियों से सिद्ध वामनीय धूम को अगद, तिल व चावल से सिद्ध यवागू को पीकर पीना चाहिये ॥ ४९ ॥

गंडूष व कवलग्रहवर्णन.

धूमं विधाय विधिवन्मुखशोधनार्थं गण्डूषयोगकवलग्रहणं विधास्ये।
गण्डूषमित्यभिहितं द्रवधारणं तच्छुष्कौषधैरपि भवेत्कवलग्रहाख्यः ॥५०॥

भावार्थः—विधिपूर्वक धूम प्रयोग का वर्णन कर के अब मुखकी शुद्धिके लिये गण्डूष (कुरला) प्रयोग व कवल ग्रहण का वर्णन करेंगे। मुखमें द्रवधारण करने को गण्डूष कहते हैं। कवलग्रहण में शुष्क औषधियोंका भी धारण होता है ॥ ५० ॥

---

1. कोई तो जिस से रोग शमन नहीं होता है, उसे अयोग कहते हैं॥

गंडूष धारणविधि.

सिद्धार्थकत्रिकटुकत्रिफलाहरिद्रा- ।
कल्कं विलोड्य लवणाम्लसुखोष्णतोयैः ॥
सुस्विन्नकंठनिजकर्णललाटदेश- ।
स्तं धारयेद्द्रवमतः परिकीर्तयेत्सः ॥ ५१ ॥

भावार्थः—सब से पहिले रोगी के कंठ, कर्ण व ललाट प्रदेशमें स्वेदन प्रयोग करना चाहिये । बादमें सफेद सरसों, त्रिकटु, त्रिफला व हलदीको अच्छीतरह पीसकर (कल्क तैयार कर के) उसे लवण, आम्ल व मंदोष्ण पानी में घोल लेवें और उस द्रव को मुखमें धारण करना चाहिये । उसे कबतक धारण करना चाहिये ? इसे आगे कहेंगे ॥ ५१ ॥

गंडूषधारण का काल.

यावत्कफेन परिवेष्टितमौषधं स्यात्तावन्मुखं च परिपूर्णमचाल्यमेतत् ।
यावद्विलोचनपरिप्लवनं स्वनासास्रावं भवेदतितरां विसृजेत्तदा तत् ॥५२॥

भावार्थः—जब तक मुख में स्थित औषधि कफसे नहीं भरजाय तब तक मुख को बिलकुल हिलाना नहीं चाहिये। और जब नेत्र भीग जाय [नेत्र में पानी भर जाय] एवं नासिकासे स्राव होने लग जाय तब औषधिको बाहर उगलना चाहिये ॥ ५२॥

गंडूषधारण की विशेषविधि.

अन्यद्विगृह्य पुनरप्यनुसंक्रमेण संचारयेदथ च तद्विसृजेद्यथावत् ।
दोषे गते गतवतीह शिरोगुरुत्वे वैस्वर्यमाननगतं सुविधास्य यत्नात्॥५३॥
अन्यं न वार्यमधिकं गलशोषहेतुस्तृष्णाद्युपद्रवनिमित्तमिति प्रगल्भैः ।
धार्या भवंति निजदोषविशेषभेदात् क्षाराम्लतैलघृतमूत्रकषायवर्गाः ॥५४॥

भावार्थः—पूर्वोक्त प्रकार से पुनः उस द्रव को लेकर मुख में धारण करना चाहिये । पुनः विधि प्रकार बाहर छोडना चाहिये । दोष निकल जावे, शिर का भारीपना ठीक हो जावे, स्वरभंग व अन्य मुखगतरोग शांत हो जावे तबतक यत्नपूर्वक इस प्रयोग को करे । इस प्रकार रोग शांत हो जाने पर फिर दूसरे द्रव को अधिक धारण न करे । अन्यथा गलशोषण, तृषा आदिक उपद्रव होते हैं, ऐसा विद्वज्जनों ने कहा है । एवं दोषभेद के अनुसार क्षार, आम्ल, तैल, घृत, मूत्र व कषाय वर्ग औषधियों के द्रव को धारण करना चाहिये ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

गंडूष के द्रव का प्रमाण और कवलविधि.

गंडूषसद्द्रवगतं परिमाणमत्र प्रोक्तं मुखार्धमिति नान्यदतोस्ति किंचित्।
पूर्णे मुखे भवति तद्द्रवमत्र चाल्यं हीनं न दोषहरमत्र भवेदशेषम् ॥५५॥

भावार्थः—गंडूष के द्रव का प्रमाण मुखकी अर्ध मात्रा [मुंह के आधे में जितना समावें उतना] में बतलाया है। यदि द्रव से मुख को पूर्ण भर दिया जाय अथवा मुंह भर द्रव धारण किया जाय तो, उसे मुख के अंदर इधर उधर न चला सकने के कारण वह संपूर्ण दोषों को हरण करने में समर्थ नहीं होता है ॥ ५५ ॥

तस्मान्मुखार्धपरिमाणयुतं द्रवं तं निश्शेषदोषहरणाय विधेयमेवं।
शुष्कौषधैश्च कवलं विधिवद्विधाय संचर्व्यतां हरणमिच्छदशेषदोषम् ॥५६॥

भावार्थः—इस कारण से सम्पूर्ण दोषों को हरण करने के लिये मुख के अर्ध प्रमाण द्रव धारण करना चाहिये। एवं सर्वदोषों को हरण करने की इच्छा से, शुष्क [सूखे] औषधियों से शास्त्रोक्तविधि से कवल धारण कर के उसे चबावे ॥ ५६ ॥

नस्यवर्णन प्रतिज्ञा व नस्य के दो भेद.

एवं विधाय विधिवत्कवलग्रहाख्यं नस्यं ब्रवीमि कथितं खलु संहितायाम्।
नस्यं चतुर्विधमपि द्विविधं यथावत् यत्स्नेहनार्थमपरं तु शिरोविरेकम् ॥५७॥

भावार्थः—इस प्रकार विधिपूर्वक गण्डूष व कवल ग्रहण को निरूपणकर अब आयुर्वेदसंहिता में प्रतिपादित नस्यप्रयोग का कथन करेंगें। यद्यपि नस्य चार प्रकार का है। फिर भी मूलतः स्नेहन नस्य व शिरोविरेचन नस्य के भेदसे दो प्रकार है॥५७॥

स्नेहन नस्य का उपयोग.

यत्स्नेहनार्थमुदितं गलरक्तमूर्धस्कंधोरसां बलकरं वरदृष्टिकृत्स्यात्।
वाताभिघातशिरसि स्वरदंतकेशश्मश्रुप्रशातखरदारुणके विधेयम् ॥५८॥

भावार्थः—स्नेहन नस्य कंठ रक्त मस्तक कंधा और छाती को बल देने वाला है आंखों में तेजी लानेवाला है। वात से अभिघातित [पीडित] शिर [शिरो रोग] में, चलदंत, केश [बाल] व मूंछ गिरने में, कठिन दारुण नामक रोग में इस स्नेहन नस्य का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५८ ॥

स्नेहननस्य का उपयोग.

कर्णामयेषु तिमिरे स्वरभेदवक्त्रशोषेऽप्यकालपलिते वयबोधनेऽपि।
पित्तानिलप्रभववक्त्रगतामयेषु सुस्नेहनाख्यमधिकं हितकृन्नराणाम् ॥ ५९॥

भावार्थः—कान के रोगो में, तिमिर रोग में, स्वरभंग में, मुखशोष में केश पकने में, आयु वढाने में एवं पित्त व वात विकारसे उत्पन्न समस्त मुखगत रोगो में, इस स्नेहन नस्य का उपयोग करना चाहिये, जो कि मनुष्यों को अत्यंत हितकारी है ॥५९॥

विरेचननस्य का उपयोग व काल.

यत्स्याच्छिरोगतविरेचनमूर्ध्वजत्रुश्लेष्मोद्भवेषु बहुरोगचयेषु योज्यम् ।
नस्यं द्वयं विधिमभुक्तवतां प्रकुर्यान्नभ्रे स्वकालविषये करतापनाद्यैः ॥६०॥

भावार्थः—विरेचन नस्य को ऊर्ध्वजत्रुगत, हंसली के हड्डी के ऊपर के [गला नाक आंख आदि स्थानगत] नानाप्रकार के कफजन्य रोग समूहों में प्रयोग करना चाहिये । इन दोनों नस्यों को भोजन नहीं किये हुए रोगी पर जिस दिन आकाश बादलों से आच्छादित न हो, और दोषानुसार नस्य का जो काल[1] बतलाया गया है उस समय, हाथ से तपाना इत्यादि क्रियाओं के साथ २ प्रयोग करना चाहिये ॥ ६० ॥

स्नेहननस्य की विधि व मात्रा.

सुस्विन्नगंडगलकर्णललाटदेशे किंचिद्विलंबित यथानिहितोत्तमांगे ।
उन्नामिताग्रयुतसद्विवरद्वयेऽस्मिन्नासापुटे विधिवदत्र सुखोष्णबिंदून् ॥ ६१॥
स्नेहस्य चाष्टगणना विहितानि दद्यात् प्रत्येकशोऽत्र विहिता प्रथमा तु मात्रा ।
अन्या ततो द्विगुणिता द्विगुणक्रमेण मात्रात्रयं त्रिविधचारुपुटेषु दद्यात्॥६२

भावार्थः—कपोल, गला, कान, ललाटदेश [माथे के अग्रभाग] को [हाथ को तपा कर] स्वेदन करे और मस्तक को इस प्रकार रखें कि मस्तक नीचे की ओर झुका हुआ और नाक के दोनों छेद ऊपर की ओर हो, इस प्रकार रखकर एक २ नाक के छेदों में सुखोष्ण [सुहाता हुआ कुछ गरम] तैल के आठ २ बिन्दु[2] ओं को विधि प्रकार [रुई आदि से लेकर] छोडें । यह सोलह बिन्दु स्नेहन नस्य की प्रथममात्रा है । द्वितीय मात्रा इस से द्विगुण है । तृतीय मात्रा इससे भी द्विगुण है । इस प्रकार तीन प्रकार की तीन मात्राओं को [दोषों के बलाबल को देखते हुए आवश्यकतानुसार] नाक के छेदों में डाले ॥ ६२ ॥ ६१ ॥

---

१. जो अन्न का काल है वही नस्य का काल है ।

२. तर्जनी अंगुली के दो पर्व तक स्नेह में डुबो देवें । उस से जितने स्नेह का मोटा बिंदु गिरे उसे एक बिंदु जानना चाहिये ।

प्रतिमर्शनस्य.

सुस्नेहनार्थमुपदिष्टमिदं हि नस्यं प्रोक्तं तथा प्रततसत्प्रतिमर्शनं च।
तत्र प्रतीतनवकालविशेषणेषु कार्यं यथाविहिततत्प्रतिमर्शनं तु॥ ६३॥

भावार्थः—उपर्युक्त नस्य, स्नेहन करने के लिये कहा गया है। इसी स्नेहन नस्य का एक दूसरा भेद है जिस का नाम प्रतिमर्शनस्य है। इस प्रतिमर्शनस्यप्रयोग के नौ काल हैं। इन्ही नौ कालो में विधि के अनुसार प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करना चाहिये॥ ६३॥

प्रतिमर्शनस्य के नौ काल व उस के फल.

प्रातस्समुत्थितनरेण कृतेऽवमर्शे सम्यग्व्यपोहति निशोपचितं मलं यत्।
नासागताननगतं प्रबलां च निद्रामावासनिर्गमनकालनिषेवितं तु॥ ६४॥
वातातपप्रबलधूमरजोऽतिबाधां नासागतं हरति शीतमिहांबुपानात् (?)।
प्रक्षालितात्मदशनेन नियोजितोऽयं दंतेषु दार्ढ्यमधिकास्यसुगंधिता च॥६५
कुर्याद्रुजामपहरत्यधिकां दिवातिसुप्तोत्थितेन च कृतं प्रतिमर्शनं तु।
निद्रावशेषमथ तच्छिरसो गुरुत्वं संहृत्य दोषमपि तं सुखिनं करोति॥६६॥

भावार्थः—प्रातःकाल में उठते ही इस प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग करें तो रात्रि के समय नासिका व मुख में संचित सर्व मल दूर होते हैं। एवं अत्यधिक प्रबल निद्रा भी दूर हो जाती है। घर से बाहर निकलते समय प्रतिमर्श का सेवन करें तो नाक संबंधी वात, धूप, धूम व धूलि की बाधा दूर होती है। दंतधावन [दंतौन] करने के बाद इस का प्रयोग करे तो दांत मजबूत हो जाती हैं। मुख सुगंधयुक्त होता है एवं [दांत व मुख सम्बंधी] भयंकर पीडायें नाश होती हैं। दिन में सोकर उठनेके बाद इस प्रतिमर्श का प्रयोग करें तो निद्रावशेष, शिरोगुरुत्व एवं अन्य अनेक दोषों को नाश कर उस मनुष्य को सुखी करता है॥ ६४॥ ६५॥ ६६॥

---

१. स्नेहन नस्यका दो भेद है एक मर्श और दूसरा प्रतिमर्श, इसे अवमर्श भी कहते हैं। इस श्लोक के पहिले के श्लोकों में जिस स्नेहन नस्य का वर्णन है वह मर्शनस्य हैं। क्यों कि ग्रंथांतरों में भी ऐसा ही कहा है॥

२. १ प्रातःकाल उठकर, २ घर से बाहर निकलते समय, ३ दंत धावन के बाद ४ दिन में सोकर उठने के पश्चात्, ५ मार्ग चलनेके बाद, ६ मूत्र त्यागने के बाद, ७ वमन के अंत, ८ भोजनांत, ९ सायंकाल, ये प्रतिमर्श के नौ काल हैं।

पंथश्रमाकुलनरेण नियोजितस्तु पंथश्रमं व्यपथ इत्यखिलांगदुःखम् ।
नित्यं सुमूत्रितवताप्यभिषेचितोऽयं सद्यः प्रसादयति नीरदमंगसंस्थम् ॥६७॥

भावार्थः—रास्ता चलकर जो मनुष्य थक गया हो उस के प्रति भी प्रतिमर्श का प्रयोग करें तो संपूर्ण मार्गश्रम दूर होता है एवं शरीर की वेदना दूर होती है । रोज मूत्र त्यागने के बाद इस का प्रयोग करे तो शरीर में स्थित नीरद [मल] को सद्य ही प्रसन्न [दूर] करता है ॥ ६७ ॥

वांते नरेऽपि गललग्नबलासमाशु निश्शेषतो व्यपहरत्यभिषेचितस्तु ।
भक्ताभिकांक्षणमपि प्रकरोति साक्षात्स्रोतोविशुद्धिमिह भुक्तवतान्नमर्शः ॥६८

भावार्थः—वमन कराने के बाद प्रतिमर्श का प्रयोग करे तो वह कंठ में लगे हुए कफ को शीघ्र ही पूर्णरूप से दूर करता है एवं भोजन की इच्छा को भी उत्पन्न करता है । भोजन के अंत में इस नस्य का सेवन करे तो स्रोतों की विशुद्धि होती है ॥ ६८ ॥

प्रतिमर्श का प्रमाण.

सायं निषेवितमिदं सततं नराणां निद्रासुखं निशि करोति सुखप्रबोधम् ।
प्रोक्तं प्रमाणमपि तत्प्रतिमर्शनस्य नासागतस्य च घृतस्य मुखे प्रवेशः ॥६९॥

भावार्थः—सायंकाल में यदि इसका सेवन करें तो उन मनुष्यों को रात्रिभर सुख निद्रा आती है । एवं सुखपूर्वक नींद भी खुलती है । स्नेह [घृत] नाक में डालने पर मुख में आजाय वही प्रतिमर्श नस्य का प्रमाण जानना चाहिये ॥ ६९ ॥

प्रतिमर्श नस्य का गुण.

अस्माद्भवेदिति च सत्प्रतिमर्शनात्तु वक्त्रं सुगंधि निजदंतसुकेशदार्ढ्यं ।
रोगा स्वकर्णनयनाननासिकोत्था नश्युस्तथोर्ध्वगलजत्रुगताश्च सर्वे ॥७०॥

भावार्थः—इस प्रतिमर्शन प्रयोग से मुख में सुगंधि, दंत व केशमें दृढता होती है एवं कर्ण, आंख, मुख, नाक में उत्पन्न तथा गला और जत्रु के ऊपर के प्रदेश में उत्पन्न समस्त रोग दूर होते हैं ॥ ७० ॥

शिरोविरेचन (विरेचन नस्य) का वर्णन.

एवं मया निगदितं प्रतिमर्शनं तं वक्ष्याम्यतः परमरं शिरसो विरेकम् ।
नासागतं वदति नस्यमिति प्रसिद्धम् रूक्षौषधैरपि तथैव शिरोविरेकम् ॥७१॥

भावार्थः—इस प्रकार हमने प्रतिमर्श नस्य का निरूपण किया, अब आगे शिरोविरेचन का प्रतिपादन अच्छीतरह करेंगे। नासागत औषधक्रिया (औषध को नाक के द्वारा प्रवेश करनेवाला क्रियाविशेष) को नस्य कहते हैं यह लोक में प्रसिद्ध है। शिरोविरेचन नस्य का प्रयोग रूक्ष औषधियों द्वारा भी होता है ॥ ७१ ॥

शिरोविरेचन द्रव की मात्रा.

वैरेचनद्रवकृतं परिमाणमेतत् संयोजयेद्धि चतुरश्चतुरश्च बिंदून्।
एवं कृता भवति समथमा तु मात्रा मात्रा ततो द्विगुणितद्विगुणक्रमेण॥७२॥

भावार्थः—शिरोविरेचन द्रव को एक २ नाक के छेदों में चार २ बिंदु डालना चाहिये। यह विरेचन द्रव की पहिली [अत्यंत लघु] मात्रा है। इस मात्रा से द्विगुण मध्यम मात्रा, इस से भी द्विगुण उत्तममात्रा है। इस प्रकार शिरोविरेचन के द्रव का प्रमाण जानना ॥ ७२ ॥

मात्रा के विषय में विशेष कथन.

तिस्रो भवंति नियतास्त्रिपुटेषु मात्रा।
उत्क्लेदशोधनसुसंशमनेषु योज्याः[2] ॥
दोषोच्छ्रयेण विदधीत भिषक् च मात्रां।
मात्रा भवेदिह यतः खलु दोषशुद्धिः ॥ ७३ ॥

भावार्थः—उत्क्लेद, शोधन, संशमन इन तीन प्रकार के कार्यों में तीन प्रकार की नियतमात्रा होती है। इन को उत्क्लेदनादि कर्मों में प्रयोग करना चाहिये। दोषों के

---

१ इस शिरोविरेचन द्रव के प्रमाण में कई मत है। कोई तो जघन्य मात्रा चार बिन्दु मध्यम मात्रा छह बिन्दु, व उत्तम मात्रा आठ बिंदु ऐसा कहते हैं। और कई तो जघन्य चार बिन्दु और आगे मध्यम उत्तम मात्रा जघन्य से द्विगुण २ त्रिगुण २ चतुर्गुण भी कहते हैं। इस लिये इस का मुख्य तात्पर्य इतना ही है कि जघन्य मात्रा से आगे के मात्राओं को दोषबल पुरुषबल आदि को देखते हुए कल्पना कर लेनी चाहिये। जघन्य मात्रा ४ बिन्दु है यह सर्वसम्मत है। इस विषय में अन्य ग्रंथ में इस प्रकार कहा है।

चतुरश्चतुरो विन्दूनेकैकस्मिन् समाचरेत्।
एषा लघ्वी मता मात्रा तथा शीघ्रं विरेचयेत् ॥
अध्यर्धां द्विगुणां वाऽपि त्रिगुणां वा चतुर्गुणां।
यथाव्याधि विदित्वा तु मात्रां समवचारयेत् ॥

२ करोति इति पाठांतरं.

उद्रेक के अनुसार, भिषक् मात्रा की कल्पना करें। क्यों कि मात्रा ही दोष शुद्धिकारक होती है अर्थात् औषधिको योग्य प्रमाण में प्रयोग करने पर ही बराबर दोषों की शुद्धि होती है अन्यथा नहीं ॥ ७३ ॥

शिरोविरेचन के सम्यग्योग का लक्षण.

श्रोत्रौ गलोष्ठनयनाननतालुनासा-।
शुद्धिर्विशुद्धिरपि तद्बलवत्कफस्य।
सम्यकृते शिरसि चापि विरेचनेऽस्मिन्।
योगस्य योगविधितत्प्रतिषेधविद्भिः ॥ ७४ ॥

भावार्थः—शिरोविरेचन के प्रयोग करने पर यदि अच्छी तरह विरेचन हो जावे अर्थात् सम्यग्योग हो जावें तो, कर्ण, गला, ओठ, आंख, मुंह, तालु, नाक, इन की और प्रबल कफ की अच्छी तरह विशुद्धि हो जाती है। इस प्रकार, शिरोविरेचन के योगातियोग आदि को जाननेवाले विद्वान् वैद्य सम्यग्योग का प्रयोग करें ॥ ७४ ॥

प्रधमन नस्य का यंत्र.

छागस्तनद्वयनिभायतनास्य नाडी।
युग्मान्विताङ्गुलचतुष्कमितां च धूम-।
साम्याकृतिं विधिवरं सुषिरद्वयात्तं।
यंत्रं विधाय विधिवद्धरपीननस्यः (?) ॥ ७५ ॥

भावार्थः—बकरी के दोनों स्तनों के सदृश आकारवाली दो नाडीयों से युक्त, चार अंगुल लम्बा, धूमनलिका के समान आकारवाला दोनों तरफ छेद से युक्त ऐसा एक यंत्र तयार करके उस के द्वारा प्रधमन[1] नस्य का प्रयोग करना चाहिये ॥ ७५ ॥

योगातियोगादि विचार.

योगत्रयं विधिवदत्र यथैव धूमे।
प्रोक्तं तथैव रसनस्य विधौ च सर्वं।
धूमातियोगदुरुपद्रवसच्चिकित्सां।
नस्यातियोगविषयेऽपि च तां प्रकुर्यात् ॥ ७६ ॥

---

१ अवपीडन और प्रधमन, नस्य ये विरेचन नस्य के ही भेद हैं। शिरोविरेचक औषधियों के रस निकाल कर नाक में छोडना यह अवपीडन नस्य है। और इन्हीं औषधियोंके चूर्ण को फूंक के द्वारा नाक में प्रवेश कराना इसे प्रधमन कहते हैं ॥

भावार्थः—धूम प्रयोग में सम्यग्योग, हीनयोग व अतियोग के जो लक्षण कहे गये हैं वही लक्षण विरेचनरस व नस्य के सम्यग्योग, हीनयोग, अतियोग के भी जानना। धूम के अतियोग से उत्पन्न उपद्रवों की जो चिकित्सा बतलाई गई है उसे नस्य के अतियोग में भी उपयोग करना चाहिये ॥ ७६ ॥

व्रणशोथ वर्णन.

एवं नस्यविधिर्विशेषविहितः सर्वामयेष्वौषधा—।
न्यप्यामेति विदग्धसाधुपरिपक्वक्रमाद्योजयेत् ॥
इत्यत्युत्तमसंहिताविनिहिता तत्रापि शोफक्रिया—।
मुक्तामत्र सविस्तरेण कथयाम्यल्पाक्षरैर्लक्षिताम् ॥ ७७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार नस्यविधि को विस्तार के साथ निरूपण किया। समस्त रोगों में औषधियोंका प्रयोग, रोग की आम पक्व विदग्ध अवस्थाओं के अनुसार करना चाहिये। ऐसा अत्युत्तम आयुर्वेदसंहिता में कहा है। अब आयुर्वेदसंहिता में जिस के सम्बंध में विस्तार के साथ कथन किया गया है ऐसे शोफ व उस की चिकित्साविधि का यहां थोडे अक्षरो में अर्थात् संक्षेप में कथन करेंगे ॥ ७७ ॥

व्रणशोथ का स्वरूप व भेद.

ये चानेकविधामया स्युरधिकं शोफाकृतिर्व्यंजना—।
स्तेभ्यो भिन्नविशेषलक्षणयुतस्त्वङ्मांससंबंधजः ॥
शोफस्स्याद्विषमः समः पृथुतरो वाल्पः ससंघातवान् ।
वाताद्यैः रुधिरेण चापि निखिलैरागंतुकेनापदा ॥ ७८ ॥

भावार्थः—नाना प्रकार के ग्रंथि, विद्रधि आदि रोग जो शोथ के आकृति के होते हैं उन से भिन्न और विशिष्ट लक्षणों से संयुक्त त्वचा, मांस के सम्बंध से उत्पन्न एक शोफ (शोथ=सूजन) नामक रोग है जो विषम सम, बडा, छोटा, व संघातस्वरूप वाला है। इस की उत्पत्ति वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त एवं अगंतुक कारण से होती है (इस लिये इस के भेद भी छह हैं) ॥ ७८ ॥

शोथों के लक्षण.

तेभ्यो दोषविशेषलक्षणगुणादोषोद्भवा शोफकाः ।
पित्तोद्भूतवदत्र रक्तजनितः शोफातिकृष्णस्तथा ॥

रक्तातिपित्तसमुद्भवोपमगुणोप्यागंतुजो लोहित–।
स्तेषामामविदग्धपक्वविलसत् सल्लक्षणं वक्ष्यते ॥ ७९ ॥

भावार्थः—वात, पित्त व कफ से उत्पन्न होने वाले शोथो में वातादि दोषों के ही लक्षण व गुण प्रकट होते हैं या पाये जाते हैं एवं सन्निपातज शोथ में तीनों दोषों के लक्षण प्रकट होते हैं। रक्तजन्य शोथ में पित्तज शोथ के समान लक्षण प्रकट होते हैं और वह अत्यंत काला होता है । आगंतुज शोथ में पित्त व रक्तज शोथ के समान लक्षण होते हैं, वह लाल होता है। अब आगे इन शोथों के आम, विदग्ध व पक्व अवस्था के लक्षणों को कहेंगे ॥ ७९ ॥

शोथ की आमावस्था के लक्षण.

दोषाणां प्रबलात्प्रति प्रतिदिनं दुर्योगयोगात्स्वयं ।
बाह्याभ्यंतरसत्क्रियाविरहितत्वाद्वा प्रशांतिं गतः ॥
योऽसौ स्यात्कठिनोऽल्परुक् स्थिरतरस्त्वक्साम्यवर्णान्वितो ।
मंदोष्माल्पतरोऽतिशीतनितरामामाख्यशोफस्स्मृतः ॥ ८० ॥

भावार्थः—व्रणशोथ में वातादि दोषों के प्राबल्य अत्यधिक [शोथ में कुपित दोषों का प्रभाव ज्यादा] हो, शोथ की शांति के लिये प्रयुक्त योग [चिकित्सा] की विपरीतता हो अर्थात् सम्यग्योग न हो, या उस के शमनार्थ बाह्य व आभ्यंतर किसी प्रकार की चिकित्सा नहीं की गयी हो तो वह शोथ शमन न हो कर पाकाभिमुख [पकने लगता है] होता है। [ऐसे शोथ की आमावस्था, विदग्धावस्था, पक्वावस्था इस प्रकार तीन अवस्थायें होती हैं उन में आमशोथ का लक्षण निम्न लिखित प्रकार है]। जो शोथ, कठिन, अल्पपीडायुक्त, स्थिर (जैसे के तैसा) त्वचा (स्वस्थत्वचा) के समान वर्ण से युक्त [उस का रंग नहीं बदला हो] एवं कम गरम हो, तथा शोथ थोडा हो, और शीत हो तो समझना चाहिये कि यह आमशोथ है अर्थात् ये आम शोथ के लक्षण हैं ॥ ८० ॥

विदग्धशोथ लक्षण.

यश्चानेकविधोऽतिरुग्बहुतरोष्मात्याकुलः सत्वरो ।
यश्च स्यादधिको विवर्णविकटः[1] प्राध्मातबस्तिस्समः ॥

१ अधिकोऽपि इति पाठांतरं

स्थाने चंक्रमणासने च शयने दुःखप्रदो वृश्चिका-।
विद्धस्येव भवेत्तृषात्यरुचिकृच्छ्राभो विदग्धः स्मृतः ॥८१॥

भावार्थः—जिस में अनेक प्रकार की अत्यधिक पीडा होती हो, जो बहुत ही उष्णतासे आकुलित हो, बहुत ही विवर्ण हो गया हो, फूले हुए बस्ति (मशक) के समान तना हुआ हो, खडे रहने में, चलने फिरने में, बैठने में, सोने में दुःख देता हो, जिस में बिच्छू काटे हुए के समान वेदना होती हो, जिस के होते हुए तृषा व अरुचि अधिक होती हो, और भयंकर हो तो उसे विदग्ध शोथ समझना चाहिये अर्थात् ये विदग्धशोथ के लक्षण हैं ॥ ८१ ॥

पक्वशोथ लक्षण.

यत्र स्यादुपशांतरुङ्मृदुतरो निर्लोहितोऽल्पस्स्वयं।
कण्डूत्वक्परिपोटतोदवलिनिम्नाद्यैः सतां लक्षितः ॥
अंगुल्याः परिपीडिते च लुलितं भूयो धृतौ वारिव-।
द्यः शीतो निरुपद्रवो रुचिकरः पक्वः स शोफः स्मृतः ॥८२॥

भावार्थः—जिस में पीडा की शांति होगई है, मृदु है, लाल नहीं है, (सफेद है) सूजन कम होगया है, खुजली चलती है, त्वचा कटने लगती है, सूई चुभने जैसी पीडा होती है, वली पडती है, (तनाव का नाश होता है) देखने में गहरी मालूम होती है, अंगुली से दबानेपर जल से भरे हुए मशक के समान अंदर पीप इधर उधर जाती है, छूने में शीत है, उपद्रवों से रहित है, जिस के होते हुए अन्न में रुचि उत्पन्न होती है [अरुचि नष्ट होती है] उसे पक्व शोथ समझना चाहिये ॥ ८२ ॥

कफजन्यशोथ के विशिष्टपक्वलक्षण.

गंभीरानुगते बलासजनिते रोगे सुपक्वे क्वचि-।
न्मुह्यत्पक्वसमस्तलक्षणमदृष्ट्वाऽपक्व एवेत्यलम् ॥
वैद्यो यत्र पुनश्च शीतलतरस्त्वक्साम्यवर्णान्वितः।
शोफस्तत्र विनीय मोहमखिलं हित्वाशु संशोधयेत् ॥ ८३ ॥

भावार्थः—गम्भीर [गहरी] गतिवाला कफजन्य शोथ अच्छी तरह पक जाने पर भी, सम्पूर्ण पक्व लक्षण न दिखने के कारण, कहीं २ उसे अपक्व समझकर वैद्य मोह को प्राप्त होता है। अर्थात् विदारण कर शोधन नहीं करता है। इसलिये ऐसे

शोथ में, शीतलस्पर्श व स्वस्थ त्वचा के समान वर्ण देख कर अपने सम्पूर्ण अज्ञान को त्याग कर शीघ्र ही उसे शोधन करना चाहिये ॥ ८३ ॥

शोथोपशमनविधि.

आमं दोषविशेषभेषजगणालेपैः प्रशांति नये- ।
द्दुष्टैः पाचनकैर्विदग्धमधिकं संपाचयेद्बंधनैः ॥
पक्कं पीडनकैस्सुपीडितमलं संभिद्य संशोधये- ।
द्बध्वा बंधनमप्यतीव शिथिलो गाढस्समश्चोच्यते ॥ ८४ ॥

भावार्थः—आम शोथ को दोषों को प्रशमन करने वाले औषधियों से लेपन कर उपशांत करना चाहिये । विदग्ध शोथ को क्रूर पाचन औषधियों के पुल्टिश बांध कर पकाना चाहिये । पक्व शोथ को पीडन औषधियों द्वारा पीडित कर और भेदन [भिद] कर एकदम् ढीला, कस के या मध्यम (न ज्यादा ढीला न अधिक कस के) रीति से,[जिस की जहां जरूरत हो] बंधन [पट्टी] बांधकर संशोधन करना चाहिये । इन शिथिल आदि बंधन विधानों को अब कहेंगे ॥ ८४ ॥

बंधनविधि.

संधिष्वक्षिषु बंधनं शिथिलमित्युक्तं समं चानने ।
शाखाकर्णगले समेढ्रवृषणे पृष्ठोरुपार्श्वोरसि ॥
गाढं स्फिक्छिरसोरुवंक्षजघने कुक्षौ सकक्षे तथा ।
योज्यं भेषजकर्मनिर्मितभिषग् भैषज्यविद्याविदन् ॥८५॥

भावार्थः—शरीर के संधिस्थानों में, नेत्रों में सदा शिथिल बंधन ही बांधना चाहिये । मुख, हाथ, पैर, कान, गला, शिश्नेंद्रिय, अंडकोष, पीठ, दोनों पार्श्व[फसली] और छाती इन स्थानों में समबंधन [मध्यम रीति से] करना चाहिये । चूतड, शिर, राङ् जघन स्थान, कुक्षि [कूख] कक्ष इन स्थानों में गाढ [कस के] बंधन करना चाहिये । भेषज कर्म में निपुण वैद्य, भैषज्य विद्या को जानते हुए अर्थात् ध्यान में रख कर उपरोक्त प्रकार बंधनक्रिया करें ॥ ८५ ॥

अज्ञवैद्यनिंदा.

यश्चात्माज्ञतयाममाशु विदधात्यत्यंतपक्वोयमि- ।
त्यज्ञानादतिपक्वमाममिति यश्चोपेक्षते लक्षणैः ॥
तौ चाज्ञानपुरस्सरौ परिहरेद्विद्वान्महापातकौ ।
यो जानाति विदग्धपक्वविधिवत्सोऽयं भिषग्वल्लभः ॥ ८६ ॥

भावार्थः—जो अपनी अज्ञनता से, आम [कच्चा] शोथ [फोडे] को अत्यंत पक्व समझकर चीर देता है अथवा जो अत्यंत पक्व शोथ को अपक्व [आम] समझ कर उपेक्षा कर देता है, ऐसे दोनों प्रकार के वैद्य अज्ञानी हैं और महापापी हैं। ऐसे वैद्यों को विद्वान् रोगी छोड देवें अर्थात् उन से अपनी इलाज न करावें। जो शोथ के आम, विदग्ध, पक्व, अवस्थाओंको अच्छी तरह जानता है वही वैद्यों के स्वामी या वैद्यों में श्रेष्ठ है ॥ ८६ ॥

एवं कर्मचतुष्टयप्रतिविधिं सम्यग्विधायाधुना।
सर्वेषामतिदुःखकारणजरारोगप्रशांतिप्रदैः ॥
केशान्काशशशांकशंखसदृशान्नीलालिमालोपमा-।
न्कर्तुं सत्प्रतमोरुभेषजगणैरालक्ष्यते सत्क्रिया ॥ ८७ ॥

भावार्थः—इस तरह चार प्रकार के कर्म व उन के [अतियोगादि होने पर उत्पन्न आपत्तियों के] प्रतिविधान [चिकित्सा] को अच्छी तरह वर्णन करके अब काशतृण, चंद्र, व शंख के सदृश रहने वाले सफेद केशों (बालों) को, नील, अलिमाला [भ्रमरपंक्ति] के सदृश काले कर ने के लिये श्रेष्ठ चिकित्सा का, सर्व प्राणियों को दुःख देने वाले जरा [बुढापा] रोग को उपशमन करनेवाले, सत्यभूत [अन्वर्थ] औषधियों के कथन के साथ २ निरूपण करेंगे ॥ ८७ ॥

पलितनाशक लेप.

आम्रास्थ्यंतरसारचूर्णसदृशं लोहस्य चूर्णं तयो-
स्तुल्यं स्यात्त्रिफलाविचूर्णमतुलं नीलांजनस्यापि च ॥
एतच्चूर्णं चतुष्टयं त्रिफलया पक्वोदकैः षड्गुणै-।
स्तैलेन द्विगुणेन मर्दितमिदं लोहस्य पात्रे स्थितम् ॥ ८८ ॥
धान्ये मासचतुष्टयं सुविहिते चोध्दृत्य तत्पूजयि-।
त्वालिम्पेत्त्रिफलांबुधौतसितसत्केशांच्छशांकोपमान् ॥
तत्कुर्यात्क्षणतोऽभ्रवभ्द्रमरसंकाशानशेषान्मुखे।
विन्यस्यामललोहकांतकृतसद्वृत्तं तु संधारयेत् ॥ ८९ ॥

भावार्थः—आम की गुठली के भिंगी का चूर्ण व लोहे के चूर्ण को समभाग लेवें। इन दोनों के बराबर त्रिफलाचूर्ण और नीलांजन [तूतिया या सुर्मा] चूर्ण लेवें। इन चारों चूर्णों को (सर्व चूर्ण के साथ) एकत्र कर इस में छह गुना त्रिफले के काढा और दुगना

तिल का तेल मिलाकर अच्छी तरह मर्दन [घोट] कर लोहे के पात्र में भर दे और उसे धान्य की राशी में चार महीने तक रखें अर्थात् गाढ दें। पश्चात् उसे निकाल कर भगवान् की भक्ति भाव से पूजा कर के बालों पर लेप करें एवं बादमें त्रिफला के काढे से धो डाले। वे चंद्रके समान रहनेवाले सफेद बाल भी क्षणमात्र से ही मेघ [बादल] व भ्रमर के समान काले हो जाते हैं। इसी योग को शुद्धकांतलोह के भस्म के साथ तैयार कर के खावे और साथ सदाचरण का पालन करें ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

केशकृष्णीकरणपर लेप.

मृद्वस्थीनि फलानि चूततरुसंभूतानि संगृह्य सं ।
चूर्ण्यायस्कृतकोलजैः पलशतं तैलाढके न्यस्य तै- ॥
स्त्रैव त्रिफलाकषायमपि च द्रोणं घटे संस्कृते ।
षण्मासं वरधान्यकूपनिहितं चोक्तक्रमाल्लेपयेत् ॥९०॥

भावार्थः—मृदुगुठलियों से युक्त आम के फल, (कच्चा आम–क्यारी) लोह चूर्ण, बेर, इन को समभाग लेकर चूर्ण करें। इस प्रकार तैयार किये हुए सौ पल चूर्ण को, एक आढक तिल के तैल व एक द्रोण त्रिफला के काढे में अच्छी तरह से मिला कर एक [घी व तेल से] संस्कृत [मिट्टी के) घडे में भरे और इस घडे को छह महीने तक धान्य राशि में गाढ दें। उसे छह महीने के बाद निकाल कर पूर्वोक्त क्रम से लेप करे तो सफेद बाल काले हो जाते हैं ॥९०॥

केशकृष्णीकरण तृतीय विधि.

भृंगायस्त्रिफलाशनैः कृतमिदं चूर्णं हितं लोहित- ।
एवं च त्रिफलांभसा त्रिगुणितेनालोड्य संस्थापितम् ॥
प्रातस्तज्जलनस्यपानविधिना संमर्द्य संलेपनैः ।
केशाः काशसमा भ्रमद्भ्रमरसंकाशा भवेयुः क्षणात् ॥ ९१ ॥

भावार्थः— भांगरा, लोहचूर्ण, त्रिफला, इन को समभाग लेकर चूर्ण करे और इसे तिगुना त्रिफला के कषाय में घोल कर (घडे में भर कर धान्य राशि में] रखें, इस प्रकार साधित औषधि के द्रव का प्रातःकाल उठ कर नस्य लेवे, पीवे, केशों पर मर्दन व लेप करे तो, काश के समान रहनेवाले सफेद बाल क्षणकाल में भौरों के समान काले हो जाते हैं ॥ ९१ ॥

---

१ रात्रि के समय लेप करे व सुबह धो डाले। २ कोल्यां इति पाठांतरं.

केशकृष्णीकरण तैल.

पिण्डीतत्रिफलामृतांबुरुहसक्षीरद्रुमत्वङ्महा- ।
नीलीनीलसरोजरक्तकुमुदांघ्रिकाथसंसिद्धके ॥
तैले लोहरजस्सयष्टिमधुकं नीलांजनं चूर्णितं ।
दत्वा खल्वतले प्रमर्दितमिदं केशैककार्ष्ण्यावहम् ॥ ९२ ॥

भावार्थ—मैनफल, त्रिफला, गिलोय, कमल, क्षीरवृक्षों की छाल, महानील नीलकमल व रक्तकमल के जड, इन से सिद्ध तैल में लोहचूर्ण को मिला कर खरल में डाल कर खूब घोंटे। फिर उसे पूर्वोक्त विधि प्रकार उपयोग में लावें तो केश अत्यंत काले होते हैं ॥ ९२ ॥

कल्कं सत्रिफलाकृतं प्रथमतस्संलिप्य केशान् सितान् ।
धौतांस्तत्रिफलांबुना पुनरपि प्रम्रक्षयेत्क्षौद्रस- ॥
म्यूतैस्तंदुलजै मुकुंदकयुतैस्तत्तण्डुलाम्बुद्रवैः।
पिष्टैर्लोहरजस्समैरसितसत्केशा भवंति स्फुटम् ॥ ९३ ॥

भावार्थः—सफेद बालों पर पहिले त्रिफला के कल्क को लेप कर के त्रिफला के काढे से धो डाले। पश्चात् लोहचूर्ण को इस के बराबर, चम्पा, वायविडंग कुंदुरु इन के रस व चावल के धोवन से अच्छीतरह पीस कर बालों पर लगाने से सफेद बाल काले हो जाते हैं ॥ ९३ ॥

केश कृष्णीकरण हरीतक्यादि लेप.

तैलाभ्यष्टहरीतकी समधृतं कांसस्य चूर्णं स्वयं ।
भृष्टं लोहरजस्तयो समधृतं नीलांजनं तत्समम् ॥
भृंगी सन्मदयंतिकासहभवासैरीयनीलीनिशा- ।
कल्कैस्तत्सदृशैस्सुमर्दितमिदं तैलेन खल्वोपले ॥ ९४ ॥
लोहे पात्रवरे घने सुनिहितं धान्यौरुकूपस्थितम् ।
षण्मासं ह्यथवा त्रिमासमपि तन्मासद्वयं मासकम् ॥
एकं तच्च समुध्दृतं समुचितैस्सत्पूजनैः पूजितं ।
लिम्पेत्सांप्रतमेतदंजननिभान् केशान् प्रकुर्यात्सितान् ॥ ९५ ॥

१ अथवा अग्निक्वाथ इस शब्द का अर्थ चतुर्थांशक्वाथ भी हो सकता है। २ लिप्त्वा इति पाठांतरं.

भावार्थः—तैल से भूना हुआ हरड, और कांस के चूर्ण ये दोनों समभाग, इन दोनों के बराबर लोहचूर्ण, इतना ही नीलांजन [तूतिया] इन सब को एकमेक कर मिलावें। भांगरा, मल्लिका [मोतिया] सहचर [पीली कटसरैया] कटसरैया, नील, हलदी इन के कल्क को उपरोक्त चूर्ण के बराबर लेकर उस में मिलावे। पश्चात् इस में तैल मिलाकर खरल में अच्छीतरह मर्दन करे एवं उसे अच्छे (मजबूत) लोहे के बरतन में डालकर छह महीना, तीन महीना, या एक महीना पर्यंत धान्यराशि में रखें। फिर उसे निकाल कर उचित पूजा विधि व द्रव्य से पूजन कर के सफेद बालोंपर लेपन करे तो तत्काल ही केश कज्जल के समान काले होते हैं ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

केशकृष्णीकरण श्यामादितैल.

श्यामासैरेयकाणां सहचरियुतसत्कृष्णपिण्डीतकानाम् ।
पुष्पाण्यत्रापि पत्राण्यधिकतरमहानीलिकानीलिकानाम् ॥
तन्वीं चाम्राजुर्नानां निचुलवदरसत्क्षीरिणां च द्रुमाणां ।
संशोष्याचूर्ण्य चूर्णं समधृतमखिलं लोहचूर्णेन सार्धम् ॥ ९६ ॥
प्रोक्तैश्चूर्णैस्समानं सरसिजवरसत्स्थानपंकं समस्तं ।
नीलीभृंगासमानां स्वरसविलुलितं त्रैफलेनाम्भसा च ॥
लोहे कुंभे निधाय स्थितमथ दशरात्रं ततस्तैः कषायैः ।
कल्कैस्तावद्विपच्यं तिलजमलिनिभा यावदा श्वेतकेशाः ॥ ९७ ॥
एतत्तैलं यथावन्निहितमतिघने लोहकुंभे तु मासं ।
तांलिंपेच्छुक्लकेशानलिकुलविलसन्नीलनीलांजनाभान् ॥
कुर्यात्सद्यस्समस्तान् अतिललितलसल्लोहकांतोरुवृंतान् ।
वक्त्रे विन्यस्य यत्नादधिकतरमरं रंजयेच्चत्कपालम् ॥ ९८ ॥

भावार्थः—फूल प्रियंगू [?] कटसैरया पीली कटसरैया, काला मेनफल, इन के फूल, महानील और नील के पत्र, शालपर्णी, आमकी गुठली की मिंगी, अर्जुन की छाल, समुद्रफल, बेर, क्षीरी वृक्षों की छाल, और लोह चूर्ण इन सब को समभाग लेकर चूर्ण करे। इन सब चूर्णों के बराबर कमल स्थान [जहां कमल रहता है उस स्थान] के कीचड को लेकर (उस में) मिलावे। और इसे, नील व भांगरा इन दोनों के समभाग स्वरस, व त्रिफला के क्वाथ [काढा] से मर्दन कर एकमेक करके लोहे के घडे में भरकर [मुंह बंद कर के] दस रात रखें। इस प्रकार तैयार किया हुआ

[इस] कल्क व नीली, भांगरा, त्रिफला इन के क्वाथ से तिल के तैल को तब तक पकावें जब तक उस तैल के लगाने से सफेद बाल काले न हों। इस प्रकार साधित तैल को एक मजबूत लोहे के घडे में भर कर एक महिने तक रखें पश्चात् उसे निकाल कर सफेद बालों पर लगावे और यत्नपूर्वक इस का नस्य लेवे तो संपूर्ण बाल भ्रमरपंक्ति व नीलांजन के सदृश काले हो जाते हैं और उन के जड मनोहर चुंबक लोह के समान मजबूत हो जाते हैं। जिस के वजह से कपाल भी रंजायमान होता है॥९६॥९७॥९८॥

नीलीभृंगरसं फलत्रयरसं प्रत्येकमेकं तथा ।
तैलं प्रस्थमितं प्रगृह्य निखिलं संलोड्य संस्थापितम् ॥
सारस्यासनवृक्षजस्य शकलीभूतस्य शूर्पं घटे ।
भल्लातक्रियया ह्यधो निपातितं दग्ध्वा हरेदासवम् ॥ ९९ ॥
ताम्रायोंऽजनघोषचूर्णमखिलं प्रस्थं प्रगृह्यायसे ।
पात्रे न्यस्य तथा समेन सहसा सम्मर्दयेन्निर्द्रवम् ॥
तं तैः प्रोक्तरसैः पुनस्समभितैः अग्नौ मृदौ पाचितं ।
धान्ये मासचतुष्टयं सुनिहितं चोध्दृत्य संपूजयेत् ॥ १०० ॥
केशान्काशसमान्फलत्रयलसत्कल्केन लिप्तान्पुनः ।
धौतांस्तत्त्रिफलोदकेन सहसा संमृक्षयेदौषधम् ॥
वक्त्रे न्यस्य सुकांतवृत्तमसकृत्संचारयेत्संततं ।
साक्षादंजनपुंजमेचकनिभः संजायते मूर्धजः ॥ १०१ ॥

भावार्थः—नील, भांगरे के रस, त्रिफला के क्वाथ (काढा) ये प्रत्येक एक २ प्रस्थ (६४ तोले) और तिल का तैल एक प्रस्थ लेकर सब मिलाकर रखें। विजयसार वृक्ष के सार (वृक्ष के बाहर की छाल को छोडकर अंदर का जो मजबूत भाग होता है वह) के टुकडों को दो द्रोण प्रमाण लेकर, घडे में भरे और भिलावे के तैल निकालने की विधि से, अग्निसे जलाकर अधःपातन करके उस का आसव निकाले। फिर, ताम्र, लोह, नीलांजन, [सुरमा] कांसा, इन के (समभाग विभक्त) एक प्रस्थ चूर्ण को लोह के पात्र में डालकर द्रव पदार्थ के विना ही अच्छीतरह घोटना चाहिये। घोटने

१ तैल पकाते समय उस तैलको हाथमें लेकर सफेद बाल या बगलेके पंखा ले उसपर लगाकर देखें। यदि वह काला न हुआ तो फिर उक्त क्वाथ व कल्क डाल कर पकावें। इस प्रकार जब तक बाल काला न हो तब तक बार २ क्वाथ कल्क डाल कर पकाना चाहिये।

२ दो चरणोंका अर्थ ठीक लगता नहीं।

के बाद इसे उपर्युक्त रसों के साथ जो उस के बराबर हो मृदु अग्नि में पका कर धान्य राशि में चार महिने तक रखें। पश्चात् उसे निकाल कर पूजन करें। अनंतर काश के समान सफेद बालों पर त्रिफला के वल्क लेपन कर त्रिफला के काढे से ही धोडालें। बाद उपर्युक्त औषधि को शीघ्र ही केशों पर लगावें। जिस से केश कज्जल की राशि के समान काले व चमकीले हो जाते हैं ॥ ९९ ॥ १०० ॥ १०१ ॥

महा अक्ष तैल

काश्मर्या बीजपूरमकटतरकपित्थाम्रजंबूद्रुमाणां ।
शैलेयस्यापि पुष्पाण्यमृतहटमहानीलिकामोदयंती ॥
नीलीपत्राणि नीलांजनतुवरककासीसपिण्डीतबीजम् ।
वर्षाभूसारिवा याऽसिततिलयुतयष्ट्याह्वका काणकाली ॥१०२॥
पद्मं नीलोत्पलाख्यं मुकुलकुवलयं तत्र संभूतपंकं ।
वर्षांशं कल्कितान्तानसनखदिरसारोदकैस्त्रैफलैश्च ॥
एतत्सर्वं दशाहं निहितमिहमहालोहकुंभे ततस्तैः ।
कल्कैः प्रोक्तैः कषायैर्दशभिरतितरां चाढकस्तैलम् ॥ १०३ ॥
स्यादत्रैवाढकं तन्मृदुपचनविधौ लोहपात्रे विपक्वं ।
तत्तैलं भेषजैराढतरविलसल्लोहपात्रे न्यसेद्वा ।
तैलेनैतेन यत्नान्नियतपरिजनः शुद्धदेहो निवाते ॥
गेहे स्थित्वा तु नस्यं वलिपलितजराक्रांतदेहं प्रकुर्यात् ॥१०४॥
कृत्वा तैलवरेण नस्यमसकृन्मासं यथोक्तं बुधैः ।
मर्त्यः स्यात्कमलाननः प्रियतमो वृद्धोऽपि सद्यौवनः ॥
तेनेदं महदक्षतैलममलं दद्यात् प्रियेभ्यो जने- ।
भ्यःसंपत्तिसुखावहं शुभकरं तत्कर्तुरर्थागमम् ॥ १०५ ॥

भवार्थः—कम्भारी बीजौरा निंबू, कैथ, आम, जामुन, शैलेय [भूरि छरीला-गंधद्रव्यविशेष] इन के फूल, गिलोय, हट [शिवार] महानील, वनमल्लिका, नीलके पत्ते, नीलांजन [तूतिया या सुरमा] तुवरक, कसीस, मेनफलका बीज, पुनर्नवा, सारिवा, कालेतिल, मुलैठी, काणकाली, सफेद कमल, नीलकमल, मोलसिरी, लालकमल, और कमल रहने के स्थान की कीचड, इन सब को एक २ तोला लेकर उस में विजयसार, खैर का सार भाग, त्रिफला इन के क्वाथ मिलाकर कल्क तैयार करें और उसे एक लोहे के घडे

में डालकर दस दिन तक रखें। पश्चात् इस उपरोक्त कल्क व उपर्युक्त (विजयसार कत्था त्रिफला के) क्वाथ व पानी से, एक आढक बहेडे के तैल को मृदु अग्नि के द्वारा पकाकर सिद्ध होने पर एक मजबूत लोहके पात्र [घडा] में रखें। बाद जिस के शरीर पलित [सफेद बाल से युक्त] झुर्री, व बुढापेसे आक्रांत है ऐसे मनुष्यके [शरीर] को वमन विरेचनादिक से शुद्धकर, उसको नियत बंधुओं के साथ, हवारहित मकान में प्रवेश कराकर इस तैल से बहुत यत्न के साथ नस्य देना चाहिये। इस नस्यप्रयोग को बार २ एक मासतक करने पर नासिकागत समस्त रोग दूर होते हैं और उस मनुष्य का मुख कमल के समान सुंदर बनजाता है। वह सब को प्रिय लगने लगता है इतना ही नहीं वह वृद्ध भी जवान के समान हो जाता है। इसलिये यह संपत्तिक सुखदायक शुभकर, व निर्मल है और इसे तैयार करनेवाले को अर्थ [द्रव्य] की प्राप्ति होती है। इस महान् अक्षतैल को [तैयार कर] अपने प्रियजनों को देना चाहिये ॥ १०२॥१०३ १०४।१०५ ॥

वयस्तम्भक नस्य.

शिरीषकोरण्टकभृंगनीलीरसैः पुटं त्रिस्त्रिरनुक्रमेण ।
सदक्षशुभ्रत्तिलकंगुकारिण्यमूनि बीजान्यथ भावयित्वा ॥१०६॥
पृथग्रजोभावममूनि नीत्वा विपक्वतोयेन ततो समेन ।
विमर्द्य लब्धं तु सुतैलमेषां सदा वयस्तंभमपीह नस्यम् ॥१०७॥

भावार्थः—बहेडा, सफेद तिल, कंगुका (फूल प्रियंगु) अरि (खदिर भेद) इन के बीजों को अलग २, सिरस के छाल, कोरंट, भांगरा व नील के रस से क्रमशः तीन २ भावना देनी चाहिये। पश्चात् उस भावित बीजों के चूर्णों को समभाग लेकर उबले हुए पानी के साथ मर्दन करके उस से तैल निकाल लेवें। इन तैलों के नस्य लेने से मनुष्य सदा जैसे के तैसे जवान बना रहता है ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

उपसंहार

इत्येवं कृतसूत्रमार्गविधिना कृष्णप्रयोगो मया ।
सिद्धो सिद्धजनोपदिष्टविषयः सिद्धांतसंतानतः ॥
तान्योगान्परिपाल्य साधुगुणसंपन्नाय मित्राय सं- ।
दद्याद्यौवनकारणान्करुणया वक्षाम्यतोऽर्थावहम् ॥ १०८ ॥

भावार्थः—इस प्रकार सिद्धजनों (पूज्य आचार्य आदि मुनिगण) के द्वारा उपदिष्ट स्वानुभवसिद्ध या अवश्य फलदायक केशों को काले करनेवाले प्रयोगों को

सिद्धांत परम्परा से लेकर आगमोक्त विधि के साथ हमने प्रतिपादन किया। यौवन के कारणभूत उन प्रयोगों को अच्छी तरह समझकर [और विधि के अनुसार निर्माण कर] दया से प्रेरित हो अच्छे गुणों से युक्त मित्रों को देना चाहिये अर्थात् प्रयोग करना चाहिये। यहां से आगे अर्थ कारक विषय का प्रतिपादन करेंगे ॥ १०८ ॥

अंतिम कथन.

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ १०

भावार्थः—जिस में संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिस के दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्र मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथ में जगतका एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ १०९ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यविरचितकल्याणकारकोत्तरे चिकित्साधिकारे सर्वौषधकर्मव्यापच्चिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्यायः आदितस्त्रयोविंशः परिच्छेदः ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित भावार्थदीपिका टीका में सर्वौषधकर्मोपद्रवचिकित्साधिकार नामक उत्तरतंत्रमें तृतीय व आदिसे तेईसवां परिच्छेद समाप्त।
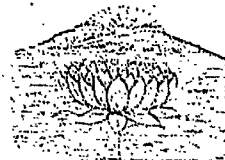
अथ चतुर्विंशः परिच्छेदः

मंगलाचरण

प्रणम्य जिनवल्लभं त्रिभुवनेश्वरं विश्रुतं।
प्रधानधनहीनतोद्धतमुदर्पदर्पापहम् ॥
चिकित्सितमुदाहृतं निरवशेषमीशं नृणां।
शरीरपरिरक्षणार्थमधिकार्थसार्थावहम् ॥ १ ॥

भावार्थः—तीन लोकके अधिपति, प्रसिद्ध, प्रधान ऐश्वर्य [सम्यक्त्व] से रहित मनुष्यों के अभिमान को दूर करनेवाले, संपूर्ण चिकित्सा शास्त्रों के प्रतिपादक, सर्व भव्यप्राणियों के स्वामी, ऐसे श्री जिनेश्वर को नमस्कार कर मनुष्यों के शरीर रक्षण करने के लिये कारणभूत व अधिक अर्थसमूहसंयुक्त या उत्पन्न करनेवाले प्रकृत प्रकरण का प्रतिपादन करेंगे ॥ १ ॥

रसवर्णन प्रतिज्ञा

शरीरपरिरक्षणादिह नृणां भवत्यायुषः।
प्रवृद्धिरधिकोद्धतेंद्रियबलं नृणां वर्द्धते ॥
निरर्थकमथेतरस्याखिलमर्थहीनस्य चे-।
त्यतः परमलं रसस्य परिकर्म वक्ष्यामहे ॥ २ ॥

भावार्थः—शरीर के अच्छीतरह रक्षण करनेसे आयुष्यकी वृद्धि होती है। आयुष्य व शरीर की वृद्धि से इंद्रियों में शक्ति की वृद्धि होती है। आयुष्य व शरीर बल जिन के पास नहीं है उनके संपूर्ण ऐश्वर्यादिक व्यर्थ है। यदि ये दोनों है तो अन्य ऐश्वर्यादिक न हों तो भी मनुष्य सुखी होता है। इसलिये अब रस बनाने की विधि कहेंगे जिस से शरीरके रसों की वृद्धि होती है ॥ २ ॥

रसके त्रिविध संस्कार

रसो हि रसराज इत्यभिहितः स्वयं लोहसं-।
क्रमक्रमविशेषतोऽर्थनिवहमावहत्यप्यलम् ॥
रसस्य परिमूर्च्छनं मरणमुद्धतोद्धंधनं।
त्रिधेति विधिरुच्यते त्रिविधमेव वै तत्फलम् ॥ ३ ॥

भावार्थः—रस (पारद=पारा) को रसराज भी कहते हैं। यह रस लोहों के संक्रमणक्रियाविशेषसे अर्थात् अभ्रक आदि लोहों से जारण आदि क्रियाविशेष के करने से बहुत अर्थ को उत्पन्न करता है। इस रस की [मुख्यतः] मूर्च्छन, मारण (भस्मकरण) बंधन इस प्रकार तीन तरह की क्रिया (संस्कार) कही गई है, जिन के तीन प्रकार के भिन्न २ फल होते हैं ॥ ३ ॥

त्रिविध संस्कार के भिन्न २ फल

रसस्तु खलु मूर्च्छितो हरति दुष्टरोगान्स्वयं ।
मृतस्तु धनधान्यभोगकर इष्यतेऽवश्यतः ॥
यथोक्तपरिमार्गबंधमिह सिद्ध इत्युच्यते ।
ततस्त्वतुलखेचरत्वमजरामरत्वं भवेत् ॥ ४ ॥

भावार्थः—मूर्च्छित पारा अनेक दुष्ट रोगों को नाश करता है। मृत [भस्म किया हुआ] रस धन धान्य की समृद्धि करके भोगोपभोगको उत्पन्न करता है। यथोक्त विधिसे बंधन किए हुए रस [बद्धरस] जो कि सिद्ध रस कहलाता है, उससे अप्रतिम खेचरत्व (आकाश में गमन करने की शक्ति) व अजरामरत्व प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

मूर्च्छन व मारण.

पुराणगुडमर्दितो रसवरं स्वयं मूर्च्छये- ।
त्कपित्थफलसद्रसैर्म्रियत एव गोबंधनैः ॥
पलाशनिजबीज तद्रससुचिक्कणैर्जीरकैः ।
रसस्य सहसा वधो भवति वा कुचीबीजकैः ॥ ५ ॥

भावार्थः—रसको पुराने गुड से मर्दित कर मूर्च्छित करना चाहिये अर्थात् ऐसा करने से रस मूर्छित होता है। कैथ के फल के रस से रस का मरण (भस्म) होता है। गोबंधन से पलाश बीज के चिक्कण रस से, जीरे से एवं कुची बीज से रस का शीघ्र ही भस्म होता है ॥ ५ ॥

मृतरससेवनविधि.

पिबेन्मृतरसं तु दोषपरिमाणमेवातुरो ।
विपक्वपयसा गुडेन सहितेन नित्यं नरः ॥
कनत्कनकघृष्टमिष्टवनितापयो नस्यम- ।
प्यनंतरमथांगनाकरविमर्दनं योजयेत् ॥ ६ ॥

भावार्थः—दोषों के प्रमाण [बलाबल] के अनुसार मृतरस को सुवर्ण से घिस कर अच्छी तरह पके हुए दूध में गुड के साथ रोज रोगी सेवन करें । तदनंतर स्त्रीदुग्ध का नस्य देना चाहिये । बाद में स्त्रियों के हाथ से शरीर का मर्दन कराना चाहिये ॥ ६ ॥

अनेन विधिना शरीरमखिलं रसः क्रामति ।
प्रयोगवशतो रसक्रमण एव विज्ञायते ॥
सुवर्णपरिघर्षणादधिकवीर्यनीरोगता ।
रसायनविधानमप्यनुदिनं नियोज्यं सदा ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस प्रकारकी विधिसे रसका सेवन करनेपर वह रस शरीर के सर्व अवयवोंमें व्याप्त होजाता है । प्रयोग करनेकी कुशलतासे रस का सर्व शरीर व्याप्त होना भी मालुम होता है । सुवर्णके घर्षण करने से अधिक वीर्य की प्राप्ति [शक्ति] व निरोगता होती है । इस के साथ रसायन विधान की भी प्रतिदिन योजना करनी चाहिये ॥ ७ ॥

बद्धरसका गुण

रसः खलु रसायनं भवति बद्ध एव स्फुटं ।
न चापरसपूरिलोहगणसंस्कृतो भक्ष्यते ॥
ततस्तु खलु रोगकुष्ठगणसंभवस्सर्वथे- ।
त्यनिंद्यरसबंधनं प्रकटमत्र संबध्यते ॥ ८ ॥

भावार्थः—विधिपूर्वक बंधन किया हुआ रस [बद्ध रस] रसायन होता है । इस से दूसरे रसयुक्त लोहगणों के द्वारा संस्कृत (बद्ध) रसों को नहीं खाना चाहिये । ऐसे रसों को यदि खावे तो कुष्ठ आदि अनेक रोग समूह उत्पन्न होते हैं । इसलिये बिल्कुल दोषरहित रसबंधन विधान को यहां कहेंगे ॥ ८ ॥

रसबंधन विधि.

अशेषपरिकर्मविश्रुतसमस्तपाठादिक- ।
क्रमैर्गुरुपरः सदैव जिननाथमभ्यर्चयन् ॥
प्रधानपरिचारकोपकरणार्थसंपत्तिमान् ।
रसेंद्रपरिबंधनं प्रतिविधातुमत्रोत्सहे ॥ ९ ॥

भावार्थः—रसबंधनविधि के शास्त्र को जाननेवाला वैद्य प्रधानपरिचारक, रसबंधन के लिये आवश्यक समस्त उपकरण, अर्थ (द्रव्य) संपत्ति, व गुरुभक्ति से

युक्त होकर हमेशा जिनेश्वर की पूजा करते हुए रसबंधन करने के लिये आरम्भ करें ॥ ९ ॥

रसशालानिर्माणविधि.

अथ प्रथममुत्तरायणदिने तु पक्षे शुचौ ।
स्वचंद्रबलयुक्तलग्नकरणे मुहूर्ते शुभे ॥
प्रशस्तदिशि वास्तुलक्षणगुणेक्षितावासम- ।
प्यनिंद्यरसबंधनार्थमतिगुप्तमुद्भावयेत् ॥ १० ॥

भावार्थः—श्रेष्ठ रस बंधन करने के लिये सर्व प्रथम उत्तरायण के शुक्ल पक्ष में लग्न, चन्द्रबल से युक्त श्रेष्ठ करण, इत्यादि शुभलक्षणोंसे लक्षित (युक्त) शुभ मुहूर्त में प्रशस्त दिशा में, एक ऐसा मकान (रसशाला) निर्माण करना चाहिये जो वास्तुशास्त्र में कथित गुणों से युक्त और अत्यंत गुप्त हो ॥ १० ॥

रससंस्कार विधि.

जिनेंद्रमधिदेवतामनुविधाय यक्षेश्वरं ।
विधाय वरदांबिकामपि तदाम्रकूष्माण्डिनीं ॥
समर्च्य निखिलार्चनैस्तनुविसर्गमार्गे जपे- ।
च्चतुर्गुणितषट्कमिष्टगुरुपंचसन्मंत्रकम् ॥ ११ ॥

कृतांजलिरथ प्रणम्य भुवनत्रयैकाधिपा- ।
नशेष जिनवल्लभाननुदिनं समारंभयेत् ॥
प्रधानतमसिद्धभक्तिकृतपूर्वदीक्षामिमां ।
नवग्रहयुतां प्रगृह्य रससिद्धये बुद्धिमान् ॥ १२ ॥

भावार्थः—रससिद्धि के लिये सबसे पहिले [पूर्वोक्त रसशाला में] श्री जिनेंद्र भगवान्, अधिदेवता [मुख्य २ देवतायें] यक्षेश्वर [यक्षोंके स्वामी=गोमुख आदि यक्ष] वर प्रदान करनेवाली अम्बिका व कूष्मांडिनी यक्षी इन को, इन की सम्पूर्ण अर्चनविधि से अर्चन [पूजा] कर कायोत्सर्ग पूर्वक पंचनमस्कार (णमोकार) मंत्र को २४ चौबीस बार जप करना चाहिये । तदनंतर हाथ जोडकर तीनों लोकों के स्वामी, समस्त जिनेश्वर अर्थात् चौबीस तीर्थकरों को नमस्कार करके, प्रधानभूत सिद्धभक्ति को भक्ति से पठन करना चाहिये और नवग्रहों से युक्त [नवग्रहों के अर्चन करके] इस पूर्वदीक्षाको धारण कर हमेशा बुद्धिमान् वैद्य रस के संस्कार करने के लिये आरम्भ करें । ॥ ११ ॥ १२ ॥

रसेंद्रमथ शोधयेत्सुरुचिरेष्टकेणान्वितं ।
स्तनोद्भवरसेन सम्यगवमर्घ खल्वोपले ॥
सुधौतमुरुकांजिकाविपुलपात्रदोलागतं ।
पचेत्त्रिकटुकांजिकालवणवर्गहिंगूर्जितम् ॥ १३ ॥
एवं दिनत्रयमखण्डितवन्हिकुण्डे ।
स्विन्नस्सुखोष्णतरकांजिकया सुधौतः ॥
शुद्धो रसो भवति राक्षस एव साक्षात् ।
सर्वं चरत्यपि च जीर्णयतीह लोहम् ॥ १४ ॥

भावार्थः—पारा में ईंट के चूर्ण व दूध मिलाकर खरल में अच्छी तरह घोटें। घोटने के बाद उसे कांजीसे धोवें, इस से पारे की शुद्धि होती है। इस प्रकार शुद्ध पारद को सोंठ मिरच पीपल कांजी लवणवर्ग हींग इन में मिलाकर पोटली बांधे। बाद में उसे कांजी से भरे हुए बडे पात्र में, दोलायंत्र के द्वारा पकावे। (एवं स्वेदन करें) इस प्रकार बराबर तीन दिनतक स्वेदन करना चाहिये। स्वेदित करने के बाद उसे सुहाता २ कांजी से धोना चाहिये। ऐसा करने से पारा अत्यंत शुद्ध होता है एवं साक्षात् राक्षस के समान सम्पूर्ण धातुओंको खाता है और पचाता है। (अर्थात् पारे में सोना आदि धातुओं को डालने पर एकदम वे उस में मिल जाते हैं और पारे का वजन भी नहीं बढता। फिर उससे सोना आदिकोंको अलग भी नहीं कर सकते) ॥ १३ । १४ ॥

तं वीक्ष्य भास्करनिभप्रभया परीतं ।
सिद्धान्प्रणम्य सुरसं परिपूज्य यत्नात् ॥
दद्यात्तथाधिकृतबीजमिहातिरक्तम् ।
सरंजितं फलरसायनपादशांऽशम् ॥ १५ ॥
गर्भद्रुतेः क्रमत एव हि जीर्णयित्वा ।
सूक्ष्मांबरद्विगुणितावयवस्तं तं ॥
क्षारत्रयैः त्रिकटुकैर्लवणैस्तथाम्लैः ।
संभावितैर्विडवरैरधरोत्तरस्थैः ॥ १६ ॥
रम्भापलाशकमलोद्भवपत्रवर्गै— ।
र्बद्धं चतुर्गुणितजीरकया च दोलां ॥
संस्वेदयेद्विपुलभाजनकांजिकायां ।
रात्रौ तथा प्रतिदिनं विदधीत विद्वान् ॥ १७ ॥

---

१ धृति इति पाठांतरं ॥

भावार्थ— वह रस सूर्य के समान उज्वल कांति से युक्त होता है। ऐसे रस को देख कर सिद्धों को नमस्कार कर के यत्न के साथ उस रस की पूजा करें और उस फलभूत रसायन में चौथाई हिस्सा योग्य अत्यंतलाल बीजे [सुवर्ण] को डालना चाहिए। पश्चात् उसे गर्भद्रुति के क्रम से जीर्ण कर के (मिलाकर) एक पतले कपडे को दुहरा कर उस से इस रस को छानें, तदनंतर छने हुए इस रस के ऊपर व नीचे क्षारत्रय, त्रिकटु, लवणवर्ग, अम्लवर्ग इन से भावित विडे को रखें (उस के बीच में रस रख दे) और उसे केला, पलाश, कमल इन के पत्तियों से बांध कर पोटली करें। इस पोटली को कांजी से भरे हुए एक बडे पात्र में जिस में चतुर्गुण जीरा डाला गया है दोलायंत्र के द्वारा पकाकर स्वेदन करना चाहिए। अर्थात् बाफ देना चाहिए। विद्वान् वैद्य को उचित है कि इस क्रिया को प्रतिनित्य रात में ही करें ॥ १५-१६-१७ ॥

> बीजाभ्रतीक्ष्णवरमाक्षिकधातुसत्व- ।
> संस्कारमत्र कथयामि यथाक्रमेण ॥
> संक्षेपतः कनकक्रृद्रसबंधनार्थं ।
> योगिप्रधानपरमागमतः प्रगृह्य ॥ १८ ॥

भावार्थः— अब यहांसे आगे योगियों के द्वारा प्रतिपादित परमागम शास्त्र के आधारसे सुवर्णकारक रसबंधन करनेके लिये क्रमशः सुवर्ण, अभ्रक, तीक्ष्णलोह माक्षिकधातु व इन के सत्वों के क्रमशः संस्कार कहेंगे ॥ १८ ॥

> ताम्रं सुबीजसदृशं परिगृह्य ताम्रं ।
> पत्रीकृतं द्विगुणमाक्षिककल्कलिप्तं ॥

---

१ कोई एक धातु पकते समय उसमें दूसरा धातु डालने से वह उस डाले हुए धातु के रंग से युक्त हो जाय, तो इसे बीज कहते हैं। कहा भी है। **निर्वापणविशेषेण तद्वर्णं भवेद्यदा। मृदुलं चित्रसंस्कारं तद्बीजमिति कथ्यते ॥** शुद्ध सोना चांदी को बीज कहते हैं:— **शुद्धं स्वर्णं च रूप्यं च बीजमित्यभिधीयते ॥**

२ किसी भी पदार्थ को पारामें ग्रास कराना जो उसे पाराके गर्भ [अंदर] में ही रस रूप बनाना पडता है उसे गर्भद्रुति कहते हैं॥ कहा भी है:— **ग्रासस्य द्रावणं गर्भे गर्भद्रुतिरुदाहृता ॥**

३ पाराके द्वारा ग्रासे किये हुए किसी भी धातु को जीर्ण करने के लिए क्षार, अम्लपदार्थ गंधक, गोमूत्र, लवण आदि पदार्थों का जो संयोग किया जाता है उन पदार्थों को विड कहते हैं ॥ कहा भी है:— **क्षारैरम्लैश्च गंधाद्यैर्मूत्रैश्च पटुभिस्तथा ॥ रसग्रासस्य जीर्णार्थं तद्विडं परिकीर्तितं ॥**

अभ्यंतरे स्थिरसुबीजवरं प्रकृत्य ।
बाह्ये कुरु प्रबलगंधककल्कलेपम् ॥ १९ ॥
सद्वृत्तमुत्तमगुणं प्रविधाय वज्र- ।
मूषागतं वदनमस्य पिधाय धीमान् ॥
सम्यग्धमेत्खदिरसद्रुमरैस्ततस्तं ।
निर्भेद्य शुद्धगुलिकामवलोक्य यत्नात् ॥ २०
भूयस्तथैव बहुशः परिरंजयेत्तां ।
पूर्वप्रणीतगुलिकामथ भिद्य सूक्ष्मां ॥
चूर्णीकृतां रसवरे स च देयमादौ ।
मध्येऽवसानसमयेऽपि यथाक्रमेण ॥ २१ ॥

भावार्थः—उत्तम बीज (सुवर्ण) के बराबर ताम्र (ताम्बा) लेकर उस का पत्र तैयार करके, उसपर उससे द्विगुण सुवर्णमाक्षिक के कल्क से लेप करें। पश्चात् उस ताम्रपत्र के अंदर के भाग में बीज को रखें और (ताम्रपत्र के) बाहर के भाग में गंधक के कल्क से खूब [गाढा] लेप करें। फिर उस [ताम्रपत्र] को गोलाकार के रूप में मोडकर गोली के समान बनावे और उसे वज्रमूषा के अंदर रखकर उस के मुख को बंद कर के खैर के कोलसे से अच्छी तरह धमाना चाहिये। इस के बाद उस वज्रमूषा को फोडकर देखने पर उस के अंदर एक गोल आकार की गोली देखने को मिलेगी। उस गोली को पुनः बहुतबार यत्नपूर्वक उक्त क्रम से संस्कार कर के रंजन करना चाहिये। इस प्रकर कई बार संस्कार कर के आखिर में उस गोली को फोडकर बारीक चूर्ण कर के इसे क्रमशः आदि, मध्य व अंत में डालते हुए पारा में मिलाना चाहिये। अर्थात् इस को क्रमशः थोडा २ डालते हुए पारा का जारण करना चाहिये ॥ १९-२०-२१ ॥

रस प्रयोग विधि.

हेमाभ्रकं पटलिकं पटुवज्रकाख्यं ।
संपेषयेद्धृत्रणटङ्कणकोषणेन ॥
सार्धं पुनर्नवरसेन निबंधवेणी- ।
नाद्याभिधाय विपचेद्दृरकांजिकायाम् ॥ २२ ॥
नाले प्रबोध सकलद्रवतां गतां त- ।

1 "द्वृदेद्" इति पाठांतरं 2 "रदभ्रं" इति पाठांतरं 3 कक्षां इति पाठांतरं

द्विज्ञाय खल्वदृषदी प्रणिधाय धीमान् ॥
सौवर्णचूर्णसहितां परिमर्द्य सम्य- ।
क्संयोजयेद्रसवरेण सहैकवारम् ॥ २३ ॥
द्वंद्वोरुमेढकविधानत एव सम्य- ।
क्संमर्द्य सोष्णवरकांजिकया सुधौतं ॥
सूक्ष्मांबरद्विगुणितावयवस्रुतं तं- ।
संस्वेदयेत्कथितचारुबिडैश्च सार्धम् ॥ २४ ॥

भावार्थः—पीला अभ्रक, पटलिक, पटुवर्ग[2] उन में सेंधानमक, टङ्कणक्षार, सोंठ मिरच व पीपल मिलाकर पुनर्नवा (विषखपरा) के रस से अच्छीतरह घोंटना चाहिये। फिर इस को एक पोटली बनाकर उसे कांजी में [दोलायंत्र द्वारा] पकावे । जब वह अच्छीतरह पक जावे तो उसे एक मूषा में डालकर और मूषा को अग्निपर रखकर फूंकनी से खूब फूंको । इसे फूंकते २ जब मूषा में रखा हुआ पदार्थ द्रवरूप [पतला] हो जाय तो पश्चात् उस द्रव को पत्थर के खरल में डालकर उस में सोने का चूर्ण मिलाकर अच्छीतरह मर्दन करे । इस के बाद इस में उत्तम पारा डालकर एक ही दफे अच्छीतरह मिलावे । फिर इसे द्वंदमेढकविधान[1] से भले प्रकार घोटकर गरम कांजी से धोकर पतले दोहरे कपडे से छान ले और शास्त्र में कहे हुए श्रेष्ठ बिड के साथ स्वेदन करें अर्थात् बाफ देवें ॥ २२-२३-२४ ॥

तीक्ष्णं निचूर्ण्य वरमाक्षिकधातुचूर्ण- ।
व्यामिश्रमुष्णवरकांजिकया सुधौतं ॥
उत्क्वाथ्य साधु बहुशः परिशोधयेच्च ।
गोमूत्रतक्रतिलजद्विरजेंद्रतोयैः ॥ २५ ॥
एतत्कनत्कनकचूर्णयुतं सुतीक्ष्णं ।
माक्षीकचूर्णमपि षड्गुणमत्र दद्यात् ॥
भास्वद्रसेंद्रवरभोजनमल्पमल्पं ।
गर्भद्रुतिक्रमत एव सुजीर्णयेच्च ॥ २६ ॥

---

१ यहांपर द्वंदमेढक विधानका अर्थ समझमें नहीं आया, शायद द्विलोह मेलक विधान होसकता है, वैद्य विचार करें ।

२ द्विरद इति पाठांतरं ॥ ३ प्रति इति पाठांतरं ॥

मध्ये सुवर्णवरमाक्षिकधातुचूर्णं ।
दद्यात्समं रसवरस्य सुवर्णमेव ॥
पश्चान्महाग्निपरिविद्धमतीव शुद्धं ।
बीजोत्तरं तदपि जीर्णय पादमर्धम् ॥ २७ ॥
तं स्वच्छपिच्छिलरसं पटुशुद्धमुद्य-।
न्मूषागतं सुविहितान्यसुभाजनस्थम् ॥
भूमौ निधाय पिहितं तु वितस्तिमात्रे ।
तस्योपरि प्रतिदिनं विदधीत चाग्निम् ॥ २८
मासं निरंतरमिहाग्निनिभावितं तं ।
चोध्दृत्य पूजितमशेषसुपूजनाद्यैः ॥
संशुद्धताम्रवरतारदलं प्रलिंपे-।
न्मेघनादरसमर्दितसद्रसेंद्रम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—तीक्ष्ण लोह को चूर्ण कर के उस में उतना ही सुवर्ण माक्षिक के चूर्ण मिलाकर उसे गरम कांजी से अच्छीतरह धोवे और कई बार कांजी के साथ अच्छी तरह पकावे। उस के बाद उसे गोमूत्र तक्र (छाछ) तिलका तैल, हिरज, इन्द्र (इन्द्रायन) इन के काथ से शुद्ध करना चाहिये। अर्थात् उस को गरम करके उक्त द्रव में बुझाते जावे। [इस प्रकार करने से उस की शुद्धि होती है]। इस प्रकार शोधित तीक्ष्ण लोह के चूर्ण में (उतना ही) उत्तम सुवर्ण चूर्ण और छह गुना सुवर्णमाक्षिक चूर्ण मिलावे। पारा के भोजन [ग्रास] भूत इस तीक्ष्णचूर्ण को थोडा २ पारा में डालते हुए गर्भद्रुति के क्रम से जीर्ण करना चाहिये। इस प्रकार जीर्ण करते वखत बीच में पारा के समान सुवर्णमाक्षिक चूर्ण और उतना ही सुवर्ण चूर्ण डालकर पश्चात् तीव्र अग्निसे जलावे। पश्चात् उस में शुद्ध बीज को चतुर्थांश या अर्धांश डालकर जीर्ण करें। इस प्रकार के संस्कार से वह स्वच्छ व पिलपिलेरूप का रस बन जाता है। उसे शुद्ध करके (धोकर) मूषा में रखें। उस मूषा को किसी अन्य योग्य पात्र में रख कर संधिबंधन करे। फिर उसे एक वालिस्त [१२अंगुल] प्रमाण गहरा गड्ढा खोदकर उसमें रखें और उस पर मिट्टी डालकर बंद कर के ऊपर प्रतिदिन आग जलावे। इस प्रकार एक महीने तक बराबर आग जला कर बाद में उस से निकाल कर उस संस्कृत रसेंद्र [पारा] की सम्पूर्ण सामग्री व विधिसे पूजा करनी चाहिये। पश्चात उसे मेघनाद के रस से घोट कर उस से शुद्ध ताम्बा व चांदी के पत्र का लेपन करे ॥ [इस प्रयोग से सोना बन सकता है] ॥२५॥२६॥२७॥२८॥२९॥

१ बद्ध इति पाठांतरं ॥

रस प्रयोगफल

यदि रससमसारनियोजितो भवति तद्दशमांश स वेदकः ।
त्रिगुणसारवरः शतवेदको दशशतं रससारयुतो रसः ॥ ३० ॥

भावार्थ—रस के समान प्रमाण में लोणी का ग्रहण करें तो उस का दशमांशमें फल का अनुभव होता है। यदि रस की अपेक्षा लोणी त्रिगुण प्रमाणमें, हो तो सौगुणा अधिक लाभका अनुभव होगा। एवं लोणी के रसके साथ रसका उपयोग करें तो हजार गुणा अधिक लाभ पहुंचता है ॥ ३० ॥

रसबृंहणविधि.

अथ रसं परिबृंहयतें ध्रुवं सततमग्निसहं कुरु सर्वथा ।
मकुटतापनवासनकासनैर्जिनमतक्रमतो हि यथक्रमात् ॥ ३१ ॥

भावार्थ—उस रस को सदा तापन, कासन व वासनक्रिया के द्वारा अग्निकर्म का प्रयोग करना चाहिए जिस से वह रस बहुत समृद्ध होता है ॥ ३१ ॥

लवणतालकमेघसुमृत्तिका- ।
तुषमषीशरवारणसद्रसैः ॥
अतिविपेष्य घनांतरितान्तरा- ।
मपि विधाय सुगोस्तनमूषिकाम् ॥ ३२ ॥
बहिरिहांतरमभ्रककल्कसं- ।
प्रतिविलेपितगोस्तनमूषिकां ॥
निहितचारुरसं घन संप्रति ।
पिहितमग्निमुखे बहुवासयेत् ॥ ३३ ॥
मषितुषोत्ककरीषकरीषकै- ।
स्तुषकरीषयुतभ्रमैररणु- ॥
भ्रमरकैश्च करीषयुतैर्महा- ।
भ्रमरकैरपि रूक्षितवन्हिना ॥ ३४ ॥
इति यथा क्रमतोऽग्निसहं रसं ।
मकुटसारणया परिबृंहितैः ॥
विहितसारणतैलयुतैः रसैः ।
क्षिप समं कनकद्रवतां गतम् ॥ ३५ ॥

अपि च सारितसद्गुलिकां पुरः ॥
क्रमत एव चतुर्गुणसारता ॥
गुलिक एव च सारणमार्गतो ।
विदितचारुभिदैरपि जीर्णयेत् ॥ ३६ ॥

स खलु सिद्धरसस्समसारितः ।
पुनरपीह चतुर्गुणसारतः ॥
क्रमयुतैरतिमर्दनपाचनै- ।
र्भवति तत्प्रतिसारितनामकः ॥ ३७ ॥

अयमपि प्रतिसारित सद्रस- ।
स्समगुणोत्तमहेतुसुसारितः ॥
विदितसिद्धरसे तु चतुर्गुणे ।
क्रमविजीर्णरसो ह्यनुसारितः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—रस बृंहण विधि में सब से पहिले सेंधालोण, हरताल, मुलतानी मट्टी, धान्य का भुसा इन के रसों के साथ अच्छी तरह पीस कर गाढा करें व उस में दाख व मूसाकानी को मिलावें ।

बाद में बाहर और अंदर से अभ्रक कल्क से लिप्त दाख व मूसाकानी से युक्त उस रस को एक पात्र में डाल कर एवं ढककर अग्निमुख में रखना चाहिये ।

ताड, भूसा, कण्डे, तुषभ्रमर, करीषभ्रमर, अण्डभ्रमर, महाकरीषभ्रमर इन लकडियों के रूक्ष अग्नि से अग्निप्रयोग करना चाहिए । तदनंतर सारणा संस्कार करना चाहिए । सारणा के लिए योग्य तैल के साथ समान प्रमाण में सुवर्ण द्रव को भी डालना चाहिये । फिर सारणा संस्कार कर गोली तैयार करनी चाहिए । क्रम से फिर उसे चतुर्गुण रूप से सारण करना चाहिये एवं शास्त्रोक्त क्रम से उस गोली को फोड कर जीर्ण करना चाहिए । इस प्रकार अच्छी तरह सारित सिद्ध रस को क्रम क्रम से मर्दन, पाचनादिक क्रियावों के साथ चतुर्गुण सारण करने से वह प्रतिसारित नामक रस होता है ।

उस प्रतिसारित रस को भी पुनः चतुर्गुण सिद्ध रस में सारण कर जीर्ण करें तो वह और भी उत्तम गुणविशिष्ट हो जाता है । उसे अनुसारित रस कहते हैं ॥ ३२ । ३३ । ३४ । ३५ । ३६ । ३७ । ३८ ॥

सारणाफल.

प्रथमसारणया शतरंजिका दशशतं प्रतिसारणया रसः ।
शतसहस्रमरं प्रतिरंजयत्यधिकरंजनयाप्यनुसारितः ॥ ३९ ॥

भावार्थः—सिद्ध रस के ऊपर सारणा संस्कार पहिले २ करने पर सौ गुणा अधिक शक्तिमान् हो जाता है । उस सारणा पर पुनः प्रतिसारण संस्कार करने पर हजार गुणा अधिक फल होता है एवं अनुसारण संस्कार से लाख गुणा अधिक फल होता है ॥ ३९ ॥

मणिभिरप्यतिरंजितसद्रसः । स्पृशति भेदति वेधकरः परः ॥
तदधिकं परिकर्मविधानमाप्यखिलमत्र यथाक्रमतो ब्रुवे ॥ ४० ॥

भावार्थः—रस के ऊपर रत्नों का संस्कार करें तो भी वह अत्यंत गुणविशिष्ट हो जाता है । उस के स्पर्शन से रत्नादिक फूटते हैं । उस रत्नसंस्कार के विधान अब विधि प्रकार शीघ्र कहेंगे ॥ ४० ॥

स्तनरसेन विषाणसुराग्रजं । परिविमर्घ सुकल्कविलेपनैः ॥
कठिनवज्रमपि स्फुटति स्फुटं । स्फुटविपाकवशान्मणयोऽथ किम् ॥४१॥

भावार्थः—मेढासिंगी, व कपूरकचरी को स्तनदुग्ध के साथ मर्दन कर अच्छे कल्कों का लेपन करनेपर कठिन से कठिन वज्र भी फूटता है । बाकी अन्य रत्नों के विषय में तो क्या कहना ? ॥ ४१ ॥

रस संस्कारफल.

स्वेदात्तीव्ररसो भवत्यतितरं संमर्दनान्निर्मलो ।
स्याल्लोहादबलवान्सुजीर्णतरसश्शुद्धातिबद्धस्सदा ॥
गर्भद्रावणयैकतामुपगतः संरंजनाद्रंजकः ।
सम्यक्सारणया प्रयोगवशतो व्याप्नोति संक्रामति ॥४२॥

भावार्थः—रस को स्वेदन संस्कार करने से उस में तीव्रता आती है । मर्दन करने से वह मलरहित होता है । धातुओं के संस्कार से वह बलवान् होता है । जीर्ण संस्कार से वह शुद्ध होता है । बंधनप्रयोग करने से सिद्ध होता है । गर्भद्रावण संस्कार से वह एकमेक होकर मिल जाता है । रंजन प्रयोग से वह भी रंजित होता है । सारणाप्रयोग से अच्छीतरह शरीर में व्याप्त होता है ॥ ४२ ॥

सिद्धरस माहात्म्य.

एवं प्रोक्तमहाष्टकर्मभिरलं बद्धो रसो जीवव-
त्ख्यातस्तत्परिकर्ममुक्तसमये शुद्धस्स्वयं सिद्धवत् ॥
ज्ञात्वा जीवसमानतामपि रसे देवोपमस्सर्वदा ।
संचिंत्योप्यणिमादिभिः प्रकटितैरुद्यद्गुणौघैस्सदा ॥ ४३ ॥

भावार्थः—इस प्रकार पारदरस को सिद्ध करने के आठ महासंस्कार कहे गये। इन के प्रयोग से वह रस सिद्धों के समान शुद्ध होता है। एवं स्वयं वह रस जीव के समान ही होता है अर्थात् उस में प्रबल शक्ति आती है। इतना ही नहीं उसे अणिमादि ऐश्वर्यों से युक्त साक्षात् देव के सामन ही समझना चाहिए। अर्थात् वह रस अनेक प्रकार से सातिशय फलयुक्त होता है ॥ ४३ ॥

पारदस्तंभन.

सर्पाक्षीशरवारिणी सहचरी पाठा सकाकादनी ।
तेषां पंचरसे पलायति सदा प्रोद्यद्रतिस्तंभिकाः ॥
ताः स्युष्कल्ककषायतैलयुतसंस्वेदैस्सदा पारद-
स्तिष्ठत्यग्निमुखे सहस्रधमनैर्धौतोऽपि शस्त्रादिभिः ॥ ४४ ॥

भावार्थः—सरहटीगण्डनी, सरपता, पीली कटसरैया, पाठा व कांकादिनी इन के रस में वह पारद इधर उधर न जाकर अच्छी तरह स्तंभित होता है। उन के कल्क व कषाय से युक्त तेल से संस्वेदन प्रयोग करने पर पारद अत्यंत तीक्ष्ण अग्नि में भी बराबर स्थिर हो कर ठहरता है ॥ ४४ ॥

रस संक्रमण.

कांता मेघनिनादिकाश्रवणिकातांबूलसंक्षीरिणी-
त्येताः पंचरसस्य लोहनिचयैः संक्रामिकास्सर्वदा ॥
तासां सद्रसकल्कमिश्रितपयस्तैस्संप्रतापात्स्वयं ।
संतः पत्रदलप्रलेपवशतो व्याप्नोति बिंबेष्वपि ॥ ४५ ॥

भावार्थ—मोथा, पलाश, गोरखमुण्डी, तांबूल व दूधिया वृक्ष इन पांच वृक्षों के रस सदा धातु भेदों के संक्रामक है। इन के साथ कल्क मिलाकर पारा मिलावें और पत्ते में लेपन कर दर्पण में लगावें तो अपने आप व्याप्त होता है ॥ ४५ ॥

पारद प्रयोजन.

मत्स्याक्षीगिरिकार्णिका-शिखिशिखाजंघारुहाक्षीरिणी- ।
त्येता निर्मुखतोऽभ्रसूतकसमो योगं प्रकुर्वंति ताः ॥
आरामोद्भवशीतशीतलिकिकाप्येका तथा ग्रंथिका- ।
श्चैतत्त्वद्भुतमभ्रकं रसवरस्याहारमाहारयेत् ॥ ४६ ॥

भावार्थः—मछेछी, सफेद किणिहीं, शिखी, कलिहारी, जंघावृक्ष, दूधियावृक्ष इन के रसके साथ अभ्रक व पारेको मिलाकर उपयोग करना अनेक रोगोंमें हितकर है। तथा आरामशीतला व बिधुवा घास के साथ अभ्रक का प्रयोग करें तो पारद को भी अच्छी तरह जीर्ण कर देता है ॥ ४६ ॥

सिद्धरसमाहात्म्य.

इत्येवं घनचूर्णमुज्वलरसं हेम्ना च संयोजितं ।
वन्हौ निश्चलतामुपेतमधिकं संवासनात्यासनैः ॥
तं संमूर्च्छितमेव वामृतमलं संभक्ष्य मक्ष्वक्षयं ।
वीर्यं रोगविहीनतामतिबलं प्राप्नोति मर्त्यः स्वयम् ॥ ४७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार अच्छीतरह सिद्ध रस को सुवर्णभस्म के साथ संयोजित करने से, आस्थापन व अनुवासन के प्रयोग से, वन्हि में भी निश्चलता को प्राप्त होता है। ऐसे संमूर्छित अमृतको भक्षण करने से यह मनुष्य शीघ्र ही अक्षय शक्ति व रोगहीनता, व शरीरदार्ढ्य आदि को प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

बद्धं सिद्धरसं पलद्वयमलं संगृह्य लोहे शुभे ।
पात्रे न्यस्य पलं घृतं त्रिफलया सिद्धस्य तोयस्य च ॥
दत्वाति प्रणिधाय पक्वमतिमृद्वग्निप्रयोगाद्धरी- ।
तक्या द्वे च नियुज्य पूज्यतमवीर्यार्ज्यविशेषकृतम् ॥ ४८ ॥
पीत्वा तद्घृतमुत्तमं प्रतिदिनं मर्त्योऽतिमत्तद्विपे- ।
न्द्रोद्यद्वीर्यबलप्रतापसहितः साक्षाद्भवेत्तत्क्षणात् ॥
तत्रैकं पलमाहृतं रसवरस्यात्युग्ररोगापहं ।
स्यादेकं पलमुज्वलत्कनकबद्धं तस्य नस्यावहम् ॥ ४९ ॥

भावार्थः—बंधन संस्कारसे सिद्ध रसको एक पल प्रमाण लेकर एक अच्छे लोहे के पात्र में डालें। उस में एक पलप्रमाण त्रिफला जलसे सिद्ध घृत को मिलावें। फिर

उसे मृदु अग्नि के द्वारा पकाकर उस में दो हरीतकी मिलावें। जिस से वह शुद्ध घृत तैयार होता है।

उस घृत को प्रतिदिन पीनेपर तत्क्षण वह मनुष्य मदोन्मत्त हाथी के समान बलवान् व तेजोयुक्त हो जाता है। उस के साथ एक पल प्रमाण रसका सेवन करें तो भयंकरसे भयंकर रोग भी दूर होते हैं। उस घृत के साथ एक पल प्रमाण सुवर्णभस्म को मिलाकर नस्य प्रयोग भी कर सकते हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

सिद्धघृतामृत.

अथ घृतपलमेकं द्वे रसस्याद्ये द्वे ।
पयसि पलचतुष्कं पाचितं लोहपात्रे ॥
मृदुतरतुषवन्हौ क्षीरजीर्णाविशेषं ।
घृतममृतसमानं देवतानां च पूज्यम् ॥ ५० ॥

भावार्थः—एक पलप्रमाणघृत, दो पल प्रमाण रस, चार पल प्रमाण दूध इन को लोहे के पात्रमें डालकर भूसे की मृदु अग्नि से पकावें। जब वह दूध सब के सब जीर्ण होकर केवल घृत ही घृत रहता है वह अमृतके समान होजाता है एवं वह देवतावों को भी पूज्य है ॥ ५० ॥

रसग्रहण विधि.

व्योमव्याप्तसुतीक्ष्णमाक्षिकसमग्रासं गृहीत्वा स्फुटं ।
वन्हौ निश्चलतां गतं रसवरं भूमौ निधायादरात् ॥
तस्मात्स्तोकरसं प्रगृह्य कनकं पादं प्रदायाहृतिं ।
दीपनाग्निह जीर्णयेदिति मया दीपक्रिया वक्ष्यते ॥ ५१ ॥

भावार्थः—जो रस सिद्ध हो चुका है जिसे अग्नि में रखकर उसकी निश्चलता से परीक्षा कर चुके हैं उस को आकाश में व्याप्त सूक्ष्म मक्खियों के जितने प्रमाण में लेकर जमीनपर रखें, फिर उस से थोडासा रस लेकर उस में पाव हिस्सा सुवर्णभस्म मिलावें, उस को सेवन करें। जिस के ऊपर दीपन प्रयोग करने पर वह गृहीतरस जल्दी जीर्ण होता है। इसलिये अब दीपन प्रयोग कहा जाता है ॥ ५१ ॥

दीपनयोग.

दीपांस्तावदलक्तकानि पटलान्याहृत्य रक्तोज्वलान् ।
वर्गैर्गन्धकसद्विषैस्तनरसेनामर्दनैर्लेपयेत् ॥

तत्रास्थाप्य रसं गृहीतकनकं बध्वा च सूक्ष्मांबरो- ।
रखण्डैः पुट्टलिकां करंजतिलजैरादीपयेद्दीपिकाम् ॥ ५२ ॥

भावार्थः—सबसे पहिले दीपों के पात्रपर लाख के रस, गंधक वर्ग व विष वर्ग इनको स्तनदुग्ध के साथ मर्दन कर लेपन करना चाहिये । फिर उस पात्र में कनक भस्म मिश्रित रसको रखकर एक पतले कपडे से उसे बांध कर फिर उस दीप को कंजा व तिल तैल से दीपित करना चाहिये ॥ ५२ ॥

तत्र प्रलेपनविधावतिरंजकः स्यात् ।
उच्छिष्टनामकरसः कृतकल्कको वा ॥
योऽयं भवेदधिकवेदकशक्तियुक्तो ।
लोहैरसैहैव परिवर्तयतीह बद्धः ॥ ५३ ॥

भावार्थः—इस प्रकार की प्रलेपनक्रिया से वह रस अत्यंत उज्वल होता है । और अधिक शक्ति का अनुभव कराता है एवं रस व कल्को में वह उत्कृष्ट रहता है । इतना ही नहीं सिद्धरस शरीर के प्रत्येक धातुवोंका परिवर्तन करा देता है ॥ ५३ ॥

रससंक्रमणौषध.

एवं बद्धविशुद्धसिद्धरसराजस्येह संक्रामणं ।
वक्ष्ये माक्षिककाकविट्नलिका कर्णामलं माहिषं ॥
स्त्रीक्षीरक्षतजं नरस्य वटपी प्रख्यातपारापती ।
श्रृंगीटंकणचूर्णमिश्रितमधूच्छिष्टेन संक्रामति ॥ ५४ ॥

भावार्थः—इस प्रकार विधि प्रकार सिद्ध विशुद्ध सिद्ध रसराज का वर्णन किया गया है। अब उस रसराजका संक्रमण का वर्णन करेंगे अर्थात् जिन औषधियों से उस का संक्रमण होता है उन का उल्लेख करेंगे । सोनामखी, काकविट्, नली (सुगंध द्रव्यविशेष) भैंस का कर्णामल, स्त्रीदुग्ध, पारावतीवृक्ष, मेढा सिंगी, टंकण [सुहागा] चूर्ण इन से मिश्रित मोम से उस रसराजका संक्रमण होता है ॥ ५४ ॥

इत्येवं दीपिकांतामवितथविलसद्योनिशास्त्रप्रबद्धा ।
व्याख्याता सत्क्रियेयं सकलतनुरुजाशांतये शांतचित्तैः ॥
उग्रादित्यैर्मुनींद्रैरनवरतमहादानशीलैस्सुशीलैः ।
कृत्वा युक्त्यात्र हत्वा पुनरपि च धनं दातुकामैरकामैः ॥ ५५ ॥

भावार्थः—इस प्रकार शांतचित्त को धारण करनेवाले, इस ग्रंथ के निर्माण के द्वारा युक्तिसे धनका दान देकर अनवरत दान प्रवृत्ति के अभिलाषी अपितु तत्फल के निष्कामी महादानशील, सुशील उग्रादित्याचार्य मुनिनाथने योनिचिकित्साको प्रारंभ कर दीपनक्रिया पर्यंत चिकित्साक्रम को प्रतिपादन किया ॥ ५५ ॥

अंतिम कथन.

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ५६ ॥

भावार्थः—जिस में संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिस के दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्र मुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथ में जगत्का एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ ५६ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यविरचितकल्याणकारकोत्तरे चिकित्साधिकारे रसरसायनसिद्धाधिकारो नाम चतुर्थोऽध्यायः आदितश्चतुर्विंशतितमः परिच्छेदः ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में रसरसायनसिद्धाधिकार नामक उत्तरतंत्रमें चौथा व आदिसे **चौवीसवां परिच्छेद** समाप्त।

अथ पंचविंशतितमः परिच्छेदः

मंगलाचरण.

प्रणिपत्य जिनेंद्रमिंद्रसन्मुनिवृंदारकवृंदवंदितम् ।
तनुभृत्तनुतापनोदिनः कथयाम्यल्पविकल्पकल्पकान् ॥ १ ॥

भावार्थः—मुनिनाथ, गणधर, देवेंद्र आदियों के द्वारा पूज्य श्री जिनेंद्र को नमस्कार कर प्राणियों के शरीरतापको दूर करनेवाले कल्पों के कुछ विकल्पों [भेद] को कहेंगे ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

प्रतिज्ञा.

प्रथमं ह्यभयाविकल्पकं मनुजानामभयप्रदायकम् ।
विधिवत्कथयाम्यतः परं परमोद्योगरतो नृणामहम् ॥ २ ॥

भावार्थः—सब से पहिले हम बहुत प्रयत्न पूर्वक हरीतकी कल्प को शास्त्रोक्त विधिपूर्वक कहेंगे जो मनुष्योंको अभय प्रदान करनेवाला है ॥ २ ॥

हरीतकी प्रशंसा.

अभया ह्यभया शुभप्रदा सतताभ्यासवशाद्रसायनम् ।
लवणैर्विनिहंत्यथानिलं घृतयुक्ता खलु पित्तमद्भुतम् ॥ ३ ॥

भावार्थः—अभया [हरडा] सचमुच में अभया ही है, सुख देनेवाली है। सतत अभ्यास रखें तो वह रसोंकी वृद्धि के लिये रसायन के समान ही है। उसका उपयोग सेंधालोण आदि लवणवर्ग के साथ करें तो वातकोपको नाश करती है। घृत के साथ उपयोग करें तीव्र पित्तकोपको दूर करती है ॥ ३ ॥

हरीतकी उपयोग भेद.

कफमुल्लिखतीह नागरैर्गदयुक्ताखिलदोषरोगनुत् ।
सितया सितयात्युपद्रवानभया ह्यात्मवता निषेविता ॥४॥

भावार्थः—सोंठ के साथ अभयाका सेवन करें तो कफको दूर करती है। कूठ के साथ उपयोग करें तो संपूर्ण दोषों का नाश करती है। यदि उस का उपयोग शक्कर के साथ करें तो रोगगत उपद्रवों को दूर करती है ॥ ४ ॥

हरीतक्यामलक भेद.

अभयानलमित्युदीरितं विमलं ह्यामलकं फलोत्तमं ।
हिमवाच्छिशिरं शरीरिणामभयात्युष्णगुणा तु भेदतः ॥५॥

भावार्थः—अभया अग्निवर्द्धक कही गई है । आमलक (आमला) फल फलों में उत्तम व निर्मल है । आमला हिम के समान अत्यंत शीत है । और अभया अति उष्ण है । यही इन दोनों पदार्थों का गुणकी अपेक्षा भेद है ॥ ५ ॥

त्रिफलागुण.

अभयेति विभीतको गुणैरुभयं चेति सुभाषितं जिनैः ।
त्रिफलेति यथार्थनामिका फलतीह त्रिफलान् त्रिवर्गजान् ॥६॥

भावार्थः—अभयाके समान ही बहेडा भी गुण से युक्त है ऐसा श्री जिननाथ ने कहा है । इसलिये हरड बहेडा व आमला ये तीनों त्रिफला कहलाते हैं और त्रिदोष वर्ग से उत्पन्न दोषों को दूर करते हैं । इसलिये इनका त्रिफला यह नाम सार्थक है ॥६॥

त्रिफला प्रशंसा

त्रिफला मनुजामृतं भुवि त्रिफला सर्वरुजापहारिणी ।
त्रिफला वयसश्च धारिणी त्रिफला देहदृढत्वकारिणी ॥७॥
त्रिफला त्रिफलेति भाषिता विबुधैरद्भुतबुद्धिकारिणी ।
मलशुद्धिकृदुद्धताग्निकृत्स्खलितानां मवयो बहत्यलम् ॥ ८ ॥

भावार्थः—त्रिफला मनुष्यों को इस भूलोक में अमृतके समान है, वह सर्व रोगों को नाश करनेवाली है । त्रिफला मनुष्यों को जवान बनाये रखनेवाली है और शरीर में दृढता उत्पन्न करती है ।

त्रिफला तीन फलोंसे युक्त है ऐसा विद्वानोंने कहा है । वह अद्भुत बुद्धि उत्पन्न करती है, मलशोधन करती है, और अग्नि दीपन करती है । इतना ही नहीं वृद्ध होकर शक्ति से स्खलितों को भी शक्ति प्रदान करती है ॥ ७ ॥ ८ ॥

त्रिफलायसमाक्षिकमागधिका सविडंगसुभृंगरजश्च समम् ।
त्रिगुणं च भवेदपि वालुनकं पयसेदमृतं पिब कुष्ठहरम् ॥ ९ ॥

भावार्थः—त्रिफला को यदि लोहभस्म, सोनामाखी, पीपल, वायविडंग, भंगरा के चूर्ण के साथ उपयोग करें तो तीन गुण को प्रकट करता है । और इन को ही दूध के साथ उपयोग करें तो यह कुष्ठ रोग को भी दूर करने वाला अमृत है ॥ ९॥

त्रिफलां पिब गव्यघृतेन युतां त्रिफलां सितया सहितामथवा ।
त्रिफलां ललितातिवलाकलितां त्रिफलां क्वथितां तु शिलाजतुना ॥ १० ॥

भावार्थः—त्रिफला को गोघृत के साथ पीना चाहिये, त्रिफला को शक्कर के साथ में पीना चाहिये, अथवा त्रिफला को अतिवला के साथ सेवन करना चाहिये और त्रिफला को शिलाजीत के साथ कषाय कर पीना चाहिये ॥ १० ॥

इति योगविकल्पयुतां त्रिफलां सततं खलु यां निपिबेन्मनुजः ।
स्थिरबुद्धिबलेंद्रियवीर्ययुतश्चिरमायुररं परमं लभते ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस प्रकार अनेक विकल्पके योगों से युक्त त्रिफला रसायन को सतत पीने से यह मनुष्य स्थैर्य, बुद्धि, बल, इंद्रियनैर्मल्य, वीर्य आदियों से युक्त होता है और दीर्घ आयुष्य को प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

शिलाजतु योग.

एवं शिलाजतु शिलोद्भवकल्कलोह– ।
कांतातिनीलघनमप्यतिसूक्ष्मचूर्णम् ॥
कृत्वैकमेकमिहसत्त्रिफलाकषायैः ।
संभावितं तनुभृतां सकलामयघ्नम् ॥ १२ ॥

भावार्थः—इसी प्रकार शिलाजीत, पत्थरका फूल, इनका कल्क, लोहभस्म, नागरमोथा, अतिनील, बडी इलायची, इनको अलग २ अच्छीतरह चूर्ण कर प्रत्येक को त्रिफला कषायसे भावना देवें। फिर उसका सेवन करें तो सर्व प्रकार के रोगों को वह नाश करता है ॥ १२ ॥

शिलोद्भव कल्प.

अथ शिलोद्भवमप्यतियत्नतः खदिरसारयुतं परिपाचितम् ।
त्रिफलया च विपक्वमिदं पिबन् हरति कुष्ठगणानतिनिष्ठुरान् ॥ १३ ॥

भावार्थः—पत्थर के फूल को खदिरसार के साथ अच्छीतरह बहुत यत्नपूर्वक पकावें, फिर उसे त्रिफला के साथ पकावें। उस को सेवन करने से भयंकर से भयंकर कुष्ठ रोग भी दूर होते हैं ॥ १३ ॥

शिलाजतुकल्प.

यदि शिलाजतुनापि शिलोदकं पिब सदैव शिलोद्भववल्कलैः ।
अपि च निंबकुनिंबबृहत्सकैर्निखिलकुष्ठविनाशकरं परम् ॥ १४ ॥

भावार्थः—पत्थर के फूल के कल्क, निंब व कुनिंब की छाल के साथ व शिलाजीत के साथ शिलाजल को पीवें तो सर्व प्रकार के कुष्ठ नष्ट होते हैं ॥ १४ ॥

क्षयनाशक कल्प.

अपि शिलोद्भववल्कलकल्ककथितगव्यपयः परिमिश्रितैः ।
मगधजान्वितसत्सितयान्वितः क्षयगदः क्षपयेत्क्षणमात्रतः ॥ १५ ॥

भावार्थः—पत्थर के फूल व शिलावल्क के कल्कके साथ क्वथित गोदुग्ध के साथ पीपल व शक्कर को मिलाकर सेवन करने से अतिशीघ्र क्षयरोग दूर होता है ॥ १५ ॥

बलवर्धक पायस.

अपि शिलोत्थसुवल्कलचूर्णमिश्रितपयः परिपाचितपायसम् ।
सततमेव निषेव्य सुदुर्बलोऽप्यतिबलो भवति प्रतिमासतः ॥ १६ ॥

भावार्थः—शिलावल्कके चूर्ण के साथ दूध का मिश्रण कर उस से पकाये हुए खीरका सतत सेवन करें तो एक महिने में अत्यंत दुर्बल भी अत्यंत बलवान् होता है ॥ १६ ॥

शिलावल्कलांजनकल्प.

अपि शिलामलवल्कलचूर्णसंयुतमलक्तकसत्पटलं स्फुटम् ।
घृतवरेण कृतांजनमंजसा कुरुत एतदनिंद्यदृशो दृशा ॥ १७ ॥

भावार्थः—शुद्ध शिलावल्कलके चूर्ण के साथ लाख के पटल को मिलाकर घी के साथ अंजन तैयार करें तो वह अंजन सदा आंखोंके लिये उपयोगी है ॥ १७ ॥

कृशाकर व वर्धनकल्प.

इह शिलोद्भववल्कलमंबुना पिब फलत्रिकचूर्णविमिश्रितम् ।
कृशकरं परमं प्रतिपादितं घृतसितापयसा परिबृंहणम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—शिलावल्कल के कषाय के साथ त्रिफला चूर्ण को मिलाकर पीवें तो कृशकर है । वही घृत, शक्कर व दूध के साथ सेवन करें तो रसों का वर्द्धक है ॥ १८ ॥

उपलवल्कलकल्कनिषेवणादखिलरोगगणः प्रलयं व्रजेत् ।
त्रिफलया सह शर्करया घृतैर्मगधजान्वितचारुविडंगजैः ॥ १९ ॥

भावार्थः—शिला की छाल के कल्क को त्रिफला, शक्कर, घृत, पीपल व वाय विडंग के साथ सेवन करें तो सर्व रोग को वह नाश करता है ॥ १९ ॥

शिलाजतुकल्प.

इति यथोपलवल्कलकल्कसंविहितकल्पमनल्पमुदाहृतम् ।
विदितचारुशिलाजतुकल्पमप्यधिकमल्पविकल्पयुतं ब्रुवे ॥ २० ॥

भावार्थः—अभीतक शिलावल्कल [छाला] के कल्क को विस्तारके साथ प्रतिपादन किया । अब शिलाजीत के कल्पको अधिक प्रकार का होनेपर भी अल्पविकल्पों के साथ कहेंगे ॥ २० ॥

शिलाजीतकी उत्पत्ति.

अथ वक्ष्याम्यद्रिजातप्रवरजतुविधिः संभवादिस्वभावै- ।
रिह शैला ग्रीष्मकाले जलदनलसमकांशुसंतप्तदेहाः ॥
निजशृंगैस्तुंगकूटैः कठिनतरसमुद्भिन्नसन्नद्धगण्डैः ।
मदधारामुत्सृजंति त्रिजगदतिशयं सज्जतं प्राज्यवीर्यम् ॥ २१ ॥

भावार्थः—अब शिलाजीत के कल्प को उस की उत्पत्ति स्वभाव आदिकों के कथन के साथ २ प्रतिपादन करेंगे । ग्रीष्म ऋतु में अत्यंत प्रकाशमान [तेजयुक्त] अग्नि के समान रहनेवाले सूर्यकिरणों से पर्वत अत्यंत तप्त होकर वे अपने शिररूपी ऊंची २ चोटी के अत्यंत कठिन व फटे हुए आजू बाजू के प्रदेशरूपी गंडस्थल से [कपोल] युक्त पर्वत के शिखर में रहनेवाले कठिन पत्थरों से, मदोन्मत्तहाथी के जिस प्रकार मदजल बहता है उसी प्रकार लाख के रस के समान लाल रस चुंवते हैं । यही रस, तीन लोक में अतिशयकारक व उत्कृष्ट वीर्यवाला शिलाजीत कहलाता है । अथवा यही तीन लोकको अतिशय बल व वीर्यशाली बनाता है ॥२१॥

शिलाजतुयोग.

त्रपुसीसायसमुताम्रप्रवररजतसत्कांचनानां च योनिं ।
नियतासंख्याक्रमेणोत्तरमधिकतरं सव्यमेतद्यथावत् ॥
त्रिफलांबुक्षीरसर्पिस्सहितमिह महाश्लेष्मपित्तानिलोत्थैः ।
गिरिनिर्यासो रसेंद्रः कनककुदखिलव्याधिहृद्भेषजं च ॥२२॥

भावार्थः—रांगा, सीस, लोह, ताम्र, चांदी, सोना, ये छह धातु शिलाजीत के योनि है । इन नियत उत्तरोत्तर धातुओंसे उत्पन्न शिलाजतु एक से एक अधिक गुणवाला

---

१ पर्वतस्थ पत्थरों में रांगा आदि धातुओं का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है । जब पत्थर तप जाता है तो ये धातु पिघल कर शिलाजीत के रूप में होते हैं । इसलिये इन धातुओं को शिलाजीत के योनि के नाम से कहा है ।

है । ऐसे शिलाजीत को यथाविधि सेवन करना चाहिये । शिलाजीत त्रिफला का काढा, दूध, घी इन के साथ मिला कर, महान् कफ, पित्त, वातजन्य विकार में सेवन करें । सर्व रसों में श्रेष्ठ यह शिलाजीत कनक (सोने से युक्त) सहित है और सम्पूर्ण व्याधियों को नाश करनेवाला श्रेष्ठ औषध है ॥ २२ ॥

कृष्ण शिलाजतुकल्प.

ऊषाप्येषा विशेषा जतुवदिह भवेत्पंचवर्णा सुवर्णा ।
व्यापारे पारदीयोपमरसवरषट्सर्वलोहानुवेधी ॥
तामूषां टङ्कगुंजाघृतगुलमधुसंमर्दितं शुद्धमाव- ।
स्याविद्धात्यनूनं जनयति कनकं तत्क्षणादेव साक्षात् ॥ २३ ॥

भावार्थः—कृष्ण [काला] शिलाजीत नामक शिलाजीत का एक भेद है, उसे ऊषा कहते हैं, वह लाख के समान द्रव व चमकीला रहता है । उस में पंचवर्ण स्पष्ट दिखते हैं । उसे पारद कर्म में उपयोग करते हैं । यह छह धातुवोंको द्रव करनेवाला है । इस प्रकार के काले शिलाजीत के साथ टंकणक्षार, गुंजा, घृत, मधु और गुड को मिश्रित कर एवं मर्दितकर अग्नि में रखकर फूंकने से कुछ समय में ही उस से सुवर्ण निकलता है ॥ २३ ॥

वाम्येषाकल्प.

वाम्येषामविषां विचार्य विषवित् संभक्षितां पक्षिभिः ।
संभक्ष्याक्षयतां व्रजेद्विलुलितां क्षीराज्यसच्छर्करां ॥
भुक्त्वात्राप्यशनं घृतेन पयसा शाकाम्लपत्रादिसं- ।
त्यक्त्वा निर्जितशत्रुरूर्जितगुणो वीर्याधिकस्स्यान्नरः ॥ २४ ॥

भावार्थः—विष को जाननेवाला वैद्य पक्षियों के द्वारा खाये हुए, निर्विष ऐसा वाम्येषा [कवचबीज वा तालमखाना] को विचार पूर्वक (सविष है या निर्विष ?) ग्रहण कर दूध घी, शक्कर के साथ मिला कर सेवन करावे । इस के सेवन काल में घी दूध के साथ भात खानेको देवे और शाक अम्ल, पत्रशाक आदि खाने को न दें क्यों कि ये वर्जित है । इस विधिसे उसे सेवन करनेसे मनुष्य अक्षयत्व को प्राप्त होता है अर्थात् जब तक आयुष्य है तब तक उस का शरीर जवान जैसा हृष्ट पुष्ट बना रहता है । उस के

१ इस से यह जाना जाता है कि वह सविष या निर्विष है ? क्यों कि सविषको पक्षियां नहीं खाती हैं ॥

शरीर में इतनी शक्ति उत्पन्न होती है जिससे वह सब शत्रुओंको जीत सकता है। उसी प्रकार उस में उत्तमोत्तम गुण और वीर्य उत्पन्न होते हैं ॥ २४ ॥

पाषाणभेद कल्प.

नानावृक्षफलोपमाकृतियुताः पाषाणभेदास्स्वयं ।
ज्ञात्वा तानपि तत्फलांबुबहुशः पक्वान् सुचूर्णीकृतान् ॥
कृत्वा क्षीरघृतेक्षुजातसहितान् जीर्णे पयस्सर्पिषा ।
भुक्त्वान्नं वरशालिजं निजगुणैर्मर्त्योऽमरस्स्यादरम् ॥ २५ ॥

भावार्थः—अनेक वृक्षों के फलों के आकार में रहनेवाले पाषाण भेदों को (पखान भेद) अच्छीतरह जानकर उनको उन्हीं के फलों के क्वाथ से कई बार पकाकर अच्छीतरह चूर्ण करें और उसे दूध घी शक्कर या गुड के साथ खावें उस के जीर्ण होने पर दूध घृत के साथ उत्तम चावल के भात को खावें। इस के सेवन से मनुष्य अपने गुण व शरीर से साक्षात् देव के समान बन जाता है ॥ २५ ॥

भल्लातपाषाण कल्प.

प्रख्यातोत्तमकोलिपाकनगराद्व्यूतिमात्रत्रये ।
पूर्वस्यां दिशि कृष्णमेकमधिकं भल्लातपाषाणकम् ॥
तत्पाषाणनिजाभिधानविहितग्रामोपि तत्पार्श्वत— ।
स्तैश्चान्यैरवगम्य सर्वममलं पाषाणचूर्णं हरेत् ॥ २६ ॥

तच्चूर्णाढकमाढकं घृतवरं भल्लाततैलाढकं ।
शुद्धं चापि गुडाढकं बहुपलैस्संसिद्धभल्लातका— ॥
त्क्वाथैश्च चतुर्भिराढकमितैः पक्वं तथा द्रोणम— ।
ध्येतच्छुद्धतनुर्विशुद्धचरितस्सिद्धालये पूजयेत् ॥ २७ ॥
द्रोणं तद्वरभेषजं प्रतिदिनं मात्रां विदित्वा क्रमात् ।
लीढ्वा भेषजजीर्णतामपि तथा प्रोक्तोरुवेश्मस्थितः ॥
शालीनां प्रवरौदनं घृतपयोमिश्रं समश्नन्नरः ।
स्नानाभ्यंगविलेपनादिकृतसंस्कारे भवेत्सर्वदा ॥ २८ ॥

भावार्थः—प्रख्यात कोलिपाक नगर से तीन कोस पूर्व दिशा में एक भल्लातक-पाषाण नामक एक विशिष्ट काला पाषाण [पत्थर] मौजूद है। उसी के आस पास भल्लातपाषाण नामक ग्राम भी है। इन बातों से व अन्य चिन्हों से उसे पहिचान कर

निर्मल पाषाण चूर्ण को एकत्रित करें। आढक प्रमाण वह भल्लात पाषाण चूर्ण, आढक प्रमाण उत्तम गोघृत, आढक प्रमाण भल्लातक [भिलावा] तैल, और आढक प्रमाण शुद्ध गुड इन को चार आढक विधि प्रकार तैयार किये हुए भल्लातक मूल के कषाय से यथाविधि सिद्ध करें अर्थात् अवलेह बनावें। इस प्रकार साधित एक द्रोण इस प्रमाण औषधिको शुद्ध शरीर व शुद्ध संयमवाला सिद्धमंदिर में पूजा करें। इस द्रोण प्रमाण उत्तम औषधि को प्रतिनित्य क्रमसे कुछ नियत प्रमाण में चाटना चाहिये। और औषधि के जीर्ण होनेपर पूर्वोक्त प्रकार के योग्य मकान में रहते हुए घृत व दूध से मिश्रित शाल्यन्नका भोजन करना चाहिये एवं हमेशा स्नान अभ्यंग (मालिश) उबटन आदि से शरीर का संस्कार भी करते रहना चाहिये। यह ध्यान रहे कि स्नान, अभ्यंग लेपन आदि संस्कार जिसके ऊपर किये गये हों उसे ही इस कल्पका सेवन कराना चाहिये ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

भल्लातपाषाणकल्प के विशेष गुण.

सद्रोणं कथितौषधं सुचरितश्शुद्धात्मदेहस्स्वयं ।
लीढ्वा गूढनिवातवेश्मनि सुखं शय्यातले संवसन् ॥
नित्यं सत्यतमव्रतः प्रतिदिनं जैनेंद्रमंत्राक्षरो ।
दीर्घायुर्बलवान् जयत्यतितरां रोगेंद्रवृंदं नरः ॥ २९ ॥

भावार्थः—सदाचारी, शुद्धात्मा (कषायरहित) व शुद्ध शरीरवाला [वमनादि पंचकर्मोंसे शुद्ध] गुप्त व वातरहित मकानमें सुखशय्या पर प्रतिनित्य सत्य, ब्रह्मचर्यादि व्रत पूर्वक, जिनेंद्र देव के मंत्रोंको उच्चारण करते रहते हुए उपरोक्त औषधि को एक द्रोण प्रमाण सेवन करे तो वह दीर्घायु व बलवान होता है एवं वह बडे से बडे रोगराजों को भी जीतता है ॥ २९ ॥

द्वितीयभल्लातपाषाणकल्प.

भल्लातोपलचूर्णमप्यभिहितं गोक्षीरपिष्टं पुटैः ।
दग्धं गोमयवन्हिना त्रिभिरिह प्रावछ्लितः सर्वदा ॥
क्षीराज्येक्षुविकारमिश्रितमलं पीत्वात्र संक्षेपजै– ॥
र्जीर्णे चारुरसायनाहितगुणः साक्षाद्भवेद्देववत् ॥ ३० ॥

---

१ चार सेर का एक आढक, चौसठ तोले का एक सेर, चार आढक का एक द्रोण.
२ चौथा हिस्सा पानी रहे उस प्रकार सिद्ध कषाय, यह भी अधिकाथका अर्थ हो सकता है।

भावार्थः—भल्लात पाषाणं चूर्ण को गाय के दूध के साथ घोटकर कंडों की अग्नि से तीन पुट देना चाहिये। फिर वमन विरेचन आदि से जिस का शरीर शुद्ध हुआ है ऐसा मनुष्य उक्त पुटित चूर्ण को दूध घी इक्षुविकार (मिश्री या शक्कर) व अन्य उत्तम औषध मिलाकर पीवे या सेवन करे उस के जीर्ण होनेपर रसायन गुणयुक्त भोजन (दूध भात) करे तो वह साक्षात् देव के समान बन जाता है ॥ ३० ॥

खर्परीकल्प.

प्रोक्तं यद्विपयं फलत्रयघृतं भक्ष्यातसत्खर्परी— ।
पानीयं प्रपिबन् विपक्वमसकृच्छुद्धात्मदेहः पुरा ॥
षण्मासादतिदुर्बलोऽपि बलवान् स्थूलस्तथा मध्यमः ।
स्यादन्नं वरशालिजं घृतपयोमिश्रं सदाप्याहरेत् ॥ ३१ ॥

भावार्थः—प्रथम मनुष्य, वमनादिक से व कषाय आदि के निग्रह से अपने शरीर व आत्मा को शुद्धि कर के पश्चात् वह पूर्वोक्त त्रिफला रसायन के साथ श्रेष्ठ खर्परी [उपधातुविशेष] को पानी के साथ पकाकर उस पानी (कषाय) को कई बार बराबर छह महीने तक पीवे तो अत्यंत दुर्बल मनुष्य भी बलवान् हो जाता है और अत्यंत स्थूल (मोटा) भी मध्यम [जितना चाहिये उतना] होता है। इसके सेवन काल में, घी दूध के साथ उत्तम चावल के भात को सदा खाना चाहिये ॥३१॥

खर्परिकल्प के विशेषगुण.

अब्दं तद्विहितक्रमादनुदिनं पीत्वा तु तेनैव स— ।
स्नातः स्निग्धतनुर्विधानविहितावासो यथोक्ताहृतिः ॥
मर्त्येंद्रस्सुरसन्निभो बलयुतस्साक्षादनंगोपमो ।
जीवेद्वर्षसहस्रबंधुरतरो भूत्वातिगः सर्वदा ॥ ३२ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त खर्परी कल्प को एक वर्ष पर्यंत पूर्वोक्त क्रम से प्रतिनित्य सेवन करे एवं उस के सेवन कालमें उसी के जल से स्नान करे, शरीर को चिकना करे [तैल मालिश करते रहे] पूर्वोक्त प्रकार के मकान में निवास करे एवं आहार [घी दूध से युक्त भात] का सेवन करे तो वह मनुष्य चक्रवर्ती व देव के समान बलवान्, व काम देव के समान, भव को अतिक्रमण करने वाला, अत्यंत मनोहर तरुणरूप के धारी होकर हजार वर्ष तक जीता है ॥ ३२ ॥

वज्रकल्प.

वज्राण्यप्यथ वज्रलोहमखिलं वज्रोरुबंधीफलं ।
प्रोद्यद्वज्रकपालमप्यतितरं वज्राख्यपाषाणकम् ॥
यद्यल्लब्धमतः प्रगृह्य विधिना दग्ध्वा तु भस्त्राग्निना ।
सम्यक्पाटलवीरवृक्षकृतसद्भस्माम्भसि प्रक्षिपेत् ॥ ३३ ॥
तान्यत्युष्णकुलत्थपक्वसलिले सप्ताभिषेकान्क्रमात् ।
कृत्वैवं पुनरात्तिके पयसि च प्रक्षिप्य यत्नाद्बुधः ॥
चूर्णीकृत्य सिताज्यमिश्रममलं ज्ञात्वात्र मात्रां स्वयं ।
लीढ्वाहारनिवासवित्स जयति प्रख्यातरोगाकरः ॥ ३४ ॥

भावार्थ—वज्र अनेक प्रकारके होते हैं। वज्र, वज्रलोह, वज्रबंध फल, वज्रकपाल, और वज्रपाषाण इस प्रकार के वज्रभेदों में से जो २ प्राप्त हो सकें संग्रह कर, विधिपूर्वक धोंकनी की तेज आग से जलावे। जब वह लाल हो जावे तो उसे पाटल व अर्जुन वृक्ष की लकडी के भस्म के पानी में डाले अर्थात् बुझावें। बाद में कुलथी के अत्युष्ण क्वाथसे सात बार धोवें। पुन बहुत यत्नपूर्वक दूध में उसे डालें। बाद में उस चूर्ण को घी व शक्कर के साथ मिलाकर, योग्य मात्रा में चाटे और इस के सेवन काल में पूर्वोक्त प्रकार के आहार(दूध घी के साथ चावल के भात)का सेवन व मकान में निवास करें। इस से मनुष्य प्रसिद्ध २ रोगों को जीतता है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

वज्रकल्प का विशेषगुण.

षण्मासान्नुपयुज्य वज्रमयसद्भैषज्यभाज्यान्वितं ।
जीर्णेऽस्मिन्वरभैषजैर्घृतपयोमिश्रान्नमप्याहृतम् ॥
जीवेद्वर्षसहस्रमंबरचरैः भूत्वातिगर्वः सदा ।
प्रोद्यद्यौवनदर्पदर्पितबलः सद्वज्रकायो नरः ॥ ३५ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त वज्रमय औषधियों से युक्त वज्र रसायनको घी मिलाकर छह महीनेपर्यंत बराबर सेवन करे और प्रतिनित्य उसके जीर्ण होनेपर व अन्य उत्तम औषधियों

---

१ यह क्रिया सातवार करें। २ आग से जलाकर दूध में बुझावें। यह भी सातवार करे। ३ यद्यपि "अभिषेकं" का अर्थ धोना या जलधारा डालना है। इसलिये टीका में भी यही लिखा है। लेकिन यह प्रकरण शुद्धि का होने के कारण धोने की अपेक्षा, गरम कर के बुझाना यह अर्थ करना अच्छा है। उसे क्वाथ में डुबाने से, धोने जैसा हो जाता है। अतः बुझाने का अर्थ भी अभिषेक शब्दसे निकल सकता है ॥

के साथ घृतदुग्ध मिश्रित अन्नका भोजन करें तो वह मनुष्य वज्रके समान मजबूत शरीरको धारण करता है एवं यौवन के मद से युक्त बल को धारण करके विद्याधरोंके साथ भी गर्व करते हुए हजारों वर्ष जीता है ॥ ३५ ॥

मृत्तिकाकल्प.

या चैवं भुवि मृत्तिका प्रतिदिनं संभक्ष्यते पक्षिभि-।
स्तां क्षीरेण घृतेन चेक्षुरससंयुक्तेन संभक्षयेत् ॥
अक्षुण्णं बलमप्यवार्यमधिकं वीर्यं च नीरोगतां ।
वांछन्नब्दसहस्रमायुरनवद्यात्मीयवेषो नरः ॥ ३६ ॥

भावार्थ:—जिस मट्टी को लोक में प्रतिदिन पक्षियां खाती हैं (उस को संग्रह कर) घृत, दूध इक्षुरस के साथ मिलाकर, उसे निर्दोषवेष को धारण करते हुए मनुष्य खावें तो वह कभी किसी के द्वारा नाश नहीं होनेवाले बल, अप्रतिहतवीर्य और आरोग्य को प्राप्त करता है। और हजारों वर्ष की आयु को भी प्राप्त करता है ॥३६॥

गोश्रृंग्यादि कल्प.

गोश्रृंगीगिरिश्रृंगजामपि गृहीत्वाशोष्य संचूर्णितां ।
गव्यक्षीरघृतैर्विपाच्य गुडसंमिश्रैः प्रभक्ष्य क्रमात् ॥
पश्चात् क्षीरघृताशनोऽक्षयबलं प्राप्नोति मर्त्यस्स्वयं ।
निर्वीर्योऽप्यतिवीर्यमूर्जितगुणः साक्षाद्भवेन्निश्चयः ॥ ३७ ॥

भावार्थ:— गोश्रृंगी [बबूर] व गिरिश्रृंगजा (शिलाजीत) को लेकर अच्छी तरह सुखाकर चूर्ण करें। फिर उस चूर्ण को गोक्षीर गोघृत व गुड मिलाकर यथाविधि पकावे अर्थात् अवलेह तैयार करे। फिर उसे क्रमसे खावें। बाद में दूध व घृत से युक्त अन्न का भोजन करें। इस से मनुष्य अक्षय बलको प्राप्त करता है। वीर्यरहित होनेपर भी अत्यंत वीर्य को प्राप्त करता है। एवं निश्चय ही उत्तमोत्तम गुणों से युक्त होता है ॥ ३७ ॥

एरंडादिकल्प.

एरण्डामृतहस्तिकर्णिविलसद्वीरांघ्रिपैः पाचितं ।
भक्ष्यान् प्रोक्तविधानतः प्रतिदिनं संभक्ष्य मंक्ष्वक्षयं ॥
वीर्यं प्राज्यबलं विलासविलसत् सद्यौवनं प्राप्य तत् ।
पश्चादायुरवाप्नोति त्रिशतमब्दानां निरुद्धामयः ॥ ३८ ॥

भावार्थः—एरंड की जड, गिलोय, गजकर्णी, भिलावा, इनके द्वारा साधित भक्ष्यों (पाक अवलेह आदि) को पूर्वोक्त विधान से प्रतिदिन भक्षण करे तो शीघ्र ही अक्षय वीर्य, विशिष्टशक्ति, मनोहर यौवन को प्राप्तकर सम्पूर्ण रोगोंसे रहित होकर तीन सौ वर्ष की आयुको भी प्राप्त करता है ॥३८॥

नाग्यादिकल्प.

नागी सत्खरकर्णिका कुटजयुङ्निम्बोरुनिम्बासमू- ।
लं संचूर्ण्य घृतेन मिश्रितमिदं लीढ्वा सदा निर्मलः ॥
रोगेंद्रानखिलानुपद्रवयुतान् जित्वा विषाण्यप्यशे- ।
षाण्यत्यद्भुतयौवनस्थितवयो जीवेत्सहस्रं नरः ॥ ३९ ॥

भावार्थः—नागी (वंध्याककोंटक) खरकर्णिका [तालमखाना] कूडा, चिरायता, महानिम्ब [बकायन] इन को इन के जड के साथ चूर्ण कर के घृत के साथ मिलाकर चाटनेसे अनेक उपद्रवों से युक्त बडे २ रोग, उग्रविषों को भी जीतकर अद्भुत यौवन सहित हजार वर्ष जीता है ॥ ३९ ॥

क्षारकल्प.

अत्रैवातत सत्क्रियाश्च विधिना सम्यग्विधास्ये पराद् ।
क्षारैः सत्त्रिफलासुचित्रकगणैः श्वेताश्वगंधामृता- ॥
वर्षाभूः प्रमुखैर्विशेषविहितैस्सद्भेषजैस्साधितं ।
प्रोद्यद्व्याधिविनाशनैरसदृशैर्दृष्टैस्ससम्यक्फलैः ॥ ४० ॥

भावार्थः—यहांसे आगे, क्षार, त्रिफला, चित्रकगण, सफेद असगंध, गिलोय, पुनर्नवा आदि विशिष्ट व श्रेष्ठ औषधि जो कि भयंकर रोगों को नाश करने में समर्थ हैं, असदृश हैं, जिन के फल भी प्रत्यक्ष देखे गये हैं उन के द्वारा कहे गये श्रेष्ठ क्रियाविशेषों को अर्थात् इन औषधियों के कल्पों को प्रतिपादन करेंगे ॥ ४० ॥

क्षारकल्पविधान.

क्षारैरिक्षुरकेक्षुतालितिलजापामार्गनिर्गुंडिका ।
रंभार्काम्बुजचित्रचित्रकतिलख्यातोरुमुष्टोद्भवैः ॥

१ स्वरकर्णिका इति पाठांतरं

पक्कैर्भस्मचतुर्गुणांभसि ततः पादावशेषीकृतैः ।
तत्पादामलसद्गुडैः परिपचेन्नातिद्रवं फाणितम् ॥ ४१ ॥
तस्मिन्सत्त्रिकटुत्रिजातकघनान् संचूर्ण्य पादांशतो ।
दत्वा मिश्रितमेतदुक्तकृतसंस्कारे घटे स्थापितं ॥
सद्धान्ये कलशं निधाय पिहितं मासोध्दृतं तं नरः ।
संभक्ष्याक्षयरोगवल्लभगणान् जित्वा चिरं जीवति ॥ ४२ ॥

भावार्थः—तालमखाना, ईख, मूसली, तिलजा (तिलवासिनी शाली–तिल जिसके अंदर रहता है वह धान)चिरचिरा, सम्हालू, पेला, आक, काल, एरंडवृक्ष, चीता तिल, इन प्रसिद्ध औषधियों को जलाकर भस्म करके उसे (भस्म से) चौगुना पानीमें घोलकर छानें। फिर उस क्षार जल को मंदाग्निसे पकाकर जब चौथाई पानी शेष रहे तो उस में [उस पानी से] चौथाई गुड मिलावे। फिर इतनी देरतक पकावे कि वह फाणित[1] के समान न अधिक गाढा हो और न पतला हो। पश्चात् उस में सोंठ, मिरच, पीपल, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागरमोथा, इनको समभाग लेकर सूक्ष्मचूर्ण करके चतुर्थांश प्रमाण में मिलावे। इस प्रकार सिद्ध औषधि को पूर्वोक्तक्रमसे संस्कृत घडे में भरकर, मुख को बंद कर धान्यराशि में गाढ दें। एक महीने के बाद उसे निकालकर विधिप्रकार सेवन करे तो असाध्य बडे २ रोगों को भी जीतकर चिरकाल तक जीता है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

चित्रककल्प.

शुद्धं चित्रकमूलमुक्तविधिना निष्क्वाथ्य तस्मिन्कषा– ।
ये दग्ध्वा सहसा क्षिपेदमलिना सच्छर्करा शंखना– ॥
भीरप्याशु विगाल्य फाणितयुतं शीतीकृतं सर्वग– ।
न्धद्रव्यैरपि मिश्रितं सुविहितं सम्यग्घटे संस्कृते ॥ ४३ ॥
तद्धान्ये निहितं समुध्दृतमतो मासात्सुगंधं सुरू– ।
पं सुस्वादु समस्तरोगनिवहप्रध्वंससौख्यास्पदं ॥
एवं चित्रकसद्रसायनवरं पीत्वा नरस्संततं ।
यक्ष्माणं क्षपयेदनूनबलमत्यर्शांसि सर्वान्गदान् ॥ ४४ ॥

---

१ इक्षोः रसस्तु यः पक्वः किंचिद्गाढो बहुद्रवः ।
स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितसंज्ञया ॥
ईख का रस को इतना पकावे कि वह थोडा गाढा हो ज्यादा पतला हो इसे फाणित कहते हैं ॥

भावार्थ:—शुद्ध[1] किये हुए चित्रक के मूल को क्वाथ विधि से पकाकर काढा तयार कर के उस में शीघ्र ही निर्मल श्रेष्ठ शर्करा व शंखनाभि को जलाकर डाले और शीघ्र ही उसे छानकरके उस में फाणित मिलावे। वह ठंडा होजाने पर सम्पूर्ण गंध द्रव्यों के कल्क मिलाकर, उसे संस्कृत घडे में भरकर धान्यराशि में गाढ दे। और एक महीने के बाद निकाल दे। इस प्रकार सिद्ध सुगंध, सुरूप, सुरुचि, सर्वरोग समूह को नाश करनेवाले, व सौख्यदायक इस चित्रक रसायन को विधिप्रकार हमेशा सेवन करे तो विशिष्ट बलशाली राजयक्ष्मा [क्षय] भयंकर बवासीर एवं सम्पूर्ण रोग भी नाश हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

त्रिफलादिकल्प.

एवं सत्त्रिफलासुचित्रकगणाद्युक्तोरुसद्भेषजा- ।
न्युक्तान्युक्तकषायपाकविधिना कृत्वा निषेव्यातुरः ॥
जीवेद्वर्षशतत्रयं निखिलरोगैकप्रमाथी स्वयं ।
निर्वीर्योऽप्यतिवीर्यधैर्यसहितः साक्षादनंगोपमः ॥ ४५ ॥

भावार्थ:—इसी प्रकार पूर्वोक्त (४० वें श्लोक में कहे गये) त्रिफला चित्रकगणोक्त आदि औषधियों को उक्त कषायपाक विधान से पकाकर [फांणित या शक्कर, गंधद्रव्य आदि मिलाकर चित्रक कल्प के समान सिद्ध कर के] रोगी सेवन करे तो वह मनुष्य तीन सौ वर्ष पर्यंत संपूर्ण रोगों से रहित होकर बलहीन होनेपर भी अत्यंत बलशाली होते हुए, अत्यंत धैर्यशाली व कामदेव के समान सुंदर रूप को धारण कर सुखसे जीता है ॥ ४५ ॥

कल्प का उपसंहार.

इत्येवं विविधविकल्पकल्पयोगं शास्त्रोक्तक्रमविधिना निषेव्य मर्त्यः ।
नाप्नोति प्रकटबलं प्रतापमायुर्वीर्यं चाप्रतिहततां निरामयत्वम् ॥४६॥

भावार्थ:—इस प्रकार अनेक भेदों से विभक्त कल्पो के योगोंको शास्त्रोक्त विधि से सेवन करे तो वह मनुष्य विशिष्टबल, तेज, आयु, वीर्य, अजेयत्व व निरोगता को प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

प्रत्यक्षप्रकटफलप्रसिद्धयोगान् सिद्धांतोध्दृतनिजबुद्धिभिः प्रणीतान् ।
बुध्दैवं विधिवदिह प्रयुज्य यत्नाद्दुर्वार्याखिलरिपवो भवंति मर्त्याः ॥४७॥

---

1 चित्रक के जड को चूने के पानी में डालकर रखने से शुद्ध हो जाता है।

भावार्थः—जिन के फल प्रत्यक्ष में प्रकट हैं अर्थात् अनुभूत हैं, जो दुनिया में भी प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं, और सिद्धांत के पारगामी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित हैं ऐसे पूर्वोक्त औषधयोगों को जानकर विधि व यत्नपूर्वक जो मनुष्य उपयोग (सेवन) करते हैं वे सम्पूर्ण वैरियों को दुर्जेय होते हैं अर्थात् विशिष्ट बलशाली होने से उन्हे कोई भी वैरी जीत नहीं सकते ॥ ४७ ॥

इति तद्धितं रसरसायनकं परमौषधान्यलं ।
शास्त्रविहितविधिनात्र नरास्समुपेत्य नित्यसुखिनो भवंति ते ॥
अथ चोक्तयुक्तविधिनात्र सदसद्वस्तुवेदिना सत्यमिति ।
किमुत संकथनीयमशेषमस्ति सततं निषेव्यताम् ॥ ४८ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त, मनुष्यों को हितकारक रस, रसायन व विशिष्ट औषधियों को प्रतिनित्य शास्त्रोक्त विधि से सेवन करे तो मनुष्य नित्य सुखी हो जाते हैं। (इन औषधियोंके गुणोंकी प्रमाणता के लिये) पूर्वोक्त कथन सब सत्य ही है असत्य नहीं है यह कहने की क्या आवश्यकता है ? असली व नकली वस्तुओंको जानने वाले बुद्धिमान् मनुष्य इन सब रसायन आदिकों को पूर्वोक्तविधि के अनुसार हमेशा (विचारपूर्वक) सेवन करें और देखें कि वे कैसे प्रभाव करते हैं ? तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त योगों के बारे में यह गुण करता है कि नहीं ऐसी शंका करने की जरूरत नहीं है। निःशंक होकर सेवन करें। गुण अवश्य दिखेगा ॥४८॥

नगरी यथा नगरनाथपरिकरसमस्तसाधनैः ।
रक्षति च रिपुभयाच्च तनूं तदुक्तभेषजगणैस्तथामयात् ॥
इदमौषधाचरणमत्र सुकृतीजनयोग्यमन्यथा ।
धर्मसुखनिलयदेहगणः प्रलयं प्रयाति बहुदोषदूषितः ॥४९॥

भावार्थः—जिस प्रकार नगर के अधिपति [राजा] अपनी सेना शस्त्र अस्त्र आदि समस्त साधनों से नगर को शत्रुओं के भयसे रक्षा करता है उसी प्रकार शरीर के स्वामी [मनुष्य] औषध समूह रूपी साधनों द्वारा रोगरूपी शत्रुओं के भयसे शरीर की रक्षा करे। यदि वह पुण्यात्मा मनुष्यों के योग्य यहांपर [इस संहिता में] कहे हुए औषध व आचरण का सेवन न करके अन्यथा प्रवृत्ति करे तो धर्म व सुख के लिये आश्रयभूत यह शरीर अत्यंत कुपित दोषों से दूषित होकर नष्ट हो जायगा ॥४९॥

इत्येवं विविधौषधान्यलं ।
सत्वमतो मनुजा निषेव्य सं- ॥
प्राप्नुवंति स्फुटमेव सर्वथा- ।
प्युत्रिकं चतुष्कसत्फलोदयम् ॥ ५० ॥

भावार्थः—इस प्रकार पूर्व प्रतिपादित नाना प्रकार के औषधियों को बुद्धिमान् मनुष्य यथाविधि सेवन कर इस भव में तीन पुरुषार्थों को तो पाते ही हैं, लेकिन पर भव से भी धर्म अर्थ, काम मोक्ष को निश्चय से प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है औषधि के सेवन से शरीर आरोग्य युक्त व दृढ हो जाता है। उस स्वस्थ शरीर को पाकर वह यदि अच्छी तरह धर्म सेवन करें तो अवश्य ही परभव में पुरुषार्थ मिलेंगे अन्यथा नहीं ॥ ५० ॥

ग्रंथकर्ता की प्रशस्ति.

श्रीविष्णुराजपरमेश्वरमौलिमाला- ।
संलालितांघ्रियुगलः सकलागमज्ञः ॥
आलापनीयगुणसोन्नत सन्मुनीद्रः ।
श्रीनंदिनंदितगुरुर्गुरुरूर्जितोऽहम् ॥ ५१ ॥

भावार्थः—महाराजा श्री विष्णुराजा के मुकुट की माला से जिन के चरण युगल सुशोभित हैं अर्थात् जिन के चरण कमल में विष्णुराज नमस्कार करता है, जो सम्पूर्ण आगम के ज्ञाता हैं, प्रशंसनीय गुणों के धारी यशस्वी श्रेष्ठ मुनियों के स्वामी हैं अर्थात् आचार्य हैं ऐसे श्रीनंदि नाम से प्रसिद्ध जो महामुनि हुए हैं वे मेरे [उग्रादित्याचार्य के] परम गुरु हैं। उन ही से मेरा उद्धार हुआ है ॥ ५१ ॥

तस्याज्ञया विविधभेषजदानसिध्यै ।
सद्वैद्यवत्सलतपः परिपूरणार्थम् ॥
शास्त्रं कृतं जिनमतोध्दृतमेतदुद्यत् ।
कल्याणकारकमिति प्रथितं धरायाम् ॥ ५२ ॥

भावार्थः—उनकी [गुरु की] आज्ञासे नाना प्रकार के औषध दान की सिद्धि के लिये एवं सज्जन वैद्यों के साथ वात्सल्य प्रदर्शनरूपी तप की पूर्ति के लिये जिन मत से उध्दृत और लोक में कल्याणकारक के नाम से प्रसिद्ध इस शास्त्र को मैने बनाया॥५२॥

इत्येतदुत्तमनुत्तरमुत्तमज्ञैः विस्तीर्णवस्तुयुतमस्तसमस्तदोषं ।
प्राक्स्थापितं जिनवरैरधुना मुनींद्रोग्रादित्यपण्डितमहागुरुभिः प्रणीतम् ॥५३॥

भावार्थः—इस प्रकार प्रतिपादित यह उत्तरतंत्र अत्यंत उत्तम है। अनेक पदार्थों के विस्तृत कथन के साथ युक्त है। संपूर्ण दोषोंसे रहित है। पहिले सर्वज्ञ जिनेंद्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित है [उसीके आधारसे] अब मुनींद्र उग्रादित्याचार्य नामके विद्वान् महागुरु के द्वारा प्रणीत है ॥ ५३ ॥

सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषाविशेषोज्वलात् ।
प्राणावायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः ॥
उग्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुणैरुद्भासि सौख्यास्पदं ।
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः ॥ ५४ ॥

भावार्थः—सर्व अर्थ को प्रतिपादन करनेवाली सर्वार्धमागधी भाषा में अत्यंत सुंदर जो है प्राणावाय नामक महाशास्त्र (अंग) उस से यथावत् संक्षेप रूप से संग्रहकर उग्रादित्य गुरुने उत्तम गुणों से युक्त सुख के स्थानभूत इस शास्त्र को संस्कृतभाषा में रचना की है। इन दोनों मे इतना ही अंतर है ॥ ५४ ॥

सालंकारं सुशब्दं श्रवणसुखमथ प्रार्थितं स्वार्थविद्भिः ।
प्राणायुस्सत्ववीर्यप्रकटबलकरं प्राणिनां स्वस्थहेतुम् ॥
निर्व्यूढं विचारक्षममिति कुशलाः शास्त्रमेतद्यथावत् ।
कल्याणाख्यं जिनेंद्रैर्विरचितमधिगम्याशु सौख्यं लभंते ॥ ५५ ॥

भावार्थः—यह कल्याणकारक नामक शास्त्र अनेक अलंकारों से युक्त है, सुंदर-शब्दोंसे ग्रथित है, सुनने के लिये सुखमय है (श्रुतिकटु नहीं है) कुछ स्वार्थ को जाननेवालों [आत्मज्ञानी] की प्रार्थना से निर्मापित है, प्राणियों के प्राण, आयु, सत्व वीर्य, बल को उत्पन्न करनेवाला और स्वास्थ्य के कारणभूत है। पूर्वके गणधरादि महाऋषियों द्वारा प्रतिपादित महान् शास्त्र रूपी निधि से उत्पन्न है। विचार को सहने-वाला अर्थात् प्रशस्त युक्तियों से युक्त है। जिनेंद्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित है ऐसे इस शास्त्र को बुद्धिमान् मनुष्य प्राप्त कर के उस के अनुकूल प्रवृत्ति करें तो शीघ्र ही सौख्य को पाते हैं ॥ ५५ ॥

अध्यर्धद्विसहस्रकैरपि तथाशीतित्रयैस्सोत्तरैः— ।
वृत्तैस्संचरितैरिहाधिकमहावृत्तैर्जिनेंद्रोदितैः ॥
प्रोक्तं शास्त्रमिदं प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचार्यार्थवत्— ।
ज्जीयात्तद्रविचंद्रतारकमलं सौख्यास्पदं प्राणिनाम् ॥५६॥

भावार्थः—श्री जिनेंद्र भगवंत के द्वारा प्रतिपादित भिन्न२ महान्वृत्तों (छंदस्) के द्वारा, प्रमाण नय व निक्षेपोंका विचार कर सार्थक रूपसे दो हजार पांचसौ तेरासी महावृत्तोंसे निर्मित, सर्व प्राणियोंको सुख प्रदान करनेवाला यह शास्त्र जबतक इस लोक में सूर्य, चंद्र व नक्षत्र रहें तबतक बराबर अटल रहे ॥ ५६ ॥

अंतिम कथन.

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहाम्बुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ५७ ॥

भावार्थः—जिस में संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिस के दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्रीजिनेंद्रमुखसे उत्पन्न शास्त्रसमुद्रसे निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है । साथ में जगत्का एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ ५७ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यविरचितकल्याणकारकोत्तरतंत्रे नानाविकल्प
कल्पनासिद्धये कल्पाधिकारः पंचमोऽध्यायः
आदितः पंचविंशतितमः परिच्छेदः ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक ग्रंथ के चिकित्साधिकार में
विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखित
भावार्थदीपिका टीका में कल्पसिद्धाधिकार नामक
उत्तरतंत्रमें पांचवां व आदिसे पच्चीसवां परिच्छेद समाप्त ।

अथ परिशिष्टरिष्टाध्यायः

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा.

अरिष्टनेमिं परमेष्टिनं जिनं प्रणम्य भक्त्या प्रविलुप्तकल्मषं ।
विशिष्टसंदिष्टसुरिष्टलक्षणं प्रवक्ष्यते स्वस्थजनेषु व्यापितम् ॥१॥

भावार्थः—जन्मजरामरणरहित, परमेष्ठी, सर्वकर्मो से रहित श्री नेमिनाथ तीर्थकर को भक्ति से नमस्कार कर स्वस्थ मनुष्यों में पाये जानेवाले एवं (पूर्वाचार्यो द्वारा) विशेष रूप से प्रतिपादित रिष्ट [मरणसूचक चिन्ह] लक्षणों का निरूपण किया जायगा ॥ १ ॥

रिष्टवर्णनोद्देश.

रहस्यमेतत्परमागमागतं महामुनीनां परमार्थवेदिनां ।
निगद्यते रिष्टमिदं शुभावनापरात्मनामेव न मोहितात्मनाम् ॥२॥

भावार्थः—यह रहस्य परमार्थ तत्व को जाननेवाले गणधर आदि तपोधनों के द्वारा निर्मित परमागम की परंपरा से आया हुआ है। और इन रिष्टों का प्रतिपादन सदा शुभ भावना में तत्पर सज्जनों के लिये किया गया है। न कि सांसारिकमोह में पडे हुए प्राणियों के लिये। क्यों कि उन के लिये न रिष्टों का दर्शन ही हो सकता है, और न उपयोग ही हो सकता है ॥ २ ॥

मृतिर्मृतेर्लक्षणमायुपक्षयं मृतेरुपायादपरले कथंचन ।
विमोहितानां मरणं महद्भयं ब्रवीमि चेत्तद्यतः कस्य नो भवेत् ॥३॥

भावार्थः—आयु के नाश होकर इस आत्मा के गत्यंतर की जो प्राप्ति होती है उसे मरण कहते हैं। विषादिक में भी मरण के कारण विद्यमान होने से वह भी किसी अंश में मरण ही कहलाते हैं। मोहनीय कर्म से पीडित पुरुषों को मरण का भय अत्यधिक मालुम होता है। इसलिये आगे उसी बात को कहेंगे जिस से उस का भय न हो ॥३॥

वृद्धों में सदा मरणभय.

अथ प्रयत्नादिह रिष्टलक्षणं सुभावितानां प्रवदे महात्मनां ।
कटंकटीभूतवयोधिकेष्वपि प्रतीतमृत्योर्भयमेव सर्वदा ॥ ४ ॥

भावार्थः—अब आगे संसार की स्थिति को अच्छी तरह विचार करनेवाले महात्माओं के लिये बहुत प्रयत्न पूर्वक मरणसूचक चिन्हों को कहेंगे। जो अत्यधिक वृद्ध हुए हैं उनको मरणका भय सदा रहता है ॥ ४ ॥

मृत्यु को व्यक्त करने का निषेध.

जरारुजामृत्युभयेन भाविता भवांतरेष्वप्रतिबुद्धदेहिनः ।
यतश्च ते बिभ्यति मृत्युभीतितस्ततो न तेषां मरणं वदेदिह ॥ ५ ॥

भावार्थः—जो लोग बुढापा रोग, मरण इन के भय से युक्त हैं और जो भवांतरों के विषय में कुछ भी जानकार नहीं है अर्थात् संसार के स्वरूप को नहीं समझते हैं ऐसे रोगियोंको (उन में व्यक्त मरण चिन्हों से इस का अमुक समय में मरण होजायगा यह निश्चय से मालुम पडने पर भी) कभी भी मरण वार्ताको नहीं कहना चाहिये। क्यों कि वे लोग अपने मरण विषय को सुनकर अत्यंत भयभीत हो जाते हैं। (जिससे अनेक रोग होकर मरण के अवधिके पहिले ही मरनेका भय रहता है, इतना ही नहीं यदि अत्यधिक डरपोक हो तो तत्काल भी प्राणत्याग कर सकते हैं) ॥ ५ ॥

मृत्यु को व्यक्त करने का विधान.

चतुर्गतिष्वप्यनुबद्धदुःखिता विभीतचित्ताः खलु सारवस्तु ते ।
समस्तसौख्यास्पदमुक्तिकांक्षिणस्सुखेन शृण्वंतु निगद्यतेऽधुना ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो चतुर्गतिभ्रमणस्वरूप इस संसार के दुःखों से भयभीत होकर सारभूत श्रेष्ठ व समस्त सौख्य के लिये स्थानभूत मोक्षको प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये तो मरणवार्ता को अवश्य कहना ही चाहिये। और वे भी अपने मरणसमय के चिन्होंको खुशी से सुनें। अब आगे उसी अरिष्ट लक्षणका प्रतिपादन करेंगे ॥ ६ ॥

रिष्टलक्षण.

यदेव सर्वं विपरीतलक्षणं स्वपूर्वशीतप्रकृतिस्वभावतः ।
तदेव रिष्टं प्रतिपादितं जिनैरतःपरं स्पष्टतरं प्रवक्ष्यते ॥ ७ ॥

भावार्थ—शरीर के वास्तविक प्रकृति व स्वभावसे बिलकुल विपरीत जो भी लक्षण प्रकट होते हैं उन्हें जिनेंद्र भगवानने रिष्ट कहा है। इसी रिष्ट का लक्षण विस्तार के साथ यहां से आगे प्रतिपादन करेंगे ॥ ७ ॥

द्विवार्षिकमरणलक्षण.

यदेव चंद्रार्कसुमण्डलं महीत्रिखण्डमाखण्डलकार्मुकच्छवि ।
प्रभाति सच्छिद्रसमेतमेव वा स जीवतीत्थं खलु वत्सरद्वयं ॥ ८ ॥

भावार्थः—जब मनुष्य को चंद्रमंडल, सूर्यमंडल पृथ्वी के तीनों खंड, इंद्रधनुष्य की प्रभा के समान पांचरंग से युक्त दिखते हों, अथवा ये छिद्रयुक्त दीखते हों, तो समझना चाहिये कि वह दो वर्ष तक ही जीता है अर्थात् वह दो वर्ष में मरेगा ॥ ८ ॥

वार्षिकमृत्युलक्षण.

यदर्द्धचंद्रेऽपि च मण्डलप्रभां ध्रुवं च तारामथवाप्यरुन्धतीम् ।
मरुत्पथं चंद्रकरं दिवातपं न चैव पश्येन्नहि सोऽपि वत्सरात् ॥ ९ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य अर्द्ध चंद्र में मण्डलाकार को देखता हो, और जिस को ध्रुवतारा, अरुंधती तारा, आकाश, चंद्रकिरण व दिनमें धूप नहीं दीखते हों वह एक वर्ष से अधिक जी नहीं सकता ॥ ९ ॥

एकादशमासिकमरणलक्षण.

स्फुरत्प्रभाभासुरमिंदुमण्डलं निरस्ततेजोनिकरं दिवाकरं ।
य एव पश्यन्मनुजः कदाचन प्रयाति चैकादशमासतो दिवम् ॥ १० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य चंद्रमण्डल को अधिक तीव्र प्रकाशयुक्त व सूर्य मण्डल को तेजोरहित अनुभव करता हो या देखता हो वह ग्यारह महीने में स्वर्ग को जाता है अर्थात् मरण को प्राप्त करता है ॥ १० ॥

दशमासिक मरण लक्षण.

अपश्यति छर्दिकफात्ममूत्रसत्पुरीषरेतस्सुरचापसत्प्रभं ।
सुवर्णताराच्छविसुप्त एव वा प्रबुद्ध एवं दशमान्स जीवति ॥ ११ ॥

भावार्थः—स्वप्न में या जागृत अवस्था में जो मनुष्य अपना वमन, कफ, मूत्र, मल व वीर्य को इंद्रधनुष, सुवर्ण अथवा नक्षत्र के वर्ण में देखता हो वह दस मासतक जीता है ॥ ११ ॥

नवमासिक मरण लक्षण.

सुवर्णवृक्षं सुरलोकमागतं मृतान्पिशाचानथ वांबरे पुरे ।
प्रदृश्य जीवेन्नवमासमद्भुतान् प्रलंबमानानधिकान्नतान्नरान् ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य स्वर्ग से आये हुए सुवर्ण वृक्ष को देखता हो और भयंकर रूप में लटकते हुए शरीरवाले व अत्यधिक मुडे [नत] हुए मनुष्यों को देखता हो एवं आकाश में मृत मनुष्यों को या पिशाचों को देखता हो, वह नौ महीने तक ही जीता है ॥ १२ ॥

अष्टमासिकमरणलक्षण.

अकारणात्स्थूलतरो नरोऽचिरादकारणादेव कृशः स्वयं भवेत् ।
अकारणाद्वा प्रकृतिर्विकारिणी स जीवतीहाष्टविशिष्टमासकान् ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य कारण के विना ही अतिशीघ्र अधिक स्थूल हो जावे और कारण के विना ही स्वयं अत्यंत कृश हो जावे, और जिसकी प्रकृति कारण के विना ही एकदम विकृत हो जावे तो वह मनुष्य आठ महीने तक ही जीता है ॥ १३ ॥

सप्तमासिक मरण लक्षण.

यदग्रतो वाप्यथवापि पृष्ठतः पदं सखण्डत्वमुपैति कर्दमे ।
सपांशुलेपः स्वयमार्द्र एव वा स सप्तमासात्परं स जीवति ॥ १४ ॥

भावार्थः—जिस मनुष्य का पैर कीचड में रखने पर उस पाद का चिन्ह आगे से या पीछे से आधा कटा हुआ सा हो जावें, पूर्ण पाद का चिन्ह न आवे, और पैर में लगा हुआ कीचड अपने आप ही [किसी विशिष्ट कारण के विना ही] गीला ही रहे तो वह सात महीने के बाद नहीं जीता है ॥ १४ ॥

पाण्मासिकमरणलक्षण.

उलूककाकोद्धतगृध्रकौशिकाविशिष्टकंगोग्रसुपिंगलादयः ।
शिरस्यतिक्रम्य वसंति चेद्बलात् स षट्सु मासेषु विनश्यति ध्रुवम् ॥ १५ ॥

भावार्थः—उल्लू, कौआ, उदण्ड गृध्र, कौशिक, कंगु, उग्र, पिंगल आदि पक्षी जिसके शिर को उलांघकर गये हों या जबरदस्ती शिरपर आकर बैठते हों वह छह महीने में अवश्य मरण को प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

पंचमासिक मरणलक्षण.

स पांशुतोयेन सुपांशुनाप्यरं शिरस्यसाक्षादवसृज्यते स्वयं ।
सधूमनीहारमिहाभिवीक्ष्यते नरो विनश्यत्यथ पंचमासतः ॥ १६ ॥

भावार्थः—धूल से मिला हुआ पानी अथवा केवल धूल से अप्रत्यक्षरूप से अपने मस्तक को मर्दन कर लेता है अर्थात् अकस्मात् उसे माळूम हुए बिना ही शिर में लगा हुआ मिलता है अथवा उसे अपना मस्तक धूवों व हिम से व्याप्त हुआ सा माळूम होता है तो वह पांच महीने में मरता है ॥ १६ ॥

चतुर्थ मासिक मरण लक्षण.

यदभ्रहीनेऽपि वियत्यनूनसाद्विलोलविद्युत्प्रभया प्रपश्यति ।
यमस्य दिग्भागगतं निरंतरं प्रयात्यसौ मासचतुष्टयाद्दिवम् ॥ १७ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सदा दक्षिण दिशाके आकाश में मेघ का अस्तित्व न होनेपर भी बिजली की प्रभा के साथ, प्रचंड व चंचल आकाश को देखता है वह मनुष्य चार महीने में अवश्य स्वर्ग को चला जाता है ॥ १७ ॥

त्रैमासिकमरण लक्षण.

यदा न पश्यत्यवलोक्य चात्मनस्तनुं प्रसुप्तो महिषोष्ट्रगर्दभान् ।
प्रयातुरारुह्य दिवा च वायसैर्मृतोऽपि मासत्रयमेव जीवति ॥ १८ ॥

भावार्थः—जिसे देखने पर अपना शरीर भी नहीं दिखता हो, स्वप्न में सवारी करने की इच्छा से भैंस, ऊंट, गधा, इन पर चढ कर सवारी करते हुए नजर आवे तथा तथा दिन में कौवों के साथ मरा हुआ माळूम होवे तो वह तीन महिना पर्यंत ही जीयेगा ॥ १८ ॥

द्विमासिकमरणचिन्ह.

सुरेंद्रचापं जलमध्यसंस्थितं प्रदृश्य साक्षात् क्षणमात्रतश्चलं ।
विचार्य मासद्वयजीवितःस्वयं परित्यजेदात्मपरिग्रहं बुधः ॥ १९ ॥

भावार्थः—जिस मनुष्यको जल के बीच में साक्षात् इंद्रधनुष दीखकर क्षण भर में विलय होगया है ऐसा प्रतीत हो तो वह बुद्धिमान् मनुष्य अपना जीवन दो महीने का अवशेष जानकर सर्व परिग्रहों का परित्याग करें ॥ १९ ॥

मासिकमरणचिन्ह.

यदाल्पकादर्शनचंद्रभास्करप्रदीप्ततेजस्सुनरो न पश्यति ।
समक्षमात्मप्रतिबिंबमन्यथा विलोकयेद्वा स च मासमात्रतः ॥ २० ॥

भावार्थः—जो मनुष्य अलका (कुटिलकेशी) व चंद्रसूर्य के तेज प्रकाश को भी नहीं देखता हो (जिसे नहीं दिखता हो) एवं समक्ष में उन के प्रतिबिंब को अन्यथा रूप से देखता हो तो समझना चाहिये कि उस का निवास केवल एक महीने का है ॥ २० ॥

पाक्षिकमरणचिन्ह.

यदा परस्मिन्निह दृष्टिमण्डले स्वयं स्वरूपं न च पश्यति स्फुटं।
प्रदीपगंधं च न वेत्ति यस्तदा त्रिपंचरात्रेषु नरो न विद्यते ॥ २१ ॥

भावार्थः—जिस समय जिस मनुष्य का रूप दूसरों के दृष्टिमण्डल में अच्छीतरह नहीं दिखता हो एवं जिसे तेज वासका भी अनुभव नहीं होता हो, वह तीन वार पांच दिन से अर्थात् १५ दिनसे अधिक नहीं जी सकता है ॥२१॥

द्वादशरात्रिकमरणचिन्ह.

यदा शरीरं शवगंधतां वदेदकारणादेव वदंति वेदना ।
प्रबुद्ध वा स्वप्नतयैव यो नरैः स जीवति द्वादशरात्रमेव वा ॥ २२ ॥

भावार्थः—जब जो मनुष्य अपने शरीर में मुर्दे के वास का अनुभव करता हो, कारण के विना ही शरीर में पीडा बतलाता हो जागते हुए भी स्वप्नसे युक्त के समान मनुष्यों को दिख पडता हो तब से वह बारह दिन तक ही जीयेगा ॥ २२ ॥

सप्तरात्रिकमरणचिन्ह.

यदान्यचिन्होत्यबलोऽसितो भवेद्यदारविंदं समवक्त्रमण्डलम् ।
यदा कपोले बलकेंद्रगोपकस्स एव जीवेदिह सप्तरात्रिकं ॥ २३ ॥

भावार्थः—जब शरीर अकस्मात् ही निर्बल व काला पड जाता हो, सर्व साधारण के समान रहनेवाला [सामन्यरूपयुक्त] मुख मंडल (अकस्मात्) कमल के समान गोल व मनोहर हो जावे, कपोल में इंद्रगोप के समान चिन्ह दिखाई दे तो समझना चाहिये कि वह सात दिन तक ही जीयेगा ॥ २३ ॥

त्रैरात्रिकमरणचिन्ह.

तुदं शरीरे प्रतिपीडयत्यप्यनूनमर्माणि च मारुतो यदा।
तथोग्रदुर्वृश्चिकविद्धवन्नरस्सदैव दुःखी त्रिदिनं स जीवति ॥ २४ ॥

भावार्थः—वात के प्रकोप से जब शरीर में सुई चुभने जैसी [भयंकर] पीडा हो, मर्मस्थानों में भी अत्यंत पीडा हो, भयंकर व दुष्ट बिच्छू से काटे हुए मनुष्य के समान अत्यधिक वेदना (दर्द) से प्रतिक्षण व्याकुलित हो तो समझना चाहिये कि वह तीन दिन तक ही जीता है ॥ २४ ॥

द्विरात्रिकमरणचिन्ह.

जलैस्सुशीतैर्हिमशीतलोपमैः प्रसिच्यतो यस्य न रोमहर्षः ।
न वेत्ति यस्सर्वशरीरसत्क्रियां नरो न जीवेद्विदिनात्परं सः ॥ २५ ॥

भावार्थः—बरफ के समान अत्यंत ठण्डे जल से सेचन करने पर भी जिसे रोमांच नहीं होता है और जो अपने शरीर की सर्वक्रियावोंका अनुभव नहीं करता हो, वह दो दिन से अधिक जी नहीं सकता है ॥ २५ ॥

एकरात्रिकमरणचिन्ह.

शृणोति योप्येव समुद्रघोषमप्यपांगगं ज्योतिरतिप्रयत्नतः ।
यथा न पश्येदथवा न नासिका नरश्च जीवेद्दिवसं न चापरम् ॥ २५ ॥

भावार्थ—जिसे समुद्रघोष नहीं सुनाई देता हो, अत्यंत प्रयत्न करनेपर भी आंख के कोये की ज्योति व नाक का अग्रभाग भी नहीं दिखता हो, वह एक ही दिन जीता है । इस से अधिक नहीं ॥ २६ ॥

त्रैवार्षिकआदिमरणचिन्ह.

पादं जंघां स्वजानूरुकटिकुक्षिगलांस्तलं ।
हस्तबाह्वंसवक्षोऽगं शिरश्च क्रमतो यदा ॥ २७ ॥
न पश्येदात्मनश्छायां क्रमात्त्र्येकवत्सरं ।
मासान्दश तथा सप्तचतुरेकान्स जीवति ॥ २८ ॥
तथा पक्षाष्टसत्रीणि दिनान्येकाधिकान्यपि ।
जीवेदिति नरो मत्वा त्यजेदात्मपरिग्रहम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—जिस मनुष्य को अपना पाद नहीं दिखें तो वह तीन वर्ष, जंघा नहीं दीखे तो दो वर्ष, जानु (घुटना) नहीं दीखे तो एक वर्ष, उरु (साथल) नहीं

---

१ कान के छिद्रों को अंगुलियोंसे ढकनेपर जो एक जाति का शब्द सुनाई देता है उसे समुद्रघोष कहते हैं ॥

दीख पडे तो दस महीने, कटिप्रदेश नहीं दीखे तो सात महिने कुक्षि (कूख) नहीं दीखे तो चार महिने, और गर्दन नहीं दीखे तो एक महीना तक ही जीता है। उसी प्रकार हाथ नहीं दीखे तो पंद्रह दिन, बाहु (भुजा) न दीखे तो आठ दिन, अंस (खंदे=भुजा की जोड) नहीं दीखे तो तीन दिन, वक्षस्थल (छाती] शिर और अपनी छाया नहीं दिखे तो दो दिन तक जीता है, ऐसा समझ कर बुद्धिमान् मनुष्य परिग्रह का त्याग कर दे अर्थात् दीक्षा धारण करें ॥ २७ ॥ २८ ॥

नवाह्निकादिमरणचिन्ह.

भ्रूयुग्मं नववासरं श्रवणयोः घोषं च सप्ताह्निकं ।
नासा पंचदिनादिभिर्नयनयोर्ज्योतिर्दिनानां त्रयं ॥
जिह्वामेकदिनं विकारति रसज्ञाहारातो बुद्धिमा-।
स्त्यक्त्वा देहमिदं त्यजेत विधिवत् संसारभीरुःपुमान् ॥ ३० ॥

भावार्थः—दोनों भ्रूवों के विकृत होनेपर मनुष्य नौ दिन, कान में समुद्र-घोष सदृश आवाज आने पर सात दिन, नाक में विकृति होनेपर पांच या चार दिन, आंखों की ज्योति में विकार होनेपर तीन दिन और रसनेंद्रिय विकृत होनेपर एक दिन जी सकता है। इस को अच्छी तरह समझकर संसार से भीनेवाला बुद्धिमान् मनुष्य को उचित है कि वह शास्त्रोक्तविधि प्रकार देह से मोह को छोडकर शरीरका परित्याग करे। अर्थात् सल्लेखना धारण करें ॥ ३० ॥

मरणका विशेषलक्षण.

दृग्भ्रांतिस्तिमिरं हृशस्फुरणता स्वेदश्च वक्त्रे भृशं ।
स्थैर्यं जीवसिरासु पादकरयोरत्यंतरोमोद्गमं ॥
साक्षाद्भूरिमलप्रवृत्तिरपि तत्तीव्रज्वरः श्वाससं- ।
रोधश्च प्रभवेन्नरस्य सहसा मृत्यूरुसल्लक्षणम् ॥ ३१ ॥

भावार्थः—मनुष्य की दृष्टि में भ्रांति होना, आंखो में अंधेरी आना, आंखो का स्फुरण व आंसूका अधिक रूप से बहना, मुख में विशेष पसीना आना, जीव सिराओं [जीवनधारक रक्तवाहिनी रसवाहिनी आदि नाडीयों] में स्थिरता उत्पन्न होना अर्थात् हलन चलन बंद हो जाना, पाद व हाथपर अत्यधिक रूप से रोम का उत्पन्न होना, मलकी अधिक प्रवृत्ति होना, तीव्र[1] ज्वरसे पीडित होना, श्वास का रुक जाना, ये लक्षण अकस्मात् प्रकट हो जावें तो समझना चाहिये कि उस मनुष्य का मरण जल्दी होनेवाला है ॥ ३१ ॥

१. १०६ डिग्रीसे ऊपर ज्वर का होना.

रिष्टप्रकट होने पर मुमुक्षुआत्माका कर्तव्य.

एवं साक्षाद्दृष्टरिष्टो विशिष्टस्त्यक्त्वा सर्वं वस्तुजालं कलत्रं ।
गत्वोदीचीं तां दिशं वा प्रतीचीं ज्ञात्वा सम्यग्रम्यदेशं विशालम् ॥२२॥
निर्जंतुके निर्मलभूमिभागे निराकुले निस्पृहतानिमित्ते ।
तीर्थे जिनानामथवालये वा मनोहरे पद्मवने वने वा ॥ २३ ॥
विचार्य पूर्वोत्तरसद्दिशां तां भूमौ शिलायां सिकतासु वापि ।
निधाय तत्क्षेत्रपतेस्सुपूजामभ्यर्चयेज्जैनपदारविंदम् ॥ २४ ॥
एवं समभ्यर्च्य जिनेंद्रवृंदं नत्वा सुदृष्टिः प्रविनष्टभीतिः ।
ध्यायेदथ ध्यानमपीह धर्म्यं संशुक्लमात्मीयबलानुरूपम् ॥२५॥
एवं नमस्कारपदान्यनूनं विचिंतयेज्जैनगुणैकसंपत् ।
ममापि भूयादिति मुक्तिहेतून् समाधिमिच्छन्मनुजेषु मान्यः ॥ २६ ॥

भावार्थः—उपर्युक्त प्रकार के लक्षणोसे युक्त रिष्टों को प्रत्यक्ष देखनेपर विवेकी पुरुष को उचित है कि वह अपने वास्तु,वाहन, पुत्र, मित्र, कलत्र, बंधुजन आदि समस्त परिग्रहों को छोड कर उत्तर या पूर्व दिशा में स्थित किसी विशाल व रम्य प्रदेश की ओर जावे । जहां के भूप्रदेश जीवोंसे रहित, पवित्र, संसार से निःस्पृहता को उत्पन्न करने के लिये निमित्तभूत, एवं निराकुल हो, ऐसे तीर्थस्थान, सुंदरजिनमंदिर, बगीचा या जंगल में जाकर वहां पर पूर्व या उत्तर दिशा में, निर्मलभूमि, शिला या बालू पर बैठकर सब से पहिले उस क्षेत्र के अधिपति (क्षेत्रपाल) की पूजा करें । पश्चात् श्रीजिनेंद्र भगवान के चरणकमलों को भक्तिभावसे पूजन करें । इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों की पूजा कर के और उन्हे नमस्कार कर वह भय से रहित सम्यग्दृष्टि मनुष्य, अपनी शक्ति के अनुसार धर्म्य ध्यान व शुक्ल ध्यान को ध्यावे । वह मनुष्यों में श्रेष्ट समाधि मरण को चाहता हुआ, ध्यानावस्था में जिनेंद्र देव के विशिष्टगुणरूपी सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो या मुझमें प्रगट हो इत्यादि दिव्य विचार या भाव से पंचपरमेष्ठियोंके दिव्य मंत्र (पंचनमस्कार) का एकाग्रचित्त से चिंतवन करें । [समय निकट आनेपर सल्लेखना धारण कर के फिर ध्यानारूढ होवे] ॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥

रिष्टवर्णनका उपसंहार.

इत्यादित्यमुनींद्रवाक्प्रकटितं स्वस्थेषु रिष्टं विदि-।
त्वा तत्सन्मुनयो मनस्यनुदिनं संधार्य धैर्यादिकान् ॥

१ सप्रयाता इति पाठांतरं ॥

संसारस्य निरूपितानपि जराजन्मोरुमृत्युक्रमान् ।
देहस्याध्रुवतां विचिंत्य तपसा ज्येष्ठा भवेयुस्सदा ॥

भावार्थः—इस प्रकार महामुनि उग्रादित्याचार्यके वचन के द्वारा प्रकटित स्वस्थ पुरुषों में पाये जानेवाले मरणसूचक चिन्हों को अच्छी तरह समझकर, [यदि वे चिन्ह अपने २ शरीर में प्रगट हों तो] मुनिपुंगव, मन में धैर्य स्थैर्य आदिवों को धारण करते हुए एवं संसार का विरूपपना जन्म जरा (बुढापा) मरण इनके क्रम या स्वरूप और शरीर की अस्थिरता आदि बातों को चिंतवन करते हुए, हमेशा मोक्षदायकतप में अग्रेसर होवें ॥ ३७ ॥

इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥ ३८ ॥

भावार्थः—जिस में संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, इह लोक परलोक के लिए प्रयोजनीभूत साधनरूपी जिस के दो सुंदर तट हैं। ऐसे श्रीजिनेंद्रमुख से उत्पन्न शास्त्रसमुद्र से निकली हुई बूंदके समान यह शास्त्र है। साथ में जगत्का एक मात्र हितसाधक है [इसलिए ही इसका नाम कल्याणकारक है] ॥ ३८ ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृतकल्याकारणके महासंहितायामुत्तरोत्तरे [भागे] स्वस्थारिष्टानिष्टदं महारहस्यं महामुनीनां भावनार्थमुपदिष्टपरिशिष्टरिष्टाध्यायः ॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक महासंहिता के उत्तर तंत्र के उत्तर भाग में विद्यावाचस्पतीत्युपाधिविभूषित **वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री** द्वारा लिखित **भावार्थदीपिका** टीका में स्वस्थों में अनिष्टद अरिष्टसूचक, महामुनियोंको भावना करने के लिये उपदिष्ट, परम रहस्य को वर्णन करनेवाला परिशिष्टरिष्टाध्याय समाप्त ।

अथ हिताहिताध्यायः ।

इह तावदाद्यं वैद्यं आर्हतमेवेति निश्चीयते । यथा चोक्तं—

आर्हतं वैद्यमाद्यं स्याद्यतस्तत्पूर्वपक्षतः ।
हिताहिताय विज्ञेयं स्याद्वादस्थितिसाधनम् ॥

इह तावद्धिताहिताध्याये स्वपक्षस्थापनं कर्तुमुद्यतः स्याद्वादवादिनामुपरि पूर्वपक्षमेवमुद्घोषयत्याचार्यः । हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमित्यनेन हेतुना न किंचिद् द्रव्यमेकांततो हिताहितं वास्तीति कृत्वा केचिदाचार्या ब्रुवंति । तत्र सम्यगिह खलु द्रव्याणि स्वभावतस्संयोगतश्चैकांतहितान्येकांताहितानि च भवंति । एकांतहितानि सजातिसात्म्यत्वात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि । एकांताहितानि तु दहनपचनमारणादिष्वपि प्रवृत्तान्यग्निक्षारविषाणि । संयोगतश्चापराणि विषसदृशान्येव भवंति । हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यं वायोश्चासिद्धमित्यतस्तु न सम्यगित्येकांतवादिना प्रतिपादितं तत्तु न सम्यक्कथितमिति चेदेकांतशब्दः सर्वथावाची वर्तते न कथंचिद्वाची । सर्वथाशब्दस्यायमर्थः । सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रकारैर्हितानि द्रव्याणि हितान्येव भवंति चेत्, नवज्वरातिसारकुष्ठभगंदरातिसाराक्षिरोगव्रणादिनिर्पीडितशरीरिणामपि

हिताहिताध्याय का भावानुवाद.

यहांपर सबसे पहिले इस बातका निश्चय करते हैं कि आयुर्वेदमें सबसे प्रथमस्थान आर्हत आयुर्वेद के लिये ही मिल सकता है । कहा भी है ।

आर्हत वैद्य [आयुर्वेद] ही प्रथम है । क्यों कि स्याद्वादकी स्थितिके लिये वह साधन है । और पूर्वपक्षसे हिताहितकी प्रवृत्ति निवृत्ति के लिये उपयुक्त है ।

यहांपर अपने पक्षको स्थापन करनें में प्रवृत्त आचार्य पहिले स्याद्वादवादियों के प्रति पूर्वपक्षको समर्थन करते हैं । बादमें उसका निरसन करेंगे ।

लोकमें पदार्थोंका गुणधर्म अनेकांतात्मक है । जो वात के लिये हितकर है वह पित्तके लिये अहितकर है । अतएव द्रव्य हिताहितात्मक हैं । इस हेतुसे दुनियामें कोई भी द्रव्य एकांतदृष्टिसे हित या अहितरूपमें नहीं है इस प्रकार कोई आचार्य [जैनाचार्य] कहते हैं । यह ठीक नहीं है। क्यों कि लोक में द्रव्य अपने स्वभाव व संयोगसे एकांत हित व अहित के रूपमें देखे जाते हैं । एकांत हितकर तो रोगके लिये प्रयोजनीभूत जल, घृत, दूध व अन्न आदि हैं । एकांत अहित जलाने, पचाने, मारने आदि में

सर्वथात्यंतहितान्येव भवंतीत्येवमिदानीं प्रणीतैरेतैरप्यातुरैरात्महितार्थिभिः सततमुपभोक्तव्यानि स्युस्तथा क्षाराग्निशस्त्रविषाण्यप्यतिनिपुणवैद्यगणैस्तत्तत्साध्यव्याधिषु प्रयुक्तानि प्रत्यक्षतस्तत्क्षणादेव प्रवृद्धव्याध्युपशमनं कृत्वातुरमतिसुखिनमाशु विधायात्यंतहितान्येव भवंतीत्येवं सर्वाणि वस्तूनि हितान्येवेति तत्सिद्धं भवति ॥ तथाचोक्तः— **विषमपि विषांतकं भवत्याहेयं नहि स्पृशंतं मारयति विषं स्वशक्तिमते तदपि मंत्रेगदोपयुक्तं स्थावरमंतेनेतरं मनुजं** ॥

तथा विषोदरचिकित्सायां । पुरुषविषमविषनिषेवणमप्यौषधमित्युक्तं । यथाः— काकोदन्यश्वमारकगुंजामूलकल्कं दापयेत् । इक्षुखंडानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेत् । मूलजं कंदजं वा विषमासेवेत । तेनागदो भवतीति विषमपि विषोदरिणा निषेवितमविषात्मकमेवामृतमिति वातिसुखाय कल्प्यते। विषस्य विषमौषधमिति वचनात् । तथोक्तं चरके विषचिकित्सायां ।

जंगमं स्यादधोभागमूर्ध्वभागं तु मूलजं ।
तस्मादंष्ट्रिविषं मौलं हंति मौलं च दंष्ट्रिजम् ॥

तथा चाग्निरप्यग्निविषौषधत्वेनोपदष्टः ।

प्रवृत्त अग्नि, क्षार, विष आदि हैं। पदार्थोंके संयोगसे अन्य भी पदार्थ विषसदृश होते हैं। वे भी एकांतसे अहितकारक हैं ।

[प्र] द्रव्य हिताहितात्मक हैं । जो वातके लिये हितकर है वह पित्तके लिये अहितकर है यह जो कहा गया है वह ठीक नहीं है, ऐसा कहोगे तो हम सवाल करते हैं कि एकांत शद्ब का क्या अर्थ है । उत्तर में एकांतवादी कहता है कि एकांतशब्द सर्वथा वाची है । कथंचित् वाची [किसीतरह अन्यरूप भी हो सकेगा] नहीं है । सर्वथा शब्दका खुलासा इस प्रकार है । सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रकारोंसे हित द्रव्य हितकारक ही होते हैं, अन्यथा नहीं हो सकते । ऐसा कहोगे तो ठीक नहीं है । क्यों कि यदि हितकारक द्रव्य एकांतसे हितकारक ही होंगे तो जो हितद्रव्य हैं उनका उपयोग नवज्वर, अतिसार, कुष्ठ, भगंदर, नेत्ररोग, व्रण आदि भयंकर रोगोंमें भी हितकारक ही सिद्ध होगा। फिर अत्र उपर्युक्त सभी रोगियोंको अपने रोगोंके उपशमन के लिये हितद्रव्य जो उन रोगोंके लिये उपयुक्त हो चाहे अनुपयुक्त उनका उपयोग करना ही पडेगा । इसीप्रकार क्षार, अग्नि व विषसदृश पदार्थ किसी किसी रोगको तात्कालिक उपशम करते हुए प्रत्यक्ष देखे जानेपर सभी रोगोंके लिये अत्यंत हितावह ठहर जायेंगे । क्यों कि क्षार, अग्नि, विष आदिसे भी अनेक रोग तत्क्षण साध्य देखे जाते हैं । कहा भी है । विष

---

१ मंत्र नत्रागदापयुक्तं इति क पुस्तके । २ स्थावरमरनेतरं मनुजा इति क पुस्तके ।

खे कुशाग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं च भेषजम् । इति

दहेद्दंशमथोत्कृत्य यत्र बंधो न शक्यते ।
आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव च पूजिताः ॥

तथा चैवमतिनिशितक्रूरशस्त्राण्यपि प्रयुक्तानि स्वात्रणविभावातिसुखकराणि भवेयुरित्येवमुक्तं च ।

लाघवं वेदनाशांतिर्व्याधेर्वेगपरिक्षयः ।
सम्यग्विनिसृते लिंगं प्रसादो मनसस्तथा ॥

सुश्रुत अ. १४ श्लो. ३२

इत्येवमग्निक्षारशस्त्रविषाणि हिताहितान्येव सर्वथेति प्रतिपादयतः स्ववचनविरोधदोषोऽप्यतिप्रसज्येत । तथास्तीति चेत् चिकित्सा तु पुनरसर्वप्राणिनां सर्वव्याधिप्रशमनविषक्षारास्त्राग्निभिः चतुर्भिस्तथा प्रवर्तते कर्मभिर्निर्वर्त्यते ॥ तथा चोक्तम् ।

कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित्त्रिभिस्तथा ।
विकारस्साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः ॥

भी विषांतक अर्थात् विषको नाश करनेवाला होता है । इसलिए वह सर्वथा त्याज्य नहीं है । क्यों कि उसे स्पर्श करनेवालेको वह मारता नहीं है । यदि उसे मंत्र व औषधके प्रयोगसे उपयोग किया जाय तो उससे कोई हानि नहीं है अर्थात् मरण नहीं हो सकता है । इसी प्रकार विषोदरचिकित्सामें प्रतिपादन किया गया है कि कठिन भयंकर विषोंका सेवन करना भी कभी कभी औषध होता है। जैसे काकोदनी,अश्वमारक, गुंजामूल कल्क को देनेका विधान मिलता है । ईखके टुकडोंको कृष्णसर्पसे दंश कराकर भक्षण करना चाहिये । मूलज वा कंदज विषको सेवन करना चाहिये जिससे वह निरोगी होता है, इस प्रकार विषोदरी विषका भी सेवन करें तो वह अविषात्मक होकर वह अत्यंतसुख के लिये कारण होता है । शास्त्रोंमें भी विषका विष ही औषध के रूपमें प्रतिपादित है । चरक संहिताके विषचिकित्साप्रकरणमें कहा भी है । जंगम विषकी गति नीचेकी ओर होती है । और मूलज विषकी गति ऊपरकी ओर होती है । इसलिए दंष्ट्रविष मूलविषका नाश करता है और मूलज विष दंष्ट्रविषका नाश करता है । इसीप्रकार अग्नि भी अग्निविषके लिए औषधि के रूपमें उपयुक्त होती है । जहांपर घाव हो गई हो एवं बंधनक्रिया अशक्य हो, वहापर कुश अग्निसे जलाना एवं उष्ण औषधिका उपयोग करना एवं च घावको उकेर कर पुनः जलाना, आदि प्रयोग करना,

योगतश्च पराणि विषसदृशान्येव भवंत्येवं प्रतिपादितं, तदप्रसिद्धविरुद्धानैकांतिकं वर्तते । केषांचिन्मनुष्याणां सर्वभक्षिणामभ्यशनशीलानां पित्तममांसयुतगुडमुद्गमूलकषाय-दुग्धदधिमधुघृतशीतोष्णनवपुराणातिजीर्णातितरुणातिरूक्षातिस्निग्धातितरमयुक्तबहुभक्षण-भोजनपानकाद्यनेकविधविरुद्धाविरुद्धद्रव्यकदंबकाकारकं बह्वाहारनिषेविणां भिक्षाशिनां भिक्षूणामतिबलायुस्तुष्टिपुष्टिजननत्वाद्विरुद्धान्यप्यविरुद्धान्येवोपलक्षयितव्यानि भवंति । तथा विरुद्धाविरुद्धद्रव्यक्षेत्रकालभावतः सर्वाणि विरुद्धाविरुद्धान्येव भवंति । तत् स्याद्वादवादिवैद्यशास्त्राचार्यः सुश्रुतोऽप्येवमाह ॥

सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि तीक्ष्णाग्नेस्तरुणस्य च ।
स्निग्धव्यायामबलिनां विरुद्धं वितथं भवेत् ॥

तस्माद्वस्तूनामनेकांतात्मकत्वादार्हतमेव वैद्यमिति निश्चीयते । तथा चैवमाह, केषांचिदेकांतवादिनां पृथग्दर्शिनां द्रव्यरसवीर्यविपाकत्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वाम्लकटु-कात्मकः प्रत्येकमन्यवादिनां मतमत्यंतं दूषणास्पदं वर्तते इति । किंतु द्रव्यं, रसवीर्यस्निग्धं तीक्ष्णं पिच्छिलं रूक्षमुष्णं शीतं वैशद्यं मृदुत्वं च वीर्यविपाकेभ्यो भिन्नं वा स्यादभिन्नं वा । यदि भिन्नं स्यात् गोविषाणवत् पृथग्दृश्येतेति । यद्यभिन्नमेकमेव स्यादिंद्रशक्रपुरंदरवत् ।

चाहिये । घावके विषको चूसकर निकालना, छेदन करना, जलाना ये क्रियायें विष-चिकित्सामें सर्वत्र उपयोगी हैं । इसीप्रकार अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्रोंका भी प्रयोग विष (रक्त) स्रावण विधानमें अत्यंत सुखकर हो सकता है । कहा भी है । शरीर में हलके-पनेका अनुभव होना, रोगका वेग कम होना, मनकी प्रसन्नता ये अच्छीतरह रक्त विस्रावण होनेके लक्षण हैं । इसप्रकार अग्नि, विष, क्षार आदिको जो सर्वथा हितकारक या सर्वथा अहितकारक ही बतलाता है उसे स्ववचनविरोधदोषका भी प्रसंग आसकता है । उसीप्रकार यदि माना जाय तो चिकित्साविधिमें सर्व प्राणियों को संपूर्ण रोगोंकी प्रशमन करनेके लिए विष, क्षार, अस्त्र और अग्नि कर्मका जो प्रयोग बतलाया गया है उसका विरोध होगा । कहा भी है कि कोई रोग एक कर्मसे चिकित्सित होता है, कोई दो कर्मोंसे और कोई तीन कर्मोंसे एवं कोई २ विकार चारों ही कर्मों [विष,क्षार,अग्नि अस्त्र] से साध्य होते हैं । इसलिये एकांतरूप से किसी एकका आश्रय करना उचित नहीं है ।

इसी प्रकार संयोगसे अन्य पदार्थ भी विषसदृश ही होते हैं ऐसा जो कहा है वह असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिक दोषसे दूषित है । कोई २ मनुष्य सब कुछ खानेवाले,

---

१ दीप्ताग्ने इति मुद्रितपुस्तके. सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अ. २१ श्लो. २२.

द्रव्यरसवीर्यविपाकशद्वाः पर्यायशब्दास्युस्तस्माद्द्रव्यरसवीर्यविपाकात्मकं वस्तुतस्त्वात्तेत्रां कथंचिद्भेदाभेदस्वरूपनिरूपणक्रमेण बहुवक्तव्यमस्तीति प्रपंचमुपसंहृत्य दृष्टेष्टप्रमाणाभ्यामविरुद्धात्मद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयसान्निधानादस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वैकत्वानेकत्ववक्तव्यावक्तव्याद्यात्मकसापेक्षस्वभावद्रव्यरसवीर्यविपाकस्वरूपनिरूपणतः स्याद्वादमेवावलंबनं कृत्वा वैद्यशास्त्राचार्यः सुश्रुतोऽप्येवमाह ॥

> पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसंग्रहः ।
> चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छंत्यत्र विपश्चितः ॥
> तद्द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण संयुतम् ।
> किंचिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हंति करोति वा ॥
> पाको नास्ति विना वीर्याद्वीर्यं नास्ति विना रसात् ।
> रसो नास्ति विना द्रव्याद्द्रव्यं श्रेष्ठतमं स्मृतम् ॥
> जन्म तु द्रव्यगुण[रस]योरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम् ।
> अन्योन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्यादेहदेहिनोः ॥
> वीर्यसंज्ञा गुणा येऽष्टौ तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः ।

बारबार खानेवाले, पित्तकर [मांसरहित] गुड, मूंगका कषाय, दूध, दही, मधु, घृत, ठंडा, गरम, ताजे बासे रूक्ष स्निग्ध आदि अनेक प्रकारके विरुद्ध बहुतसे आहारोंको ग्रहण करनेवाले सन्यासियोंको वह संयोगजन्य आहार होनेपर भी तुष्टि पुष्टि आयुबलकी वृद्धिहेतुक देखा जाता है । एवं विरुद्ध होनेपर भी अविरुद्ध देखे जाते हैं । अर्थात् ऐसे संयुक्त आहारोंको ग्रहण करने पर भी वे भिक्षुक साधु हृष्ट पुष्ट देखे जाते हैं । इसलिए द्रव्य, क्षेत्र काल, भावके बलसे सर्व पदार्थ विरुद्ध होनेपर भी अविरुद्ध होते हैं । अत एव स्याद्वादवादि वैद्य सुश्रुताचार्य भी इस प्रकार कहते हैं कि यद्यपि विरुद्ध पदार्थोंका भक्षण करना अपायकारक है । तथापि उन पदार्थोंको खानेका अभ्यास नित्य करने से, अल्प प्रमाणमें खानेसे, जठराग्नि अत्यधिक प्रदीप्त रहनेपर, खानेवाला तरुण व स्वस्थ रहनेपर स्निग्ध पदार्थों के भक्षण के साथ कसरत करने वाले होनेपर, विरुद्ध पदार्थों के खाने पर भी अविरुद्ध ही होते हैं अर्थात् उन पदार्थों से कोई हानि नहीं होती । इसलिए पदार्थोंमें अनेकांतात्मक धर्म रहते हैं । अतएव जैन शासनमें प्रतिपादित आयुर्वेद ही सर्व प्राणियोंके लिए श्रेयस्कर है इस प्रकार निश्चय किया जाता है ।

---

२ सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अ. ४१ श्लो. १३-१४-१५-१६-१७

रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः।
१ द्रव्याद्रव्यं तु यस्माच्च विधौ वीर्यं तु षड्रसाः।
द्रव्यं श्रेष्ठमतो ज्ञेयं शेषा भावास्तदाश्रयाः॥

इत्येवमाद्यनेकश्लोकसमूहस्य सकाशे पदेशकाशेषविशेषद्रव्यगुणात्मकवस्तुस्वरूप-निरूपणं स्याद्वादवादमेवाश्रित्य स्वशास्त्रं स्वयमभिमतस्याद्वादास्थितिरेव तावत्। नानाचार्यैः।

तस्माज्जिनेंद्रप्रणीतप्रमाणतैं उक्तं तस्मात्तदभिमतदुर्मतैकांतवादं परित्यज्य विवक्षितस्व-रूपानेकधर्माधिष्ठितानेकवस्तुतत्वप्रतिपादनपरं प्राणावायमहागमांभोनिधेरंभोनिधेर्लक्ष्मीरिव सकललोकहिताद्विधानवद्यविद्यानिर्गतेतिविद्याद्वैधैरप्यद्यापि सद्योमुदितहृदयैरत्यादराद्गृह्यते॥

ततो जिनपतिमुखकमलविनिर्गतपरमागमत्वादतिकरुणात्मकत्वात्सर्वजीवदयापरत्वा-दिति केचिज्जलूकावसायने कदंबकात्रिवर्णाष्टदशांगुलशारिकानामजलूकासह्यपदा-स्वस्थेति तिर्यग्मनुष्यसंसाराणां चिकित्सा विधाधित्वात्तथा वैद्येनाप्येवंविधेन सुमनसा कल्याणाभिव्यवहारेण बंधुभूतेन भूतानां सहायव्रतो विशिखानुचकितद्योतिवैद्याचार निरूपणचिकित्साभिधानेपि सत्यधर्मपरेण प्रमोदकारुण्येपि क्षमालक्षणप्रज्ञाज्ञानविज्ञानाद्यनेक-गुणगणोपेतेन वैद्येन पुरुषविशेषापेक्षाक्षत यथार्हप्रतिपत्तिक्रियायां चिकित्सा विधीयते इति तत्कथं क्रियते इति चेत्।

इसी प्रकार कोई एकांतवादी द्रव्य रस वीर्य विपाकको पृथक्स्वरूपसे स्वादु, अम्ल व कटुक रूपसे स्वीकार करते हैं, यह अत्यंत दूषणास्पद है। ऐसी हालतमें द्रव्यरस एवं वीर्यरूप स्निग्ध तीक्ष्ण, पिच्छिल, मृदुत्व, रूक्ष, उष्ण, शीत, निर्मलता ये वीर्य विपाकसे भिन्न हैं या अभिन्न? यदि भिन्न हो तो गोविषाणके समान पृथक् देखनेमें आवेंगे। यदि अभिन्न हो तो ये सब इंद्र शक्र पुरंदरादि शब्दोंके समान एक ही पदार्थ के पर्यायवाची शब्द ठहर जावेंगे। इसलिये द्रव्य रस वीर्य विपाकात्मक ही वस्तुतत्व होनेसे एवं उनके द्रव्यसे कथंचित् भेदाभेद स्वरूप होनेसे, उनका निरूपण अत्यंत विस्तृत है। अतएव उसे यहांपर उपसंहार कर इतना ही कहा जाता है कि प्रत्यक्षानुमान प्रमाणसे अविरुद्धरूपसे रहनेवाले, द्रव्य, क्षेत्र काल, भावके सान्निध्यसे, पदार्थोंमें अस्तित्व नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्वानेकत्व, वक्तव्यावक्तव्यादि परस्परविरुद्ध अपितु सापेक्ष स्वरूपके अनंत धर्म रहते हैं। उसीप्रकार द्रव्यरस विर्यविपाकादि भी अविरोधरू-पसे रहते हैं। इसी स्याद्वादवादको अवलंबन कर वैद्यशास्त्राचार्य सुश्रुत भी कहते हैं।

ऊपर प्रतिपादित द्रव्यरस वीर्यविपाक का पृथक्त्व इन में भिन्नता माननेवाले एकांतवादियों का मत है। परंतु जो वस्तुतत्व के रहस्यज्ञ विद्वान् हैं वे किसी

---

१ द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यंते न षड्रसाः॥ इति मुद्रितसुश्रुतसंहितायाम्॥

दया च सर्वभूतेषु मुदिता व्रतधारिषु ।
कारुण्यं क्लिश्यमानेषु चोपेक्षा निर्दये शठे ॥

इति प्रवचनभाषितत्वादेवमेतस्मिन्वैद्यशास्त्रे बहुजीववधनिमित्तमधुमद्यमांसादिकमलाहारनिषेवणमशेषदोषप्रकोपनमतिपापहेतुकमखिलव्याधिप्रवृद्धिनिमित्तं पशुपतिबृहस्पतिभलाहारनिषेवणमशेषदोषप्रकोपनमतिपापहेतुकमखिलव्याधिप्रवृद्धिनिमित्तं पशुपतिबृहस्पतिगौतमाग्निवेश्यहस्तचारिवाद्वलिराजपुत्रगार्ग्यभार्गवभारद्वजपालकाप्यविशालकौशिकपुत्रैरदर्भ्यनरनारदकुंभदत्तभांडकहिरण्याक्षकपाराशरकौंडिन्यकाथायिनतित्तिरतैतिल्यमांडव्यशिविशीनबाबहुपत्रारिमेदकाश्यपयज्ञवल्कमृगशर्मशौनायनब्रह्मप्रजापत्याश्विनिसुरेंद्रधन्वंतरिप्रभृतिभिराशेषमहामुनिगणैरन्यैरति निंद्यमभक्ष्यमतिदुस्सहदुर्गतिहेतुरितिदूरादेव निराकृतमिदानीमपि सर्वदा सर्वैरेव समधिभिःसत्पुरुषैरन्यैरति कुशलैर्वैद्यैश्च परित्यक्तं कथमुपयुज्यते । अथ तैरपि ब्रह्मादिभिराशेषमुनिगणैश्च तन्मधुमद्यमांसादिकं भक्ष्यते इति चेत् कथं ते भवंत्याप्ता मुनयश्च । यदि ते न भक्षयंतीतिचेत् कथं स्वयमभक्षयंतो दुर्द्धरनरकपतनजनकमतिनिष्करुणमन्येषां पिशितभक्षणं प्रतिपादयंति इत्यतिमहाश्चर्यमेतत्तथापिप्रतिपादयन्त्येवेति चेदनाप्ता भवंत्यनागमश्च स्यादिदं शास्त्रं । तथा चोक्तम् ॥

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षये विदुः ।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्दोषसंभवम् ॥

एक को प्राधान्य नहीं देकर चारों के समुदाय को ही प्राधान्य देते हैं। क्यों कि वह उपयुक्त द्रव्य कहीं २ अपने स्वभावसे दोषोंको हरण करता है या उत्पन्न करता है, कहीं २ वीर्यसे युक्त होकर दोषोंको नाश करता है या उत्पन्न करता है। कहीं कहीं विपाकसे युक्त होकर दोषोंको दूर करता है या उत्पन्न करता है। इसके अलावा द्रव्यमें वीर्यके बिना विपाक नहीं हुआ करता है, एवं रसके आश्रयके बिना वीर्यभी नहीं हुआ करता है। रस [गुण] द्रव्यके आश्रयको छोडकर नहीं रह सकता। इस लिए द्रव्य ही सबसे श्रेष्ठ है। जिसप्रकार देह व आत्माकी उत्पत्ति परस्पर सापेक्षिक है उसी प्रकार द्रव्य की गुणकी उत्पत्ति भी परस्पर सापेक्षिक है। वीर्य के रूप में प्रतिपादित स्निग्धत्व आदि जो आठ गुण हैं वे भी द्रव्य के ही आश्रित हैं। क्यों कि ये गुण रसों में अर्थात् गुणों में नहीं हुआ करते। उदाहरणार्थ-शक्कर का गुण मधुरत्व है। उस मधुरत्व गुण में कोई और गुण नहीं हुआ करता है। क्यों कि वह स्वतः एक गुण है। अतएव आगम में गुणों को निर्गुण के रूप में प्रतिपादन किया है। गुणवीर्य आदिक छह रस वगैरे सभी द्रव्य में ही रहते हैं। इसलिए द्रव्य ही सबमें श्रेष्ठ है, बाकीके सभी धर्म उसीके आश्रयमें रहते

तथाचैवमुक्ता ह्याप्तगुणाः ।

> ज्ञानमप्रहतं तस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
> सदैश्वर्यं च धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयं ॥ इति

हैं, इत्यादि अनेक श्लोकोंके कथनसे संपूर्ण पदार्थ द्रव्यगुणात्मक सिद्ध होते हैं, यह कथन स्याद्वादवादका आश्रय करके ही श्रीसुश्रुताचार्यने अपने ग्रंथमें किया है। इसलिए स्याद्वादकी स्थिति ही उनको भी मान्य है यह निश्चित हुआ।

इसलिए जिनेंद्रशासनमें प्रतिपादित तत्वोंको स्वीकारकर अन्योंके द्वारा प्रतिपादित एकांततत्वको त्यागकर विवक्षित अविवक्षित [मुख्य गौण] स्वरूप अनेक धर्मोंके धारक ऐसे अनेक वस्तुवोंके प्रतिपादक प्राणावाय महागमरूपी समुद्रसे, निकली हुई लक्ष्मीके समान, संपूर्ण लोकके लिए हितकारक ऐसे लोकबंधु निर्दोषी वैद्यकी ओरसे यह अनवद्यविद्या निकली है। अतएव आज भी वैद्यगण बहुत प्रसन्नताके साथ इसे अत्यादर से ग्रहण करते हैं।

इसलिये यह जिनेंद्रके मुखकमल से निकला हुआ परमागम होनेसे, अतिकरुणा स्वरूपक होनेसे, सर्व जीवोंके प्रति दयापर होनेसे कोई कोई वैद्य जलौंक वगैरह लगाकर जो चिकित्सा करते हैं उसकी अपेक्षा जहांतक हो कदंब त्रिवर्णदशांगुलशारिका प्रयोगसे अजस्र्क चिकित्सा तिर्यंच व मनुष्योंकी करनेका प्रयत्न करें। क्यों कि वैद्य का धर्म है कि वह कोमल मनवाला हो, दूसरोंके लिए हितका व्यवहार करें, सबके साथ बंधुत्वका व्यवहार करें, प्राणियोंका सहायक बनें, और सर्व प्राणियोंको हितकामना से वैद्याचारको निरूपण करते हुए सत्यधर्मनिष्ठ, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ एवं क्षमा स्वरूप प्रज्ञा ज्ञान विज्ञान आदि अनेक गुणों से युक्त होकर पुरुषविशेषकी अपेक्षा से आगमानुसार चिकित्सा करें। वह क्यों? इस के उत्तर में कहा जाता है कि—

सर्व प्राणियो में दया करना, व्रतधारियो में संतोषवृत्ति को धारण करना, दीन व दुःखी प्राणियो में करुणा बुद्धिको धारण करना एवं निर्दय दुर्जनो में उपेक्षा या माध्यस्थ वृत्तिको रखना सज्जन मनुष्योंका धर्म है। इस प्रकार आगम का कथन होने से इस आयुर्वेद शास्त्र में भी बहुत से जीवों के नाश के लिए कारणभूत ऐसे मधुमद्यमांसादि कश्मल आहारों का ग्रहण करना अनेक दोषों के प्रकोपके लिये कारण है एवं समस्त व्याधियों की वृद्धिके लिए निमित्त है। अतएव पशुपति, बृहस्पति, गौतम, अग्निवेश्य, हस्तचारि, वाह्लि, राजपुत्र, गार्ग्य, भार्गव, भारध्वज, पालकाप्य, विशाल, कौशिकपुत्र वैदर्भ्य, नर, नारद, कुंभदत्त, विभांडक, हिरण्याक्षक, पाराशर, कौंडिन्य, काथायिन,

तथा चैवं सनातनधर्माणामप्युक्तं स्वरूपम् ।

> अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं विमुक्तता ।
> सनातनस्य धर्मस्य मूलमेते दुरासदाः ॥

धर्माचार्येश्वरमते इति चरणेप्युक्तम् ।

> रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
> येषां त्रिकालममलज्ञानमव्याहतं सदा ॥

कपिलमुनिवाक्यमेतत् ।

> आप्ताः शिष्टविबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
> सत्यं वक्ष्यंति ते कस्मान्नीरुजोऽतमसोऽनृतम् ॥

तित्तिर, तैतिल्य, माण्डव्य, शिबि, शिवा, बहुपत्र, अरिमेद, काश्यप, यज्ञवल्क, मृगशर्म, शाबायन, ब्रह्म, प्रजापति, अश्विनि, सुरेंद्र, धन्वंतरि आदि ऋषियोंने एवं अन्य मुनियोंने अतिनिंद्य, अभक्ष्य, दुस्सह एवं दुर्गतिहेतुक मद्यमधुमांस को दूर से ही निराकरण किया है। इस समय भी हमेशा सर्व शास्त्रकार व सज्जनोंके द्वारा एवं अतिकुशल वैद्योंके द्वारा वह त्यक्त होता है, फिर ऐसे निंद्य पदार्थों का ग्रहण किस प्रकार किया जाता है? अथवा इन ब्रह्मादिक आप्त व मुनिगणों के द्वारा वे मद्यमधुमांसादिक भक्षण किये जाते हैं तो वे आप्त व मुनि किस प्रकार हो सकते हैं? यदि वे भक्षण नहीं करते हों तो स्वयं भक्षण न करते हुए दूसरोंको नरकपतन के निमित्तभूत, निष्करुण ऐसे मांस-भक्षण का उपदेश कैसे देते हैं? यह परमाश्चर्य की बात है। फिर भी वे मांस भक्षण के लिए उपदेश देते ही हैं ऐसा कहें तो वे आप्त कभी नहीं बन सकते हैं एवं मुनि भी नहीं बन सकते हैं। एवं वह वैद्यशास्त्र आगम भी नहीं हो सकता है। कहा भी है:—

आगम तो आप्तका वचन है। दोषोंका जिन्होंने सर्वथा नाश किया है उसे आप्त कहते हैं। जिनके दोषोंका अंत हुआ है वे कभी दोषपूर्ण असत्यवचनको नहीं बोल सकते हैं।

इसी प्रकार आप्त के गुण निम्नलिखित प्रकार कहे गये हैं।

उस जगत्पति परमात्मा का अक्षय ज्ञान, वैराग्य, स्थिर ऐश्वर्य, एवं धर्म ये चार गुण उसके साथ ही उत्पन्न होनेवाले हैं।

इसी प्रकार सनातनधर्मका स्वरूप भी कहा गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ये अत्यंत कठिनतासे प्राप्त करने योग्य हैं एवं सनतान धर्मके ये मूल हैं।

धर्माचार्य ईश्वर के मत में इस प्रकार कहा है। रज व तमसे जो निर्मुक्त हैं, जो अपने तप व ज्ञान के बल से संयुक्त हैं, जिनका ज्ञान त्रिकालसंबंधी विषयों को ग्रहण करता है, जो निर्मल व अक्षय हैं वे आप्त कहलाते हैं।

एवं वैद्यशास्त्रं तु पुनराप्तोपदिष्टमेव आगममिव । अतींद्रियपदार्थविषयत्वात्, वैद्यशास्त्रमदृष्टं प्रमाणमिति वचनात् । तथा चैवं शास्त्रं प्रमाणं पुरुषप्रमाणात् । तेऽपि प्रमाणं प्रवदंत्येतद् । आचार्य आह पुनर्द्वितीयो धर्मस्तथा निर्धार्यते इति प्रमाणं । तस्माद्वैवं नामात्मकर्मकृत-महाव्याधिनिर्मूलकरणप्रायाश्चित्तनिमित्तमनुष्ठितं धर्मशास्त्रमेतत् । तथा चैवम् ।

बाह्याभ्यंतरक्रियाविशेषविशुद्धात्मनामुपशमप्रधानोपवासैस्समैथुनविरामरसपरित्यागखलयूषयवागूष्णोदककटुकतिक्तकषायाम्लक्षाराक्षमात्रनिषेवणमनोवाक्कायनिरोधस्नेहच्छेदनादि-क्रियामहाकायक्लेशयुतव्रतचर्यादिधर्मोपदेशात् । उक्तं हि स्निग्धस्विन्नवांतविरिक्तानुवासितास्था-पितशिरोविरिक्तशिराविद्धैर्मनुष्यैः परिहर्तव्यानि क्रोधायासशोकमैथुनदिवास्वप्नवैभाषणया-नारोहणचिरास्थानचंक्रमणशीतवातातपविरुद्धाध्यशनासात्म्याजीर्णान्यपि लभ्यते । वासमेकं स्थितरमुपरिष्टाद्वक्ष्याम इति वचनात् ।

कपिल मुनि का वचन इसप्रकार है । आप्त शिष्ट व ज्ञानी होते हैं । उनका वचन संशयरहित हुआ करता है । वे सदा सत्यवचन ही बोलते हैं । क्यों कि निरोगी व अज्ञानरहित होनेसे वे असत्य नहीं बोल सकते हैं ।

इस प्रकार यह वैद्यशास्त्र तो आप्तोपदिष्ट है । अत एव वह आगम है । एवं उसे अतींद्रिय पदार्थों के विषय होने के कारण अदृष्टप्रमाणके नाम से कहा गया है । इसलिये यह शास्त्र प्रमाण है, (हेतु) उस के कथन करनेवाले पुरुष [आप्त] प्रमाण होने से । वे भी इसे प्रमाण के रूप से कहते हैं । दूसरी बात यह वैद्यशास्त्र द्वितीय धर्मशास्त्र ही है । अतएव प्रमाणभूत है । इसलिये यह आयुर्वेदशास्त्र अपने पूर्वोपात्तकर्मों से उत्पन्न महाव्याधियोंको निर्मूलन करने के लिये प्रायश्चित्तके रूप में आचरित धर्मशास्त्र है । कहा भी है । बाह्याभ्यंतरक्रियाविशेषों से अपनी आत्माको शुद्ध करना, मंदकषायप्रधानी होकर उपवास करना, मैथुनविरति, रसपरित्याग, खल, यूष, यवागू, उष्णोदक, कटु, तिक्त, कषाय, आम्ल, मधुरका आक्षमात्र सेवन, मन वचन काय का निरोध, स्नेह, छेदनादि क्रिया, महा कायक्लेशकर व्रतचर्यादि के आचरण करने का उपदेश इस शास्त्र में दिया गया है । यही धर्मोपदेश है । ऐसा भी कहा है कि जिन के शरीरपर स्निग्धक्रिया, स्वेदनक्रिया, विरेचन, अनुवासन, आस्थापन, शिरोविरेचन, शिराविद्धन आदि क्रियाओं का प्रयोग किया गया हो उन को चाहिये कि वे क्रोध, श्रम, शोक, मैथुन, दिवसशयन, अधिक बोलना, वाहनारोहण, बहुत देरतक एक स्थान में बैठे रहना, अधिक चलना, शीत का सेवन, अधिक धूपका सेवन, विरुद्ध भोजन, बार २ भोजन, शरीरके लिये अननुकूल भोजन, अजीर्ण आदि का वे

तथा कृत्याविषादिरक्षःक्रोधं धर्माद्ध्वंसते जानपदा इति महोपसर्गनिवारणार्थं शांति प्रायश्चित्तमंगलजाप्योपहारदयादानपरैर्भवितव्यामिति वचनात्। तथा चरकेऽप्यहिंसा प्राणिनां प्राणसंवर्द्धना नामेति वचनात् । पैतामहेप्येवमुक्तम् ।

कालें व्यायामः सर्पिषश्चैव पानं मोक्षवेनाम्मरणं च स्थितानां
भोज्यमात्रावपि शस्त्रास्त्रप्नसेवा भूतेष्वद्रोहश्चायुषो गुप्तिरग्या ।

तथा चैवं,

सर्वाः क्रियास्सुखार्था, जीवानां न च सुखं विना धर्मात्
इति सुखकामैः प्राज्ञैः पुरैव धर्मो भवति कार्यः ॥ इति प्राज्ञभाषितत्वात् ॥

एवं हि शास्त्रोपोद्घाताच्छ्रूयते ॥

अवंतिषु तथोपेंद्रपृषद्वान्नाम भूपतिः ।
विनयं समतिक्रम्य गोश्चकार वृथा वधम् ॥
ततोऽविनयदुर्भूत एतस्मिन्विहते तथा ।
विवस्वांश्च सुखे दिव्येभिर्भूतैस्समवाप्नतः ॥

परित्याग करें । एवं एक ही स्थानमें रहना भी आवश्यक है इत्यादि विस्तार से आगे जाकर कहेंगे इस प्रकार (अन्यत्र) कहा है ।

इसी प्रकार कृत्या, विषोद्रिक्त, वराक्षसोत्थ क्रोध को प्रजाजन धर्म से नाश करते हैं एवं ऐसे क्रोधसे लोकमें महोपसर्ग उत्पन्न होते हैं। उन के निवारणके लिये शांति, प्रायश्चित्त, मंगलजप, उपहार, दयादान आदि शुभ प्रवृत्तियां करनी चाहिये । इसी प्रकार चरक में भी कहा है कि प्राणियों के प्राण के संवर्द्धन करने से यथार्थ अहिंसा होती है । पैतामह में भी कहा है । यथाकाल व्यायाम करना घृतपान,...... ....सर्व प्राणियोंके प्रति अद्रोह, ये सब आगेके आयुष्यको संरक्षण करने के लिए कारण होते हैं । इसीप्रकार प्राणियोंकी सर्व क्रियारूपप्रवृत्ति सुख के लिए हुआ करती हैं। सुख तो धर्म के बिना कभी प्राप्त नहीं होसकता है । अतएव सुख चाहनेवाले बुद्धिमानों को सब से पहिले धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये । इसप्रकार विद्वानोंने कहा है एवं आगमो में भी उसी प्रकार का कथन है ।

उज्जयिनी में पृषद्वान् नामका राजा था जिसने कि विनय को उल्लंघन कर व्यर्थ ही गोवध किया । तदनंतर वह अविनयदुर्भूत होकर वह जब यहां से च्युत होगया तो स्वर्ग में सूर्य होकर उत्पन्न हुआ। वहां अनेक सुखो में मग्न हुआ । उस के बाद उस

१ यह श्लोक अनेक प्रतियों को देखने पर भी अत्यधिक अशुद्ध ही मिला है ।

उच्चचार ततोऽन्वक्षं सुक्रूरोऽवगमानुषे।
इतः प्रभृति भूतानि हन्यन्तेऽक्षसुखादिति
इमं हि क्रूरकर्माणमात्यजन्तोऽन्वहं नरः।
आप्स्यं प्राप्स्यन्ति दोषत्वं दोषजं चात्मनः क्षयम् ॥
ततो रोगाः प्रजायंते जन्तूनां दोषसंभवाः।
उपसर्गाश्च वर्धते नानाव्यंजनवेदनाः ॥
ततस्तु भगवान्वृद्धो दिवोदासो महायशाः।
चिन्तयामास प्राणानां शान्त्यर्थं शास्त्रमुत्तमम् ॥

एवं शांतिकर्म कुर्वन्काचिद्भूतवेतालकृत्यादिकं समुत्थापयतीत्येवं वधनिमित्त-जातानां रोगाणां कथं वधजनितं मांसं प्रशमनकरं, तत्समानत्वात्। तस्य कृतकर्मजातानां जंतूनां व्याधीनां च स्वयमतिपापनिष्ठुरवधहेतुकं मांसं कथं तदुपशमनार्थं प्रयुज्यते। तथा चरकेऽप्युक्तम्—

कर्मजस्तु भवेज्जंतुः कर्मजास्तस्य चामयाः
न ह्यृते कर्मणा जन्म व्याधीनां पुरुषस्य च ॥ इति

क्रूरने नीचक्रियाप्रिय मनुष्यो में प्रत्यक्ष रूप से हिंसा का प्रचार किया। उसके बाद इस भूमंडलपर लोग इंद्रिय सुखोंकी इच्छा से यज्ञ में पशु वगैरह की आहुति देते हैं। इस क्रूर कर्म को जो मनुष्य छोडते नहीं हैं उनको अनेक दोष प्राप्त होते हैं। दोषों से आत्मा का नाश होता है। आत्मा के गुणों के या पुण्य कर्म के अभाव में अनेक रोग जो कि अनेक प्रकार की पीडा से युक्त है प्राप्त होते हैं, ये रोग प्राणियों के पूर्व जन्मकृत दोषों से या पाप कर्मों से उत्पन्न होते हैं। एवं अनेक प्रकार की पीडा से युक्त उपसर्ग भी बढते हैं। तब महायश के धारक ब्रह्मदेवने प्राणियों में शांति स्थापन के लिये जीवोंको उत्तम शास्त्र का उपदेश दिया है।

इसी प्रकार कोई कोई इस पाप के लिए शांतिकर्म करने की इच्छा रखनेवाले भूत वेताल पिशाच आदि दुष्टदेवोंको उठाकर प्राणियोंका वध करते हैं। परंतु समझमें नहीं आता कि हिंसा के निमित्त से उत्पन्न रोगों को हिंसाजनित मांस किस प्रकार शमन कर सकता है ? क्यों कि वह समानकोटिमें है। (रक्तसे दूषित वस्त्र रक्तसे ही धोया नहीं जाता है।) इसीप्रकार प्राणियों के कर्म से उत्पन्न रोगों के उपशमन के लिए स्वयं अत्यंत पापजन्य, निष्ठुर, वधहेतुक मांसका प्रयोग क्यों किया जाता है ? इसी प्रकार चरकमें भी कहा है।

---

१ चरक सूत्र स्थान अ. २५ श्लो. १८. २ मतो. ३ रोगाणां इति मुद्रित पुस्तके.

तन्मांसं पापजन्यव्याधेः प्रतीकारं न भवत्येवेति निमित्तेनाप्युक्तम् ॥

पापजत्वात्रिदोषत्वान्मलधातुनिबंधनात् ।
आमयानां समानत्वान्मांसं न प्रतिकारकम् ॥

तथा चरकेऽप्युक्तम् ।

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।
ह्रासहेतुर्विशेषास्तु प्रकृतेरुभयस्य च ॥

इत्येवं सामान्यविशेषात्मकविधिप्रतिषेधयुक्तं । तस्माद्वैद्यशास्त्रमारोग्यनिमित्तमनुष्ठीयते । तच्चारोग्यं धर्मार्थकाममोक्षसाधनं भवति । नहि शक्यं रोगवतां धर्मादीनि प्रसाधयितुमिति । उक्तं हि:—

न धर्मं चिकीर्षेत् न वित्तं चिकीर्षेत् न भोगान्बुभुक्षेत् न मोक्षं इयासीत् ।
अनारोग्ययुक्तः सुधीरोपि मर्त्यश्चतुर्वर्गसिद्धिस्तथारोग्यशास्त्रम् ॥

यह प्राणिमात्र ही कर्मजन्य है । प्राणियों के रोग भी कर्मजन्य हैं । जिसप्रकार कर्मके विना रोगोंकी उत्पत्ति नहीं होसकती है, उसी प्रकार कर्मके विना पुरुष की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । वह मांस पापजन्य व्याधियोंका प्रतीकारक नहीं होसकता है, इसप्रकार निमित्तशास्त्रमें (निदानशास्त्र) भी कहा है ।

पापसे उत्पन्न होनेसे, त्रिदोषोंके उद्रेक के लिए कारणीभूत होने से, मल [दोषपूर्ण] धातुओं के कारण होनेसे, रोगों के कारणों की समानता होने से, रोगों के लिए मांस कभी प्रतीकारक नहीं होसकता ।

इसीप्रकार चरकने भी कहा है[1] ।

किसी भी समय प्रत्येक पदार्थ का सामान्य धर्म उसकी वृद्धि के लिये कारण पडता है । और विशेष धर्म उस के क्षय के लिए कारण पडता है । एवं सामान्य व विशेष दोनोंकी प्रवृत्ति वृद्धिहानि दोनों के लिए कारण होजाती है । अर्थात् सामान्य विशेष की प्रवृत्ति का संबंध शरीर के साथ रहा करता है ।

इस प्रकार सामान्य विशेषात्मकविधिनिषेधसे युक्त सर्व पदार्थ है । अतएव वैद्य शास्त्र आरोग्यनिमित्त ग्रहण किया जाता है । वह आरोग्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिए साधक होता है । क्यों कि रोगी धर्मादिकोंको साधन नहीं कर सकते । कहा भी है:—

---

1 चरक सूत्रस्थान अ. १ श्लो. ४४.

चतुष्कस्य प्रणाशे नृनाशः । तथा चैवं समधात्वाद्यारोग्यरुचिशक्तिबलानि लक्षणं तस्य साधनमस्य हितमितफलमस्य चतुष्टयावाप्तिमानेवमेतस्मिन् वैद्यशास्त्रे धर्मार्थमोक्षसाधनपरे सर्वज्ञभाषितेऽनेकलोकहितकरसर्वधर्मशास्त्रप्राणावाये विद्यमानेपि तत्परित्यज्य तत्प्रतिपक्षकाराधिरतिकठिनकठोरैर्निष्ठुरहृदयैश्च वानरोरगादिभक्षकविश्वामित्रगौतमकाश्यपपुत्रादिपरिव्राजकैस्सर्वभक्षिभिरन्यैरपि दुरात्मभिरिदानींतनवैद्यशास्त्राणां प्रणेतृभिः पांड्यचरकभिक्षुतापसप्रभृतिमांसलोलुपैरत्यंतविशुद्धान्नपानविधिविविधौषधधान्यद्विदलकंदमूलफलपत्रशाकवर्गाधिकारे विशुद्धद्रवद्रव्यविधौ च विगतमलकलंकोदकसंपूर्णमहातटाकसेतौ चांडालमातंगप्रभृतिभिर्दुर्जनैः सज्जनप्रवेशनिवारणार्थं गोशृंगस्थापनमिव कनिष्ठनिष्ठुरदुष्टजनैस्सर्वज्ञप्रणीतप्राणावायमहागमनिर्गतसद्धर्मवैद्यशास्त्रतस्करैस्तैर्धर्मचिह्ननिगूहनार्थं पूर्वापरविरुद्धदोषदुष्टमतिकुटिलैः पिशिताशनलंपटैश्चटुलतरलमधुमद्यमांसनिषेवणमविशिष्टजनोपदिष्टं कष्टं पश्चात्तममेव निर्धार्यते । तत्कथं पूर्वापरविरोधदुष्टमिति चेदुच्यते ।

अनारोग्ययुक्त मनुष्य धीरवीर होनेपर भी वह धर्मका आचारण नहीं करसकता, वह अर्थ का उपार्जन नहीं कर सकता, भोगोंको भोग नहीं सकता, मोक्ष में जा नहीं सकता, उसे न चतुर्वर्ग की सिद्धि ही हो सकती और न आरोग्य शास्त्रका अध्ययन ही उससे होसकता है।

इस प्रकार चतुर्वर्गके नाश होनेपर मनुष्यका अस्तित्वका ही नाश होता है । अर्थात् वह किसी काम का नहीं है । इसलिये समधातु आदि आरोग्य, कांति, शक्ति, बल ही जिस स्वास्थ्यका लक्षण है और जो चतुर्वर्गकी प्राप्ति के लिए साधनभूत हैं उनका कथन धर्मार्थ मोक्ष को साधन करनेवाले, सर्वज्ञभाषित, अनेक लोक के लिए हितकारक अतएव धर्मशास्त्र रूपी इस वैद्यशास्त्र प्राणावाय में होनेपर भी उस छोडकर उस से विपरीत वृत्तिको धारण करनेवाले अविरतिकठिनता से कठोर व निष्ठुर हृदय को धारण करनेवाले, वानर उरगादि (बंदर, सर्प) को भक्षण करनेवाले विश्वामित्र, काश्यप पुत्र, आदि सन्यासियोंद्वारा एवं सर्व भक्षक आजकल के अन्य दुष्ट शास्त्रकार पांड्य, चरक, भिक्षु, तापस आदि मांसलोलुपों द्वारा अत्यंत शुद्ध अन्नपान विधि व विविध धान्य, द्विदल, कंदमूल, फल, पत्र व शाक वर्गाधिकार में एवं द्रवद्रव्य विधान में जिस प्रकार विगतमलकलंक (निर्मल) जलसे भरे हुए सरोवर के तटमें चांडाल मतंग आदि दुष्टजन, सज्जनों के प्रवेशको रोकने के लिए गोशृंगादिको डाल देते हैं, उसीप्रकार जघन्य निष्ठुरहृदय दुष्टजन एवं सर्वज्ञप्रणीत प्राणावाय महागम से निकले हुए वैद्यक रूपी धर्मशास्त्र के चोर, पूर्वापर विरुद्ध दोषों से दुष्ट, अतिकुटिलमतियुक्त, मांसभोजनलंपट ऐसे दुर्जनों के द्वारा उस सद्धर्मके चिन्ह को छिपाने के लिए इस वैद्यशास्त्र में नीचजनोचित अत्यंत कष्टमय मधुमद्यमांस सेवनका विधान बादमें मिलागया गया है इसप्रकार निश्चय किया जाता है। वह पूर्वापरविरोधदोषसे दुष्ट क्यों है इस का उत्तर आचार्य देते हैं।

वैद्यशास्त्रस्यादावेव पूर्वाचार्यैर्मूलतंत्रकर्तृभिः परमर्षिभिः पात्रापात्रविवेकज्ञैः कर्तव्याकर्तव्यनिवहनिश्चिकित्सेयं योग्यानामेव कर्तव्येति विधिप्रतिषेधात्मकं शास्त्रमुक्तं । द्विजसाधुबांधवाभ्युपगतजनानां चात्मबांधवानामिवात्मभेषजैः प्रतिकर्तव्यम् । एवं साधु भवति । व्याधशाकुनिकपतितपापकर्मकृतां च न प्रतिकर्तव्यम् । एवं विद्या प्रकाशते, मित्रयशोर्थधर्मकामाश्च भवंतीत्येवं पूर्वमुक्तं, पश्चान्मांसादिनिषेवणं कथं स्वयमेवाचार्याः प्रतिपादयंतीति पूर्वापरविरुद्धमेतत् । तस्मादन्यैरेव दुश्चरितैः पश्चात्कृतमिति निश्चेतव्यं ।

अथवा वैद्यशास्त्रे तावन्मांसोपयोग एव न घटते । कथमिति चेदन्नभेषजरसायनेभ्यो भिन्नत्वात् । कथं ? ब्रह्मादिरपि लोकस्याहारस्थित्युत्पत्तिहेतुरित्युक्तत्वात् । न च ब्रह्मादीनां मांसमाहारार्थं जग्धिरित्यन्नक्रमो युक्तश्च क्षीरपाः क्षीरान्नदा अन्नदाश्चेति ततः परमान्नदा इति वचनात् । तथा महापाठे शिशूनामन्नदानमाहारविधौ प्रथमषण्मासिकं लघ्वन्नपयसा भोजयेदिति वचनात् । मांसमन्नं न भवत्येव, पयसात्यंतविरोधित्वात् । तथाचोक्तम् ।

वैद्यशास्त्र के आदि में ही मूल तंत्रकार परमर्षि, पात्रापात्रविवेकज्ञ, पूर्वाचार्योंने कर्तव्याकर्तव्यधर्म से युक्त इस चिकित्साको योग्योंके प्रति ही करनी चाहिये, अयोग्यों के प्रति नहीं, इस प्रकार विधिनिषेधात्मक शास्त्र को कहा है ।

द्विज साधु व बांधवोंके समान रहनेवाले मित्र आदि सज्जनोंकी चिकित्साको अपने आत्मीय बांधवोंके समान समझकर अपने औषधों से करनी चाहिये । वह कर्तव्य प्रशस्त है । परंतु भिल्ल, शिकारी, पतित आदि पापकर्मों को करनेवालोंके प्रति उपकार नहीं करना चाहिये अर्थात् चिकित्सा नहीं करनी चाहिये । कारण कि वे उस उपकार का उपयोग पापकर्म के प्रति करते हैं । इस प्रकार इस वैद्य विद्याकी उन्नति होती है एवं मित्र, यश, धर्म, अर्थ कामादिकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार पहिले कहकर बादमें मांसादि सेवनका विधान आचार्य स्वयं कैसे कर सकते हैं ? यही पूर्वापरविरोध है । इसलिये अन्य दुरात्माओंने ही पीछेसे उन ग्रंथोंमें उसे मिलाया इस प्रकार निश्चय करना चाहिये ।

अथवा वैद्यशास्त्रमें मांसका उपयोग ही नहीं बन सकता है । क्यों कि वह मांस अन्न, औषध व रसायनों से अत्यंत भिन्न है । क्यों ? क्यों कि आपके आगमो में कहा है कि ब्रह्मादि देव भी लोकके आहार की स्थिति व उत्पत्ति के लिए कारण हैं । ब्रह्मादियों के मत से आहारके कार्य में मांसका उपयोग अन्न के रूप में कभी नहीं हो सकता है । और न वह उचित ही है । क्यों कि आहारक्रमकी वृद्धि में क्षीर क्षीरान्न, अन्न, परमान्न इत्यादि के क्रम से वृद्धि बतलाई गई है । मांसका उल्लेख उस में नहीं है । इसी प्रकार महापाठ में बालकों को अन्नदानआहारविधान के प्रकरण में पहिले छह महिने लघु [हलका] अन्न व दूध का भोजन कराना चाहिये, इसप्रकार कहा है । मांस तो अन्न कभी नहीं होसकता है । क्यों कि दूध के साथ उसका अत्यंत विरोध है । उसी प्रकार कहा भी है:—

मांसमत्स्यगुडमाषमोदकैः कुष्ठमावहति सेवितं पयः
शाकजांबवसुरासवैश्च त-न्मारयत्यबुधमाशु सर्पवत् ॥

अथवा अलौकिकमविशिष्टमहर्द्य शास्त्रवर्जितं मांसक्षीरं न सममश्नीयात्। को हि नाम नरस्सुखीति । अपि चैवं ब्रह्मोक्तं लोकस्याहारविधानमेवमुक्तं । सर्वप्राणिनामाहारविधानमेवमुक्तं हि ।

कुयोनिजानां मधुमद्यमांसकदन्नमन्नं च तथा परेषां ।
कल्याणकं चक्रधरस्य भोज्यं, स्वर्गेऽमृतं भोगमहिस्थितानां ॥

पितृसंतर्पणार्थमपि न भवत्येव मांसं । कथं ?

साधुत्वमायाति परेण पुंसा योगस्थितास्तेपि ततः प्रबुद्धाः ।
केचिद्दिवं दिव्यमनुष्यभावं न तत्र मांसादिकदन्नभुक्तिः । इति ।

तथा मांसं भेषजमपि न भवत्येव, द्रव्यसंग्रहविज्ञानीयाध्याये मांसस्यापाठात् ।

मांस, मछली, गुड उडद से बनी हुई मिठाई के साथ दूध का सेवन करें तो वह कुष्ठ रोग को उत्पन्न करता है । शाक जंबू फल से बने हुए मदिरा के साथ दूध का उपयोग करे तो उस मूर्ख को वह शीघ्र ही मार डालता है ।

अथवा लोकबाह्य, अविशिष्ट, भीमत्स, शास्त्रवर्जित ऐसे मांस को दूध के साथ नहीं खाना चाहिए । उससे मनुष्य सुखी कभी नहीं हो सकता है । इस प्रकार ब्रह्म ऋषि द्वारा कथित लोक के आहार का विधान कहा गया । सर्व प्राणियों का आहार विधान इस प्रकार कहा गया है ।

कुयोनिज [नीच जात्युत्पन्न] जीवों को मधु, मद्य, मांस व खराब अन्न भोजन है । अन्य प्राणियों को अन्न भोजन है । चक्रवर्ति को कल्याणकान्न भोजन है । एवं स्वर्ग व भोगभूमिस्थित जीवों को अमृताहार है ।

पितृसंतर्पण के लिए भी मांस का उपयोग नहीं हो सकता है । क्या कारण है ? इस के उत्तर में ग्रंथकार कहते हैं ।

वे योगस्थित ज्ञानी पुरुष उत्तम स्थान में जाकर समता को प्राप्त कर लेते हैं । उन में कोई स्वर्ग में जाकर जन्म लेते हैं । और कोई पवित्र मानवीय देह को प्राप्त कर लेते हैं । वहां पर मांसादि कदन्नों को भक्षण करने का विधान नहीं है ।

इसी प्रकार मांस औषध भी नहीं हो सकता है । क्यों कि औषधि के लिए उपयुक्त द्रव्यसंग्रह विज्ञापक अध्याय में मांस का ग्रहण नहीं किया गया है । अथवा

अथवा प्रकीर्णकौषधेष्वपि मांसमौषधं न भवत्येव । तत्र द्विविधमौषधमित्युक्तम् संशमन-संशोधनक्रमेण । न तावत्संशोधनं च भवत्यूर्ध्वभागाधोभागोभयतस्संशोधनशक्त्य-भावात् । संशमनमपि मांसं न भवति, स्पष्टरसाभावात् । स्पष्टरसं हि द्रव्यं संशमनाय कल्प्यते । यथा मधुराम्ललवणाः वातघ्नाः, मधुरतिक्तकषायाः पित्तघ्नाः, कटुतिक्तकषायाः श्लेष्मघ्नाः । अथवा मांसं लवणं नास्ति, लवणसंयोगभक्षणात् । आम्लरसोपि नास्ति आम्ल-संपाचनात् । तथैव संभारसंस्कारार्हत्वात् कटुतिक्तकषायरसाश्च न संभवंत्येव । तथा मांसं मधुरमपि न भवति, मधुरस्य लवणेनात्यंतविरोधित्वात् अथवा महापाठे मांसपाकोप्यभिहितः –

स्नेहगोरसधान्याम्लफलाम्लकटुकैस्सह ।
सिद्धं मांसं च सर्पिष्कं बल्यं रोचनबृंहणम् ॥

इति द्रव्यसंयोगादेव मांसस्य बलकरणत्वं चेत्तदान्येषामपि द्रव्याणां संस्कार-विशेषाद्बलबृंह्यरुचिकरत्वं दृष्टमिष्टं चेति मांसमेव शोभनं भवतीत्येवं तन्न । तथा लवणघृत-संभारोदनविरहितस्य मांसस्य परिदूषणमपि श्रूयते ।

प्रकीर्णक औषधों में भी मांस को औषधि के रूप में ग्रहण नहीं किया है । प्रकीर्णक औषध संशमन व संशोधन के भेद से दो प्रकार कहे गए हैं । वह मांस संशोधन औषध तो नहीं हो सकता है। क्यों कि ऊर्ध्वभाग, अधोभाग व उभय भाग से संशोधन करने का सामर्थ्य उस मांस में नहीं है । संशमन भी मांस नहीं हो सकता है। उस में कोई भी खास विशिष्ट रस न होनेसे । जिस पदार्थ में खास विशिष्ट रस रहता है वही संशमन के लिए उपयोगी है । जैसे मधुर, आम्ल व लवणरस वातहर है । मधुर, तिक्त व कषायरस पित्तहर हैं । कटु, तिक्त व कषायरस कफहर हैं । अथवा मांस लवणरस भी नहीं है । क्यों कि उसे लवणसंयोग कर ही भक्षण करना पडता है । आम्लरस भी वह नहीं है क्यों कि शरीरस्थ आम्ल का वह पाचन कर देता है अर्थात् वह आम्लविरोधी है । इसी प्रकार विशिष्ट संस्कार योग्य होनेसे कटुतिक्त कषायरस भी उस में नहीं होते । एवं मांस मधुर भी नहीं है । क्यों कि मधुर का तो लवण के साथ अत्यंत विरोध है । मांस का उपयोग तो लवण के साथ किया जाता है । अथवा महापाठ में मांसपाक भी कहा गया है । तेल, गोरस, धान्याम्ल, फलाम्ल व कटुक रस के साथ संस्कृत एवं घृतसहित मांस बलकर हैं, रुचिकर एवं शरीरपोषक है ।

इस प्रकार अन्य द्रव्यों के संयोग से ही मांस में बलकर व पोषक शक्ति है, ऐसा कहेंगे तो हम [अन्य] भी कह सकते हैं कि अन्य द्रव्योंमें भी संस्कार विशेष से ही बलकरत्व, रुचिकरत्व व पोषकत्व आदि गुण देखे गए हैं । इसलिए मांस ही उन पदार्थों से अच्छा है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। लवण, घृत व संभारसंस्कार से रहित मांस का दूषण भी आपके यहां सुना जाता है । जैसे—

शुष्कं मांसं स्त्रियो वृद्धा बालार्कस्तरुणं दधि ।
प्रत्यूषे मैथुनं निद्रा सद्यःप्राणहराणि षट् ॥ इति

अथवा सर्वाण्यौषधानि सक्षीराणि वीर्यवंत्यन्यत्र मधुसर्पिःपिप्पलिविडंगेभ्य इत्यत्र सार्द्रवा नीरसातिवक्तव्ये सक्षीरवचनं मांसनिराकरणार्थमेव स्यात् तथाः—

प्रशस्तदेशसंभूतं प्रशस्ते काल उद्धृतं ।
अल्पमात्रं मनस्कांतं गंधवर्णरसान्वितं ।
दोषघ्नमग्लानिकरमधिकाधिविपत्तिषु
समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं फलमुच्यते ।

इत्येवमादिलक्षणविरहितत्वात् कालमात्रादिनियमाभावात् ।

द्रवं कुडुवमादद्यात् स्नेहं षोडशिकान्वितं ।
चूर्णं बिडालपदकं कल्कमक्षजसम्मितम् ॥

शुष्कमांस, वृद्धास्त्रियों का सेवन, बालार्ककिरण, तरुणदधी, प्रत्यूषकाल का मैथुन व प्रत्यूषकाल की निद्रा ये छह बातें शीघ्र ही मनुष्य के प्राणों को नाश करने वाली हैं ।

अथवा सर्व औषध दूध के साथ उपयोग करने पर ही वीर्यवान् [रोगप्रतिबन्धक] हो सकते हैं। मधु, घृत, पिप्पल व वायविडंग को छोड कर, अर्थात् इन के साथ दूध का संयोग होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिए औषधियों के साथ क्षीर के उपयोग के लिए जो कहा है वह मांसके निराकरण के लिए ही कहा है । इसीलिए कहा है किः—

प्रशस्त देश में उत्पन्न, प्रशस्त काल में उद्धृत, अल्पमात्र में ग्रहण किया हुआ, मनोहर, गंधवर्ण व रस से संयुक्त, दोषनाशक, अधिक बीमारी में भी अग्लानिकर, एवं योग्यकाल व प्रमाण को देखकर दिया हुआ औषध ही फलकारी होता है । इत्यादि लक्षण मांसमें न होने से, उस में कालमात्रादिक का नियम नहीं बन सकता है । अर्थात् यदि मांस ग्राह्य होता तो उस की मात्रा का भी कथन आचार्य करते या उसको ग्रहण करने का काल इत्यादि का भी कथन करते । परन्तु उस प्रकार उस का कथन नहीं किया है । परन्तु अन्य पदार्थों की मात्रा व काल आदि के सम्बन्ध में कथन मिलता है । जैसेः—

द्रव को एक कुडुव प्रमाण [३२ तोले] ग्रहण करना चाहिए । तेल आदि स्निग्ध पदार्थ षोडशिका [पल. ८ तोले] प्रमाण से ग्रहण करना चाहिए । और चूर्ण

इति वचनात् मांसमौषधं न भवतीत्येवं तत्प्रमाणापाठात् । सर्वौषधस्य कालोप्यु-हितः । यथा तत्र, प्रातर्भक्तं, प्राग्भक्तं, ऊर्ध्वभक्तं, मध्यभक्तं, अंतराभक्तं, सभक्तं, समुद्गं, मुहुर्मुहुर्ग्रासे ग्रासांतरे चेति दशौषधकालेष्वेषूत्तरतरस्मिन्काले विशेषं मांसं भक्षयितव्यमिति कालाभावादौषधं नोपपद्यत इत्येवमुक्तं च ।

> द्रव्याणामपि संग्रहे तदुचितं क्षेत्रादिकाले तथा ।
> द्रव्योपार्जनतत्पुराधिकमहासद्बंधिकानुग्रहे ॥
> ते सर्वे च विशेषभेषजगणास्संत्यत्र किंचित्क्वचि-
> न्मांसं नास्ति न शब्दतोपि घटते स्यादौषधं तत्कथम् ॥

तथा मांसं रसायनमपि न भवत्येव, रसायनाधिकारे तस्यापाठात् । क्षीरविरो-धित्वात्, मांसस्य तस्मिन् जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारविधानाच्च । अथवा बहूनां-

---

को बिडालपदक [प्रमाणविशेष] प्रमाण से ग्रहण करना चाहिए । एवं कल्क को अक्षप्रमाण [२ तोले] ग्रहण करना चाहिए ।

इस प्रकार कहा है, परन्तु इस में मांस का पाठ नहीं है । अतएव मांस औषध नहीं हो सकता है । सभी औषधों को ग्रहण करने का काल भी बतलाया गया है । जैसे कि प्रातःकाल में ग्रहण करना । भोजन से पहिले, भोजन के बाद, भोजन के बीच में, भोजनांतर में, भोजन के साथ, मुद्ग के साथ, बार बार, ग्रास के साथ, ग्रासांतर में, इस प्रकार औषध ग्रहण करने के दस काल बतलाये गए हैं । परन्तु उन में खास कर उत्तरकाल में मांस का सेवन करना चाहिए, इस प्रकार नहीं कहा है क्यों कि उस के लिए कोई काल नियत नहीं है । अतएव वह औषध नहीं हो सकता है । इस प्रकार कहा भी है:—

लोक में जितने भर भी औषध विशेष हैं उन का ग्रहण द्रव्यसंग्रह के प्रकरण में, द्रव्यसंग्रहोचित क्षेत्रकालादिक में, एवं द्रव्योपार्जन के लिए कारणभूत सद्बंधिका प्रकरण में किया गया है । परन्तु उन प्रकरणों में मांस का ग्रहण नहीं है । जहां शब्द से भी उसका उल्लेख नहीं है वह औषध किस प्रकार हो सकता है ?

इसी प्रकार मांस रसायन भी नहीं हो सकता है । क्यों कि रसायनाधिकार में उस का पाठ नहीं है । क्षीर का विरोधी होने से, मांस के जीर्ण होने पर दूध, घृत व अन्न का सेवन करना चाहिए, ऐसा आहार विधान में किया गया है ।

अथवा बहुत से मांसभक्षियों को देखकर कालदोष से वैद्य भी मांस-भक्षक बन

साशिनो दृष्ट्वा कालपरिणामाद्दैवाच्च स्वयं पिशितभक्षकास्संतः (तैः) स्वशास्त्रेऽन्नपानविधौ शाकवर्गाधिकारे मूलतंत्रबाह्यं मांसं कृतमिति उक्तं च ।

> आरोग्याभयसत्क्रियासु च चतुष्कर्मप्रयोगेषुत-
> दोषाणामपि संचयादिषु तथा भैषज्यकर्मस्वपि ।
> रोगोपक्रमषष्टिभेदविविधे वीर्यस्य भेदे प्रती-
> कारं नास्ति समस्तमांसकथनं शाकेषु तत्कथ्यते ? ॥

इत्यशेषांगबाह्यमन्नमौषधं तथा रसायनमपि न भवतीत्येवं निरंतरं शास्त्रेषु निराकृतमप्यतिलोलुपाः स्वयमज्ञानिनोपि सत्कृत्य मांसं भक्षयितु मभिलषंतस्संतः केचिदेवं भाषंते " मांसं मांसेन वर्द्धत इति " । अथवा साधूक्तं मांसे भक्षिते सति मांसं वर्द्धत इति संबंधादर्थवत्स्यात् । अपि च पूर्वोक्तमेवार्थवदिति वक्तव्यं विचार्यते । किं त मांस भक्षणानंतरं मांसस्वरूपेणैव मांसमभिवर्द्धयत्याहोस्विद्रसादिक्रमेणेवेति विकल्पद्वयं । नहि मांसं मांसस्वरूपेण मांसाभिवृद्धिं करोति । कुतः ? कुड्यमृत्पिंडयोरिव मांसशरीरयोरन्योन्याभि-

---

गए । अतएव स्वार्थ से उन्होंने अन्नपानविधि व शाकवर्गाधिकार में मूलतंत्रबाह्य मांस को घुसेड दिया है । कहा भी है—

इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में शरीर में अभयोत्पन्न क्रियाओं के प्रयोग में, चतुष्कर्म के प्रयोग में, दोषों के संचय होनेपर, भैषज्यकर्म में, रोगोत्पादक साठ प्रकार के भेदों में और औषधवीर्य के भेदों में मांस को प्रतीकार के रूप में कहीं कथन नहीं है अर्थात् यह किसी भी दोष का प्रतीकारक नहीं हो सकता है । फिर इस का कथन शाक पदार्थों में क्योंकर हो सकता है ?

इस प्रकार समस्त अंगशास्त्रों से बहिर्भूत मांस अन्न औषध व रसायन भी नहीं हो सकता है, इत्यादि प्रकार से सदा शास्त्रों में निषिद्ध होने पर भी अतिलोलुपी व स्वयं अज्ञानी, स्वयं मांस खाने की अभिलाषा से कहते हैं कि "मांस मांससे बढा करता है" । अथवा ठीक ही कहा है कि मांस के खाने पर मांस बढता है, इस प्रकार सम्बन्ध से अर्थ ग्रहण करना चाहिए । अब उसी अर्थ के वक्तव्य पर विचार करेंगे ।

क्या उस मांस भक्षण के अनन्तर शरीर में मांस के स्वरूप में ही मांस की वृद्धि होती है अथवा रसादिक्रम से वृद्धि होती है, इस प्रकार दो विकल्प उठाये जाते हैं । मांस मांसके स्वरूप में वृद्धि को नहीं करता है । क्यों कि भींत व मृत्पिंड के समान मांस व शरीर में परस्पर अभिवर्धन संबंध नहीं है । ऐसा होनेपर अपसिद्धांत दोष का भी

वर्द्धनसंबंधाभावात् । अपसिद्धांतत्वाच्च । तस्माद्रसादिक्रमेणैव शरीराभिवृद्धिर्निर्दिष्टा । तथा भैषज्यसाधनं चोक्तं । पांचभौतिकस्य चतुर्विधस्याहारस्य षड्सोपेतस्य अष्टविधवीर्यस्य द्विविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणोपयुक्तस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोगुणभूतस्य सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते । क्षारपाणिनाप्युक्तम् । रसो भूत्वा द्वैधी भवति स्तन्यं शोणितं च । शोणितं भूत्वा द्वैधी भवति रजो मांसं च । मांसं च भूत्वा द्वैधी भवति, सिरा मेदश्च । मेदो भूत्वा द्वैधी भवति स्नाय्वस्थि च । अस्थि भूत्वा द्वैधी भवति वसा मज्जा च । मज्जा भूत्वा द्वैधी भवति, मज्जा चैव शुक्रं च । शुक्राद्गर्भस्संभवति इति । तथा चोक्तम् ॥

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रवर्तते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा तस्याश्शुक्रं ततः प्रजा ॥ इति

एवं धातूपधातुनिष्पत्तिरसैरुपदिष्टा विशिष्टैस्तत्वदर्शिभिर्वैद्यैरन्यैश्चाप्यतिकुशलैः रसवेदिभिरिति ॥ अथवा मांसभक्षकाणामेव शरीरेषु मांसाभिवृद्धिरितरेषां न भवत्येव, तन्न घटामटाट्यते । कथमिति चेत्तदभक्षिणामृषीणामन्येषां पुरुषविशेषाणां स्त्रीणां वापि तच्चा-

---

प्रसंग आवेगा । अर्थात् सिद्धांतविरुद्ध विषय होगा । इसलिए रसादिक्रम से ही शरीराभिवृद्धि होती है । मांस स्वरूप से नहीं । इसी प्रकार औषध साधन भी कहा गया है । पंचभौतिक, चतुर्विधाहार, षड्रस, द्विविध अथवा अष्टविधवीर्ययुक्त, अनेक गुणयुक्त, पदार्थ अच्छी तरह शरीर में परिणत होकर जो उस का परम सूक्ष्मतर सार है उसे रस कहते हैं । क्षारपाणि ने भी कहा है । रस होकर उस का द्वैधीभाव स्तन्यक्षीर व रक्त के रूप में होता है । रक्त होकर उस का द्वैधीभाव रज व मांस के रूप में होता है । मांस होकर उस का द्वैधीभाव सिरा व मेद के रूप में होता है । मेद होकर उस का द्वैधीभाव स्नायु व हड्डी के रूप में होता है । हड्डी होकर उसका द्वैधीभाव वसा व मज्जा के रूप में होता है । मज्जा होकर उसका द्वैधीभाव मज्जा के ही रूप में व शुक्र के रूप में होता है । शुक्र से गर्भ की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार कहा भी है—

रस से रक्त की उत्पत्ति होती है । उस से मांस बनता है । मांस से मेद बनता है । मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा बनता है । मज्जा से शुक्र व उस से संतान की उत्पत्ति होती है ।

इस प्रकार धातु उपधातुओं की निष्पत्ति विशिष्ट तत्वदर्शी वैद्य व अन्य अतिकुशल रस वेदी आप्तों के द्वारा कही गई है । अथवा मांस भक्षकों के शरीर में ही मांसाभिवृद्धि के लिए कारण है, अन्य जीवों के शरीर में नहीं, ऐसा कहें तो यह घटता

रित्राणामतिस्निग्धस्थूलशरीराणि दृश्यंते । तथा चैतेप्यत्यंतबलवंतो पुत्रवंतश्च । तथा काचित् पिशिताशिनोप्यतिकृशाः क्लीबाः दुर्बलाग्नयो व्याधिग्रस्तांगाः क्षीणाः क्षयिणश्च निष्पुत्राश्चोपलक्ष्यंते, इत्यनैकांतिकमेतत्। तथा चान्ये तिर्यग्जातयोप्यरण्यचरा मधुमद्यमांस विरहिताहारा. यूथपतयो गजगवयमहिषवृषभपृषतमेषहरिणरुरुचमरवराहादयः स्थलजल-कुलगिरितरुवनचरास्तृणगुल्मलतांघ्रिपाहारिणः स्थिरोपचितशरीरबलविलासवीर्यविक्रम-वृष्ययुष्यत्वसंपन्ना बहुपुत्रकलत्रसंपूर्णा बहुव्यवायिनस्सततकामिनश्चोपलक्ष्यंते ।। तथा केचित्केवलमतिपिशिताशिनास्सिंहव्याघ्रतरक्षुद्वीपिमार्जारप्रभृतयो ह्यवृष्या निष्पुत्रास्संवत्सर-कामिनश्चेत्येवं निमिनाप्युक्तम् ।

मांसादः श्वापदःसर्वे वत्सरांतरकामिनः ।
अवृष्यास्ततएव स्युरभक्ष्यपिशिताशिनः ॥

इति मांसभक्षिणां मृगादीनामपि वृष्यहानिः संजाता ॥

नहीं। कारण कि मांस को भक्षण नहीं करनेवाले ऋषिजन व अन्य चारित्रशील पुरुष विशेषों के स्निग्ध व स्थूल शरीर देखे जाते हैं । साथ ही वे अत्यंत बलशाली व पुत्रवान् देखे जाते हैं । विपरीत में कोई मांस भक्षक भी अत्यंत कृश, नपुंसक, दुर्बल जठराग्निवाले, रोगग्रस्त शरीरवाले, क्षीण शरीरवाले, क्षयपीडित व संतानरहित भी देखे जाते हैं । अतः यह अनैकांतिकदोष से दूषित है । इसी प्रकार अन्य तिर्यंच प्राणी जंगल में रहनेवाले, मधु, मद्य, मांसादिक आहारों को ग्रहण नहीं करनेवाले गज, गवय, बैल, चित्तीदार हिरन, बकरा, हिरन, रुरु [मृगविशेष] चमरमृग, एवं वराहादि, स्थलचर, जलचर; कुलगिरिचर, तरुचर व वनचर प्राणी तृण गुल्म लता व वृक्षों के पत्ते वगैरह को खानेवाले स्थिर व मजबूत शरीर को धारण करते हुए बलवीर्य पुष्टि आदि से युक्त, बहुपुत्र व कलत्र से युक्त अत्यधिक कामी व मैथुन सेवन करनेवाले देखे जाते हैं । विपरीत में कोई अत्यधिक केवल मांस खानेवाले सिंह, व्याघ्र, तरक्षु [कांटे से युक्त शरीरवाले प्राणिविशेष] द्वीपि, मार्जार आदि धातुरहित, संतानरहित होकर वर्ष में एकाध दफे मैथुन सेवन करनेवाले होते हैं । इस प्रकार निमिने भी कहा है ।

अभक्ष्य मांस को भक्षण करनेवाले सर्व जंगली प्राणी एक वर्ष में एक दफे मैथुन सेवन करनेवाले होते हैं । क्यों कि उन के शरीर में धातु पुष्ट नहीं रहता है । इस प्रकार मांसभक्षी मृगादिकों के शरीर में वृष्यत्व [पुष्टि] नहीं रहता है यह सिद्ध हुआ ।

अत्र केचित्पुनश्छागमृगवराहादीनामतिवृष्यत्वमालोक्य तद्भक्षकाणामपि तद्वद्-तिवृष्यं भवतीत्येवं मन्यमानास्संतोषं, ते तस्माद्भक्षयंतीत्येवं तदपहास्यतामुपयांति। कथमिति चेत्, न कदाचिदपि छागैश्छागो भक्षितो, मृगैर्वा मृगो, वराहो वा वराहैरित्येतदपहास्य-कारणं। न तु पुनश्छागादयश्छागादीन् भक्षयित्वातिवृष्या भवंतीति दृष्टमिष्टं च। त एते पुनश्छागमृगवराहादयो विविधतरुतृणगुल्मवीरुल्लताविताना़ौषधनिषेवणोपशांतव्याधयस्संतुष्टबुद्धयस्सन्नद्धशुद्धधातवः प्रवृद्धोद्धतवृष्यास्सबहुपुत्राश्चोपलक्ष्यंते। तत एव तृणाशिनां शकृन्मूत्रक्षीराण्यौषधत्वेनोपादीयंते। न तु पुनः पिशिताशिनामिति। तथा चोक्तम्—

अजाविगोमहिष्यश्च गजखरोष्ट्राणां मूत्राण्यष्टौ कर्मण्यानि भवंति। तथा चैवम्॥

आजमौष्ट्रं तथा गव्यमाविकं माहिषं च यत्
अश्वानां च करीणां च मूत्राश्चैव पयस्मृतम्॥

इत्यष्टप्रकारक्षीरमूत्राण्यौषधत्वेनोपादीयंते, न तु पिशिताशिनाम्। तथा चोक्तम्।

यहां पर कोई कोई इस विचार से कि बकरे, हरिण, वराहादि प्राणियों में अत्यधिक मैथुनसेवन देखा जाता है, अतएव उन के मांस को खाने से भी उन के समान ही अत्यधिक धातुयुक्त शरीर बनता है, संतोष के साथ मांस को खाते हुए उपहास्यता को प्राप्त होते हैं। क्यों कि बकरों ने बकरों को नहीं खाया है, हरिण ने हरिण को नहीं खाया है, एवं वराहों ने वराह को खाकर पौष्टिकता को प्राप्त नहीं की है। यही अपहास्य कारण है। छागादिक प्राणी छागादिकों को खाकर ही पुष्ट होते हुए न देखे गए हैं और न वह इष्ट ही है। परन्तु वे छागादिक प्राणी अनेक प्रकार के वृक्ष, घास, गुल्म, पौधे, लतारूपी औषधों को सेवन कर के ही अपने अनेक रोगों को उपशांत कर लेते हैं एवं संतुष्ट हो कर, शुद्ध धातुयुक्त हो कर, पुष्ट रहते हुए, बहुसंतान वाले देखे जाते हैं। इसीलिए तृणभक्षक प्राणियों के मल, मूत्र, दूध आदिक औषधि के उपयोग में ग्रहण किए जाते हैं। परन्तु मांसभक्षकप्राणियों के ग्रहण नहीं किए जाते हैं। इसी प्रकार कहा भी है—

बकरी, मेंढी, गाय, भैंस, घोडी, हथिनी, गधैया, ऊंठनी इस प्रकार आठ जाति के प्राणियों का दूध औषधि के कार्य में कार्यकारी होते हैं। इसीलिए कहा भी है कि दूध आज [बकरी का] औष्ट्र [ऊंठनी का] गव्य, माहिष, आविक, आश्वीय, गजसंबंधी, ग्रम्य इस प्रकार आठ प्रकार से विभक्त है। इसी प्रकार कहा भी है—

पिशितमभक्ष्यमेव पिशिताशिमृगेषु तदूष्यतेऽत्र त-
त्पिशितपयःशकृज्जलमलं परिहृत्य, तृणाशिनां पयो ॥
जलमुपसंख्ययाष्टविधमेव यथार्हमहौषधेष्वति-
ग्रथितसमस्तशास्त्रकथनं कथयत्यधिकं तृणादिषु ॥

इत्यनेकहेतुदृष्टांतसंतानक्रमेण पूर्वापरविरोधदोषदुष्टमतिकष्टं कनिष्टं बीभत्सं पूतिकृमिसंभवं मूलतंत्रव्याघातकं मांसमिति निराकृतं, तदिदानींतनवैद्याःपूर्वापराविरोधदुष्टं परित्यक्तुमशक्ताः। कनिष्ठैरंतरालवर्तिभिरन्यैरेव मांसाधिकारः कृत इति स्वयं जानन्तोऽप्यज्ञानमहांधकारावगुंठित हृदयमिथ्यादृष्टयो दुष्टजना विशिष्टवर्जितं मधुमद्यमांसमनवरतं भक्षयितुमभिलषंते। दोषप्रच्छादनार्थमन्येषां सतां लौकिकानां हृदयरंजननिमित्तं तत्संतोषजननं संततमेवमुद्घोषयंति। न हि सुविहितबहुसम्मतवैद्यशास्त्रे मांसाधिकारो मांसभक्षणार्थमारभ्यते, किंतु स्थावरजंगमपार्थिवादिद्रव्याणां रसवीर्यविपाकविशेषशक्तिरीदृशी इत्येवं सविस्तरमत्र निरूप्यत इति न दोषः। तदेतत्समस्तं पिशितभक्षणावरणकारणोक्तवचनकदंबकं मिथ्याजालकलंकितमवलोक्यते। कथं?

मांस अभक्ष्य ही है, क्यों कि वह मांसभक्षक प्राणियों के शरीर में दूषित होता है। अतएव उन मांसभक्षक प्राणियों के शरीर का मांस दूध, मल, मूत्र आदि को छोड कर तृणभक्षक प्राणियों का मल, मूत्र, दूध आदि जो आठ प्रकार की संख्या से जो कहे गए हैं उन्हीं का ग्रहण औषधों में करने के लिए समस्त शास्त्रों का कथन है।

इस प्रकार अनेक हेतु व दृष्टांतोंकी परंपरा से मांस का कथन पूर्वापरविरोध दोष से दूषित है, अत्यंत कष्टदायक, अत्यंत नीचतम, घृणा के योग्य व कृमिजनन के लिए उत्पत्तिस्थान व मूलतंत्र के व्याघातक है। अतएव उसका निराकरण किया गया है। परंतु आजकल के वैद्य ऐसे पूर्वापरविरोधदोष से दुष्ट मांस को छोडने में असमर्थ हैं। पूर्वाचार्यों के ग्रंथो में न रहनेपर भी बीच के ही क्षुद्र हृदयोंके द्वारा यह बाद में जोडा गया है, यह स्वयं जानते हुए भी अज्ञानमहांधकार से व्याप्तहृदयवाले मिथ्यादृष्टि दुष्ट मनुष्य, शिष्टोंके द्वारा त्याज्य मधुमद्य मांस को सदा भक्षण करनेकी अभिलाषा करते हैं। साथ ही दोषको आच्छादन करनेके लिए एवं अन्य सज्जनों के चित्त को संतुष्ट करने के लिए हमेशा इस प्रकार कहते हैं कि बहुसम्मत वैद्यशास्त्र में मांसभक्षण करने के लिए मांसाधिकार का निर्माण नहीं किया है। अपितु स्थावर जंगम पार्थिवादि द्रव्यों के रसवीर्य विपाक की शक्ति इस प्रकार की है, यह सूचित करने के लिए मांस का गुण दोष विस्तार के साथ विचार किया गया है। अतएव दोष नहीं है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह सब मांसभक्षण के दोष को ढकनेके लिये प्रयुक्त वचनसमूह मिथ्यात्वजाल से कलंकित होकर देखा जाता है। क्यों?

स्ववचनविरोधित्वात् । तथा चैवं प्रव्यक्तकंठमुक्तं हि मांसं स्वयं भक्षयित्वा वैद्यःपश्चादन्येषां वक्तुं गुणदोषान्विचारयेदिति । तथा चोक्तम् ।

धान्येषु मांसेषु फलेषु कंद-
शाकेषु चानुक्तिजलप्रमाणात्
आस्वाद्य तैर्भूतगणैः प्रसह्य
तदादिशेद्द्रव्यमनल्पबुध्वः ॥ (?)
क्ष्मांजाग्नि क्ष्माग्नुतेजः खराद्वग्न्यानिलानिलैः
द्वयोर्योल्वणैः क्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः ॥ [?]
मांसाशिनां च मांसादीन्भक्षयेद्विधिवन्नरः ।
विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन वर्धते ॥

तथा चरकेऽप्युक्तम् ।

आनूपोदकमांसानां मेध्यानामुपयोजयेत् ।
जलेशयानां मांसानि प्रसहानां भृशानि च ॥
भक्षयेन्मदिरां सीधुं मधुं चानुपिबेन्नरः ।

तथा चरके शोषचिकित्सायाम् । शोषव्याधिगृहीतानां सर्वसंदेहवर्तिनाम् सर्वसन्यास-योग्यानां, तत्परलोकानिरपेक्षाणामधोगतिनेतृकमनंतसंसारतरणात्प्रतिपक्षपक्षावलंबनकांक्षया साक्षात् भिक्षूणां मांसमभिभक्षयितुं क्रमं चेत्येवमाह ।

स्ववचन से ही विरोध होने से। कारण कि आप लोगोंने मुक्तकंठ से स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि "वैद्य को उचित है कि वह पहिले स्वयं मांसको खाकर बादमें दूसरोंको उस के गुणदोष का प्रतिपादन करें"। इसी प्रकार कहा भी है:—

धान्य, मांस, फल, कंद व शाक आदि पदार्थों के गुण दोष को कहने के पहिले स्वतः वैद्य उनका स्वाद लेलेवें। बादमें उनका गुण दोष विचार करें।

[?] ....

मांस भक्षक प्राणियों के मांस को मनुष्य विधिप्रकार खावें। विशुद्ध हृदयवाले उस मनुष्य का मांस मांससे ही बढता है। इसी प्रकार चरक में कहा है। शरीरके लिए पोषक ऐसे आनूपजल व मांस को उपयोग करना चाहिये। जलेशय प्राणियों के मांसको विशेषकर खाना चाहिये। तथा मदिरा, सीधु [मद्य विशेष] व मधु को भी पीना चाहिये। इसी प्रकार चरक में शोष चिकित्साप्रकरण में भी कहा है:—

शोषरोग गृहीत, प्राणके विषय में संदेहवर्ति, और सन्यास के योग्य, अधोगत नेतृक रोगी होनेपर भी अनंत संसार के प्रतिपक्षपक्ष के अवलंबन करने की इच्छा से साक्षात् ऋषियोंको भी मांसभक्षण का समर्थन किया है।

शोषिणे बर्हिणं दद्यात् बर्हिशब्देन चापरान् ।
गृध्रानुलूकांश्चाषांश्च विधिना सुप्रकल्पितान् ॥
काकांस्तित्तिरिशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान्
भृष्टान्मत्स्यांत्रशब्देन दद्याद्गंडूपदान्यपि ॥
लोपाकान् स्थूलनकुलान् विदलांश्चोपकल्पितान् ।
शृगालशावांश्च भिषक् शशशब्देन दापयेत् ॥
सिंहानृक्षांस्तरक्षूंश्च व्याघ्रानेवंविधांस्तथा ।
मांसादान्मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये ॥
मांसानि यान्यनभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत् ।
तेषूपधा सुखं भोक्तुं शक्यंते तानि वै तथा ॥
जानञ्जुगुप्सन्नैवाद्यात् जग्धं वा पुनरुल्लिखेत् ।
तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत् ॥

शोषरोगियों के लिए मांसभक्षक प्राणियों के मांसवर्धक मांस को विविधप्रकार सेवन करावें। उन्हे मोरके मांस को खिलावें। बर्हि [मयूर] शब्द से और भी गृद्ध, उल्लू, नीलकंठ आदि के मांसका भी ग्रहण कर उन को विधिपूर्वक तैयार कराकर देवें। इसी प्रकार तीतर के मांस को भी खिलावें। तित्तिर शब्द से कौवे के मांसको भी ग्रहण करना चाहिये। वर्मि मत्स्यं [मछली] के मांस को भी देवें। वर्मि [मत्स्य भेद] शब्द से सर्पों का भी ग्रहण करना चाहिये। मत्स्य के अंत्रको भी खिलाना चाहिये। इसी प्रकार गंडूपद [कीट विशेष] को भी खाने देना चाहिये। इसी प्रकार खरगोश के मांस को भी देना चाहिये। शश [खरगोश] शब्द से सियार, स्थूल नौले, बिल्ली, सियार के बच्चे आदि के मांस का ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार मांसभक्षक प्राणियों के मांस को भी उस रोगी को खिलाना चाहिये। इससे सिंह, रीछ, तरक्षू [कांटेदार शरीरवाला जंगलीप्राणिविशेष] व्याघ्र आदि के मांस का एवं हाथी गेंडा आदि प्राणियों के मांस का भी प्रयोग करना चाहिये। जिस से उस रोगी के शरीर में मांस की वृद्धि होती है। यदि किसी को मांस खाने का अभ्यास न हो एवं उस से घृणा करता हो तो उस के सामने मांस की प्रसंशाकर उसे मांस के प्रति प्रेम को उत्पन्न करना चाहिये जिस से वह रोगी उस मांस को सुखपूर्वक खासकेगा। कदाचित् उसे मालुम होजाय कि यह कौवा, बिल्ली, गीदड आदि का मांस है, पहिले तो वह घृणा से खायगा ही नहीं या किसी तरह जबर्दस्ती खावे तो खाते ही वमन करेगा। उस के हृदय में घृणा उत्पन्न न हो इसके लिए अन्य प्राणियों के मांस का नाम कहकर देना

इत्यनेकप्रकारैश्शास्त्रांतरेषु मधुमद्यमांसनिषेवणं निरंतरमुक्तं कथमिदानीं प्रच्छादयितुं शक्यते ?

तथा चैवमेके भाषंते—तरुगुल्मलतादीनां कंदमूलफलपत्रपुष्पाद्यौषधान्यपि जीवशरीरत्वान्मांसान्येव भवंतीति । एवं चेत् साधुभिरुक्तः—

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् ।
यद्वन्निंबो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निंबः ॥

इति व्याप्यव्यापकस्वभावत्वाद्वस्तुनः व्यापकस्य यत्र भाव व्याप्यस्य तत्रैव भाव इति व्याप्तिः। ततो व्याप्तत्वात् मांसं मांसमेव तथात्मवीर्यादयोपीव शिंशपा वृक्ष एव स्यात् वृक्षो निंबादयो यथा। इत्येतस्माद्धेतोः मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं च मांसं न स्यादित्यादि शुद्धाशुद्धयोग्यायोग्यभोग्याभोग्यभक्ष्याभक्ष्यपेयापेयगम्यागम्यादयो लोकव्यापाराः सिद्धा भवंतीत्युक्तम् ।

चाहिये । इत्यादि प्रकार से मांस भक्षण का पोषण किया गया है। । १. इस प्रकार अनेकविधसे शास्त्रांतरोंमें मधु, मद्य व मांससदृश निंद्य पदार्थों के सेवन का समर्थन किया गया है, अब उसे किस प्रकार आच्छादन कर सकते हैं ? ।

अब कोई यहांपर ऐसी शंका करते हैं कि वृक्ष, गुल्म, लता, कंदमूल, फल, पत्र आदि औषध भी जीवशरीर होने से मांस ही हैं । फिर उन का भक्षण क्यों किया जाता है ? इस के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि:—

मांस तो जीवशरीर ही है । परंतु जीवशरीर सबके सब मांस ही होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है । वह मांस हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है । जिस प्रकार निंब तो वृक्ष है, परंतु वृक्ष सभी निंब हों ऐसा हो नहीं सकता। इसी प्रकार मांस जीवशरीर होनेपर भी जीवशरीर मांस ही होना चाहिये, ऐसा नियम नहीं होसकता है ।

इस प्रकार पदार्थों का धर्म व्याप्य व्यापक रूपसे मौजूद है। व्याप्य की सत्ता जहांपर रहेगी वहां व्यापक की सत्ता अवश्य होगा । परंतु व्यापक के सद्भाव में व्याप्य होना ही चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है । जैसे शिंशपा व वृक्ष का संबंध है । जहां जहां शिंशपात्व है वहां वहांपर वृक्षत्व है। परंतु जहां जहां वृक्षत्व है वहां वहांपर शिंशपात्व होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। इस कारणसे मांस जीवशरीर होनेपर भी जीवशरीर मांस नहीं हो सकेगा, इत्यादि प्रकार से लोक में शुद्धाशुद्ध, योग्यायोग्य, भोग्याभोग्य, भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य, आदि लोकव्यवहार होते हैं ।

---

१ इस के आगे मांसका पोषण करते हुए मद्य पीने का भी समर्थन चरक में किया गया है। जो धर्म व नीति से बाह्य है। सं०

नाम्ना नारीति सामान्यं भगिनीभार्ययोरिह ।
एका सेव्या न सेव्यैका, तथा चौदनमांसयोः ॥ इति

तथा च पूर्वाचार्याणां लौकिकसामयिकाद्यशेषविशेषज्ञमनुष्याणां प्राप्तिपरिहारलक्षणोपेतकर्तव्यसिद्धिरेवं प्रसिद्धा । ततोन्यथा सम्मतं चेति, तत्कथमिति चेन्नानाविधिना धान्यवैदलादिमूलफलपत्रपुष्पाद्यशेषस्थावरद्रव्याणि देवतार्चनयोग्यानि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिविशिष्टोपभोग्यानि विविधरूपास्पृश्यरजःशुक्रसंभूतदोषधातुमलमूत्रशरीरविरहितानि विशुद्धान्यविरुद्धानि विगतपापानि निर्दोषाणि निरुपद्रवाणि निर्मलानि निरुपमानि सुगंधीनि सुरूपाणि सुक्षेत्रजान्येवंविधान्यपि भेषजानि मांसानीति प्रतिपादयेत् । सत्यधर्मपरो वैद्यस्तत्कारे तद्विपि च स्यात् [?] । एवमुक्तक्रमेण स्थावरद्रव्याण्यपि मांसान्येव प्रतिपादयतो वैद्यस्य प्रत्यक्षविरोधस्ववचनविरोधागमविरोधलोकविरोधाद्यशेषविरोधदोषपाषाणवृष्टिरनिष्टोत्पातवृष्टिरिव तस्य मस्तके निशितनिस्त्रिंशधारेव पतति । तद्भयान्नैवं मांसमित्युच्यते । किंतु जीवशरीरव्याघातनिमित्तत्वात्स्थावरात्मकभेषजान्यपि पापनिमित्तान्येव कथं योयुज्यंते इति चेत् । सुष्ठूक्तं जीवघातनिमित्तं

नाम से नारी [स्त्री] इस प्रकार की सामान्य संज्ञा से युक्त होनेपर भी भगिनी और भार्या में एक सेव्या है । दूसरी सेव्य नहीं है । इसी प्रकार अन्न व मांस दोनों जीवशरीरसामान्य होनेपर भी एक सेव्य है और एक सेव्य नहीं है ।

इसी प्रकार लौकिक और पारमार्थिक विषयों को जाननेवाले विशेषज्ञ पूर्वाचार्योंने लोक में हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपी कर्तव्यसिद्धि का प्रतिपादन किया है । यदि यह बात न हो तो जिस प्रकार धान्य, वैदल, मूल, फल पुष्प पत्रादिक स्थावरद्रव्योंको देवतापूजन के योग्य, ब्राम्हण, क्षत्रिय वैश्यादिक विशिष्ट पुरुषों के उपभोग के लिए योग्य, विविधरूप अस्पृश्य रज व शुक्र से उत्पन्न धातुमल मूत्रादिशरीरदोष से रहित, विशुद्ध, अविरुद्ध, पापरहित, निर्दोष, निर्मल, निरुपम, सुगंधी, सुरूप, सुक्षेत्रज, आदि रूपसे कहा है मांस को भी उसी प्रकार कहना चाहिये। सत्यधर्मनिष्ठ वैद्य उस प्रकार कह नहीं सकता है । इस प्रकार स्थावर द्रव्योंको मांस के नाम से कहनेवाले वैद्यके लिए प्रत्यक्ष विरोध दोष आजावेगा । साथ ही स्ववचनविरोध आगमविरोध, लोकविरोधादि समस्तविरोधदोषरूपी अनिष्टपाषाणवृष्टि प्रलयवृष्टि के समान उस के मस्तकपर तीक्ष्ण शस्त्रधाराके समान पडते हैं । उस भय से मांस को इस प्रकार नहीं है, ऐसा कथन किया जाता है ।

परंतु जीवशरीरव्याघातनिमित्त होने से स्थावरात्मक पापनिमित्तऔषधी का उपयोग आप किस प्रकार करते हैं ? इस प्रकार पूछनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि ठीक ही कहा है कि जीवों के घात के लिये किये जानेवाला कार्य पापहेतु है इस

तत्पापहेतुरिति कः संदेहं वदेत्। अहिंसालक्षणो धर्मः प्राणिनामवध इति वचनात्। अत्र पुनः धर्माधर्मविकल्पश्चतुर्विधो भवति, पापं पापनिमित्तं, पापं धर्मनिमित्तं, धर्मः पापनिमित्तं, धर्मो धर्मनिमित्तमित्यन्योन्यानुबंधित्वात्। कामकृताकामकृतविकल्पाल्लौकिकलोकोत्तरिक-धर्मद्वैविध्याच्च लोकव्यापारदेवतायतनकरणदेवर्षिब्राह्मणपूजानिमित्तमकामकृतं पापं धर्माभिवृद्धये [भवति] तथा चोक्तम् ॥

> पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
> दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवांबुराशौ॥ इति

तथा चैवं द्विजसाधुमुनिगणविशिष्टेष्वनां चिकित्सार्थं सकरुणमर्चयित्वानीतमौषधं पुण्याय। एवं पैतामहेऽप्युक्तम्।

> अर्चयित्वौषधान्मूल-मुत्तराशागतं हरेत्।
> पूर्वदक्षिणपाश्चात्यपत्रपुष्पफलानि च॥

में कौन संदेह के साथ बोल सकता है। क्यों कि धर्म तो अहिंसा लक्षण है वह प्राणियों को न मारने से होता है। यहांपर धर्माधर्म विकल्प चार प्रकार से होता है। पापका निमित्त पाप, धर्मनिमित्त पाप, पापनिमित्त धर्म, धर्मनिमित्त धर्म, इस प्रकार परस्पर अन्योन्यसंबंधसे चार प्रकार से विभक्त होते हैं। एवं सकामभावना व निष्काम भावना से एवं लौकिक व लोकोत्तर रूप से किये हुए धर्मका भी दो प्रकार है। लौकिकव्यापाररूपी देवायतन, देवपूजा, गुरुपूजा, ब्राह्मणपूजा आदि के लिये निष्काम भावना से कृत पाप धर्माभिवृद्धि के लिए ही कारण होता है। कहा भी है।

पूज्य जिनेंद्रकी पूजा करने के लिए मंदिर बांधने, सामग्री धोने आदि आरंभमें लगने वाले पापका लेश पुण्यसमुद्रके सामने दोषको उत्पन्न करने के लिए समर्थ नहीं है। जिस प्रकार शीतामृतसमुद्रमें विषका एक कण उसको दूषित करनेके लिए समर्थ नहीं होसकता है उसीप्रकार पुण्यकार्य के लिए किये हुए अल्पपापसे विशेषहानि नहीं होसकती है। इसीप्रकार द्विज, साधु व मुनिगण आदि महापुरुषोंकी चिकित्साके लिये करुणा के साथ अर्चना कर लिया हुआ स्थावर औषध पुण्य के लिये ही कारण होता है। पैतामहमें भी कहा है:—

उत्तर दिशाकी ओर गए हुए वृक्ष के मूल को अर्चन कर उसे लाना चाहिए। एवं पूर्व, दक्षिण व पश्चिम दिशा की ओर झुके हुए पत्र, फल व पुष्पों को ग्रहण करना चाहिये।

एवं सकरुणमौषधानयनवचनमौषधं प्राण्यनुग्रहार्थं, निर्मूलतो न विनाशयेदित्यर्थः। अथवा तृणगुल्मलतावृक्षाद्यशेषप्राणिपशुब्राह्मणशिरच्छेदनादिसंभूतपापादीनामसमानत्वादसदृशप्रायश्चित्तोपदेशात्। तथा प्रायश्चित्तस्यैतल्लक्षणमुच्यते।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहको धर्मः प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥

उक्तं च:—

अनुतापेन विरत्याऽज्याद्धितमाद्धतचर्यया।
पादमर्धंत्रयं सर्वमपहन्यादिति स्मृतम्।
एकभुक्तं तथा नक्तं तथाप्यायाचितं च।
एकरात्रोपवासश्च पादकृच्छ्रं प्रकीर्तितम्। (१)

अथवा च तस्य मिथ्या भवतु मे दुष्कृतमिति वचनादपि प्रशाम्यंत्यल्पपापानीति सिद्धांतवचनात्। अथवा गंधपण्येषु गांधिकोपदिष्टानि नानाद्वीपांतरगतानि नानाविधरसवीर्यविपा-

---

इस प्रकार करुणा के साथ औषधि को ग्रहण करने का विधान जो किया गया है वह प्राणियों के प्रति अनुग्रह के लिए है। अतएव उन वृक्षादिकों को मूल से नाश नहीं करना चाहिए। अथवा तृण, गुल्म, लता वृक्ष आदि समस्त प्राणि, पशु, ब्राह्मण आदि का शिरच्छेदन से उत्पन्न पाप, सभी समान नहीं हो सकते। अतएव उस के लिए प्रायश्चित्त भी भिन्न २ प्रकार के कहे गए हैं। प्रायश्चित्त का अर्थ आचार्यों ने इस प्रकार बताया है कि:—

प्राय नाम लोक का है अर्थात् संसार के मनुष्यों को प्रायः के नाम से कहते हैं। चित्त नाम उन के मन का है। उस लोक [प्राय] के चित्त से ग्रहण होनेवाला जो धर्म है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। कहा भी है—

प्रायश्चित्त के लिए भिन्न २ प्रकारके आत्मपरिणामोंकी मृदुतासे किए हुए पापोंमें क्रमशः पाद, अर्ध, त्रयांश, और पूर्ण रूप में नाश होते हैं। इसी प्रकार पादकृच्छ्र प्रायश्चित्त में एक भुक्तादिक के अनुष्ठान का उपदेश है।

इसी प्रकार वह सभी दुष्कृत मेरे मिथ्या हों इत्यादि आलोचना प्रतिक्रमणात्मक शब्दों से भी पापों का शमन होता है, इस प्रकार सिद्धांत का कथन है। अथवा साधुजनों की चिकित्सा प्रकारण में कहा गया है कि सुगंध द्रव्य की दुकानों में मिलने वाले सुगंध द्रव्य विशेष, नाना द्वीपांतरों में उत्पन्न, अनेक प्रकार के रसवीर्य विपाक-

---

ऊपरके दोनों श्लोक पैतामहके हैं। परंतु ठीक तरह से लगते नहीं। पहिले चरण पाठ अशुद्ध पडा हुआ मालुम होता है। दोनों श्लोकोंका सारांश ऊपर दिया गया है।

कप्रधानानि, सुप्रासुकानि, सुरूपाणि, सुमृष्टानि, सुगंधीन्यशेषविशेषगुणगणाकीर्णानि, संपूर्णान्यभिनवान्यखिलामलभेषजानि संतर्पणानि, तैस्साधुजनानां चिकित्सा कर्तव्येति । तदलाभे परकृष्णक्षेत्रेषु हलमुखोत्पाटितान्यविशुष्कानि सर्वर्तुषु सर्वौषधाणि यथालाभं संग्रहं कुर्यादिति। तदलाभेष्वेवमुच्छिन्नभिन्नशकलामकाचित्तकभिन्नसकलचित्ताल्पप्रदेशबहुप्रदेशप्रत्येकसाधारण शरीरक्रमेण भेषजान्यपापानि सुविचार्य गृहीत्वा साधूनां साधुरेव चिकित्सां कुर्यादिति कल्प-व्यवहारेऽप्युक्तं । उच्छिन्नभिन्नसकलं आमकाचित्तभिन्नसकलं च भिन्नसकलं चित्तं अल्पप्रदेश बहुप्रदेशमिति, तस्मात्साधूनां साधुरेव चिकित्सकस्स्यात्तथा चोक्तम् ।

सजोगनिट्टह रितीपिनिच्छये साधुगणेसाधु (?) इति साधुचिकित्सकालाभे श्रावकः स्यात्तदलाभे मिथ्यादृष्टिरपि, तदलाभे दुष्टमिथ्यादृष्टिनापि वैद्येन सन्मानदानविश्रंभातिशयमंत्रौषधविद्यादानक्रियया संतोष्य साधूनां चिकित्सा कारयितव्या, सर्वथा परिरक्षणीयाः सर्वसाधवस्तेषां सुखमेव चिंतनीयम् कर्मक्षयार्थमिति ।

तथा चरकेणाप्युक्तम् रोगभिषग्विपयाध्याये:—

प्रधान, सुप्रासुक, सुरूप, सुस्वाद, सुगंधयुक्त, समस्त गुणों से युक्त, ताजे व निर्मल, संतर्पण गुण से युक्त औषधों से साधुजनों की चिकित्सा करनी चाहिए । यदि उस प्रकार के औषध न मिले कृष्णप्रदेशों में उत्पन्न, हलमुख से उत्पाटित अत्यधिक शुष्क नहीं, सर्व ऋतुवों में सर्व योग्य औषधियों को यथालाभ संग्रह करना चाहिए । उस का भी लाभ न होने पर जिस की सचित्तता दूर की जा चुकी है, ऐसे प्रत्येक साधारणादि भेदक्रमों के अनुसार शरीरविभाग पर विचार कर शुद्ध प्रासुक औषधियों को ग्रहण कर साधुवों की चिकित्सा साधुजन ही करें । इस प्रकार कल्पव्यवहार में कहा गया है । साधुजनों की चिकित्सा प्रासुक शुद्ध द्रव्यों के द्वारा योगनिष्ठ साधुजन ही ठीक तरह से कर सकते हैं । यदि चिकित्सक साधु न मिले तो श्रावक से चिकित्सा करावें । यदि वह भी न मिले तो मिथ्यादृष्टि वैद्य को सन्मान, दान, आदरातिशय, मंत्र, औषध विद्यादिक प्रदान कर संतोषित करें और उस से चिकित्सा करावें। क्यों कि साधुजन सर्वथा संरक्षण करने योग्य हैं । अतएव उन के सुख के लिए अर्थात् रोगादिक के निवारण के लिए सदा चिंता करनी चाहिये । क्यों कि वे कर्मक्षय करने के लिए उद्यत हैं । अतएव उन के मार्ग में निर्विघ्नता को उपस्थित करना आवश्यक है । वे साधुगण शरीर के निरोग होने पर ही अपने कर्मक्षयरूपी संयममार्ग में प्रवृत्त कर सकते हैं ।

इसी प्रकार चरक ने भी अपने रोग और वैद्य संबंधी अध्याय में प्रतिपादन किया है।

कर्मसिद्धिमर्थसिद्धिं यशोलाभं प्रेत्य च स्वर्गमिच्छता त्वया, गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्वप्राणभृतां हितं सर्वथाश्रितम् * इति। इमं वस्तु स्थावरं जंगमं चेति। तत्र स्थावर द्रव्यवर्ग......[?] जंगमस्तु पुनर्देहिवर्गः। द्रव्यवर्गयोराहार्याहारकमुपकार्योपकारक—साध्यसाधनरक्ष्यरक्षणभक्ष्यभक्षणकादिविकल्पात्मकत्वात्। तयोर्भक्ष्यं स्थावरद्रव्यं वर्तते। भक्षणकाले हि वर्गा इति तत्त्वविकल्पविज्ञानवाह्यमूढमिथ्यादृष्टिवैद्यास्सर्वभक्षकास्संवृत्ता इति। तथा चोक्तम्॥

गुणादियुक्तद्रव्येषु शरीरेष्वपि तान्विदुः।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद्देहानां द्रव्यहेतुकाः।

इतीत्थं सर्वथा देहिपरिरक्षणार्थमेव स्थावरद्रव्याण्यौषधत्वेनोपादीयंते। तदा जंगमेष्वपि क्षीरघृतदधितक्रप्रभृतीनि तत्प्राणिनां पोषणस्पर्शनवत्सस्तनपानादिसुखनिमित्त-

---

जो मनुष्य वैद्य होकर कर्मसिद्धि [चिकित्सा में सफलता] अर्थसिद्धि [द्रव्य-लाभ] इह लोक में कीर्ति और परलोक में स्वर्ग की अपेक्षा करता हो, उसे उचित है कि वह गुरूपदेश के अनुसार चलने के लिए प्रयत्न करें एवं गौ, ब्राह्मण आदि को लेकर सर्व प्राणियों का आरोग्य वैद्यपर ही आश्रित है, इस बात को ध्यान में रक्खें। और उन्हें सदा आरोग्य का आश्वासन देवें।

वह द्रव्यवर्ग दो प्रकार का है। एक स्थावर द्रव्यवर्ग और दूसरा जंगमद्रव्यवर्ग। [स्थावर द्रव्यवर्ग पृथवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पत्यात्मक है]। जंगम द्रव्यवर्ग तो प्राणिवर्ग है। द्रव्यवर्गों में आहार्य आहारक, उपकार्य उपकारक, साध्य साधन, रक्ष्य रक्षण, भक्ष्य भक्षण, इस प्रकार के विकल्प होते हैं। उन में स्थावर द्रव्य तो भक्ष्य वर्ग में है। भक्षणकाल में कौनसा पदार्थ भक्ष्यवर्ग में है, और कौनसा भक्षणवर्ग में है इस प्रकार के तत्वविकल्पज्ञानसे शून्य मूढमिथ्यादृष्टि वैद्यगण सर्व [भक्ष्याभक्ष्य] भक्षक बन गए। कहा भी है—

गुणादियुक्त द्रव्यों में, [उन स्थावर] शरीरों में भी स्थिति, वृद्धि व क्षय करने का सामर्थ्य है। अतएव देह के लिए द्रव्य [स्थावर] भी पोषक है।

इस प्रकार सर्वथा प्राणियों के संरक्षण के लिए ही स्थावर द्रव्यों को औषधि के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार जंगम प्राणियों के भी क्षीर, घृत, दही, तक्र आदियों को उन प्राणियों के पोषण, स्पर्शन, वत्सस्तनपान आदि सुखनिमित्त

---

* शर्माशासितव्यमिति मुद्रितचरकसंहितायाम्। परन्तु रोगभिषग्जितीय विमान अध्याय इति मुद्रितपुस्तके।

संभूतान्याहारभेषजविकल्पनार्थमुपकल्प्यंते । तस्मादभक्ष्यो देहिवर्गो इत्येव सिद्धो नः सिद्धांतः । तथा चोक्तम् ।

मांसं तावदिहाहृतिर्न भवति, प्रख्यातसद्भेषजं ।
नैवात्युत्तमसद्रसायनमपि प्रोक्तं कथं ब्रह्मणा ।
सर्वज्ञेन दयालुना तनुभृतामत्यर्थमेतत्कृतं ।
तस्मात्तन्मधुमद्यमांससहितं पश्चात्कृतं लंपटैः ॥

एवमिदानींतनवैद्या दुर्गृहीतदुर्विद्यावलेपाद्यहंकारदुर्विदग्धाः परमार्थवस्तुतत्वं सविस्तरं कथमपि न गृण्हंतीत्येवमुक्तं च ।

अज्ञस्सुखमाराध्यस्सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रंजयति ॥

एवं—

से उत्पन्न होने से औषधियों के उपयोग में ग्रहण किया जाता है । इसलिए देहिवर्ग [प्राणिवर्ग] अभक्ष्य है । इस प्रकार का हमारा सिद्धांत सिद्ध हुआ । इसलिए कहा है कि—

यह मांस आहार के काम में नहीं आसकता है। और प्रख्यात औषधि में भी इस की गणना नहीं है । और न यह उत्तम रसायन ही हो सकता है । फिर ऐसे निंद्य अभक्ष्य, निरुपयोगी, हिंसाजनितपदार्थ को सेवन करने के लिए सर्वज्ञ, दयालु, ब्रह्माऽपि किस प्रकार कह सकते हैं ? अतः निश्चित है कि इस आयुर्वेदशास्त्र में जिह्वालंपटों के द्वारा मधु, मद्य, और मांस बाद में मिलाये गये हैं ।

इस प्रकार युक्ति व शास्त्रप्रमाण से विस्तार के साथ समझाने पर भी दुष्ट दृष्टिकोण से गृहीतदुर्विद्या के अहंकार से मदोन्मत्त, आजकल के वैद्य किसी तरह उसे मानने के लिए तैयार नहीं होते । इसमें आश्चर्य क्या है ? कहा भी है—

बिलकुल न समझनेवाले मूर्ख को सुधारना कठिन नहीं है । इसी प्रकार विशेष जाननेवाले बुद्धिमान् व्यक्ति को भी किसी विषय को समझाना फिर भी सरल है । परंतु थोडे ज्ञान को पाकर अधिकगर्व करनेवाले मानीपंडित को ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता है । सामान्यजनों की बात ही क्या है ? ।

ग्रंथ अध्ययन फल।

यो वा वेत्ति जिनेंद्रभाषितमिदं कल्याणसत्कारकम्।
सम्यक्त्वोत्तरमष्टसत्प्रकरणं (?) संपत्करं सर्वदा॥
सोऽयं सर्वजनस्तुतः सकलभूनाथार्चितांघ्रिद्वयः।
साक्षादक्षयमोक्षभाग्भवति सद्धर्मार्थकामाधिकान्॥

इतिहास संदर्भ।

ख्यातः श्रीनृपतुंगवल्लभमहाराजाधिराजस्थितः।
प्रोद्यद्भूरिसभांतरे बहुविधप्रख्यातविद्वज्जने॥
मांसाशिप्रकरेंद्रताखिलभिषग्विद्याविदामग्रतो।
मांसे निष्फलतां निरूप्य नितरां जैनेंद्रवैद्यस्थितम्॥

इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशिवैद्यशास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्यै- र्नृपतुंगवल्लभेंद्रसभायामुद्घोषितं प्रकरणम्।

आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित्।
स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम्॥

इस प्रकार इस जिनेंद्रभाषित कल्याणकारकको, जो अनेक उत्तमोत्तम प्रकरणों से संयुक्त व संपत्कर है, जानता है वह इह लोक में धर्मार्थ काम पुरुषार्थों को पाकर एवं सर्वजनवंद्य होकर, संपूर्ण राजाओं से पूजितपदकमलों को प्राप्त करते हुए [त्रिलोकाधिपति] साक्षात् मोक्ष का अधिपति बनता है।

प्रसिद्ध नृपतुंगवल्लभ महाराजाधिराज की सभा में, जहां अनेक प्रकार के उद्भट विद्वान् उपस्थित थे, एवं मांसाशनकी प्रधानता को पोषण करनेवाले बहुत से आयुर्वेद के विद्वान् थे, उन के सामने मांस की निष्फलता को सिद्ध कर के इस जैनेंद्र वैद्य ने विजय पाई है।

इस प्रकार अनेक विशिष्टदुष्टमांसभक्षणपोषक वैद्य शास्त्रों में मांसनिराकरण करने के लिए **श्रीउग्रादित्याचार्य** द्वारा नृपतुंगवल्लभराजेंद्र की सभा में उद्घोषित यह प्रकरण है।

आयुर्वेदाध्ययनफल.

जो बुद्धिमान् मुनि इस आरोग्यशास्त्र का अध्ययन कर उस के रहस्य को समझता है, वह मोक्षसुख के लिए कारणीभूत स्वास्थ्य को साध्य कर लेता है। जो इसे

अन्यः स्वदोषकृतरोगनिपीडितांगो ।
बध्नाति कर्म निजदुष्परिणामभेदात् ॥
भाषितमुग्रादित्यैर्गुणैरुदारैस्समग्रमुग्रादित्यं ।
भाषितनमितजयंतं । समग्रमुग्रादित्यम् ॥

इत्युग्रादित्याचार्यविरचितकल्याणकारके हिताहिताध्यायः ।

अध्ययन नहीं करता है, वह अपने दोषों के द्वारा उत्पन्न रोगों से पीडित शरीरवाला होने से, चित्त में उत्पन्न होनेवाले अनेक दुष्ट परिणामों के विकल्प से कर्म से बद्ध होता है। अतएव मुनियों को भी आयुर्वेद का अध्ययन आवश्यक है।

इस प्रकार गुणों से उदार उग्रादित्याचार्य के द्वारा यह कल्याणकारक महाशास्त्र कहा गया है। जो इसे अध्ययन करता है, नमन व स्तुति करता है, वह उग्रादित्य [सूर्य] के समान तेज को प्राप्त करता है ।

इसप्रकार श्रीउग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारककी भावार्थदीपिका टीकामें
हिताहिताध्याय समाप्त हुआ ।

श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलांछनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

इति भद्रं ।

—*+*—

नमः परमात्मने वीतरागाय ।

कल्याणकारक

वनौषधिशब्दादर्श

संपादक

श्री. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

[विद्यावाचस्पति]

श्रीकल्याणकारक वनौषधि शब्दादर्श.

— अ —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी—ಕನ್ನಡ
अंकोल	(पु)	देरावृक्ष.	अंकोली.	ಅಂಕೋಲೆ.
अंघ्रिक	(पु)	वृक्ष की जड.	मूळ.	ಬೇರು.
अंघ्रिप	(पु)	पेड.	वृक्ष, झाड.	ಮರ, ವೃಕ್ಷ.
अंजन	(न)	सौवीरांजन, रसांजन; सुर्मा, रसोंत.	काला सुरमा, काळा शेगना, स्रोतोंजन, सौवीरांजन, कृष्णांजन, रक्तांजन, पीतांजन, डोळ्यांत औषध घालणें.	ಕಣ್ಣುಕಪ್ಪು ಸೌವೀರಾಂಜನ.
अंडक	(पु)	अंडकोष.	अंडकोष.	ಅಂಡಕೋಶ.
अंबुज	(न)	कमल, हिजलवृक्ष, समुद्रफल.	परेल, कमल, जलवेत.	ಕಣಿಗಲ ಗಿಡ, ಉಪ್ಪು, ಶಂಖ.
अंबुद	(पु)	मुस्तक, मोथा.	मोथ, मेघ.	ತುಂಗಮುಸ್ತೆ.
अंबुरुहा	(स्त्री)	स्थलपद्मिनी, गेंदावृक्ष.	स्थलकमलिनी, कमळ.	ತಾವರೆ.
अंबाष्ठिका	(स्त्री)	पाठा, यूथिका, पाढा, जुही.	पहाडमूळ.	ಅಗರು ಬೇಟಿ.
अंशुमती	(स्त्री)	शालपर्णी, शालवन, शारिवन.	सालवण पूर्णिमा.	ಮೂರೆಲೆ ಹೊನ್ನೆ.
अगरु	(न) (पु)	अगुरु, अगर.	अगर.	ಅಶೋಕ ವೃಕ್ಷ.
अगस्ति	(पु)	मुनिद्रुम, हथियावृक्ष.	अगस्ता.	ಅಗಚೇ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
अग्नि	(पु)	चित्रकवृक्ष, रक्तचित्रकवृक्ष, भल्लातक, निंबूक, स्वर्ण, पित्त, चीतावृक्ष, लाल चीता भिलावेका वृक्ष, नींबू का वृक्ष, सोना, पित्त.	चित्तव, चित्रक, केशर, पीतवाला, रक्तचित्रक, विवचा, काकडाचें झाड, पित्त, ज्वाला, भात, जार, सोनें, लिंबू.	ಚಿತ್ರಮೂಲ.
अग्निक	(पु)	अगेथु.	अग्निक वृक्ष.	ಗೇರು.
अग्निद्रुम	(न)	देखो अग्नि.	पहा अग्नि.	ಚಿತ್ರಮೂಲ
अग्निमन्थ	(पु)	गणिकारिकावृक्ष, अरणी, अगेथुवृक्ष.	थोर एरण, नरवेल, जीमूत, तकारी.	ನೆಲ್ಲಿಗಿಡ
अजाजी	(स्त्री)	कृष्णजीरक, श्वेतजरिक, काकोदुंवरिका, काला जीरा, सफेदजीरा, कठूंवर.	श्वेतजिरें, कृष्णजिरें, काळाऊंवर.	ಬಿಳಿ ಜೀರಿಗೆ, ಕರಿಜೀರಿಗೆ, ಕಾಡುಅತ್ತಿ.
अजकर्ण	(पु)	असनवृक्ष, विजयसार,	हेदांचा वृक्ष, थोरराळेचा वृक्ष, असनाचे झाड,	ಹಿರಿ ಹೊನ್ನೆಮರ
अजगन्धा	(स्त्री)	वनयवानी, अजमोद.	रानतुळस, तिळवण.	ಊರಾಳ, ನೀರುತುಳಸಿ.
अजमोदा	(स्त्री)	वनयवानी, पारसिकयवानी, यवानी अजमोद, खुरासानी अजमायन, अजमायन.	अजमोद, ओवा, मुरदारसिंग.	ಅಜಮೋದ, ಓಮ.
अजशृंग (गी)	(पु.)	मेढासिंगी.	मेढशिंगी. काकडसिंगी.	ಕುರುಚಿಗೆ ಗಿಡ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
अटरूष	(पु)	वासकवृक्ष, अडूसावृक्ष, वसौंटा.	अडूळसा.	ಆಡುಸಾಲ್, ಆಡುಸೋಗೆ.
अतसी	(स्त्री)	अलसीमसीना,	जवस.	ಅಗಸೇ.
अतिबला	(स्त्री)	पीतवर्णबला, नागबला, सहदेई, कंघई, गुलसकरी, कंघी.	चिकणी,बावांची,नाग्बपुष्पी,लेंचा, कांसोळी, पेटारी, खिरहेटी.	ಸಹದೇವಿ [ಸಲ್ಲಿಲುದುರುವೆ] ನಾಯುದೊಪ್ಪಲು.
अतिविषा	(स्त्री)	अतीस [शुक्ल कृष्ण अरुणवर्ण कंदविशेष]	अतिविष	ಅತಿಬಜೆ.
अद्रक	(न)	निंब विशेष.	बकाण निंब	ಮಹಾಬೇವು, ಅರಬೇವು.
आद्रकर्णी	(स्त्री)	अपराजिता, कोईल, कृष्णकांता,	श्वेतकर्णी.	ಗಿರಿಕರ್ಣಿಕೆ.
अधोमानिनी	(स्त्री)	गोभी [अधोमुखा]	पाथरी.	ಹಕ್ಕರಿಕೆ ಗಿಡ.
अनिलघ्नी	(स्त्री)	बहेडा	बेहडा.	ತಾರೀಕಾಯಿ.
अपवर्ग बीज	(न)	स्वनामख्यात वृक्षबीज.	स्वनामख्यात वृक्षबीज	ಅಪವರ್ಗಬೀಜ
अपामार्ग	(पु)	क्षुपविशेष, चिरचिरा,	आघाडा.	ಉತ್ತರಾಣಿ.
अभय	(न)	उशीर, खस	वाला.	ಲಾಮಂಚಾ, ಅಳಲೇಗಿಡ
अभया	(स्त्री)	हरीतकी, हरडा,	हर्तकी, श्वेतनिर्गुंडी, मंजिष्ठा, वेखंड, मृणाल, जजा, जयंती कांजिका	ಅಳಲೇಕಾಯಿ
अभ्रक	(न)	अभ्रक	अभ्रक.	ಅಭ್ರಕ.
अमरतरु	(पु)	हडसंकरी	शुंडी, नदीवड,	ಗಾಳಿ ಆಲ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
अमरदारु	(पु)	देवदारु	देवदार.	ದೇವದಾರು.
अमृत	(पु)	वनमुद्र, गुडची, गेंठी, वनमूंग, गिलोय	डुकरकंद, बचनाग, वनमूग,	ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ, ನೆಳ್ಳಿ, ಅರಳಿ.
अम्लिका	(स्त्री)	तिंतिडी, इमली.	चिंच, आंबाडी, चिंचोडी.	ಹುಣಸೇ
अरुष्कर	(न)	भिलावेका फल	बिबा.	ಗೇರಿನ ಮರ.
अरिष्ट	(पु)	छाछ, नीम, लहसन, रीठा,	ताक, कडुनिंब, रिंठा, लसूण.	ಬೇವು, ಬೆಳ್ಳುಳ್ಳಿ, ಮಜ್ಜಿಗೆ, ಅಂಟ್ವಾಳ.
अरिमेद	(पु)	दुर्गंधयुक्त खैर	गंधी हिंयर	ಹುಚ್ಚುಕಗ್ಗಲೀ ಗಿಡ.
अर्क	(पु)	आकका वृक्ष	श्वेतरुई	ಅರ್ಕ, ಎಕ್ಕೆವಗಾಲೆ.
अर्जुन	(पु)	कोह	दर्भभेद.	ಕೆಂಪು ಮತ್ತೀಗಿಡ.
अलर्क	(पु)	सफेद आक	श्वेतरुई.	ಬಿಳೀಯಕ್ಕವಾಲೆ.
अशोक	(पु)	अशोक वृक्ष	अशोकवृक्ष.	ಕೆಂಪು ಚಿನ್ನದೆಲೆಗಿಡ.
अश्मन्तक	(पु)	तृण विशेष	आपटा, कोरळ, घोळ, चुका,	ಕೆಂಪು ಕಂಚಾಳದ ಬೇರು.
अश्मभित्	(पु)	पाषाणभेदी, पाखानभेद.	पाषाणभेदी-	ಹಿಟ್ಟಲೀಕ, ಹಿಟ್ಟಲಿಗಿಡ, ಪಾಷಾಣಭೇದ
अश्वत्थ	(पु)	पीपल	पिंपळ.	ಅರಳೀಗಿಡ.
अश्वगन्धा	(स्त्री)	असगंध	आसगंध.	ಹಿರೀ ಮದ್ದಿನಬೇರು, ಅಂಗರಬೇರು.
अश्वमारक		कनेर वृक्ष.	श्वेतकणेर	ಕಣಗಿಲೆ.
असण	(पु)	विजयसार	असणा.	ಹಿರಿ ಹೊನ್ನೇ ಮರ

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
असन	(पु)	विजयसार	असणा.	ಹೊನ್ನೆ ಮರ.
असित तिल	(न)	कालेतिल	काळे तिळ.	ಕರೀ ಎಳ್ಳು.
अस्थि	(स्त्री)	हडसंकरी	हाडसंकरी.	ಯೋಲಕ್ಕಿ, ಹಡಸಂಕರೀ.
अहिंसा	(स्त्री)	काकादनी वृक्ष	फडीचे निवडुंग.	ಡಬ್ಬುಗಳ್ಳಿ, ಪಾಪಾಸ್ ಕಳ್ಳಿ.
अक्ष	(पु)	त्रिभातकवृक्ष,रुद्राक्ष, कर्षपरिमाण, बहेडावृक्ष, रुद्राक्ष, २ तोलेका प्रमाण	बेहेडा, रुद्राक्ष, कर्षप्रमाण,	ತಾರೆ ಗಿಡ, ಸೌವರ್ಚಲವಣ ಎರಡು ತೊಲೆ ಪ್ರಮಾಣ.
अक्षिफल	(न)	पानीलोध	श्वेतलोध्र.	ಲೋಧ್ರ, ಶಬರಾ, ಅಳಿ ಲೋಧ್ರ.

— आ —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
आखुकर्णी	(स्त्री)	लताविशेष, मूसाकर्णी,	१ लघुउन्दीरकानी, २ उन्दीरमारी,	ಕರ್ಣಬಳ್ಳಿ, ಹರುಹೆ.
आज्य	(न)	घृत, श्रीवास, घी, सरलका गोन्द.	तूप.	ತುಪ್ಪ, ಸರಲವೃಕ್ಷದ ಅಂಟು.
आजिगन्धि	(स्त्री)	देखो अजगंधा	पहा अजगंधा.	ಅಜಗಂಧಾ ನೋಡಿ.
आटरूष	(पु)	अडूसा.	अडूळसा.	ಆಡು ಸೋಗೆ.
आढकी	(स्त्री)	शमी धान्यविशेष, अडहर.	तुरी,सोरटीमाती,गोपीचन्दन,तुरटी.	ತೊಗರೀ ಗಿಡ. ಫಟಕರೀ,
आर्द्रक	(न)	अदरख.	आलं.	ಶುಂಠಿ.
आदित्यपर्णि	(न)	अकौवा.	सूर्यफूलवल्ली.	ಎಕ್ಕಮಾಲೆ.
आमलक	(पु)	आंसा, अडूसा, बसौंटा [न] कर्करा.	आंवळी. अडूळसा,	ನೆಲ್ಲೀ ಮರ, ಆಡು ಸೋಗೆ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
आम्र	(पु)	आम.	आंबा.	ಮಾವಿನ ಮರ.
आम्रक	(पु)	आम.	अंबा.	ಮಾವು.
आम्रदल	(न)	आमका पत्ता	आंब्रेचा पाला.	ಮಾವಿನ ಎಲೆ.
आम्रातक	(पु)	आंबाडा	अंबाडा.	ಆಂಬಾಟೆ.
आम्ला	(स्त्री)	तिंतडी, इमली	चिंच.	ಹುಣಸೆ.
आरग्वध	(पु)	अमलतास	थोर वाहावा.	ಕಕ್ಕೆಗಿಡ.
आरण्यालु	(पु)	जंगली आलु, कंदविशेष.	कंदविशेष.	ಬಲ ರಾಕ್ಷಸಿಗೆಡ್ಡೆ.
आरुष्कर	(पु)	भिलावेका फल	काजू, बिब्बा.	ಗೇರು ಕಾಯಿ.
आरेवती	(स्त्री)	पारेवत वृक्ष फल	थोर वाहावा, लघुपालेवत.	ಹೆಗ್ಗ ಕ್ಕೆ [ಆರೇವತ] ಕಕ್ಕೆಕಾಯಿ.
आलर्क	(पु)	देखो अलर्क	पहा अलर्क.	ನೋಡಿ ಅಲರ್ಕ.
आलाबु	(स्त्री)	कद्दु, तुंबी	भोपळा.	ಕುಂಬಳಕಾಯಿ.
आलुक	(न)	आलु, एलुवा	कांसालु, अलुं, एलुवालुक.	ಬಟಾಟೆಕಾಯಿ.
आश्मान्तक	(पु)	देखो अश्मंतक	पहा अश्मंतक.	ನೋಡಿ ಅಶ್ಮಂತಕ.
आसनतरु	(पु)	जीवक अष्टवर्ग औषधि, विजयसार,	बिवळा.	ಜೀವಕ ಅಷ್ಟವರ್ಗೌಷಧಿ.
आस्फोत	(पु)	आक, कचनार, विशालीवृक्ष,	श्वेतउपलसरी, श्वेतगोकर्णी.	ಅರ್ಕ, ವಿಶಾಲೀವೃಕ್ಷ.
आपपत्र[आस्पपत्र]	(न)	कमल,	कमळ.	ತಾವರೆ.
आक्ष.	(पु)	देखो अक्ष	पहा अक्ष.	ನೋಡಿ ಅಕ್ಷ.

— इ —

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
इंगुदी (स्त्री)	हिंगोट, इंगुल, मालकांगुनी,	हिंगणबेट.	ಇಂಗಳದ ಗಿಡ, ಗಾರೆಗಿಡ.
इन्द्रदारु (पु)	देवदारु.	तेल्यादेवादार.	ದೇವದಾರು, ಇಂದ್ರವೃಕ್ಷ.
इन्द्रपुष्पी [ष्पा] (स्त्री)	कलिहारी.	कळलावी.	ಕೋಳಿಕುಟುಮ.
इन्द्रवल्लिका (स्त्री)	इंद्रायन.	लघुकांवडळ.	ಕಕ್ಕವಡೇಕಾಯಿ.
इन्द्रवारुणी (स्त्री)	लताविशेष, इंद्रायन.	लघुकांवडळ, थोर कांवडळ,	ಪಾಪಟ ಗಿಡ.
इक्षु (पु)	ईख, तालमखाना.	ऊस. तालिमखान,	ಕಬ್ಬು, ತಾಲಮಖಾನಿ.
इक्षुर (पु)	तालमखाना, ईख, कांस, गोखरू.	तिरकांडे, बोरु, काळा ऊंस, त्रिखग, लघुमुंजतृण, थोर मुंजतृण, कोळसुंदा, थोर तिरकांडे, रामबाण.	ಕೊಳವಂಕೀ ಗಿಡ, ತಾಲಮಖಾನಿ, ಕಬ್ಬು, ತೃಣವಿಶೇಷ, ಗೋಖರೂ.
इक्षुरक (पु)	,,	,,	,,

— उ —

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
उग्र (न)	बछनाग विष.	बचनाग.	ನೇಪಾಳದ ಬೇರು.
उग्रगन्ध (न)	हींग.	कायफळ, हिंग.	ಇಂಗು.
उच्चट (टा)(न)(स्त्री)	घुंघची चोटली, भुई आमला, नागरमोथा, लहसनभेद, निर्विषी घास.	कथील, भुयआंवळी, रक्तगुंजा, मुस्ता, श्वेतगुंजा, लहसणभेद.	ಬೆಳ್ಳುಳ್ಳಿ, ಭೇದ, ನಿರ್ವಿಷತೃಣ, ಗುಲಗುಂಜಿ ಭೇದ, ತುಂಗಮುಸ್ತೆ.
उत्क	कंद विशेष	कंद विशेष	ಜಕ್ಕಿನಗಡ್ಡೆ.
उत्कट (पु)	दालचीनी, तेजपात.	दालचिनी, तिरकांडे, ऊंस.	ಲವಂಗ ಚೆಕ್ಕೆ, ದಾಲಚೀನಿ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
उत्पल	(न)	कुमुद, कूठ, फूल.	कोष्ठ, नीलकमळ.	ನೀಲಕಮಲ,
उदुंबर	(पु)	गूलर [न] ताम्र.	उंबर [न] तांबे.	ಅತ್ತಿಹಣ್ಣು, ಅತ್ತಿಗಿಡ.
उशीर	(न)	वरिणमूल, खस.	काळावाळा, पीतवाळा, गाडरखस.	ಲಾಮಂಚ, ಕಸುವು, ಮುಡಿವಾಳ,
उषण	(न)	मरिच, पिप्पलीमूल, गोल-काली, मिरिच, पीपरामूल.	मिरे. पिंपळमूल,	ಮೆಣಸು, ಹಿಪ್ಪಲೀಮೂಲ.
उष्णी	(स्त्री)	लपसी आदि, कन्हेरी.	पेज, कण्हेरी.	ಗಂಜಿ, ಕಣಗಲೆ,

— ऊ —

ऊषक		खारीमट्टी	खारीमाती.	ಉಪ್ಪು ಮಣ್ಣು,

— ए —

एला	(स्त्री)	फलवृक्षविशेष, एलायची, इलायची.	एलाची, नीळी, वेलदोडा.	ಯಾಲಕ್ಕಿ.
एरंडक	(पु)	स्वनामख्यातवृक्ष, अण्डकापेड.	साधारण-एरण्ड, सूर्तीएरण्ड, श्वेत-एरण्ड, कडुकांकडी, मोंगळीएरण्ड, जेपाळ.	ಹರಳು, ಜಾಯಫಳ.

— ऐ —

ऐरावती	(स्त्री)	वटपत्रीवृक्ष, वडपत्री.	वटपत्री, पाषाणभेद, लकड्या पाषाणभेद, आरी.	ವೃಂದಾರಕದ ಬೇರು. [ಐರಾವತ]=ಹೇರಳೆಗಿಡ.

— क —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
कक्कोल	(क)	सुगंधिद्रव्यविशेष, शीतलचीनी.	कंकोळ.	ಕಪ್ಪುರಚಿನ್ನಿ.
कटुक	(न)	त्रिकटु, सोंठ, मिरच, पीपल	कटुपडवळ, कंकोळ, पिंडीतगर, त्रिकटु, मांठ, कडु कांकडी, रुई, मन्दार, वाळाभेद, मोहरी, कुटकी.	ಶುಂಠಿ, ಮೆಣಸು, ಹಿಪ್ಪಲಿ.
कटुत्रिक	(त्रय)(न)	त्रिकटु, १ सोंठ, २ मिरच, ३ पीपल	त्रिकटु. सोंठ, मिरी, पिंपळ	ಶುಂಠಿ, ಮೆಣಸು, ಹಿಪ್ಪಲಿ.
कटुरोहिणी	(स्त्री)	कटुकी, कुटकी	कटुकी	ಕತ್ತಿ ಕರಬು.
कट्फल	(पु)	कंकोलक, शीतलचीनी	कायफळ, वांग्यांचे झाड,	ತ್ಯಾಗದ ಮರ.
कण	(पु)	वनजीरक, वनजीरा, कालाजीरा	जलविन्दू, सूक्ष्म, काळेजिरे,	ಕರಿ ಜೀರಿಗೆ.
कणिका	(स्त्री)	अग्निमंथवृक्ष, अरणी,	ऐरण, कणीक,	ನೆಲ್ಲಿಯ ಮರ.
कतकफल	(पु)	कतकवृक्ष, निर्मली,	निवळीच्या विया	ಚಿಲ್ಲೀಬೀಜ.
कदली	(स्त्री)	स्वनामप्रसिद्ध वृक्षविशेष, केला वृक्ष.	केळ, लोखंडी केळ,	ಬಾಳೇ ಮರ.
कदम्ब		कदंबवृक्ष, देवताडकतृण, सर्षप, कदमका वृक्ष, सर्सों ।	शिरस, कळंब, हळदिवा वृक्ष,	ಸಾಸಿವೆ, ಕದಂಬ.
कदल	(पु)	कदलीवृक्ष, पृश्निपर्णी, केलावृक्ष, पिठवन,	केळ, पृश्नपर्णी,	ಬಾಳೇಮರ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
कनक (न)	ढाकवृक्ष, नागकेशरवृक्ष, धतूरेका वृक्ष, लालकचनारवृक्ष, कलंबक पीलाचन्दन, चंपावृक्ष, कसोंदीवृक्ष, कणगूगल, पलासभेद.	राळ, सोनकमळ, नागकेशर, श्वेतधोत्रा, पीतकोरंटा, काळाधोत्रा, कणगुगुळ, थोरराळेचावृक्ष, बीडलोण टांकणखार, सोनें, पलाश, चंपक.	ನಾಗಕೇಶರ, ದತೂರಿ, ಬಂಗಾರ.
कन्या (स्त्री)	घृतकुमारी, स्थूलैला, वाराहीकन्द, वंध्याककोंटकी, घीकुंवार, बडी इलायची, गेंठीवृक्ष, वांझककसा.	वांझकर्टोली, कोरफड, थोरएलची, वाराहीगुळ, डुकरकन्द, पतंग, कन्द गुळवेल.	ಅಮರದವಳ್ಳಿ.
कपि (पु)	करंज–विशेष, शिल्हक, एकप्रकारकी करंज, शिलारस.	शिलारस, आंवाडा, कुहिली, ऊद, आंवळी, विष्ण.	ಹೊಂಗೇ.
कपित्थ (क) (पु)	वृक्षविशेष, कैथ,	कवित, एलव लुक.	ಬೇಲದ ಮರ.
कपिफल	देखो कपि	पाहा कपि	ನೋಡಿ ಕಪಿ.
कपिचूत (क) (पु)	अंबाडा वृक्ष.	पारोसा पिंपळ, आंबाडा.	ಪುಂಡಿ ಸೊಪ್ಪು.
कपोतक (न)	सौवीरांजन, सफेद सुर्मा.	[कपोत] निळासुरमा, लालसुरमा, श्वेतसुरमा, सजीखार	ಬೆಸ್ತ್ರಿ, ಅಂಜನ.
कपोतवंक (का)(स्त्री)	ब्राह्मी घास.	ब्राह्मी, सूर्यफुलवल्ली	ಒಂದೆಲಗ ಸೊಪ್ಪು.
करवी (स्त्री)	हिंगपत्री.	हिंगाच्या झाडाचें पान, कारवृक्ष.	ಹಿಂಗುಪತ್ರೆ.
करवीर (क) (पु)	कनेर–कनेर की जड.	श्वेतकणेर, अर्जुनवृक्ष.	ಕಣಗಿಲಗಿಡ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
करवन्दी (स्त्री)	करोंदा.	करवंदी.	ಕವಳೆಹಣ್ಣು
करीर (पु)	बांसका छडका, करील.	वंशांकुर, कारवीचे झाड.	ಮುಳ್ಳುಹಬ್ಬೆ, ಬಿದಿರು ಮೊಳಕೆ.
करीष (पु-न)	सूखा गोबर.	गोंवरी.	ಬೆರಣಿ.
करूटिक.	शिरकी खोपडी.	कंवटी, मस्तकाचे हाड.	ತಲೆ ಬರುಡೆ.
कर्कन्दु (न्धु-धू) पु. स्त्री.	वेरीका वृक्ष, छोटा वेरीका वृक्ष.	बोरीचा वृक्ष.	ಬೊಂಡಿ, ಬೋರೆ, ಎಳಚಿ.
कर्कारु (पु.)	कोहडा.	तांबडा भोंपळा, कांकडी, लघुकोहोळा	ಕುಂಬಳಗಿಡ, ಚೀನಿಕಾಯಿ.
कर्कोटी. (स्त्री)	ककोडा.	देवडंगरी, कडूशेडकी, कर्टोली.	ಕಾಚೀ, ಕಂಗೊಂಗೆ, ಕಹಿಹೀರೆ.
कर्कोल. (न)	देखो कक्कोल.	पाहा कक्कोल.	ನೋಡಿ ಕಕ್ಕೋಲ.
कर्चूर (न) (पु)	सोना, कचूर.	सोनें, कचोरा, आंबेहळद.	ಬಂಗಾರ, ಕಚ್ಚೋರ [ಗೌಲ]
कर्पूर (पु. न)	कपूर.	कापुर	ಕರ್ಪೂರ.
कर्मरंग (पु. न)	कमरख.	नीव, कर्मर.	ಬೇವು, ಕೆಮರಿಕೆಹಣ್ಣು.
करंज [क] (पु)	कंजा वृक्ष, भंगरा वृक्ष.	करंज, वानरपिंपळी, थोरकरंज करंजवल्ली, काचीचा वेल [कंटकयुक्त असतो] काचका, पांगारा, वाघनख.	ಕರಂಜ, ಕಾನಗು, ಹುಲುಗಲಿ, ಹೊಗೆಸೊಪ್ಪು.
कलाप (पु)	मटर.	वाटाणे, कवला.	ಬಟ್ಟುಕಡಲೆ.
कल्हार	श्वेतोत्पल, कमोदिनी.	श्वेतोत्पल, किंचित् श्वेतरक्तवर्ण कमळ साधारण कमळ, रक्तोत्पल.	ಬಿಳೀಕಮಲ, ಕನ್ನೈದಿಲೇ.
कशेरुक [का] (स्त्री)	पीठ की हड्डी का डंडा, कसेरु.	कांसोट्याची जागा, कशेरु कंद.	ಕಚ್ಚೆಯಸ್ಥಾನ, ಕಂದವಿಶೇಷ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
काकनास [का] (पु)	गर्जाफल.	थोरश्वेतकावळी	ಕಾಗೇತೊಂಡೆ.
काकमाची (स्त्री)	मकोय+केवैया.	काकजंघा, लघुकावळी, भामोलणी.	ಕಾಚಿಗಿಡ.
काकवल्लीका[वल्लरी](पु)	स्वर्णवल्ली.	मीतकंचनी, सोनटक्का.	ಸ್ವರ್ಣಬಳ್ಳಿ.
काकविट्	कौवेका मल.	कावळयाची वीठ.	ಕಾಗೆಯ ಮಲ
काकादनी (स्त्री)	कौआठोडी, घुंघुची, सफेद घुंघुची, काकादनी वृक्ष.	रक्तगुंजा, थोरमालकांगोणी, लघुरक्त कावळी, श्वेतगुंजा, लघुमालकांगी, लघुकडीचे निवडुंग.	ಗುಲಗಂಜ, ಕಳ್ಳಿಗಿಡ.
काकोलिका [ली] (स्त्री)	काकोली.	कांकोली.	ಕಟ್ಟುವತ್ತಿಗೆ.
काकोल्यादिगण—	काकोली, क्षीरकाकोली, जीवकर्षभकस्तथा । ऋद्धि वृद्धिस्तथा मेदा, महामेदा गुडूचिका ॥ मुद्गपर्णी माषपर्णी पद्मकं वंशलोचना । शृंगी प्रपौंडरीकं च जीवंती मधुयष्टिका ॥ द्राक्षा चेति गणो नाम्ना काकोल्यादिरुदीरितः ।		ಕಾಕೋಲ್ಯಾದಿಗಣದಲ್ಲಿ ಹೇಳಿದ ಔಷಧಿಗಳು
काणकाली (स्त्री)	काकोली.	कांकोली.	ಕಟ್ಟುವತ್ತಿಗೆ.
कारवेल्ली (स्त्री)	करेला.	लघुकारली.	ಹಾಗಲಕಾಯಿ.
कार्पासबीज (न)	कपूस का बीज.	सरकी.	ನೂಲಿನಬಟ್ಟೆ, ಹತ್ತಿಬೀಜ.
कालागरु (पु)	काली अगर.	कृष्णागर.	ಕೃಷ್ಣಾಗರು.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
कालेयक	(न)	दारुहलदी.	दारुहळद, काष्ठागरु, हरिचन्दन, केशर, शिलाजित.	ದುರದ ಅರಶಿನ. ಕೇಶರ.
काश		कांस.	लघुकसई.	ಜಂಬು ಹುಲ್ಲು.
काश्मरि [री]	(स्त्री)	गम्भारी, कम्भारी.	लघुशिवण, पुष्करमूळ.	ಪೊಷ್ಕರಮೂಲ್.
काश्मीर	(स्त्री)	कोशिंबवृक्ष, कुंभेरका पेड.	पुहकरमूल, केशर	ಕುಂಕುಮಕೇಸರಿ.
काष्ठा		दारुहलदी.	दारुहळद.	ಮರ ಅರಶಿನ.
कास	(पु)	कांसी, खांसी, कांश, सैजिनेका वृक्ष.	खोकला, बोरु, शेवगा, मोळ.	ಕಾಂಜಲು, ಗಲಗಿನ ಹುಲ್ಲು.
कासघ्नी	(स्त्री)	कंठकारी, कटेरी.	भारंग, मोतरिंगणी, लघुडोरली.	ಭಾರಂಗೀ.
कासीस	(न)	काशीस, कसीस.	हिराकस, माक्षिकमधविशेष, मोरचुत	ಅನ್ನಭೇದಿ.
किणिही	(स्त्री)	चिरचिरा.	श्वेत आघाडा, थोरश्वेतकिन्ही, काळीकिन्ही, चिरचटा.	ಉತ್ತರಾಣಿ,
किरात [क]	(पु)	चिरायता.	किराईत.	ಶ್ರೀಗಂಧ, ಹುಲಿಗಿಲು.
कुक्कुटी	(स्त्री)	सेमरका वृक्ष.	देवडंगरी, सांवरी, कुक्कुटांडसदृश-कंद, चुंच, पाल.	ದೇವದಾರು.
कुची [चि]		अष्टमुष्टिप्रमाण	अष्टमुष्टि परिमितमाप.	ಅಷ್ಟಮುಷ್ಟಿ ಪ್ರಮಾಣ
कुचन्दन	(न)	लालचंदन, पतंगकी लकडी, केशर	रक्तचन्दन, केशर. द्विदलधान्य पतंग	ಕೆಂಪುಗಂಧ, ಚಂದನ.
कुट [ज]	(पु)	कुडा.	चित्रक, वृक्ष,	ವೃಕ್ಷ, ತಂಬಿಗೆ, ಚಿತ್ರಮೂಲಿ.
कुटज	(पु)	कुडा	श्वेतकुडा, इन्द्रजव, कमळ.	ಬೆಟ್ಟದ ಮಲ್ಲಿಗೆ.
कुटन्नट		केवटी मोथा, कशेरु.	टेंढु, क्षुद्रमोथ. केवटी मोथ,	ತುಂಗೆಗೆಡ್ಡೆ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
कुतूणक	नेत्ररोग विशेष	नेत्ररोगविशेष	ನೇತ್ರರೋಗ ವಿಶೇಷ.
कुनटी (स्त्री)	मनशिल, धनियां.	कोथंबीर, मनशीळ.	ಮಣಿಶಿಲೆ, ಕೊತ್ತಂಬರಿ.
कुबेरनयन [नेत्र] (न) [कुबेराक्षी]	पाडरवृक्ष, लताकरंज, सफेद [कठ], पाडरवृक्ष.	सागरगोटी, पाटला.	ಹೆಸರುಪೊಂಗಡ, ಗಜ್ಜುಗದಕಾಯಿ.
कुमुद (न)	सफेदकमल, कमोदिनी, कपूर.	कमोदकन्द, गुगुळ, कमोदपुष्प, नीलोत्पल, श्वेतोत्पल, कायफळ, कापूर, निळें कमळ, कमळ, रुपें.	ಬಿಳೀತಾವರೆ, ಕಾಯಿಫಲ ಕರ್ಪೂರ.
कुमारी [स्त्री]	मोदिनीपुष्प, तरुणीपुष्प, नेवारी, घीकुआर, कोयललता, वांझखखसा, वांझककोडा, बडी इलायची, मल्लिकाभेद, सेवंती.	कांटेशेवंती, दृष्टि, कालीचिमणी, लवुरानशेवंती, कोरफड, वांझकर्टोली, मल्लिकाभेद, थोरएलची,	ಚಿಕ್ಕಗೋರಂಟಿ, ಶೇವಂತಿಗೆ, ದೊಡ್ಡ ಏಲಕ್ಕಿ.
कुरबक (पु.)	[कुरवक] लाल कटसरैया.	रक्तकोरंटा, थोरश्वेतरुई, मन्दार, लालफुलाचें मात.	ಮುಳ್ಳು ಗೋರಂಟಿ.
कुरंट [क] (पु)	पीली कटसरैया.	श्वेतकोरांटा, कुरडु.	ಹಸರು ಗೋರಂಟಿ, ಮಲ್ಲಿಗೋರಂಟಿ.
कुलहला	गोरखमुण्डी.	मुण्डी, गोरखमुण्डी.	ಮುಂಡೀ.
कुलुत्थ [कुलत्थ] (पु)	कुल्थी.	रक्त कुळिथ.	ಹುರುಳಿ.
कुवलय (न)	कमोदिनी, नीलकमल, -नीलकुमुद.	निळें कमळ, श्वेतकमळ, नीलोत्पल, कमोदपुष्प	ನೈದಿಲೆ.
कुश (न. पु.)	कुशा.	दर्भ, शीतदर्भ,	ದರ್ಭೆ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
कुशा	(स्त्री)	चकोतरा नींबू.	निंबफल विशेष, चकोतरा.	ಚಕೋತ್ರಫಲ.
कुसुंभ	(न)	कुसूम के फ़ूल [जिस के रंग से वस्त्र रंगा जाता है].	करडईचें फ़ुल.	ಕುಸುಮೆ ಹೂವು.
कुस्तुम्बुरु	(न)	धनियां.	धणे.	ಕೊತ್ತುಂಬರಿ.
कूष्मांण्ड	(क)	पेठा, कम्हडा, कोहडा.	कोहोळा.	ಬೂದು ಕುಂಬಳ.
कृष्ण	(न)	कालीमिरच, लोहा, कालीअगर, कालानोन, कालाजीरा, सुरमा (पु) करौंदा, पीपल.	कालीमिरे, लोह, कृष्णागर, काळी-मीठ, काळाजिरा, सुरमा, (पु) करवंदी, पिंपळ.	ಕರಿಮೆಣಸು, ಕಬ್ಬಿಣ. ಕೃಷ್ಣಾಗರು, ಕರಿ ಉಪ್ಪು, ಕರಿ ಜೀರಿಗೆ, ಅಂಜನ, ಕರಮಂದಿ, ಹಿಪ್ಪಲಿ.
कृष्णा	(स्त्री)	नीलकावृक्ष. पीपल, वायची, कालाजीरा, पद्मावती, दाख, नीली, सोंठ, कंभारी, कुटकी, श्यामलता. कालीसर, राई, काकोली, जौंक.	जटामांसी, पापडी, कटुकी, शाह-जिरें, लवुनीली, काळी तुळस, नीलांजन, दुर्वा, काळें द्राक्ष, पिंपळी, वांवचा, काळेशिरस, काळी निर्गुडी, कलौंजीजिरें, कस्तूरी, रान-कुळिथ, जळूका.	ನೀಲವೃಕ್ಷ, ಕರಿಜೀರಿಗೆ, ದ್ರಾಕ್ಷಿ, ಹಿಪ್ಪಲೀ, ಶುಂಠಿ, ಕಾಕೋಲಿ, ರಾಗಿ, ಕಳ್ಳಿ.
कृष्णातिल		काली तिल.	काळे तीळ.	ಕರೀ ಎಳ್ಳು.
केतकी	(स्त्री)	केतकी वृक्ष, खर्जूर.	श्वेत केवड्याचें झाड.	ಕೇದಿಗೆ ಹೂವು.
केसर	(न)	हिंग, नागकेशर, सोना, कसीस, मौलसिरीवृक्ष, फ़ूलका जीरा, पुन्नाग वृक्ष, फ़ूल की केशर वा जीरा.	हेम, सिसें, नागकेशर, कमळ केशर बकुळ, सुरपुन्नाग, पुन्नाग, वृक्षाचा मोहोर, हिंग, हिराकस, केशर, पुष्परेणू.	ಸುರಹೊನ್ನೆ, ಹವಳದಗಿಡ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
कोद्दालक	धान्य विशेष.	धान्य विशेष.	ಧಾನ್ಯ ಭೇದ.
कोरंट	कोरंट.	कोरंटा.	ಗೋರಂಟಿ.
कोल (पु. न.)	बेर, एक तोला, मिरच, शीतलचीनी, चव्या.	रानडुकर, कंकोळ, बोर, मिरी, चवक, अंकोल गजपिंपळी, रायबोर, कोरक, कळी, नख,	ಬೋರೆ, ಕಪ್ಪುದಚಿನ್ನ, ಮೆಣಸು, ಒಂದು ತೊಲೆ. ಶೀತಲಚೀನಿ.
कोश [फल] (न)	कंकोल, शीतलचीनी.	कळी, जायफळ,	ಕಕ್ಕೋಲೇಗಿಡ.
कोशातकी (स्त्री)	झिमनीलता, गलकातोरई, तोरई.	घोसाळी, गोंडीदोडकी, पडवळ, देवडंगरी, कडुदोडकी, आघाडा, रात्र.	ಕಹಿ ಹೀರೆ, ಪಡವಲಕಾಯಿ.
कौलुत्थ	कुलथी.	कुळथि.	ಹುರುಳಿ.
कंगु [का] (स्त्री)	फूलप्रियंगु, कांगुनीधान.	कांगधान्य, राळे, गह्याला.	ನವಣೇ.
कंगुतैल	कांगुनीधान का तेल.	कांगधान्याचें तेल.	ನವಣೇ ಎಣ್ಣೆ.
कंटकारि [री] (स्त्री)	कटेरी, शाल्मलीवृक्ष, सेमर का वृक्ष, कंटाईविकंकत वृक्ष.	रिंगणी, कारी, श्वेतरिंगणी, फणस.	ಹಲಸು, ರಾಮುಗುಳ್ಳ, ಹಾಲ್ಮೂಲೀ.
कंदक [कन्द] (पु)	योनिरोग, योनिकन्द, जमींकंद, भसींडा, कमलकन्द.	कडवासुरण, योनिरोग, हस्तिकन्द लालमुळा, कांसाळुं, कमळकन्द.	ಮುಳ್ಳಿರಕ್ತಸಿಂಯುಗಡ್ಡೆ, ಕಮಲಕಂದ, ಯೋನಿರೋಗ ವಿಶೇಷ.
कंदल [ली] (स्त्री)	केला, कमलगट्टा.	कमलबीज, आलें, केळफूल, सुवर्ण	ತಾವರೇ ಬೀಜ, ಹಸಿ ಶುಂಠಿ.
कांगीरक	स्वनामख्यात औषधविशेष.	स्वनामख्यात औषधविशेष.	ಕಾಂಜೀರಕ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
कर्णिका	अगेथुवृक्ष, मेढासिंगी.	थोरएरण, स्थलकमालिनी, लघुश्वेत-जुई, कमलकर्णिका, फांटेशेवंती, रानशेवंती [लघु नरवेल,कमलकोश.	ಅರಣೀ, ಕಮಲಿನೀ, ಶೇವಂತಿಗೆ,ಕಾಡು ಸೇವಂತಿಗೆ, ಕಮಲಕೋಶ.
कांता (स्त्री)	फूलप्रियंग, बडी इलायची, रेणुका, नागरमोथा.	त्रिसंधा, श्वेतदुर्वा, एलदोडे, रेणुक-बीज, नेवाळी. डुकरकन्द, आकाश वेल,लघुउन्दारिकानी,गंहला,वाघांटी	ನೆಪ್ಪಿ ಲಗು, ದೊಡ್ಡ ಯಾಲಕ್ಕಿ, ಜಕ್ಕಿನ ಗಡ್ಡೆ, ತುಂಗೆಗಡ್ಡೆ.
कांचु [का] (स्त्री)	असगंध.	अश्वगंधा.	ಅಂಗರಬೇರು, ಹಿರೀ ಮದ್ದಿನಗಿಡ.
कांस्य [क]	कांसा, कांस्यपात्र.	कांसें, उत्तमकांसें, कांस्य पात्र.	ಕಂಚು, ಕಂಚಿನಪಾತ್ರೆ.
किंदुक	पुष्पविशेष.	पुष्प भेद.	ಪುಷ್ಪಭೇದ.
किंशुक (पु)	पलाश-वृक्ष, नन्दी-वृक्ष, ढाक-वृक्ष, तुन-वृक्ष.	पळस.	ನಂದೀಮರ, ಮುತ್ತುಗದ ಮರ.
कुंकुम (न)	केशर.	केशर, पिंजर, सळई डीक,कागडा कवड्या ऊद.	ಕುಂಕುಮ ಕೇಶರಿ
कुडव	३२ तोला प्रमाण.	३२ तोळें प्रमाण.	೩೨ ತೊಲೆ ಪ್ರಮಾಣ.
कुंडली (स्त्री)	जलेबी-मिठाई, गिलोय, कचनार-पुष्पवृक्ष, किंवाच, सार्पिणिवृक्ष.	गुळवेल, कोरळ, नाग, बाहात्रा, जलेबी, कुंड्लिी.	ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ, ಉಗಸಿ, ಕೆಂಪು ಕಂಚಾಳದಬೇರು, ಕೊಚ್ಚ್ಕಾಲೆ. ಜಿಲೇಬೀ.
कुंड [लता]	लताविशेष,	लताविशेष, कोरफड.	ಲತಾ ಭೇದ, ಕಳ್ಳಿ.
कुंद	मल्लिका पुष्प	कुंद पुष्प.	ಮಲ್ಲಿಗೆ.
कुंदक (पु)	कुन्दुरुलोबान-पार्सी.	कुन्दपुष्प, श्वेतकणेर.	ಮಲ್ಲಿಗೆಹೂವು. ಕಣಗಿಲೆ
कंबुक (न)	केउँआ-वृक्ष, सुपारी.	सुपारी, कोबी करमला.	ಅಡಿಕೆ.

— ख —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
खदिर	(पु) (रा)	खैर-कत्था.	लाजाळु, कात.	ಮುಳ್ಳು ಮುಡುಗು. ಕಾಚು. ಚೌಚು.
खरकर्णिका		काटेदारवृक्ष विशेष.	काटेदारवृक्ष विशेष.	ಮುಳ್ಳುಯುಕ್ತ ವೃಕ್ಷಭೇದ.
खरभूष		स्वनामख्यातवृक्ष विशेष.	स्वनामख्यातवृक्ष विशेष.	ಖರಭೂಷ.
खरमंजरी	(स्त्री)	चिरचिरा.	श्वेत आघाडा.	ಉತ್ತರಾಣಿ.
खर्जूर	(न)	खजूर, रूपा, हरताल.	रूपें, श्रेष्ठमयद्रव्य, हरताळ, खजूर.	ಖರ್ಜೂರದಗಿಡ. ಹರಿದಾಳ ಬೆಳ್ಳಿ, ಈಚಲುಗಿಡ.
खर्परी	[र] (स्त्री)	एक प्रकार की आंखकी औषधि.	कलखापरी, कपाळांचे हाड, नेत्रांजन	ಕಣ್ಣಿನ ಅಂಜನ.
खल	(पु.न)	श्यामतमाल, धतूरावृक्ष, केशर.	श्वेतधोत्रा, मुळें व फळें यांचे कढण काढितात तो पेंड.	[illegible], ಕೇಸರ.
खंड	(पु.नं.)	विडियासंचरनोन, खाण्ड.	बिडलोण, खडीसाखर, कचोरा, नाबदसाखर, तुकडा,	[illegible]. ಕಲ್ಲುಸಕ್ಕರೆ, ಲವಣಭೇದ.

— ग —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
गजकणा	(पु)	गजपीपल.	गजपिंपळ.	[illegible]
गजन्दका	(स्त्री)	नागबाला.	लघु चिकणा.	[illegible]
गर्दभ	(पु)	श्वेतकुमुद, विडंग, सफेद कनीदनी. वायुभक्ष.	गाढव, गुवास, श्वेत कमळ.	[illegible]

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
गवादनी (स्त्री)	नीलापराजिता, इन्द्रायण, नीलीकोयलता, कृष्णकान्ता	दुधी, चारोळी, श्वेत गोकर्णी, काळी किन्ही, थोर इन्द्रावण, काळी गोकर्णी, वारुणी, आक्षोठ, गुराक्षी, शेन्दणी, लघुकांवडळ.	ನೀಲಪಾರಿಜಾತ, ಕಪ್ಪುವಡೆಕಾಯಿ.
गायत्रिका [त्री] (न स्त्री)	खेरका वृक्ष, खेर, दुर्गंध खेर,	खैर.	ಕಗ್ಗಲೀಮರ.
गिरिकर्णिका [र्णा] (स्त्री)	सफेद किगही वृक्ष, कोयललता विष्णुक्रान्ता	शीतला, श्वेतगोकर्णी, विष्णुक्रान्ता, थोरश्वेतकिन्ही, कटमी.	ವಿಷ್ಣುಕ್ರಾಂತಿ.
गिरीन्द्रकर्णिका	,,	,,	,,
गुग्गुल (पु.)	शिलाजित, लाल सैजिनेका पेड, गुग्गुलका पेड, इसका गोन्द गूगल है	महिषाक्ष, आरक्तवर्ण, महानील, कुमुद.	ಧೂಪದ ಮರ.
गुप्तफल [ला] (गूढफल) (पु)	बेर.	लघुकावळी.	ಸಣ್ಣ ಕಾಗೆ ಸೊಪ್ಪು
गुप्तबीज गुह्यबीज (पु)	शरत्राण. तृण विशेष.	गवत.	ಹುಲ್ಲು.
गुडू[ची] [डी] (स्त्री)	सेहुंडुकापेड, गोली, बसन्तरोग	गुळवेल.	ಅಮೃತಬಳ್ಳೀ, ಉಗನೀ.
गुह्याक्षी	पीपल भेद	पिंपळ भेद	ಹಿಪ್ಪಲೀ ಭೇದ.
गैरिक	गेरूमाटी.	गेरू.	ಜಾಜು.
गोजी [गोजिह्वा] (स्त्री)	गोभी, वनस्पति, गरहेडुआ,	पाथरी, गोजिहा,	ಹಕ್ಕರಿಕೆಗಿಡ, ಗೋಜಿಹ್ವೆ=ಬೆಂಡೆಗಿಡ.
गोधूम [क] (पु)	गेहू, गेहूंकावृक्ष, नारंगीका वृक्ष.	थोरगहूं, बारीकगहूं.	ಗೋಧಿ, ನಾರಂಗೀ.
गोपा (स्त्री)	कालासर.	श्वेत व काळी उपलसरी.	ಬಾಣಂತಿ ಬೇಳ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
गोरट (पु)	दुर्गंधखैर.	शेण्यखैर	ಕಿರೀ ಗೈರ್.
गोशीर [र्ष] (न)	हरिचंदन.	चन्दन.	ಪರಿಮಳ ಗಂಧವು.
गोशृंग (पु)	बबूरका पेड.	बाभूळ.	ಜಾಲಿ.
गोक्षुर (पु)	गोखरू.	नारिंग, गोखरू, सरांटे, लघु गोखरू.	ದೊಡ್ಡ ನೆಗ್ಗಿಲು.
गौर (पु)	सफेद सरसों, धनवृक्ष.	कमळकेसर, करंज, सिरस, श्वेत-साठेसाळी, धावडा, केशर, चोपडा-करंज, पांढरा पिवळा, तांबडा खदिर, हरताळ, श्वेतशिरस, सोने.	ಬಿಳೀ ಸಾಸಿವೆ, ಕೇಶರ, ಹರದಾಳೆ, ಖದಿರ.
ग्रन्थि	भद्रमुस्त, पिंडालु, ग्रंथिपर्ण-वृक्ष.	पायांचे घोटे, भद्रमोथ, पिंपळमूळ, वेळची गांठ, हितावली, आर्तव-दोष, ग्रंथिपर्णी,	ಕೊರೆನಾರು, ಭದ್ರಮುಷ್ಟಿ, ಬಿಳೀಗೆಣಸು
ग्रन्थिका [क] (पु न)	करीलवृक्ष, पीपरामूल, गठिवन, गूगल	गठोनाझाड, वेखण्ड.	ಹಿಪ್ಪಲಿ ಮೂಲ, ಗುಗ್ಗುಲ.
गंडीरा	शुण्डिघ्नाशक—केचित् भाषा.	कडवा सुरण, निवडुंग, शूर,	ಏರುವಂಗದ ಮರ.
गंध (न)	कालीअगर.	चन्दन, सुवास, गंधक, रक्तबोळ, क्षुद्ररोग, घ्राणविषय, शेवगा.	ಗಂಧಕ, ಕರೀ ಅಗರು.
गंधक (पु)	सैजिनेकावृक्ष, गंधक.	गंधक, गोगिर्द, किब्रित, सल्फर	ಗಂಧಕ.
गन्धर्वहस्त [क] (पु)	अण्डका.	श्वेतएरण्ड.	ಹರಳಗಿಡ.
गांगेरुक [की] (स्त्री)	गुलसकरी.	कांकडांचे झाड.	ನಾಗಬಲೆ, ಕಾಡು ಹರಳೆಗಿಡ, ಬೆಟ್ಟಗೊಂಡೆ.
गुंजा (स्त्री)	घुंघुची, चोटली, चिरमिटी, गुंज इत्यादि १ रत्तिप्रमाण.	श्वेतरक्त गुंजा, प्रमाण विशेष.	ಗುಲಗಂಜಿ.

— घ —

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
घना (स्त्री)	मघवन, शंकरजटा.	रानउडीद, ईश्वरी, रुद्रजटा,	ಕಾಡುಉದ್ದು, ಇಸರೀ ಬೇರು ನಂಜಿನ ಬೇರು.
घोटा [टिका] (स्त्री)	घोटिकावृक्ष.	[घोंटा] गेळ, लवुत्रोर, नागवला, सुपारी, मदन—सांग.	ಯುಳಚಿ [ಬೋರೆ] ಅಡಕೆ.

— च —

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
चक्रमर्द [क] (पु)	चकवड, पमार.	टांकळा.	ತಗಚೀಗಿಡ.
चणका (स्त्री)	(चणिका) चणिकाघास.	जवस.	ಅಗಸೆ.
चन्दन (न)	चन्दनका पेड.	साधारणचन्दन, सुकड.	ಚಂದನಮರ
चन्द्र (पु)	चूक, कवीला ओषधी, जल, रूपा.	सोनें, कापूर, श्वेतमिरीं, चक्र, शुण्डारोचनी कपिला गेरु, श्वेत-निशोत्तर.	ಹುಳಚುಕ್ಕ, ಬಂಗಾರ.
चम्पक (न)	चंपावृक्ष, चंपाके फूल, सुवर्ण केला.	सोनचांपा, मोठानागचांपा, धाकटा नागचांपा सोनकेळ, फणसभेद [पिवळे फुलाचा]	ಸಂಪಿಗೆಮರ, ಸಂಪಿಗೆಹೂವು. ಬಾಳೆ ಹಣ್ಣು.
चव्य (क) (न)	चव्य. कार्पासी, चविका, वच.	चवक, गजपिंपळी, गजपिंपळीचे मूळ, कापूस, गुंजा.	ಕಾಡು ಮೆಣಸುಬೇರು.
चालिनी फल (न)	एक प्रकारका फल.	फलविशेष.	ಫಲವಿಶೇಷ,

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
चित्र (न)	एक प्रकारका कोढ.	श्वेतएरण्ड, कलिंगड, अशोक, चितळ, गांजिणी, चिता चित्रक.	ಕಲ್ಲಂಗಡಿ ಹಣ್ಣು, ಕಾಲಿಂಗ.
चित्रक (पु)	चीतावृक्ष, अण्डकापेड. एरंडवृक्ष.	चित्रक–छाल, श्वेतएरण्ड, चिता, मुचकुन्दवृक्ष, चन्दनतिलक.	ಹರಳುಮರ, ಚಿತ್ರಮೂಲ.
चित्रमूल (न)	चीत चित्रक.	चित्रक.	ಚಿತ್ರಮೂಲ.
चित्रलता	मंजीट्	मंजिष्ठ.	ಮಂಜಿಷ್ಟ.
चिरि [चिल्व] (पु)	कंजाका पेड.	वार, पोपट, वृक्ष,	ಹೊಗೆಸೊಪ್ಪು, ಕಾಹಗು, [ಹೊಂಗೆ]
चिर्भट [टी] (स्त्री)	ककडी.	गोराळ काकडी, काकडी.	ಮಿಡೀ ಸವತೆ, ಮುಳ್ಳುಸವತೆ, ಸೌತೆ.
चिल्ली (स्त्री)	लोध, चिल्ली, शाक. बथुवा,	लोध्र, रक्तचील, चाकवत.	ಚಕ್ರೋತಪಲ್ಯ, ಪತ್ರಶಾಕ.
चुचुः	इमली, अंबली.	कुरडु, चिचोंन्डी.	ಗೊರಟೆ, ಹುಣಸೆಮರ.
चोच (न)	दालचीनी, तेजपात, ताडकाफल, केलेकी फली, नारियल.	दालचीनी, नारळ, द्वीपान्तर खजुरी, साल, कंग केळ.	ದಾಲಚೀನಿ, ಲವಂಗಚಕ್ಕೆ, ಬಾಳೆ, ತಾಡಫಲ, ತೆಂಗಿನಕಾಯಿ.
चोर (स्त्री)	शठी भेद, खुरासानि अजवान्.	किरमाणी, ओंवा.	ಮುರಾಸಾನಿ ಅಜವಾನ್, ಪೋಮ.

— छ —

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
छग [लिका ला] (स्त्री)	विधारावृक्ष.	वरधारा.	ಪಿಂಗ, ಪದಂಗಿಚಕ್ಕೆ.
छलोद्भव (स्त्री) [छिन्नोद्भवा]	गिलोय.	गुळवेल.	ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ, ಉಗನಿ.

— ज —

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
जट [टा] (स्त्री)	जटामासी, वालछड, शंकरजटा, शतावर, कौछवृक्षकी जड.	सुगंधजटामांसी, जटामांसी, पारंब्या ईश्वरी शेंडी, वृक्षमूळ.	ಜಟಾಮಾಂಸಿ.
जम्बू [म्बु] (स्त्री न)	जामन, जामनकावृक्ष.	जांबूळ.	ನೇರಳೇಹಣ್ಣು.
जल (न)	सुगंधवाला, नेत्रवाला, जल.	पाणी, वाळा, परेळाचा भेद, जलवेत, गाईचा गर्भाशय, मंदपणा.	ನೀರು, ಲಾವಂಚ. ಮುಡಿವಾಳ.
जलज (न)(पु)	कमल, शंख, समुद्रफल, शिवार, जलबैंत, मकरतेंदुआ.	लवंग, लोणारखार, कमळ, शंख, शेवाळ, मोती, परेळ, जलमुस्ता, जलमोहोंवृक्ष, काकटेंभुरणी, कुचला, देवभात, जलवेत.	ಕಮಲ, ಸಮುದ್ರ ಫಲ. ನೀರುಹಚ್ಚೆ, ನೀರಂಟೆ, ಮುತ್ತು, ಶಂಖ, ಜಲತುಂಗೆ.
जाति (स्त्री)	आमला, जायफल, मालतीपुष्पलता, कपीला, चमेलीवृक्ष	जाई, आंवळी, शुण्डारोचिनी, चूल, जायफळ.	ಜಾಜಿ ಹೂವು, ಜಾಯಿಫಲ.
जातिफल (न)	जायफल	जायफळ.	ಜಾಜಿ ಕಾಯಿ.
जीर (पु)	जीरा	पीतवर्ण जिरें, क्षुद्रधान्य.	ಜೀರಿಗೆ.
जीरक (पु)	जीरा	पीतवर्णजिरें, शाहाजिरें, श्वेतजिरें.	ಹೊನ್ನೆಮರ, ಜೀರಿಗೆ.
जीव (पु)	बकायनवृक्ष.	प्राण, जीवकादिगण, बृहस्पति.	ಹಾಲೇ ಸೊಪ್ಪು.
जीवन्ती (स्त्री)	सोरठदेशमें उत्पन्न होनेवाली हर्ड, गिलोय, बान्दा, छौकरावृक्ष, हरड, डोडीवृक्ष, जीवन्ती	गुलवेल, मोहाचावृक्ष, जीवक, हर्चकी, जीवन्ती, कांकोली, मेदा, लघुहरणदोडी, बादांगुळ, शमीवृक्ष.	ಬೆಳಗಾರ. ಅಳಲೆ, ಕಾಕೋಲೀ, ಅಮೃತಬಳ್ಳೀ.
जंघारुहा	झरसी.	झरस.	ಖಂಡಶರ್ಕರೆದರಸಿ

— ट —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
टंकण	(पु)	सुहागा.	क्षार, टांकणखार, स्वागी.	ಬೆಳಗಾರ, ಕ್ಷಾರ.
टुंटुक:	(पु)	टेंटुकवृक्ष,	दिण्डा.	ತಿಗಡು ಮರ.

— त —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
तगर	(न)	तगरकावृक्ष	गेळ, तगर, पिंडीतगर, गोडेतगर.	ಬಸುಗಾರೆ, ಗೊಡೀತಗರ.
तन्वी	(स्त्री)	शालवन, सरिवन.	सालवण, शाफळी.	ತೆಲ್ಲು.
तमाल	(पु न)	एकवृक्ष, बांसकी छाल	वायवारण, स्थलकमळ, काळाताड, तमालपत्र, दालचिनी, चांबूची त्वचा.	ಹೊಂಗೇಮರ.
तरली [ला]	(स्त्री)	यवागू [जौके आटेका बनता है] मदिरा, मधुमक्खी	कांजी, मद्य.	ಜೋಳದ ಹಿಟ್ಟಿನಿಂದ ಮಾಡುವ ಯವಾಗೂ. ಜೇನುನೊಣ, ಸರಾಯಿ.
तरुणी	(स्त्री)	घीकुवार, दन्तीकापेड,	कोरफड, कांदणीगवत, चिडादेवदार, लघुदन्ती, शेवन्ती, काटेशेवन्ती.	ಅಲೋಳೆಕಟ್ಟಿ, ಕಲ್ಲುಕುಮಾರಿ, ಲೋಳೆಸರ.
तरुमूल		पेडका जाड.	झाडका मूळ,	ಮರದ ಬುಡ.
तर्कारि [री]	(स्त्री)	अगेथुवृक्ष, जयन्ती, गैन्थवृक्ष,	थोर नरवण, रानमेरी, वनकांकरी, शिवना.	[illegible]
तक्षपोटक		वृक्ष विशेष	वृक्ष विशेष	ವೃಕ್ಷ ವಿಶೇಷ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
ताल	(पु)	ताड का पेड.	वंताड, ताडवृक्ष.	ತಾಳೇ ಮರ.
तालक	(न)	हरताल, गोचन्दन,	हरताळ.	ಹರಿದಾಳ, ಗೋಪೀಚಂದನ.
तालि	(स्त्री)	भुईं आमला, मुसली.	डोंगरीताड.	ಕಿರಿನೆಲ್ಲಿ.
तालीस [श]	(न)	तालीशपत्र	लघुतालीसपत्र.	ತಾಳೀಶಪತ್ರೆ.
तिक्तक	(न)	कुटजवृक्ष, वरुणवृक्ष, तिक्तरसा, कुडेका पेड, चिरतिक्त, कृष्णखादिर.	पडवळ, किराईत, काळाखादिर.	ಕಹಿ ಪಡುವಲ, ವಸುಳೆಯ ಗಿಡ.
तिल	(पु)	तिल	तीळ.	ಎಳ್ಳು.
तिलक	(न. पु)	पेटमें जलरहनेकास्थान,चोहारकोठा कालानोन, तिलक पुष्पवृक्ष, मरुआ-वृक्ष, कालातिलरोग,	कृष्णलोह, गुळ, क्षुद्ररोग, काळे तीळ, काचलवण, पिपासास्थान, संचळ, तिलकपुष्प, टिळा, अश्ववि, मूत्राशय, लासें.	ತಿಲಕದಗಿಡ,ಹೊಟ್ಟೆಯಲ್ಲಿ ಜಲಸ್ಥಾನ, ಕರಿಲವಣ, ಬೆಲ್ಲ, ಮೂತ್ರಾಶಯ, ಕ್ಷುದ್ರರೋಗ ವಿಶೇಷ.
तिलज	(न)	तिलका तेल	तिळाचें तेल.	ಎಳ್ಳಿನ ಎಣ್ಣೆ.
तिल्वक	(पु)	लोध्र	हिंगणबेट, लोध्र.	ಇಂಗಳಗಿಡ.
तुगा	(स्त्री)	वंशलोचन	वंशलोचन.	ಸುರಹೊನ್ನೆ.
तुटि	(न)	छोटी इलायची	एलची, वेलदोडा.	ಸಣ್ಣ ಯಾಲಕ್ಕಿ.
तुटित्रय	(न)	तुटित्रय	तुटित्रय,	ತುಟಿತ್ರಯ.
तुम्बी	(स्त्री)	तोंबी, काकादनीवृक्ष,कडवी.	दुधभोंपळा, कडू दुधभोंपळा.	ಸೋರೇ ಗಿಡ, ಸೋರೇಕಾಯಿ.
तुरग [गी]	(स्त्री)	असगंधकापेड.	अश्वगंध.	ಅಂಗರಬೇರು, ಹರಿ ಮದ್ದಿನಬೇರು.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
तुरगगन्ध [धा]	(स्त्री)	असगंधका पेड.	अश्वगंधा	ಅಂಗರಬೇರು ಹಿರೀಮದ್ದಿನಬೇರು.
तुलसी	(स्त्री)	तुलसी.	तुळस.	ತುಲಸೀ.
तुवर [क]	(पु)	कसेलारस.	श्वेतशिरस, नीलवर्ण हिराकस, तुरट, रानमूग, तूत.	ಕಾಡು ಹೆಸರು, ಪಟಿಕ.
तुष	(पु)	धानोंकी भूसी, बहेडाका पेड.	बेहेडा, कोंडा.	ತಾರೇಗಿಡ, ಧಾನ್ಯದ ಹೊಟ್ಟು.
तोरण	(न)	कंठरोग विशेष.	ग्रीवा, कंठरोगविशेष.	ಮುಡಿವಾಳ, ಕಂಠರೋಗ.
तंडुल [मूल]	(पु)	वायविडंग, चौलाईकाशाक, चावल	वावडिंग, तांदूळ.	ವಾಯುವಿಳಂಗ, ಅಕ್ಕಿ, ಚೌಳಕಾಯಿ.
तंडुलीय [क]	(पु)	चौलाई, अल्पमरसा	तांदूळजा.	ಕಾಳೇ ಹರುವೆ, ಚಿಲ್ಲರುವೆ.
तिंत्रिणी	(स्त्री)	इमलीका पेड	[तितिणी] चिंच.	ಹುಣಸೇ ಮರ.
तिन्दुक	(न)	तेंदवावृक्ष.	कुचना, टेंभूर्णि, घेडशी.	ತೂಬರೆ ಗಿಡ.
त्रपुप [बीज]	(न)	रांग, खीरा	[त्रपुषी] कांकडी.	ನೆಲಸೌತೆ.
त्रापुषबीज	(न)	खीरेका बीज.	वाळकाचें बीज.	ಸೌತೇಬೀಜ.
त्रिकटु	(न)	सोंठ, मिरच, पीपल	सूंठ, मिरी, पिंपळी.	ಶುಂಠಿ, ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಮೆಣಸು.
त्रिकंटक	(पु)	गोखुरूका पेड.	सूंठ, गुळवेल, रिंगणी, गोखरूं,	ದೊಡ್ಡ ನೆಗ್ಗಿಲು ಮರ.
त्रिजातक	(न)	दालचीनी, इलायची, तेजपात.	दालचिनी, तमालपत्र, एलची.	ದಾಲಚೀನಿ, ಲವಂಗ ಚಕ್ಕೆ, ಏಲಕ್ಕಿ.
त्रिफल [ला]	(स्त्री)	हरड बहेडा, आमला.	हरडे, बेहेडे, आंवळकटी, सुगंध-त्रिफळा, जायफळ, सुपारी, लवंग, मधुरात्रिफला, द्राक्ष, दाडीम, खजूर.	ಅಳಲೇಕಾಯಿ, ತಾರೀಕಾಯಿ, ನೆಲ್ಲಿಕಾಯಿ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
त्रिवृत् (स्त्री)	पनिलर, निसोथ.	श्वेतनिशोत्तर, काळें निशोत्तर, पहाडमूळ, रक्तनिशोत्तर.	ಬಿಳಿ ತಿಗಡೇಗಿಡ.
त्रुटि (स्त्री)	छोटी इलायची.	एलची.	ಸಣ್ಣ ಯಾಲಕ್ಕಿ.
त्र्यूषण (न)	सोंठ, मिरच, पीपल.	सुंठ, मिरीं, पिंपळी-त्रिकटु.	ಶುಂಠಿ, ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಮೆಣಸು.
त्वक् (न)	दालचीनी, वल्कल, छाल, तज,	कलमीदालचिनी, साल, लघुतालीस पत्र, शरीराची त्वचा.	ದಾಲಚೀನಿ, ಸಿಪ್ಪೆ.

— द —

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
दर्भ (पु)	कुशा, कांस, दाभ, डाभ.	श्वेतदर्भ, लघुश्वेतदर्भ, काशतृण.	ದರ್ಭೆ.
दर्वी (स्त्री)	दारुहलदी, गोमी देवदारु, हलदी.	पळि, सर्पफणा.	ಮರ ಅರಿಶಿನ, ಹಕ್ಕರಿಕೆ ಗಿಡ.
दलिता [त] (स्त्री)	शंखिनी.	टवटवीतपुष्प.	ಕಾಡುಪಾಪಡಿ.
दवा (स्त्री)	हाथीका मद.	रान.	ಆನೆಯ ಮದ.
दहन (पु)	चीता, भिलावा.	चित्रा, चित्रक, वृश्चिकाली, अगर, गुगुळ, कांजीचा भेद.	ಚಿತ್ರ ಮೂಲಿ, ಗುಗ್ಗುಳ, ಕಾಂಜಿಕಾ ಭೇಧ, ಅಗರು.
दाडिम (पु)	दाडिम का पेड, अनार, इलायची.	डाळिंब, लघुएलची.	ದಾಳಿಂಬೇ ಗಿಡ, ಏಲಕ್ಕಿ.
दारुक (न)	देवदार.	तेल्यादेवदार, सोनपितळ.	ದೇವದಾರು ಮರ.
दिनकरतरु (पु)	आकका पेड,	रक्तरुई, श्वेतरुई.	ಎಕ್ಕೆಮಾಲೆ
दीर्घवृंत [क] (पु	शोनापाठा.	पीतलोध्र, टिण्डा.	ಹಾಲು ಗುಂಬಳ, ಹೆಮ್ಮರಾ, ಹಿಂತಾಳೆ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
दीपक तैल	(पु)	अजमायन, मोरशिखा.	ओंवा, आजमोदा, जिरं, केशर, समाणा, मोराची शेंडी	ಅಜವೋದ. [ಪ್ಯೋಮ] ಕೇಸರ.
दीपक	(पु)	अजमायन, रुद्रजटा, अजमोदा.	ओंवा, रक्तचित्रक, कलौंजी जीरे, पीतवर्णजीरें, ईडनिंबू, निंबू, अजमोद, तगर, मोरशेंडी, केशर ससाणा	ಅಜವೋದ, ಕಾಡುನಿಂಬೆ, ತಗರು, ಜೀರಿಗೆ, ಕುಂಕುಮ ಕೇಸರಿ.
दुग्धाघ्रिप	(पु)	दूधियावृक्ष.	दूधयुक्तवृक्ष.	ಹಾಲು ಬರುವ ವೃಕ್ಷ
दूर्वा	(स्त्री)	दूबवास.	नीलदूर्वा, कापूरकाचरी	ಗರಿಕೇ ಹುಲ್ಲು.
देवदारु	(न)	देवदारु, देवदारवृक्ष,	तेल्या देवदार.	ದೇವದಾರು ವೃಕ್ಷ.
दंती	(स्त्री)	दन्तीवृक्ष.	लघुदन्ती, जेपाळ	ದಂತಿ ವೃಕ್ಷ.
दंतिक [का]	(स्त्री)	दन्तीवृक्ष.	दन्ती.	ದಂತಿ ವೃಕ್ಷ,
द्रवणिका	(स्त्री)	वृक्षविशेष.	वृक्षविशेष.	ವೃಕ್ಷ ವಿಶೇಷ.
द्रवन्ती	(स्त्री)	मूसाकानी.	बृहद्दन्ती, लघुउन्दीरकानी, उन्दीरमारी	ಇಲಿಕಿವಿ ಗಿಡ.
द्राक्षा	(स्त्री)	दाख.	काळेंद्राक्ष, श्रेष्ठमद्यद्रव्य	ಬಿಳಿಗನ ದ್ರಾಕ್ಷಿ. ಕರಿದ್ರಾಕ್ಷಿ
द्विरज	(पु)	हलदी, दारुहलदी.	हळद.	ಅರಸಿನ, ಮರ ಅರಿಸಿನ.

— ध —

धत्तूर	(पु)	धत्तूरा.	श्वेतधोत्रा, धोत्रा.	ಮತ್ತೂರ್ತಿ.
धमन	(पु)	नरसल.	देवनळ	ನಳದ್ವಯ:=ಜೇವು, ದೇವನಾಳ,

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
धातकी (स्त्री)	धाय के फूल.	लघु धायटी.	ಆಚದ ಮರ, ಕರಿಗೆ.
धान्य (न)	धनिया, केवटीमोथा, धान, चार तिलपरिमाण.	धनें, साळी, भूव त्री, चारतीळभार वजन	ಕೊತ್ತುಂಬರಿ, ಬಲಿಯಗುಡಮ್ರು. ನಾಲ್ಕು ಎಳ್ಳು ಪ್ರಮಾಣ ಭಾರ.
धावनी [नि] (स्त्री)	पिठवन.	पिठवण, थोरताग, रिंगणी	ನರಿಃಬಾಲದ ಹುಲ್ಲು.
धात्री (स्त्री)	आमला.	आंवळी, आंवळकटी, उपमाता, भूमि	ನೆಲ್ಲಿಕಾಯಿ. ಭೂಮಿ, ದಾಸಿ.
ध्यामक (न)	रोहिससोंधिया.	रोहिसगवत, लघुरोहिसगवत.	ಕಾಚಿ ಹುಲ್ಲು, ಕರಿಗಂಜಣಿ.

— न —

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
नक्त [फल] (स्त्री)	कलिहारी.	गुलबास, कळलावी	ಕೋಳಿಕುಟುಮ, ಕೋಳಿಕುಕ್ಕಿನ ಗಿಡ.
नक्तमार [ल] (पु)	कंजावृक्ष,	करंज	ಹೊಂಗೆ ಮರ.
नक्तमाल (पु)	,,	करंज	ಹೊಂಗೆ ವೃಕ್ಷ.
नक्ताह्व [ह] (पु)	,,	करंज, घृतकरंज, थोरकरंज	ಹೊಂಗೆ.
नमालिका (स्त्री)	कन्दविशेष.	कन्दविशेष.	ಕಂದ ವಿಶೇಷ.
नालिका (स्त्री)	नली.	गुलछब्बु, उतरणी, नाडीशाक, नलुका वेवडा, पवारी.	ಶಾಕವಿಶೇಷ.
नाग (पु)	रांग, सीसा, नागकेशर, पुन्नाग का वृक्ष, मोथा, पान.	सिसें, विष, बीजद्रम, बचनाग, ऊर्ध्ववायु, पानवेल, कथील, नागकेशर रक्तवर्ण अभ्रक, नागर, न गवला, मेदा, हस्तिदन्त नागवल्ली सुरपुन्नाग, नागरमोथा.	ಸೀಸ, ನಾಗಕೇಸರಿ. ಅಭ್ರಕ, ತುಂಗೆ ಕಾಚು, ಹಸ್ತಿದಂತ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
नागबला (स्त्री)	गुलसकरी, गंगेरन.	नागबला, गांघेटी गाडेघामण, लेंचा तुबकडी, गांरुकी.	ಹೀರೇಗಿಡ, ನಾಗಬಲಾ.
नागपुष्प (पु)	पुन्नागका पेड, नागकेशर, चंपावृक्ष.	नागकेशर, नागचांपा.	ಊಮ, ಕಹಿಸುರಿಗೆ, ನಾಗಕೇಸರಹೂವ್ವು
नागर (न. पु)	सोंठ, मोथा, नारंगी.	पडवळ, सुंठ, नागरमोथ,	ಶುಂಠಿ. ನಾಗರಮೋಥ, ಜಕ್ಕಿನಗಡ್ಡೆ.
नागी (स्त्री)	वंध्याकर्कोटी.	वंध्याकर्कोटी.	ವಂಧ್ಯಾ ಕರ್ಕೋಟೀ.
नागीदल (न)	देखो नागी.	पहा नागी.	ನೋಡಿ ನಾಗೀ.
नादेय (न. पु)	सैन्धानोन, श्वेतशुर्मा, कांस, जलवैत.	समुद्रमीठ, काळासुरमा, सैंधव, बोरु, जलवेत, नागरमोथ, वेत, लघुकसई, थोरजलवेत.	ಸೈಂಧವ ಲವಣ, ಕಿರೀಕಾಗಚ್ಚು, ಗೊರಜೆ ಹುಲ್ಲು, ಜಂಬು ಹುವ್ವು. ನೀರು ಬೆತ್ತ. ಕರಿ ಅಂಜನ.
नारंग (न. पु)	गाजर, पीपलका रस नारंगीका पेड.	मिरवेलीचा रस, नारिंग, ऐरावत, नारिंगक, गाजर.	ಗಜ್ಜರಿ, ನಾಜರಗಡ್ಡೆ, ನಾರಂಗಿಹಣ್ಣು
नालिकेर (न)	नारियल.	नारळ.	ತೆಂಗಿನಕಾಯಿ.
नाली [नालिका] (स्त्री)	कमल नाडी का शाक, सातला.	मनशीळ, नळिका, बाजरी.	ಕಮಲ ನಾಳೀ,
निचुल (पु)	समुद्रफल, बेंत.	वेत, परेळ, निंब, जलवेत.	ಕಣಗಿಲ ತೋರ. ಸಮುದ್ರಫಲ.
निदिग्धिका [का] (स्त्री)	कटेरी, इलायची.	रिंगणी, लघु एलची,	ಗೋರಟಿಗೆ.
निंब (पु)	नीम का पेड.	लिंबाचे फळ, लिंबाचें झाड.	ಬೇವಿನ ಮರ.
निर्गुंडि (डी) (स्त्री)	निर्गुण्डी, मेउडी, सम्हालू, सेदुआरि.	श्वेतनिर्गुण्डी, राननिर्गुण्डी, काळीनिर्गुण्डी काळी निर्गुण्डी.	ಲಕ್ಕಿಗಿಡ. ನಿರ್ಗುಂಡೀ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
निर्मल	(न)	अभ्रक.	रौप्यमाक्षी, अभ्रक.	ಅಭ್ರಕ, ಕಾಗೆ ಬಂಗಾರ.
निर्मोक	(पु)	सांप की कैंचली, विष.	सर्पाची मेग.	ಹಾವಿನ ಪರೆ.
निशा	(स्त्री)	हलदी, दारुहलदी.	हळद, दारुहळद.	ಹಳದ, ಅರಸಿನ.
नीलमणिका	(पु)	नीलम्.	नीलरत्न.	ನೀಲರತ್ನ.
नीलांजन	(न)	शुक्रशुर्मा, तूतिया.	निळासुरमा, मोरचूद,	ಅಂಜನ.
नीली	(स्त्री)	नीलका पेड.	शरपुखाकृतीच्या झाडापासून गुळी उत्पन्न होत्यें ती लघुनीळी, निळी निर्गुण्डी, सिंहपिंपळी नीललोह, कथील, क्षुद्ररोग, लासें.	ಗೊರಂಟಿಗಿಡ, ನೇಲಿಗಿಡ.
नीलोत्पल	(न)	नील कमल.	नीलोत्पल कमळ.	ನೀಲಕಮಲ.
नृत्यकांडक	(न)	वृक्ष विशेष.	वृक्ष विशेष.	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ.
नृप	(पु)	अमलतास.	थोरवाहवा.	ಹೆಗ್ಗಕ್ಕೆ.
नृपतरु	(पु)	अमलतास, खिरनवृक्ष.	थोर वाहवा, रांजणी, खिरणी.	ಹೆಗ್ಗಕ್ಕೆ, ಬರಣೀಮರ.
नृपद्रुम	(पु)	देखो नृपतरु.	पहा नृपतरु.	,,
नृपवृक्ष	(पु)	,,	पहा नृपतरु.	,,
नृपांघ्रिप	(पु)	,,	पहा नृपतरु.	,,
नेत्र	(न)	पिसाब बाहर करनेकी सलाई	डोळें, मूळ, मंथनरज्जु.	ಮೂತ್ರ ನಿರ್ಗಮನ ಪಿಚಕಾರೀ.
न्यग्रोध	(न. पु)	वड का फल, बड का पेड, छोंकर वृक्ष; मोहनाख्य औषधी.	वड, उंदिरकानी, बांब, कडुनिंब, बकाणनिंब, बाळन्तनिंब. हीवरे, लिमडो.	ಆಲದ ಮರ. ಬೇವು.

— प —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
पटोल	(पु)	परवल.	कडु पडुवल, गोडपडुवल, वस्त्र, छींट	ಕಹಿ ಪಡುವಲ, ಪಡವಲ.
पटोलिक	(न)	कासमर्दवृक्ष, कार्पासवृक्ष.	कडु पडवळ, कापूसचे झाड.	ಕಹಿ ಪಡವಲ, ಹತ್ತಿಯಮರ.
पटु	(न)	कडवे पडवल.	सोन पडवळ.	ಕಹಿ ಪಡುವಲ.
पत्र	(न)	कचनारका पेड.दालचीनीका पत्र.	तमालपत्र, लघुतालीसपत्र, नागवेल.	ಎಲೆ, ಲವಂಗ, ತಮೂಲಪತ್ರ.
पथ्या	(स्त्री)	हरड, सैंधिनी, गुरुभीडु, वनककोडा	हर्तकी, वांझकर्टोली, गोड शेंदाड, कडु शेंदाड, मृगादनी.	ಅಳಲೇಗಿಡ.
पद्मक	(न)	पद्माख, कूठ औषधि.	पद्मकाष्ट, कोष्ठ, कमळावृक्ष, सरळदेवदार.	ಪದ್ಮಕಾಷ್ಟ.
पद्ममध्य	(न)	कमल केशर.	कमळकेशर.	ಕಮಲಕೇಸರ.
पनस	(पु)	कटैल, कटहर.	फणस, क्षुद्रफणस, कंटकवृक्ष,	ಹಲಸಿನಗಿಡ.
पयष्टंकणचूर्ण	(न)	सुहागेका चूर्ण.	टाकण खार.	ಟಂಕಣಖಾರ, ಬೆಳಗಾರ.
पयोद	(पु)	मुस्तक, मोथा.	मेघ. मोथ	ತುಂಗಮುಸ್ತೆ.
पयोरुह	(न)	कमल. समुद्रलवण, जलवेत.	कमळ समुद्रलवण, जलवेत.	ತಾವರೆ. ಸಮುದ್ರಲವಣ, ನೀರುಬೆತ್ತ.
परूप [क]	(न)	पालसा, परुषा.	फालसा, भुयधामण,	ಪಾಲಸೆಯ ಕಾಯಿ.
पलाश	(पु)	ढाक–पलासवृक्ष.	फळस, कापुरकाचरी, तमालपत्र, पानें, भुयकोहळा, हिरवा.	ಮುತ್ತುಗದ ಗಿಡ, ಗಂಟುಕ ಚೋರ.
पलाण्डु	(पु)	प्याज.	कांदा.	ಈರುಳ್ಳಿ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
पाटल	(न. पु)	पाडल के फूल, गुलाब के फूल, आशुधान	व्रीहिधान्य, पुन्नाग, लवुरोहिस, पाटलापुष्प.	ಹಸರು ಪಾದ್ರಿ, ಮುಕ್ಕುಮರ; ಗುಲಾಬಿ ಹೂವು.
पाटली	(स्त्री)	कटभी, मोखा, पाडल.	काळीकिन्ही, भुयचांपा, रक्तपाडल, काळा मोरवाक्षव, रक्तलोध्र, सागरगोटी.	ಕರೀ ಕೆಲಗೆ, ಉಪ್ಪಲ, ಮುಕ್ಕುಮೂ, ಗಜ್ಜುಗದಕಾಯಿ,
पाठा	(स्त्री)	पाठ.	पाहाड मूळ.	ಅಗರು ಶುಂಠಿ.
पानिकचरी	(स्त्री)	जलकाचरी.	पाणिकाचरी.	ಜಲಕಾಚರೀ.
पारावत	(पु)	पालसा, दरुषा.	पारवा, फालसा, लोखण्ड, साराम्ल, निळासुरमा, अश्वक्षुरा, एवनीवृक्ष.	ಪಾಲಸೇಕಾಯಿ. ಕಬ್ಬಿಣ
पारी	(स्त्री)	जायपत्री.	जायपत्री, पराग, कर्पूरिका.	ಜಾಯಪತ್ರಿ, ಪತ್ರಿ, ಪರಾಗ,
पारिभद्र	(पु)	फरहद, नीम का पेड, देवदार, धूपसरल.	कडुनिंब, देवदार, पांगारा, कोष्ठ, प्राजक, सरलदेवदार, निंब.	ದೇವದಾರು, ಬಾಳಂತಿಬೇವು, ಬೇವು. ವಿಷ ಬೇವು.
पालक	(पु)	चीतावृक्ष.	चित्रक, हिंगूळ.	ಚಿತ್ರಮೂಲ.
पिचु	(पु)	कार्पास दो तोले परिमाण, कुष्ठरोग.	कापूस, कापसाचें सूत, आरक कापशी, कुष्ठरोग,	ಹತ್ತಿ, ಹತ್ತಿಯನೂಲು, ೨ ತೊಲಿ ಪರಿಮಾಣ, ಕುಷ್ಠ ಭೇದ.
पिचुमन्द	(पु)	नीम का पेड.	कडुनिंब, बाळ्यानिंब,	ಬೇವಿನ ಮರ
पिण्याक	(पु. न)	तिल की खल, सर्सों की खल, हींग, शिलाजित, शिलारस, केशर.	पेण्ड, शिलारस, हिंग, ऊद, तिलकल्क, केशर.	ಒಂದು ದಯೆಮಾಡುವ ಮರ, ತಿಲಾರಸ. ಇಂಗು. ಎಳ್ಳಿನಖಲ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
पिप्पली	(स्त्री)	पीपल.	पिंपळी, कानाचा पाळीचा रोग.	ಹಿಪ್ಪಲಿಗಿಡ.
पिप्पलीत्रिक		पीपल, वनपीपल, गजपीलि.	पिंपळी, वनपिंपळी, गजपिंपळी.	ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಕಾಡುಹಿಪ್ಪಲಿ; ಗಜಹಿಪ್ಪಲಿ.
पिष्टका [क]	(पु)	एक प्रकार की पूरी, नेत्ररोगभेद, वड.	डोळ्यांचे श्वेबुबुळावरचा रोग, वडा, तिळकूट, पेंड.	ಅಲಮರ,ಒಂದು ಜಂಬುಮಾಡುವಮರ ನೇತ್ರರೋಗ ವಿಶೇಷ.
पीलुक	(पु)	पीलुवृक्ष, आखरोट.	अक्रोट, पीलुडा, किंकणेलाचा वृक्ष, कंचुकशाक, तळहात, परमाणु, अस्थिखंडविशेष, लघुपीपलवृक्ष,	ಅಮಟೆ ಗಿಡ.ಅಖ್ರೋಟ್, ಗೋನು ಹಣ್ಣು, ಚಿಟ್ಟಸ್ಸಗೋನು
पुट	(न)	जायफल, गजपुट इत्यादि.	क्षुद्रमोथा, औषधास पुट देतात तें, जायफळ, कैवर्टामोथा,	ಜಾಜಿಕಾಯಿ.ಪುಟಸಂಸ್ಕಾರ. ಮುಸ್ತೆ.
पुत्रिणी	(स्त्री)	वनस्पति विशेष.	प्रमेय पीटिका रोग, वाङ्गूळ, वनस्पति विशेष.	ವನಸ್ಪತಿ ವಿಶೇಷ.
पुनर्नवा	(स्त्री)	विष, खपरा, रक्तपुनर्नवा.	श्वेत, रक्त, नील पुनर्नवा [खापऱ्या]	ವಿಷ, ಕೆಂಪು ಪುನರ್ನವ.
पुनर्भू	(पु)	श्वेतपुनर्नवा.	श्वेतपुनर्नवा, चोट.	ಗೋಳಿ, ಶ್ವೇತಪುನರ್ನವ.
पुन्नाग	(पु)	पुन्नागवृक्ष.	श्वेतकमळ,जायफळ, फडनेडण्डीचा वृक्ष, सुरपुन्नाग, सुरंगी, गोडी उण्डी	ಸುರ ಹೊನ್ನೆ,ಬಿಳೇಕಮಲ,ಜಾಯಫಲ
पुष्पफलिनी	(स्त्री)	तुरई, लौकी,	दोडकी भोपळा,	ಹೀರೆಕಾಯಿ, ಚೀನಿಕಾಯಿ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
पूतिक	(पु)	पूतिकरंज, दुर्गंधकरंज, कांटाकरंज,	घाणेराकरंज, विष्टा, करंज, जवादी मांजर.	ತಪಸೀ ಗಿಡ.
पूतिकरंज	(पु)	देखो-पूतिक.	घाणेरा करंज.	ತಪಸೀಗಿಡ.
पेचु [क]	(पु)	मुचुकुन्दवृक्ष.	भक्षणीयकन्द.	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ. ಕಂದಭೇದ.
पंचलवण	(न)	कचियानोन, सैंधानोन, समुद्रनोन, बिरियासंचरनोन, कालानोन.	लवण, टंकण, सैंधव, औद्भिद, संचळ,	ಉಪ್ಪು, ಸೈಂಧವಉಪ್ಪು, ಸಮುದ್ರಕ್ಷಾರ ಸಂಚರಉಪ್ಪು, ಕರಿಉಪ್ಪು.
पिंड	(पु)	बोल, शिलारस, ओडूहुल, मैनफल का वृक्ष.	लोखण्ड, रक्तबोळ, जास्वन्द, ऊद पोलाद, शरीर, कांखेत वा आडसंधीत व मानेखाली गोळ्या आहेत त्या,	ಶಿಲಾರಸ, ಬಟ್ಟಲೋಹ. ಮೈನಫಲ. ಶರೀರದ ಅವಯವವಿಶೇಷ, ರಕ್ತಬೋಳ
पिंडीत (क)	(पु)	मैनफलवृक्ष, तगर, तुलसीभेद, पिण्डीतकवृक्ष.	गेळ, मरवा, तगरभेद,	ಬನಗಾರೆ. ಮರುಗ.
पुंडरीक	(न. पु)	सफेदकमल, कमल, एक प्रकार के आम, दवनावृक्ष, एक प्रकारका कोढ,	ऊंस, रेशमाचा किडा, श्वेतकमळ, दवणा, श्वेतकुष्ठरोग, कमळ, पुण्डरीकवृक्ष, साळीभात.	ಬಿಳೀಕಮಲ. ಕಮಲ, ಒಂದು ವಿಧದ ಮಾವಿನ ಹಣ್ಣು, ದವನ. ಕುಷ್ಠಭೇದ. ಕಬ್ಬು.
प्रग्रह	(पु)	अमलतास भेद.	लवुचद्वारा हरिपादप, सुवर्ण, रज्जु.	ಕಿರಕಕ್ಕೆ.
प्रभु	(पु)	पारा.	पारा, जीव, धनी,	ಪಾರದ, ಪಾದರಸ.
प्रवाल	(पु)	मूंगा.	पोंवळें, कोवळीपानें.	ಹವಳ,

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
प्रियंगु	(स्त्री)	फलप्रियंगु, राइ, पीपल, कंगुनीधान, कुटकी.	कटुकी, काळी मोहरी, पिंपळी, गहुला, कांग, वाचांटी.	ನವಣೆ. ತೊಟ್ಟಲಕಾಯಿ, ಚಿಲಚ.
प्रियाल	(पु)	चिरोंजी का पेड.	चारोळी वृक्ष.	ಕಟಗಿಡ.ಮೊರಲೀ ಲೂಂಟಿ.
प्लक्ष	(पु)	पाखर का पेड, पारिसपीपल, पीपल का पेड.	पिंपरी, पिंपळ.	ಬುಸ್ತಿ, ಬಸರಿಗಿಡ, ಹಿಪ್ಪಲಿಮರ.

— फ —

फणी	(पु)	मरुवक वृक्ष.	श्वेतमरुआ, कांगळा.	ಸೀಂಬಾವರೀ ಪೈರು. ಮರುಗ.
फल	(न. पु)	जायफल, हरड, बहेडा, आमला, शीतलचीनी, मैनफल, फल, अंडकोप, कुडावृक्ष, मैनफलवृक्ष.	त्रिफळा, कांकोळी, स्त्रीरज, कुडा, जायफळ, इन्द्रजव, गेळ, दान, सुपारी, खरबूज, वृपणग्रंथि.	ಜಾಯಿಕಾಯಿ. ತ್ರಿಫಲಾ, ಅಡಿಕೆ, ಕೋಟ, ಮುರಕ ಬೀಜ, ಇಂದ್ರಜವ, ಖರಬೂಜ.
फलाश	(पु)	फलाश वृक्ष, करंज वृक्ष.	फलाश वृक्ष, करंज वृक्ष.	ಅಶ್ವತ್ಥ, ಕರಂಜ.
फेन	(पु)	समुद्रफेन, रीठा.	समुद्रफेन, अभ्र, फेंस, वाफ.	ಸಮುದ್ರದ ನೊರೆ. ಸೋರೇಕಾಯಿ

— ब —

बकुल	(पु)	बौलश्री.	थोर बकुळ.	ಬಗಳಿ ಹೂ.
बदर	(न. पु)	बेरी का पेड, निर्जरसरसीं, कपासके बीज अर्थात् बिनौले, सेव, कपास का फल २ तोले—एक प्रकार का बेर, बेर.	बोर, देवशिरीषवृक्ष, चिरोंटाणी, रायबोर, कापसाची बी.	ಬೋರೆಹಣ್ಣು, ಹತ್ತಿಯಬೀಜ.ಸೇಬಿನ ಹಣ್ಣು. ಎರಡು ತೊಲೆ ಪ್ರಮಾಣ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
बदरी (स्त्री)	बेरी का पेड, कपास कौंछ.	बोर, कुहिली, रक्तकापशी, घोंटीबोर	ಬೋರೇ ಹಣ್ಣು. ಹತ್ತಿ.
बला (स्त्री)	खिरैंटी.	नागवेल, मद्य, रानताग, मोदिनी, महासमंगा, त्रिडंग, जयन्ती,	ಚಿಟ್ಟ ಹರಳುಗಿಡ. ನೀಲಕಮಲ.ಮುಡಿವಾಳ, ಜಯಂತೀ.
बहुल (न)	सफेद मिरच.	श्वेतमिरीं.	ದೊಡ್ಡ ಯಾಲಕ್ಕಿ. ಬಿಳೀ ಮೆಣಸು.
बालक (पु)	खैर का पेड.	खैर का झाड.	ಕಗ್ಗಲಿಗಿಡ, ತರೋಗ್ಗಲಿ ಗಿಡ.
बिड (न)	बिरिया सौंचरनोन.	बिडलोण.	ಪಾಕದ ಉಪ್ಪು.
बिभीतक (पु.न.स्त्री)	बहेडा वृक्ष.	बेहेडे.	ತಾರೀಕಾಯಿ.
बिल्वा (विल्वा) (स्त्री)	हींगपत्री.	[बिल्व] बेल.	ಬಿಲಪತ್ರೀ.
बीजक (वीजक) (पु)	बिजयसार, बिजोरा नींबु.	श्वेतशेगवा, बिबळा, महाळुंगा.	ಮಹಾಫಲ, ಮಾದವಾಳ.
बीजपूर (वीजपूर) (पु)	बिजोरा नींबू.	महाळुंगा.	ಮಾದಾಳದ ಗಿಡ.
बुजफल (न)	जायफल.	जायफळ.	ಜಾಯಿಕಾಯಿ.
बृश्चकर्णिका (स्त्री)	बिधारा.	वरणार, चोपचेनी.	ಪರಂಗಿ.
बृहतीद्वय (न)	छोटी कटेली, बडी कटेली.	थोर डोरली, लहान डोरली.	ಸಣ್ಣ ಕಟೇಲೀ, ದೊಡ್ಡ ಕಟೇಲೀ. ಹೆಗ್ಗುಲ್ಲು.
बंधूक (पु)	बिजयसार, दुपहरिया का वृक्ष, गेजूनिया का वृक्ष.	दुगारीं, आसणा, बिबळा.	ಹೊನ್ನೆ ಮರ, ವಿಜಯಸಾರ. ಮಧ್ಯಾಹ್ನ ವೃಕ್ಷ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
निंबलता [स्त्री]	कडुआ कुंदुरीका वेल	तोंडली वेल	ತೊಂಡೆಬಳ್ಳಿ.
बिंबी (बिंबी) (स्त्री)	कन्दूरी.	बिंबी गोड, व कडुतोंडली.	ಕಹಿ ತೊಂಡೆ.
बिंबिका (स्त्री)	देखो बिंबी.	पहा बिंबी.	ತೊಂಡೇ ಹಣ್ಣು.
ब्राम्ही (स्त्री)	सोमवल्ली, महाज्योतिष्मती, मत्स्याक्षी, वाराही, हिलमोचिका, ब्राह्मी, भारंगी, सोमलता, बडी मालकांगनी, मछेली, वाराहीकन्द, हुलहुलशाक.	चान्दवेल, भारंग, कारिवणेकोशी. बिरीचा कांदा, मच्छाक्षी, ब्राह्मी, तिळवण, वांब, थोर मालकांगोणी सोम,	ಸೋಮಬತಿ, ಭಾರಂಗೀ, ಹನಗೊನೆ ಸೊಪ್ಪು, ವಾರಾಹೀಕಂದ, ಬ್ರಾಹ್ಮೀ, ಶಾಕ ವಿಶೇಷ.

— भ —

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
भद्रक (न. पु)	नागरमोथा भेद, देवदार	नागरमोथा, इन्द्रजव, कमळ, सरल देवदार.	ಜಕ್ಕುನಗೆಡ್ಡೆ, ತುಂಗೆಗೆಡ್ಡೆ, ಕೊರಶಿಗ.
भल्लातक (पु)	भिलावेका पेड	बिब्बा.	ಗೇರುಮರ.
भार्ङ्गी (स्त्री)	भारंगी, ब्रह्मनेटि.	भारंग.	ಭಾರಂಗೀ.
भूकर्णी (स्त्री)	कन्दविशेष.	कन्दविशेष	ಕಂದವಿಶೇಷ.
भूकूष्मांड (डी) (स्त्री)	विदारीकन्द.	भुयकोहोळा	ನಾಡಂಗೀ ಗೆಡ್ಡೆ.
भूधरकर्णिका (स्त्री)	भूधर. कर्णिका, गिरिकर्णिका.	गिरिकर्णिका, कंदविशेष.	ಗಿರಿಕರ್ಣಿಕಾ, ಕಂದವಿಶೇಷ.
भूनिम्ब (पु)	चिरायता.	किराईत.	ನೆಲಬೇವು.
भूर्ज [पादप] (पु)	भोजपत्रावृक्ष,	भोजपत्रवृक्ष.	ಭೂಜಪತ್ರೀ ವೃಕ್ಷ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
भूशर्करा	(स्त्री)	सकरकन्द,	कंद, पाकडकन्द.	ಗೆಣಸು ಗೆಡ್ಡೆ.
भूशिरीष	(पुं)	वृक्षविशेष, भूशिरस.	वृक्षविशेष. भूशिरीष.	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ, ಬಬಾರಿ.
भूषा.	(स्त्री)	लता विशेष.	लता विशेष.	ಲತಾ ವಿಶೇಷ.
भृगु	(पुं)	भृगुवृक्ष.	भृगुवृक्ष.	ಜಟ್ಟಿದಜಾರಿ, ಭೃಗುವೃಕ್ಷ.
भृंग.	(न)	अभ्रक दालचीनी.	अभ्रक, दालची, दाडी दालचीनी व माका, वाघनख.	ಅಭ್ರಕ, ಹಾಗೆ ಬಂಗಾರ, ಲವಂಗಚೆಕ್ಕೆ ದಾಲಚೀನಿ, ಹಾದಂಬಿ.
भृंगी.	(पु. स्त्री)	अतीस, वड का पेड	भांग.	ಅತಿ ಬಜೆ.
भृंगराज.	(पु)	भांगरा	माका, निष्ठामाका, दालचिनी.	ಗರಗದ ಸೊಪ್ಪು. (ಕಾಡಿಗರಗು)
भ्रमर	(पु)	देखो भृंग	पहा भृंग	ಭೃಂಗ ನೋಡಿ.

— म —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
मगधोद्भवा	(स्त्री)	पीपल.	पिंपळी.	ಅರಸೆ, ಹಿಪ್ಪಲೀ.
मणिशिला.	(स्त्री)	मैनाशिल.	मनशीळ.	ಮಣಿ ಶಿಲೇ.
मत्तमूल.	(न)	धतूरेकी जड.	धतूरेची मूळ.	ಮತ್ತೂರ್ತಿಯಬೇರು.
मत्स्याक्षी	(स्त्री)	मछेछी औषधी, सोमलता, ब्राह्मी-घास, गांडरदूब, हुलहुलशाक.	गंडरदूर्वा, ब्राह्मी, कांगोणी, लघु-कावळी, महाराष्ट्री काकमाची माका, सोमलता.	ಹೊಸ ಗೊನ್ನೆ, ಸೋಮಲತೇ. ತೃಣವಿಶೇಷ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
मदन	(पु)	धतूरा, खैर का वृक्ष, ढेरावृक्ष, मौलसिरीका पेड, मोम मैनफलवृक्ष.	गेळ, मेण, खैर, श्वेतधोत्रा, कुन्द, बकूळ, मधुमक्षिका, अंकोल, दवणा, कावळाशल्य, कोशाम्र, कालिंग, सरलदेवदार, पिंडीतक, कोशातकी, उडीद.	ಮತ್ತೂರಿ, ಅಂಕಲಿಗ.
मदनफल.		देखो मदन	पहा मदन	ಮಗ್ಗಾರೆ, ಸೋಡಿ ಮದನ.
मदयन्तिका	(स्त्री)	मल्लिका.	मोगरी	ಇರುವಂತಿಮಲ್ಲಿಗೆ, ಮಲ್ಲಿಗೆ.
मधुक.	(पु)	मुलहटी, रांग.	मोहाचा वृक्ष, गोडें कोष्ठ कथील, मध, ज्येष्ठीमध, मेण.	ಇಪ್ಪೇಮರ.
मधुगंगा.	(स्त्री)	ताल वृक्ष.	ताड वृक्ष.	ತಾಳದ ಮರ.
मधुशिग्रु		मधुसेंजन.	गोडश्वेत शेगवा, रक्तशेगवा.	ಕೆಂಪು ನುಗ್ಗೆ.
मधुस्रवा	(स्त्री)	मुलहटी, जीवन्ती, चुरनहार, लाल रंग का लजालू.	लघुहरणदोडी, ज्येष्ठीमध, रक्तलाजाळू, क्षीरमोरवेल, पिंडखर्जूरी, मोरवेल.	ಇಪ್ಪೆಕಾಯಿ ಹಾಮುಬಳೆ, ಕಿರಹಾಲೀ ಸೊಪ್ಪು. ಗೋಳಿಕಲ್ಲು.
मधूक.	(न. पु)	मुलहटी, महुआवृक्ष.	ज्येष्ठीमध, मोहाचावृक्ष.	ಇಪ್ಪೇಮರ.
मनशिला	(पु स्त्री)	मनशिल, मैनशिल.	मनशील.	ಮಣಿಶಿಲೆ.
मयूर	(पु)	मोरशिखा, चिरचिरा, अजमोद. अपामार्ग वृक्ष.	श्वेत आघाडा, अजमोद, नीलकंठ, कोळिस्ता, गंधा, कांगळा, मोरचुक, मोरशेंडा, ओंपर्णा.	ನವಿಲು. ಓಮ, ಉತ್ತರಾಣಿ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
मरिच	(पु.न)	गोलमिरच, कालीमिरच, शीतलचीनी, मरुआवृक्ष.	मेरीं, कंकोळ, वीरशाक.	ಒಳ್ಳೆಯುಮೆಣಸು, ಕಪ್ಪುರಚಿನ್ನಿ.
मरुंगि	(स्त्री)	काले सैंजन.	काळा शेवगा.	ಕರೀ ನುಗ್ಗಿ.
मलय.	(पु)	शालमलीकन्द.	शालमलीकन्द. बाग.	ಶಾಲ್ಮಲೀಕಂದ.
माल्लिका	(स्त्री)	मोतिया भेद.	वटमोगरा, मोगरी, लक्ष्मणाकन्द, इन्द्रगोप, काळाकुडा, नेवाळी, वेखंड, मोठी श्वेतजाई,	ಮಲ್ಲಿಗೆ, ದುಂಡುಮಲ್ಲಿಗೆ.
मषी.	(स्त्री)	श्रीतालवृक्ष, जटामांसी.	दैंठ. श्रीताडवृक्ष जटामांसी	ಶ್ರೀತಾಳವೃಕ್ಷ, ಜಟಾಮಾಂಸಿ.
मसूर.	(पु)	मसूर अन्न.	मसुरा, निशोत्तर.	ಚನ್ನಂಗಿ, ಕರೀಚುಳ್ಳಿ, ಅಲ್ತಿಗಡು, ತಿಗಡಿ
महातरु.	(पु)	थूहरका पेड.	निवडुंग	ಕಳ್ಳಿ ಗಿಡ.
महानीली	(स्त्री)	नीलीकोयल, बडा नीलका पेड.	थोर नीली.	ನೀಲಿ ಗಿಡ.
महानिंब	(पु)	बकायन नींम.	बकाणनिंब, कवड्या निंब.	ಮಹಾಬೇವು, ನಿಂಬಭೇದ
महाबला.	(स्त्री)	सहदेई.	तानीचा बेल, पेटारी, पिंपळी, सहदेवी, गवादनी, वत्सादनी, लघुनीली, गवाक्षी, धामणी, गिरिकर्णी.	ಸಹದೇವಿ, (ಪೆಲ್ಲು ದುಗುವೆ) ಹಿಪ್ಪಲೀ, ನೀಲಿಯಗಿಡ.
महावृक्ष.	(पु)	थूहरका पेड, बडापीलु वृक्ष, पाखरका पेड, बडापेड.	निवडुंग, थोरपीलु, ताड.	ಕಳ್ಳಿಗಿಡ, ಅಮಟೆಗಿಡ, ತಾಡವೃಕ್ಷ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
महौषध	(न)	मुंजितखड, सोंठ, लहशन, गेंठी, वच्छनाभविष, पीपला, अतीस.	श्वेतलसुण, सुंठ.भुईतरवड,वचनाग, विष, पिंपळी, अतिविष.	ಶುಂಠಿ, ಆವರೆ, ನೆಲಾವರೆ, ಹಿಪ್ಪಲಿ. ಬೆಳ್ಳುಳ್ಳಿ. ಅತಿವಿಷ. ಬಚ್ಚನಾಭ ವಿಷ.
मागधिका	(पु)	सफेद जीरा, पीपल.	लघुश्वेतजुई, पिंपळी, जिरे, बाळन्तशोप, एलची, शुद्ध केलेली साकर.	ಕಾಡುಮಲ್ಲಿಗೆ, ಹಿಪ್ಪಲಿಮರ, ಜೀರಿಗೆ ಏಲಕ್ಕಿ.
माची (पत्र)	(न)	माचीपत्री.	लघुकावळी.	ಸಣ್ಣ ಕಾಗೇ ಸೊಪ್ಪು.
माणकी	(स्त्री)	[माणिका]—६४ तोळे [माणक]—मानकन्द.	माणक-मानकन्द,	ಕೆಂಪು, ಮಾಣಿಕ್ಯ ಕಂದವಿಶೇಷ
मातुलुंग	(पु)	बिजोरा निंबू.	मातुलुंगिका-रानमहाळुंग.	ಮಾದಲಾಳ.
मार्कव	(पु)	कुकुर भांगरा.	माका.	ಗರಗ [ಕಾಡಿಗರಗು]
मार्जारपाती	(स्त्री)	लताविशेष, बेल.	लताविशेष.	ಬಳ್ಳಿವಿಶೇಷ.
मार्षांकुर	(न)	मारिषशाक.	शाकविशेष.	ಶಾಕವಿಶೇಷ.
माष [पा]	(पु)	उडद मागध और सुश्रुतके मतसे ५ रत्तीका प्रमाण. चरक के मत से ६ ÷ ८ रत्तीका, कालिंग प्रमाणसे ५।७।८ रत्तीका है। वैधकके मत से १० रत्तीका है। ज्योतिषस्मृति के मतसे १२ रत्तीका है। मशक रोग.	उडीद, रोग, पंचगुंजात्मक मापमान	ಉದ್ದು. ಐದು ರತ್ತಿಯ ಪ್ರಮಾಣ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
मुद्ग..	(पु)	मूंग.	हिरवे मूग, आच्छादन.	ಹೆಸರು.
मुद्गयूष	(पु)	मूंग के दाल का यूष.	मूगाचे डाळीचा यूष.	ಹೆಸರು ಬೇಳೆಯ ತೊವೆ.
मुरटिका	(स्त्री)	कन्दाविशेष,	कन्दविशेष.	ಕಂದವಿಶೇಷ.
मुरंगी	(स्त्री)	कालासेंजन.	काळा शेगुवा, रक्तशेगुवा.	ಕರೀ ನುಗ್ಗಿ. ಕೆಂಪು ನುಗ್ಗೆ.
मुष्कक.	(पु)	कठपाडर, मोखावृक्ष,	घंटापाटलिवृक्ष.	ವೊಕ್ಕ್ಯಾವಿನ ಗಿಡ.
मुसली	(स्त्री)	मुसलीकन्द,	पाल मुसळी.	ನೆಲತಾಳದ ಗಿಡ, ಕಂದ ವಿಶೇಷ
मुस्ता	(स्त्री)	मोथा.	मोथ, भद्रमोथ.	ತುಂಗೆಮುಸ್ತೆ.
मूर्वा.	(स्त्री)	चुरनहार, मरोरफली.	मोरवेल.	ಹೆಗ್ಗರುಟಿಗೆ.
मूल	(न)	जमीकन्द, शूरणजड, पीपरामूल, पोहकरमूल,	पुष्कर मूळ, पिंपळमूळ, मूळ, वृक्षादिकाचें मूळ, पाषाण.	ಸೂರಣಗಡ್ಡೆ, ಹಿಪ್ಪಲೀಮೂಲ, ಬೇರು. ಪುಷ್ಕರಮೂಲ.
मूलक	(न)	मूली.	मूळा,शेण्डीमुळा,शिग्रुमूळ,कोनफळ विषविशेष.	ಮೂಲಂಗಿ.
मूषक	(न)	तरुमूषक,वृक्ष जाति की मूषाकानी,	वृक्षपर्णींदुर.	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ, ತರುಮೂಷಕ.
मृणाला [ली]	(स्त्री)	कमळकी नाल.	कमळनाल.	ಕಮಲನಾಲಿ.
मृद्वीक. [का]	(स्त्री)	दाख, किशमिस, अंगूरी दाख.	काळें द्राक्ष,	ದ್ರಾಕ್ಷಿ.
मृष्टा. [ष्ट]	(न)	काली मिरच.	काळी मिरि	ಒಳ್ಳೆ ಮೆಣಸು, ಮೆಣಸು.
मेघ.	(पु)	मोथा.	नागरमोथा, तांदुळजा, भद्रमोथ,	ಜಕ್ಕಿನ ಗಡ್ಡೆ, ಭದ್ರಮುಷ್ಟಿ.
मेघनिनाद[मेघनाद]	(पु)	ढाकका पेड, चौलाई का पाक.	तांदुळजा, पळस.	ಕಿಂಶನಾಲಿ, ಚಿಲ್ಕವೇ,

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
मोच. (न. पु)	केलेकी फली, सैंजिनेका पेड, मोचरस	मोखाघुश, शेगवा, काळाशेगवा, मोचारस, केळें.	ಬಾರುಗದ ಮರ.
मोरट (न)	ईख की जड, ढेरा के फूल.	शेण्याखैर, उसाचें मूळ, सात दिवसाचें व्यालेलें गायीचे दूध, नासलेलें दूध, जैज्जट.	ಕುರುಟಿಗೆ.
मंजरी [क] (स्त्री)	मोती, तिलकवृक्ष, तुलसी.	मंजरीक—फांपळा.	ಹೂವ್ವುಗಳ ಗೊಂಚಲು.ತಿಲಕದ ಗಿಡ.
मंजिष्ठा. (स्त्री)	मंजीठ.	मंजिष्ट.	ಮಂಜಿಷ್ಟ.
मंडूकपर्णी (स्त्री)	मंजीठ, हुरहुर, हुलहुल, मंडूकपानी, ब्रह्ममंडूकी.	मंजिष्ठ, सूर्यफूलवल्ली, आदित्यकान्ता ब्राह्मी, शालिपर्णी, अळू, कंडुफल टेंट्.	ಆನೆಮುಂಗು, ದಿಂಡಲ, ಹೆಗ್ಗ ಗ್ಗಳಿ. ಮಂಜಿಷ್ಟ.
मंडूकी (स्त्री)	मंडूकपानी, ब्रह्ममंडूकी, हुलहुलवृक्ष, ब्राह्मीघास.	ब्राह्मी, सूर्यफूलवल्ली. भेकपर्णी.	ಒಂದೆಲಗ,ಬ್ರಹ್ಮೀತೃಣ.
मेथा. (स्त्री)	मेथी.	मेथी.	ಮೆಂತ್ಯದ ಗಿಡ. ಮೆತ್ತೆಯ ಗಿಡ.
मांसी (स्त्री)	जटामांसी, काकोर्लीमांसच्छदा.	जटामांसी, मांसरोणी, रुद्रमी, मांसिनी.	ಜಟಾಮಾಂಸಿ.

— य —

यव. (पु)	[illegible]	[illegible]	[illegible]
यवसार (पु)	जवखार, सोरा [illegible]	जवखार.	[illegible]

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
यवागु [गू]	(स्त्री)	यवागू.	धनसिकथा, पातळभात, तांदुळाचें साहाण्ट पाणी घालून करावा तो	ಯವಾಗು, ಅಂಬಲಿ, ಅನ್ನದಗಂಜಿ.
यवोद्भव	(न)	जौंकी कांजी.	कांजी, यवसौवीर.	ಗಂಜಿ, ಯವದ ಕಾಂಜೀ.
यष्टी.	(स्त्री)	मुलहटी.	ज्येष्ठीमध.	ಜೇಷ್ಠ ಮಧುಕ.
यवक्षारक.	(पु)	जवाखार	जवखार.	ಯವಕ್ಷಾರ.
युग्मपर्णी.	(स्त्री)	दाडिम का वृक्ष.	दाळिंबाचें झाड.	ದಾಳಿಂಬದ ವೃಕ್ಷ.
यूष.	(पु)	मूंग इत्यादिके काढेका रस.	मुद्गरस.	ಹೆಸರು ಬೇಳೆಯಿಂದ ತೆಗೆದ ರಸ.

— र —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
रक्तचन्दन	(न)	लालचन्दन.	रक्तचन्दन, सण्डे सुर्ख, फार सण्डले अस्मर, छीरोकार्पीलिम्म, रतांजलि.	ಕೆಂಪು ಚಂದನ.
रक्ताश्वत्थ.	(न)	लालअश्वत्थ.	तांमडाश्वत्थ.	ಕೆಂಪು ಅಶ್ವತ್ಥ.
रजनी.	(स्त्री)	हलदी. नीलकापेड, जतुका,	पापडी, हळद, नीलिनी, दारुहळद.	ಅರಿಸಿನ, ಹಳದ, ನೀಲವೃಕ್ಷ.
रजनीद्वय.	(न)	हलदी, दारुहलदी.	हळद, दारुहळद.	ಅರಶಿನ, ಮರಅರಸಿನ.
रसनाल.	(न)	रसगंधतालादिकृतयंत्रपक्वौषधविशेष	रसगंधतालादिकृतयंत्रपक्वौषधविशेष	ರಸಗಂಧ ತಾಲಾದಿಕೃತ ಯಂತ್ರಪಕ್ವ ಔಷಧವಿಶೇಷ.
रसना.	(स्त्री)	जीभ, रासना.	कलखापरी, जीभ, स्वदन.	ರಾಸ್ನೆ, ನಾಲಿಗೆ.
रसादन.	(न)	रसशोषण.	रसशोषण.	ರಸಶೋಷಣ.
राजमाष.	(पु)	लोबिया, बोरा, बखटा, रमास,	चवळया, नीळे उडीद.	ಅಲಸಂದೆ, ತೊಗರಿ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
राजवृक्ष.	(पु)	अमलतासवृक्ष, चिरोंजीकापेड, भद्रचूडवृक्ष.	थोर बाहवा, भूताकशी, मुरेंगवत, पापडी.	ಹೆಗ್ಗಕ್ಕೆ.
राजादन.	(न)	खिरनीभेद, चिरोंजीकापेड, ढाककावृक्ष, अमलतास.	चारोळी, रांजणी, खिरणी.	ಮರಟ ಗಿಡ.
राजी.	(स्त्री)	राई.		
रामठ.	(न. पु)	हींग, ढेरावृक्ष.	मोहरी, बावची, कडुरडुरळी, पाणआघाडा, हिंग.	ಸಾಸಿವೆ. ಹಿಂಗು.
राष्ट्रि. [का]	(स्त्री)	भूहती, कटेहरी, कटाई.	डोरली. गुल्थोटि	ಸೀಲಿಗಿಡ. ಹಲಸಾಚಿಕ.
रास्ना.	(स्त्री)	रासना, रायसन, रास्ना, रहसनी, नागदाने, कटेहरी.	नागरवणी, लवुंगुपवेल, श्वेतरिंगणी, नाचळीच्या मुळ्या,	ನಾಗದಮಣಿ, ರಾಸ್ನಾ.
रुचक.	(न)	सज्जीखार, चोहारकोडा, गोरोचन, गौलोचन, बिजोरानिंबू बायबिडंग, नोन, सफेद अण्ड.	संचळ, महाळुंग, श्वेतएरण्ड, शिखाचन्दन वर्णण, श्रीमदामरण, मोहरी, मुळा.	ಕರೊಳುಗಿಡ, ಮಾದವಾಳಗಿಡ, ಸೌವರ್ಚಲವಣ, ಸರ್ವಕ್ಷಾರ.
रेणु.	(स्त्री)	पित्तपापडा, रेणुका.	वेणु, पित्तपापडा, रेणुकबीज, धूळ.	ಧೂಳು, ಕಲ್ಲುಸಬ್ಬಸಿಗೆ.
रोहिणी.	(स्त्री)	कुटकी, कायफर, वराहकान्ता, कुम्भेर, हरड, मजीठ, एकप्रकारकी हरड, मांसरोहिणी, गलेका रोग.	हरीतकी, मंजिष्ठ, थोरशिवण, कटुकी, मांसरोहिणी, वाराहीकंद, कायफळ, गंडमाळा रोग, रक्तरोहिडा, लोहितवर्ण नक्षत्र, गाय, चन्द्रवल्लभा.	ಕಟುಕರೋಹಿಣಿ, ಕಾಯಫಲ, ಅಳಲೇಗಿಡ, ಮಂಜಿಷ್ಠ, ಗಳರೋಗ, ಗಂಡಮಾಲೆ.
रंभा.	(स्त्री)	केला.	केळ.	ಬಾಳೆ.

— ल —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
लकुच.	(पु)	बड़हर.	थोरलुका, बुडलगार, ओटीचे झाड.	ಗಜ ನಿಂಬೆ, ಚಂಬಣಾ.
लता.	(स्त्री)	फलप्रियंगु, अपवरग, पटशन, माल-कांगुनी, मुस्कदाना, लताकस्तूरी, मानवीलता, दूब, कैवर्तिकालता, श्यामालता.	गव्हला, मधुमालकांगोणी, पिंडि-कालता, फुका बार्थेर्डा, कुसरी, लघुश्वेतजुई, वननेवाळी, श्वेतउप-ळसरी, लहान खांचा, थोरश्वेतजाई, नेवाळी, शिरोंजी, रक्तपाडळ वेल.	ಪ್ರಿಂಗು, ಗುಲಗಂಜಿ ಬಳ್ಳಿ, ರಂಜಣಿಗಿಡ, ಮಿಂಚು ಬಳ್ಳಿಗಿಡ.
लवण.	(न. पु)	सैंधानोन, सौंचरनोन, समुद्रनोन, खारीनोन, बिडनोन अर्थात् कंच-लोन—नमक, नोन.	मीठ, लोणारखार, टंकण, लवण, सैंधव, औद्भिद, संचळ.	ಉಪ್ಪು, ಸೈಂಧವ ಉಪ್ಪು, ಸಮುದ್ರ ಕ್ಷಾರ, ಸಂಚರ ಉಪ್ಪು, ಕರಿ ಉಪ್ಪು.
लवणी.	(स्त्री)	सीताफल, आतृप्फल, जातीय फलवृक्ष.	सीताफळ, जातीयफलवृक्ष.	ತಂಗುಂಗಿ.
लवली.	(स्त्री)	हरपाररेवडी.	हरपररेवडी.	ಹರಪಾರ ರೇವಡೀ.
लवंग.	(न)	लौंग + लौङ्ग.	देवकुसुम, सीखक करन फूल.	ಲವಂಗ.
लशुन.	(न)	लहशन.	श्वेतलसूण, लसन, काजुआ.	ಬೆಳ್ಳುಳ್ಳಿ.
लाज [जा]	(न. पु)	वीरनमूल, खस, खलैं.	साळीच्या लाहा, ओले तांदुळ, काळया वाळ्याचे मूळ.	ಅರಳು.
लाक्षा.	(स्त्री)	लाख.	लाख.	ಅರಗು.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
लोध्र.	(पु)	लोध.	लोध्रवृक्ष.	ಕೊಡಸಿ ಗಿಡ.
लोहित	(पु. न)	लालगोशीर्ष चन्दन, केशर, लालचन्दन, पतंगकाठ, हरिचन्दन, तृणकेशर, मसूरअन्न, रतालु, लालधान, रोहेडावृक्ष, लालईख.	तुरे जोंधळे, रक्ततृण, केसर, रुधिर, सोनपितळ, माणीक रक्तचन्दन, तांबडेराताळु, पतंग, कुंकुमागरचन्दन, कृष्णागरु, तांबडा ऊंस, तांबडी लसूण, रक्तवर्ण कपिला, सोनगेरु, रक्तरोहिडा, पापण्यांचा रोग.	ರಕ್ತಚಂದನ, ಮುಳ್ಳು ಮುತ್ತುಗ, ಕೇಸರ, ತೃಣ, ಕೇಸರೀ, ಕೆಂಪುಕಬ್ಬು, ಕೆಂಪು ಧಾನ್ಯ, ಮಸೂರು ಅನ್ನ.
लोहितद्रुम	(पु)	रोहेडावृक्ष.	रक्त रोहिडा.	ಮುಳ್ಳು ಮುತ್ತುಗದ ಮರ.
लांगली.	(स्त्री)	जलपीपर, गंगातिरिया, पिठवन, कलिहारी, कौंछ, किवांच,	कपभक, कुहिली, जलपिंपली, नारळी गजपिंपळी, मंजिष्ट, कळलावी, पिठवण.	ನೀರು ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಕೊಲು ಕುಟುಕನಗಿಡ ಗಜಹಿಪ್ಪಲಿ, ಮಂಜಿಷ್ಠ, ಕೋಳಿ ಕುಟುಮ.
लुंग.		तुरंज, खजोर.	महालुंग.	ಮಹಾಫಲ, ಮಾದವಾಳ.

— व —

वकुला.	(स्त्री)	कुटकी.	केदरे कुटकी.	ಕತ್ತಿಕರಬು.
वक्र.	(पु)	पित्तपापडा.	तगर.	ಕಲ್ಲು ಸಬ್ಬಸಿಗೆ.
वचा.	(स्त्री)	वच.	वेखंड, कळलावी, कोळिंजन.	ನಾರು ಬೇರು, [ಮಕ್ಕಳ ಬೇರು] ಎಳ್ಳಿನಗಿಡ, ಮಾಂತುಗಳ್ಳಿ, ಕಲ್ಲಿತ್ತಿ.
वज्रवृक्ष.	(पु)	थूहडका वृक्ष, स्नुहीवृक्ष.	निवडुंग, स्नुहीवृक्ष.	ಜಡಿರಳ್ಳಿಗಿಡ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
वज्र.	(पु)	तालमखाना, सफेदकुश, सेहुंडवृक्ष.	हाडसंधी, वाळा, हिरा, श्वेतदर्भ, श्वेताभ्रक, लघुराळेचा वृक्ष, नवसागर, वैक्रान्तरत्न, वावडिंग, विष्ठा, निवडुंग, इंद्रायुध.	ತಾಲಮಖಾನಾ, ಬಿಳೀದರ್ಭೆ, ಮುಂಡಿ ಗಳ್ಳಿ, ಕಾವಂಚ, ವಜ್ರ, ದಮರನ ಧೂಪಭೇದವು.
वज्री.	(स्त्री)	थूहरकाभेद, हडशंकरी, गिलोय.	निवडुंग, गुळवेल.	ಕಳ್ಳಿಗಿಡ, ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ.
वज्रीलता.	(स्त्री)	हडजुडी.	हडजुडी.	ಹಡಸಂಕರೀ.
वटपत्र.	(पु)	सफेद वनतुलसी.	श्वेतआजवला.	ಬಿಳೀ ವನತುಳಸೀ.
वधू.	(स्त्री)	गौरीसर, कचूर, असवरग.	कापूरकाचरी, स्पृक्का [स्त्री, स्नुषा, नववधू]	ಕಂಟಕಚೋರ, ಕರಡಿಹುಲ್ಲು.
वध्रापीत	(न)	कचोर.	कचोर, कचरा.	ಕಚು, ಗಂಧಕಚೋರ, ಗಂಟಕಚೋರ.
वरक.	(पु)	वनमूंग, मोंठ, पित्तपापडा, चीनाधान,	पित्तपापडा, वऱ्या, रानमूग, शारपर्णिका.	ಕಲ್ಲುಸಬ್ಬಸಿಗೆ.
वर [णा] ण	(पु)	वरनावृक्ष.	तुरी, वायवरणा, उंट, कुंपण, वांद.	ವಸಲೆಯ ಗಿಡ.
वरुण.	(पु)	वरनावृक्ष.	वायवरणा.	ವಸಲೇಗಿಡ.
वराटिका.	(स्त्री)	कौडी, कमलकंद.	कवडी, गुळवास, कमलकर्णिका.	ಕವಡೆ, ಕಮಲಕಂದ.
वराह.	(पु)	मोथा, गेंठी, कन्दविशेष.	हिरा, भद्रमोथ, रानडुकर, शिशुमार, डुकरकन्द, डुकर.	ಕೊರೆನಾರು, ಭದ್ರಮುಷ್ಟ, ಕಂದವಿಶೇಷ
वर्षाभू.	(स्त्री)	विषखपरा, सांठ.	गदपूर्णा, रक्तपुनर्नवा, बेडूक, इंद्रगोपकीटक, वीरबाहुटी, श्वेतपुनर्नवा	ಬಿಳೀ ಬೆಳ್ಳಡಲು.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
वरांग. (न)	दालचीनी, तेजपात.	मस्तक, जाडी दालचीनी, उपस्थ, कंकुष्ठ.	ಲವಂಗಚಕ್ಕೆ, ದಾಲ್‌ಚೀನಿ.
वला. (स्त्री)	खरैटी.	चिकणा, लघुचिकण.	ಕಲ್ಲಂಗಡಲೆ, ಜಿಣ್ಣಿಗರಗ.
वल्गुज (न)	वाकुची.	बावंचा.	ಬಾವಂಚ, ಭಾವಚಿಗೆ.
वाकुचि [बीज] (स्त्री)	वायची.	सोमवल्ली.	ಸೋಮವಲ್ಲಿ.
वाजिगन्धा (स्त्री)	असगंध.	आसंध.	ಅಂಗರಬೇರು, ಹಿರಿಮದ್ದಿನಬೇರು.
वारिद	मोथा.	भद्रमोथ.	ಭದ್ರಮುಷ್ಟ, ಕೊರೆನಾರು.
वार्ताक. (पु)	बैंगन.	वांगे.	ಬದನೇಕಾಯಿ.
वास. (न)	तेजपात.	तमालपत्र.	ತಮಾಲುಪತ್ರ.
वास्तु [कां] क (न)	वथुआशाक.	चाकवत, जीवशाक, राजार्क,वसु, कृष्णागरु, पुनर्नवा.	ಚಕ್ರವರ್ತಿ ಸೊಪ್ಪು.
विचित्रा (स्त्री)	सैंविनी.	तिलक, भूर्जपत्र, अशोक.	ಅಸುಗೆ, ತಿಲಕವಗಿಡ, ಭೂರಜಪತ್ರ.
विड. (न)	विरिया सोंचरनोन.	विडलोण.	ಪಾಕದ ಉಪ್ಪು.
विडंग. (न)	वायविडंग.	वाविडंग.	ವಾಯು ವಿಳಂಗ.
विड [सैंधव][लवण](न)	देखो विड.	पहा विड.	ನೋಡಿ ವಿಡ.
विदारक (न)	वज्रखार.	नदीमध्यें पाण्यासाठीं खणलेला खळगा, वज्रक्षार.	ಬಳ್ಳಿ, ಸುಂಕೆ, ವಜ್ರಕ್ಷಾರ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
विदारी (स्त्री)	विदारीकन्द, शालपन, एक प्रकार का कंठरोग.	भुयकोहोळा, गलरोग, कर्णपाली-रोग, सुवर्चला, वाराही, क्षीर-कंकोळी, अर्जुन, भद्रवि.	ನೆಲಗುಂಬಳ, ಪಾಡಂಗಿ. ಕಂಠರೋಗ ವಿಶೇಷ.
विभीतक (पु. न)	बहेडा वृक्ष.	बेहेडा.	ಕಾರೇಗಿಡ.
विलंग (न)	वायविडंग.	वायविडंग.	ವಾಯುವಿಳಂಗ.
विशाली (स्त्री)	अजमोद.	अजमोद, ओवा.	ವೋಮ.
विश्वदे [वी] वा (स्त्री)	गंगेरन, लालफूलका दण्डोत्पल.	नागबला.	ನಾಗಬಲಾ.
विषतरु (पु)	कुचिलावृक्ष.	विषवृक्ष, कुचला, काजरा.	ಕಾಸರಕಾಯಿ, ಕುಸರ್ಕ.
विष्णु [कान्त] (स्त्री) [कान्ता]	कोयल, विष्णुक्रान्ता.	काळीगोकर्णी, विष्णुक्रान्ता, वाराही नीलशंखपुष्पी.	ವಿಷ್ಣುಕ್ರಾಂತಿ.
वीरांघ्रिप [वीरद्रुम] (पु)	कोहवृक्ष,तालमखाना, भिलावेका पेड	बिब्बा, वल्कतरु, अर्जुनसादडा, वेलतूर,रामबाण,काळावाळा,त्रिवळा	ತಾಲಿಮಖಾನ, ಕೆಂಪುಮತ್ತಿ, ತೊರೆಮತ್ತಿ, ಮಸಲು [ಗರಗಲ] ಕಂಲೋವಂಬ ಕಿರಿ ಬಾಳದಬೇರು.
वृद्धदारुक (पु)	विधारावृक्ष.	वरधारा.	ಅನಂತನಗೊಡೆ.
वृश्चिकाली (स्त्री)	वृश्चिकाली.	थोर आग्या, लघुमेडसिंगी.	ಹಲಿಗಿಲು.
वृष (पु)	अडूसा, ऋषभकौषधी.	अडुळसा, ऋषभक वृषभरास, वृषण.	ಆಡುಸೋಗೆ.
वृषक (पु)	वांडाकापेड.	श्वेतकुडा, नान्दरुखी.	ಜೋಯರಳೆ, ಪಿನವಾಲ.
वृक्षादनी (स्त्री)	कुदा, विदारी कन्द.	वादांगुळ.	ವಿದಾರೀಕಂದ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
वेणी	(स्त्री)	देवताडवृक्ष, सोनैया वंदाल,	देवडंगरी.	ದೇವದಾರು.
वे [त्रा] त्र	(पु)	वैतवृक्ष.	थोरवेत.	ದೊಡ್ಡಬೆತ್ತ.
वैडंग	(पु)	देखो विडंग.	पहा विडंग.	ವಾಯುವಿಳಂಗ.
वैजयन्ती	(स्त्री)	अगेथु, जयन्तीवृक्ष.	थोर ऐरण, लघुऐरण, ठहांकळ.	ಕಗ್ಗಲಿಗಿಡ, ತಕ್ಕಲಿಗೆ.
वंक	(पु)	वृक्षविशेष.	वृक्षविशेष.	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ.
वंश	(पु)	ईख, सालवृक्ष, पीठकादण्डा, बांस	भरीव वेळू, थोर राळेचा वृक्ष, सूक्ष्म पाटाचा कणी.	ಬಿದಿರು.
वंशाग्र	(न)	बांस.	वेत.	ಬಿದಿರು.
व्याघातक	(पु)	करंज.	करंज.	ಕರಂಜ. [ಹೊಂಗೆ]
व्याघ्री	(स्त्री)	कटेहरी.	वाघांटी, रिंगणी, धूम्रवर्ण सुरेखकवडी	ತೊಟ್ಟುಲಕಾಯಿ.
व्योष	(न)	सोंठ, मिरच, पीपल.	त्रिकटु.	ಶುಂಠಿ, ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಮೆಣಸು.

— श —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
शक्रमर्द	(न)	वृक्षविशेष.	वृक्षविशेष.	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ.
शटी	(स्त्री)	कचूर, अमियाहल्दी, गंधपलाशी, छोटाकचूर.	कापुर काचरी, कचोरा.	ಕಚು, ಗಂಟುಕಚೋರ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
शतपुष्प [ष्पा] (स्त्री)	सौंफ, सोआ.	साठेसाळी, बाळंतशोप, बडीशोप.	ಸಬ್ಬಸಿಗೆ, ಬಡೆಸೊಪ್ಪೆ.
शतमू [ल] ली (स्त्री)	दूब वज, शतावर.	महाशतावरी.	ಮುಡಿವಾಳ, ದಶಾವರ್ಣ.
शतावरी (स्त्री)	शतावर, कच्चूर,	महाशतावरी, सहस्रमुळी, लघुशतावरी, शतमुळी.	ಆಶಾಢೀ ಬೇರು.
शताह्वा (स्त्री)	सौंफ, सतावर.	बडीशोप, लघुशतावरी.	ಸೊಂಪು, ಸೋಮುಬಳ್ಳಿ.
शाबर (न)	लोध.	श्वेतलोध्र, लोध्र.	ಕೊಡಸಿಗಿಡ, ಲೋಧ್ರಗಿಡ.
शमी (स्त्री)	छौंकरावृक्ष.	लघुशमी, जीवक, पोरशमी, समडी शेंग.	ಕಾಡುಬನ್ನಿ.
शरवारिणी (स्त्री)	लताविशेष.	लताविशेष.	ಬಳ್ಳಿಭೇದ.
शशाशिरा (स्त्री)	गुर्च.	गुळवेल.	ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ.
शाक (पु. न.)	शेगुनवृक्ष, पत्ते, फूल, नाल इत्यादि सागभाजी.	शाकभाजी, साग, आलें.	ಸೊಪ್ಪು, ಎಲೆ, ಹೂವು, ಪಲ್ಯ, ತರ್ಕಾರಿ ನುಗ್ಗೆಯ ಗಿಡ.
शाकज (न)	शेगुन बीज.	शेवग्याचे बी.	ನುಗ್ಗೆಯ ಗಿಡದ ಬೀಜ.
शाकजफल (न)	शेगुन फल.	शेवग्याचे शेंगा.	ನುಗ್ಗೆ ಕಾಯಿ.
शामाक (पु)	तृणविशेष.	तृणविशेष.	ಗಂಜಳಗರಿಕೆಯ ಹುಲ್ಲು, ಸಾವೆ.
शारि [वा] वा (स्त्री)	कालीसर, गौरीसर.	शारिवा, उपलसरी.	ಕೃಷ್ಣಶಾರಿಬ.
शार्ङ्गिष्ठा (स्त्री)	बडी करंज.	शार्ङ्गिष्ठा—करंजवल्ली, थोरकरंज, लघुरक्तकांचडल.	ಕಡಶಿಗ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
शाल	(पु)	छोटाशाल.	सागसादडी, हेद, अर्जुनसादडा, लघुराळेचा वृक्ष, क्षुद्रफणस, बढार फल, थोर राळेचा वृक्ष चारोळी.	ದಮರನಕ್ಷೀದ ಧೂಪ.
शाली	(स्त्री)	कालाजीरा.	मेथी, शालिपर्णी, यवास.	ಕರೀಜೀರಿಗೆ.
शालूक	(पु)	कमलकन्द, भसींडा इत्यादि.	जायफळ, पद्मकन्द.	ಕಮಲದ ಗೆಡ್ಡೆ, ಜಾಜಿಕಾಯಿ.
शाल्मली	(स्त्री)	सेमलका पेड.	सांवरी.	ಬೂರುಗ ಗಿಡ.
शिखा	(स्त्री)	कलिहारी.	पांल्या मयूरशिखा, थोर उंदीरकानी तुळस, कळलावी, जटामांसी, वेखण्ड, पायांचा चवडा,	ಕೋಳಿಕುಟುಮ, ಕೋಳಿಕುಕ್ಕನಗಿಡ.
शिखी	(पु)	चीतावृक्ष, मेथी, शिंरिआरी, चौत्र. तियाशाक, शुयाशिंबी वंगभाषा	पित्त, करडु, चित्रक, मेथिका,	ಚಿತ್ರಮೂಲ.
शिग्रु	(पु)	सौंजिनेका पेड़.	श्वेतशेगवा, काळाशेगवा, हरितशाक	ನುಗ್ಗಿ ಗಿಡ.
शिफा	(स्त्री)	वृक्षकी जड, जटाकेसी, सौंफ, हलदी कमलकन्द जटामांसी, बालछड,	वडीशोप, थोर उंदीरकानी, हळद, कमळकन्द, पारंब्या, वृक्षमूल, जटामांसी.	ಕಮಲದ ಗಡ್ಡೆ. ಜಟಾಮಾಂಸಿ, ಸಬ್ಬಸಿಗೆ, ಹಲದಿ.
शिरीष	(पु)	सिरसका पेड.	शिरीष वृक्ष.	ದರ್ಭೆ, ಬಿಳಿಯದರ್ಭೆ. ಶಿರೀಷ.
शिला	(स्त्री)	मनशिल, कपूर,	नीलिका, गेरू, शिलाजित, कापूर मनशिल, लघुपाषाण, शैलेय, बहुपुष्पी, हरीतकी, रोचना, मल्लूर.	ಮನಶೀಲ್, ಕರ್ಪೂರ, ಶಿಲಾಜಿತ, ಹರೀತಕೀ

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
शिलाल	(न)	मैनसिल.	मनशील.	ಮನಶಿಲಾ.
शिलाजतु	(न)	शिलाजीत.	शिलाजित.	ಶಿಲಾಜಿತ್ತು.
शिशिर	(पु)	चंदन; कालावाला, अभायू.	चन्दन, भोरड्या, काळावाळा, थंडी.	ಚಂದನ, ಕರೀಲಾವಂಚ, ಬಾಳದಬೇರು
शीतल	(न)	पुष्पकसीस, पत्थरका फूल, सफेद-चंदन, पद्माख, मोती, खस,	पद्मकाष्ट, मोती, चंदन, राळ, पीतवाळा, सोनचांफा, मक्षेनीकापुर	ಬಿಳಿಚಂದನ, ಪದ್ಮಕಾಷ್ಟ, ರಾಳ, ಮುಡಿವಾಳ, ಸಂಪಿಗೆ, ಕರ್ಪೂರ.
शीर	(न)	नागरंग.	नागरंग.	ನಾಗರಂಗ.
शुकपुख	(पु)	फलविशेष.	फलविशेष.	ಫಲವಿಶೇಷ.
शुक्लमरिच	(न)	सफेद मिरच	श्वेत मिरी	ಬಿಳೀ ಮೆಣಸು.
शेवाली	(स्त्री)	सूक्ष्मजटामांसी.	शेवाल--- जलमांडवी, शेवाळ, जलमंडली.	ಅಂತರಗಂಗೆ, ನೀರಂಟಿ, ಹೂಸಿಹುಲ್ಲು.
शेलु	(पु)	लिसोडावृक्ष.	भोंकर, रानमेथी.	ಚಳ್ಳೆಮರ.
शैलज	(न)	पत्थरकाफूल, भूरिछरीला.	दगडफूल, गजपिंपळी.	ಕಲ್ಲುಹೂವು. ಗಜಹಿಪ್ಪಲಿ.
शैलबिल्व	(न)	पहाडी बेल.	पहाडी बेल.	ಬೇಲದ ಹಣ್ಣು.
शैलेय	(न)	भूरिछरीला, मुसली, सैन्वानोन, शिलाजीत.	शिलाजित्, दगडफूल.	ಕಲ್ಲುಹೂವು. ಶಿಲಾಜಿತ್ತು.
शैवल	(पु)	शिवार.	शेवाळ, कुब्जक.	ನೀರಂಟಿ.
शोलि	(पु)	वनहलदी.	वन हळदी.	ವನಹಳದಿ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
शोभांजन	(पु)	सैंजिनेका पेड.	शेवगा.	ನುಗ್ಗಿ ಮರ.
शंखनाभि	(पु)	नाभिशंक.	शंखनाभि.	ಶಂಖನಾಭಿ.
शंखिनी	(स्त्री)	थोरहुली पुन्नागवृक्ष, यवेची, चोरपुष्पी,	यवतिका, यवोचि, टिटवी, सांखवेल	ಹಕ್ಕರಿಕೆ ಸೊಪ್ಪು.
शिंशुपा	(स्त्री)	सीसम.	काळा शिसव.	ಬೀಟಿಯ ಮರ.
शुंठी	(स्त्री)	सोंठ.	गलशुंठीरोग, सुंठ.	ಶುಂಠೀ.
शृंगि	(पु)	अतीस.	अति विष.	ಅತಿಬಜೆ,
शृंगवेर	(न)	अदरक, सोंठ.	सुंठ, आले.	ಹಾರ ಗೆಣಸು, ಹಸಿಸುಂಠಿ.
शृंगाटक	(न. पु)	सिंगाडे.	शिंगाडे.	ಶಿಂಗಾಡೆ.
श्रवणा	(स्त्री)	गोरखमुण्डी, दधियूवृक्ष.	मुंडी.	ಮುಂಡೀ.
श्यामा	(स्त्री)	शारिवा, फलप्रियंगु, बावची, श्याम पनिलर, नीलक वृक्ष, गूगलां, सोमलता, भद्रमोथा, मोतीतृण, गिलोय, वान्दा, कस्तूरी, वडपत्री, पीपलाहलदी, मोली, दूब, तुलसी, कमल गट्टा, विधारा, कालीसार.	लघुनीली, गहुला, पिंपळी, मेदा, लकड्या, पाषाण भेद, कस्तुरी, गुळवेल, हळद, गोरोचन, तुळस, नीलदूर्वा, काळा पुनर्नवा, आदांगुळ काळे निशोत्तर, काळी उपलसरी, श्वेत उपलसरी, वावांटी, काळा-शिव, वधारा.	ಬಾವಂಚ, ನೀಲಿವೃಕ್ಷ, ಸೋಮಲತಾ, ಭದ್ರಮುಷ್ಟ, ವಡಪತ್ರ, ಕರಿದೂರ್ವೆ, ಅಮೃತಬಳ್ಳಿ, ಪುನರ್ನವಾ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
सल	(न)	वृक्ष विशेष.	साळवीण.	ವೃಕ್ಷ ವಿಶೇಷ.
सह	(पु)	रहेगमानोन.	नखला.	ಚಿರು ಗೋರಂಟಿ
सहकार	(पु)	अतिसुगंधयुक्त आम.	आंत्रा.	ಹಸಿಮಾವು.
सहचरी	(स्त्री)	पीली कटसरैया.	पीतकोरंटा.	ಹಳದಿ ಗೋರಂಟಿ.
सहदेवी	(स्त्री)	सरहटी, गण्डनी, पीले फूलका दण्डोत्पला, सहदेई.	मड्डावली, थोरनिळी, सहदेवी, चित्रडी	ಸಹದೇವಿ. ಮಹಾಬಲಾ.
सारतरु	(पु)	केलावृक्ष.	केळे.	ಬಾಳೆಮರ.
सारद्रुम	(पु)	खैरकापेड.	खैर.	ಕಗ್ಗಲಿಮರ, ಕರೊಗ್ಗಲಿಮರ.
सारिवा [व]	(स्त्री)	गौरी आसाऊं, सरिवन, कालीसर, सालसा, करिया वासाऊं.	श्वेतउपलसरी, साळी भात.	ಅಮಕೀರೆ, ಸೊಗದೆ.
सारांघ्रिप		खैरका पेड,	खैराचें झाड.	ಕಗ್ಗಲಿಮರ, ತರೊಗ್ಗಲಿಮರ.
साल	(पु)	सखुआवृक्ष, सालवृक्ष, राल.	मत्स्यविशेष, सागवृक्ष, कुंपण, वृक्ष.	ಕೆಂಟವೃಕ್ಷ, ಮತ್ತೀಗಿಡ.
सितसर्षप	(पु)	सफेद सरसों.	श्वेतशिरड, पांढरी मोहोरी.	ಬಿಳೀ ಸಾಸಿವೆ.
सित[illegible]	(पु)	सफेदसरसो, नदीवड.	श्वेतशिरस, नदीवड, मोहोरी.	ಬಿಳೀಸಾಸುವೆ, ಗಾಳಿಬಿಲ.
स्थूणीक	(पु)	सिम्हालावृक्ष.	निगुंडी.	ಲಕ್ಕಿಗಿಡ.
सिंधुवारक	(पु)	सिम्हालु, सेदु आरी, निर्गुण्डी.	निर्गुंडी.	ಬಿಳೀ ಲಕ್ಕಿಗಿಡ, ಲಕ್ಕಿ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
सिंधूत्थचूर्ण (न)	सैन्धानमकका चूर्ण.	सैंधालोणाचें चूर्ण.	ಸೈಂಧಲವಣದ ಚೂರ್ಣ.
[illegible]द्धा (स्त्री)	वृद्धि औषधि,	वृद्धि औषधि,	ವೃದ್ಧಿ ಔಷಧಿ.
[illegible] (स्त्री. पु)	एलआ, मोथा, कशेरू, गंधजवास धनिया पीपलामूल, सुगंधयुक्तआम, तुंबुरुका पेड, वनबर्बरी तुलसी.	वालूक कांकडी, सुवासिक.	ತಿರಿಗಂಜಣಿ, ಕೊತ್ತುಂಬರಿ, ಹಿಪ್ಪಲೀ ಮೂಲ.
सुदन्ती (स्त्री)	जमालगोटे की जड.	जेपाळ, जमलगोट.	ಜಮಾಲಗೋಟ, ನೇರುವಾಳ.
सुधा (स्त्री)	चुनह, मेहुण्डवृक्ष, हरड, आमला सहत, पालक, गिलोय.	निवडुंग, साळवण, अमृत, चुना, नारिंग, बीज, आंवळी, अहिमभोजन.	ಅಮೃತ, ಮುಂಡಿಗಳ್ಳಿ, ಅಳಲೇಕಾಯಿ ಅಂಟು, ನೆಲ್ಲಿ, ಪಾಲಿವನ.
सुरदारु (न)	देवदारु.	तेल्यादेवदार, देवदार, सरलदेवदार.	ದೇವದಾರು.
सुरस (न. पु)	बोलगंधद्रव्य दालचीनी, [illegible], तुलसी, सम्हालुवृक्ष, मोचरस.	रक्त्याबोळ, कलमीदालचिनी, सुगंध [illegible]तृण, पुदनीगवत, कणगुगुळ, मोचरस.	ದಾಲಚೀನಿ ಲವಂಗಚಕ್ಕೆ. ತುಲಸೀ, ಶ್ರೀತುಲಸೀ, ದಾಲಚೀನಿ.
सुरेन्द्रकाष्ठ (न)	देखो सुरदारु.	पहा सुरदारु.	ನೋಡಿ ದೇವದಾರು.
सुवर्च [ल] ला (स्त्री)	अलसी सूरजमुखीके फूल, हुलहुल-वृक्ष, सज्जीखार, अश्वगंध.	सूर्यफूलवल्ली, ब्राह्मी, जवस,	ಅಗಸೆ, ಸೂರ್ಯಕಾಂತಿಬಳ್ಳಿ, ಅಶ್ವಗಂಧ
सुवर्चिक (पु)	सज्जीखार.	सुवर्चिका, सज्जीखार,	ಸಾಜೀಖಾರ
सुषवी (स्त्री)	करेला, कालाजीरा, छोटाकरेला, करेली, जीरा.	उपकुंचिका, शोंडी, पिंपळी, क्षुद्रकारली, कळोंजी जिरें, कुळई, कडूकुंचा, लघुकारली.	ಕರೀಜೀರಿಗೆ, ಹಾಗಲಕಾಯಿ. ಜೀರಿಗೆ, ಸಣ್ಣಹಾಗಲಕಾಯಿ.

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
सूत	(पु)	पारद.	पारा.	ಪಾ[illegible]ರಸ.
सूरण	(पु)	जमीकन्द.	श्वेतसुरण, खारासुरण.	ಕಂದಗಡ್ಡೆ.
सृगालविन्ना	(स्त्री)	पुस्नपर्णी, पिठवन.	पृश्नपर्णी, पिठवण,	[illegible]ಹೊಟ್ಟೆ.
सैरीय.	(पु)	कटसरैया.	श्वेतकोरण्टा,	ಗೋರಂಟಿ.
सैरेयक	(पु)	देखो—सैरीय.	पाहा सैरेय.	ಮುಳ್ಳು ಗೋರಂಟಿ.
सोम	(न पु.)	कांजी, कपूर, सोमलता.	रक्तचंदन, कांजी, सोमवल्ली, धान्याम्ल, आरनाल.	ಕೆಂಪು ಚಂದನ, ಸೋಮಲತೆ.
सोमवल्लिका	(स्त्री)	वावची, गिलोय.	वावचा.	ಬಾಹುಚೀ.
सौवीर	(न)	बेर, कांजी, कालाशुर्मा, सफेद-शुर्मा; सौवीरकांजी.	बोर, जवाची पेज करून आंब-वितात् तें कांजी, काळासुरमा, स्रोतोंजन, संधान, गह्वाचें कांजी रायबोर.	ಸೌವೀರಾಂಜನವು, ಕಣ್ಣು ಕಪ್ಪು.
सैंधव	(न पु)	सैंधानोन.	सैंधेलोण.	ಸೈಂಧವಲವಣ.
स्थौणेय	(न)	गठिवन गठिवनभेद, अर्थात् थुनेर थुनियार.	गाजर, ग्रंथिपर्णीचा भेद, थुणेर, गांठिवन.	ಗಾಜರಗಡ್ಡೆ, ಸ್ಥವಣಜೆ.
स्थूणाक	(न)	कंदविशेष.	कंदविशेष.	ಕಂದವಿಶೇಷ.
स्नुहि	(स्त्री)	सेहुण्डवृक्ष.	निवडुंग.	ಕಳ್ಳಿ.

— ह —

संस्कृत.		हिंदी.	मराठी.	कनडी.
ह[illegible]	(न)	अंतरगंग.	शेवाळ.	ಅಂತರಗಂಗೆ.
हयमार	(पु)	कनेरका पेड.	श्वेतकणेर.	ಕಣಿಗಲು, ಬಿಳೀಕಣಿಗಲು.
हरिताल	(न)	हरताल.	हरताळ दुर्वा.	ಹರಿತಾಳ.
हरिद्रा	(स्त्री)	ह[illegible].	हळद, दारूहळद.	ಅರಸಿನ.
हरिद्राद्वय	(न)	हलदी, दारुह[illegible].	दारूहळद, हळद.	ಅರಶಿನ ಮತ್ತು ಮರಅರಶಿನ.
हरीतक	(न)	हरड.	हरितक शाक, हिरडा.	ಅಳಲೇಗಿಡ.
हरीतकी	(स्त्री.)	हरड, हर्र, हड,	हिरडा, हिरडा सात प्रकाराची आहे	ಅಳಲೇಕಾಯಿ.
हरेणु	(स्त्री. पु)	रेणुका मटर.	व टाणे, स्वल्पकलाय भेद, रेणुक बीज.	ಬಟ್ಟಕಡಲೆ, ರೇಣುಕಬೀಜ.
हस्तिक[र्णी] र्ण (पु.स्त्री)		अण्डकापेड हस्तिकर्ण—पलाशभेद, हस्तिकन्द लालअण्ड.	हस्तिकर्णी—कांसाळु, एरण्ड, [illegible]क-एरण्ड, हस्तिकन्द.	ಮಲ್ಲಿರಕ್ಕಸಿಯಗಡ್ಡೆ, ಮುತ್ತುಗ ಭೇದ.
हस्तिपिप्पली	(स्त्री.)	गजपींपल.	गज पीपळ.	ಗಜ[illegible].
हिमकर	(पु)	कपूर.	कापूर.	ಕರ್ಪೂರ.
हिमांशु	(पु)	कपूर.	कापूर.	ಕರ್ಪೂರ.
हिंगु	(न)	हींग, वंशपत्री.	हिंग.	ಇಂಗು.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
हिंगुदी (स्त्री)	वृक्षविशेष.	वृक्षविशेष.	ವೃಕ್ಷವಿಶೇಷ.
हिताल (पु)	ताडवृक्ष.	थोरताड.	ಕಿರುತಾಳೆ.

— क्ष —

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कनडी.
क्षणदा (स्त्री)	हलदी.	हळद.	ಅರಸಿನ.
क्षवक [का] (पु)	चिरचिरा, राई,	राळ, तसि कलारूप जोकाल तो.	ಕರಿಸಾಸುವೆ, ಹುಚ್ಚುಸಾಸುವೆ.
क्षारवृक्ष (पु)	मोखावृक्ष.	काळा मोखावृक्ष, चाकवत.	ಮುಕಾರ್ತಿ, ಮುಕ್ಕೈಮರ, ಚಕ್ಕೊತ್ತಪಲ್ಯ
क्षितिवृक्ष (पु)	अमलतास.	थोर बहवा.	ಹೆಗ್ಗಕ್ಕೆ.
क्षीर (न)	दूध, सरलका गोंद.	पाणी, दूध, बकाणनिंब, सद्यः व्यालेले गायीचें दूध, खीर, धूप विशेष.	ನೀರು, ಹಾಲು, ಆರಿಬೇವು, ಮಹಾಬೇವು, ಸರಲವೃಕ್ಷದ ಅಂಟು.
क्षीरद्रुम (पु)	पीपलका पेड, [गूलर आदि दूधवाले वृक्ष.]	पिंपळ.	ಅರಳಿ, ಹಿಪ್ಪಲಿ, ಹಾಲುಬರುವ ವೃಕ್ಷ.
क्षीरकंचु[क] की (स्त्री)	क्षीर कंचुकी.	क्षीर कंचुकी.	ಕ್ಷೀರ ಕಂಚುಕೀ.
क्षीरि (पु. स्त्री)	खिरनीवृक्ष, सेहुडवृक्ष, दुद्धिवृक्ष, आककावृक्ष, राजादनीवृक्ष, शिरगोला, सोमलता, बडवृक्ष पाखरवृक्ष, चेलिया पीपल, बड, गूलर, पीपल, पारखर, पारिसपीपल.	नान्दरूखी, श्वेतमुई कोहोळा, उंबर वंशलोचन, निवडुंग, रक्तरुई, रांजणी पिंपरी, वड, कांकोळी, शिरगोळा, थोर गहूं, शिरदोडी, क्षीरकांकोळी, थोर सोमवल्ली.	ಜೊಂಡಗಳಿ, ಪಿಸವಾಲ, ಕ್ಷೀರನೀಳ ಗಂಬಳ, ವಂಶಲೋಚನ, ಬಿಳಿಗೋವಿಂದ ಬಸರಿಗಿಡ, ಆಲದ ಮರ.

संस्कृत.	हिंदी.	मराठी.	कानडी.
क्षीरिका (स्त्री)	पिण्डखजूर.	रांजणीवृक्ष, वंशलोचन, दुधी, सवखीर, पिसोळा भेद.रांजण,खिरणी	ಹಾಲೇಗಿಡ, ವಂಶಲೋಚನ, ಖರಣೀ ಮರ.
क्षीरिणी (स्त्री)	ऊंटकटीला.	दूध भोपळा, थोरशिवणी,पिसोळा, पलाशकुटुंबी. श्वेत तपळसरी, शंख-पुष्पी, रांजणी, खिरदोडी, दुधी, क्षीरकाकोळी.	ಸೋರೆಕಾಯಿ, ಹಾಲುಗುಂಬಳ, ಶ್ವೇತ ಕಾಕೋಳೀ ಖರಣೀ ಮರ, ಶಂಖಪುಷ್ಪೀ.
क्षुद्रा (स्त्री)	कटेरी, अंबिलोना, गरहेडुआ, छोटा चंचुशाक.	लघुपिंपळ, जोंधळीसाखर, रिंगणी, लघुचुंच, गांधीणमाशी लघुकरंदी, उचकी, क्षुद्रमधुमक्षिका, चांगेरी, कांहीं अवयवांनी न्यून ती.	ಚಿಟುಗುಪ್ಪ, ಜೇನುಂಟಿ, ಶಾಕ ವಿಶೇಷ.
क्षुरक (पु)	तिलकपुष्पवृक्ष, तालमखाना, गोखुरु भूतराज.	कोळिस्ता, तिलकपुष्प, बोन्ड, गोखरू, नाकसिकणी.	ತಿಲಕದಗಿಡ,ತಾಲಮಖಾನಿ,ಗೋಖರು

इति भद्रं भूयात् ।